भारतभूषण अग्रवाल रचनावली

खंड चार

संपादक
बिन्दु अग्रवाल

भारतभूषण अग्रवाल रचनावली
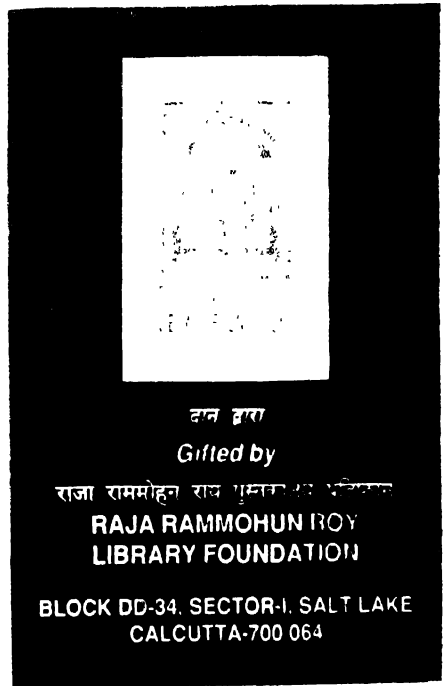
खंड चार

भारतभूषण अग्रवाल रचनावली *(चार खंडों में)*

खंड एक	:	कविताएँ
खंड दो	:	काव्य-नाटक, गद्य-काव्य, काव्यानुवाद, काव्य-नाटकों के अनुवाद
खंड तीन	:	उपन्यास, कहानी, नाटक, पत्र
खंड चार	:	निबंध

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

भारतभूषण अग्रवाल रचनावली

खंड चार

संपादक

बिन्दु अग्रवाल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखा

चौड़ा रास्ता, जयपुर

ISBN 81—214—0564—5 (पूरे सेट के लिए)
ISBN 81—214—0568—8 (खंड चार)

भारतजी के मित्रों के नाम

भूमिका

भारतभूषण अग्रवाल रचनावली के चार खंड हैं। पहले खंड के चार भागों में क्रमशः 1933 से 1955 के उनके रचनाकाल में प्रकाशित-अप्रकाशित कविताएं, हास्य-व्यंग्य कविताएं, अधूरी कविताएं और बाल कविताएं हैं। दूसरे खंड के चार भागों में काव्य-नाटक, गद्य-काव्य, काव्यानुवाद और काव्य-नाटकों के अनुवाद हैं। तीसरे खंड के चार भागों में क्रमशः उपन्यास, कहानी, नाटक और साहित्यकारों के नाम भारतजी के कुछ पत्र हैं। चौथे खंड में विभिन्न प्रकार के निबंध हैं।

रचनावली के चारों खंडों में रचनात्मक विकास और लेखकीय व्यक्तित्व की जानकारी के लिए सभी रचनाओं (कविता, गद्य-काव्य, कहानी, नाटक, निबंध तथा अधूरी रचनाएं आदि) को रचनाकाल के अनुसार क्रम से संकलित किया गया है। यही नहीं, यथासंभव रचना की तिथि सहित पत्र-पत्रिका में उसके प्रथम प्रकाशन का उल्लेख भी किया गया है. साथ ही पुस्तक रूप में प्रकाशित होने का तो संकेत है ही।

रचनावली के इस चाथे खंड में भारतजी के प्रकाशित-अप्रकाशित विभिन्न प्रकार के लगभग सभी निबंध संकलित किये गये हैं। भारतजी के काव्य, कथा-साहित्य और नाटकों की भांति ही उनके बहुआयामी निबंधों का भी बहुत महत्त्व है। जब एक कवि निबंध लिखता है या आलोचना करता है तो उनका महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। उन लेखों के माध्यम से स्वयं लेखक को, समकालीन सृजनात्मक साहित्यकारों की मनोभूमि तथा साहित्य की समस्याओं को अधिक गहराई से समझा जा सकता है। साहित्य को समझने की भारतजी में एक मौलिक, सजग और साथ ही तटस्थ दृष्टि थी जिसके कारण उनका निबंध साहित्य भी हिंदी साहित्य-जगत में एक स्थान बना सका। उनके निबंधों में बहुत विविधता पायी जाती है। जिसका वर्गीकरण मैंने 9 प्रसंगों के अंतर्गत किया है।

भारतजी के जीवनकाल में प्रकाशित एकमात्र निबंध संग्रह 'प्रसंगवश' में उन्होंने कथ्य के आधार पर निबंधों का वर्गीकरण किया है। इस रचनावली के चौथे (निबंध) खंड में मैंने भी भारतजी द्वारा किये गये वर्गीकरण को ध्यान में रखा है। इस वर्गीकरण के साथ ही कुछ प्रसंग और जुड़ गये

हैं। 'प्रसंगवश' में दी गयी भारतजी की भूमिका भी इस खंड में दी जा रही है।

भारतजी के देहावसान के बाद उनका दूसरा निबंध संग्रह 'कवि की दृष्टि' 1978 में प्रकाशित हुआ। 'कवि की दृष्टि' शीर्षक भारतजी का दिया हुआ है तथा इसमें संगृहीत निबंध भी भारतजी की बनायी एक सूची के अनुसार संकलित हैं।

इन दोनों निबंध संग्रहों के समस्त निबंध इस चौथे खंड में संकलित हैं। इनके अतिरिक्त वे निबंध भी सम्मिलित कर लिए गए हैं जो पत्र-पत्रिकाओं की कतरनों, टंकित प्रतियों तथा पांडुलिपि के रूप में प्राप्त हुए हैं। संकलित निबंध-संग्रहों में छिपे पड़े लेख भी ले लिये गये हैं। अंग्रेजी निबंधों का अनुवादित रूप भी यहां दिया जा रहा है।

सितंबर 1941 से अगस्त 1942 तक भारतजी साप्ताहिक 'समाज सेवक' (कलकत्ता) के संपादक थे। साप्ताहिक पत्रिका होने के कारण संपादकीय लेखों की संख्या अधिक है। ये लेख समसामयिक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और मारवाड़ी समाज की स्थिति एवं समस्याओं को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। इन संपादकीय लेखों के अतिरिक्त कभी-कभी वे स्वतंत्र रूप से भी लेख लिखते थे, जो कभी अपने नाम से और कभी 'गिद्धराज' के नाम से प्रकाशित होते थे। यहां ऐसे कुल चार राजनैतिक निबंधों को संकलित किया गया है जिससे यह झलक मिल सके कि उस समय भारतजी के राजनैतिक विचार क्या थे।

भारतजी ने 'लीक-अलीक' शीर्षक से ललित निबंधों की एक पांडुलिपि तैयार की थी। उनके देहावसान के बाद सन् 1980 में इसी शीर्षक से यह पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसकी भूमिका श्री विद्यानिवास मिश्र ने लिखी है। मिश्रजी ने लिखा, 'स्व. भारतजी के दो रूप थे, एक बड़ा चिंताकुल अपने परिवार के लिए, अपने देश और समाज के लिए; दूसरा, चुहुलबाज, बड़ा-छोटा कोई भी व्यक्ति नहीं बचता था और घटना तो खैर बच ही नहीं सकती थी। दोनों रूप एक-दूसरे के विरोधी लगते हैं, पर वे हैं वास्तव में एक-दूसरे के पूरक। हास्य-व्यंग्य की तीक्ष्णता उसी व्यक्ति की कलम से निकल सकती है जिसे कहीं गहरी सामाजिक चिंता हो। इन ललित निबंधों में भारतजी का दूसरा रूप ही मुखर है।' रचनावली के इस ललित निबंध प्रसंग 'लीक-अलीक' के समस्त लेख तथा अन्य अप्रकाशित ललित लेख भी जोड़ दिये गये हैं।

इस खंड के 'हास्य-व्यंग्य प्रसंग' का अपना विशेष महत्त्व है। यों भारतजी के समस्त सृजनात्मक साहित्य में व्यंग्य प्रमुख तत्त्व है क्योंकि व्यंग्य उनकी संवेदनशीलता का एक अंग था जो अंत तक अक्षत और सजग बना रहा। पर इस प्रसंग में वही गद्य रचनाएं संकलित हैं जिनमें हास्य प्रधान हैं। इस प्रकार का जो हास्य-व्यंग्य पद्य में है वह प्रथम खंड (कविता) के भाग : दो में संकलित है। गद्य में लिखी हास्य व्यंग्यपूर्ण रचनाओं की लेखन-तिथि देखने से पता चलता है कि इस ओर भी भारतजी का रुझान प्रारंभ से ही अर्थात् हाईस्कूल में पढ़ते

हुए ही था। 'साइकिल से गिरे हुए मनुष्य की चेष्टाओं पर शिक्षा और व्यंग्यपूर्ण वर्णन' शीर्षक लेख सन् 1934 में दसवीं कक्षा की छमाही परीक्षा के समय परीक्षा-हॉल में ही लिखा गया है। उस समय के परीक्षक डॉ. सत्येंद्र इसे पढ़कर इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने इस लेख को स्कूल की पत्रिका 'ज्योति' में प्रकाशित करवाया था। इस 'हास्य-व्यंग्य प्रसंग' के अधिकतर लेख अगस्त 1937 से नवंबर 1937 तक के लिखे हुए हैं। जब भारतजी अप्रैल '37 में चंदौसी से इंटर की परीक्षा देकर आगरे आये तो दो-तीन महीने बाद ही उन्होंने 'आगरा पंच' दैनिक अखबार के लिए भी हास्य-व्यंग्य पूर्ण रचनाएं लिखी हैं। भारतजी की रखी हुई जो कतरनें मुझे प्राप्त हुई हैं, उन्हीं को यहां संकलित किया गया है। उन्हीं प्राप्त कतरनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे कभी प्रतिदिन भी लिखते होंगे और कभी सप्ताह में एक बार। क्योंकि 12, 13 अगस्त और 5, 6 नवंबर यानी दो दिन लगातार प्रकाशित होनेवाले लेख भी हैं। इस कालम का नाम 'पंच-प्रपंच' था। इन लेखों में आगरे की समसामयिक समस्याओं का हास्य-व्यंग्यपूर्ण चित्रण है। 'समाज सेवक' के संपादन-काल (1941-42) में 'तुक-बेतुक' कालम में समकालीन राजनैतिक स्थितियों पर छोटी-छोटी चुटकुलेनुमा व्यंग्यपूर्ण टिप्पणियां की थीं, वे भी यहां संकलित हैं। ये सभी रचनाएं अधिकतर उपमान से प्रकाशित करवाते थे जिसका संकेत भी रचना के नीचे दे दिया गया है। सन् 1933-34 से ही भारजी ने अनेक प्रकार की हास्य-व्यंग्यपूर्ण कविताएं लिखी थीं सन् '46 से '62 तक अनेक तुक्तक—ये सभी रचनाएं इस रचनावली के प्रथम काव्य-खंड में संकलित हैं। अंतिम दिनों में उन्होंने विशेषकर होली विशेषांकों के लिए ही कुछ-न-कुछ हास्य-व्यंग्यपूर्ण रचनाएं लिखी हैं जिनमें से कुछ रचनाएं काव्य-खंड में संकलित हैं और कुछ रचनाएं इस गद्य-खंड में।

इन समस्त लेखों व कतरनों को देखने से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रस्तुत लगभग सभी लेख चाहे पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुए हों, पर समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में अवश्य प्रकाशित हुए हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ पत्र-पत्रिकाओं की जानकारी न होने के कारण कुछ लेखों के नीचे पत्रिका का संकेत नहीं दिया गया है। निबंधों के वर्गीकरण के कारण और लेखन-तिथि के क्रम के अनुसार संकलित करने के कारण मैं आशा करती हूं कि पाठक वर्ग इन्हें अधिक स्पष्टता से समझ सकेंगे।

इन सबके अतिरिक्त अब भी भारतजी का लिखा निबंध-साहित्य बहुत बच गया है जो इस रचनावली में प्रकाशित नहीं हो रहा है। भारतजी के शोध प्रबंध 'हिंदी उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव' तथा साप्ताहिक 'समाज सेवक' के संपादकीय लेखों के प्रकाशन न करने के बारे में पहले ही संकेत कर चुकी हूं।

इनके अतिरिक्त हाईस्कूल अथवा इंटर में पढ़ते हुए 'भारतवर्ष का इतिहास' प्रश्न-उत्तर शैली में लिखा है। हाईस्कूल करते समय मैंने भी इस पुस्तक से

बहुत मदद ली थी पर अब वह अप्राप्य है। बी. ए. या एम. ए. में पढ़ते हुए भारतजी ने नेहरू और गांधीजी की जीवनियां लिखना भी शुरू किया था। नेहरू की जीवनी में नेहरूजी के जन्म से लेकर उनके पिता मोतीलाल नेहरू क देहावसान तक का विस्तार से वर्णन है। इस पांडुलिपि को टंकित करवाने पर 33 पृष्ठ हो गये हैं। जब सन् 1950 में भारतजी दिल्ली आये तो यहां आकर प्रकाशकों के आग्रह पर नवीं-दसवीं कक्षा के लिए 'हमारे पथ-प्रदर्शक' शीर्षक से एक पुस्तक भी लिखी थी। 'एकांकी संकलन' और 'एकांकी नवरत्न' संकलनों में भी एकांकी के संबंध में लंबी-लंबी भूमिकाएं हैं। पर यह सब सामग्री विद्यार्थी वर्ग के लिए अधिक उपयोगी समझकर तथा स्थान की कमी के कारण इस रचनावली में संकलित नहीं की गयी है।

अतः अंत में यह कहा जा सकता है कि इस रचनावली के चारों खंडों में भारतभूषण अग्रवाल लिखित जो रचनाएं प्रकाशित हो रही हैं और जिस रूप में प्रकाशित हो रही हैं, वे रचनात्मक विकास और साहित्यिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और सार्थक सिद्ध होंगी। मैं आशा करती हूं कि अपने विशिष्ट साहित्य के कारण 'तारसप्तक' के कवि की इस रचनावली का साहित्य-जगत में समुचित आदर होगा।

रचनावली में यत्र-तत्र जो रेखांकन छपे हैं वे भारतजी द्वारा बनाए गए हैं।

—बिन्दु अग्रवाल

क्रम

प्रसंग

आत्म निवेदन

'तारसप्तक' : वक्तव्य 3

एक वक्तव्य 5

कवि के मुख से 10

मेरी नाट्य-रचना 15

'ओ अप्रस्तुत मन!' का वक्तव्य 20

काव्यधारा 26

अर्द्धचंद्र के तुक्तक : एक वार्ता 29

'तारसप्तक' : पुनश्च 32

ओढ़ा हुआ परदेसीपन 35

भूमिका के बहाने : एक वक्तव्य 37

एक अनुवाद प्रयोग 39

मेरी प्रिय ब्रजभाषा कविता 41

'चीर-फाड़' मेरी प्रिय रचना 47

प्रसंग

नयी कविता

नयी कविता में रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व 51

नयी कविता में विदेशी रंग 55

नयी कविता और मध्यवर्गीय मन 60

नयी कविता का संदर्भ 64

नयी कविता : पुरानी कविता 70

समकालीन कविता में आजादी की तस्वीर 79
समकालीन काव्य-रचना में काव्यानुशासन
(अथवा उसके अभाव की जांच-पड़ताल) 90
हिंदी कविता का आधुनिक परिदृश्य 95
मुक्तिबोध और उसकी कविता 101

प्रसंग

साहित्य और आलोचना

अमर कलाकार शरदचंद्र 115
साहित्य का दायित्व : एक प्रश्नोत्तरी 121
प्रसाद की प्रतिभा 127
पंत का प्रकृति-चित्रण 135
डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व 151
लेखक की मान्यताएं : साधक या बाधक 163
रांगेय राघव का औपन्यासिक व्यक्तित्व 167
चीनी आक्रमण और बंगाल का कवि 175
बंगला भाषा और साहित्य 180
गुप्तजी की आधुनिकता का स्वरूप 185
जैनेंद्र के दंपति 191
एक स्थितिहीन संलाप 196
लेखक का कर्म 199
मैक्सिम गोर्की और हिंदी साहित्य 202
रवींद्र की तस्वीर 219
प्रेम और मस्ती के कवि 223
दिनकर : आत्मा की ऋतुओं का कवि 251

प्रसंग

संस्मरण

एक महान नेता : जमनालाल बजाज 259
बाबूजी : एक आदर्श साधारण 261
अलीक-निष्ठा के धनी : रांगेय राघव 264
भारतीय साहित्य के आत्मीय : डॉ. बरुआ 269
मुक्तिबोध की याद 272

व्यासजी : मेरे बालसखा 275
देवीशंकर अवस्थी 279
बेढबजी का हास्य-व्यंग्य : युग के राष्ट्रीय आदर्शों से अनुप्राणित 281
स्वर्गीया रजनी पणिकर 283

प्रसंग

पुस्तक समीक्षा

शरद की दो कहानियां 287
एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति 291
'उन्मुक्त' : वर्तमान युद्ध की बर्बरता का चित्र 294
पंत : गद्य-पथ पर 298
1960 में हिंदी कविता की स्थिति 306
उर्वशी का कथ्य 324
'उर्वशी' का आधुनिक परिप्रेक्ष्य 329
प्रत्यूष भटकी किरण यायावरी 347
एक उपन्यास वर्ष : 1962 348
'विषपायी' नवीन 358
मुक्ति-बोध : जैनेंद्र की उपन्यास-यात्रा का एक नया मोड़ 369
बच्चन का 'हलाहल' 372
कवि-कर्म की जटिलता बनाम कवि-कर्म का स्खलन
(1966 के काव्य-संकलन) 379
अमृत और विष : समाज का सप्त-आयामी दर्पण 390
खुले हुए आसमान के नीचे 399
एक कविता वर्ष : 1970 401
आज की कविता : एक उभरती पहचान 404
निर्णायक का प्रतिवेदन 413
एक ऐतिहासिक विभीषिका का 'क्लोज़-अप' : 'तमस' 419
हिंदी साहित्य के पच्चीस वर्ष 429
'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का रूपबंध और शिल्प 432

प्रसंग

राजनैतिक निबंध

प्रजातंत्र के लिए संक्रांत काल 443
क्या भारत की समस्या सुलझेगी? 447

नील नदी का वरद पुत्र : मिस्र देश 450
अपराजित चीन : प्रतिकार के पांच वर्ष 452

प्रसंग

स्फुट निबंध, टिप्पणी आदि

पंचराज की डाक 457
अनुवाद-कला 459
बाल-साहित्य लेखन के खतरे 464
साहित्यकार राजपुरुष से छोटा हो गया है 468
लेखक की लक्ष्मी 469
हम मान क्यों न लें कि हमारी भाषा हिंदी है? 473
भाषा-विवाद 476
पत्नी और प्रेयसी 479
कवि-सम्मेलन का आयोजन 482
हिंदी-शिक्षा 486
संवाद : रोमांटिक बनाम आधुनिक 488
कांग्रेस का विभाजन : टूटती हुई जड़ता! 490
गुरु नानक और मिश्रित संस्कृति, 491
रघुवीर सहाय की कविता : एक उद्गार 493
एक दृष्टि 494

प्रसंग

ललित निबंध

एक तुलसी-जयंती 497
झरना 502
हम क्यों लिखें? 505
विजयदशमी : कुछ भावनाएं 509
सिगरेट पीनेवाले का अपराध-बोध 513
साहित्य में मछली : एक शोध 515
प्रणय का दर्शन 519
बारात की ड्रैस 523

किस्सा नीलम की अंगूठी का 526
नागरजी की वार्ता 529
आकाशवाणी में सांप 533
जब समय की सुई रास-मंडल पर टिक गयी 537
राजधानी में राष्ट्र कवि 541
राव साहब और रामायण-पाठ 546
लेखक? नहीं, नहीं 548
खबरदार, निमंत्रण-पत्र भेज दूंगा! 552
व्यास माने मथुरा 556
मैंने स्पेशल बस चलायी 560
शास्त्रीजी की पहली झांकी 564
एक संलापहीन स्थिति 566
मेरी नींद, मेरे खर्राटे 569
एक (अ) पाठ्य कविता की कथा 573
ऊंट पर सवार साढ़े छह यार 577

प्रसंग

हास्य-व्यंग्य

साइकिल से गिरे हुए मनुष्य की चेष्टाओं पर
शिक्षा और व्यंग्यपूर्ण वर्णन 593
फिर बहार आयी 595
मच्छर भगवान 597
मच्छरों से मुठभेड़ 599
साग की समस्या 601
एक अपनी बात 603
टेलीफोन की टनटन (1) 604
टेलीफोन की टनटन (2) 606
सिर मुंड़ाते ही ओले पड़े 608
टेलीफोन की टनटन (3) 609
देश के नसीब (1) 611
पंच-प्रपंच (1) 613
दिवाली की चिट्ठी 614
टेलीफोन की टनटन (4) 616

टेलीफोन की टनटन (5) 617
पंच-प्रपंच (2) 619
स्वर्ग में संग्राम 621
देश के नसीब (2) 623
हम भी कवि हैं 625
विदेशियों की होली 627
तुक-बेतुक (1) 630
तुक-बेतुक (2) 632
भारतीय चिड़ियाघर (1) 634
भारतीय चिड़ियाघर (2) 636
तुक-बेतुक (3) 638
तुक-बेतुक (4) 639
दुनिया की होली 640
होलिका शब्द-कोष 644
तुक-बेतुक (5) 646
कुछ चुटकुले 649
मीरा के चमत्कार 650
होली लिया दीक्षांत समारोह 656
किसी का शीर्षक किसी के सिर 663
गोष्ठी असमाचार 667
परिशिष्ट : तुक्तक का इतिहास 668
संपादित पुस्तकें तथा अन्य कार्य 675
भारतभूषण अग्रवाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर कुछ
उल्लेखनीय प्रकाशित रचनाओं की संदर्भ सहित सूची 676

●●

प्रसंग

आत्म निवेदन

'तारसप्तक' : वक्तव्य

स्कूल की प्रारंभिक कक्षाओं में दूसरों के पद्यों को कंठस्थ कर उनकी आवृत्ति करने ने ही संभवतः मुझे कविता की ओर प्रेरित किया; और क्योंकि 'तुक' के कारण कंठस्थ करने में सुविधा होती थी, इसलिए अनजाने में ही तुक को मैं महत्त्वपूर्ण मानने लग गया। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनों में मैं तुकबंदी करने लग गया, जिनमें जो न्यूनाधिक भाव होते थे वे सब उधार-खाते, विन्यास मेरा अपना। और गलत तुक या कमज़ोर तुक की कविता को रद्दी कविता मानने की मेरी आदत तो बहुत दिनों तक बनी रही।

स्कूल की मीटिंगों में, और उत्सव-आयोजनादि में मुझे पद्य-आवृत्ति का जो यह कार्य करना पड़ा, उसी ने मुझसे कविता लिखायी। "यह मेरी लिखी नहीं है" कहते-कहते मैं इतना तंग आ गया कि मेरे अचेतन ने निश्चय ही अपने को इस गुण-गौरव से विभूषित करना चाहा। इसीलिए मैंने प्रारंभ में केवल सामयिक अवसर, त्यौहार-पर्व आदि के उपयुक्त कविताएं ही लिखीं। और दूसरों की प्रशंसा का लोभ ही मेरे काव्य की आदि प्रेरणा थी। तब कविता लिखने में जो तकलीफ़ मुझे होती थी उसको कुछ-कुछ इम्तहान में प्रश्नोत्तर लिखने की तकलीफ़ की तरह मैं लेता था जिसका फल मीठा और आनंददायक होता है। मेरी शुरू की इन रचनाओं में, जिन्हें आज पढ़ने पर हंसी आती है, मैथिलीशरण गुप्त की उपदेशात्मक शैली का प्रभाव बहुत है, क्योंकि एक ओर उसका अनुकरण जितना आसान है, दूसरी ओर श्रोताओं को अनायास समझना भी उतना ही।

इस प्रकार अभ्यास करते-करते तुक और छंदों पर वश प्राप्त कर लेने के बाद जब मैं कालेज में पहुंचा, तभी धीरे-धीरे मेरी कविताओं में अपनी बात आने लगी। दूसरों की चार कविताएं पढ़ लेने के बाद अपनी एक लिख लेने की रीति को छोड़ अब मैं उन बातों को कहने की क्षमता और साहस पा सका जिन्हें मैं स्वयं अनुभव करता था। और फिर एक ओर अपनी अतिभावुक प्रकृति के कारण, दूसरी ओर हिंदी साहित्य से विशेष मोह के कारण, तीसरी ओर कवि होने की अपनी विशेषता के गौरव और दंभ के कारण, और चौथी ओर कविता में एक अजीब शांति पाने के कारण मैंने काफ़ी कविताएं लिखीं, जिनमें से अधिकांश लिखने के लिए ही लिखी गयी थीं।

और आज जब मेरा काव्य-लेखन काफ़ी कम हो गया है, और मैं "कला

कला के लिए" की प्रवंचना के मूल कारण को समझ पाया हूं, साथ ही उसके उचित उपयोग को भी, तब यह बात स्वीकार किये बिना मैं नहीं रह सकता कि मेरी ये कविताएं मेरे लिए केवल एक पलायन ही नहीं, वरन् एक स्वप्नलोक भी थीं जहां मैंने अपनी समस्याओं से भागकर केवल शरण ही नहीं ली, वरन् साथ ही असामाजिक नुकीले व्यक्तित्व द्वारा उत्पन्न अपनी असंभव इच्छाओं की पूर्ति भी देखी। इसीलिए मुझे अपनी कविता पर इतनी मोह-ममता रही, और इसीलिए मैं उसको अपनी संपत्ति मानता रहा।

आज की सामाजिक व्यवस्था और उसकी आधारगत आर्थिक व्यवस्था एक मध्यवर्ग के नवयुवक को अप्राकृतिक रूप से महत्त्वाकांक्षी और स्वप्नाभिलाषी बना देती है, क्योंकि एक ओर तो वह अपने स्कूल और कालेज में पढ़ाई जाने वाली पाठ्य-पुस्तकों से अपने-आपको महान् व्यक्ति (इण्डिविजुअल) बनाने की सोचता है, और दूसरी ओर ऊपर के वर्ग की ऐश्वर्यशालीनता उसे सहज ही आकर्षित करती है। और जो अतिभावुक होता है वह अभिलाषाओं का शिकार होकर सौंदर्य का भूखा, कल्पना के लड्डू खानेवाला रंगीन कवि हुए बिना नहीं रह सकता।

अपने अनुभव से मैं, इसीलिए, यह बात ज़ोर देकर कहना चाहता हूं कि कम-से-कम मुझे मेरी कविता ने भावों का उत्थान (सब्लिमेशन) नहीं दिया, न उसने मेरे हृदय का परिष्कार किया। दूषित समाज ने मुझे जो असामाजिक कमज़ोरियां और गलित स्वार्थ दान में दिये, मेरी कविता ने उन्हीं की पीठ ठोकी। संसार को सच्चा मानकर उसमें कर्म करना क्योंकि वास्तविक क्षमता और सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है, इसीलिए मैंने कविताएं लिखकर मानो स्वप्न में अपनी अभिलाषाएं पूरी कीं और संसार को मिथ्या सिद्ध किया। कर्म से पलायन ही मेरी कविताओं का स्पंदन रहा। व्यक्तित्व के वे सारे डंक, जो दूसरों को काटने दौड़ते हैं, समाज में रहने-सहने से टूट जाते हैं; लेकिन इस पलायन का फल यह हुआ कि मैंने उन्हीं के विष को अमृत समझा। आज का हिंदी कवि इतना दंभी, अकर्मण्य और असामाजिक व्यक्ति क्यों होता है यह मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया है।

और इसीलिए, यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच संबंध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है, तो हिंदी के कवि को समाज से नाराज़ होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषण-सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसको कोरा स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है, और जिसने उसको अपनी कविता को ही एकमात्र संपत्ति मानने के भ्रम में डाला है। इस संघर्ष के पथ पर अपने अनुभवों को यदि वह पद्य-बद्ध करेगा तो पायेगा कि उसकी कविता केवल मर्म-स्पर्शी और सशक्त ही नहीं वरन् साथ ही उसको अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनानेवाली भी है। तब कविता उसके हाथ में एक मूल्यवान् अस्त्र की भांति होगी, आज की तरह अपार्थिव अस्तित्वहीन फूलों की सेज नहीं।

[रचनाकाल 1943, 'तारसप्तक' में संकलित,
'आगामी कल' में उद्धृत, 'प्रसंगवश' में भी संकलित।]

एक वक्तव्य

अध्यक्ष महोदय,

आज हमारी सरकार जो योजना प्रस्तुत कर रही है उसका महत्व माननीय प्रधानमंत्री ने स्पष्ट कर दिया है। मुझे इस बिल का समर्थन करते हुए बड़ी खुशी होती है। मैं जानता हूं कि इस बिल की महत्ता में किसी को संदेह नहीं हो सकता। पर यहां ऐसे प्राचीनतावादी सज्जन भी होंगे जो इसकी प्रगति में भी अड़ंगा डालेंगे। क्योंकि उन लोगों का तो काम ही विरोध करना है। इसलिए मैं उन लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ निवेदन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

सबसे पहली आवाज़, जो इस बिल के विरुद्ध उठायी जायेगी वह यह है कि इस प्रकार हम कवि की स्वच्छंदता और स्वतंत्रता में बाधा डाल रहे हैं—उसकी भावनाओं की हत्या कर रहे हैं और उसे स्वानुभूत सत्य का प्रचार करने से रोक रहे हैं। पर यदि शांत मन से विचार किया जाये तो ये बातें निर्मूल और निराधार ज्ञात होंगी। माननीय प्रधानमंत्री हमें बता चुके हैं कि कवि का स्थान कितना उच्च है—देश, राष्ट्र और जाति के निर्माण में उसका कितना हाथ है। पर ऊंचा स्थान उतना ही अधिक उत्तरदायित्व का और ज़िम्मेदारी का होता है। और कवि का यह कर्तव्य है कि वह देश को सीधा रास्ता सुझाए—उसके पुनर्निर्माण में सहयोग दे और उसकी संस्कृति की आधार-शिला रखे। उसे तो जनता का नेतृत्व करना है, असहाय और मूक प्राणियों के उद्गारों को व्यक्त करना है और पीड़ितों का प्रतिनिधित्व करना है। यह कर्तव्य उसके ऊपर किसी एक समाज या व्यक्ति के लाये हुए नहीं हैं—यह तो उसके प्राकृतिक नियम के अनुसार हैं—ये उतने स्वतः निर्मित हैं जितना कि स्वयं कवि। जो कवि अपने इस कर्तव्य को पूरा करने में चूकता है—वह और चाहे कुछ हो कवि नहीं है।

यहां बहुत से लोग कला कला के लिए की आवाज़ उठायेंगे। कला कला के लिए का भूत रावण के सिर की तरह से अनेक चोट खाकर भी अभी मरा नहीं है। उसका कारण ही यह है कि उसके अमृत-कुंड पर किसी ने बाण नहीं मारा है। इस भूत का अमृत-कुंड है इसका सौंदर्य-प्रेम। अक्सर मनचले कवियों के मुंह से सुना गया है कि कला तो सौंदर्य की अभिव्यक्ति है। इस

प्रकार की ग़ैर ज़िम्मेदारी की बातें कहनेवाले लोगों में सचाई नहीं होती और वे मन में जो आती है वह कह डालते हैं। वे एक क्षण को भी इस बात का विचार नहीं करते कि उनकी बातों से कितनी भ्रमपूर्ण बातों का प्रचार होगा और उसका कितना बुरा परिणाम होगा। इस सौंदर्यानुभूति की भी बात ऐसी ही है। वास्तव में जो लोग सौंदर्य की अभिव्यक्ति के रूप में ही कविता को चाहते हैं वे कविता को उसके उच्च पद से च्युत करते हैं और साहित्य के क्षेत्र को कोरा बनाते हैं। जिस समय कवि अपने कर्त्तव्यों को भूलकर कोरी भावुकता में पड़ जाता है, सौंदर्य के दर्शन करने को कल्पना के महलों में और सपनों की दुनिया में विहार करने लग जाता है, अपने चारों ओर से आंखें मीच कर अपने ही सीमित और स्वार्थी हृदय की वेदना और पीड़ा के गाने गाने लगता है उस समय वह अपने देश और राष्ट्र के प्रति तो विश्वासघात करता ही है वह आत्मघात भी करता है। कला का, कविता का और जीवन की प्रत्येक वस्तु का केवल एक उद्देश्य है—और वह है आत्म-प्राप्ति। जो कला, जो कविता आपकी आत्मा को कर्त्तव्यशील और शुद्ध नहीं बनाती, जो आपके आचारों का संस्कार नहीं करती, जो आपको ऊंचा नहीं उठाती—उस कविता को दूर ही से प्रणाम है। कवि के हाथ में कलम है, उसके प्राणों में गान है तो क्या वह इसलिए है कि उससे जनता की आत्मा को कलुषित किया जाये, अपनी आंखों पर पर्दा डाला जाये और आप ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारी जाये। हम मानते हैं कि यह सच है कि 'जहां न जाये रवि, तहां जाये कवि'—पर इसके ये अर्थ कदापि नहीं कि कवि अंधकार में चल दे। उसे तो उल्टे अंधकार में भागते हुए लोगों को रोकना है, और अंधेरे में पड़ी सड़ी जनता को जीवन के प्रकाश के दर्शन कराना है। यह काम उन कवियों के लिए कैसे होगा जिन्होंने अभी हृतंत्री के तारों को ही झनकारा है—और जो नारी के एक ही कटाक्ष से घायल हुए पड़े हैं। यह काम उन लोगों से कैसे होगा जिन्होंने अभी कल्पना के ही राज्य में आनंद किया है और जिन्होंने कंकड़ों से भरी सड़क पर कभी पैर नहीं रखा है। इसलिए यह आवश्यक है कि अपने पथहारी कवियों को अपने देश के इन गुमराह भाइयों को उनका कर्त्तव्य समझाया जाये, उनको रास्ते पर लाया जाये, और उन्हें जीवन के दर्शन कराये जायें। जीवन से हमारा मतलब वास्तविक जीवन से है। उस जीवन से जिसमें हम सांसें लेते हैं, चलते-फिरते हैं, और सुख-दुःख भोगते हैं। हम कवि को बादलों में उड़ने से रोककर भूमि पर लाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि कवि लोग वसुंधरा के ऋण को ब्याज समेत चुकायें। यूनान के विश्व-विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक से तमाम कवियों को देश निकाला देने की व्यवस्था की थी और वह केवल इसीलिए की गयी थी कि कवि लोग जिस दुनिया में खाते-पीते हैं और रहते-सहते हैं उसके प्रति अंधे बने रहकर न जाने किस अज्ञात लोक की बातें करने लगे थे। हमारी सरकार चाहती है कि जीवन की उन्नति में कवि का जो हाथ है और जो कर्त्तव्य है—उसको वह पूरा करे। और यह नहीं कि हम कोरी बातें ही करते रहें। हमारी सरकार ने यह प्रत्यक्ष दिखाया कि

कवि चाहें तो देश के शासनसूत्र को भी अपने हाथ में लेकर उसे सफलता से निभा सकते हैं।

यदि हम अपने देश के कवियों पर और उनकी रचनाओं पर दृष्टिपात करें तो हमें पता लगेगा कि आज हमारे कवि कितने पतित और हीन होते जा रहे हैं। जिस समय समस्त संसार में रणभेरी बज रही है, जिस समय मानव अपने अधिकारों के लिए भीषण संग्राम में जूझ रहा है, जिस समय विश्व का हिंसक पशु अपनी क्षुधा को शांत करने के लिए अपनी जीभ पसार रहा है—उस समय हमारे देश के कवि असंख्य मनुष्यों के दुख-दर्द की करुण-चीत्कारों के बीच भी कान में तेल डाल शृंगार और प्रेम की गंदी नालियों में पड़े देश के साहित्य को नष्ट कर रहे हैं। किसी भी कवि की किसी भी रचना को उठाकर देख लीजिए--आपको इस बात का प्रमाण मिल जायेगा। हमें तो आश्चर्य होता है कि आज के विज्ञान-युग में हमारे देश के कवि किस प्रकार यह दूषित वातावरण उत्पन्न कर रहे हैं। अपनी लेखनी से ये विषभाव उभारकर प्रकट कर रहे हैं। जिसे देखिए वही क्षितिज के पार के किसी संसार की बात कर रहा है; जिसे देखिए वही अपनी पीड़ा की, अपने प्यार की कहानी कहने को तैयार है। एक कवि हैं जो फरमाते हैं :

उस दिन तुम तो ओट हो गईं
दे नयनों में चोट सखी
मची खलबली, हुआ हृदय में
छोटा-सा विस्फोट सखी

वह तो खैर हुई समझिए—नहीं तो इनका तो हार्ट ही फेल होनेवाला था। एक और अलमस्त जी गाते हैं :

पियें अभी मधुराधर चुम्बन
गात-गात गूँथें आलिंगन
सुने सभी अभिलाषी अंतर
मृदुल उरोजों का मृदु कंपन

आगे चलकर अपनी एक कविता में आप कहते हैं :

आज न सोने दूँगी बालम

अब बताइए हमें इस बात से क्या मतलब कि सोने दिया जायेगा या नहीं। एक और कवि हैं जो लिखते हैं :

मैं चूम-चूम पद चिन्ह मिटाता जाता हूँ तेरे

वह तो गनीमत समझिए कि इन्होंने यह केवल लिखा ही है। अगर यह ऐसा करने लग जायें तो न जाने क्या हो? ऐसी दशा में जबकि समस्त हिंदी साहित्य में यह आंसुओं की धारा और प्रेम की पीर फूट निकली है तब क्या किया जा सकता है। एक कवि ने ठीक ही कहा है :

एक जो होय तो ज्ञान सिखाइए
कूप ही में इहाँ मौन परी है।

ऐसी अवस्था में सरकार का यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस काव्यधारा को उचित पथ पर लाए और इस प्रकार सभ्यना और समाज की इमारत को नष्ट होने से बचाए।

हमारी तो समझ में नहीं आता कि आज के हिंदी कवि ने यह उल्टी रीति किस प्रकार अपनायी है। सदा यही कहा जाता है कि काव्य जीवन का आईना होता है जिसमें युग का प्रतिबिंब झलकता है। पर कम-से-कम हिंदी का काव्य तो इस सत्य से कोसों दूर है। कहा जाता है कि कवि स्वार्थ त्यागी होता है—वह दूसरों को बन्धन से मुक्त करता है और पीड़ितों और कातर व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति और संवेदना प्रकट कर उनकी मौन व्यथा को व्यक्त करता है। पर यहां तो उल्टा ही हिसाब है। दूसरों को बंधमुक्त करना तो दूर रहा—हिंदी का कवि तो स्वयं बंधनों में जकड़ा हुआ है। वह प्रथा और रूढ़ि में इतना फंस चुका है कि अपनी बुद्धि का प्रयोग करना ही उसने छोड़ दिया है। दूसरों से संवेदना प्रकट करने की कौन कहे वह तो स्वयं संवेदना चाहता है, वह तो और उल्टे ही अपना रोना रोने लगता है। जब डाक्टर ही बीमार हो गया—तो उद्धार की क्या आशा की जा सकती है। सुना करते थे कि कविता चरम सत्यों का प्रचार करती है और लोक का उद्धार करती है। पर यहां तो चरम असत्यों का प्रचार किया जा रहा है और एक ऐसे लोक की चर्चा चल रही है जिसका किसी को कोई ज्ञान ही नहीं है। हम तो समझते हैं कि जो कवि क्षितिज के पार बसे किसी स्वर्णलोक की बात करते हैं उन्हें शीघ्र ही वहां का टिकिट कटा लेना चाहिए। जो कवि अपनी नाक के सामने की बात नहीं पहचान सकता—जिसके मन पर अहं का परदा पड़ा हुआ है वह सच्चा कलाकार कभी नहीं हो सकता। ऐसे कलाकार की लेखनी को जब्त कर लेना चाहिए। क्योंकि समाज में स्वतंत्रता होने पर भी इस प्रकार की उच्छृंखलता सह्य नहीं हो सकती।

इस अव्यवस्था का कारण क्या है। यदि विचार किया जाये तो हमें ज्ञात होगा कि केवल इसका एक कारण है और वह यह कि हमारा कवि जीवन के वास्तविक प्राणयुक्त जीवन से इतनी दूर चला गया है कि वह उसे भूल चुका है। उसने अपने चारों ओर सपनों का महल तैयार किया है और उसमें सचाई को प्रवेश करने से उसी प्रकार रोक दिया है जिस प्रकार कमरे में आती हुई आंधी को खिड़की बंद करके रोकते हैं। तभी तो वहां सब कुछ भूलकर

प्यार-प्रीत के, असफलता के, अपनेपन के गाने गा उठता है। आज आवश्यकता है कि कवि को उसके महल से बाहर लाया जाये, उसे वास्तविक स्थिति से परिचित कराया जाये, उसे छायावादी से प्रकाशवादी बनाया जाये। इसके लिए केवल एक ही उपाय है और वह है जीवन से—जीते-जागते जीवन से संपर्क। और यही कारण है कि हमारी सरकार ने सर्वप्रथम यही कार्य किया है कि कवियों का उद्धार हो। हम जानते हैं कि कवियों की इस पतितावस्था में पिछली सरकार का भी हाथ था। वह जनता की दशा से पूर्णतः अनभिज्ञ थी। और यही कारण है कि वह टिक न सकी। आज यह भार हमारे कंधे पर आ पड़ा है और मुझे इस बिल का समर्थन करते अत्यंत प्रसन्नता है। मेरा विश्वास है कि यह कवियों को उचित रास्ते पर लाने में सफल होगा—और उन्हें एक बार फिर उनके उच्च पद के योग्य बनायेगा क्योंकि इस बिल के अनुसार कवि संभवतः ही जीवन के निकटतम संपर्क में अनिवार्य रूप से आयेगा।

अंत में कवियों से निवेदन करूंगा कि :

संचरित करो कुछ नव-आशा
बदलो जीवन की परिभाषा
परियों के गाने सीख चुके
सीखो मानवता की भाषा
युग-धर्म यही तो कहता है।

[रचनाकाल संभवतः 1947, संभव है यह 'वक्तव्य प्रगतिशील लेखक संघ के इलाहाबाद के अधिवेशन में पढ़ा गया हो, अप्रकाशित।]

कवि के मुख से

काव्य-रचना के बारे में एक बात जो मैं इधर बहुत दिनों से अनुभव कर रहा हूं वह यह है कि आज की दुनिया में कवि-कर्म दिनोदिन कठिन होता जा रहा है। इसका मतलब यह नहीं है कि मुझे कविता लिखने के विषय नहीं मिलते, या पहले की अपेक्षा अब कविता लिखने में समय अधिक लगता है, या भाषा अथवा छंद या तुक पर से मेरा अधिकार घट गया है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह है कि आज की दुनिया में कवि-धर्म निभाना कठिन होता जा रहा है। कवि अपनी भावनाओं का कारबार करता है, और मुझे लगता है कि अनेक कारणों से आजकल मेरे जैसे कवि की भावनाएं इतनी उलझ जाती हैं कि उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति संभव नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो जान-बूझकर अपने भावों को ऐसे ढंग से और ऐसे प्रतीकों के माध्यम से रखना पड़ता है कि उसका मतलब समझने के लिए काफी मेहनत और समय लगाना पड़ेगा। उदाहरण के लिए कुछ दिनों पहले की मेरी यह कविता लीजिए :

धार है कटार में
तीखी और तेज़
मेरी छाती पर बरसों टिकी रही है जिसकी नोक
और मैं जीता चला आया हूँ
प्रतिपल, संत्रस्त, भयभीत, निस्सहाय।

और आज ओ कटार!
तेरी इस धार को है मेरा यह आभार
कि अब इन्तज़ार की घड़ियाँ सब बीत चुकीं
हो गया प्रमाणित यह आखिरकार :
हृत्कम्प चाहे जितना ही बलवान हो
कवच नहीं है वह।

छोटी-सी कविता है यह, और छंद, संगीत या अलंकार के कोमल वरदानों

से शून्य, बड़ी रूखी-सी कविता है। अब आप ही बताइए, क्या आपको आश्चर्य न होगा अगर मैं कहूं कि मेरी यह कविता निराश प्रेम की कविता है। क्योंकि मन की बात कटार के प्रतीक के माध्यम से कही गयी है। और बात को कहते हुए भी मन ने अनजाने में उसको छिपाने की इतनी कोशिश की है कि कविता के अन्य साधारण गुणों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा सका।

यह बात सिर्फ मेरे ही साथ हो, ऐसा नहीं है। अपने बहुत-से कवि-मित्रों को मैं जानता हूं जिनकी रचनाओं में इसी तरह उजाड़ रूखापन और उलझन-भरी दुरूहता आ बैठी है, क्योंकि इसका कारण है आज की हलचल और संघर्ष-भरी ज़िंदगी और उस ज़िंदगी में मुझ जैसे मध्यमवर्गीय कवि-हृदय की स्थिति। मैं एक अजीब ईर्ष्या से उन कवियों के विषय में सोचा करता हूं जो आज से पहले साहित्य में अपना नाम कर चुके हैं, जिनके ज़माने से ज़िंदगी की न तो यह रफ्तार थी, और न मन को दहला देनेवाली ये समस्याएं जो हमारे सामने मुंह फैलाए खड़ी हैं। और सिर्फ उन्हीं से मुझे ईर्ष्या और प्रशंसा युग में रहनेवाले उन कवियों के प्रति भी मेरे मन में कम ईर्ष्या और प्रशंसा नहीं है जो ताल ठोंककर मैदान में कूद पड़े हैं और बला की हिम्मत से अपने कवि-धर्म को निभाते चले जा रहे हैं। लेकिन मैं अपने मन में वह साहस नहीं पाता, मेरे कदम मेरी इच्छाओं का साथ नहीं दे पाए हैं, और मेरी कविताओं में सब जगह निराशा की यह भावना बिखरी मिलती है। एक सॉनेट लीजिए :

चौराहे पर खड़ा आज मैं सोच रहा हूँ कातर होकर·
कितना कम पाया मैंने जीवन में अपना कितना खोकर!
कितना कम सीखा, सिखलाने आई फिर-फिर पथ की ठोकर
मन का भी तम मिटा न पाया, अनगिन दुख के दीप सँजोकर

पथ ने मोड़ अनेक लिए मैं अपनी गति को मोड़ न पाया
मेरी अपनी हिचक मुझी को लगी मार्ग की ही दुर्गमता
संगी आगे बढ़ते ही, मैं स्वयं हाय! बन गया पराया
अविरल जीवन-धारा को क्या कभी रोक पायी है ममता?

चौराहे पर सोच रहा हूँ; गए कौन पथ से वे साथी
केवल दूर कहीं से उनके शंखनाद की प्रतिध्वनि आती
जय-यात्रा है, उनके मुख पर खेल रही होगी नव आशा
व्यर्थ बनाकर मेरा जीवन रोती है मेरी अभिलाषा

अरे साथियो! यदि तुम तक भी पहुंच सके मेरी यह बानी
इतना लेना जान · अन्त तक मैंने पथ से हार न मानी

जीवन-धारा अविरल गति से बहती जा रही है, मेरे साथी आगे निकल गये

हैं, और मैं अकेला अपने पथ से जूझ रहा हूं, आजकल मेरे मन का यही प्रमुख भाव है। मेरा विश्वास है कि अपने इस अनुभव में मैं अकेला नहीं हूं, और मेरी यह भावना आधुनिक अनेक नवयुवक कवियों की भावना है। क्योंकि इस सत्य को छिपाने की मैं कोई ज़रूरत नहीं समझता कि कलाकार होने के नाते आज के कवि के मन में समाज और व्यक्ति के जीवन के जो आदर्श हैं, ज़िंदगी की यथार्थता उनसे कोसों दूर है। और हालांकि मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूं कि सिर्फ सोचने-भर से उन आदर्शों को हम ज़िन्दगी में नहीं ढाल सकते, फिर भी मन की कमज़ोरियों के कारण मैं सोचने, और उन विचारों को कविता में लिखने के अलावा और कुछ नहीं कर पाता। इसीलिए एक तरह से मेरी कविता खोखली है, उसमें सामाजिकता भी कम है, और ज़िंदगी की कशमकश भी कम है। मेरी कविता एक अजीब तरह से व्यक्तिगत कविता है। वह जनसाधारण से दूर है, उसमें केवल अपने मन की निराशा और व्यथा का ही क्रंदन और सोच है। यह दूसरी बात है कि वह मेरे ही जैसे और भी बहुत-से नवयुवकों के भावों का प्रतिनिधित्व करती हो, पर वे भाव हैं व्यक्तिगत ही। और यहीं वह बात आती है जो मैं शुरू में बता चुका हूं। आज के समाज में मध्यवर्गीय व्यक्ति की स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो गयी है। मामूली तरह से रहना भी बड़ा कठिन काम हो गया है। हमारे जीवन को जो शक्तियां संचालित और निर्धारित कर रही हैं वे इतनी विराट् और प्रबल हैं कि उनको वश में करना तो दूर, आसानी से वे समझ में भी नहीं आतीं। उधर मन में न जाने कैसी-कैसी कोमल और रंगीन आशाएं, न जाने कितने मीठे सपने, और कैसी-कैसी महत्वाकांक्षाएं भरी हुई रहती हैं कि व्यक्ति अपने को बड़ा निस्सहाय और दयनीय समझने लग जाता है। कवि का सामाजिक धर्म आज उससे साहस और त्याग की मांग करता है। महात्मा कबीर ने कहा था, "जो घर फूंके आपनो सो चलौ हमारे साथ", और मुझे लगता है कि अपने कवि-कर्म को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए आज के कवि को भी अंत में यही मार्ग अपनाना पड़ेगा। पर हरेक कवि यह नहीं कर सकता। जीवन-निर्वाह का सवाल, परिवार का सवाल, और समाज में एक झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने का सवाल, ये ऐसे सवाल हैं जिनके आगे न जाने कितने लोग घुटने टेक देते हैं। मन की यह मजबूरी मेरी एक कविता में बड़ी साफ उतरी है :

अपनी अशेष आत्मशक्ति से
कम-कण संयोजित रस से
कल्प-कल्प के अभंग योग के उपरान्त
फोड़कर शैल के हृदय को
उमग उठे जो स्वप्रकाश के उछाह में
ऐसी भीम गति के प्रयोगी उस निर्झर-से कवि को
मेरा नमस्कार है।
जीवन को जिसने बनाया एक साधना

और उस साधना के योग से बनाया गान
नहीं, कभी मैंने भूलके भी नहीं सोचा है
कि मैं भी बन सकता हूँ उस कवि के समान।
मैं निरा विलायती स्पंज हूँ
मेरे प्राण रिक्त और छिद्रमय
उनमें कहाँ है रस,
उनमें कहाँ है स्रोत?
मैं तो मात्र बाहर के जीवन को सोख कर फिर उगल देता हूँ
सो भी तब जब कोई आकर निचोड़े मुझे।
शक्तिहीन, व्यक्तिहीन, गतिहीन व्यापार
इसमें नहीं है कोई आत्मदान
इसमें नहीं है मेरे अहं का अवसान
तप और साधना से कोसों दूर
अपनी बनावट से मजबूर
मैं मशीन-युग का हूँ मात्र एक छोटा यंत्र
योग नहीं, हो तो उपयोग भले मेरा हो।

मशीन के एक बेजान पुर्ज़े की तरह ज़िंदगी मुझे चलाए जा रही है, अपनी परिस्थितियों पर मेरा कोई बस नहीं है, और मेरे सुख-दुःख, आशा-अभिलाषा से कुछ बनने-बिगड़नेवाला नहीं है, यह भावना जिसके मन में घर कर जाये वह ऐसे काव्य की सृष्टि कैसे कर सकता है जिसमें उल्लास और आशा का संदेश हो। क्योंकि आशामय दृष्टिकोण यों ही नहीं बन सकता, उसके लिए जीवन की गति को समझ कर अपनी गति को उसके अनुकूल बनाना होता है। और मध्यवर्ग का विकसित अहम् सर्वदा यह नहीं कर पाता। फिर भी मैंने अपने समाज को, अपने चारों ओर की ज़िंदगी को और उसमें कवि के नाते अपने कर्त्तव्य को समझने की कोशिश की है, और मेरी बहुत-सी कविताओं में इसीलिए एक नयी और बलवती सामाजिक चेतना बिजली की तरह कौंध गयी है। उन कविताओं में मन की कुंठा पराजित-सी लगती है, और कवि ज़िंदगी की गति के साथ कदम रखता दिखायी देता है। वह अपने को उन कलाकारों के दल में गिनने लग जाता है जो आनेवाले युग में जन-मन को रूढ़ियों और स्वार्थों के बंधन से हटाकर समता और सौंदर्य के मुक्तिमार्ग की ओर ले जाएंगे। ऐसी ही एक कविता यह है :

मुक्ति-मार्ग के हम सहयात्री, हम सहयोगी।

अन्तर का आह्वान आज बाहर से आया—
युग-युग की पीड़ा ने जग में एक नया संबोध जगाया
व्यापक संस्कृति और उच्चतर जीवन स्तर की नींव

जमाने हम जाते हैं
इस महान् अपनी यात्रा में क्या तुम संग नहीं आओगी?

विश्वप्राण में आज विकलता है जीवन की
टूट रही हैं एक-एक कर कड़ियाँ बन्धन की, जन-जन की
निद्रा ही है शक्ति तिमिर की, बिखर जाय तो जाग पड़ें यदि
लघु तारे भी
फिर इस अरुणोदय बेला में क्या प्रिये! नहीं जागोगी?

गिरि-शैलों को फोड़-फोड़ कर प्रकट हो रहा है जो निर्झर
हम-तुम भी दो बिन्दु उसी के क्यों न फूट निकलें हम बाहर?
आओ, हम अपनी धारा को खोजें,
पायें गति की अन्तर्गति बनने को
यही एक पथ है विकास का, यही शक्ति सततोन्मुख होगी।

इस कविता में आशा और गति के प्रति जो विश्वास है वह यदि मेरे मन में सर्वदा बना रह सके, तो सारा झमेला ही दूर हो जाये। पर ऐसा हो नहीं पाता, और मन हज़ारों परेशानियों में उलझ कर अपने कर्त्तव्य के इस साफ चित्र को अक्सर खो बैठता है। एक जगह मैंने लिखा है :

और ज्यों-ज्यों बीतते हैं दिवस जीवन के
बन्ध ढीले हो चले हैं प्राण के, तन के
दूर धुँधली रेख-सा वह दीखता क्या है?
चरण में उत्तर नहीं इस प्रश्न का, मन के

इस तरह आशा का यह हिम्मत बंधानेवाला चित्र धुंधला पड़ जाता है, और मैं वर्तमान क्षण की बाधा और दुर्गंध से घिरकर व्याकुल हो जाता हूं। ऐसा अक्सर तभी होता है जब मैं अपनी किसी असंभव आकांक्षा के पीछे दौड़ता हूं; हालांकि मुझे ऐसा लगता है कि इस दुनिया में छोटी-से-छोटी इच्छा का पूरा होना भी बहुत मुश्किल बन गया है। मैं कवि को राजनीतिज्ञ नहीं मानता, पर आज की राजनीति ने ज़िंदगी को इतना जकड़ लिया है कि कवि को राजनीतिक समझ रखना भी ज़रूरी हो गया है। मैं यह नहीं कहता कि यह कोई बुरी बात है, क्योंकि आज समाज ने जो वैज्ञानिक उन्नति की है वह कवि के आदर्शों को सच बनाने में एक दिन बड़ी सहायक होगी, पर उस दिन की प्रतीक्षा करना भी तो आसान काम नहीं है।

[रचनाकाल 1950, आकाशवाणी लखनऊ से सितंबर '50 को प्रसारित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

मेरी नाट्य-रचना

नाटकों के प्रति मेरी रुचि शुरू से ही रही है। बचपन में पूरी तरह होश संभालने से पहले ही अपने नगर की रामलीला देखकर घर में अपने साथी मित्रों को इकट्ठा कर नाटक खेलने लगा था, और पिता जी को भगत (नौटंकी) का शौक होने के कारण बहुत छोटी उम्र में ही कई बार नौटंकी देखने का भी अवसर मिला। इसी प्रकार रासलीला भी हर साल देखने को मिलती रही। उसके कुछ दिनों बाद ही कोरिन्थियन कंपनी द्वारा अभिनीत 'कृष्ण-सुदामा' और 'मेरी मंशा' नाटक मैंने देखे, और फिर सन् '31 के आस-पास न्यू अलफ्रेड कंपनी द्वारा अभिनीत 'ईश्वर-भक्ति', 'वीर अभिमन्यु' और 'द्रौपदी-स्वयंवर' आदि अनेक नाटक देखने को मिले। इस प्रकार नाटकों की ओर अनजाने ही मेरा झुकाव हो गया। और इसीलिए सन् 1933 के आस-पास जब मैंने अपनी पहली तुकबंदियां लिखीं, तभी मैंने अपना पहला नाटक भी लिखा, जिस पर प्रकट या प्रच्छन्न रूप से उन दिनों के नाट्य-सम्राट पं. राधेश्याम कथावाचक की शैली का प्रभाव था। यद्यपि वह नाटक प्रकाशित भी हुआ और उससे मुझे अपने जीवन की पहली कमाई रायल्टी के रूप में 2 रुपये भी मिले, किंतु उस नाटक के नाम अथवा कथानक में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी चर्चा करने की आज इच्छा करूं। तभी अपने स्कूल के हिंदी अध्यापक और अब प्रसिद्ध आचार्य एवं आलोचक डॉ. सत्येंद्र की कृपा मुझको मिली, और उनके दो नाटक 'मुक्ति यज्ञ' एवं 'कुणाल' के माध्यम से मुझे पहली बार नाटक की आधुनिक शैली का परिचय प्राप्त हुआ। सत्येन्द्रजी की प्रेरणा से मैंने भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर सेठ गोविंददास तक के सभी प्रकाशित नाटक पढ़े। और इस प्रकार प्रवृत्ति-गत रुझान में अध्ययन का योग हुआ।

इन्हीं दिनों डॉ. सत्येंद्र (तब वे डाक्टर नहीं थे) की परिचालना में हमारे स्कूल में उन्हीं के नाटक 'मुक्ति-यज्ञ' का अभिनय किया गया जिसमें एक छोटा-सा पार्ट करने के अतिरिक्त मुझे सहायक निर्देशक होने का भी सौभाग्य मिला, और पहली बार रंगमंच के नाटकों की सीमाओं और संभावनाओं की ओर मेरी दृष्टि गयी। इन्हीं परिस्थितियों का यह परिणाम था कि सचेत रूप से प्रयत्न किये बिना ही मैं अनायास नाटक लिखने की ओर प्रवृत्त हुआ और सन् '37 में मैंने अपना पहला उल्लेखनीय नाटक 'राखी' लिखा। यद्यपि यह

नाटक शिल्प की दृष्टि से बेढंगा और असफल था किंतु कथा-वस्तु की दृष्टि से उसमें एक तीव्रता थी, और कच्चे मन की स्वप्नशीलता और अतिभावुकता भी। तब मैं बी. ए. (फर्स्ट ईयर) में था और मात्र कौतूहलवश वह नाटक मैंने दिल्ली रेडियो केंद्र को भेज दिया। बेढंगा होने के कारण वह नाटक तो मेरे पास लौट आया, किंतु साथ ही जिन कृपालु के माध्यम से वह भेजा गया था उन्हीं के द्वारा मुझ तक यह बात पहुंचाई गयी कि नाटक की भाव-वस्तु अत्यंत प्रभावोत्पादक है, और मुझे नाटक लिखते रहना चाहिए। इसके कुछ ही दिनों बाद उसी साल मैंने अपना पहला सफल नाटक लिखा 'अभिमान'। नाटक का नायक भुवन भावुक एवं दार्शनिक प्रवृत्ति का दृढ़ता-संपन्न चरित्र है जो अपनी पत्नी को बहुत प्यार करता है। उसकी पत्नी किसी कारण से रुष्ट होकर अपने घर चली जाती है। तब उसका अभिमान दोनों के बीच में एक ऐसी बाधा बन जाता है जिसको तोड़ने का साहस दोनों में से कोई नहीं करता। लेकिन अंत में अपने पुत्र की बीमारी का समाचार सुनकर भुवन की पत्नी झुकती है और बीमार बेटे की कराहों की पृष्ठभूमि में दोनों के मन फिर मिलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि नाटक में भावुकता की अतिरंजना थी लेकिन उसके कथोपकथन बहुत अच्छे थे। भाषा ठेठ होते हुए भी प्रवाह-युक्त थी और पढ़े और सुने जाने पर नाटक अपना प्रभाव जरूर बना लेता था। इतना होते हुए भी मुझे सचमुच आनंद-भरा विस्मय हुआ जब वह नाटक लखनऊ रेडियो में प्रसारण के लिए स्वीकार किया गया, और उससे भी बड़ा विस्मय तब हुआ (यद्यपि उतना आनंद नहीं) जब उसका प्रसारण सुनने पर उस नाटक को पहचानना भी मेरे लिए कठिन हो गया। जो हो, नाटक के क्षेत्र में यह मेरा पहला कांपता चरण था और मेरे नाटक लिखते रहने में रेडियो द्वारा दी गयी प्रेरणा का महत्वपूर्ण स्थान है।

'अभिमान' के बाद 'बेटी की विदा' और 'लज्जा' मेरे दो सामाजिक नाटक हैं जो उन्हीं दो वर्षों में लिखे गये। दोनों ही नाटकों में दहेज के प्रश्न को लिया गया है, और इस सामाजिक कुरीति पर दोनों में प्रबल प्रहार है। यद्यपि नाटक लिखते समय मैंने रंगमंच का भी ध्यान रक्खा था पर ये नाटक खेले कभी नहीं गये, केवल प्रसारित ही हुए। 'लज्जा' तो केवल दो-तीन बार ही प्रसारित हुआ, किंतु 'बेटी की विदा' में कुछ विलक्षण मर्मस्पर्शिता थी जिसके कारण वह नाटक अब तक प्रायः 20 बार प्रसारित हो चुका है। 'बेटी की विदा' से मुझे जो रायल्टी मिली उतनी रायल्टी अभी तक मुझे किसी रचना से नहीं मिली। 'लज्जा' के तुरंत बाद 'भाभी' नाम से एक नाटक मैंने और लिखा था जिसकी कथावस्तु में प्रेमचंद की कहानी 'बड़े घर की बेटी' और शरच्चंद्र की कहानी 'बिंदो का लल्ला' दोनों की छायाएं थीं, और उसके शिल्प में रंगमंच और रेडियो टेकनीक का कुछ ऐसा विचित्र सम्मिश्रण था कि वह नाटक दोनों में से एक भी माध्यम के उपयुक्त नहीं रह गया।

'बेटी की विदा' और 'लज्जा' के बाद ही मैंने 'पलायन' नाम का अपना सबसे बड़ा नाटक लिखा जो आज तक मेरी दृष्टि में, और कई महत्त्वपूर्ण मित्रों

की दृष्टि में, मेरी सर्वश्रेष्ठ नाट्य-कृति है। 'पलायन' की कथा-वस्तु गौतम बुद्ध के जीवन से ली गयी है और घटना-क्रम में कोई महत्त्वपूर्ण उद्भावना नहीं की गयी है। लेकिन उसकी नवीनता और उसकी विशेषता चरित्रों की व्याख्या में है। जिस समय मैंने यह नाटक लिखा, मेरे मन पर नवीन सामाजिक विचार-धाराओं का अत्यंत तीव्र प्रभाव पड़ रहा था, और प्राचीनता की रूढ़ियों से मुक्त होने के लिए मैं विकल था। यही विकलता इस नाटक में अनायास अत्यंत पुष्ट रूप में प्रकट हुई है। 'पलायन' का कथानक जीवन से सिद्धार्थ की विरक्ति और परिणामतः उनके महाभिनिष्क्रमण तक की घटनाओं पर आधारित है। उसके बाद की कथा मैंने जान-बूझकर नहीं ली क्योंकि गौतम बुद्ध के तत्व-दर्शन और क्रांतिकारी संदेश मुझे पूर्णतः स्वीकार थे। सच पूछिए तो, जैसा कि मैंने नाटक की भूमिका में कहा, 'पलायन' में जीवन की जो प्रतिष्ठा मैंने की है और उसकी बाधाओं और व्यथाओं से घबरा कर भागनेवाले मन पर जो प्रखर व्यंग्य बरसाए हैं, उनके कारण नाटक में यदि ऐतिहासिक चरित्र न होते तो भी मेरा काम चल जाता। इन चरित्रों को लेने का एक ही प्रयोजन था। हमारे सांस्कृतिक जीवन से इनका घनिष्ठ संबंध है जिसके कारण नाटक की प्रभाव-शक्ति कई गुना बढ़ गयी है। यों शायद मैंने इतिहास के प्रति न्याय नहीं किया है क्योंकि 'गोपा' में मैंने जिस नारी के दर्शन किये हैं वह सिद्धार्थ के समय एक असंभाव्य कल्पना ही थी। उसके विचारों में आज के क्रांतिकारी सिद्धांत झलकते हैं और महाभिनिष्क्रमण के पूर्व सिद्धार्थ की विकलता पर उसने जो व्यंग्य किये हैं वे सब के सब आधुनिक समय की छाप लिये हुए हैं। फिर भी मैं सोचता रहा हूं कि 'पलायन' में जो निहित विचार हैं वे ही सही हैं। जीवन और उसकी समस्याओं से जूझना ही मनुष्य का धर्म है, उनसे बचकर भागने की चेष्टा व्यर्थ है। शिल्प की दृष्टि से 'पलायन' की स्थिति विचित्र है। जब वह लिखा गया तब मुझे कोई रंगमंच प्राप्त नहीं था और इसीलिए उसमें रंगमंच-संबंधी निर्देश प्रचुर मात्रा में होते हुए भी वह नाटक गति और कार्यकलाप के अभाव में रंगमंच के सर्वथा अनुपयुक्त है। दूसरी ओर उसके तीसरे दृश्य में जो स्वप्नचित्रण है वह उसको रेडियो के लिए भी अनुपयुक्त ठहराता है। इसीलिए मैंने 'पलायन' की भूमिका में कहा था कि यदि इसे नाटक न भी कहा जाये तो भी मेरा काम चल जायेगा। फिर भी 'पलायन' की निर्भीकता और प्रभावोत्पादकता के कारण अनेक मित्र उसे रंगमंच पर लाने की सोचते रहे हैं, जिनमें हिंदी के यशस्वी कलाकार और मेरे अग्रज श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रमुख हैं। उन्होंने एक स्थान पर उसके संबंध में लिखा है कि " 'पलायन' को न मैं भूला हूं, न भूल सकता हूं।" यही नहीं अज्ञेय जी ने जब 1947 में प्रयाग से 'प्रतीक' नामक द्वैमासिक पत्र प्रकाशित किया तो उसके प्रथम अंक में ही 'पलायन' को उन्होंने बड़े आग्रह से स्थान दिया, और 'प्रतीक' में ही उसे पढ़कर श्री गिरिजाकुमार माथुर ने उसे लखनऊ रेडियो से प्रसारित कराया।

'पलायन' सन् 1941 के प्रारंभ में लिखा गया था और उसके लिखने

में केवल दो दिन लगे थे। उसी वर्ष मैंने कलकत्ते में अपना नया जीवन आरंभ किया। कलकत्ते पहुंचते ही मैंने एक छोटा-सा नाटक और लिखा 'युग-युग या पांच मिनट' जो रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला जा सकता है, पर अभी तक केवल प्रसारित और प्रकाशित ही हुआ है, अभिनीत नहीं हुआ। सन् 1941 से 1948 तक मैंने कोई नाटक नहीं लिखा। इसके कई कारण थे। एक तो मैं कलकत्ते में जाकर व्यापारिक और व्यावसायिक क्षेत्र में ऐसा उलझा कि मेरा लिखना बहुत कम हुआ। दूसरे इस अवधि में मैंने मुख्यतः काव्य-रचना ही की। इस काल की कविताएं 'छवि के बंधन', 'जागते रहो' और 'मुक्तिमार्ग' नामक तीन संग्रहों में प्रकाशित हुईं।1948 के बाद से मैंने दुबारा नाटक रचना आरंभ की और रेडियो से संबंध होने के कारण मेरे अगले नाटकों में रेडियो की ही टेकनीक है। इस काल में लिखे गये नाटकों की संख्या तो बड़ी है परंतु उनमें लगभग 12 नाटक ऐसे हैं जो सहज ही चुने जा सकते हैं। उनमें से कुछ नाटकों का संग्रह इस वर्ष प्रकाशित हो रहा है। इस संग्रह में दो नाटक ऐसे हैं जिन्हें मैं विशेष उल्लेखनीय मानता हूं। पहला है—'महाभारत की सांझ' और दूसरा—'और खाई बढ़ती गयी।'

'महाभारत की सांझ' की कथा-वस्तु 'पलायन' की ही भांति भारत के प्राचीन साहित्य से ली गयी है, लेकिन कथावस्तु के अतिरिक्त उस नाटक में कुछ भी पुराना नहीं है। नाटक का प्रारंभ उस समय होता है जब महाभारत के युद्ध में उभय पक्ष लड़ कर मिट चुकते हैं, केवल गिनती के लोग रह गये हैं। पांडव दुर्योधन को खोजकर उसे ललकारते हैं और भीम के साथ गदायुद्ध में दुर्योधन अन्याय से आहत होकर परास्त होता है। तब रात आती है, और युधिष्ठिर सारा वैमनस्य भूल कर दुर्योधन से अंतिम संलाप करने जाते हैं। यहां तक मैंने प्राचीन कथा का साथ दिया है लेकिन इसके बाद युधिष्ठिर और दुर्योधन के संलाप में मैंने पूरी महाभारत की जो व्याख्या की है वह नितांत मौलिक है। दुर्योधन प्रत्येक घटना में अपने पक्ष का न्याय सिद्ध करता है और युधिष्ठिर को अभियुक्त मानता है। हो सकता है कि इस नाटक के पढ़ने पर कुछ प्राचीनतावादियों को कष्ट हो पर दुर्योधन के चरित्र-चित्रण में मैंने सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा की है। और जब आदि काल से आज तक महाभारत के कथानक को लेकर अनेक नाटककारों ने उसकी मनचाही व्याख्या की है तो मैं ही अपनी स्वतंत्रता क्यों सीमित करूं?

दूसरा नाटक 'और खाई बढ़ती गयी' आज के मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण करता है और उसमें मैंने जिस साहस से पिता और पुत्र के बीच की खाई का अंकन किया है, वह आसान नहीं है। और मैं मानता रहा हूं कि सचाई का अपना अलग मूल्य है, यदि उससे हंमारी कुछ बंधी-बंधायी भावनाओं को ठेस पहुंचे तो वह ठेस भी बुरी नहीं है। जिस काल का चित्रण इस नाटक में है उस काल में पिता और पुत्र के विचारों में, उनके जविन-उद्देश्यों में और उनकी सामाजिक दृष्टियों में अंतर सहज स्वाभाविक है। मैंने नाटकीयता की दृष्टि से केवल उस अंतर को अपनी कल्पना द्वारा एक ऐसे स्तर पर पहुंचाया

है जो साधारण जीवन में चाहे सहज न हो, फिर भी नाटक की मार्मिकता में मुझे कोई संदेह नहीं। रेडियो पर इस नाटक को सुनकर सैकड़ों लोगों की आंखें सजल हुई हैं और जिन मित्रों ने इसे पढ़ा है उन्होंने मेरे साहस की प्रशंसा की है।

संक्षेप में, मेरी नाटक-रचना का यही इतिहास है। इधर कुछ दिनों से मैं फिर रंगमंच की ओर झुका हूं, और सोचता हूं कि शीघ्र ही रंगमंच के लिए मैं कुछ बड़े नाटक लिख सकूंगा।

[रचनाकाल 1954, 'दृष्टिकोण' अगस्त 1964 में प्रकाशित, 'पलायन' नाटक संग्रह में संकलित।]

'ओ अप्रस्तुत मन!' का वक्तव्य

'ओ अप्रस्तुत मन!' की कविताएं आपके सामने लाते हुए मुझे कुछ संकोच हो रहा है।

यों, यह मेरा पहला काव्य-संग्रह नहीं है। 'तारसप्तक' के एक कवि के नाते पूर्व-परिचित होने के अतिरिक्त भी मैं उससे पहले 'छवि के बंधन' और 'जागते रहो!' एवं उसके बाद 'मुक्तिमार्ग' नामक संग्रह छपा चुका हूं। पर वे संग्रह केवल मित्र-मंडली में ही चक्कर लगाकर रह गये; उन पाठकों तक वे नहीं पहुंच सके, जिन तक पहुंचना हर लेखक को ज़रूरी होता है।

मेरे संकोच का यह कारण बाहरी है; पर एक और भी कारण है जो कविता के तत्त्व तक पहुंचता है और मेरे संकोच को गहरा बना देता है। आज की काव्य-धाराओं में मैं अपने-आपको कुछ विचित्र स्थिति में पाता हूं। वादों, संप्रदायों और संगठनों के इस घटाटोप में मैं कुछ अकेला-सा अनुभव करता हूं। यही नहीं, अपनी कविता के माध्यम से मैं अभी किसी ऐसे परम-तत्त्व की भी उपलब्धि नहीं कर सका हूं, जो अकेला ही ताल ठोककर उच्च स्वर की गर्जना में कह सकूं कि यह मैं हूं। मेरी कविता में जो मन झलक रहा है, वह सचमुच अप्रस्तुत ही है।

इस संग्रह के शीर्षक की चर्चा कुछ मित्रों से छिड़ी है। किसी को भी यह नामकरण नहीं रुचा। उन्होंने तरह-तरह के तर्क इसके विरुद्ध दिये, और उन सभी तर्कों की संगति मैं स्वीकारता हूं। फिर भी मैंने शीर्षक बदलना नहीं चाहा; क्योंकि वह मेरी कविता का जितना सही परिचय देता है, उतना और कोई शीर्षक नहीं दे सकता था। और जब बाहर के सब मूल्यों का पानी उतर जाये, और सारे वादों-मतों के रंग कच्चे निकल जायें तब कवि के पास एक ही उपाय रहता है कि वह अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार रहे। अगर इस ईमानदारी को वह छोड़ना चाहे या उसे दूसरे इतर तर्कों के आगे छोटा मानना चाहे तो उसे कवि बने रहने की भी क्या बाध्यता है! मुझे नहीं लगता कि मैं किसी भी शर्त पर यह ईमानदारी छोड़ देना चाह सकता हूं।

और ईमानदारी की बात यह है कि मेरी रचना अधूरी रचना है। जो मैं लिखना चाहता था, वह मैं अभी तक नहीं लिख सका। बच्चन ने एक कविता में कहा है : "जीवन बीत गया सब मेरा जीने की तैयारी में!" अपने विषय
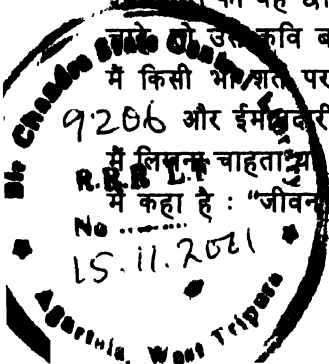
में मैं इस पंक्ति को पूर्णतः चरितार्थ मानता हूं। और रचना अधूरी रह जाने के कारण मन भी अप्रस्तुत ही रह गया, वह आज भी कसौटी पर चढ़ने को तैयार नहीं है। आज के युग में मध्यवर्गीय मन की कला-साधना जन्म से ही अभिशप्त होती है। उसका उत्कर्ष ही आश्चर्य का विषय बन सकता है। बचपन से ही काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त होकर मैंने अपने सारे जीवन को उसके अनुकूल बनाने का निरंतर प्रयास किया है। और जब परिस्थितियों ने ऐसा न करने दिया, तो निराशा, व्यर्थता और अपूर्णता का बोध स्वाभाविक है। अपनी कविता को ही मैं अपनी एकमात्र संपत्ति मानूं, ऐसा छायावादी मैं नहीं हूं; पर अपनी कविता को अपने मन की निश्छल और संपूर्ण अभिव्यक्ति दे सकूं, यह प्रयास मेरा सदा रहा है और रहेगा।

मेरी पहली रचना 'माधुरी' में सन् 1936 में प्रकाशित हुई थी। उस दिन को अब बीस वर्ष बीत चुके हैं। इस अवधि में मैंने काफी लंबी दूरी पार की है, और काव्य के अनेक मोड़ों से गुज़रा हूं। बीच-बीच में मुझे साथी भी मिलते रहे हैं और यात्रियों की भीड़ भी; पर आज अपने को अकेला पाता हूं। यह नहीं कि अन्य कवियों की कविता में मुझे रस नहीं मिलता, या उनके भाव मुझमें प्रतिध्वनित नहीं होते; पर किसी की भी रचना से मुझे यह नहीं लगता कि जो मैं कहना चाहता हूं वह कह लिया गया है, और इसलिए अब मेरे कहने की ज़रूरत नहीं है। अभिव्यक्ति की यही दुर्निवार मांग मुझे काव्य-क्षेत्र में रोके हुए है, और अभिव्यक्ति की यही एकांत अनुभूति मुझमें हिचक उत्पन्न करती रहती है। इस द्विविधा में अनेक बार मेरी रचना रुक जाती है, अधूरी रह जाती है या फिर अधूरे मन से पूरी होती है। ऐसी कविताएं जो मेरे संपूर्ण मन के प्रबल वेग से कागज़ पर उतरी हैं, अपेक्षाकृत कम हैं।

विभक्त व्यक्तित्व शायद इसी को कहते हैं। और जो इस या उस सिद्धांत के प्रति प्रतिश्रुत होने के कारण नित्य-निरंतर परिवर्तनीय जीवन-दृश्य से अप्रभावित रहकर अपने मन को बदलने के लिए तैयार नहीं, उन्हें व्यक्तित्व का यह विघटन विचित्र भी लग सकता है, और दयनीय भी। पर आज की ज़िंदगी में मध्यवर्गीय मन के लिए और कोई राह नहीं है। खासकर ऐसे मन के लिए जो खुला रहना चाहता है, खुला रहकर जीवन के नानाविध, नाना-स्तरीय प्रभावों को ग्रहण कर पचाना चाहता है, और वर्तमान की जटिल-से-जटिल कठिनाइयों से जूझते रहकर भी भाग जाना, या ओट खड़ी करना नहीं चाहता। विश्व-जीवन की हलचलों से दूर अपने ही भीतर लीन होना पलायन है, अतीत की ओर सतृष्ण दृष्टि से निहारना या कल्पना-लोक की सृष्टि कर उसमें विहार करना पलायन है, यह तो सभी स्वीकारते हैं। पर जीवन के किसी एक विशिष्ट मतवाद के लिए प्रतिश्रुत होकर यथार्थ की अनदेखी करना भी उतना ही गर्हित पलायन है, यह बात बहुत-से मित्र अभी नहीं पहचान सके हैं। मतों, सिद्धांतों, वादों और नारों के सांप्रतिक चक्रांत में किसी एक की परिधि में अपने को सीमित कर काव्य-रचना करना और उस परिधि में कीर्ति-ध्वजा फहरा लेना आसान तो है; पर उससे कविधर्म का निर्वाह नहीं हो सकता। जिन विविध

शक्तियों से जीवन निरंतर अनुप्रेरित और अनुरूपित हो रहा है, उनसे बचने का कोई उपाय आज के सच्चे कवि के पास नहीं है। और इसीलिए प्रतिश्रुत यानी पक्षधर कवि से अधिक दयनीय प्राणी और दूसरा कोई नहीं है। मध्यवर्गीय मन सुविधा या प्रशंसा के लोभ में, या अधकचरे ज्ञान के भ्रम में बड़े वेग से पक्षधरता की ओर झुकता है। कवि की ईमानदारी ही उसको थामे रह सकती है। ऐसे में यदि कवि ने अपनी ईमानदारी को तिलांजलि दे दी, तो वह अपने मौलिक धर्म से च्युत होकर सिद्धांतवाणी का पद्यकार होकर रह जाता है। और यदि वह अपनी ईमानदारी के बल पर प्रतिश्रुति से दूर रहना चाहता है तो उसके चारों ओर का प्रतिकूल वातावरण उसे अकेला बना देता है, यहां तक कि उसकी हिम्मत टूटने लगती है। परस्पर-विरोधी सिद्धांतों की टकराहट में टूटने की यह विवशता आज के ताने-बाने की अनिवार्य शर्त है। ऐसी परिस्थितियों में सच्चे रास्ते को अपनाने की इच्छा साहस की मांग करती है और इसीलिए मन में हिचक उत्पन्न करती है।

कविता के प्रति ईमानदारी : यह कोरा शब्द-जाल नहीं है। प्रमाणस्वरूप मैं आपके आगे अपना यह संग्रह रख रहा हूं। इसकी रचनाएं महान् हैं, ऐसा मेरा दावा नहीं है। वे महान् हो भी नहीं सकती थीं क्योंकि वे एक साधारण मध्यवर्गीय मन की सच्ची तस्वीरें हैं। पर उनमें—उनमें से प्रत्येक कविता में—मध्यवर्गीय मन की सच्ची छटपटाहट आपको मिलेगी, इतना दावा मैं ज़रूर कर रहा हूं। अपने से दूर, ऊपर, परोक्ष की शक्तियों से अनुप्रेरित-अनुशासित होते रहने की विवशता, अपनी सीमित शक्ति की व्यर्थता के प्रति खीज और अपने छोटे-से-छोटे सपने को भी पूरा न कर सकने की झुंझलाहट—इन कविताओं में ये तत्त्व आपको निश्चय मिलेंगे। और इन सबके साथ-ही-साथ एक गुण आपको और मिलेगा, जिसका मुझे विशेष रूप से गर्व है। इनमें आपको मध्यवर्गीय मन की क्षुद्रता, स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता पर निर्मम व्यंग्य भी मिलेगा। यह व्यंग्य मेरी ईमानदारी का अंतिम प्रमाण है।

एक प्रकार से मेरा वक्तव्य समाप्त है; पर हिंदी-आलोचना के क्षेत्र में संप्रति जो संकुचित मनोवृत्ति प्रदर्शित की जा रही है, उसके कारण कुछ स्पष्टीकरण अत्यंत आवश्यक है। पिछले बीस वर्षों में कविता ही हिंदी आलोचना का प्रधान विषय रही है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि वही सबसे कम पढ़ी जाती है। वादों और सिद्धांतों की बहस में आज के बहुत-से आलोचक इतने बहक गये हैं कि रचना के मूल्यांकन को गौण और उपेक्षणीय समझा जाने लगा है। यही कारण है कि आप कविता के विविध पहलुओं पर लंबे-लंबे लेख पाएंगे, जिनमें एक भी उद्धरण नहीं, एक भी प्रमाण नहीं। आज का आलोचक मौलिक आलोचना लिखने लग गया है। रचना से वह असंपृक्त है। अपनी स्थापनाओं का प्रमाण वह स्वयं बन बैठा है, कवि को परखने का काम उसे व्यर्थ लगता है। यदि कोई आलोचक इस रोग से थोड़ा-बहुत मुक्त है भी तो वह पूर्वग्रहों का चश्मा पहनकर मैदान में आता है। उसे समसामयिक जीवन का अध्ययन करने का कोई अवकाश नहीं, फिर उस जीवन की भूमिका में

रचना की जांच का प्रश्न ही नहीं उठता। यह दशा इतने दयनीय स्तर पर पहुंच चुकी है कि कल्पना भी मात है। मेरे एक आलोचक बंधु ऐसे हैं, जो तब तक किसी कविता के संबंध में अपना मत नहीं दे सकते जब तक यह न मालूम हो जाये कि वह किसकी लिखी हुई है। यहां तक कि मेरी एक कविता के संबंध में उनका यह मत था कि कविता तो अच्छी है; पर वह मुझको नहीं लिखनी चाहिए थी; क्योंकि उनके मत में मुझे एक सिद्धांत-विशेष का समर्थन करनेवाली कविताएं ही लिखनी चाहिए। इस हास्यास्पद स्थिति का कारण यही है कि उन्होंने अपने मन में कवियों का वर्गीकरण और मूल्यांकन कर रखा है और उसमें अब किसी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। पूर्वग्रह-पोषित इन प्रतिश्रुत आलोचकों ने हिंदी-साहित्य को कितने गलत मोड़ दिये हैं और कितनी प्रतिभाओं की बलि ली है, यह अवांतर बात है। यदि आज भी हिंदी कविता अपने अस्तित्व पर गर्व कर सकती है, तो इन आलोचकों की असमर्थता के ही कारण।

इन आलोचकों से मेरा निवेदन है कि आप मेरी इन कविताओं को पढ़ने का कष्ट न करें। उनसे आपको कोई सुख, कोई संतोष नहीं मिल सकेगा। क्योंकि आपको सत्साहित्य की चाह नहीं है, पक्ष-पुष्टि की चाह है। और कविता में—यानी सच्ची कविता में—पक्ष-पुष्टि नहीं होती, यथार्थ होता है। और यदि आप गलती से पढ़ भी बैठें, तो पढ़कर भुला दें। धूल उड़ाने से आपकी आंखों को ही कष्ट होगा।

पर अपने पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन यह है कि मेरी कविता किसी वाद, दल या फैशन की अनुवर्तिनी नहीं है। वह मेरी अनुभूतियों और उनसे उत्पन्न मान्यताओं पर जीवित है। मैंने अपनी कविता और अपनी ज़िंदगी के बीच कोई दीवार नहीं खींची, कोई परदा नहीं रखा। अपना जीवन जीते-जीते मुझे जो कुछ भाव-राशि मिली है, उसी को मैंने अपनी कविता में लिपिबद्ध किया है। और क्योंकि मेरा जीवन अपने समाज के जीवन से प्रभावित होता रहता है, इसलिए मेरी कविता में भी वे प्रभाव झलकते रहे हैं; पर एक तो वे प्रभाव उसी रूप में और उतने ही अंश तक आये हैं, जिस रूप में जिस अंश तक वे मेरे मन को ग्राह्य हुए हैं, दूसरे वे मेरे लिए जड़ बंधन नहीं बन सके हैं। ज्यों ही मेरे अनुभव उनको पार कर सके हैं; त्यों ही मेरी कविता में भी परिवर्तन आ गया है। शुरू में आस-पास के वातावरण से और तत्कालीन काव्य-रचना से प्रभावित होकर, मैंने भी प्रणय-गीत लिखे हैं (छवि के बंधन) और बाद में परिस्थितियों के अनुकूल सामाजिक चेतना से प्रभावित होकर संघर्ष की कविताएं भी (जागते रहो!)। पर सामाजिक चेतना की वह धारा जब धीरे-धीरे संकुचित, अस्वस्थ, राजनीतिक प्रचार-माध्यम का रूप लेने लगी, और जब छायावादी आदर्शवाद के स्थान पर एक दूसरे प्रकार की स्वप्नशील आदर्शवादिता को जन्म दिया जाने लगा, तो मेरे कवि को उसमें सचाई के दर्शन न हो सके, और उन सात कवियों में (तारसप्तक) मैं भी एक था, जिन्होंने सिद्धांतवाद के स्थान पर स्वयं जीवन में सत्यांवेषण का व्रत लिया था। आगे चलकर जब इन

सात सत्यांवेषियों में से एक ने तत्कालीन परिस्थितियों का और प्रतिश्रुत आलोचकों की मूर्खता का लाभ उठाकर व्यक्तिवादी अहम्मन्यता की प्रतिष्ठा के हेतु अर्द्ध-सत्यों पर आधारित एक नये निकाय की स्थापना कर भक्तों की सेना इकट्ठी करनी चाही, तब मुझे उनसे भी अलग होकर 'मुक्तिमार्ग' की खोज जारी रखना जरूरी हो गया। मेरी वह खोज आज भी चल रही है। 'ओ अप्रस्तुत मन!' उसी खोज का प्रमाण है, मार्ग की उपलब्धि का नहीं।

मार्ग की उपलब्धि मैं अभी तक नहीं कर सका, इसकी मुझे कोई लज्जा नहीं है। हमारी आंखों के सामने, हमारे देखते-देखते हमारा जीवन इस तेज़ी से बदल रहा है, उसकी समस्याएं इतनी शीघ्रता से परिवर्तित हो रही हैं कि कल का निश्चय आज संदेह का विषय बन जाता है, और कल का मार्ग आज भूलभुलैया लगने लगता है। इसलिए आज की सच्ची कविता निषेध की ही कविता है। 'यह भी पथ नहीं है', 'यह भी पथ नहीं है,' 'यह भी नहीं'— आज का कवि इतना ही कह सकता है। 'कौन-सा पथ है' यह बताने की स्थिति में वह नहीं है। जो आंखें मूंदे निश्चित मन से तय किये हुए मार्ग पर चले जा रहे हैं वे वाद-ग्रस्त और भ्रम-बद्ध हैं, मंज़िल उन्हें मिलनेवाली नहीं है। 'सच्चा संदेह' आज 'अंधे विश्वास' से बड़ा है। और जो लोग कवि से हर प्रश्न के समाधान की मांग करते हैं, वे बदली हुई परिस्थितियों में कवि के 'रोल' को समझने से इंकार करते हैं। छायावादी काल में एक भ्रम उत्पन्न किया गया था कि कवि द्रष्टा होता है; पर यह सच नहीं है। कवि की दृष्टि मन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावनाओं तक पहुंच जाती है, इस अर्थ में तो वह द्रष्टा जरूर है; पर आज मनुष्य के सामने जो विकट समस्याएं हैं, वे कल क्या रूप लेंगी, और मनुष्य को उनका हल किस प्रकार करना चाहिए, यह वह नहीं बता सकता। आज के पीड़ा-भरे प्रहर को वह अपनी सहानुभूति ही दे सकता है, और देश-देशांतरों को अपनी लपेट में बांधकर, जो अदृश्य अग्नि-शृंखला हमें तिल-तिल कर जला रही है. उसके दहन को वह स्वर दे सकता है; पर वह ज्योतिषी नहीं है।

और क्या यह दुःख की बात है कि वह ज्योतिषी नहीं है? आज के दर्द और अभाव को हम भविष्य के कल्पित रंगभरे चित्रों से बहलाने का प्रयत्न करें, तो क्या हम सच्चे कवि कहलाएंगे? क्या आज के सच्चे कवि का यही एकमात्र धर्म नहीं है कि वह आज के व्यथित क्षणों को अपनी सहानुभूति का स्वर दे, और भीमकाय सामूहिक-राजनीतिक शक्तियों के लौह-चरणों के नीचे खंडित होती व्यक्ति-चेतना की कराह आपके कानों तक लाए? कला व्यक्तिवादी नहीं होती, यह तो अब सभी मानते हैं; पर कला व्यक्ति के प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होती, इसको मान्यता मिलना अभी बाकी है। मेरी कविताओं में मेरा सुख-दुःख, मेरा घुटन-चीत्कार, मेरा दर्प-अपमान है, इससे क्या मैं इंकार कर सकता हूं? पर यदि मैं यह सोचता कि ये सब केवल मेरे, नितांत मेरे हैं, और इनमें आपके मन की कोई झलक नहीं है, तो आप विश्वास करें, इनके प्रकाशन का साहस मुझमें नहीं था। संकोच और हिचकिचाहट के साथ ही

सही, इन रचनाओं को यदि मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं तो सिर्फ इसी बल पर कि ये आज के मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन-जीवन की सचाई को लिपिबद्ध करती हैं। उसके सपने, उसकी आकांक्षाएं, उसकी विवशताएं और उसकी असमर्थताएं अपने सीधे-सच्चे रूप में इनमें उपस्थित हैं। मैंने उन्हें थोथे आदर्शों की कोई बैसाखी नहीं सौंपी है, न उन्हें कल्पना के पंखों पर पलायन करने दिया है। यदि इन्हें पढ़कर आपको निराशा हो तो आप मध्यवर्गीय मन को आशांवित करने की ओर प्रवृत्त हों, यदि उसके अधूरे, अपर्याप्त जीवन पर आपके मन में सहानुभूति उत्पन्न हो, तो आप उसके विकास के पथ को प्रशस्त करने की ओर प्रवृत्त हों, और यदि उसके क्षुद्र, ओछे जीवन से आपके मन में वितृष्णा का उदय हो, तो आप व्यक्ति की सही प्रतिष्ठा की ओर प्रवृत्त हों, यही निवेदन है।

[रचनाकाल 1858, 'ओ अप्रस्तुत मन!' में भूमिका के रूप में संकलित, 'प्रसंगवश' में भी संकलित।]

काव्यधारा

जून का महीना बीतनेवाला है, और वर्षा ऋतु का आगमन हो चुका है। इसलिए आज कुछ छोटी-छोटी कवितायें वर्षा पर ही सुनाता हूं, ठीक वर्षा की पहली बूंदों जैसी। पहली है : 'दूर की घटाओ!' कभी-कभी जब पानी नहीं बरसता, और आसमान में सिर्फ रंग-बिरंगी घटायें छाई रहती हैं, तो मन कैसा अकुला जाता है। वही अकुलाहट इस कविता में है :

दूर की घटाओ!
रंगों की हाट यह अपनी हटाओ।
मुझे नहीं भाता है
निर्लज प्रदर्शन यह और अकुलाता है।
मुझ को तो लाओ, बस हल्की फुहार एक—
जिससे इन प्राणों को शीतल परस मिले!
रंग नहीं, रस मिले!

इस अकुलाहट का एक और रूप देखिए, जिसमें मन की बात और भी अधिक सीधे और तीखे ढंग से प्रकट हुई है। शीर्षक है : तुम नहीं!

सतरंगे स्वप्न लिये आती हैं घटायें
इनसे यह रूखा मन कैसे मिलायें
पर कैसे हटायें!
तुम नहीं—
रस के इस मौसम में
पत्थर बन जाने का दर्द यह
किससे बंटायें।

इन *रंग-बिरंगी* घटाओं को देखकर बहुत से लोग मोरों की तरह नाच उठते हैं, और उस पल की बाट देखते हैं जब मेह की रस-बूंदें उन्हें सराबोर कर डालेंगी। पर कवि को भीगने मात्र से संतोष नहीं, रस का कुछ-न-कुछ उपयोग

भी तो होना चाहिए। 'सीपी की सीख' में यही भाव मुखरित है—

नाचने लगे हैं मोर
गहराने लगी है आसमान की सजीली कोर
अब वर्षा आयेगी
स्वाति की एक बूँद मोती बन जायेगी
छोटी-सी सीपी यह हमको सिखायेगी :
'रस का सही ग्रहण
कितनी बड़ी बात है।'
मोरों का नाच यह, मेंढकों का यह शोर
केवल उत्पात है!

और मानो तभी बादल गड़गड़ाने लगते हैं, बिजली कौंधने लगती है, पानी की अनंत धार आसमान से उतरकर धरती पर सर्वांग भिगोकर निखार देती है। और कवि आशा करता है कि उसके मन का दुख-कलुष भी इसी धार में घुल-घुल जायेगा। कविता है : बादल, गरज़ ले!

बादल गरज ले!
बिजली, विभूति से तू अपने अंग सज ले!
बज ले,
ओ मेरे रोम-तार! तू इस वर्षाघात से बज ले!
क्या पता, उतरती इस धार से ही धुलकर
मेरा मन मंज ले!

और जब पानी बरसता है, खेत हरिया उठते हैं, और उनके साथ मन के भूले-बिसरे दर्द भी लौट आते हैं। सुनिए दर्द के तिनके।

मिट गये थे चिन्ह तक जिनके
वही तिनके
फिर अचानक लहलहाने लग गये!
और
उसके इन पलों में
वे मिटाये दर्द भी, लो, सिर उठाने लग गये!!

और तब, वर्षा के दान से उमड़कर अधसूखी नदियां भी लबालब भर जाती हैं, किनारे जो दूर, अलग जा पड़े थे वे फिर सिमट आते हैं। इस दृश्य को देखकर मन को एक नये रहस्य की प्राप्ति होती है। लीजिए, सुनिए : उपलब्धि।

प्यासा तट जहाँ था, वहीं रहा—
धारा ही आई!
प्लावन की वेला में
आज नई उपलब्धि पाई :

निश्चल समर्पण ही सिद्धि है।
रस की खोज में भटक
मैंने उम्र यों ही गंवाई!

बाढ़ का यह दृश्य मन में एक और भाव उत्पन्न करता है। भीषण तपन के बाद रस का यह समां कष्ट सहन की शक्ति देता है। कविता देखिए :

नदिया में बाढ़ आई
दूह सब ढह गये!
हरियाये किनारे
सूखे पत्ते भी बह गये
रस में ये डूबे पल
कानों में कह गये :
'तपने से डरते थे?
इसीलिए देखो :
तुम आज सूखे रह गये।'

और जब नगर की सड़कों और गलियों में पानी उमड़ आता है, और वे छोटी-छोटी नदियों का रूप धारण कर लेती हैं, तब भोले-भोले बच्चे कागज़ की नाव बना-बनाकर उनमें बहाने लगते हैं, जब तक वे तैरती रहती हैं तब तक बड़ी उत्सुक आंखों से उन्हें देखते रहते हैं और उनके डूबते ही तालियां पीट कर किलकारियां भरने लगते हैं। मेरा मन कहता है, काश इन बच्चों से हम अपनी उमंगों-आकांक्षाओं की असफलतायें सहना सीख सकते तो कितना अच्छा होता। कविता का शीर्षक है, 'कागज की नाव'।

कागज़ की नाव जो हमने बनाई थी
धारा में बहाई थी
वह अब डूबने लगी!
आओ,
इन बच्चों की भाँति ही
हम भी खुश हो-होकर बजायें क्यों न तालियाँ।
कोई यह न कह बैठे :
हम नहीं जानते थे खेल की प्रणालियाँ।

[रचनाकाल 1950, आकाशवाणी, भोपाल से
25 जून, 1958 को प्रसारित, अप्रकाशित।]

अर्द्धचंद्र के तुक्तक : एक वार्ता

आज मैं आपको अपने कुछ लिमरिक सुना रहा हूं। लिमिरिक अंग्रेजी का शब्द है, और लिमरिक का प्रचलन भी अंग्रेजी में ही विशेष रूप से है। हिंदी में यह शब्द और यह काव्यरूप अभी नया ही है। मैं लिमरिक के लिए तुक्तक शब्द का प्रयोग करना ज्यादा पसंद करता हूं। लिमरिक के लिए यह हिंदी नाम मुझे अपने एक कवि मित्र की कृपा से मिला है।

लिमरिक या तुक्तक हास्य-विनोद का काव्य है जिसमें तुकों की प्रधानता होती है। कड़े से कड़े शब्दों की जितनी ही अधिक विचित्र तुकें चुनी जाती हैं, उतना ही उसमें आनंद आता है। अर्थ की दृष्टि से लिमरिक को देखा ही नहीं जाता, इसीलिए अंग्रेजी में उसकी एक परिभाषा है Nonsence Rhymes निरर्थक तुकबंदी। पर पूर्ण निरर्थकता पाना बहुत कठिन काम है। कहा भी गया है . गिरा अर्थ जल-वीचि सम कहियतु भिन्न न भिन्न। इसलिए शब्दों से अर्थ का संपूर्ण विच्छेद कभी-कभार ही हो पाता है। फिर भी तुक्तक में अर्थ गौण ही रहता है, और वह भी हास्योत्तेजक या व्यंग्य-प्रधान होता है।

अंग्रेजी में लिमरिक के लिए Adward Lear का नाम प्रसिद्ध है। उन्हीं के प्रयोग का अनुसरण कर लिमरिक के लिए एक विशेष छंद को रूढ़ बना लिया गया है, जो पांच पंक्तियों का छंद है जिसकी पहली, दूसरी और पांचवीं पंक्तियां बड़ी होती हैं और आपस में तुक से बंधी होती हैं। बीच की तीसरी और चौथी पंक्तियां छोटी-छोटी होती हैं और उनमें अलग तुक का निर्वाह मिलता है। मैंने भी इसी रूप को ग्रहण किया है। छंद के लिए मैंने हिंदी के अतिप्रचलित और सिद्ध छंद घनाक्षरी को आवश्यक परिवर्तनों के साथ अपनाया है।

अब कुछ तुक्तक सुनिए। पहले दो तुक्तक ऐसे सुनाता हूं जिनमें अप्रत्याशित तुकों का प्रयोग किया गया है। पहला तुक्तक है :

बारह बजे मिलीं जब घड़ी की दो सुइयाँ
छोटी बोली बड़ी से, 'सुनो तो मेरी गुइयाँ
कहाँ चली मुझे छोड़?'
बड़ी बोली भौं सिकोड़
'आलसी का साथ कौन देगा अरी टुइयाँ!'

और दूसरा तुक्तक है :

एक दिन शंकर से पूछने लगी उमा
'देखा है क्या आपने कभी भी कुतुबनुमा?'
बोले चट आशुतोष
'देख लो उठा के कोष
सच मानो, यह तो है त्रिशूल का ही तर्जुमा!'

अब एक तुक्तक सुनिए जिसमें बातचीत की एक विशेषता के द्वारा अत्यंत कठिन शब्द की अत्यंत सहज तुक बिठाई गयी है। तुक्तक है :

देश में अकाल पड़ा नाज हुआ महँगा
दादी जी ने गेहूँ लिया बेचकर लहँगा
लेने गई चक्की
पड़ौसिन थी नक्की
बोली इतरा के 'भाई यहाँ नांहीं हैंगा!'

अंग्रेजी में ऐसी लिमरिक काफी बड़ी संख्या में लिखी गयी हैं जिनमें व्यक्तियों और स्थानों के नामों की तुकें बिठाकर चमत्कार उत्पन्न किया गया है। ऐसे ही दो तुक्तक मेरे भी सुनिए। पहला है :

आये थे प्रयाग जब मोती चंद रुइया
लोकनाथ हो के गए वे अतरसुइया
दीखा हलवाई
माँजता कढ़ाई
दूध जो खरीदा, पड़ी मिली बिस्तुइया!

और दूसरा है :

तिवारी जी एक बार गए जब जौनपुर
प्रश्न किया एक से : 'हे भैया, यह कौन पुर?'
नाम सुन बमके
दोनों नेत्र चमके
'जौन यदि यह है तब कौनपुर तौनपुर?'

और अब एक तुक्तक सुनिए जिसमें तुक के साथ-साथ व्यंग्य का भी समावेश हो गया है :

टूट गईं उस चीनी मुर्गे की दोनों टाँग
फिर भी समुद्र पार किया एक ही छलाँग
जाके गिरा द्वीप में
स्याम के समीप में
वहाँ देता रहा वह कर्कश स्वरों में बांग

और अंत में एक ऐसा तुक्तक जिसमें तुक का केवल अंत्यानुप्रास के ही रूप में नहीं, वरन् वृत्यानुप्रास के रूप में भी प्रयोग किया गया है :

रास्ते में मिला जब अरोड़ा को रोड़ा
थाम के लगाम मार रोक दिया घोड़ा
उठाया जो कोड़ा
तो काँप गया रोड़ा
थोड़ा हंस छोड़ा, घोड़ा अरोड़ा ने मोड़ा!

[अर्द्धचंद्र उपनाम से 1962 के आसपास
आकाशवाणी से प्रकाशित]

'तारसप्तक' : पुनश्च

[1]

पर नहीं कविता अस्त्र नहीं है—न मूल्यवान, न अमूल्य। कविता को अस्त्र मानकर चला ही था (जागते रहो) कि मैं स्वयं अस्त्र बन गया, और मेरी कविता ऐसी यंत्र-लिपि कि उसमें अपने मन का स्पंदन सुनायी ही नहीं पड़ता था। आज यह बात कहने में बड़ी हल्की और आसान लगती है, पर जिन प्रतिश्रुतियों की माया में पड़कर मैं इस अगति को (या दुर्गति को) प्राप्त हुआ था वह इतनी विकट थी, और एक बार उस डगर पर दो कदम चल पड़ने के बाद पीछे लौटने में व्यर्थता का ऐसा विचित्र भाव जगता था कि एक प्रकार से मेरी कविता का स्रोत ही सूख चला। फिर साहस कर किसी तरह उस जुलूस से अपने को अलग किया, रास्ते की एक पुलिया पर बैठकर दृश्य का सर्वेक्षण किया (मुक्तिमार्ग) और अपनी एक निराली पगडंडी निकालकर काव्य के प्रशस्त पथ पर आने की चेष्टा करता रहा (ओ अप्रस्तुत मन!) अब लगता तो है कि वह प्रशस्त पथ दिखायी पड़ने लग गया है और अगर हिम्मत ने साथ दिया तो एक दिन उस पर पहुंच भी जाऊंगा, पर भविष्य कथन में संकोच होना स्वाभाविक है।

नहीं जानता मेरा यह अनुभव नितांत मेरा ही है अथवा अन्य समवयसी कवियों का भी ('सप्तक' के अथवा 'सप्तक' से भिन्न), पर मुझे इसी बात पर कम संतोष और हर्ष नहीं है कि मैं इतना भटककर भी रास्ते पर आ लगा हूं और चाहे इस प्रक्रिया में ही अधेड़ हो गया हूं, अभी मन के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी है! वृक्ष अगर फूल न दे तो साधारण दर्शक का निराश होना स्वाभाविक है, पर अपने-आपको सूखने और ठूंठ हो जाने की नियति से बचाने में वृक्ष को कितना सतर्क यत्न करना पड़ा है, यह कम-से-कम वनस्पति-शास्त्री को तो पहचानना ही चाहिए।

[2]

इस बीच कवि-कर्म निरंतर कठिन होता चला गया है। 'तारसप्तक' के प्रथम प्रकाशन के समय विश्व अपने इतिहास के सबसे अधिक भीषण युद्ध में ग्रस्त

था, और देश अपनी मुक्ति के द्वार पर थरथरा रहा था। जैसे-तैसे युद्ध समाप्त हुआ और देश को मुक्ति मिली, पर जीवन एवं जगत् की जटिलता निरंतर बढ़ती ही चली गयी है। आधुनिक कवि को यदि एक ओर विश्व पहली बार एक होता दीखता है तो दूसरी ओर यांत्रिक पद्धति की जकड़ में व्यक्ति अकेला पड़ता जा रहा है। भारतीय कवि के लिए एक अतिरिक्त कठिनाई यह है कि जनतंत्र के आलोक के ही साथ वे विभाजक खाइयां भी दिखायी पड़ने लग गयी हैं जो नगर और ग्राम के बीच, प्राचीन और नवीन के बीच, देशी और विदेशी के बीच खुदी हुई हैं—बल्कि कुछ खाइयां तो निरंतर बढ़ती चली जा रही हैं। इन सब पर अपनी सीमित मध्यवर्गीय अनुभूति के बल पर वह संवेदना का सेतु कैसे बांधे? और जब तक यह सेतु न बंधे तब तक उसका कवि-कर्म कैसे चरितार्थ हो?

[3]

और मानो यह कठिनाई ही कुछ कम हो कि आज के कवि के सामने एक और भयंकर समस्या खड़ी हो गयी है : उसका कवि-कर्म अतिरिक्त कर्म ही हो सकता है, एकमात्र कर्म नहीं। जो विद्वान् नये कवि से व्यापक दृष्टि, गहन अनुभूति और समर्थ अभिव्यक्ति की मांग करते नहीं थकते, वे इस बात पर एक क्षण भी विचार नहीं करते कि आज की जीवन-पद्धति कवि को अपनी कला के मांजने-संवारने और पालने-पोसने का कोई अवसर नहीं देती। एक तो आज के जीवन की गति यों ही तीव्र हो गयी है कि उसके साथ क़दम मिलाना 'तरवार की धार पै धावनो' हो गया है—नयी परिस्थिति से संवेदना का सूत्र मिलाते-न-मिलाते परिस्थिति बदल जाती है—तिस पर दैनिक जीवन की मांग कवि और अ-कवि का भेद नहीं मानती और कवि का अधिकांश जीवन कविता के चरणों में नहीं, कविता की तैयारी के चरणों में निवेदित हो जाता है। वैसे तो आज का साहित्यकार मात्र ही अपनी क्षमता का दुरुपयोग करने को बाध्य है, पर कवि तो सबसे अधिक क्योंकि इस सर्वाधिक प्राचीन और भव्य साहित्य-विधा का व्यावसायिक मूल्य सबसे कम है। आज कविता का साथ 'घर फूंक' कर ही दिया जा सकता है, पर 'घर फूंकना' कबीर के समय में भले ही व्यावहारिक विकल्प रहा हो, आज तो कदापि नहीं है।

[4]

मैं कभी विदेश नहीं गया, पर पढ़-सुनकर जाना है कि कवि-कर्म की यह दशा केवल हिंदी में ही नहीं, केवल भारत में ही नहीं, सब देशों में सर्वत्र एक-सी है। जनतंत्र ने जन को शिक्षित तो किया है, पर एक सीमा ही तक। फलतः आज का जनसाधारण मनोरंजन के लिए तो कविता की मांग करता है, पर

कविता से मनोरंजन नहीं करता। और इस प्रकार अनुपयोगी कला की साधना में रत कवि को जीवन-यापन के लिए तरह-तरह की कलाबाज़ियां करनी पड़ती हैं जिसके कारण उसकी अनुभूति सीमित और उसका व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है। इस सीमा और विभक्ति को नया कवि भरसक वाणी देता है (मैं तो आज की कविता को विभक्ति-युग की कविता कहता हूं, भक्ति-युग के ढंग पर) पर काम्य उसका भी समग्र और संपूर्ण ही है। जो कवि से महाकाव्य की अपेक्षा करते हैं वे उसे महाकाव्य की परिस्थितियां पाने में सहयोग क्यों नहीं देते—यह प्रश्न मेरे मन में बराबर उठता रहता है।

[5]

अंत में एक बात भाषा के संबंध में। 'तारसप्तक' के छायावादी पूर्वजों को एक ऐतिहासिक सुविधा मिली थी कि जिस भाषा में वे अपनी अभिव्यक्ति कर रहे थे उस भाषा का वे साथ-ही-साथ विकास और रूपायन भी कर रहे थे। उनके पहले तो कविता अवधी, ब्रज-भाषा आदि बोलियों में लिखी जाती थी। यही कारण है कि उनके लिए काव्य-भाषा का निर्माण एक कठिनाई न होकर अनरुंधे पथ पर चलने का गौरवोल्लास बन गया था। यही नहीं, जनतांत्रिक सिद्धांत उनके आदर्श तो थे, व्यवहार नहीं बने थे; और इसी कारण जहां संस्कृत का अनंत भंडार उन्हें नवीन अर्थ-प्राप्ति के लिए उपलब्ध था, वहीं उसे लोक-मानस तक लाने की उन्हें कोई बाध्यता न थी (छायावादी कविता में लोकोक्तियां और मुहावरे मरु में मरुद्यान की ही भांति मिलते हैं), पर नये कवि को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। उसे प्रचलित भाषा में ही नया अर्थ भरना है, नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है। यही नहीं, उसके आस-पास एक विदेशी भाषा का ऐसा धड़ल्ले से व्यवहार होता है कि सही भावाभिव्यक्ति के लिए उसके शब्दों का संपूर्ण बहिष्कार करने की स्थिति में वह नहीं है। परिशुद्धतावादी उसे चाहे कितना ही क्यों न कोसें, दैनंदिन बोल-चाल में प्रचलित इन अंग्रेज़ी शब्दों के स्थान पर हिंदी के शब्द बैठाना कृत्रिम ही कहा जाएगा और ऐसे शब्द भाव की व्यंजना नहीं कर सकेंगे। यथार्थ की भूमि पर जो काव्य खड़ा है उसका माध्यम यथार्थ-भाषा ही हो सकती है—शब्द-कोश की भाषा नहीं।

[रचनाकाल 1963, 'तारसप्तक' दूसरे संस्करण 1966 में संकलित, 'प्रसंगवश' में भी संकलित]

ओढ़ा हुआ परदेसीपन

औरों की नहीं जानता, पर मेरा बचपन एक धुंधले आदर्शवाद से आवृत रहा। पारिवारिक आर्थिक संघर्ष, रूढ़िवादिता और अज्ञान—सबके हल मेरे पास मौजूद थे जो कष्ट-सहन से शुरू होकर आत्म-दमन तक पहुंचते थे। फिर कालेज में पहुंचने पर कुछ सपनों की रंगीनी ने छुआ ही था कि मार्क्सवाद का दर्शन मिला। तब समझ में आया कि व्यक्ति-मात्र कुछ सार्थकता नहीं पा सकता जब तक कि समाज को ही न पलट दिया जाये। लेकिन मार्क्सवादियों ने भारत की समस्याओं का हल ढूंढने में जो नकलबाजी और उतावली दिखायी थी—हर समस्या को वे जिस तरह आनन-फानन में पानी-पानी कर देते थे उससे कभी-कभी चिढ़ भी छूटती थी और हंसी भी आती थी। जीवन चाहे व्यक्ति पर समाप्त न हो, शुरू वहीं से होता है, और जब मैंने देखा कि उनके लेखे व्यक्ति मात्र एक अंक है एक लंबी-चौड़ी संख्या में, या निरा एक पुर्ज़ा है एक महा-यंत्र में, तो मन खट्टा हो गया। यह ध्यान देने की बात है कि मैं मार्क्सवादी-प्रगतिवादियों के दल में राजनीति के दरवाज़े से नहीं, समाज-दर्शन के दरवाज़े से पहुंचा था। पर उन्हें राजनीति के भम्भड़ में इधर की कोई फिक्र न थी। शायद आज भी देश में ऐसा कोई दर्शन विकसित नहीं हो सका है।

यही कारण है कि हमारा देश दूर की नहीं सोच पाता और घटनाओं से अभिभूत हो जाता है। मूल लक्ष्यों पर से दृष्टि निरंतर फिसलती रहती है, और अगति दुर्गति ही बनती जा रही है, प्रगति नहीं। बंगाल के अकाल में जो जनता भूखों मर गयी पर विद्रोह न कर सकी, वही जनता तीन साल बाद सांप्रदायिक दंगों पर कैसे उतर आयी, यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न था जिस पर ध्यान दिया जाना था, पर नहीं दिया गया। इसी प्रकार जो नौकरशाही साम्राज्यवाद की ऊंटनी थी वह समाजवाद की मोटरकार कैसे बन सकती थी—यह भी किसी ने नहीं सोचा। हमारा निकट का इतिहास भी बड़ा निर्मम रहा है—मुक्ति का फल विभाजन के विष से सड़ गया, समाजवाद का सपना राजनीतिक दलों की पल्लवग्राहिता से जड़ न पकड़ सका और शिक्षा का वरदान विदेशी भाषा की बल्ली के कारण बीरबल की खिचड़ी बन गया। कठिन सवालों के कामचलाऊ तात्कालिक हल निकालने की प्रवृत्ति ने स्वस्थ विरोध को

भूलभुलय्यों में डाल दिया। समस्या की बहस को हम समाधान मान लेते हैं, सेमिनार को कर्म।

इस पृष्ठभूमि में देखिए तो कलाकार ने भी कोई बहादुरी नहीं दिखायी है! यदि शासन सलाह और सहायता के लिए विदेशों की ओर देखता है, तो कलाकार भी विदेशी जीवन के सांचों में ज़बर्दस्ती भारतीय परिवेश को कस रहा है। हमारी समस्याएं—निरक्षरता, आलस्य, रूढ़िवादिता और परलोकवृत्ति—पश्चिम में नहीं हैं, यह और लोग तो भूलते ही हैं, कलाकार भी भूलता है। इसीलिए उपलब्धियों में सिर्फ़ 'मैला आंचल', 'अंधायुग', 'झूठा सच' और 'असाध्य वीणा' के अलावा मुक्तिबोध का ही नाम लिया जा सकता है।

माना कि कलाकार का जीवन आज बहुत कठिन है—निरक्षर देश में होना ही था। पर उसकी कठिनाई इन बातों से बढ़ती है कि हम भारतीय प्रतिभा की मौलिकता में विश्वास नहीं करते और सुखी जीवन की कल्पना में मानसिक परितृप्ति और हार्दिक पवित्रता को कोई स्थान नहीं देते। ऐसी परिस्थितियों में एक ऐसे साहित्य का जन्म होना चाहिए था जो अगति से जूझता और कृत्रिमता पर व्यंग्य करता। पर लगता है कि कलाकार का विद्रोह भी राजनीतिज्ञ की भांति केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है; और वह व्यंग्य इसलिए नहीं करता कि फिर आत्म-व्यंग्य से कैसे बचेगा? जैसे दुनिया के आगे अपना सिर ऊंचा करने के लिए हमारे पास मुक्त-निर्वाचन-पद्धति भी है, अशोका होटल भी, और विमान-फैक्टरी भी, उसी तरह साहित्य में भी हमारे पास नयी कविता—नयी कहानी भी है, भूखी पीढ़ी और बीटनिक भी और आधुनिक भाव-बोध भी। पर जिस तरह हमारे ऊपरी प्रयास देश की राजनीति-अर्थनीति को गतिशील नहीं बना पाए हैं, उसी तरह साहित्य भी किसी कार्नीवाल के 'जाइन्ट ह्वील' में चक्कर खा रहा है और उसी की उत्तेजना को यात्रा का सुख मान रहा है। काश हम कुछ दिनों को अपना ध्यान पश्चिम से हटाकर अपने देश की ओर लगा सकते तो मुट्ठी-भर सतही आधुनिकों और अधकचरे जन-गण के बीच की खाई पटने की कोई सूरत निकल आती। आज तो औरों की तरह कलाकार भी अपने ही घर में परदेसी की तरह रह रहा है। पर वह परदेसी नहीं है, यह परायापन उसने भ्रमवश ओढ़ रखा है, और जब उसका भ्रम टूटेगा तो वह विश्वास न कर पाएगा कि वह इतना भटक गया था।

[रचनाकाल 1967, 'धर्मयुग' द्वारा आयोजित एक परिचर्चा, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

भूमिका के बहाने : एक वक्तव्य

औरों की नहीं जानता, पर मेरा बचपन एक धुंधले आदर्शवाद से आवृत रहा। पारिवारिक आर्थिक संघर्ष, रूढ़िवादिता और अज्ञान—सब के हल मेरे पास थे जो कष्ट-सहन से शुरू होकर आत्म-दमन तक पहुंचते थे। फिर कॉलेज में पहुंचने पर कुछ सपनों की रंगीनी ने छुआ ही था कि मार्क्सवाद का दर्शन मिला। तब समझ में आया की व्यक्ति-मात्र कुछ सार्थकता नहीं पा सकता जब तक कि समाज को ही न पलट दिया जाये। लेकिन मार्क्सवादियों ने भारत की समस्याओं का हल ढूंढ़ने में जो नकलबाज़ी और उतावली दिखायी थी—हर समस्या को वे जिस तरह आनन-फानन में पानी-पानी कर देते थे उससे कभी-कभी चिढ़ भी छूटती थी और हंसी भी आती थी। जीवन चाहे व्यक्ति पर समाप्त न हो, शुरू वहीं से होता है। और मैंने देखा कि उनके लेखे व्यक्ति एक अंक-मात्र है एक लंबी-चौड़ी संख्या में, या निरा एक पुरजा है एक महायंत्र में—तो मन खट्टा हो गया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मैं मार्क्सवादियों-प्रगतिवादियों के दल में राजनीति के दरवाज़े से नहीं, समाज-दर्शन के दरवाज़े से पहुंचा था। पर उन्होंने राजनीति के भम्भड़ में इधर कोई ध्यान न दिया। शायद आज भी देश में कोई सम्यक् दर्शन विकसित नहीं हो सका है।

यही कारण है कि हमारा देश दूर की नहीं सोच पाता और घटनाओं से अभिभूत हो जाता है; मूल लक्ष्यों से दृष्टि निरंतर फिसलती रहती है और अगति दुर्गति बनती जाती है, प्रगति नहीं। बंगाल के अकाल में जो जनता भूखों मर गयी पर विद्रोह न कर सकी, वही जनता तीन साल बाद सांप्रदायिक हत्या-कांड पर कैसे उतर आयी, यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न था जिस पर ध्यान दिया जाना था, पर नहीं दिया गया। इसी प्रकार जो नौकरशाही साम्राज्यवाद की ऊंटनी थी वह समाजवाद की मोटरकार कैसे बन सकती थी—यह भी किसी ने नहीं सोचा। हमारा हाल का इतिहास भी बड़ा निर्मम रहा है : मुक्ति का फल विभाजन के विष से सड़ गया, समाजवाद का सपना राजनीतिक दलों की पल्लवग्राहिता के कारण जड़ न पकड़ सका, और शिक्षा का वरदान विदेशी भाषा की बल्ली के कारण बीरबल की खिचड़ी बन गया। कठिन सवालों के

तात्कालिक कामचलाऊ हल निकालने की प्रवृत्ति ने स्वस्थ विरोध को भूलभुलैयों में डाल दिया। समस्या की बहस को हम समाधान मान लेते हैं, सैमीनार को कर्म।

इस दृष्टि से देखिए तो कलाकार ने भी कोई बहादुरी नहीं दिखायी है। यद्यपि शासन सलाह और सहायता के लिए विदेशों की ओर देखता है तो कलाकार भी जबर्दस्ती भारतीय परिवेश को विदेशी जीवन के सांचों में कस रहा है। हमारी समस्याएं—निरक्षरता, आलस्य, रूढ़िवादिता और परलोकवृत्ति पश्चिम में नहीं हैं, यह और लोग तो भूलते ही हैं, कलाकार भी भूलता है।

माना कि कलाकार का जीवन आज बहुत कठिन है; निरक्षर देश में होना ही था। पर उसकी कठिनाई इन बातों से बढ़ती है कि हम भारतीय प्रतिभा की मौलिकता में विश्वास नहीं करते और सुखी जीवन की परिकल्पना में मानसिक परितृप्ति और हार्दिक पवित्रता को कोई स्थान नहीं देते। इन परिस्थितियों में एक ऐसे साहित्य का जन्म होना चाहिए था जो अगति पर व्यंग्य करता और कृत्रिमता से जूझता। पर लगता है कि कलाकार का विद्रोह भी राजनीतिज्ञ की भांति केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है; और वह व्यंग्य इसलिए नहीं करता कि तब आत्म-व्यंग्य से कैसे बचेगा? जैसे दुनिया के आगे अपना सिर ऊंचा करने के लिए हमारे पास मुक्त-निर्वाचन-पद्धति भी है, 'अशोका होटल' भी और विमान-कारखाने भी, उसी तरह साहित्य में भी हमारे पास नयी कविता—नयी कहानी भी है, भूखी पीढ़ी और बीटनिक भी और आधुनिक भाव-बोध भी। पर जिस तरह हमारे ऊपरी प्रयास देश की राजनीति-अर्थनीति को गतिशील नहीं बना पाए हैं, उसी तरह साहित्य भी किसी कार्नीवाल के 'जाइन्ट व्हील' में चक्कर खा रहा है और उसी की उत्तेजना को यात्रा का सुख मान रहा है। काश, हम कुछ दिनों को अपना ध्यान पश्चिम से हटाकर अपने देश की ओर लगा सकते तो मुट्ठी-भर आधुनिकों और अबोध जन-गण के बीच की खाई पटने की कोई सूरत निकल आती। आज तो औरों की तरह कलाकार भी अपने ही घर में परदेसी की तरह रह रहा है। पर वह परदेसी नहीं है, यह परायापन उसने भ्रमवश ओढ़ रक्खा है, और जब उसका भ्रम टूटेगा तो वह विश्वास न कर पाएगा कि वह इतना भटक गया था।

[रचनाकाल 1967, 'धर्मयुग' 1967 में प्रकाशित,
'एक उठा हुआ हाथ' की भूमिका।]

एक अनुवाद प्रयोग

'रंगीन रुबाइयां' सिंधी रुबाइयों का हिंदी रूपांतर है। अनुवाद अवश्य मैंने किया है यद्यपि मैं सिंधी नहीं जानता। यह बात सुनने में विचित्र लगती है इसलिए इसकी सफ़ाई देना आवश्यक है।

सन् 1960 में जब मैं साहित्य अकादेमी में सहायक मंत्री के पद पर आया प्रायः उन्हीं दिनों डॉ. हरूमल सदारंगानी की पुस्तक 'रंगीन रुबाइयां' प्रकाशित हुई थी। अकादेमी में स्वभावतः उसकी चर्चा सुनी। सिंधी परामर्श मंडल के सदस्य और दिल्ली-निवासी होने के नाते डॉ. सदारंगानी से भी शीघ्र ही आलाप-परिचय हो गया। समय-समय पर उनसे पुस्तक की चर्चा भी चली।

लगभग चार वर्ष हुए जब एक बार डॉ. सदारंगानी अपनी कुछ रुबाइयों का हिंदी अनुवाद मुझे दिखाने के लिए लाये। यह अनुवाद उनके आग्रह पर उनके किसी मित्र ने किया था और यद्यपि उसमें रुबाई के परंपरागत छंद का निर्वाह करने का प्रयत्न किया गया था परंतु, और शायद इसी कारण, अनुवाद की भाषा बड़ी ऊबड़-खाबड़ थी और मूल रुबाई के बहुत से भाव भी छूट गये थे। मैंने डॉ. सदारंगानी से निवेदन किया कि हिंदी में रुबाई के अनुवाद के लिए परंपरागत छंद का निर्वाह उचित नहीं मालूम देता। हिंदी में डॉ. हरिवंशराय 'बच्चन' ने बरसों पहले स्वतंत्र रुबाइयों की रचना की है जो 'मधुशाला' के नाम से सर्वत्र विख्यात है। मेर मत में 'मधुशाला' का छंद रुबाई के लिए अत्यंत उपयुक्त और समर्थ छंद है। डॉ. सदारंगानी ने तब मुझसे आग्रह किया कि क्यों न मैं ही कुछ रुबाइयों का अनुवाद करने की चेष्टा करूं। मैंने विस्मय से कहा, "पर मैं तो सिंधी नहीं जानता।" उन्होंने कहा, "यह अड़चन तो सहज ही दूर की जा सकती है। मैं आपके सामने बैठ जाऊंगा और रुबाई का अर्थ बता दूंगा। फिर आप उन्हें हिंदी रूप दे दिया करें और मुझे सुना दें।" डॉ. सदारंगानी सिंधी के ही नहीं, फ़ारसी और उर्दू के भी विद्वान् हैं और इसलिए हिंदी भी अच्छी-खासी समझ लेते हैं। उनका यह प्रस्ताव मुझे बहुत भाया। फलस्वरूप यह अनुवाद तैयार हुआ। लगभग तीन महीने तक डॉ. सदारंगानी नित्य मुझे दर्शन देते रहे और हम दोनों साथ बैठकर उनकी रुबाइयों का हिंदी अनुवाद तैयार करते रहे। अनुवाद के लिए रुबाइयों का चयन मैंने

स्वयं किया : उन्होंने मुझे एक-एक कर के सारी रुबाइयां सुना दी थीं और उनमें से जो मुझे अच्छी लगीं या जो मुझे हिंदी में प्रस्तुत करने के योग्य लगीं उनका मैंने अनुवाद कर दिया। अनुवाद की प्रक्रिया इस प्रकार थी—डॉ. सदारंगानी मुझे एक-एक रुबाई सुनाते और उसका अर्थ बताते। जब मुझे कोई रुबाई अच्छी लगती तो मैं उन्हें रोक देता और मूल रुबाई को देवनागरी लिपि में लिख लेता। तब उन्हीं के सामने लगभग दस मिनिट में मैं उसका हिंदी अनुवाद तैयार कर लेता। बीच में कठिन पंक्ति का अर्थ उनसे दुबारा-तिबारा भी पूछना पड़ जाता। जब अनुवाद तैयार हो जाता तो मैं उन्हें सुना देता और उनके संतुष्ट हो जाने पर यही क्रम फिर चल पड़ता। मेरा ख़याल है कि इस पद्धति से शायद ही कभी पहले हिंदी में किसी ने अनुवाद किया हो। यदि अनुवाद सफल हुआ है तो इसका सारा श्रेय डॉ. सदारंगानी को ही है, क्योंकि मूल रचना तो उनकी है ही, हिंदी अनुवाद में भी उनका अनिवार्य योगदान रहा है।

हिंदी के पाठकों को अनुवाद का यह तरीक़ा कुछ नया और अनोखा लग सकता है, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। विदेशों में, और विशेषतः युनेस्को द्वारा नियोजित अनुवादों के लिए, मान्य तरीक़ा यही है कि उसमें दो जने सहयोग करते हैं—एक ऐसे लेखक जो मूलभाषा के विद्वान् हों पर साथ ही अनुवाद की भाषा से भी थोड़ा-बहुत परिचय रखते हों, और दूसरे ऐसे लेखक जो अनुवाद की भाषा में पारंगत हों पर साथ ही मूल की भाषा-प्रकृति से भी परिचित हों। इस प्रणाली से अनुवाद अधिक प्रामाणिक और ललित होगा, इसमें संदेह नहीं।

एक दिन जब डॉ. सदारंगानी के साथ बैठकर मैं इन रुबाइयों का अनुवाद कर रहा था तभी भारतीय ज्ञानपीठ के नियामक और मंत्री श्री लक्ष्मीचंद्र जैन ने दर्शन दिये। उन्होंने सहज ही मेरे इस कार्य के प्रति कौतूहल व्यक्त किया और जब मैंने उनको बताया कि मैं किस प्रक्रिया से सिंधी रुबाइयों का हिंदी रूपांतर कर रहा हूं तो उन्होंने तुरंत बानगी लेनी चाही। दो-तीन रुबाइयों का अनुवाद सुनने के बाद वे बोल उठे—"यह पुस्तक तो हम छापेंगे।" पुस्तक तैयार होते-न-होते प्रकाशक का मिल जाना किसी भी रचना के लिए सौभाग्य का विषय है। मैं लक्ष्मीचंद्र जी के प्रति सचमुच कृतज्ञ हूं कि उन्होंने इतने प्रेम-भाव से इसको अपनाया।

[रचनाकाल 1967, 'रंगीन रुबाइयां' 1969 की भूमिका।]

[नोट : 'रंगीन रुबाइयां' इस रचनावली के खंड दो में संगृहीत हैं।]

मेरी प्रिय ब्रजभाषा कविता

ब्रजभाषा मेरी मातृभाषा है और मथुरा मेरा घर। इसलिए ब्रजभाषा और उसके काव्य से मेरा परिचय स्कूली या किताबी नहीं है। दिल्ली में तो नहीं, पर मेरे मथुरा के घर में अब भी ब्रजभाषा ही बोली जाती है। और ब्रज के दोहे-कवित्त-सवैये बचपन से ही बात-बात पर सुनता आया हूं—घाघ-भड्डरी की कहावतें भी। मेरे पिताजी को अपनी हर बात की पुष्टि में कोई-न-कोई कहावत सुनाने की आदत थी, जैसे :

फाँदिए न कूआ
खेलिए न जूआ
या
अब पछताये होत का जब चिड़ियाँ चुक गईं खेत

पर यह कोई अनोखा अनुभव नहीं है, सभी के साथ होता है। बल्कि मेरे कहने का तात्पर्य ही यह है कि ब्रजभाषा से मेरे लगाव में कोई असाधारणता नहीं है, वह मेरे जीवन का सहज-स्वाभाविक अंग ही है।

तो, इसलिए जब मन में सवाल उठा कि मेरी सबसे प्रिय ब्रजभाषा कविता कौन-सी है, तो मैं बड़े चक्कर में पड़ा। यह तो ऐसी ही बात हुई कि अगर किसी रमणी को कोई हार पसंद हो तो हम पूछ बैठें कि बताओ, तुम्हें इस हार में से कौन-सा मोती सबसे ज्यादा पसंद है। भला इसका कोई क्या उत्तर दे सकता है? ब्रजभाषा का काव्य भी इसी तरह एक हार के समान है, अनगिनती अनमोल रत्नों और मोतियों से बना, और मुझे उसका एक-एक दाना प्रिय है। इसलिए उनमें चुनाव करना एक तरह से असंभव-सा ही लगता है।

तिस पर, एक कठिनाई और है। ब्रजभाषा का अधिकांश काव्य मुक्तक काव्य है—एक छटा, एक भाव या एक स्थिति—अर्थात् मार्मिक अनुभूति का एक क्षण उसका आधार है। यों प्रबंध काव्यों की भी ब्रजभाषा में कोई कमी नहीं, पर उसका सर्वश्रेष्ठ अवदान मुक्तक रूप में ही विकसित हुआ है—ब्रज के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास तक ने प्रबंधात्मकता का सहारा लेकर भी मुक्तक

का रूप नहीं छोड़ा। कविता—यानी आज के अर्थ में कविता—जो प्रबंध और मुक्तक के बीच की चीज़ है—आज की अपनी विशिष्ट विधा है। अगर कोई पूछे कि आपको पंत या बच्चन की कौन-सी कविता सबसे अधिक प्रिय है तो उत्तर देना इतना कठिन न होगा, पर यह बताना कि ब्रजभाषा की कौन-सी कविता सबसे अधिक प्रिय है सचमुच टेढ़ी खीर है क्योंकि ब्रजभाषा की प्रायः समस्त कविताएं एक छंद की कविताएं हैं, एक दोहा, एक सवैया या एक कवित्त—और सबमें एक-एक क्षण—एक-एक अद्वितीय क्षण बंद है—उनमें से किसी एक का परित्याग या किसी एक का ग्रहण बड़ी लंबी चर्चा का विषय है जो अनायास ही एक मोटे ग्रंथ का रूप ले सकती है। इसलिए ब्रजभाषा काव्य के विशाल भंडार के इन लाखों-करोड़ों छंद-रत्नों की परख साहित्यिक दृष्टि से न कर अपनी-अपनी रुचि की दृष्टि से ही करना सरल है।

अब रुचि के संबंध में एक बात यह है कि श्रेय और प्रेय सर्वदा एक-सा नहीं होता। श्रेय यदि कोई एक है तो प्रेय दूसरा हो सकता है। विद्यार्थी का श्रेय है कि वह अध्ययन करे पर अक्सर उसका प्रेय अध्ययन न होकर मनोरंजन होता है। श्रेय और प्रेय की एकात्मकता तो ऐसी आदर्श स्थिति है जो यदा-कदा ही दिखायी पड़ती है। तिस पर ब्रजभाषा काव्य की एक विशेषता यह भी है कि अद्वितीय क्षण की अनुभूति पर टिका होने के कारण उसमें अनुभूति ही प्रधान होती है—विषयी का व्यक्तित्व नहीं। इसलिए यह सहज संभव है कि वैसे तो साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से सूरदास या बिहारी सर्वश्रेष्ठ कवि माने जायें, या शायद देव, पर प्रिय छंद इनमें से किसी का न होकर किसी भी ऐसे कवि का हो जिसका नाम-धाम तक अज्ञात हो। यही नहीं, अनुभूति के क्षण पर टिकी हुई कविता आज जितनी प्रिय है, हो सकता है, वह कल उतनी प्रिय न भी रहे।

मेरी इस सारी भूमिका का अर्थ इतना ही है कि चट-से अपना सबसे प्रिय ब्रजभाषा का छंद बता सकना मेरे लिए आसान नहीं है। इसलिए उसके लिए मुझे कुछ मानसिक यात्रा करनी पड़ेगी। आइए, आप भी इस यात्रा में मेरा साथ दीजिए। शायद आपको भी थोड़ा-बहुत परिक्रमा का आनंद आ जाये।

जब मैं छठे दर्जे में था तब मेरे बड़े भाई सात्यकी के बारहमासा के कुछ छंद बहुत गाया करते थे। यह बारहमासा साधारण बारहमासे से भिन्न कोटि का था क्योंकि इसमें परंपरागत विरह-वर्णन न होकर भारतीय किसान की दीन दशा का चित्रण था—उसकी टेक की पंक्तियां थीं :

सात्यकी यों कह समझानों
अब चेतौ वीर किसान कृष्ण की नीतिए पहचानों
या
दुःख में का भावै गानौ
अब चेतौ वीर किसान कृष्ण की नीतिए पहचानौ

और मैं बहुत दिनों तक इस बारहमासे से अभिभूत रहा।

सातवें दर्जे में पहुँचा तो पहली बार कवि नरोत्तम दास के 'सुदामा-चरित' का परिचय मिला। उस काव्य का क्या कहना। करुणा-रस का ऐसा प्रवाह कि एक बार पढ़ लो, तो मजाल है कि बिसर जाए। उसके कुछ छंद स्थायी स्मृति के अंग हैं। 'औरन को घन चाहिए बावरि, बाँभन को घन केवल भिच्छा'; 'पानी परात को हाथ छुऔ नहीं नैनन के जल सों पग धोए'; 'सीस पगा न झगा तन में' वाला छंद या 'टूटी-सी मड़ैया मेरी परी हुती या ही ठौर' वाला छंद—उसके अनेक छंद मुझे आज भी याद हैं।

आठवें दर्जे में पहुँचा तो अचानक वियोगी हरि की 'वीर सतसई' की चर्चा सुन पड़ी। उस पर उन दिनों कोई पुरस्कार दिया गया था। भैया जी उसकी प्रति लाये तो वह मैंने भी पढ़ डाली—और धृष्टता देखिए—कि उसके अनुकरण पर कुछ दोहे भी लिख डाले। वीर रस के रंग में लिखे ब्रजभाषा के वे दोहे मेरी आदि रचनाओं में हैं। पर उनमें से शायद ही कोई अच्छा रहा हो क्योंकि मुझे आज एक भी याद नहीं है। पर रुकिए, एक दोहा याद है। लीजिए, सुन लीजिए—वैसे उसमें कोई गुण शायद ही मिले :

लिखत रह्यो कवि आजु लौं तू शृंगार अपार
आज छेड़ दे तान वो गूँजे सब संसार

बहरहाल। अब पाठ्य पुस्तकों में बिहारी, रहीम और वृंद के दोहे, और गिरिधर कविराय और दीनदयाल गिरि की कुंडलियां आने लगीं। उनमें से भी बहुत से टुकड़े मुझे याद हैं—खास तौर से रहीम और बिहारी के दोहे, जैसे :

जो रज मुनिघरनी तरी सो ढूँढत गजराज
या
जहाँ काम आवै सुई कहा करै तलवार
या
या अनुरागी चित्त की गति समुझत नहिं कोय
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग त्यों-त्यों ऊजर होय
या
को घटि? ए बृषभानुजा, वे हलधर के बीर

पर इन दोहों में मेरा मन अब उतना नहीं रम पाता जितना बचपन में रमा था।

हाई स्कूल की कक्षाओं में ब्रजभाषा के दो महाकवियों का रस-लाभ हुआ—भक्त-शिरोमणि सूरदास और महाकवि रत्नाकर। दोनों की ही रचनाओं

में मुझे भ्रमर-गीतवाला प्रसंग ही सबसे अधिक पसंद था हालांकि सूरदास के बाल-लीला और रूप-माधुरीवाले पदों को भी मैं बड़े रस से पढ़ता था। 'बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजें' और 'ऊधौ, मन नाहीं दस बीस' या 'मैया, कबहिं बढ़ेगी चोटी' अथवा 'सूरदास अंजनगुन अटके नतरु कबै उड़ि जाते' या 'निसि दिन बरसत नैन हमारे'। पर इस तरह गिनाऊंगा तो न जाने कब तक गिनाता रहूंगा। और 'उद्धव-शतक' का तो यह हाल था कि मैंने पढ़-पढ़कर वह पूरा का पूरा ही कंठस्थ कर लिया था—आज भी उसके बीस-तीस कवित्त मैं चाहे जब सुना सकता हूं। उनमें से भी मुझे विशेष रूप से जो पसंद हैं उनकी कुछ पंक्तियां मैं जब-तब गुनगुनाता रहता हूं :

एक मनमोहन तौ बसि कै उजार्‌यो मोहि
हिय में अनेक मनमोहन बसाओ ना

या

नाम कौं बताय औ जताय गाम ऊधौ पुनि
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियो

अथवा

कुटिस कटारी है अटारी है उतंग अति
जमुना तरंग है तिहारो सतसंग है।

और उनकी वह पंक्ति 'ऊधो, कहिबे कौं बस बातें रहि जायेंगी' तो मेरे मन में निरंतर गूंजती रहती है।

इसके बाद कालेज की कक्षाओं में पहुंचकर जब साहित्य का अध्ययन मेरे मनोरंजन का भी प्रमुख साधन था, मैंने प्रायः सभी ब्रजभाषा कवियों की रचनाएं पढ़ीं, और बहुतों के बहुत से छंद अनायास ही याद हो गये। उनके टुकड़े आज भी याद के बादलों की तरह जब-तब मन में बरसते रहते हैं : 'मेरे कर मेंहदी लगी है घनश्याम प्यारे, लट उरझी है नक बेसर सँभार दै'; 'आये मानभंजन ये अंजन बरन घन'; 'सेज बनवारी बनवारी तन आभरन गोरे तनवारी बनवारी आज आयेंगे'; 'राखे बड़ी बेर तें किंवार खोल तेरे काज, एरे मेरे मंदिर में मंद मंद आउ रे।' या घनानंद का वह महाप्रसिद्ध सवैया : 'कबहूं वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुआन कौं लै बरसौ' पर जो भी नये कवि इस काल में मेरे संगी बने वे हैं ठाकुर और बेनी बंदीजन। ठाकुर के प्रणय और विरह-वर्णन में जो वैदग्ध्य और लाघव है वह मुझे बहुत भाया, और बेनी का हास्यविनोद। इनमें से भी मुझे बेनी अत्यंत प्रिय है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि ब्रजभाषा में हास्य-विनोद का, और विशेषतः व्यंग्य-विनोद का काव्य अपेक्षया बहुत कम है—उसका अधिकांश तो शृंगार से ही ओतप्रोत है, अतः जिस कवि ने पिटा-पिटाया रास्ता छोड़कर एक निराले

रास्ते पर चलने का साहस दिखाया हो उसके प्रति हल्का-सा रुझान होना स्वाभाविक ही है। पर मैं तो सोचता हूं कि बेनी के प्रति मेरे अनुराग का इससे भी गहरा कारण यह है कि उनका व्यंग्य व्यक्तित्व की गरिमा और स्वतंत्रता पर टिका है और तत्कालीन सामंतीय परिवेश में उनकी वह छेड़छाड़ और चुहल जैसी भी लगती हो, आज के कवि को उसमें एक प्रीतिकर तादात्म्य मिलता है। मेरे निकट बेनी बंदीजन अपने समय से कुछ आगे के, आधुनिक मनस्थिति के कवि हैं क्योंकि न तो वे सामंतीय शृंगार में डूबते हैं न सामंती संस्कार में। वे बड़ी वीरता और मर्दानगी से अपने आसपास के लोगों की समीक्षा करते हैं और उनकी त्रुटियों और क्षुद्रताओं पर निर्मम व्यंग्यबाण बरसाते हैं—लाग-लपेट नहीं रखते। इसलिए वे रसवाद से बाहर आकर यथार्थवाद का पल्ला पकड़ लेते हैं और सामाजिक परिदृश्य को आज के नागरिक व्यक्ति की भांति निहारते हैं, चाटुकार और परोपजीवी वैतालिक नहीं बनते। और क्योंकि मैं स्वयं शुरू से ही व्यंग्य और विनोद के माध्यम से सामाजिक दुरावस्था का चित्र खींचता आया हूं, इसलिए बेनी मुझे अपने बहुत निकट मालूम पड़ते हैं। और इस बात का आप सबके साथ मुझे भी बड़ा दुःख है कि उनके संबंध में अभी हमारे पास काफी जानकारी नहीं है, और उनकी रचनाओं का भी ठीक से पता नहीं चल सका है। फिर भी 'कविता कौमुदी' में मुझे उनके जो दस-बारह कवित्त मिले उन्हीं से मैं उनका भक्त हो गया था और एक बार पढ़कर उनको कभी नहीं भूला। वैसे तो लखनऊ की सड़क का उनका वर्णन भी अविस्मरणीय है :

मीच हू कबूल पै न कीच लखनऊ की

और राजा दयाराम के आमों का उपहार पाकर उन्होंने क्षुब्ध होकर दो कवित्तों में जो खिल्ली उड़ाई है वह भी कम काटदार नहीं है, पर मुझे उनका रजाई वाला छंद सबसे ज्यादा पसंद है। इसमें क्षुद्र राजसी दिखावे और कपट का जो भंडाफोड़ है, और अतिशयोक्ति का जैसा प्रीतिकर प्रयोग है वह उनके युग को देखते हमारी सतत प्रशंसा का पात्र है। राजा जी ने राजकवि पर प्रसन्न होकर उसे एक रजाई का उपहार दिया था। कैसी थी वह रजाई, इसका वर्णन आप स्वयं कवि से ही सुनिए :

कारीगर कोऊ करामात कै बनाय लायो
लीनौ दाम थोरो जानि नई सुघरई है।
रायजू को रायजू रजाई दई राजी ह्वै कै
सहर में ठौर-ठौर सोहरत भई है।
बेनी कवि पाय कै अघाय रहे घरी द्वैक
कहत बनै न कछु ऐसी मति भई है।

साँस लेत उड़िगो उपल्ला और भितल्ला सबै
दिन द्वै के बाती हेत रूई रहि गई है।

कवि ने तो नहीं बताया, पर मेरा मन कहता है कि उस रुई से उन्होंने दिवाली के ही दीये जलाए होंगे'

[आकाशवाणी दिल्ली से प्रसारित, 1969, अप्रकाशित।]

'चीर-फाड़' मेरी प्रिय रचना

अपनी रचनाओं में से कोई एक रचना चुनना आसान काम नहीं माना जा सकता, पर जब मुझसे अपनी कोई एक कविता चुनने के लिए कहा गया तो मुझे 'चीर-फाड़' का चुनाव करने में एक पल भी नहीं लगा। उसका कारण सिर्फ यही नहीं है कि शायद मेरी सबसे लंबी कविता है, और न यही कि वह मेरी ताज़ी कविताओं में है। उनसे भी बढ़ कर बात यह है कि इस कविता में मैं अपने आपको जितना प्रकट कर सका हूं उतना अन्य किसी कविता में नहीं। हो सकता है कि समीक्षक को इसकी अपेक्षा मेरी और कविताएं अच्छी लगें, या मेरी कुछ और कविताएं खुद मेरी ही नज़र में किसी-न-किसी विशिष्ट गुण के कारण ज्यादा अच्छी हों, पर 'चीर-फाड़' में मेरा अपनापन जितने सही और पूरे रूप में प्रकट हुआ है, उतना और किसी कविता में नहीं। इस दृष्टि से 'चीर-फाड़' मेरी अद्वितीय कविता है। वैसी कविता न उसके पहले मैंने कभी लिखी, न उसके बाद ही अब तक लिखी। सच तो यह है कि उसके बाद मैंने गिनती की ही कविताएं लिखी हैं, क्योंकि उसको लिखने के बाद बहुत दिनों तक मुझे यह लगता रहा कि मुझे जो कुछ कहना है वह मैं इस एक कविता में कह चुका हूं।

अपनी ओर से ऐसी कविता लिख चुकने के बाद भी मैं कविता या साहित्य के क्षेत्र में कोई कीर्ति या स्थायी स्थान न पा सका—यह बात चाहे कितना ही कष्ट दे, पर है सच। वस्तुतः यह बात भी उस कविता में मैंने कह दी है, और वह भी बड़े मार्मिक रूपक के माध्यम से (कस्तूरी मृग वाली पंक्तियां)। सच तो यह है कि 'चीर-फाड़' कविता होने के साथ-साथ मेरा वक्तव्य भी है (अज्ञेय ने कहा भी है कि काव्य ही कवि का चरम वक्तव्य होता है) और इसलिए उसके बारे में अलग से कोई वक्तव्य देना उसकी व्याख्या करने के समान व्यर्थ और अरुचिकर प्रयत्न लगता है। अतएव उसके कथन को उसी रूप में छोड़कर मैं सिर्फ उस रचना की पृष्ठभूमि अंकित कर देना चाहता हूं।

'चीर-फाड़' का आरंभ 1 जनवरी, 1967 को हुआ था, और उसको वर्तमान रूप 22 नवंबर, 1968 को मिला। इस प्रकार यह कविता लगभग दो वर्षों में लिखी गयी। इस बीच मैंने शायद ही और कोई कविता लिखी

हो जिसका कथ्य इससे मेल खाता हो। जब भी मन में कोई भाव उठा तभी इसमें कुछ पंक्तियां जुड़ गयी। बीच-बीच में मैं इसे अधूरे रूप में ही बार-बार पढ़ता रहा। यही नहीं, इस अधूरे रूप में ही मैंने इसे कुछ मित्रों को दिखाया भी था, और मेरा अनुमान था कि यह काफी लंबी कविता होगी। पर 22 नवंबर को एक मित्र-गोष्ठी में जब अपनी कोई नयी अप्रकाशित कविता सुनाने की बात तय हुई तो मैंने विवश होकर उसे समाप्ति पर पहुंचाया और इसका वर्तमान रूप प्रकट हुआ। तब भी मैं इसे कविता का अस्थायी मसविदा (Tentative draft) ही मानता रहा और मैने मित्रों से कहा भी था कि यह अभी अधूरी है। पर मित्र-गोष्ठी में सुना चुकने के बाद फिर इसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। और यह उसी उपलब्ध रूप में 'आलोचना' में प्रकाशित कर दी गयी। जो हो, इस तरह की अधूरी बनी, या महीनों तक बनती जानेवाली और कोई कविता मैंने कभी नहीं लिखी। इसके पहले कविता के संबंध में मेरा व्यवहार यह रहा है कि वह क्षणिक उत्तेजन पर लिखी जाती रही है, और एक बार लिखी जाने पर उसमें मैं कोई रद्दोबदल नहीं करता। पर यह कविता इस व्यवहार पर अपवाद रही है।

जिन दो वर्षों के बाद यह कविता रची गयी, वे वर्ष मेरे निजी जीवन के लिए बड़े ही यातनापूर्ण और विक्षोभकारी वर्ष रहे हैं। साथ ही भारतीय समाज और ज़िंदगी में भी वे उथल-पुथल के वर्ष रहे हैं। ऐसी दशा में मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं अपने भीतर झांक कर देखूं कि मैं अपने व्यक्तित्व और जीवन को क्या बनाना चाहता था, और क्या बना पाया हूं। फलस्वरूप मुझे घोर निराशा और असंतोष का सामना करना पड़ा। आर्थिक-सामाजिक उलझन, सैद्धांतिक ऊहापोह और निजी आकांक्षाओं के चक्कर में मैं ऐसा फंस गया हूं कि कोई सार्थकता प्राप्त न कर सका। 'चीर-फाड़' में अपनी इसी नियति का मैंने विश्लेषण किया है। उसके लिए मैंने अपने प्रति एक ऐसी निर्ममता भी अपनाई जो मैं पहले कभी नहीं कर पाया था। आत्ममोह को तिलांजलि देकर अपने समक्ष उपस्थित यथार्थ को दो टूक ढंग से देखने में मैंने भरसक कोई लाग-लपेट या आनाकानी नहीं की। इसीलिए इस कविता से मुझे विशेष लगाव है, और मेरे मन में वह अभी पुरानी नहीं पड़ी है। वरन् मुझे तो लगता है कि मैं मानो अब भी 'चीर-फाड़' में लगा हूं।

[रचनाकाल 1972, नयी दिल्ली, 6 मार्च, 1972 को रेडियो से प्रसारित, 'आलोचना' में प्रकाशित, 'भारतभूषण अग्रवाल : कुछ यादें, कुछ चर्चाएं' में संकलित।]

प्रसंग

नयी कविता

नयी कविता में रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व

नयी कविता, यानी छायावाद के बाद की कविता दो मोटे हिस्सों में बांट दी गयी है। यह विभाजन किस दृष्टि से और किस रूप में किया गया, यह अवांतर बात है। पर साम्प्रतिक समीक्षा में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद नाम के दोनों स्कूलों की बड़ी गरम चर्चा है। और इन दोनों स्कूलों के सिद्धांत भी निकाले जा चुके हैं और उन सिद्धांतों की भूमिका में उनके कृतित्व का मूल्यांकन भी किया गया है। लेकिन मैं इस विभाजन को कल्पित और भ्रामक मानता हूं। मेरा विचार है कि नयी कविता को उसकी समग्रता में ही देख और परखकर कोई रास्ता मिल सकता है। इसका एक और आधार यह भी है कि नये कवियों में अनेक ऐसे हैं जो इन दोनों कल्पित स्कूलों में गिने जाते हैं। और कुछ नये कवि ऐसे भी हैं, यद्यपि उनकी संख्या कम है, जो इन दोनों में से किसी भी स्कूल में पूर्णतः फिट नहीं होते, और इसीलिए उपेक्षा के भागी बनते हैं। नयी कविता को समग्र रूप में देखने से यह दोष भी दूर हो सकता है।

नयी कविता की अधिकांश रचनाओं को देखकर साधारण पाठक के मन में जो बात सबसे पहले उठती है, वह है : उसकी दुरूहता। इस दुरूहता का कारण जो भी हो, पर परिणाम यही होता है कि उससे साधारण पाठक को कोई अर्थ-बोध नहीं होता, रसोपलब्धि और भावोत्थान तो बाद की बात है। यह दशा केवल साधारण पाठक की ही है, यों उस कविता को समझने और पसंद करनेवालों की भी संख्या है। इस दुरूहता का रहस्य नयी कविता के रूप-विधान और वस्तु-तत्त्व दोनों में ही छिपा हुआ है।

जहां तक रूप-विधान का प्रश्न है : नयी कविता का वैचित्र्य पाठक को अभिभूत कर लेता है। इसकी पृष्ठभूमि में भक्ति-काव्य के दोहे-चौपाई-पद वाली रचनाएं, द्विवेदी-युग की रोला, हरिगीतिका और छप्पयवाली रचनाएं, यही नहीं, महादेवी और बच्चन तक के गीत कितने सुघर और सुगठित लगते हैं। नयी कविता पर नज़र जाते ही छंदों की भीड़ दिखायी पड़ती है जिनमें से अनेक छंद अपनी विचित्र आकृतियों के कारण अपाहिज से लगते हैं। यति, गति, मात्रा और लय का यह अनियम मन को आक्रांत कर लेता है। मुक्त

छंद के बारे में तो आज से बहुत पहले बहुत-कुछ कहा-सुनी हो चुकी है, अब मुक्त छंद के अतिरिक्त अन्य अनेक छंदों की भी अच्छी-खासी मरम्मत हो चुकी है, ऐसा जान पड़ता है। भाषा के क्षेत्र में भी यही विचित्रता सामने आती है। तद्भव और तत्सम की गड़बड़ की बात तो जाने ही दीजिए, अंग्रेज़ी, बंगला, अरबी, फारसी, रूसी, चीनी, जापानी के अनेक शब्द अपने मूल रूप में आपको एक साथ एक ही पंक्ति में मिल जाएंगे। फिर कॉमा, फुलस्टॉप, कोलन, डैश, ब्रैकिट आदि अनेक विराम-चिन्हों से पाठक को जूझना पड़ता है। इतना ही नहीं, नये प्रतीकों और उपमानों से यह कविता भरी पड़ी है। अलंकारों का भी यही हाल है। टूटे हुए रूपक, मिश्र-रूपक, प्रस्तुत-अप्रस्तुत की आंखमिचौनी इस कविता में साधारण-सी बात है। रूप-विधान में इतनी अराजकता और अव्यवस्था इससे पहले कभी देखने में नहीं आयी।

लेकिन इस ऊपर से दिखायी पड़नेवाली अराजकता और अव्यवस्था से चिढ़कर या डरकर हम नयी कविता को हेय या त्याज्य मान बैठेंगे तो बड़ी भूल होगी, क्योंकि नयी कविता का अपना अर्थ भी है, और उपयोग भी; वह न निरुद्देश्य है, न तर्क-हीन। अक्सर सुनने में आता है कि नये कवि रूप-विधान में प्रयोग कर रहे हैं। यह तो सही है कि उन्होंने कविता को नाना प्रकार के नये स्वरूप दिये हैं, वे बराबर अपने वस्तु-तत्त्व को अच्छे-से-अच्छे ढंग में रखने की कोशिश कर रहे हैं; पर फिर भी यह 'प्रयोग' शब्द कुछ भ्रामक है। एक तो वह वस्तु-तत्त्व की ओर कोई इंगित ही नहीं करता, जबकि नयी कविता का वस्तु-तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। दूसरे यह कि 'प्रयोग' शब्द मन का एक ऐसा अलगाव सूचित करता है जो काव्य-रचना में संभव ही नहीं है। इसलिए, सच्ची बात तो यही है कि नये कवि भी सदा-सर्वदा के कवियों की भांति काव्य-रचना ही कर रहे हैं। और असफल काव्य-रचना भी केवल उन्हीं की विशेषता हो ऐसा भी नहीं है।

तो फिर, प्रश्न उठता है कि आखिर यह वैचित्र्य, यह अराजकता या आप इसे जो भी शब्द देना चाहें, क्यों है? क्या नया कवि यह नहीं चाहता कि उसकी भी कविता पढ़ी-समझी जाए, और समाज उससे प्रभाव ग्रहण करे? पर इसका उत्तर तो स्पष्ट ही है, क्योंकि आखिर कवि रचना करता ही क्यों है? तो फिर कविता के परंपरागत मानों पर उसकी इतनी अनास्था क्यों है?

सच पूछिए, तो मेरे विचार में यह अनास्था शब्द ही नयी कविता के अधिकांश को समझने की कुंजी है। यही अनास्था उसे छायावाद से इतना स्पष्टतः अलग करती है क्योंकि छायावाद की आस्था का आधार जो कुछ भी रहा हो, वह काव्य आस्था का ही काव्य था। और इसीलिए उसकी उत्कृष्ट रचनाओं में भाषा-छंद और भावों का ऐसा प्रभावोत्पादक संश्लिष्ट आकार मिलता है। लेकिन नये कवि का मन नया है, उसका अनुभव नया है, उसके समय का सामाजिक सत्य भी नया है। अक्सर नयी कविता को गाली देने के लिए विदेशी प्रभाव का तर्क सुनाया जाता है, पर यदि हम चाहें तो यह सहज ही देख सकते हैं कि साम्प्रतिक जीवन में हमारी पुरानी मान्यताएं व्यर्थ हो रही हैं, हमारी परंपरा बेकस-सी दीखती है, और समाज के चिरस्थायी आधार

भी हिलने लगे हैं। एक नये कवि के शब्दों में :

ज्वालामुखी के द्वीप-सा संघर्ष का यह लोक है
हिलती हुई धरती यहाँ; हिलते हुए आधार हैं
उठते बबूले ज्वार-भाटों के सदा
हर लहर पर आते नए तूफान हैं!

—*गिरिजाकुमार माथुर*

ऐसी परिस्थिति में कवि का मन अनास्था से आक्रांत है, उसे आशा की कोई किरण नहीं दीखती, उसकी कविता भी वैसी ही डगमग है जैसा उसका जीवन। यही कारण है कि परंपरागत भाषा और छंद-योजना उसके नये मन को व्यक्त करने में असमर्थ है, और वह उसके लिए निरंतर नवीन उद्भावनाएं और नयी रचनाएं कर रहा है। रूप-विधान की यह अराजकता उसी का परिणाम है। उसे हम पसंद कर सकते हैं, उसे नापसंद भी कर सकते हैं, पर उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। और यह भी सही है कि इन्हीं प्रयत्नों में से किसी दिन नयी कविता का नया स्वरूप निखरेगा। नये अर्थों के लिए शब्द, शब्दों के नये अर्थ, नयी संवेदना के वाहन ऐसी ही प्रक्रिया से मिलते हैं। यदि यह प्रक्रिया बंद कर दी जाए तो कला और काव्य के विकास की बात तो दूर, कवि की नयी बात भी पुरानी मालूम देती है, और रसोपलब्धि नहीं हो पाती। और रसोपलब्धि हर कविता का पहला लक्ष्य है, अंतिम चाहे न भी हो। यह ठीक है कि नयी कविता के रूप-विधान में थोड़ा-सा प्रभाव इस बात का भी है कि वह छपकर हमारे सामने आती है, पहले की भांति सिर्फ सुनी नहीं जाती, पर यह उसके नये स्वरूप का मूलभूत कारण नहीं है।

वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भी नयी कविता में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह अनास्था ही है। यों वस्तु-तत्त्व के हम दो हिस्से कर सकते हैं : (1) जीवन दर्शन और (2) अनुभूति। नयी कविता में जिन दो स्कूलों की चर्चा मैंने अभी की थी उनमें ऊपर से दीखनेवाले अंतर का कारण वस्तु-तत्त्व के ये ही दो अंग हैं। प्रगतिवाद के काव्य में जीवन-दर्शन स्पष्ट और स्थूल है, पर कवि की अनुभूति उस जीवन-दर्शन का बहुत दूर तक साथ देती दिखायी नहीं पड़ती और परिणाम वही होता है : उद्बोधन और उपदेश का ऐसा काव्य जिसका अधिकांश कोई गहरा प्रभाव नहीं रखता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह जीवन-दर्शन आस्था की खोज जैसा लगता है, आस्था की उपलब्धि की ध्वनि उसमें नहीं है। आस्था की यह खोज प्रयोगवाद के काव्य में भी मिलती है, और इसीलिए मेरा यह विचार है कि नयी कविता को समग्र रूप में ही देखना सही है। क्योंकि अनुभूति के बिना जीवन-दर्शन काव्य को प्रखर नहीं बना सकता और जीवन-दर्शन के बिना अनुभूति के भटकने का 'चान्स' सदैव बना रहता है।

नयी कविता में अनास्था के इस तत्त्व के गंभीर सामाजिक कारण हैं, और कवि को कोरे उपदेश देकर आस्थावान बनाने का जो प्रयत्न कुछ हलकों

से किया जा रहा है, वह प्रभावहीन है। फिर भी आस्था की खोज जीवन की, जीवंत रहने की और काव्य-सिद्धि के साथ-साथ जीवन-सिद्धि की भी मांग है, और इसीलिए नयी कविता में जो अनास्था का मोह यत्र-तत्र पाया जाता है, वह उस रोग का चिन्ह है जो जीवन-दर्शन के अभाव में पैदा हो जाता है। नयी कविता का यह पक्ष ह्रासोन्मुख है, और रूप-विधान के आकर्षण के बावजूद कोई रस नहीं दे पाता। लेकिन नयी कविता का अधिकांश अनास्था का काव्य होते हुए भी आस्था की खोज में है। यह दूसरी बात है कि वह कातर होकर कभी पंख मांगता है और कभी किरण की बांह का सहारा; पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह उजाले की, सौंदर्य की, आस्था की कामना करता है, और समाज की हलचलों से निराश होने पर भी प्रयत्न छोड़कर नहीं बैठ रहता। इतना ही नहीं, वह समाज से अधिक अपने मन की सीमाओं, विवशताओं और कुंठाओं को दोषी समझता है, वह यह जानता है कि वह भी समाज का ही अंग है, और अपनी सारी उपस्थित सीमाओं के रहते हुए भी उसको और समाज को नये आधार की तथा व्यक्ति और समाज की नयी प्रगति पानी है। इस दृष्टि से प्रयोगवाद का अधिकांश काव्य प्रगति की प्रेरणा देता है और इसीलिए वह सामाजिक है। ऊपर से वह अकेले कंठ की पुकार जान पड़ती है, पर कवि चाहता यही है कि उसका स्वर समाज के कोरस का ही अंग बने।

फिर भी यह सही है कि नयी कविता की दुरूहता विशेष रूप से उसके वस्तु-तत्त्व के कारण है, क्योंकि वह वर्तमान सामाजिक संघर्ष से आक्रांत मन की अनास्था का प्रकाश है जो साथ ही आस्था की खोज भी है। नये कवि के मन का यह दुहरा सत्य ही उसके नये प्रतीकों और उपमानों में छिपा पड़ा है। उसका मन खंडित है क्योंकि उसके सामने समाज खंडित होता जा रहा है, उसका मन अंधकार से भरा है क्योंकि सामाजिक प्रगति का मार्ग स्थूल दृष्टि से तो कहीं भी दिखायी नहीं देता, और वह कल्पनालोक में पलायन कर नहीं पाता क्योंकि उसे अपने दायित्व का भी ध्यान है। इस एक अर्थ में वह छायावादी कवि से आगे है। फिर भी अनुभूति की गहराई जीवन-दर्शन को खोज लाती है, और जब-जब ऐसा होता है, तब-तब आज की कविता भी रस और अलंकार से झिलमिला उठती है। पर मोटे रूप में नयी कविता चौराहे की कविता है, अनास्था की कविता है, रस-प्रयत्न की कविता है, रसोपलब्धि की नहीं। कवि के ही शब्दों में :

किन्तु मजबूरी का यह शोर
बराबर होता जाता व्यर्थ
एक दुनिया मिटती इस ओर
दूसरी बनने में असमर्थ।

[रचनाकाल 1953, 'परिमल' प्रयाग की एक गोष्ठी में पढ़ा गया लेख, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

नयी कविता में विदेशी रंग

इधर राजधानी में अचानक नयी कविता की चर्चा बड़ी जोरों से छिड़ गयी है। उसका कारण तो भगवान् ही जानें, पर उस सिलसिले में बड़ी ऊटपटांग बातें सुनने को मिली हैं। ऐसी ही एक बात यह है कि नयी कविता में भारतीयता का अभाव है, वह पूरी तौर से विदेशी फ़ैशन की नकल है। वैसे ऊटपटांग बातों पर ध्यान न देना ही उचित होता है, पर क्योंकि इस बात का बड़ा डर है कि कहीं यह अफ़वाह सारे समाज में स्वीकृत न हो जाए इसलिए इस पर कुछ विचार करना ज़रूरी है।

भारतीयता क्या है? मैं सोचता हूं इस सवाल का उत्तर तुरंत देना बड़ा कठिन होगा। मेरे मित्र डॉ. प्रभाकर माचवे जब दो वर्ष अमरीका में रहकर लौटे तो उन्होंने वहां का हाल-चाल बताते हुए मुझसे कहा कि जब विदेश में उनसे यह प्रश्न किया गया तो वे भी काफ़ी असमंजस में पड़ गये थे। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके पत्ते तो हम पहचानते हैं पर जिसकी जड़ हमें बड़ी मुश्किल से दिखायी पड़ती है। पर इस प्रश्न के हल के बिना यह भी तो नहीं जाना जा सकता कि हम विदेशी तत्त्व या विदेशी प्रभाव किसे कहें, क्योंकि मोटे रूप में आज हम भारतीय जो जीवन बिता रहे हैं उसमें ऐसी वस्तुओं और ऐसी पद्धतियों की कोई कमी नहीं जिसे शायद प्राचीन-पंथी विदेशी ही कहेंगे। क्या हमारी शिक्षा-पद्धति भारतीय है? क्या हमारी शासन-पद्धति भारतीय है? क्या पत्र-पत्रिकाओं की पद्धति भारतीय है? क्या आकाशवाणी से प्रसारण भारतीय है? तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन में सर्वत्र ऐसी पद्धतियां विद्यमान हैं जिन्हें हम स्वीकार करते हुए भी भारतीय नहीं कह सकेंगे। इसी प्रकार जितने भी वैज्ञानिक आविष्कार हैं और जिनका हम दिन-रात प्रयोग करते हैं, जैसे साइकिल, मोटरकार, रेडियो, टेलीफोन, ट्रेन और हवाई जहाज़, घड़ी और कैमरा और ग्रामोफोन, ये सब भी उस अर्थ में भारतीय नहीं कहे जा सकते।

पर जिस आदरणीय बंधु ने नयी कविता पर अभारतीयता का आरोप लगाया उन्होंने यह स्पष्ट करने की कृपा नहीं की कि वे इन वस्तुओं को या इन पद्धतियों को भारतीय मानते हैं या नहीं, और यदि नहीं मानते तो उनके उपयोग का समर्थन करते हैं या नहीं। पर मैं सोचता हूं कि उनके समर्थन

से भी बड़ी बात यह है कि हम अपने दैनिक जीवन में इनका धड़ल्ले से उपयोग करते हैं और मैं ऐसी किसी शक्ति अथवा सत्ता की कल्पना नहीं कर पाता जो इनका उपयोग भारत में बंद कर सके, क्योंकि इनके बंद करने का अर्थ है उस युग में पहुंचना जो अंग्रेजों के आने के पहले हमारे देश में जीवित था।

और असल में दुखती रग यही है। वे आदरणीय बंधु और उन जैसे न जाने कितने भारतीय विचारक उन सब पद्धतियों और वस्तुओं को तो भारतीय कह लेते हैं जो 16वीं शताब्दी तक हमारे देश में विद्यमान थीं (चाहे वे कहीं से आयीं), पर उसके बाद आयीं पद्धतियों और वस्तुओं को वे विदेशी मानते हैं चाहे उनका उपयोग करते हुए शताब्दियां बीत चुकी हैं। क्या यह वैचारिक गड़बड़ नहीं है? यदि तर्क का ही सहारा लिया जाये तो वे सब पद्धतियां और वस्तुएं अभारतीय ठहरेंगी जो भारत के बाहर से आयीं, चाहे किसी भी काल में आयी हों, और यदि यहां भारतीयता की यह परिभाषा स्वीकार कर ली जाये तो मैं सोचता हूं, कि हमारे देश में शायद ही कोई चीज़ सच्चे अर्थों में भारतीय सिद्ध हो। हम सब जानते हैं कि भारत के लंबे इतिहास में समय-समय पर अनेक विदेशियों ने पदार्पण किया है और हमारे जीवन में वे आकर ऐसे घुल-मिल गए हैं कि अब उनका कोई पृथक् अस्तित्व भी नहीं खोजा जा सकता। विदेश से आने के कारण ही यदि कोई पद्धति, प्रथा या पदार्थ को अभारतीय ठहराया जाये तो फिर टोपी-कुर्ता तक अभारतीय सिद्ध होगा। यह स्पष्ट है कि ऐसी जगहंसाई कोई पसंद नहीं करेगा।

इसलिए भारतीयता की सच्ची परिभाषा मैं यह नहीं मानता कि जिस पद्धति अथवा पदार्थ का आविष्कार भारत में हुआ हो वही भारतीय है, वरन् वे सब पदार्थ और पद्धतियां जो भारतवर्ष ने अपना ली हैं, भारतीय कही जाएंगी चाहे उनका उद्गम विदेश में ही क्यों न हो। हमारे सामाजिक जीवन ने जिस तत्त्व को स्वीकृति दे दी है उसे हम भारतीय मानेंगे। यदि ऐसा नहीं किया जाये तो आज जीना भी मुझे संभव नहीं लगता।

असल में भारतीयता पद्धति अथवा पदार्थ में नहीं है, उसके प्रति हमारे दृष्टिकोण में है। बापू ने भी यही बताया था और गुरुदेव रवींद्रनाथ ने भी हमें यही सिखाया। भारत का मानस तो मुक्त मानस है, उसमें देश-देश से विचारधाराएं, भावनाएं और अनुभव-धाराएं आकर मिलती रही हैं, उनसे भारत के मानस को शक्ति ही प्राप्त हुई है। अपनी 'भारत-तीर्थ' कविता में गुरुदेव ने स्पष्ट लिखा है :

क्या जाने किस आवाहन पर यह जन-धारा
किन स्रोतों से फूट हुई सागर में हारा
आर्य-अनार्य-पठान-मुगल-द्राविड़-शक-चीन
हुए यहाँ सबके सब एक देह में लीन

अब खोला पश्चिम ने द्वार
लाते हैं बहु जन उपहार
देंगे-लेंगे, यहीं रहेंगे सब घुल-मिलकर
इसी महा-मानव-सागर भारत के तट पर

इस तरह सिद्ध हो जाता है कि भारतीयता एक दृष्टिकोण का नाम है और वह दृष्टिकोण समन्वय अथवा मेल का दृष्टिकोण है। पृथक्-पृथक् और विभिन्न तत्त्वों में एक विराट् जीवन देखने की चेष्टा ही भारतीयता है। भारतीयता की यही व्याख्या सही है और हमारे काम की है, इसी के सहारे हम एक विश्व-दर्शन तक पहुंच सकते हैं, ज़ो आज प्रायः सभी देशों का लक्ष्य है।

ऐसा मान लेने पर नयी कविता में जो हमें विदेशी रंग दिखायी पड़ता है वह उतना विदेशी नहीं रह जाता। संकीर्ण राष्ट्रीयता आज तो हमें कहीं ले ही नहीं जा सकती, जब हम विदेशी शासन के अधीन थे तब भी इस संकीर्ण राष्ट्रीयता के विरुद्ध गुरुदेव ने बड़े सबल स्वर में आवाज़ उठाई थी। उन्होंने यह देख लिया था कि जिस तरह परिवार से बंधे रहने पर समाज का हित नहीं साधा जा सकता, उसी प्रकार राष्ट्र से बंधे रहने पर विश्व का कल्याण संभव नहीं है। आज जब वैज्ञानिक प्रगति ने विश्व के विभिन्न देशों को एक-दूसरे के निकट ला पटका है और अपने विचारों से ही नहीं अपने कार्यों से भी एक विश्व-मार्ग की खोज की जा रही है, तब अपने में ही बंधे रहकर नये देशों से उपलब्ध होनेवाले विचार अथवा सिद्धांतों को घृणा की दृष्टि से देखने का फल होगा हमारी अपनी ही अवनति।

हमारा यह दावा है कि नयी कविता में कुछ भी विदेशी नहीं है। नयी कविता आज के उस जीवन की झांकी है जो हमारे समाज में विद्यमान है। यदि उसमें कोई विदेशी तत्त्व है तो निश्चय ही उसका कारण विदेशी प्रभाव नहीं वरन् हमारा अपना जीवन ही है जिसमें अनेक विदेशी पद्धतियां और पदार्थ आकर समा गये हैं। मैं यह नहीं कहता कि इन पद्धतियों और पदार्थों को हमें तिलांजलि देनी होगी। कहूं भी तो यह संभव नहीं है। मेरा तो निवेदन केवल यही है कि नये युग की आवश्यकता को देखते हुए हमारा सामाजिक जीवन फिर से पीछे नहीं लौट सकता, इसलिए हमारी कविता भी अब छायावादी भारतीयता से बंधी नहीं रह सकती।

जिन आदरणीय बंधु की मैंने चर्चा की है उनका तर्क कदाचित् यह नहीं था। उनकी आपत्ति शायद यह नहीं थी कि नयी कविता में 'टेलीफोन' का ज़िक्र होता है या 'बस' में चढ़ने-उतरने का, उनकी आपत्ति शायद यह थी कि नयी कविता में जो गहरा अवसाद है, हताशा का जो भाव है, जो घुटन और कुंठा है वह विदेशी है। यानी उनका कहना था कि भारत तो अभी-अभी स्वतंत्र हुआ है, वह अब अपने पैरों पर खड़ा हो रहा है, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से निरंतर उन्नति कर रहा है, ऐसे में निराशा की बात करना, असमर्थता और बेबसी के भाव व्यक्त करना विदेशी ढंग है।

पर मुझे इस दावे में भी कोई सच्चाई नहीं जान पड़ती। यह ठीक है कि हमारी स्वतंत्रता की आयु अभी कम है, यह भी ठीक है कि हम निरंतर प्रगति के पथ पर जा रहे हैं, पर अब यह भी प्रायः सभी जानते हैं कि हमारे ये प्रयत्न कितने ओछे रह गये हैं और देश की दुर्दशा और हीनावस्था प्रायः ज्यों-की-त्यों है, बल्कि कुछ अर्थों में बढ़ गयी है। हम जब गुलाम थे तब अभाव से ग्रस्त तो थे, परंतु नैतिक दृष्टि से हमारा जीवन तब काफी ऊंचा था, हमारे मन में बड़े-बड़े आदर्श और बड़े-बड़े सपने पल रहे थे। अभाव और विपन्नता में उगते और फलते उन आदर्शों और सपनों को जिस कविता ने ठीक ढंग से प्रकट किया उसी को हमने छायावादी कविता का नाम दिया था। इस बात से वे आदरणीय बंधु भी इंकार न कर सकेंगे। पर आज हमारे वे सपने और वे आदर्श सरकारी दफ्तरों में बंधकर रह गये हैं। न तो जीवन में उनका अनुवाद हो सका है और न हमारे जन उनसे प्रेरणा पा सके हैं। फल यह हुआ कि हमारे समाज में एक नये प्रकार की सड़ांध और घुटन पैदा हो गई है। यह ठीक है कि मुट्ठी-भर लोग जो संपन्न हैं और संपन्नता के कारण जिनका जीवन सुरक्षित भी है और चैन से भी कट रहा है उन्हें यह सड़ांध और घुटन दिखायी न दे, पर ऐसी मंददृष्टि के आदमी को कवि नहीं कहा जा सकता। कवि का तो काम ही यह है कि वह ऊपर के आडंबर के भीतर जो सत्य छिपा है उसे उजागर करे। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो वह जीवन की सच्चाई प्रकट नहीं कर सकता। फिर उसकी कविता चाटुकारिता हो सकती है, उस पर समारोहों में तालियां पिट सकती हैं, पर वह हमारे जीवन में रस नहीं दे सकती। आज भारत के युवक—शिक्षित, अर्ध-शिक्षित और अशिक्षित सब—अपने सामने जो बेबसी और अंधेरा पाते हैं क्या वह किसी से छिपा हुआ है? क्या हमने उनके सामने कोई स्पष्ट लक्ष्य रखे हैं? क्या हम जानते हैं कि उन्हें किस रास्ते पर चलना चाहिए? और क्या वे रास्ते हमने उन्हें बताए हैं—शब्दों से नहीं अपने कार्यों से? इसका उत्तर यदि आप 'हां' में दे सकें तो मैं मान लूंगा कि नयी कविता में जो घुटन और बेबसी है वह झूठी है। पर यदि आप इसका उत्तर 'हां' में न दे सकें तो मेरी यह बात आपको माननी होगी कि नयी कविता में जो घुटन और बेबसी है वह सच्ची है और उसको स्वर देकर हमारे नये कवियों ने विदेशों की नकल नहीं की है वरन् सच्ची भारतीयता का ही साथ दिया है।

अंत में एक बात और स्पष्ट होनी चाहिए। आज हम जिस युग में जी रहे हैं वह युग राष्ट्रीय जीवन का युग नहीं है, वह विश्व-जीवन का युग है। जब तक हमारा राष्ट्र पराधीन था तब तक अपने राष्ट्र की मुक्ति और प्रगति ही हमारा चरम लक्ष्य था। उस समय हमारे देश के कवियों ने बड़े-से-बड़े संकट झेलकर भी मुक्ति और आदर्श के भावों को अपनी कविता में अपनाया। पर राष्ट्र की मुक्ति होते ही हमारा राष्ट्र एक विश्व-समाज का सदस्य बन गया है। सच तो यह है कि इस मुक्ति के कुछ पूर्व से ही वह विश्व-समाज का सदस्य बन गया था। और अब हमारे कवि के सामने एक और भी बड़ा

लक्ष्य आकर खड़ा हो गया है। और वह लक्ष्य है विश्व-जीवन की सुरक्षा और उन्नति। इस अर्थ में यदि आप आज के कवि को विदेशी कहें तो चाहे कह लें। पर यदि आप आज के हिंदी कवि को विदेशी कहेंगे तो आपको उसी प्रकार अफ्रीका और जापान के कवि को भी विदेशी कहना होगा, क्योंकि आज शायद ही किसी देश का कवि केवल अपने देश की ही सोचता हो। आज का कवि और आज का दार्शनिक दोनों देश की सीमा के परे समग्र विश्व को देख रहे हैं क्योंकि विज्ञान ने जहां सारे विश्व को एक बनाने का क्रम चालू कर दिया है वहीं उसने सारे विश्व के विनाश के साधन भी जुटा दिये हैं। कवि के सामने सबसे बड़ा संकट और सबसे बड़ी समस्या विश्व-जीवन का यही द्वंद्व है। इंग्लैंड, अमरीका या रूस ही नहीं भारत भी विश्व-जीवन के इस द्वंद्व से दूर नहीं रह सकता। इसीलिए भारत के कवि में यदि कुंठा या बेबसी मिलती है तो उसे उसकी बुराई नहीं मानना चाहिए। वह बेबसी और कुंठा तो हमारे देश में ही नहीं सारे विश्व में व्याप्त है, और जब तक विश्व के आकाश से विनाश के बादल नहीं छंट जाते तब तक व्याप्त रहेगी। उस संकट और बेबसी को अपनी कविता में प्रतिध्वनित करना आज के कवि का परम धर्म है, उससे बचना ही निंदा का कारण हो सकता है। और क्योंकि प्रायः सभी देशों के कवियों के सामने विश्व-जीवन का यह चित्र बड़ी सच्चाई से उपस्थित है, इसलिए यह सहज संभव है कि उनके दृष्टिकोण में और उनके भावों में एक ऐसी समानता मिल जाये जो पहले कभी उपलब्ध नहीं हुई। पर उस समानता के कारण किसी भी देश के कवि की भर्त्सना करना बुद्धिहीनता ही समझी जा सकती है।

[रचनाकाल 1965, दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित एक गोष्ठी में पढ़ा गया लेख, 'लहर' में प्रकाशित. 'प्रसंगवश' में संकलित।]

नयी कविता और मध्यवर्गीय मन

आदरणीय राव साहब,

'माध्यम' के ताज़े अंक में 'विवेचना' गोष्ठी का विवरण पढ़ा। महत्त्वपूर्ण कृतियों की चर्चा देर-सबेर जब भी हो, शुभ है। इसलिए यह हर्ष की ही बात है कि उसमें समर्थ कवि श्री गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह 'शिला पंख चमकीले' पर विचार-विनिमय हुआ। यह और भी संतोष का विषय है कि इस अवसर को टेक बनाकर उनके समस्त कृतित्व पर भी दृष्टिपात किया गया।

आपने अपने निबंध में कई उपयोगी सूत्र सटीक और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किये हैं। रचना की विरलता और मांजने-निखारने की प्रवृत्ति को लेकर शिल्प के प्रति माथुर के अतिशय मोह को ठीक-ठीक उभारा गया है। 'शिला पंख चमकीले' शीर्षक के प्रतीक की असफलता को रेखांकित करना और नियम-व्यवस्था के प्रति उनके आग्रह को, ज़हूरे-तरतीब की उनकी ललक को उजागर कर यह सिद्ध करना कि माथुर 'रूमानी' शिल्पी हैं, क्रांति-कामी रोमांटिक या विद्रोही कवि नहीं, बहुत समीचीन लगा। नये-नये शब्द-प्रयोगों और गीत-रूपों में उनकी देन को भी सही महत्त्व दिया गया है।

आपके निबंध पर मित्रों में जो चर्चा हुई, उसमें भी कई काम की बातें हाथ लगीं। माथुर के शिल्पाग्रह का प्रायः सभी ने समर्थन किया, उनके रूमानी रूप को स्वीकार करने में भी किसी ने आनाकानी नहीं की। यह भी कइयों ने मान लिया कि माथुर में अनुभूति की गहराई सर्वत्र नहीं मिलती और शिल्पाग्रह उसी का परिणाम है, और यह भी कि यह अनुभूति उनके काव्य में उत्तरोत्तर विरल होती गयी है और उनका विकास अवरुद्ध हो गया है।

इनमें से किसी भी स्थापना से मेरा कोई प्रबल विरोध नहीं है। पर फिर भी मैं इस चर्चा से संतुष्ट नहीं हो सका हूं। मुझे लगता है कि माथुर के काव्य पर चर्चा करते समय कुछ अधिक अंतर्दृष्टि और तलगत विश्लेषण से काम लेना उपयोगी होता।

गिरिजाकुमार माथुर ने अपनी काव्य-रचना का प्रारंभ इतिहास के उस संधि-स्थल पर किया था जब सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के कारण भारत

में एक नये जागरण का सूत्रपात हो रहा था और जब छायावाद के अमृत-कुंड अवैज्ञानिक अद्वैतवाद के स्थान पर युवा-मानस को वैज्ञानिक मानववाद की हल्की-सी झांकी मिलने लग गयी थी। एक गिरिजाकुमार ही नहीं, कवियों की एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी उस समय छायावाद के कुहरे से निकलकर इन नयी परिस्थितियों से उत्पन्न बेचैनी और क्रियाशीलता को आत्मसात् करने में और उसे सम्यक् अभिव्यक्ति देने के लिए कविता के नये पथों के अन्वेषण में लगी हुई थी। पर 'विवेचना' में माथुर के इस सामाजिक परिवेश और युग-चेतना को किसी भी गिनती में नहीं लिया गया जिसके कारण न तो उनकी कविता के प्रेरणा-स्रोतों तक पहुंचा जा सका, न उनकी जीवनानुभूति के वैशिष्ट्य को पहचाना जा सका। फलस्वरूप उनकी कविता में कहां प्रामाणिक अनुभूति का प्रकाश है और कहां एक विगत संस्कार अथवा प्रचलित पद्धति का मंडन-मात्र, यह भी नहीं देखा जा सका। इसके अभाव में यह पारिभाषिक चर्चा अपना सही संदर्भ न पा सकी कि वे रूमानी हैं, या रोमांटिक, और उनकी कविता में कहां सवैये को तोड़कर मुक्त छंद बनाया गया है और कहां उन्होंने परंपरा-मुक्त गीत की पंक्ति को इधर-उधर हिला-डुलाकर नयी सजावट पैदा की है। इस प्रकार के बाहरी विश्लेषण से कवि-कर्म की सार्थकता की पूरी व्याख्या नहीं हो पाती, क्योंकि रूपगत प्रयोग का अनिवार्य संबंध आत्माभिव्यक्ति की मांग से होता है और किस आंतरिक मांग के फलस्वरूप कवि ने कौन-सा रूपगत आविष्कार किया है, यह देखना-दिखाना काव्य-समीक्षा का फ़र्ज़ है।

वस्तुतः गिरिजाकुमार का काव्य बदलती दुनिया से जुड़ने और बचते रहने के मध्यवर्गीय अंतर्विरोध का काव्य है। शुरू-शुरू में युवास्वप्नों की रंगीनी की झोंक में कुछ प्रणय और वासना की रूप-सृष्टि करते-न-करते कवि इस भंवर में आ पड़ता है और फिर निरंतर उसमें डूबता-उतराता है। जब सामाजिक-राजनीतिक हलचलें उस पर हावी हो जाती हैं तो वह प्रगति या आदर्श के स्वर गुंजाने लगता है और जब अपनी वैयक्तिक स्थिति की शर्तों के कारण वह सुरक्षा से चिपके रहने में ही कल्याण समझने लगता है तो वह प्राकृतिक दृश्यों या दैनंदिन जीवन के सौंदर्य में रमने की चेष्टा करता है। जब डॉ. रघुवंश ने कहा कि "स्थिति की टकराहट, उसकी गहरी अभिव्यक्ति माथुर की कविताओं में कम है" तो वे इस तत्त्व के आसपास आ रहे थे, पर उन्होंने उस सूत्र का अनुसरण नहीं किया और माथुर की द्विधा या उनके अंतर्विरोध को वे नहीं देख पाए। क्योंकि यदि 'खेतों में तलवार' उगानेवाली कविता या 'एशिया का जागरण' या 'हब्श देश' पहले प्रकार की कविताएं हैं तो 'एसोसिएशंस', 'काठवनी' या 'दियाघरी' दूसरे प्रकार की। इन दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों में माथुर पर निराला की मध्याह्न-चर्या का बड़ा गहरा प्रभाव है। आश्चर्य की बात यह है कि डॉ. रामविलास जैसे निराला-भक्त और माथुर-काव्य-प्रेमी के उपस्थित रहने के बावजूद किसी ने माथुर पर निराला के काव्य और संसर्ग के इस प्रभाव

का ज़िक्र तक न किया, और सूचना के स्तर पर भी यह न बताया कि उनके पहले काव्य-संग्रह 'मंजीर' की भूमिका निराला ने ही लिखी थी।

बहरहाल, उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की रचनाओं में माथुर के सच्चे और प्रामाणिक रूप के दर्शन नहीं होते, क्योंकि अपने युग और परिवेश से संपृक्त गिरिजाकुमार की सच्ची अनुभूति उथल-पुथल के बीच छटपटाहट और असुरक्षा की है जिसे वे एक तीसरे प्रकार की कविताओं में अभिव्यक्त करते हैं। (जब लक्ष्मीकांत वर्मा ने कहा कि माथुर 'दब्बू प्रकार के कवि हैं' तो शायद वे इधर ही संकेत कर रहे थे, पर दुर्भाग्य से उन्होंने एक ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जो सामाजिक आचरण को व्यंजित करती है, साहित्यिक समीक्षा को नहीं) प्रगति-प्रणय की अपनी रचनाओं में माथुर बड़े सावधान एवं सधे हाथ से जड़ाऊपन का सहारा लेते हैं—उनकी शाब्दिक पच्चीकारी सच्ची अनुभूति के अभाव को छिपाने का ही प्रयत्न होती है। इन कविताओं को अंतिम रूप देने में माथुर ढेरों श्रम और समय लगाते हैं, लोक-गीतों से लेकर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तक के शब्दकोष टटोलते हैं और बड़े यत्न से पंक्ति-पर-पंक्ति खड़ी करते हैं। पर तीसरे प्रकार की उनकी कविताएं इस आयास से मुक्त हैं, उनमें मध्यवर्गीय संशय और अकुलाहट की ऊष्म अनुभूति मार्मिक रूप से प्रकट होती है। उनकी ये कविताएं—जैसे 'शाम की धूप', 'आग और फूल' या 'व्यक्तित्व का मध्यांतर'—उन्हें आधुनिकता की ओर लाती हैं जबकि उनकी जड़ाऊ कविता में छायावाद का उच्छिष्ट ही मिलता है। और इधर के कुछ वर्षों में माथुर ने 'अकविता' की ओर जो ध्यान दिया है वह भी प्रचलित रुझान के नियम के ही अंतर्गत, और यद्यपि इनमें वे जड़ाऊपन से काम नहीं लेते क्योंकि अकविता में उसका प्रचलन नहीं है, पर इनमें भी वे सहज नहीं होते, उनकी रचना औपचारिक और वर्णनात्मक-व्याख्यात्मक हो जाती है; मानो वे समाज की सड़ांध को ऊपर से देख रहे हों, सहभोक्ता की अनुभूति का स्पंदन उनमें नहीं होता।

क्या ही अच्छा होता यदि 'विवेचना' गोष्ठी माथुर-काव्य के इन गहरे पक्षों की ओर भी ध्यान देती और अनिवार्य अंतर्विरोधों से बच निकलने की उनकी तरकीबों का अध्ययन करती। तब यह सत्य भी हाथ आ सकता था कि माथुर में आत्म-व्यंग्य का ऐसा एकांत अभाव क्यों है और वे बार-बार एक थोथे शिल्प की शरण में क्यों पहुंच जाते हैं।

अंत में एक बात और। अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए डॉ. नामवर सिंह ने जो बातें कहीं उनमें उन्होंने एक फतवा भी दे डाला है। उसे पढ़कर मैं थोड़ा चकित हुआ हूं। उन्होंने कहा, "प्रयोगशील या नयी कविता के प्रवर्तन का श्रेय माथुर को ही है।" मैं नहीं जानता कि उनके इस वक्तव्य का क्या आधार है। यदि उन्होंने यह बात 'तारसप्तक' के आधार पर कही है, तो यह ठीक नहीं लगती, क्योंकि एक तो 'तारसप्तक' में माथुर अकेले नहीं, सात कवियों में मात्र एक थे, दूसरे 'तारसप्तक' की आयोजना में उनका कोई मौलिक हाथ न था। वस्तुतः नयी कविता का प्रवर्तक यदि कोई एक व्यक्ति है तो वह निराला

ही हो सकते हैं, क्योंकि इस प्रवृत्ति का बीज-रूप सबसे पहले उन्हीं में मिला है। 'तारसप्तक' के प्रायः सभी कवि निराला की प्रतिभा से परिचित एवं प्रभावित थे। और यदि 'तारसप्तक' में संगृहीत किसी कवि को ही यह श्रेय देना अभीष्ट हो तो वह डॉ. प्रभाकर माचवे को ही मिल सकता है, क्योंकि संगृहीत कवियों में इस प्रवृत्ति की सबसे पहली रचनाएं उन्होंने लिखी थीं।

आपका

भारतभूषण अग्रवाल

[रचनाकाल 1965, 'माध्यम', प्रयाग के संपादक श्री बालकृष्ण राव को लिखा पत्र, 'विवेचना' गोष्ठी, प्रयाग में पढ़ा गया, 'माध्यम' में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

नयी कविता का संदर्भ

नयी कविता के संबंध में पिछले कुछ वर्षों में इतना अधिक लिखा गया है कि बात कुछ उलझ गयी है। उसको सुलझाने के लिए विस्तृत विवेचन ज़रूरी है जो यहां संभव नहीं। केवल कुछ मोटे संकेत ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

समसामयिक कविता के लिए 'नयी कविता' पद का प्रयोग सबसे पहले सन् '52 में वात्स्यायन ने किया था—पटना आकाशवाणी की एक भेंट-वार्ता में। यह भेंट-वार्ता प्रयाग की एक लघु पत्रिका 'नये पत्ते' में छपी थी। यह पत्रिका 'परिमल' के कुछ उत्साही सदस्य निकालते थे। बाद में उन्हीं में से कुछ ने 'नयी कविता' त्रैमासिक चलाई जो आज भी चलती है। उनमें से अधिकांश की स्थापना थी कि नयी कविता उन्हीं के द्वारा प्रवर्तित हुई है, अर्थात् वे नयी कविता की प्रवृत्ति को उस प्रवृत्ति से भिन्न मानते थे जो 'प्रयोगवाद' कहलाती थी।

'प्रयोगवाद'—'नयी कविता' के विपरीत—ऐसा पद नहीं है जो कवियों ने स्वयं प्रचारित किया हो। यह पद आलोचकों ने उस काव्य-प्रवृत्ति के लिए प्रयुक्त किया था जो 'तारसप्तक' के कवियों में परिलक्षित हुई थी। 'तारसप्तक' का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ था। उसकी मूल परिकल्पना अज्ञेय की नहीं थी—जैसा कि सामान्यतः माना जाता है। उसका विचार पहले-पहल मध्य भारत-स्थित चार कवि-मित्रों को सूझा था—नेमिचंद्र जैन, प्रभाकर मांचवे, प्रभागचंद्र शर्मा और गजानन माधव मुक्तिबोध। उनकी इच्छा हुई कि एक ऐसा काव्य-संग्रह प्रकाशित किया जाये जिसमें कुछ मित्रों की कविताएं सम्मिलित हों। ये सभी कवि उस समय नये थे, उत्साह और जीवट की उनमें कोई कमी न थी, पर प्रकाशन के साधनों का अभाव था। उन्हें इसकी कोई आशा न थी कि कोई भी प्रकाशक उनमें से किसी के भी काव्य-संग्रह को हाथ में लेगा। अतः सहयोगी रूप से एक समवेत संग्रह की बात तय की गयी। स्वभावतः यह तय हुआ कि उसमें सभी कवि मध्य-भारतीय हों, जिनके अभी तक कोई स्वतंत्र संग्रह न छपे हों, और जो परस्पर परिचित हों। उपस्थित चार कवियों की सूची में दो नाम अनायास ही जुड़ गये—वीरेंद्रकुमार जैन और गिरिजाकुमार माथुर। तब तय हुआ कि संग्रह में कुल सात कवि हों, उसका नाम 'सप्तक'

हो, प्रकाशन एकदम सादा और मितव्ययी हो, मुखपृष्ठ पर कवि-नामों की बजाय माचवे द्वारा अंकित कवि-चित्र हों, आदि-आदि। सातवें नाम की और सहृदय प्रकाशक की खोज में जब पहले नेमिचंद्र और बाद में माचवे सन् '42 के अखिल भारतीय फासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन के सिलसिले में दिल्ली आये तो उन्हें अपने अग्रज, मित्र और आदर्श वात्स्यायन के रूप में दोनों तलाशों का अंत एकत्र मिल गया। 'सप्तक' संशोधित होकर 'तारसप्तक' बना और योजना पर कार्य शुरू किया गया। योजना पूरी होते-होते उसके रूप में क्रमशः कई परिवर्तन हुए। वात्स्यायन के दो काव्य-संग्रह (भग्नदूत और चिंता) तब तक छप चुके थे। इसलिए यह शर्त ढीली कर दी गयी कि 'सप्तक' में ऐसे ही कवि रहें जिनका कोई स्वतंत्र संग्रह न छपा हो। इसी बीच माथुर भी अपने दो संग्रह (मंदार और मंजीर) छाप चुके थे। प्रभागचंद्र शर्मा ने अपने फक्कड़ स्वभाव के अनुसार रचनाएं न भेजीं और वीरेंद्र की रचनाएं खो गयीं और उन्होंने दुबारा भेजने में ढिलाई से काम लिया। फलतः नामावली में परिवर्तन हुआ। पहले भवानीप्रसाद मिश्र का नाम सोचा गया। वे मध्यभारतीय तो थे पर शेष छह से उनका व्यक्तिगत परिचय न था। अतः मध्यभारतीय शर्त भी छोड़ दी गयी—केवल मैत्री की शर्त रखी गयी। और तब रामविलास शर्मा और भारतभूषण अग्रवाल के नाम शामिल किये गये।

'तारसप्तक' की इस जन्म-कुंडली का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना वह धूल-गुबार साफ नहीं किया जा सकता जो नयी कविता के सच्चे और समग्र दर्शन में बाधक है। सामान्य धारणा यही रही है—और इसे बहुतेरे कच्चे-पक्के आलोचकों ने भी स्वीकारा-उभारा है—कि 'तारसप्तक' एक योजनाबद्ध निकाय का योजनाबद्ध प्रयास था, कि यह निकाय एक निश्चित काव्य-सिद्धांत और काव्य-व्यवहार पर आश्रित था और उसका नेतृत्व अज्ञेय ने किया था। ऊपर के विवेचन से ये तीनों धारणाएं निर्मूल या अत्युक्तिपूर्ण सिद्ध हो जाती हैं। और इस प्रवृत्ति को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा देने का आधार मात्र इतना था कि संपादकीय भूमिका में अज्ञेय ने प्रसंगवश यह लिखा था कि संगृहीत कवि 'कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं'। पर जैसा कि बाद में बहुतों ने कहा, प्रयोग तो सभी कवि करते आये हैं, करते रहे हैं और करते रहेंगे। इसलिए प्रयोग का वाद तो एक तरह से कविता का ही वाद है। अतएव 'प्रयोगवाद' सार्थक परिभाषा के रूप में नहीं, केवल एक रूढ़ नाम के रूप में उन कवियों पर चिपकाया गया है जो एक नितांत साहित्य-संयोग से 'तारसप्तक' में एकत्र हुए थे।

पर 'तारसप्तक' अथवा उसकी परम्परा में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' (1951) और 'तीसरा सप्तक' (1958) के कवियों को प्रयोगवादी कहा जाये, या न कहा जाये, या उनमें से केवल कुछ को ही यह विशेषण दिया जाये, एक बात स्पष्ट है कि वह किसी काव्य-आंदोलन का प्रारंभ अथवा शीर्ष-स्रोत न था, और कि उसमें संगृहीत कवि किसी सिद्धांत के आधार पर एकत्र न हुए थे। यह बात

स्पष्ट होते ही प्रयोगवाद की कलई खुल जाती है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो नयी प्रवृत्ति इन या इन-जैसे ही अन्य कवियों में परिलक्षित हो रही थी उसकी प्रकृति और विशेषता केवल काव्यगत प्रयोगों पर आश्रित नहीं थी, उसका वैशिष्ट्य कहीं अधिक गहरा और अर्थवान था। उस गहराई या अर्थ को पहचानने के लिए हमें उस विभाजक बिंदु तक पहुंचना होगा जहां छायावादी काव्य ठिठककर ठहर जाता है और एक नये प्रकार की कविता अपना पहला क्षीण और अनिश्चित रूप उद्घाटित करती है। नयी कविता के नियामक तत्त्व वहीं से प्राप्त और उपलब्ध किये जा सकते हैं। और वह विभाजक बिंदु 1943 नहीं है, 1936 है—जब सुमित्रानंदन पंत का 'युगांत' प्रकाशित हुआ था। पंत ने इस नामकरण से इस बात का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया था कि वे जीवन, जगत और काव्य के बदलते स्वरूप पर आंखें गड़ाये हुए थे। वह उनके मन में कितना बस पाया था, यह और बात है।

सच पूछिए तो 1935-36 का समय हिंदी काव्य ही नहीं, समूचे हिंदी सृजनात्मक साहित्य के युगांतर का समय है। एक ओर इस काल में प्राप्त समय की सर्वोच्च कृतियां प्रकट हुईं—'गोदान' और 'कामायनी', एवं दूसरी ओर इस काल में लेखक सर्वथा नूतन पथ पर अग्रसर हुआ—'सुनीता' और 'युगांत' इसके प्रमाण हैं। और यह नूतन पथ एक अनजाना, बल्कि उससे भी अधिक एक अनबना पथ था, जिस पर चलकर लेखक कलाकार से भी अधिक अन्वेषक बन गया था, बनने को बाध्य हो गया था। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय हलचलों ने हमारा दृष्टि-क्रम इतना परिवर्तित कर दिया था कि स्थापित मूल्य और स्वीकृत आदर्श ओछे ही नहीं, निरर्थक भी हो गये थे, और जन-गण-मन उपस्थित संसार के सुधार-सजाव के स्थान पर एक नये संसार की तलाश में जुट गया था। मेरे मत से नये संसार की यह तलाश ही नयी कविता का मूल स्रोत है। इसीलिए 'तारसप्तक' की भूमिका में प्रयोगवाले वाक्य के स्थान पर, मुझे यह वाक्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय लगता है 'उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुंचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।' राहों का यह 'अन्वेषण ही 'तारसप्तक' की मुख्य भूमिका थी, और ये राहें उस नये संसार की ओर ले जाती थीं जिसकी एक हल्की-धुंधली झलक लेखक को सन् 1936 में ही मिलने लग गयी थी।

पर सन् 1936 में ही क्यों? क्या हुआ था उस वर्ष ऐसा जो एक नये संसार को संकेतित करता था? क्यों पंत ने उस वर्ष को 'युगांत' की संज्ञा दी? इसके उत्तर में ही नयी कविता की मूल प्रेरणा छिपी हुई है। 1935 में जब 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ तो मानो पहली बार छायावाद ने अपना संपूर्ण और समग्र भाव-लोक उद्घाटित किया। बहुतेरे समीक्षकों ने कामायनी में आनंदवाद की स्थापना को रेखांकित किया है। पर मेरी दृष्टि से कामायनी का मुख्य योग एक अन्य दिशा में है। कामायनी वस्तुतः विज्ञान की चुनौती

को पी-पचाकर भावुक अद्वैतवाद को जीवित-जागृत रखने का अंतिम महाप्रयत्न है। पर अद्वैतवादी मोह में वह चुनौती को मनमाने ढंग से विकृत करता है और आनंद को कर्म-जगत् से पलातक समाधिस्थ रूप में प्राप्त करता है। इसलिए, कामायनी एक नयी आशा-दिशा का प्रमाण न होकर एक पथ-शेष की, एक युगांत की निशानी बन जाती है।

और अगले ही वर्ष प्रगतिशील आंदोलन के प्रारंभ के रूप में विज्ञान की वह चुनौती युगांतकारी आह्वान बनकर आती है, और हिंदी के काव्याकाश पर छा जाती है। सबसे पहले पंत उसे स्वीकार करते हैं क्योंकि अपनी दार्शनिकता के खोल के बावजूद पंत छायावादियों में सबसे कम टिकाऊ कवि हैं—उनके पास न तो निराला का-सा बलिष्ठ व्यक्तित्व है, न प्रसाद का-सा एकांत अतीत-मोह। वे नये आंदोलन से तुरंत प्रभावित हो जाते हैं और फिर बच्चन, दिनकर और नरेंद्र शर्मा भी इस परिवर्तन को आत्मसात् करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन पंत का परिवर्तन मुख्यत सैद्धांतिक है (तभी तो वे साम्यवाद और गांधीवाद के मेल का भोला प्रयास करते हैं), दिनकर का उत्तेजनात्मक (उनकी कविता इस काल में अधिकतर राष्ट्रीय आंदोलन को ही स्वर देती है) और बच्चन का हताशात्मक (उनकी कविता बड़े एकांत रूप से आत्म-बद्ध है)। उस परिवर्तन को अधिक गहरे और समग्र रूप में नरेंद्र शर्मा ही ग्रहण करते हैं जिनकी आंखों के सामने से छायावादी धुंधलका छंट गया है और जो बड़े वेग से उस नये संसार की ओर हाथ बढ़ाते दीखते हैं जो जन-गण की मुक्ति और व्यक्तित्व के विकास की प्रतिज्ञा है। और जब 1938-39 में पंत और नगेंद्र शर्मा के सहयोग से 'रूपाभ' मासिक-पत्र का प्रकाशन होता है तो यह प्रवृत्ति विकसित रूप धारण कर [illegible]ती है।

पंत काव्य में ही नहीं, जीवन में भी व्यवस्था के कायल हैं—अस्त-व्यस्तता के प्रति उनकी प्रकृति घबराहट की ही है। [illegible]नके विपरीत निराला स्वभावतः विद्रोही और अनियम-प्रेमी रहे—नये संसार की तलाश करने के लिए उन्हीं के-से जीवट और आत्म-संकल्प की ज़रूरत थी। इसलिए सिद्धांत रूप में चाहे पंत अधिक प्रगतिशील रहे, पर काव्य-चर्या में सच्चा अन्वेषण निराला ने ही उपस्थित किया, और नयी पीढ़ी उन्हीं की ओर अधिक देखती रही। यह इतिहास का बड़ा मार्मिक व्यंग्य है कि नयी कविता को कोई सहानुभूति न दे सकनेवाला प्रगतिशील आंदोलन निराला की भक्ति अवश्य करता रहा।

इस प्रकार जो काव्य-प्रवृत्ति उद्‌भूत और विकसित हुई उसने नाना विरोधों के बावजूद साहित्य में केंद्र-स्थान प्राप्त कर लिया, क्योंकि वह जीवन-गत परिवर्तनों और मांगों का निरंतर साथ देती रही। न अभी उसकी संभावनाएं ही बीत चुकी हैं। कुछ लोग नयी कविता की चर्चा इस तरह करते हैं जैसे वे किसी विगत काव्य-प्रवृत्ति की बात कर रहे हों। पर यह दृष्टिकोण भ्रामक है। नयी कविता के पहले जितने भी काव्य-आंदोलन हुए हैं उनमें काव्य-गत अभिव्यक्ति-प्रकार की सीमाओं के कारण उनके समापन के बीज उनके उद्‌भव

में ही निहित थे, जीवन के बदलाव के साथ ही उनमें ठहराव आ जाता था। पर नयी कविता परिवर्तन-जनित कविता है और परिवर्तन-कामी कविता है, वह अपने किसी आकार-प्रकार को एकांत सत्य नहीं मानती, और इसलिए स्वयं *अपने सांचे को तोड़कर अपना विकास करने में प्रवृत्त रहती है। कवि-विशेष भले ही चुप हो जायें या ठहर जायें,* नयी कविता अपने संसार को प्राप्त करके ही चैन की सांस ले सकती है।

यह तथ्य बहुत रोचक है कि 'तारसप्तक' में संगृहीत कवियों में से रामविलास शर्मा और गिरिजाकुमार माथुर 'रूपाभ' के माध्यम से प्रकाशित हो चुके थे। यही नहीं, और भी अनेक नये कवि—जिनमें शमशेर और केदारनाथ अग्रवाल प्रमुख हैं—उसी वृत्त के थे। 'तारसप्तक' की भूमिका में इसीलिए अज्ञेय को यह संकेत देना पड़ा था कि संगृहीत कवियों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक प्रयोगशील कवि मौजूद हैं जो यदि उस संग्रह में समाविष्ट होते तो उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही—घटती नहीं। कवियों की यह पीढ़ी अतीत के भारी बोझ को हटाकर—चाहे वह काव्य-परंपरा का हो अथवा सामाजिक गतानुगतिकता का—बड़े उत्साह और संकल्प से नये संसार के वर्तमान अन्वेषण में भाग लेने लग गयी थी—उस संसार के अन्वेषण में जो आज भी भविष्य बना हुआ है। और चाहे यह पीढ़ी पंत के दार्शनिक ऊहापोह को भी सहानुभूति देती रही हो, और भारतीय ग्राम-जीवन की उनकी 'ग्राम्या' झांकियों को सही महत्त्व, पर उस पर निराला के अलमस्त कवि-व्यक्तित्व की अधिक गहरी छाप थी, क्योंकि वे सब भंजक थे, और निराला से बड़ा भंजक हिंदी ने आज तक उत्पन्न नहीं किया। नागार्जुन, त्रिलोचन, माचवे, माथुर, रामविलास, शमशेर—सब निराला-प्रेमी रहे हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार मैं 'तारसप्तक' को नयी कविता का प्रारंभ नहीं मानता, उसी प्रकार 'अकविता' अथवा 'साठोत्तरी पीढ़ी' को नयी कविता का अंत नहीं मानता। नयी कविता का प्रारंभ एक नये संसार की तलाश में हुआ था, उसकी परिणति उस संसार की प्राप्ति में ही हो सकेगी।

इस मोटी रूपरेखा से यह बात स्पष्ट हो सकनी चाहिए कि नयी कविता छायावादी अद्वैतवाद के विपरीत समाजवादी मानववाद से अनुप्राणित थी और उसका आरंभ प्रगतिशील आंदोलन के प्रवर्तन से ही हो गया था। यह बात और है कि शीघ्र ही वह प्रगतिशील आंदोलन एक कठमुल्लेपन का शिकार हुआ और उसने साहित्य-रचना मात्र को अ-पदस्थ करने की कोशिश की। तब बहुतेरे कवि उससे विरत या विमुख हो गये। पर यह असफलता प्रगतिशील आंदोलन की थी, नयी कविता की नहीं जो नये मूल्यों और नये संबंधों की खोज के रूप में एवं अभिव्यक्ति के नित नये माध्यमों के परीक्षण द्वारा एक नये संसार की तलाश में लगी रही है। हां, उसका इतना परिणाम अवश्य हुआ कि प्रगतिशील आंदोलन की भ्रांतियों से अपने-आपको बचाने के लिए उसे व्यक्ति की मुक्ति पर कुछ अधिक बल देना पड़ गया, और उसके मन की सामाजिकता कुछ

धीमी हो गयी। पर उसने न तो किसी पूर्व-निश्चित मतवाद की शरण ली, न काव्याभिव्यक्ति की सच्चाई से पलायन किया। यदि तीस वर्ष के इस लंबे दौर में उसके पास काव्य-गत उपलब्धियां अधिक नहीं हैं तो उसके अनेक कारणों में एक यह भी है कि समकालीन आलोचकों ने उसके सही संदर्भ को उजागर नहीं होने दिया है। नयी कविता में न्यस्त अनेकानेक कवियों की अनेकानेक उपलब्धियों को उन्होंने एक-दो कवियों की ही परछाईं मानकर काम चलाया है। मुक्तिबोध के काव्य से अचानक उनकी मान्यताओं का गढ़ जैसा भहराकर गिरा है, वह इस बात की सच्चाई का प्रमाण है।

[रचनाकाल 1967, 'संस्कृति' दिल्ली के 'नयी कविता विशेषांक' में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

नयी कविता : पुरानी कविता

[1]

अपनी बात शुरू करने के पहले मैं आपसे उस निराशा के लिए क्षमायाचना करना चाहता हूं जो आपको मेरे वक्तव्य से निस्संदेह होनेवाली है, क्योंकि न तो मैं साहित्य का कोई विद्वान् ही हूं, न कोई समीक्षा-शास्त्री। अतएव, मैं ऐसी कोई बात नहीं कह पाऊंगा जो आप जैसे काव्य-पारखियों के काम की हो। सच तो यह है कि मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता था, क्योंकि एक छोटे-मोटे काव्य-अभ्यासी के नाते मेरा तो यही मत है कि, शमशेर के शब्दों में, 'बात बोलेगी—हम नहीं।' और अगर मुझे कविता सुनाने के लिए नहीं, कविता पर विचार व्यक्त करने के लिए बुलाया गया है, तो उसका यह अर्थ भी तो हो सकता है कि बात नहीं बोल पायी।

वह न भी हो, तो भी मेरे वक्तव्य से आपको निराशा ही हाथ लगेगी, क्योंकि कविता का अभ्यासी होने के कारण मैं कविता को उस दृष्टि से नहीं देख पाता जिस दृष्टि से समीक्षक या पाठक देखता है। मोटे ढंग से कहूं, तो कवि कविता को भीतर से बाहर की ओर देखता है और आलोचक उसे बाहर से भीतर की ओर। दृष्टि का यह भेद इतना बड़ा है कि किसी भी युग की कविता के जांचने-परखने में गड़बड़ी कर देता है, तिस पर आज़ के युग का तो कहना ही क्या जब कविता का स्वरूप तक बदल चुका है—वह नयी हो गयी है। इसलिए, मैं जांच-परख का काम न करके कवि-कर्म के संबंध में ही दो-चार बातें कहना चाहता हूँ, सो भी अधिकतर अपने निजी अनुभव के आधार पर ।

[2]

विषय है : 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता की उपलब्धियां और संभावनाएं।' कई दिन से इस विषय को मन-ही-मन घोखता रहा हूं। अचानक यह विचार आया कि सीधे-सीधे नयी कविता की उपलब्धियों और संभावनाओं पर विचार क्यों

न किया जाये, उसे 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता' की व्याप्ति क्यों दी जाये। धीरे-धीरे समझ में आया कि प्रस्तावक विद्वान् अवश्य ही 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता' में नयी कविता ही नही, और भी कई प्रकार की कविताएं सम्मिलित कर रहे हैं। यदि यह धारणा सही है तो मैं निवेदन करना चाहूंगा कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि स्वयं नयी कविता है—अर्थात् वह प्रचुर काव्य-राशि जिसे मोटे तौर पर नयी कविता कहते हैं। निश्चय ही उसका बीजारोपण स्वतंत्रता के पूर्व के युग में ही हो चुका था, पर उसका सम्यक् प्रस्फुटन और प्रतिफलन स्वातंत्र्योत्तर युग की सबसे बड़ी काव्य-घटना है। प्रयोगवाद कहलानेवाली काव्य-राशि को यदि नयी कविता का प्रारंभ मान लें, तो नयी कविता के अतिरिक्त अन्य काव्य-प्रकारों की उपलब्धि—स्वातंत्र्योत्तर युग में- विरल और नगण्य ही है। छायावाद तो सन् '35-36 के आस-पास ही स्वच्छंदतावाद और प्रगतिवाद के रूप में दो टूक हो चुका था, स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रगतिवाद साम्यवादी नारेबाज़ी के शंख-नाद का अनुगमन करता हुआ भावहीन मरु की बालू में लुप्त हो गया और स्वच्छंदतावाद अधकचरी अतिभावुकता के कारण कवि-सम्मेलनों के मंच से होता हुआ फ़िल्म-ज़गत् का शरणार्थी बन गया। इसलिए जितनी भी और जो भी उपलब्धि इस काल में हुई है वह नयी कविता के ही आंगन में फली-फूली है। वैसे इस वक्तव्य के अतिसरलीकरण को दूर करने के लिए मैं यह अवश्य कहना चाहूंगा कि इस काल में भी पुरानी चाल की कविता नितांत निष्फल रही हो, ऐसा नहीं है, हां, उसके फल विरल अवश्य रहे हैं। एक 'उर्वशी' या एक 'गोपिका' उस निष्फलता को ही रेखांकित करते हैं—पुरानी चाल को फलवती नहीं बनाते।

[८]

पर मैं कृतियों की दुहाई नहीं दूंगा—उनका मूल्यांकन तो आपका काम है, मेरा नहीं; मैंने यदि उनका नाम लिया है तो केवल बात स्पष्ट करने के लिए। और वह बात यह है कि यदि हम यह मान लें कि आज के कवि के पास यह विकल्प हो कि वह चाहे तो पुरानी चाल की कविता लिखे या चाहे तो नयी चाल की—हालांकि यह नितांत मनमानी बात है क्योंकि किसी कवि के पास यह विकल्प नहीं होता, वरन् उसके पास तो यह विकल्प भी नहीं होता कि वह चाहे तो कविता लिखे और चाहे तो बढ़ईगीरी करे, और अगर इस विकल्प की स्थिति को मान भी लें तो मेरा दावा है कि वह अंत में बढ़ईगीरी ही करेगा—क्योंकि कविता निर्विकल्पता की ही स्थिति में जनमती है। खैर, तो आज के कवि के पास यह विकल्प हो भी तो वह नयी कविता ही लिखेगा—पुरानी नहीं। जो पुराने कवि अपनी चेतना में आगे नहीं बढ़ पाये हैं वे पुरानी चाल की कविता लिखते रहेंगे, इसमें क्या शक है—जैसे कि पं. हरिशंकर शर्मा द्विवेदीयुगीन पद्य छपवाते रहे—पर जो किशोर आज अपना जीवन आरंभ कर रहा है वह निस्संदेह नयी कविता की ओर उन्मुख होगा—हां, यह और बात

है कि वह पाठ्यपुस्तकों के प्रभाव से कुछ दिनों पुरानी चाल की कविता की अनुकृति करता रहे—पर वह कृति करेगा तो नयी कविता में ही करेगा, अन्यथा नहीं करेगा। इस कथन के प्रमाण और उदाहरण के लिए दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। मैं अपने निजी अनुभव से जान चुका हूं कि दिल्ली विश्वविद्यालय के नब्बे प्रतिशत विद्यार्थी कविता-प्रतियोगिताओं में नयी कविता ही रचकर लाते हैं।

इसलिए कृतियों की बात छोड़ भी दें, तो इस बात में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं कि आज के मन को नयी कविता ही भाती है और वह उसकी ओर सहज ही प्रवृत्त होता है। यह सही है कि अभी बहुत-से अंचलों में नयी कविता को प्रतिष्ठा नहीं मिली है—जिनमें राजकीय और शिक्षा-क्षेत्र प्रमुख हैं—पर यह नये कवि की चिंता का विषय नहीं है, उसने इतिहास का साथ देकर अपना कर्त्तव्य पूरा किया है, और अब इतिहास भी निस्संदेह उसके साथ है।

[4]

नये कवि ने इतिहास का साथ दिया है—इसका क्या अर्थ है? क्या इतिहास उससे अलग कोई सत्ता है जिसके साथ-साथ व चलता रहा है, या कि इतिहास ने उसके साथ कोई पक्षपात किया है जो उसे बता दिया हो कि वह किधर जायेगा। नहीं, इस कथन का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि नयी कविता के कृतिकारों ने अपने समय की जिंदगी को उसकी पूरी विविधता और जटिलता में जिया और भोगा है और फिर उसे अपनी रचना में अपने निजी और विशिष्ट ढंग से अभिव्यक्त किया है। उसी को उसने अपना परम और एकमात्र लक्ष्य माना है, और यदि उसकी राह में कोई परंपरागत अभ्यास या कोई रूढ़िगत बाधा आयी है, कोई पूर्वाग्रह या कोई पूर्व-प्रतिष्ठा, तो उसे छोड़ने-तोड़ने में उसने आनाकानी नहीं की है। इसके लिए यदि उसे गुमराह, ग़ैर-जिम्मेदार या परंपरा-द्रोही कहा गया है तो इसकी उसने परवाह नहीं की है। कवि-कर्म ही को उसने अपना एकमात्र धर्म माना है। ऐसा करना उसके लिए सरल नहीं रहा है, जैसा कि कुछ लोग बड़े भोलेपन से सोचते हैं, इसके लिए उसे बड़े ही साहस-संकल्प और बड़ी ही शक्ति-दृढ़ता की ज़रूरत पड़ी है, कुछ में इन गुणों का अभाव होने के कारण वे कहीं के भी नहीं रहे हैं, और नये अपरिचित रास्ते को खोजते और उस पर चलते वह शायद अभी बहुत दूर भी नहीं निकल पाये हैं।—बहरहाल, उसकी दिशा सही रही है—वही इस युग में सच्ची कविता की दिशा है—और उसी की उपलब्धि जैसी भी है—सच्ची उपलब्धि है, नयी तो वह है ही।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि तो फिर जो नये कवि नहीं हैं, पर रचना कर रहे हैं—वे क्या करते रहे हैं—क्या वे कविता नहीं करते रहे हैं—या क्या

उनकी कविता सच्ची कविता नहीं है? बात कितनी ही विचित्र क्यों न लगे, मेरा विनम्र निवेदन है, कि बात यही है। स्वातंत्र्योत्तर युग में पुरानी चाल की जो भी कविता रही है, वह सच्ची कविता नहीं है, क्योंकि वह आज के मनोभावों को बीते हुए कल के चश्मे से देखती है, उसके संदर्भ का संसार वह विश्व है जो बीत चुका है। और इसलिए पुराना कवि अपने पुराने अभ्यास के कारण चाहे मुक्तक कविताएं लिखे चाहे 'लोकायतन' जैसा भारी-भरकम महाकाय काव्य—पर वह आज के मनोभावों को आज की संवेदना से व्यक्त नहीं कर पाता। यदि कुछ पाठकों को अब भी उनमें रस मिलता है तो आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि बीते हुए विश्व का एक टुकड़ा उनकी संवेदना में भी जीवित हो सकता है—पर अधिकांश काव्य-रसिकों के लिए वह महत्त्वहीन हो चुका है, और जहां तक नयी कविता के लेखक का प्रश्न है, वह उससे दिशा पाना तो दूर, कोई सहानुभूति भी नहीं खोज पाता। मैं जब कालेज में पढ़ता था तो हिंदी के गुरुजी ने बड़ी गंभीरता से मुझे यह बताया था कि उनके मत से तुलसीदास के बाद किसी को कविता लिखने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि तुलसी सदा-सर्वदा के लिए सर्वोत्तम काव्य रच गये हैं। यह मत आज भी बहुतों को ग्राह्य हो सकता है—साहित्य का क्षेत्र तो ऐसा उदार क्षेत्र है कि उसमें हर प्रकार के मत की गुंजाइश होती है—पर मुझ-जैसे काव्य-अभ्यासी को इस बात में कुछ गड़बड़ नज़र आती है। मैं नहीं मान सकता कि कोई ऐसा भी समय आ सकता है, जब नयी काव्य-रचना अनावश्यक ठहरा दी जा सके। प्रत्येक युग अपने काव्य की स्वयं रचना करता है और उससे अपना तादात्म्य प्राप्त करता है। यह और बात है कि यदि काव्य के कोई शाश्वत मूल्य होते हों तो उनकी कसौटी पर वह अन्य किसी युग के काव्य से घटिया या बढ़िया बैठे। इसलिए आज हम पुरानी चाल की कविता से संतुष्ट होकर नहीं बैठ सकते। स्वतंत्रता के पूर्व जिस काव्य ने हमारी आवश्यकता की पूर्ति की थी उसका समादर, मनन और संरक्षण हमारा पुनीत कर्त्तव्य है, पर आज भी हम उसी का अनुकरण करते रहें और आज की आवश्यकताओं की अनदेखी कर दें—यह कैसे संभव है!

[5]

अभी मैंने कहा कि पुरानी चाल की कविता के संदर्भ का संसार एक बीता हुआ विश्व है। मेरा खयाल है कि आपको यह वाक्य कुछ विचित्र लगा होगा। इसलिए इसको कुछ फैलाना चाहता हूं। और इस फैलाने में ही लगे हाथ 'स्वतंत्र्योत्तर' कवि-कर्म की कुछ व्याख्या भी हो जायेगी।

स्वतंत्रता आयी तो प्रत्येक भारतवासी ने मुक्ति की सांस ली, इसमें क्या संदेह है—पर क्या सबने उसे एक ही दृष्टि से देखा, या क्या यह संभव है कि सब उसे एक ही दृष्टि से देखते? सामान्य-से-सामान्य घटना के संबंध

में भी ऐसी एकता कठिन होती है, फिर स्वतंत्रता जैसी युगांतरकारी घटना का तो कहना ही क्या! इसलिए कुछ देर के हर्षोल्लास के बाद जब मन इस घटना को आत्मसात् करने में प्रवृत्त हुआ तो पुराने और नये कवि के दृष्टिकोण का बुनियादी अंतर स्पष्ट हो गया। पुराना कवि सोचता था—और आज भी सोचता है—कि भारत को एक विदेशी पश्चिमी शक्ति ने अपने पशुबल से अपनी लौह-शृंखला में बांध लिया था, भारत कुछ दिनों पराजय की निराशा में डूबा रहा, पर फिर उसने अपना आत्मिक बल संगठित किया, और गांधीजी के आध्यात्मिक नेतृत्व में देश के विशाल जनगण को एकता और अहिंसा के मंत्रबल से इतना समर्थ और शक्तिशाली बना दिया कि पशुबल को मुंह की खानी पड़ी और वह भारत छोड़कर वापस जाने पर विवश हो गया। और इसी के अनुषंग के रूप में, पुराना कवि सोचता है कि अब विदेशी पश्चिमी जड़ता कट गयी है, भारत को अब फिर अपना खोया हुआ गौरव पा लेना है, भौतिकता को आध्यात्मिकता के अंकुश से वशीभूत करके भारतीय संस्कृति की विशिष्टता उजागर करनी है।

इसके विपरीत नया कवि सोचता है कि भारत स्वयं अपनी कमज़ोरी से ही गुलाम बना था, क्योंकि उसकी सृजन-शक्ति लुप्त हो गयी थी, वह रूढ़ि और अंधविश्वासों से जकड़ गया था, उसने अपनी परंपरा से सिर्फ प्रगति का निषेध पाना शुरू कर दिया था और इसलिए वह आंतरिक दुर्बलता का शिकार हो गया था। उधर पश्चिम ने विज्ञान का विकास कर जड़ प्रकृति के तत्वों पर वश पाना शुरू कर दिया था और उसी के उन्माद में उसने दूर-दूर तक अपने साम्राज्य स्थापित किये थे। फिर इन साम्राज्यों में होड़ हुई, जिसका अनिवार्य परिणाम थी वह टक्कर जिसने दो-दो विश्व-युद्धों को जन्म दिया। इन युद्धों की पीड़ा ने साम्राज्य का विरोध करना सिखाया, विज्ञान को वर्ग-स्वार्थ के हाथों से निकालकर विशाल मानवता के उपयोग में लाने का मार्ग दिखाया और एक ऐसे नये विश्व की संभावना के द्वार खोले जिसमें सारे देश मुक्त हों और समभागी हों, सारे देशों के जनगण समता और सृजनशीलता के आधार पर मिलकर भौतिक सुख और मानसिक शांति के पथ पर अग्रसर हों। यह मार्ग केवल पश्चिम में ही नहीं, पूर्व में भी बन गया था, भारत का स्वाधीनता-आंदोलन जनगण की इसी जागृति का परिणाम था, गांधी ने इसी जागृति का नेतृत्व किया था। और इसलिए जब भारत स्वतंत्र हुआ तो उसने उस नये विश्व की ओर चलना प्रारंभ किया जो विज्ञान को भौतिक सुख-साधन के लिए निस्संकोच रूप से स्वीकारता है और जो पूर्व और पश्चिम का भेद मिटाकर समस्त मानव-समुदाय के सर्वांगीण विकास और कल्याण की ओर प्रवृत्त है। इसी उद्देश्य से भारत ने एक धर्म-निरपेक्ष गणतंत्रीय संविधान की रचना की, और समस्त देशों को मित्र मानकर विश्व-मानव की एकता और शांति का प्रयास किया एवं अपने रूढ़िग्रस्त, पिछड़े हुए, अज्ञान-बद्ध जनगण के सत्वर विकास के लिए योजनाएं बनायीं।

अब आप स्वयं देखें कि इन दो दृष्टिकोणों में कितना अंतर है। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि पुराने कवि की दृष्टि एक ऐसे संसार पर है जो निर्विवाद

रूप से मर चुका है और जिसकी ओर लौटना सहज संभव नहीं है? बल्कि अगर किसी प्रकार उसकी ओर हम लौट भी गये तो हम पायेंगे कि हम एक ऐसे विश्व में फिर से पहुंच गये हैं जहां विज्ञान का कोई स्थान नहीं है, जहां जनगण विपन्नता और अज्ञान में घुट-घुटकर जीने के लिए विवश है और जहां परंपराएं जीवन की प्रगति के लिए पग-पग पर बेड़ी बनी हुई हैं। सच तो यह है कि स्वतंत्रता की ऐसी व्याख्या ही भ्रामक है क्योंकि वह यथार्थ के एक कटु-पक्ष की अनदेखी करती है। वह यह भूल जाती है कि हमारे एकता-आंदोलन का इससे बड़ा विद्रूप और क्या हो सकता था कि स्वतंत्रता का अर्थ देश का विभाजन हो। वह यह भी नहीं सोचती कि अहिंसा का हमारा संकल्प कितनी भयंकर भ्रातृ-हिंसा में परिणत हो गया, और इस करुणा को भी वह नहीं पहचानना चाहती कि जिस गांधी को हमने राष्ट्रपिता कहा था वही स्वतंत्रता के क्षण में हमारे प्रहार का शिकार हुआ। महात्मा गांधी के भूधराकार व्यक्तित्व का कीर्ति-गायन करनेवाला महाकाय काव्य 'लोकायतन' इस करुणा पर आंखें बंद कर लेता है जबकि 'अंधा युग' इस पितृ-वध और भ्रातृ-वध को पूरी करुणा और मानवीयता से रूपायित करता है। वरन् 'अंधा युग' निर्विवाद रूप से हमारे नये संसार की ओर देखता है क्योंकि वह केवल इसी करुणा का नहीं, विश्व-युद्धों और शक्ति-शिविरों में बंटी विश्व-व्यापी करुणा का अश्रु-लेख है।

असल में स्वतंत्रता के नशे में हम कुछ दिनों ऐसे डूब गये कि यह भूल गये कि स्वतंत्रता क्यों और कैसे मिली थी। और वह नशा भी कृत्रिम नशा था। क्योंकि स्वतंत्रता और विभाजन और नर-हत्याकांड—तीनों एक साथ ही आये थे। पर हम सदियों से स्वतंत्रता के लिए तड़प रहे थे, उसे पाकर थोड़ा नशा करना ज़रूरी था। हमारी इस अवस्था का बड़ा ही सटीक चित्रण प्रेमचंद ने 'गोदान' के एक छोटे-से प्रसंग में किया है जब गिरधारी महीनों की मेहनत की फसल महाजन को बेचकर कर्ज़ चुकाता है, पर एक इकन्नी चुराकर अपने तालू के नीचे रख लेता है। उसकी ताड़ी पीकर वह झूमता चलता है, और पूछे जाने पर कहता है, इकन्नी में नशा क्या आता, पर इतने दिन मेहनत की है तो जान-बूझकर झूम रहा हूं कि दूसरे यही समझें कि नशे में हूं। स्वतंत्रता-प्राप्ति पर हमारा विजयोल्लास ऐसा ही कृत्रिम नशा था, वरना स्वतंत्रता पाने में हमने अपने आदर्श और आदर्श के नायक—दोनों की हत्या कर दी थी।

पुरानी चाल का कवि इस पीड़ा को नहीं देखना चाहता, वह भारत के अतीत-स्वप्न से ऐसा मुग्ध है कि वह फिर उसी में लौट जाना चाहता है। इसीलिए वह जनगण को, जन के अभाव और अज्ञान को किसी खाते में जमा नहीं करता और विज्ञान से आंखें मिलाने से इंकार करता है। अपना स्थान वह जन के साथ नहीं, राजसत्ता के साथ मानता है। उसने कहा तो ज़रूर था कि 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है', पर जब उसे भी सिंहासन पर बिठा लिया गया तो वह चुप लगा गया।

पर नये कवि का और नयी कविता का संसार इससे भिन्न है। वह भारत

के अतीत की ओर नहीं लौटना चाहता—कौन है जो अतीत की ओर लौटा है!—हालांकि अपने इस प्रयास में अन्य भाषा के पुराणवादी लेखकों ने राजा ययाति की कथा याद की है—वह भारत को नये वैज्ञानिक और मुक्त विश्व का एक समर्थ सदस्य बनाने के लिए बेचैन है। वह नारेबाजी नहीं करता, क्योंकि नारा देना तो नेता का काम है, वह नेता नहीं है। वह उसी विशाल भारतीय जनगण का एक सामान्य सदस्य है जो इस नये विश्व को पाने के लिए बेचैन है, पर जो उन शक्तियों के पदाघात से छटपटा रहा है जो अतीत के स्वप्न से बंधी उसे इस पथ पर जाने से रोक रही है। क्या हम इसे स्वतंत्रता का प्रसाद कह सकते हैं कि हमारी भाषा भी हमारी नहीं है, और जो नौकरशाही साम्राज्यवाद का अस्त्र थी वह ज्यों-की-त्यों बनी है? और क्या इस नये विश्व से उस मनोवृत्ति का कोई मेल हो सकता है जो विज्ञान को विदेशी मानकर उसे दूर रखना चाहती है और जो राष्ट्रीयता की झूठी झोंक में विश्व के अन्य देशों से मुक्त आदान-प्रदान को विदेशी अनुकरण मानती है? इस विडंबना के लिए कौन उत्तरदायी है कि हम संस्कृति के क्षेत्र में तो आदान-प्रदान तक पर रोक लगाते हैं जबकि कोई भी संस्कृति कभी भी शेष विश्व से कटकर जीवित नहीं रह सकती—और स्वतंत्रता के बीसवें वर्ष में भी हम विदेशी भोजन और विदेशी भाषा पर आश्रित हैं जबकि अपना भोजन और अपनी भाषा स्वतंत्रता की बुनियादी शर्तें हैं।

यहीं मैं उस तत्व का जिक्र करना चाहता हूं जो नयी कविता में कुंठा, निराशा और मृत्यु-कामना के नाम से जाना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नयी कविता पुरानी चाल की कविता की भांति स्वप्न, संदेश या उद्बोधन का काव्य नहीं है। नया कवि नेता नहीं है, नायक नहीं है, वह साधारण जन है, अविशेष मानवता का एक अविशेष सदस्य। स्वातंत्र्योत्तर काल में इस नये संसार की ओर बढ़ते हुए उसे जो अनुभव हो रहे हैं, उनका वह बड़ी ईमानदारी से आलेख तैयार कर रहा है। यदि वह नेता होता या संदेशवाहक, तो कटु यथार्थ के दलदल में छटपटाते साधारण जनों को अतीत की कहानियों से बहलाता या भविष्य के सपनों से लुभाता, पर वह तो स्वयं उसी दलदल में वही त्रास भोग रहा है। नये संसार की ओर हाथ बढ़ाता वह विकलता से छटपटाता है। उसकी यही बेचैनी, यही छटपटाहट हमें कुंठा जान पड़ती है क्योंकि हमने यह धारणा बना रखी है कि कविता में केवल आदर्श-कथन ही होता है, और यदि कुंठा की बात कही गयी है तो ज़रूर कवि कुंठा का प्रचार कर रहा है। पर यह हमारी व्याख्या की ही त्रुटि है, क्योंकि जो रोगी दर्द से कराह रहा हो उस पर यह इल्ज़ाम कोई डॉक्टर नहीं लगाएगा कि वह रोग का प्रचार कर रहा है। और आधुनिक जीवन के ये रोग सबको समान रूप से ग्रस्त किये हुए हैं, सब छटपटाते हैं, और सब तड़पते हैं, क्योंकि सब इस कटु यथार्थ में घिरे हैं कि विज्ञान ने ऐसी शक्तियों का तो विकास कर लिया है कि समस्त विश्व एक ओर सुखी हो, पर मानव अपने इस अज्ञान पर अभी विजय नहीं पा सका है कि अतीत से मुक्त होकर भेदों और स्वार्थों से कैसे

पार पाए। और भेदों और स्वार्थों की इन खाइयों मे गिरता-पड़ता मनुष्य कभी थक भी जाता है, कभी हिम्मत भी हार जाता है, पर फिर चल पड़ता है। नयी कविता में यह विश्वव्यापी मानव-यात्रा अपने पूरे वैविध्य और वैचित्र्य के साथ अंकित है, और उसका स्वरूप भी निरंतर विश्वव्यापी बनता जा रहा है। यही कारण है कि उसमें संकीर्ण राष्ट्रीयता न होकर एक अविशेष अंतर्राष्ट्रीयता है, और थोथा उपदेश न होकर गहरी आत्म-पीड़ा है। वस्तुतः नयी कविता कुंठा की कविता न होकर दर्द की कविता है—वह दर्द जो व्यवस्था की यांत्रिकता से और मतवादों की स्वार्थपरता से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से नयी कविता का सीधा सरोकार मानव की नियति से है जिसकी अभिव्यक्ति नितांत निजी और प्रामाणिक अनुभूति के स्तर पर हो रही है। सिद्धांत और आदर्श मानव-नियति को सुंदर बनाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं, विज्ञान को मानव-विनाश के दुष्कांड में प्रयुक्त किया जा रहा है, सभ्यता और संस्कृति को स्वार्थों का साधन बनाया जा रहा है। नया कवि इस विभीषिका का दर्शक ही नहीं, भोक्ता भी है, और वह चीखने को मजबूर है।

[6]

यह है नये कवि का संसार। यह उसके मन में तो है ही, जीवन के हरेक क्षेत्र में भी उपलब्ध है और नये कवि को प्रतिपल प्रभावित और रूपायित करता है। और इस संसार में सांसें लेता और जीवन जीता अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी स्थिति में वह अपने अनुभवों को व्यक्त और वितरित करता है। उसका सृजन इसीलिए उसके यथार्थ जीवन से जुड़ा है, कहना होगा कि वह उसके जीने की शर्त है। इसीलिए मैंने कहा था कि वह निर्विकल्प क्रिया है। उसे इस संसार को मूर्त करने के लिए जूझना है ही, और जूझने के लिए उसे अपनी कविता भी चाहिए—वह कविता जो अतीत में उलझी न हो, वादों से ग्रस्त न हो, भविष्य के किन्हीं पूर्वकल्पित खांचों में मानव को फिट करने की कोशिश न करती हो। वरन् जो मानव-मुक्ति की हामी हो, समाज को अंध-राष्ट्रीयता से, व्यक्ति को सामाजिक शोषण से और मन को संकीर्ण स्वार्थों से मुक्ति दे सके। ऐसी कविता नयी कविता ही हो सकती है। क्योंकि उसमें परंपरा का आग्रह नहीं है, मतवादिता का आग्रह नहीं है, छंद का आग्रह नहीं है। वह कवि को मुक्त करती है कि वह अपनी सच्ची और खरी अनुभूति को अपने आत्मीय और विशिष्ट ढंग से व्यक्त करे और व्यक्ति में प्रकाशित विश्व-मानव की प्रतिमूर्ति को उजागर करे। इसीलिए नयी कविता का छंद पूर्ण मुक्त छंद है, वह पुरानी चाल की कविता के उस छंद पर आग्रह नहीं करती जिसमें भावों को मन की भट्ठी में पिघलाकर करछुल से रोला, छप्पय या हरिगीतिका के खांचों में ढाला जाता है। नयी कविता की प्रत्येक रचना का अपना एक निजी और विशिष्ट छंद है, जो उसमें व्यक्त अनुभूति की

अनिवार्यता से उसी के साथ जन्मा है जैसे जीवधारी की देह जनमती है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष को पारखी अलग-अलग करके जांचते रहें, कवि के मन में तो कविता रूप लेती है, एक साथ और समग्र। और इसीलिए नयी कविता कोई धारा नहीं है कि उसमें कवि का व्यक्तित्व महत्वहीन हो, न वह कोई वाद है जिसमें कोई एक विचार-सरणी प्रतिफलित होती हो। वह तो नये मानव के नये मन का व्यक्ति-रूप आत्मप्रकाश है जिसमें उतना ही वैविध्य है जितना मानव-व्यक्तियों में और उतनी ही एकता है जितनी मानव-समाज में। और यदि हम स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नयी कविता का एकत्र अध्ययन करें तो हमें यह आश्चर्यजनक अनुभव प्राप्त होगा कि नये संसार की ओर नये और विपन्न भारत की कठिन और चक्करदार यात्रा अपनी पूरी गहराई और विशेषता के साथ उसमें अंकित है। कविता और जीवन शायद ही कभी इतने आत्मीय संगी बने हों। तिस पर यह तो शुरुआत है। ज्यों-ज्यों यह यात्रा आगे बढ़ेगी त्यों-त्यों नयी कविता और भी पुष्ट और समर्थ होगी और जनगण की शिक्षा के साथ-साथ उसमें गहराई आती जायेगी। पर यह तो भविष्य-कथन है जिसका कोई विशेष अर्थ नहीं। इसलिए मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि जैसे रीतिकाल में भक्ति के महाकाव्य असंभव थे, जैसे छायावाद युग में रीतिकालीन कवित्त और सवैये असंभव थे, वैसे ही आधुनिक जनयुग में छायावादी काव्य असंभव है। आज की कविता नयी कविता है और अगर वह अभी कम समर्थ है तो उसे समर्थ बनाना हमारा काम है।

[रचनाकाल 1967, 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता : उपलब्धि और सीमाएं' शीर्षक से दिल्ली विश्वविद्यालय की एक गोष्ठी में पढ़ा गया लेख, 'धर्मयुग' फरवरी 1967 में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

समकालीन कविता में आज़ादी की तस्वीर

प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' में पृष्ठ 195 पर एक छोटा-सा प्रसंग है जो इस प्रकार है :

सामने से गिरधर ताड़ी पिये, झूमता चला आ रहा था। दोनों को देखकर बोला—'झिंगुरिया ने सारे-का-सारा ले लिया होरी काका! चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का! रोया, गिड़गिड़ाया; पर इस पापी को दया न आयी।'

शोभा ने कहा—'ताड़ी तो पिये हुए हो, उस पर कहते हो, एक पैसा भी न छोड़ा!'

गिरधर ने पेट दिखाकर कहा—'सांझ हो गयी, जो पानी की बूंद भी कंठ तले गयो हो, तो गो-मांस बराबर। एक इकन्नी मुंह में दबायी थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा, सालभर पसीना गारा है, तो एक दिन तो ताड़ी पी लूं; मगर सच कहता हूं नसा नहीं है। एक आने में क्या नसा होगा? हां, झूम रहा हूं; जिससे लोग समझें खूब पिये हुए है। बड़ा अच्छा हुआ काका, बेबाकी हो गयी। बीस लिए, एक सौ साठ भरे, कुछ हद है।'

जब-जब मैं इस प्रसंग को पढ़ता हूं, तब-तब मुझे हिंदुस्तान की आज़ादी का दिन याद आ जाता है। भारत की भी ऐसी ही बेबाकी हुई थी। बरसों के आदर्शपूर्ण जन-आंदोलन की परिणति एक ऐसे ढुलमुल समझौते में हुई जिसने हमें नाम की मुक्ति देकर हमारे सारे सिद्धांतों पर पानी फेर दिया। ठीक उसी घड़ी में जिसमें हमने आजादी पायी, अपनी एकता गंवा दी; ठीक उस घड़ी में जिसमें हमारी जनता को सदियों के खोये हुए अधिकार मिले, हमारी जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने घरों से उखड़कर बेसुध और बेहाल शरण खोजता दयनीय दशा में इधर से उधर मारा-मारा फिर रहा था। जिस व्यवस्था को आमूल-चूल बदलने का हमने सपना देखा था, हमें उसी व्यवस्था को तिनके के सहारे की तरह ग्रहण करना पड़ा और अपने सपने को स्थगित करना पड़ा। मुंह पर मुस्कराहट, पर प्राणों में क्रंदन का छायावादी दृश्य उस दिन हमारा यथार्थ बन गया था।

तत्कालीन कविता में इसलिए उल्लास और हर्ष का जो धूम-धड़ाका मिलता

है, जिसमें छोटे-से-छोटे कवि से लेकर दिनकर, बच्चन, पंत और मैथिलीशरण तक अपने स्वर गुंजा रहे थे, वह गिरधर के बनावटी नशे-सा ही जान पड़ता है। हमने एक युग तक तपस्या की थी, तो फिर बेबाकी चाहे जैसी खोखली या निकम्मी हो, हम कुछ देर तो खुशी मना ही लें, उस कविता के पीछे यही सदाशयता दृष्टिगोचर होती है। फर्क है तो यही, कि गिरधर को इस बात की चेतना बची है कि यह नशा बनावटी है, पर तत्कालीन कविता में यह चेतना प्रायः नहीं मिलती। दद्दा का अभिनंदन 'यह पुण्य पताका फहरे', सियारामशरण का नाद 'जय जय हिंद हमारे हिंद', पंत का आवाहन 'आओ, तिरंग ध्वज फहराओ' आदि ने एक ऐसे धूम-धड़ाके की सृष्टि की जिसके तुमुल कोलाहल में हृदय की बात ही लुप्त हो गयी। यही नहीं, हमने मान लिया कि यह धूम-धड़ाका ही हृदय की बात है। जिस प्रकार विदेशियों से समझौता करनेवाले राष्ट्रीय नेतृवर्ग ने यह भ्रम पैदा किया कि हमें अपनी कामना का देश मिल गया है, उसी तरह हिंदी के कवि-संप्रदाय ने भी तदनुकूल स्वर गुंजाये। गनीमत यही है कि नेहरू में इतना आत्मान्वेषण बाकी था कि कह सके : 'सिरदर्द से छुटकारा पाने के लिए हमने सिर ही कटवा लिया है'। कविता के क्षेत्र में आत्मान्वेषण की यह झलक सिर्फ गिरिजाकुमार माथुर में प्रकट हुई जो 'सत्ता के हस्तांतरण' को 'जीत की रात' की संज्ञा देते हुए भी यह कह सके :

'शत्रु हट गया लेकिन उसकी छायाओं का डर है'

माथुर के इस गीत में सही दृष्टि थी, निस्संदेह, पर वह दृष्टि भी गहरी नहीं थी। यह प्रयोगवादी-यथार्थवादी कवि की रचना न होकर एक छायावादी-आदर्शवादी कवि का गीत था तो अनजाने में ही एक कमी तो महसूस कर रहा था, पर उस कमी को पहचान नहीं पा रहा था। आखिर कोई तो वजह होगी कि इतने सारे सिद्ध-समर्थ कवियों के सक्रिय और जीवंत रहते भी हमें तत्कालीन कविता में उस रक्तरंजित पीड़ा का एक भी छींटा नहीं मिलता जिसने देश के जनगण को तबाह कर दिया था और हमारी आज़ादी की भोर को निस्पंद बना दिया था। विभाजन की यह विभीषिका साधारणजन की समझ में धीरे-धीरे ही आयी, पर क्या कारण है कि 'जहां न जाये रवि' वाला कवि भी उसे नहीं समझ सका। क्या वह विभीषिका राष्ट्रीय न होकर स्थानीय ही थी कि पंजाबी की कवयित्री न वारिसशाह से जो सवाल किया वह पूरे हिंदी-क्षेत्र में किसी ने नहीं किया। उस समय तो हिंदी में सिर्फ एक ही कवि ऐसा था जिसे इस विभीषिका की खबर थी। 'शरणार्थी' नामक अख्यात और अलभ्य संकलन में आज भी अज्ञेय की वे कवितायें देखी जा सकती हैं जो इस स्थिति का सटीक चित्रण करती हैं। पर क्या यह इसलिए कि एक प्रकार से अज्ञेय भी पंजाबी हैं? नहीं, उनकी कविता यह नहीं कहती। वह भारतीय बौद्धिक की कविता

है जिसमें स्थानीय रंगत का कोई नामोनिशान नहीं है!

हम एक लम्बा साँप हैं
जो बढ़ रहा है ऐंठता-खुलता-सरकता-रेंगता।
मैं न सिर हूँ (आँख तो हूँ ही नहीं)
दुम भी नहीं हूँ
औ' न मैं हूँ दाँत जहरीले।
मैं—कहीं उस साँप की गुंजलक में उलझा
हुआ-सा
एक बेकस जीव हूँ।
बगल से गुज़रे चले तुम जा रहे जो
सिर झुकाये, पीठ पर गट्ठर सँभाले
गोद में बच्ची लिये
उस हाथ से देते सहारा किसी बूढ़े या कि
रोगी को—
पलक पर लादे हुए बोझा जुगों की हार का—
तुम्हें भी कैसे कहूँ तुम सृष्टि के सिरताज हो?
तुम भी जीव हो बेकस,
एक अदना अंग मेरे पास से होकर सरकती
एक जीती कुलबुलाती लीक का
जो असल में समानान्तर दूसरा
एक लम्बा साँप है।

ये सांप महज शरणार्थियों के वे दो काफिले ही नहीं जो भिन्न दिशाओं में समानांतर चल रहे थे। कवि उन्हें वैर-भाव का प्रतीक मानकर आगे कहता है :

रुकूँ मैं भी!
क्यों तुम्हें तुम कहूँ? अपने को अलग मानूँ?
साँप दो हैं
हम नही ।
और फिर
मनुजता के पतन की इस अवस्था मे भी
साँप दोनों हैं
पतित दोनों
तभी दोनों एक !

और एक अन्य समांतर कविता में कवि निष्कर्ष देता है :

वैर की परनालियों से हँस-हँस के
हमने सींची जो राजनीति की रेती
उसमें आज बह रही खूँ की नदिया हैं।
कल ही जिसमें 'खाक-मिट्टी' कह के हमने थूका था
घृणा की आज उसमें पक गयी खेती
फसल काटने को अगली सदियाँ हैं।

सचमुच अज्ञेय को इस बात की दाद मिलनी चाहिए कि हर्षोल्लास के धूम-धड़ाके ने उन्हें भरमाया नहीं और जो दृष्टि हिंदी लेखक ने बाद में 'झूठा सच', 'आधा गाँव' या 'तमस' में प्रकट की वह उन्होंने तत्काल प्राप्त कर ली थी। आज़ाद भारत घृणा की वह फसल अब भी काट रहा है और न जाने कब तक काटता रहेगा।

और जैसे सपनों की मुल्तबी और देश का विभाजन कोई कम बात रही हो कि छः महीने बाद ही हमने एकता के एकमात्र साधक बापू को भी परलोक पहुंचा दिया। उस अकल्पनीय असंभाव्य दुर्घटना से सब कैसे सन्न रह गये थे यह मुझे आज भी याद है। हालांकि वह स्तब्धता हमारे राष्ट्रीय भोलेपन का ही सबूत है क्योंकि बापू की हत्या उस शर्मनाक समझौते की ही तर्कपूर्ण परिणति थी जो हमने आंख खोल कर किया था। राष्ट्रीय नेतृवर्ग ने आंसुओं की नदियां ही नहीं बहाईं, जो तथाकथित आज़ादी हमें दशाब्दियों के आंदोलन, क्रांतिकारियों की शहादत, नाविकों एवं सैनिकों के विद्रोह और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन के कारण मिली थी, उस सबका श्रेय दिवंगत गांधी के सिर पर लादकर मानो अपने दायित्व से छुट्टी पा ली। गांधी के अवसान पर हिंदी में कविताओं की बाढ़ भी कम नहीं आयी. पर उस समस्त काव्य में भी नेतृवर्ग का-सा ही भोलापन मिलता है। सब गांधी के जाने पर फूट-फूट कर रोये हैं, पर उनके जाने के कारण की ओर कोई भूलकर भी इशारा नहीं करता। अधिकतर कविताओं में तो हत्या का उल्लेख ही गायब है, भांति-भांति के खुशनुमा और हवाई रूपकों से गांधी के स्वर्गवास को चित्रित कर दिया गया है। और जिन कुछ कविताओं में हत्या का जिक्र है भी, उनमें वह बड़ा लचर बनाकर पेश किया गया है। जैसे बच्चन की इस कविता में :

युग के सबसे बड़े पुरुष को सबसे छोटे ने मारा
सबसे खोटे ने मारा
दिल्ली ही क्या, भारत ही क्या सारी दुनिया में कोहराम
रघुपति राघव राजाराम

यह छंद बच्चन की 'सूत की माला' में से लिया गया है जिसमें गांधी की मृत्यु पर लिखी कविताएं हैं। पर एक भी कविता में बच्चन यह प्रमाणित नहीं

करते कि वे इस विभीषिका का सही चरित्र पहचानते हैं। बल्कि जब वे कहते हैं कि :

साथ हुआ गांधी
गायत्री
गीता
गौ
गंगा के।

तो लगता है कि वे गांधी के सारे जीवन-चरित्र की हंसी उड़ा रहे हों। छोटी-बड़ी कविताओं की इस अटूट बाढ़ में दिनकर कुछ ठीक स्वर उठाते लगते हैं जब वे कहते हैं :

वसुधा को सागर से निकाल बाहर लाये
किरणों का बन्धन काट उन्हें उन्मुक्त किया;
आँसुओं, पसीनों से न आग जब बुझ पाई
बापू! तुमने आखिर को अपना रक्त दिया।

पर यह भी रूपकों के घटाटोप में असलियत को ढंकने का ही प्रयास लगता है और मन के दुःख को कुछ रंगीन बनाता है। इससे कहीं गहरा और कहीं सच्चा मैथिलीशरण गुप्त का यह दोहा है जो अपनी भाषा में बेहद सपाट है :

अरे राम! कैसे हम झेलें अपनी लज्जा उसका शोक
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्रपिता परलोक!

इस दोहे में पितृघात की जो अपराध-भावना है वह क्षीण होते हुए भी सच्ची है। कवि यहां अपने-आपको अलग-थलग या दोषमुक्त न मानकर भारत के जनसाधारण की नासमझी का भागीदार बना रहा है। पर यह भाव पूरे गांधी-काव्य में नहीं के ही बराबर है। आगे चलकर तिर्यक् रूप से 'अंधा युग' में और स्पष्ट रूप से 'हत्या एक आकार की' में भी यह भाव दिखायी पड़ा, पर कविता के क्षेत्र में अभी तक इसे कोई प्रबल अभिव्यक्ति नहीं मिली है।

फिर तत्काल की तो बात ही क्या, क्योंकि इकन्नी का नशा अभी चढ़ा हुआ था। यथार्थ की अनदेखी कर कवि नेतृवर्ग के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहा था :

तुम आये, जैसे आते सावन के मेघ गगन में
तुम आये, जैसे आता हो संन्यासी मधुवन में।
तुम आये, जैसे आवे जल-ऊपर फूल कमल का,

तुम आये, भू पर आवे ज्यों सौरभ नभ-मण्डल का
निज से विरत, सकल मानवता के हित में अनुरत-से
भारत! राजभवन में आओ, सचमुच, आज भरत-से
हवन-पूत कर में सुदण्ड नव, जटाजूट पर ताज
जगत् देखने को आयेगा संन्यासी का राज

—दिनकर 'मूर्तितिलक'

भाइयों के खून से सने हाथों को 'हवन-पूत' कहना या राज के लोभ में सिद्धांतों को धता बतानेवाले को 'संन्यासी' कहना छायावादी रीति से भी नहीं स्वीकारा जा सकता। इसी तरह :

एशिया के कमल पर तुम भारती-सी
पूर्व के जन-जागरण की आरती-सी
इस सदी के साथ केसर चरण धर कर
आ गयीं तुम भूमि-स्वर्ग सँवारती-सी
अमृत नदियों का जहाँ है सोम-संगम
यह कपूरी लौ उठी उनकी मनोरम
लौट आयी देश की ज्यों गन्ध-गरिमा
चन्द्रतन, नक्षत्र मन, ले ज्ञान-संयम!

—गिरिजाकुमार माथुर 'नयी भारती'

इस कविता की शब्द-योजना, इसका काल्पनिक परिवेश और रंगीन अंदाज सब उस अयथार्थ के ही अनुरूप है जिस पर यह खड़ी है। वस्तुतः आज़ादी मिलते ही हमारे नेतृवर्ग ने ही नहीं, हमारे बुद्धिजीवी वर्ग ने भी एक दुमुंहा व्यक्तित्व अपनाया था जो उस समझौते का ही प्रमाण है जो उसने सत्ता के लोभ-लालच में किया था। और यही कारण है कि जो कवि नेतृवर्ग के जितने नज़दीक था वह उतना ही उस इकन्नी के नशे में डूबकर हमारी नज़रों को यथार्थ से हटाकर स्वप्नलोक की ओर ले जाने में जुट गया। जिस प्रकार छायावादकाल में निराला का विद्रोह महादेवी के अश्रु-विगलित छंदों में परिणत हो गया था, उसी प्रकार प्रगति-प्रयोगवाद का विद्रोह इस काल की स्वप्नवादिता में समाहित हो गया। जिस प्रकार बालिग मताधिकार और पंचवर्षीय योजनाओं की लंबी-चौड़ी बातों में नेतृ-वर्ग जनता की भुखमरी, अशिक्षा और लाचारी को भुलाने की कोशिश करता था, उसी तरह हिंदी का कवि भी कभी तो हांक लगाता था :

सदियों की ठण्डी-बुझी राख सुगबुगा उठी
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है;

दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

और कभी चाटुकारिता के स्तर तक उतरकर कहता था :

सब देख रहे हैं राह, सुधा
कब धार बांधकर छूटेगी
नरवीर! तुम्हारी मुट्ठी से
किस रोज रोशनी फूटेगी?
है खड़ा तुम्हारा देश, जहाँ भी
चाहो, वहीं इशारों पर।
जनता के ज्योतिर्नयन! बढ़ाओ
कदम चाँद पर, तारों पर!

इसी लच्छेदार लहजे में वह नेतृ-वर्ग के स्वर में स्वर मिलाकर पंचवर्षीय योजनाओं के सब्जबाग दिखाता था :

भग्न मंदिर बन रहा है ज्योति का जल दो
रश्मियाँ अपनी निचोड़ो, किरण उज्ज्वल दो!

प्रगतिशील कहलानेवाली कविता में इस हवाई किलेबंदी ने कुछ दूसरा रूप लिया। वहां अपने देश और अपने यथार्थ को एकदम भुलाकर औरों की देखा-देखी कवियों ने अचानक युद्ध-विरोध और शांति-समर्थन को कविता का विषय बनाया। कवि जैसे अपनी जमीन की जड़ों से बिलकुल दूर किसी अंतर्राष्ट्रीय लोक का निवासी हो। जैसे :

वह नहीं इंसान की है सभ्यता
स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता
मूलधन हिंसा, गुलामी सूद है
आदमी बन्दूक की बारूद है;

जब जगत को चाहिए फुलवारियाँ
हो रहीं तब युद्ध की तैयारियाँ
फिर धरा-सीता सताई जा रही
फिर असुर संस्कृति जमाई जा रही।

मिट रही रंगीन जीवन की छटा
छा रही हिंसक मशीनी घन घटा

आज जीवन को चुनौती मौत की
नीति कैदी है कुटिल कलधौत की।

नारेबाजी तक तो ठीक, पर इसमें कविता कितनी है। और अपना देश-काल? उसकी तो बात ही व्यर्थ है क्योंकि ऐसी कृत्रिम अभिव्यक्ति में उसकी संभावना ही क्या!

इसीलिए बड़ा विस्मयकारी आनंद मिलता है यह देखकर कि कुछ कवि इस समय भी अपने देश-काल पर नज़र लगाये हुए थे। इलाहाबाद की बाढ़ पर शमशेर ने एक लंबी कविता लिखी—डायरी शैली में। एक अंश देखिए—

मुझको चना नहीं चाहिए, महादेवी जी,
हालाँकि उसी पर मेरा गुज़ारा भी है,
बल्कि वह एक पल, जिसमें कि मैं भाई से मिल सकूँ
और हवाई जहाज़ में उड़नेवालों से मैं पूछता हूँ
कि मुझे साइकिल का किराया ही वहाँ तक का मिल जाये
क्योंकि इस तरह तो मुझे जेलखाना है यह जिन्दगी
(यानी अब तो महसूस ही होने लगी है...)
मैं सरकार की दुहाई नहीं देता,
जनता का अपने हृदय में ध्यान धरता हूँ
जनार्दन का तरह,
कि वही इन्क़लाब का वरदान देनेवाली है।
—वही चने की बोरियों पर बैठेगी...
संस्कृति और कल्चर के गेहूँ के एक-एक दाने पर...
—पका कर...आटा करके...
और जो हमारी जिन्दगी में हज़्म भी होगा
ईमानदारी की कमाई की तरह—'शाश्वत कला'
गहरे भाव की तरह, देवताओं के सुषुप्त मन में।

इन दोनों कविताओं में सिर्फ विषयगत भेद नहीं है, वरन् कहने के ढंग में भी जमीन-आसमान का अंतर है। शमशेर की अभिव्यक्ति ठोस यथार्थ पर टिकी है इसलिए उसकी भाषा भी सच्ची भाषा है, रंगीन शब्द-जाल नहीं। इसी तरह नागार्जुन की कविता है :

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास

कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।

दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की संज्ञा से अभिहित उन रचनाओं के झूठे धूम-धड़ाके से इस कविता का सीधा-सच्चा ढंग मन को कितना प्रभावित करता है। वस्तुतः शमशेर और नागार्जुन उन कवियों में से हैं जिन्होंने इकन्नीवाली ताड़ी पी ही नहीं। उन्हीं में हैं भवानीप्रसाद मिश्र। प्रमाण देखिए :

हाय रे भाग,
जगत को बने
हुए दिन घने
बहुत बदली रातें
मगर अपनी बातें
घनी की घनी
अभी तक बनीं!
पचासों बार लगा
कि अबके भाग जगा
नहीं बदला था तबके
बदल जायेगा अबके!

मगर यह
अब और तब का फर्क,
हमारे लिए नहीं;
जहाँ थे पहले हम,
आज भी वहीं।

और कवि हो या नेता, उसका वर्गीय चरित्र कितना ही निर्मम क्यों न हो, उसके भीतर भी इंसान का दिल धड़कता है, और बीच-बीच में वह लगभग विवश होकर या चुहलखानी में सच बोल पड़ता है। जनता के लिए सिंहासन खाली करने की हांक लगानेवाला कवि जब नये राज की राजधानी के रेशमी

नगर में रहने लगा तो उसे बीच-बीच में अपने और जनता के बीच की दूरी सालने लगी। वह कह उठा :

चल रहे ग्राम-कुंजों में पछिया के झकोर
दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।
है विकल देश सारा अभाव के तापों से;
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।

क्या कुटिल व्यंग्य! दीनता वेदना से अधीर
आशा से जिनका नाम रात-दिन जपती है;
दिल्ली के वे देवता रोज़ कहते जाते
'कुछ और धरो धीरज, किस्मत अब छपती है।'

किस्मतें रोज़ छप रहीं, मगर जलधार कहाँ?
प्यासी हरियाली सूख रही है खेतों में;
निर्धन का धन पी रहे लोभ के प्रेत छिपे
पानी विलीन होता जाता है रेतों में।

हालांकि अभी आंखों की खुमारी के कारण कवि 'जलधार' और 'लोभ के प्रेत' जैसी गोल-मटोल शब्दावली से मुक्त नहीं हो पाया है, फिर भी वह यथार्थ की ओर मुड़ा ज़रूर है।

इसी प्रसंग में बच्चन की उस लंबी कविता का भी उल्लेख होना चाहिए जिसमें वे बताते हैं कि किस तरह एक बार गणतंत्र दिवस के उत्सव पर अचानक :

कार ले ली और मथुरा रोड पकड़ी;
बीस मील निकल गया तो
दाहिने को गाँव दीखा;
रुका, पैदल गाँव के अन्दर धँसा मैं।
और फिर
कहा मैंने, साथ मोटर, चलो दिल्ली,
और अपनी आँख से देखो
कि इस गणतंत्र दिन की
क्या महत्ता
क्या खुशी, क्या शान-शौकत!

और उन भोले ग्रामवासियों की प्रतिक्रिया पर कवि कहता है :

आज चार हज़ार
साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर
दिवस बीते रेंगते
संदेश, पर, गणतन्त्र दिन का
बीस मील नहीं गया है।

पर यह कवि का सहज आचरण नहीं है क्योंकि उन्हीं के शब्दों में वे अचानक ऐसा कर बैठे थे क्योंकि :

सूझती मुझको शरारत भी कभी है।

[रचनाकाल 1971, 'आलोचना' जुलाई-सितंबर 1972
में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

समकालीन काव्य-रचना में काव्यानुशासन (अथवा उसके अभाव की जांच-पड़ताल)

मैं समकालीन काव्य-रचना में काव्यानुशासन की शुरुआत करना चाहता हूं पंक्ति-निर्माण और पंक्ति-बंधन की जांच से। पुरानी चाल की कविता में उसके चरण की शब्द-संख्या या गण-संख्या पंक्ति का निर्धारण कर देती थी—चौपाई, रोला या हरिगीतिका के चरण निर्धारित रूप से हमारे सामने आते थे। पर आज की मुक्त-छंद की कविता (बल्कि वह तो छंद-मुक्त गद्य की कविता हो गयी है) अपने चरण का विस्तार किस आंतरिक नियम से निर्धारित करती है, यह मैं जानना चाहता हूं। क्या आज की कविता की पंक्तियां अनिवार्यता से जुड़ी हुई हैं, या निपट मनमानेपन से? जिस कविता को बीस पंक्तियों मे छपाया जाता है, अगर पृष्ठ के साइज़ के हिसाब से दस या आठ या ढाई पंक्तियों में ही छाप दिया जाय तो क्या कोई फर्क पड़ेगा? अर्थ-प्राप्ति में कोई कठिनाई? या प्रभाव की किसी विशेषता का लोप?

एक उदाहरण लें। माखनलाल चतुर्वेदी की अत्यंत प्रसिद्ध कविता है—'एक पुष्प की अभिलाषा'। उसमें आठ पंक्तियां हैं—पहली चार पंक्तियां एक ही छंद में हैं—28 मात्राओं का मात्रिक छंद जो शायद 'सार' नामक छन्द है, बाकी दो पंक्तियां 'वीर' छंद में हैं, उसी छंद में जो आल्हा के कारण जगविख्यात है। 'सार' की परिभाषा में 16 मात्रा के बाद यति आवश्यक होती है, इसलिए शुरू की चार लाइनों को आठ लाइन बनाकर भी छापा जा सकता है। इसी तरह 'वीर' में भी 16 मात्राओं पर यति होती है, और अंत की दो लाइनों को चार बनाकर भी छापा जा सकता है। 'कवि भारती' में इसीलिए यह कविता छह की बजाय 12 पंक्तियों में छापी गयी है—वैसे मैंने इसके अन्य रूप भी देखें हैं—कहीं छह पंक्तियां, कहीं आठ। पर इतने विकल्प के होते हुए भी इसमें कहीं मनमानापन नहीं है। और कविता का प्रकाशन शब्द की लय यानी पारंपरिक छंद का अनुसरण करता रहा है।

अब अगर आज के ढंग पर इस कविता को अर्थ की लय के अनुसार

प्रकाशित किया जाये तो इसका एक रूप यह भी हो सकता है :

'चाह नहीं :
मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं :
प्रेमी-माला में बिंध
प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं :
सम्राटों के शव पर
हे हरि!
डाला जाऊँ,
चाह नहीं :
देवों के शिर पर चढ़ूँ,
भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना
वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर
शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक!'

यद्यपि मेरे लिए यह काम प्रायः असंभव है, पर इस रूप में पढ़ने पर इस कविता का सारा तत्व गायब होता जान पड़ता है। पारंपरिक छंद और तुक-गुण से विरहित कर देते ही वह एक अत्यंत गाद्यिक (प्रोजेक) और सपाट वक्तव्य बन जाता है। बल्कि अपने पारंपरिक छंद से बिछुड़ कर यह कविता कुछ 'ऑड' यानी फूहड़-सी लगने लगती है, खास तौर से 'चाह नहीं' टुकड़े से पंक्तियों की शुरुआत कुछ अभिव्यक्ति-अक्षम या नाकाफी लगती है। इसी रूप में यदि इसे कविता बनाना हो, तो मैं इसमें कुछ इस तरह हेर-फेर करना चाहूंगा :

मैं नहीं चाहता
कि मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
मैं नहीं चाहता
कि प्रेमी-माला में बिंध कर
प्यारी को ललचाऊँ,
मैं नहीं चाहता
कि सम्राटों के शव पर डाला जाऊँ,

मैं नहीं चाहता
कि मैं देवों के सिर पर चढ़ूँ,
और अपने भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तो
ओ वनमाली!
तुम तोड़ कर उस पथ में फेंक देना
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ पर वीरों की टोली जा रही हो।

मेरे विचार से इस हेर-फेर से इसका कुछ कवित्व लौट आता है। साथ ही तुम देखोगे कि छंद के बंधन से छूटते ही कविता में 'हे हरि' संबोधन कितना ठूंस-ठांस और व्यर्थ का प्रतीत होने लगता है—मैंने अपने रूपांतर में बाध्य होकर उसे छोड़ ही दिया है। इसी तरह 'शव पर डाला जाना' क्रिया पर बड़ा अटपटा लगने लगता है। सच तो यह है कि अपने छंदोबद्ध रूप में भी यह कोई महान् कविता नहीं है। उसकी प्रसिद्धि काव्येतर कारणों से ही है।

लेकिन इस एक्सरसाइज (मश्क आ मशक्कत?) से हम यह तो पा ही जाते हैं कि यह कविता अपने छंद से अनिवार्यतः जुड़ी हुई है और उसका बहुत कुछ प्रभाव उसके शब्दों की लय, तुकों की आवृत्ति और अंत में गुरु-लघु से परिसमाप्ति पर निर्भर है।

क्या आज की रचना में भी ऐसी अनिवार्यता मिलती है? श्रीकांत वर्मा की एक छोटी-सी कविता है :

नगरनिवासी
रोज शाम
सड़कों पर
फटे
हुए उड़ते
सुबह के
अखबार!

छह पंक्तियों में छपी यह कविता क्या अनिवार्यतः छह पंक्तियों की है। रोज शाम/के बाद पंक्ति तोड़ना तो ठीक है क्योंकि कवि शाम पर जोर देना चाहता है। पर फटे/ और हुए/ (जो एक ही क्रिया पद के दो खण्ड हैं) उन्हें अलग-अलग पंक्ति में रखना क्यों जरूरी है? बल्कि उससे तो मतलब ही खत्म हो सकता है। इसी तरह सुबह के/और अखबार/ को अलग छापने की तर्क-पद्धति (लॉजिक) समझ में नहीं आती। संबंध कारक के कारण उन्हें एक साथ छापना ज्यादा सही लगता है। यानी मेरी दृष्टि से यह कविता इस तरह छापनी चाहिए :

रोज शाम
सड़कों पर
फटे हुए उड़ते
सुबह के अखबार!

क्या इस प्रकार छाप देने से इसका कोई *अर्थ* या प्रभाव कम हो जाता है? नहीं, एक पंक्ति में छापने से उसकी यति और बलाघात गायब हो जाते हैं।

इस उदाहरण से एक बात साफ हो जाती है कि आज की कविता पंक्तियों के निर्धारण में बड़े मनमानेपन से काम लेती है। पुरानी चाल की कविता छंद-बद्ध होने के कारण सहज ही पंक्तियों में ढल जाती थी—पर आज की कविता में वह बात नहीं है। इसलिए आज के कवि को अपनी कविता को पंक्तियों में बांटने के पहले काफी सतर्क रहना होगा। पर दुख की बात है कि इसकी ओर कवि कोई ध्यान देते नहीं दिखायी देता। फल यह होता है कि मुक्ति की परिणति अराजकता में हो जाती है।

कविता लय-बद्ध शब्दों के मेल से बनती है। यह एक मोटी बात है इसलिए इसमें विवाद की गुंजाइश नहीं के बराबर है। छंद-बद्ध कविता की लय शब्द-प्रधान होने के कारण एक रूढ़ि को जन्म देती है जिसमें एक ओर अगर बाहरी बंधन लग जाता है तो दूसरी ओर एक सुविधा भी होती है। कविता मूलतः पढ़ने या लिखने की चीज नहीं है, सुनने-सुनाने की चीज है। जब लिखने-पढ़ने का चलन नहीं हुआ था तब भी कविता रची और सुनी-सुनायी जाती थी। उस काल में पारंपरिक छंद उसके बड़े काम के थे। एक बार में जितने शब्द गाये जाते, या उच्चारित किये जाते थे वे एक पंक्ति में माने जाते थे। वैसे, एक पंक्ति में भी कभी-कभी यति या अल्पविराम के स्थल होते थे, जिन्हें सामान्य विराम-संकेतों से प्रदर्शित कर दिया जाता है। पर मोटे तौर पर पूरी पंक्ति एक साथ बोली जाती थी और वही उसका चरण है। लेकिन आज की कविता में वैसा कोई छंद नहीं होता पर फिर भी उसमें लय होती है। जिसे नयी कविता के आचार्य 'अर्थ की लय' का नाम देते हैं, पर मैं जिसे भाव की लय कहना पसंद करता हूं। आखिर आज भी जब कवि अपनी छंद-मुक्त कविता सुनाता है तो सारे शब्द एक बार ही नहीं उगल देता, वह अनेक स्थलों पर रुकता है, अनेक शब्दों पर बल देता है, और बीच-बीच में मौन का भी सहारा लेता है। हम जानते हैं कि खुद श्रीकांत वर्मा कविता सुनाते समय अपना एक खास अंदाज बरतते हैं जिसमें यतियों और विरामों का बड़ा महत्त्व है। पर अपनी कविता छपाते समय उन्होंने उन यति-विराम स्थलों का ध्यान नहीं रखा, अन्यथा 'फटे' और 'हुए' के बीच में वे पंक्ति-परिवर्तन न करते। वस्तुतः जितने शब्द कवि एक बार में सुनाता है वे सब एक पंक्ति में रखे जाने चाहिए। हां, उनके बीच में भी यदि अल्प-विराम हो तो सामान्य विराम-चिह्नों का

प्रयोग किया जाना चाहिए। लिपि या लिखावट तो असल में मूल ध्वनियों की ही तस्वीर होती है और इसलिए कविता लिखने या छापने में उन्हीं ध्वनियों का सहारा लेना चाहिए। आज के पाठक को आज की कविता से कभी-कभी जो निराशा होती है, उसका एक कारण यह अराजकता भी है जिसके फलस्वरूप वह मनमाने ढंग से टूटी-फूटी पंक्तियों में बांट दी जाती है। अनभ्यस्त पाठक उसमें निहित लय को आत्मसात् करने में असमर्थ होता है।

[श्री अशोक वाजपेयी को लिखे एक पत्र का मुख्य अंश, 'पूर्वग्रह' मार्च-अप्रैल 1975 में प्रकाशित।]

हिंदी कविता का आधुनिक परिदृश्य

हिंदी काव्य का आधुनिक परिदृश्य मुझे सन् तीस के दशक की याद दिलाता है जब मैंने अपना काव्य-जीवन प्रारंभ किया था। एक बार फिर परिवर्तन की वैसी ही आकांक्षा, नये मूल्यों की तलाश और वामपंथी झुकाव दिखायी पड़ रहे हैं। तो क्या यह नयी शुरुआत है? संभवतः इसका उत्तर 'हां' में होगा, आजकल 'एक और शुरुआत' जैसे वाक्यांश काफी प्रचलित हैं, उससे और बहुत-सी कृतियों के शीर्षकों जैसे 'एक और अहल्या', 'एक सप्तक और', 'एक और बेताल' आदि से भी यही बात स्पष्ट होती है। मुझे लगता है कि यह आज के लेखक के दुहरे दायित्व—अतीत का अस्वीकार और नये रास्ते की खोज का प्रतीक है।

मैं कालेज में था जब हिंदी का साहित्यिक परिदृश्य अचानक परिवर्तित होने लगा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन नया और महत्त्वपूर्ण रूप लेने लगा था, मार्क्सवादी विचारधारा द्वारा वास्तविकता मे संघर्ष करने और भविष्य का निर्माण करने की नयी संभावनाएं सामने आ रही थीं। उस समय की नयी पीढ़ी के लिए यह विचारधारा बड़ी आकर्षक थी और कुछ ही वर्षों में प्रगतिशील आंदोलन हिंदी साहित्य की प्रधान शक्ति बन गया था। उन दिनों कोई भी लेखक उस आंदोलन के साथ अपने संबंध को परिभाषित किये बिना अपने लेखकीय अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता था। इसी से प्रगतिशील आंदोलन का जन्म-वर्ष 1936—हिंदी साहित्य विशेषकर काव्य में एक नये युग की शुरुआत थी— यहां तक कि छायावाद में भी इस नये युग की राजनीतिक चेतना और सामाजिक प्रगति और प्रवृत्ति को स्थान मिल गया था। छायावाद के प्रकाशस्तंभ निराला और पंत तथा प्रेमचंद और टैगोर के इस आंदोलन की प्रशंसा करने और इसको स्वीकारने से स्पष्ट है कि उसको साहित्यिक जीवन में कितना महत्व और शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। 1940 में प्रकाशित पंत की 'ग्राम्या' एक संस्कारशील और संवेदनमय कवि द्वारा ग्रामीण जीवन का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से स्फूर्तिमय चित्रण था, इसी प्रकार 1942 में प्रकाशित निराला का लघु कविता-संग्रह 'कुकुरमुत्ता' अभिव्यक्ति की अभिजातीयता और विशिष्ट वर्ग के गुणगान की लीक से पूर्णतया अलग हटा हुआ दिखायी पड़ा।

परंतु इस समय जैसे राष्ट्रीय आंदोलन को अपनी खामियों का अंदाज

नहीं था, वैसे ही प्रगतिशील आंदोलन को भी नहीं था। मैं साहित्यिक विकास को सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल द्वारा निरूपित करने की भूल नहीं करना चाहता परंतु देश के इतिहास में दोनों विकासों की समानता को लक्ष्य न करना संभव नहीं है। यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि पिछले चार दशकों में हिंदी कविता सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के साथ निकट रूप से संबंधित रही है और इसकी शक्ति तथा दुर्बलता दोनों का ही कारण यह संबंध है।

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के अचानक ठंडे पड़ जाने और धीरे-धीरे शांत हो जाने की व्याख्या कई हिंदी आलोचकों ने की है, परंतु कोई भी दो व्यक्ति उसके कारणों के बारे में एकमत नहीं हैं। प्रगतिशील विचारधारा के प्रमुख आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त का यह निश्चित मत था कि अज्ञेय और उनके प्रयोगवादी साथी प्रगतिशील आंदोलन के कमजोर पड़ने के उत्तरदायी हैं। आज के एक मार्क्सवादी कवि राजीव सक्सेना विश्वास करते हैं कि राजनीतिक सत्ता पर सामंती बुर्जुआ प्रभाव को बनाये रखने के लिए साम्यवादियों की समाजवादी चुनौती को दबाना जरूरी था, इसी प्रक्रिया में अपने-अपने दलों के हितों से प्रेरित प्रगतिशील कांग्रेसी और कांग्रेस से अलग समाजवादी इसी सामंती बुर्जुआ षड्यंत्र के शिकार हो गये।

प्रगतिशील और प्रयोगवादी दोनों ही कविमंडलियों का सदस्य होने के नाते (यद्यपि किसी में भी बहुत उत्कृष्ट नहीं) मैं ऊपर उद्धृत दोनों ही मतों से सहमत नहीं हो पाता। किसी भी साहित्यिक आंदोलन का उत्थान-पतन ऐसे असाहित्यिक कारणों से व्याख्यायित नहीं हो सकता। उसके कारण स्वयं उस आंदोलन में ही गहरे छिपे होते हैं। और मैं यह अपने अनुभव से जानता हूं कि प्रगतिवाद द्वारा प्रस्तुत और प्रशंसित काव्य व्यवहार उस समय के युवा कवियों को संतुष्ट नहीं कर पा रहे थे और वे लोग अपनी भावनाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने के लिए कोई नया रास्ता खोजना चाहते थे। हिंदी कविता की प्रगतिशील धारा भी छायावादी धारा के समान आदर्शवादी थी और समय के जटिल यथार्थ की उपेक्षा कर रही थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि कवि बहुत समय तक राजनीतिक नारों को पद्यबद्ध करने मात्र से संतुष्ट नहीं हो सके। नरेंद्र शर्मा की ये पंक्तियां दृष्टव्य हैं :'

इस दुनिया में दो दुनिया हैं,
जिनके नाम अमीर गरीब।
लाल रूस है ढाल साथियो,
हम मजदूर किसानों की।

ये पंक्तियां कवि की आंतरिक अभिव्यक्ति के स्थान पर राजनीतिक नारों का पद्यीकरण मात्र प्रतीत होती हैं। जैसा कि मैंने अपनी कविताओं के 1958 में प्रकाशित पहले प्रमुख संग्रह : 'ओ अप्रस्तुत मन' की भूमिका में कहा है : 'हिंदी कविता का प्रगतिशील आंदोलन पलायनवाद के विरुद्ध अभियान की घोषणा थी, परंतु वह खुद चाहे अलग स्तर पर हो, एक पलायन ही बन गया।'

जटिल परिस्थिति से बाहर निकलने का सरल रास्ता अपनाने से इनकार और कविता के लिए एक नये और सच्चे रास्ते की पहचान ही प्रयोगवादी काव्यधारा का मूल स्रोत है, इस धारा के अंतर्गत सात कवियों के काव्य-संकलन 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ, जिसने अज्ञेय को हिंदी कविता का अग्रणी बनाया। मैंने अन्यत्र विस्तार से उन परिस्थितियों की चर्चा की है जिनके अंतर्गत सात कवियों ने परस्पर मिलकर 'तारसप्तक' का प्रकाशन कराया। मैं समझता हूं कि इस संबंध में फिर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, परंतु उन सात कवियों में से एक होने के नाते मैं समूचे चित्र को समुचित परिदृश्य में रखने की दृष्टि से कुछ कहना चाहूंगा। 'तारसप्तक' के कवियों को प्रगति विरोधी बताना न केवल भ्रामक है वरन् हास्यास्पद भी, क्योंकि उनमें से सभी मार्क्सवाद और साहित्य के प्रगतिवादी मूल्यों पर विश्वास करते थे। अज्ञेय ने भी, जो आगे चलकर प्रगतिवादी आलोचकों के आक्रमण के प्रधान लक्ष्य हो गये और जो उस समय सप्तकमाला की दुर्बलतम कड़ी थे, स्पष्ट और सार्वजनिक रूप से साहित्य के प्रगतिवादी मूल्यों के प्रति अपना विश्वास व्यक्त किया। यह 1947 में आकाशवाणी पर मेरे साथ उनकी एक भेंटवार्ता में देखा जा सकता है। यह भेंटवार्ता प्रगतिवादी आंदोलन के अनौपचारिक मुखपृष्ठ 'हंस' में तभी प्रकाशित हो गयी थी और मेरे आलोचनात्मक लेखों के संग्रह 'प्रसंगवश' में उद्धृत की गयी है। मैं उसमें से इस संबंध में एक अंश प्रस्तुत करना चाहूंगा :

अग्र. : क्या आप अपने आपको प्रगतिशील मानते हैं? यदि हां, तो आप 'प्रगतिशील लेखक संघ' के सदस्य क्यों नहीं हैं?

अज्ञेय : प्रगतिवादी—नहीं, परंतु प्रगतिशील हां, मैं आशा करता हूं कि आप साहित्यिक विचारधारा और प्रवृत्ति के बीच जो अंतर मैं करना चाहता हूं, वह समझ रहे होंगे। जहां तक संघ की सदस्यता का सवाल है मैं यह समझता हूं कि सदस्यता वांछनीय है यदि वह व्यक्ति के विकास में सहायक हो परंतु यदि वह बंधन बन जाये तो न केवल अनावश्यक है बल्कि अवांछनीय भी।

मैं भी विशेष रूप से आपका ध्यान उस अंतर की ओर आकर्षित करना चाहता हूं जो अज्ञेय प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद के बीच करना चाहते हैं। संभव है आज यह बात भुला दी गयी हो परंतु जब 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ, यह एक महत्त्वपूर्ण तत्व था। वास्तव में कविता की भूमिका के प्रति यही भिन्न दृष्टिकोण 'तारसप्तक' के कवियों को साथ बांधे था। यद्यपि प्रयोगवादी कवि सामाजिक बुराई के प्रति और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में मूल परिवर्तन की आवश्यकता के प्रति सचेत थे परंतु वे अपने काव्य को किसी राजनीतिक दल के अधीन नहीं करना चाहते थे। वे सामने आनेवाली अनेक पक्षीय समस्याओं के सीधे समाधान मानने से इनकार करते थे और इस बात पर दृढ़ता से विश्वास करते थे कि स्वतंत्रता और आनंद का सच्चा रास्ता पाने के लिए अंदर और बाहर दोनों स्तरों पर खोज आवश्यक है। अतः स्वतंत्रता उनका प्रमुख लक्ष्य हो गयी और नये पथ का अन्वेषण उनका प्रमुख कार्य।

हिंदी कविता में इन दोनों प्रवृत्तियों के कारण स्वरूप और वस्तु में विषय और प्रयोगों की अत्यधिक विविधता का समावेश हुआ। और ऐसा केवल 'तारसप्तक' के कवियों के साथ ही नहीं हुआ बल्कि उनके समकालीन अन्य कवियों जैसे : शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, भवानीप्रसाद मिश्र और कुछ दूसरों के काव्य की भी यही विशेषता रही।

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हिंदी काव्य की स्थिति यही थी। आज के स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कवियों के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के समय की उलझनों का अंदाज लगा पाना बहुत ही कठिन है। वास्तव में राजनीतिक दलों के सरलीकृत और भ्रामक प्रचार के कारण वे उस त्रासभरी घटना का मात्र सुरम्य पक्ष ही जान पाये और यह नहीं समझ सके कि अधिक से अधिक उसे मिश्रित वरदान ही माना जा सकता था क्योंकि उसके तुरंत बाद ही स्वतंत्रता का आनंद लाखों लोगों की हत्याओं और बेघर होने की परिस्थिति उत्पन्न करनेवाले विभाजन के संत्रास में डूब गया था। युवा कवि कैलाश वाजपेयी का यह कथन सत्य के बहुत निकट है : 'आजादी हम पर एक पत्थर की भांति रख दी गयी है', परंतु यह कथन भी तो बाद की उपज है क्योंकि उसमें उस प्रसन्नता की कोई झलक नहीं है, जो अपने प्रिय आदर्शों के लिए समझौता करने और बहुत-सी मार-काट के बाद मिली हुई आजादी पर चारों ओर अनुभव की जा रही थी। समकालीन कवियों ने अपने स्तुति गीतों द्वारा जिस आत्मछल की अभिव्यक्ति की उसने धीरे-धीरे उन्हें जनता की वास्तविक परिस्थिति के दूर कर दिया, यह आत्मछल राजनीतिक सत्ताधारी दल की विकास योजनाओं द्वारा पोषित होकर तत्कालीन पीड़ा और कुंठा के बीच सुख-समृद्धि की एक कृत्रिम दुनिया का निर्माण करने लगा। इसी बिंदु से अज्ञेय दूसरे प्रयोगवादियों से अलग होकर निश्चित सुख के नितांत व्यक्तिकेंद्रित काव्यदशक के पुरस्कर्ता बने। इस दशक को आगे चलकर 'छलना का दशक' कहा गया और इसी का परिणाम साठ के दशक का 'मोहभंग' आया। तरुण आलोचक अशोक वाजपेयी ने इस समय का बड़ा सही वर्णन किया है। उनके मतानुसार साठ के दशक में वैयक्तिकता का ऐसा आतंक स्थापित हुआ कि व्यक्ति की दुनिया से बाहर जो था उससे लेखक को कोई सरोकार नहीं रह गया। ऊपर-ऊपर से तो यह लगता रहा कि वह सारे बाहरी तनावों और दबावों से प्रतिकृत हो रहा है पर साहित्य अधिकाधिक उसके नितांत निजी नाटक का लेखा-जोखा होता गया। अनुभूति की प्रामाणिकता के चक्कर में उसकी सार्थकता की बात धुंधली पड़ती गयी। मानवीय संबंधों की प्रामाणिक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई, पर उन्हें किसी बृहत संदर्भ से जोड़ने की कोशिश नहीं। बावजूद तमाम वक्तव्यों के, जिनमें समूची मानवीय नियति के प्रति एक लेखक की चिंता बार-बार बड़े घटाटोपी ढंग से व्यक्त हुयी है, मानवीय संबंधों की नियति को कोई व्यापक अर्थ देने का, उसे देश की सामाजिक-राजनीतिक नियति से जोड़कर किसी सार्थक और अनिवार्य ढंग से देखने का प्रयत्न बहुत कम हुआ। नये लेखक ने चीजों के बीच जो संबंध खोजे उनमें अद्वितीयता का आग्रह बढ़ता गया। लेखक अपनी

अद्वितीय दुनिया बनाने में इतना व्यस्त हो गया कि उस दुनिया को सार्थक, समृद्ध और मानवीय बनाने की बात गौण हो गयी। बल्कि धीरे-धीरे लगने लगा कि नया लेखक अपने अनुभव की वैयक्तिकता और अद्वितीयता से संतुष्ट होकर उसे बाहरी दबावों के प्रति खुला रखकर सार्थक और व्यापक बनाने से कतराने लगा।

एक दूसरे स्थान पर उन्होंने इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं : इससे इनकार करना मुश्किल होगा कि हमारे समय में मानवीय नियति अपने को राजनैतिक अर्थों में व्यक्त करती है। यह भी जगजाहिर-सी बात है कि इस युग में राजनीति की सारी मानवीय वास्तविकता पर गहरी छाया है। हिंदी में प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह रहा कि उसने समूची राजनीति को नये लेखक के लिए अछूत-सा बना दिया। यह अजीब व्यंग्य था कि मानवीय मूल्यों और नियति के प्रति गहरी संवेदना का दावा करनेवाले नये लेखक को राजनैतिक उथल-पुथल, उतार-चढ़ाव, मूल्यों की टकराहट और दिशा से कोई सरोकार ही नहीं रह गया। अधिकांश नया साहित्य समकालीनता का दम भरते हुए भी वास्तविक समकालीनता से कटा हुआ सुरक्षित साहित्य होता चला गया : पांचवें दशक में हिंदी के नवलेखन का यह विश्लेषण हिंदी के मूर्धन्य आलोचक नामवर सिंह भी स्वीकार करते हैं। हमें अधिक महत्त्वपूर्ण यह बात लगती है कि इसमें अधिकांश नवलेखन का सही ब्यौरा देते हुए कुछ नये लेखकों और कवियो के जनता के साथ एक अल्पचर्चित परंतु अतिशय महत्त्वपूर्ण नये एकात्मभाव का उल्लेख किया गया है। इसी से मैं 'तारसप्तक' के कवियों अथवा हिंदी की नयी कविता अथवा नवलेखन को एक अखंडित वस्तु की भांति निरूपित करने के पक्ष में नहीं हूं। इसमें विविध दृष्टिकोण और प्रवृत्तियां हैं जो साठ के दशक में अधिक सक्रिय और स्पष्ट हुईं परंतु वे प्रारंभ से ही इस आंदोलन में वर्तमान थीं। यदि अज्ञेय इसकी प्रधान प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, तो मुक्तिबोध इस क्रांतिकारी अंतर्धारा के, जो इस आंदोलन में प्रारंभ से ही लक्षित होती रही है। परंतु यह मान लेना भी ठीक न होगा कि नयी कविता के इस नाटक में मुक्तिबोध अकेले पात्र थे। मिथ्या समृद्धि के उस अंधकारमय वातावरण में कई कवि साथ मिलकर प्रकाशदीप जलाए हुए थे। यदि अपने काव्य से उदाहरण देना अनुचित नहीं तो मैं आपका ध्यान अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' और उस पर अपना प्रत्युत्तर 'हम नहीं हैं द्वीप' की ओर आकर्षित करना चाहूंगा। दोनों कविताएं यदि साथ पढ़ी जाएं तो नयी कविता के विस्तृत आंदोलन को स्पष्ट रूप से उद्धृत करती हैं। जैसे-जैसे स्वतंत्रता का जादू समाप्त होता गया और सामान्यजन के लिए आनंदमय भविष्य की कल्पना एक छलावा और झूठा स्वप्न बनती गयी यह अंतर अधिक स्पष्ट होता गया; क्रमशः खाई बड़ी होती गयी।

इसी से साठोत्तरी कविता पूर्णतया मोहभंग का काव्य है। अलग-अलग आलोचकों ने इसका समय 1959 से 1965 तक निश्चित किया है, मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इसका उदय चीनी आक्रमण अथवा चीन संबंधी

घटना के साथ हुआ। उस घटना को हम चाहे जो नाम दें, सामान्यजन पर अथवा लेखक या बुद्धिजीवी की चेतना पर उसका दूरव्यापी प्रभाव पड़ा था। जैसा नेहरू ने कहा था भारत अचानक आधुनिक युग में आ गया था। विश्वशांति और भाईचारे के समाजवादी प्रारूप के प्रति आयोजित विकास के और निर्बाध प्रगति के आदर्श सहसा निरर्थक शब्दजाल प्रतीत होने लगे और हम वास्तविकता को उसके अतिशय निराशाजनक और व्यग्रतापूर्ण रूप में देखने को बाध्य हो गये।

मेरे मत में मोहभंग का यह काव्य जो क्रमशः आगे चलकर विरोध और फिर क्रांतिकारी परिवर्तन का काव्य बना, सबसे पहले 1963 में प्रकाशित चौदह कवियों के काव्य-संकलन 'प्रारंभ' में स्पष्ट होता है। इस शीर्षक से अतीत से विच्छेद ध्वनित होता है, परंतु नयी पीढ़ी इसे स्वीकार करना नहीं चाहती। इस संकलन के कवियों में अग्रणी कैलाश वाजपेयी हैं और ममता कालिया भी काफी चर्चित हुईं। इससे आगे के वर्षों में 'अकविता' का आविर्भाव हुआ और यद्यपि इसमें सच्चे कवित्व का अंश बहुत कम है फिर भी इन कविताओं से उस दंभ और आत्मतोष पर आघात हुआ जो अधिकांश नयी कविता का मूलतत्व बन गये थे। और फिर 1964 में मुक्तिबोध की दुखद मृत्यु और उनकी कविताओं के पहले संग्रह के प्रकाशन ने कविता के परिदृश्य को सदा-सदा के लिए बदल दिया। वामपंथी प्रसुप्त प्रवृत्ति जाग उठी और समूचे हिंदी क्षेत्र की सीमा में लघु पत्रिकाओं के माध्यम से पहुंच गयी। ये लघु पत्रिकाएं बरसात में कुकुरमुत्तों की तरह उत्पन्न हो गयी थीं और आज की हिंदी कविता के स्वर और प्रकृति के निर्माण में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही वह समय था जब लोहिया जनता के आत्यंतिक नेता के रूप मे उभरे और रघुवीर सहाय तथा श्रीकांत वर्मा व्यवस्था के उद्धत विरोध के महत्त्वपूर्ण कवि बने।

इस अवधि के प्रारंभ के मोहभंग का स्थान क्रांतिकारी परिवर्तन की तथा धर्मनिरपेक्ष और मानवतावादी आदर्शों के अनुसार सामान्यजन की नियति का निर्माण करने में अतीत के साथ पूर्णतया संबंधविच्छेद की आकांक्षा और आवश्यकता ने ले लिया है। आज की हिंदी कविता पर विशिष्ट अवसर खो देने के गहरे दुख और अपने लोगों से एकता और सहानुभूति के संबंध स्थापित करने की तीव्र आकांक्षा का प्रभाव व्यंजित होता है। इसके परिणामस्वरूप भाषा अथवा दूसरी काव्य युक्तियों के इस्तेमाल के नये प्रयोगों तथा नयी काव्य प्रवृत्तियों की खोज की जा रही है। नयी कविता को छोटे गीतों का स्थान नयी ऊर्जा से संपन्न व्यवस्था के लिए आक्रामक लंबी कविताओं अथवा कविताओं की शृंखला ने ले लिया है। धूमिल से लेकर वेणु गोपाल तक अनेक कवि आज यथास्थिति के तीव्र विरोधी हैं इसी से मुझे लगता है कि हम एक नयी शुरुआत की दहलीज पर हैं।

[रचनाकाल 1974, अंग्रेजी से अनुवाद, अनुवादिका डा. इंदुजा अवस्थी, 'थॉट' अंग्रेजी पत्रिका में 4 जनवरी, 1975 को प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

मुक्तिबोध और उनकी कविता

वर्ष 1964 । जून की 26 तारीख। दिल्ली गर्मी और गर्द गुबारों की चपेट में है। हिंदी लेखकों का एक समूह, नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर, आनेवाली ग्रेंड ट्रंक एक्सप्रेस की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है। डा. हरिवंशराय बच्चन, शमशेर बहादुर सिंह, डा. प्रभाकर माचवे, मोहन राकेश, डा. सुरेश अवस्थी, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा सब हैं। बीच-बीच में उठते हुए वे दूर अंतरिक्ष की ओर ताकते हैं, फिर लकड़ी की बेंच पर बैठ जाते हैं। उनके चेहरों पर आकुलता है। उनके बीच बातचीत लगभग नहीं हो रही। खुशमिजाज राकेश तक उद्विग्न और अंतर्मुख दिख रहे हैं। रेलगाड़ी डेढ़ घंटे से भी अधिक लेट हो चुकी है।

रेल जैसे ही प्लेटफार्म में सरकती है सभी गुमसुम, सांस रोके खड़े हो जाते हैं। गाड़ी के रुकते ही हरिशंकर परसाई एक डिब्बे से उतरते हैं। हम सब उनकी ओर लपकते हैं। इनमें से कुछ डिब्बे के भीतर मदद को पहुंचते हैं। मुक्तिबोध निचली बर्थ पर लेटे हैं—चेतनाहीन। उनकी पत्नी शांताबाई, उन्हें स्ट्रेचर पर लिटाने में फिर एम्बुलेंस तक पहुंचाने में हमारी सहायता करती हैं, एक डाक्टर साथ है। वे इंडियन मेडिकल इंस्टीट्यूट में भरती किये जाते हैं—और कमरा नं. 208 में उन्हें जगह दी जाती है। योग्य चिकित्सकों का एक बड़ा दल उन्हें स्वस्थ और जीवंत करने के अथक प्रयत्न करता है। वे दो माह से भी अधिक समय तक रोग से संघर्ष करते 11 सितम्बर को, 47 वर्ष की छोटी आयु में अंतिम सांस लेते हैं।

इसे अगर यात्रा माना जाये तो शायद यह मुक्तिबोध की पहली दिल्ली यात्रा थी। पिछले दो दशकों में जबकि कितने ही हिंदी लेखक, सत्ता और ख्याति के केंद्र राजधानी की शरण ले चुके थे, मुक्तिबोध जान-बूझकर दिल्ली से दूर, मध्यप्रदेश के तथाकथित पिछड़े इलाके में अपने अध्ययन और लेखन को समर्पित रहे आये। इसलिए, उनके दिल्ली आगमन से पहले जब यकायक आघात देता चौंकाता समाचार दिल्ली पहुंचा, तब मित्रों के छोटे से गुट के अलावा, मुक्तिबोध लगभग सभी के लिए अपरिचित थे। आलोचक उन्हें शायद ही पढ़ते थे। साहित्यिक सर्वे और बहसों में उनके नाम का जिक्र नही होता था। भूल से उनका दावा हमेशा खारिज होता रहा। लेकिन भूल हमेशा दूसरों की ही नहीं

होती थी—मुक्तिबोध ने कभी कोई पुस्तक प्रकाशित ही नहीं करायी और साप्ताहिक, मासिक पत्रिकाओं के संपादक उनकी कविताएं अक्सर सखेद लौटा देते थे—रचनाओं की लंबाई उन्हें रास नहीं आती थी।

आज जब मुक्तिबोध एकमत से निराला के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि माने जा चुके हैं और युवा कवियों-लेखकों के आदर्श बन गये हैं, यह वक्तव्य चौंकानेवाला लग सकता है—लेकिन सच है। और यह मुक्तिबोध के जीवन और मृत्यु की बुनियादी ट्रेजेडी को रेखांकित करता है। जीवन के अंतिम क्षणों में, उनके मित्रों, शुभचिंतकों, यहां तक कि कुछ उदार सत्तासीनों ने भी उनके प्रति जो उत्सुकतापूर्ण रुचि दिखायी, वह उस उपेक्षा और उदासीनता की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकते, जिसका मुक्तिबोध ने जीवन-भर सामना किया। न ही कविताओं का वह भरकम संग्रह, जो उनके सिरहाने उनके अंतिम सांस लेने के दिन रखा गया, उस विस्मृति-भरे व्यवहार की कमी पूरी कर सकते हैं जो उनकी रचनाओं के साथ पहले किया गया।

हिंदी के प्रतिनिधि कवि के नाते, मुक्तिबोध की पृष्ठभूमि न केवल असामान्य बल्कि कमोवेश विचित्र भी थी। महाराष्ट्री पंडितों के घर में जन्मे मुक्तिबोध की गृहभाषा मराठी थी। उनके भाई शरच्चन्द्र माधव मुक्तिबोध मराठी के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। लेकिन गजानन माधव मुक्तिबोध ने केवल हिंदी में लिखा। इतिहास में दो भाइयों के, दो अलग भाषाओं की कविता में ख्याति प्राप्त करने के बहुत कम उदाहरण मिलेंगे। वैदिक अध्ययन और परंपरावाले परिवार में उनके पिता ने पुलिस की नौकरी की और उज्जैन में थानेदार की हैसियत से सेवामुक्त हुए, जहां उनका परिवार पिछली शताब्दी में आ बसा था। यहीं मुक्तिबोध ने विद्याध्ययन किया। उनके सहपाठी शांताराम को कुछ दिनों बाद गश्त लगाने की नौकरी मिल गयी और मुक्तिबोध को उसके साथ रात-भर गश्त देने में आनंद आने लगा। रहस्य, चुप्पी और अनाम आतंक के वातावरण का उत्स जिसने बाद में उनकी अभिप्रायपूर्ण रचनाओं में असाधारण अभिव्यक्ति पायी इन्हीं रात्रिकालीन मटरगश्तियों में पाया जा सकता है। और इसी तरह उनकी रचनाओं के जीवन की जड़ें उनकी मां में खोजी जा सकती हैं जो बुंदेलखंड के एक किसान परिवार से आयी थीं।

मुक्तिबोध के पिता उन्हें वकील बनाना चाहते थे, लेकिन उस युग के और बहुतेरे युवकों की तरह मुक्तिबोध भी स्वतंत्रता संग्राम और उससे उत्पन्न राजनैतिक उद्वेलन के प्रति गहरा लगाव अनुभव करते थे। जल्द ही वे तत्कालीन मध्य प्रांत के प्रतिष्ठित कवि और राजनैतिक कार्यकर्ता पंडित माखनलाल चुतर्वेदी के साहित्यिक गुट से जुड़ गये। उन्हीं दिनों वे वीरेंद्रकुमार जैन, प्रभागचंद्र शर्मा जैसे युवा कवियों और रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' जैसे बुजुर्ग कवियों के संपर्क में आये। बहुत जल्द वे तत्कालीन साहित्यिक और दार्शनिक प्रश्नों से उलझने लगे। मार्क्स से फ्रायड और गांधी से दास्तायवस्की तक उनकी रुचि के विषय बन गये। धीरे-धीरे उनमें अपनी जनता के प्रति गहरी सहानुभूति और सामाजिक

बदलाव की आकांक्षा उत्पन्न होने लगी। उस समय वे 21 वर्ष के थे और वर्ष था 1938।

यह वर्ष मुक्तिबोध के लिए न केवल शिक्षा क्षेत्र में बल्कि जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी स्नातकत्व प्राप्ति करने का वर्ष था, क्योंकि उसी वर्ष मुक्तिबोध ने वह कार्य किया जो उनकी पारिवारिक परंपरा में अभूतपूर्व था— उन्होंने प्रेम-विवाह किया। न तो माता-पिता का क्रोध और न ही पारिवारिक विरोध उन्हें अपने चुने हुए रास्ते से डिगा सका। एक ही झटके में उन्होंने सदियों के मानसिक बंधन तोड़ डाले और विद्रोह और बदलाव की राह पर बढ़ चले।

सौभाग्य से उसी वक्त उन्हें कनिष्ठ शिक्षक की एक नौकरी मिल गयी और यद्यपि उसका वेतन नाममात्र ही था, वे अपना घर जमाने में सफल हो गये। उसी साल प्रभाकर माचवे माधव कालेज उज्जैन में दर्शनशास्त्र के अध्यापक हो कर आये। दोनों में जल्दी ही अटूट मैत्री संबंध स्थापित हो गये और मुक्तिबोध, माचवे से, जो उन दिनों भी सूचनाओं के उतने ही बड़े भंडार थे जितने आज हैं, साहित्यिक और दार्शनिक बहसें करने में गहरी रुचि लेने लगे।' माचवे ने ही उनका नाम डा. नारायण विष्णु जोशी को सुझाया जो शुजालपुर (उज्जैन के पास एक गांव) के अपने मिडिल स्कूल में काम करने के लिए उत्साही और त्यागी युवकों की तलाश में थे। इस तरह 1941 में मुक्तिबोध शारदा शिक्षा सदन में आये जहां माचवे की ही वजह से, नेमिचंद्र जैन पहले आ चुके थे।

मुक्तिबोध और नेमिचंद्र जैन की मैत्री हिंदी की प्रयोगशील कविता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसने हिंदी को न केवल सात कवियों का संग्रह 'तार सप्तक' दिया बल्कि मुक्तिबोध को उनके निर्माणकाल में बौद्धिक और आध्यात्मिक अवलंब देने के साथ ही दो समानधर्माओं को जीवन-भर के लिए बांध दिया। हम में से वे लोग जिन्हें नेमिचंद्र जैन के पास दो दशकों की सर्जनात्मक साझेदारी का प्रतिनिधित्व करते मुक्तिबोध के पत्रों पर नज़र डालने का अवसर मिला है सहजता से कल्पना कर सकते हैं कि इस बौद्धिक अंतरंगता ने मुक्तिबोध के व्यक्तित्व-निर्माण को कितना प्रभावित किया। नेमिचंद्र जैन ने आगरा में शिक्षा पायी थी जहां वे सहपाठी और कवि के रूप में प्रभाकर माचवे के और बाद में मार्क्सवादी आलोचक प्रकाशचंद्र गुप्त के संपर्क में आये और प्रगतिशील लेखक संघ के सक्रिय सदस्य बने। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि शुजालपुर के इनके दिन मार्क्सवादी दर्शन और तत्कालीन पेचीदा साहित्यिक और सामाजिक प्रश्नों के संदर्भ में उसकी उपयोगिता को लेकर गहरी बहसों और आपसी संवादों से भरे होते थे। और जैसे-जैसे इन समस्याओं के संबंध में अपने दृष्टिकोणों की छानबीन करते, वे गहरे डूबते गये, उन्हें यह विश्वास होता चला गया कि घिसी-पिटी और कविता के नाम पर की जा रही नारेबाजी, जो उन दिनों प्रगतिशील कविता के नाम से चलती थी न तो उन्हें संतुष्ट करती थी और न ही उनके आंतरिक विचारों और ललकों को अभिव्यक्त कर सकती थी। यही ललक उन्हें निरंतर अभिव्यक्ति के नये तरीकों

और काव्यात्मक प्रयोगों की खोज में लगाये रखती थी। यही भावना आधुनिक हिंदी कविता के अद्वितीय सहयोगी प्रयास 'तार सप्तक' का केंद्र बिंदु बनी। 1943 में प्रकाशित सात युवा कवियों की प्रयोगशील कविताओं का वह संग्रह, न केवल अपनी ताजगी और अपरंपरावादिता की दृष्टि से, बल्कि ऐसे सात कवियों को सामने लाने की दृष्टि से भी हिंदी कविता के गौरवपूर्ण पद पर है, जिन्होंने मिलकर हिंदी कविता की धारा उस ओर मोड़ दी जिसे आज नयी कविता के नाम से जाना जाता है।

मुक्तिबोध से मेरी पहली मुलाकात शुजालपुर में ही हुई। वहां जुलाई 1942 में कलकत्ते से अपना पहला पंद्रह दिन का अर्जित अवकाश मनाने और अपने मित्र नेमिचंद्र जैन से मिलने गया था। पहुंचते ही मैं देर रात तक चलती बहसों और शास्त्रार्थ के उत्तेजक वातावरण में उलझ गया। मेरे मस्तिष्क में उन दिनों की याद और भी बहुत ताजा है। बाहर से विनम्र दिखते मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में चट्टान का चरित्र था जो एक साथ ही स्वाभाविक और विचलित करनेवाला था। उनका विनयपूर्ण व्यवहार और अपनी जनता के प्रति अटूट समर्पण की उनकी भावना निरस्त करनेवाले थे। सादगी से जीवन बिताने वाले मुक्तिबोध, प्रकाशचन्द्र गुप्त से बिलकुल ही भिन्न थे जो श्रेष्ठ सुविधाओं के साथ आराम का जीवन बिताना पसंद करते थे। अज्ञेय के साथ भी उनकी कोई समानता नहीं थी जो 'तार सप्तक' के संग्रहकर्ता प्रकाशक थे और गलती से जिन्हें उस मंडली का नेता मान लिया गया। यद्यपि अपने झुकावों और वक्तव्यों में अज्ञेय क्रांतिकारी थे। लेकिन कला और सौंदर्य संबंधी उनकी धारणायें अभिजात्य-भरी थीं जिनका मुक्तिबोध में नितांत अभाव था। इसके बावजूद प्रगति और कविता के उद्देश्यों के प्रति गंभीर सरोकार की वजह से मुक्तिबोध के मन में इन दोनों के प्रति गहरा सम्मान भाव था।

शुजालपुर से मेरी वापसी के थोड़े दिनों बाद ही राजनैतिक व अन्य कारणों से वह साहित्यिक मंडली बिखर गयी। मैंने नेमिचंद्र जैन और मुक्तिबोध दोनों से कलकत्ता आकर कोई मनलायक काम तलाशने का आग्रह किया। नेमिचंद्र जैन को तो किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान में काम करने में कोई हिचक नहीं थी किंतु मुक्तिबोध किसी हालत में ऐसा नहीं कर सकते थे। वे केवल किसी स्कूल या अखबार के कार्यालय में काम चाहते थे जबकि ऐसी कोई नौकरी युद्ध-कालीन कलकत्ता में उपलब्ध नहीं थी। अविचलित मुक्तिबोध वापस उज्जैन चले गये और कुछ दिनों वहां रहने के बाद (जिस बीच उन्होंने इन्दौर में फासिस्ट विरोधी एक सम्मेलन आयोजित किया) वे 'हंस' में काम करने के लिए बनारस चले गये। लेकिन जो दो वर्ष उन्होंने वहां बिताये वे प्रसन्नता के नहीं थे। उबाऊ और थका देनेवाले दफ्तरी काम के अलावा जिसमें पत्रिका को डिस्पैच करना शामिल था, वे मध्यभारत के खुले आकाश के लिए तरसते थे इसीलिए 1947 में हितकारिणी हाईस्कूल में पढ़ाने के लिए वे जबलपुर वापस पहुंच गये। इसी जमाने से संबंधित और मुक्तिबोध पर लिखा मेरा एकमात्र तुक्तक इस प्रकार है :

कवि से डिस्पैच क्लर्क बने जब मुक्तिबोध
भारत के नगरों की करने लगे वे शोध
अंत में कटक पै अटक कर
हाथ पैर जोर से पटक कर
बोले : आ गया समुद्र हुआ अब गतिरोध।

सन् 1947 से 1964 में चेतनाहीन होने के दिन तक मुक्तिबोध मध्य प्रांत में ही रहे आये। लगातार स्थानांतरगामी प्रवृत्ति में अपनी आस्था के अनुरूप वे लगातार नौकरियां बदलते रहे, कभी प्रेस में प्रूफ रीडरी कर रहे हैं, कभी आकाशवाणी से प्रसारण, आज साहित्यिक मासिक का संपादन कर रहे हैं तो कल अखबार के संवाददाता का काम। अंततः 1959 में वे राजनंद गांव में व्याख्याता के पद पर जम गये। इन दिनों उनके करीब रहे लोगों की गवाहियों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय मुक्तिबोध जब तुलनात्मक रूप से शांतिपूर्ण जीवन और रचनात्मक संभावनाओं की आशा कर रहे थे तभी वे अचानक अस्वस्थ हो गये। जिंदगी-भर की हठधर्मी अब अपना चुकारा ले रही थी। स्थानीय चिकित्सा जब असफल हो गयी तब उन्हें भोपाल लाया गया जहां उन पर लकवे ने आक्रमण कर दिया। कुछ हिंदी लेखकों के प्रयत्न से तत्कालीन प्रधानमंत्री ने दिल्ली में उनकी चिकित्सा की व्यवस्था कराई, लेकिन देर बहुत हो चुकी थी। ट्युबर क्युलर मेनिन्जाइटिस घातक सिद्ध हुई।

मुक्तिबोध का जीवन विभिन्न स्तरों पर लगातार संघर्ष करता रहा है। उनके प्रेम-विवाह से उत्पन्न हुए पारिवारिक बिलगाव ने उन्हें असुरक्षा की भावना दी, और यद्यपि बाद में संबंधियों ने समझौता कर लिया, लेकिन वह भावनात्मक फांक अंत तक बनी रही। उनका पारिवारिक जीवन भी संतोषजनक नहीं था। उनके कई निजी पत्रों में इस बात का उल्लेख है कि उन्होंने अपनी पत्नी को उच्च शिक्षा दिलाने के कई प्रयत्न किये लेकिन वह कमाऊ भागीदार नहीं बन सकीं। पांच बच्चों की देखभाल करने से ही गृहिणी को दम लेने की फुर्सत नहीं मिलती थी। मार्क्सवादी विचारधारा और सामाजिक बदलाव के आंदोलन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ने, जो उन्हें बहुत कम वेतन दिला सकनेवाले अध्यापन या पत्रकारिता के अलावा किसी और व्यवसाय से जुड़ने नहीं देती थी, मुक्तिबोध की कठिनाइयों को और भी बढ़ाया। आर्थिक समस्याएं उन्हें हर कदम पर तंग करती रहीं, इस पर मित्रों से सहायता स्वीकार करने या अपने स्वाभिमान की कीमत पर समझौता कर पाने की उनकी असमर्थता ने स्थितियों को और जटिल बनाया। मुझे याद है कि मृत्यु शय्या पर लेटे हुए भी, जब उनका दायां भाग लकवाग्रस्त हो चुका था, तब एक पूरे दिन अपने बायें हाथ से वे बार-बार, उनके एक शुभचिंतक द्वारा समाचारपत्रों में सहायता के लिए प्रसारित कराई गयी अपील के खिलाफ, मुझे पत्र लिखने का प्रयत्न करते रहे। संयोगवश अंग्रेजी में लिखा उनका यह पत्र, अंतिम पत्र सिद्ध हुआ।

इस कठिन संघर्ष ने मुक्तिबोध को तनावपूर्ण और अलग-थलग कर दिया। भीतर ही भीतर वे इन भीषण परिस्थितियों के खिलाफ जो उन्हें अधिकाधिक अंतर्मुखी बनाती जा रही थीं, सुलगते रहते थे। उनकी कोमल आत्मा ने धीरे-धीरे एक कठोर बाहरी खोल बना लिया और अपरिचितों के बीच वे सदैव बेचैनी का अनुभव करने लगे। उनके अंतिम दिनों के आत्मीय, हरिशंकर परसाई ने लिखा है कि बात-बात में मुक्तिबोध लगातार पीछा किये जा रहे प्राणी की तरह महसूस करते थे और मित्रों या परिचितों की किसी भी असामान्य पहल को संदेह की दृष्टि से देखने लगे थे। उनकी पारदर्शी निश्छलता और शिशुवत् सहजता के परिप्रेक्ष्य में इसे एक विचित्र विरोधाभास के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।

अपनी निर्धनता से लड़ने और स्थितियों को बेहतर बनाने की उन्होंने कई कोशिशें कीं लेकिन उनका आदर्शवाद और प्रतिबद्धता हमेशा अलंघ्य बाधाएं सिद्ध हुए। अपने आत्मीय मित्रों के सुझाव पर उन्होंने कविताओं के बजाय छोटी कहानियां लिखना तय किया। यह वह वक्त था जबकि हिंदी कहानी में उभार आया हुआ था और कुछ पत्रिकाएं कहानी लेखकों को खासा पारिश्रमिक दे रही थीं। उनकी विषयवस्तु और उनका दृष्टिकोण तत्कालीन फैशन के प्रतिकूल थे और इसलिए अस्वीकार्य। एक प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान द्वारा उनके दो कथा संग्रह, उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित किये गये हैं।

इसी तरह अध्यापन की बेहतर नौकरी प्राप्त करने की उनकी कोशिशें असफल रहीं। एक पत्र में नेमिचंद्र जैन को उन्होंने लिखा था कि बिना पी-एच. डी. के उन्हें किसी कालेज में काम नहीं मिल सकता। दुर्भाग्य से मुक्तिबोध हिंदी के केवल द्वितीय श्रेणी एम. ए. थे।

जीवन के अंतिम काल में एक बार भाग्य ने उनका साथ दिया। एक छोटे प्रकाशक ने भारतीय इतिहास पर एक पाठ्य-पुस्तक तैयार करने के लिए उनसे संपर्क किया। मुक्तिबोध तैयार हो गये और जल्द ही उन्होंने अपनी मार्क्सवादी समझ के अनुरूप एक पुस्तक तैयार कर दी। चूंकि चयनकर्ताओं द्वारा पुस्तकें अक्सर नहीं पढ़ी जातीं, वह पुस्तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हो गयी। स्वाभाविक ही था कि इससे मुक्तिबोध बहुत प्रसन्न हुए क्योंकि इसका मतलब था रायल्टी के रूप में उन्हें अच्छी धनराशि की प्राप्ति। लेकिन, ऐसा नहीं होना था। पुस्तक के कुछ अंशों ने अखबारों और जनता में इतना बावेला खड़ा किया कि अंततः पुस्तक पाठ्यक्रम से निकाल दी गयी। जिस बात ने मुक्तिबोध को सबसे ज्यादा तकलीफ पहुंचाई वह यह थी कि जनसंघियों के साथ साम्यवादी राजनीतिज्ञ भी उनकी पुस्तक के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे। हरिशंकर परसाई कहते हैं कि मुक्तिबोध चट्टान की तरह थे लेकिन इस घटना ने उनमें आतंक और असुरक्षा की भावना भर दी। इसका अर्थ उनके लिए बहुत बड़ी क्षति था। अगर पुस्तक चलती रहती तो कठिनाइयों से निपटने के लिए उन्हें पर्याप्त पैसा मिल जाता। इस निजी क्षति ने उन्हें बड़ा धक्का पहुंचाया। लेकिन वे इस घटना के राजनैतिक निष्कर्षों से अधिक बेचैन हुए। वे कहा

करते—'यह नंगा फासिज्म है। कल्पना कीजिए कि एक लेखक भीड़ से घिरा हुआ है, उसे जान की धमकी दी जा रही है और सरकार सुनने को तैयार नहीं है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के क्या माने?'

न केवल उनकी, बल्कि शायद निराला के बाद की सर्वश्रेष्ठ हिंदी कविता 'अंधेरे में' का यही परिप्रेक्ष्य है। लगभग 5 पृष्ठों या 1500 पंक्तियों की इस लंबी कविता में जीवन-भर के तनाव की कालजयी और बहुरंगी अभिव्यक्ति मिली है। अकेली यह कविता उन्हें अमर की पंक्ति में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है।

मुक्तिबोध के मन में मृत्यु के समय यह स्पष्ट था कि वे अपनी साहित्यिक संभावनाओं को पूरा किये बिना जा रहे हैं। उनका श्रेष्ठतम अभी रचा जाना था। केवल लिखने और पढ़ने को समर्पित निश्चिंत जीवन जीने का सपना वे अंतिम क्षणों तक देखते रहे। लेकिन यह, वे कभी पा न सके, इसीलिए वेदना और यातना उनके स्थायी भाव हो गये। छोटी से छोटी कठिनाइयां दुःस्वप्न हो जातीं। किसी छोटी बात पर भी उनकी रातों की नींद गायब हो जाती थी। अंतिम दिनों में उन्हें गंभीर बीमारी ने भी जकड़ लिया और उनकी जिंदगी मुक्तिहीन-ट्रेजेडी में बदल गयी।

मुक्तिबोध अभिव्यक्ति की तात्कालिकता पर विश्वास नहीं करते थे। 'वसुधा' के लिए लिखे गये एक लेख में, जो कि बाद में 'एक साहित्यिक की डायरी' नामक पुस्तक में संग्रहीत हुआ, उन्होंने रचना-प्रक्रिया के बारे में अपनी धारणा व्यक्त की और सृजन के तीन क्षणों के रूप में प्रसिद्ध सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत के अनुसार, पहला क्षण जीवन के प्रत्यक्ष और तीव्र अनुभव से संबंधित होता है। दूसरा क्षण तब आता है जब रचनाकार अपने को इस अनुभव से अलग करता है और उसे मन में एक फेंटेसी के रूप में विकसित होते छोड़ देता है। और तीसरा और अंतिम क्षण वह होता है जब वह उसे शब्दों में आकार देने लगता है। अपने सिद्धांत के अनुरूप मुक्तिबोध अपनी हर कविता के एक-एक शब्द और मुहावरे के साथ कड़ी मेहनत करते और एक ही कविता के कई बार तो बरसों विभिन्न प्रारूप और संस्करण तैयार करते। ये प्रवृत्ति कला और कलात्मक अभिव्यक्ति संबंधी उनकी समस्याओं के प्रति गंभीर और रूमानी धारणाओं के अनुरूप और उनमें निरंतर चलनेवाले आंतरिक संघर्ष का प्रतीक थी।

इसका एक कारण शायद यह भी था कि शुरू में हिंदी भाषा के ऊपर उनका अधिकार सीमित था, और उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए वे सचेतन श्रम करते थे। इसने उनके लेखन को खुरदरेपन और अपूर्णता का एक चरित्र दिया और वह कमजोरी सिद्ध होने के स्थान पर उनके लिए शक्ति और तेज का एक निरंतर स्रोत सिद्ध हुई और उसने उनकी चट्टानवत दृढ़ता और निर्हंगता में वृद्धि ही की। कोमलता या लालित्य न तो उनके कथ्य में न ही उनकी बनावट में। इस अर्थ में जैसे कि अनेक अन्य अर्थों में भी, वे अज्ञेय से सर्वथा भिन्न हैं जिनकी चमकदार तराशी अभिव्यक्ति का विकास अंततः

अपने समय की सामाजिक सचाइयों से पूरी तरह कटी हुई कीमती किस्म की गीत्यात्मकता में हुआ है और जिन्हें गलती से नयी कविता का नेता मान लिया गया।

इतिहास के अद्‌भुत संयोग से 1964 में मुक्तिबोध की मृत्यु का समय हिंदी कविता की नयी शुरुआत का बिंदु हुआ। हिंदी कविता की वह धारा जो सबसे पहले निराला की बाद की रचनाओं में प्रकट हुई और जिसने 'तारसप्तक' के माध्यम से अपनी स्पष्ट छाप छोड़ी, पिछले दो दशकों में क्रमशः प्रबल व्यक्तिवाद और मधुर लयात्मकता को समर्पित होती चली गयी। 'तारसप्तक' के सभी कवि मार्क्सवादी थे और वे तथाकथित नारों भरी आलंकारिक कविता से अलग—अपने समय की जटिल सचाई को विश्वसनीय ढंग से व्यक्त कर सकने वाली कविता के प्रयोग की राह खोज रहे थे। कामगारों और सामान्यजनों को क्रांतिकारियों की जमात में शामिल होने को ललकारने के बजाय जो उन दिनों प्रगतिशीलता के नाम पर प्रचलित था उन सबने व्यक्ति की निजी महत्वाकांक्षाओं और सामाजिक उद्देश्यों के बीच संगति बैठाने तथा सुविधा और स्वार्थ की मध्यवर्गीय कमजोरी पर अपनी तकलीफ और बेचैनी अभिव्यक्त करने के कठिन कार्य में अपने को समर्पित कर दिया। नेहरू युग के योजनाबद्ध विकास के मृगजाल में फंसकर वे सब धीरे-धीरे अपनी जनता के संघर्ष और उसकी वास्तविकता से दूर हटते गये और उस क्रांतिकारी उन्मेष का स्थान जो उनकी पहले की रचनाओं में था, संपन्नता की आकांक्षा के निजी सरोकारों ने ले लिया। इस तरह नयी कविता काव्य उपकरणों का चतुर उपयोग करनेवाली व्यक्तिवादी अनुभवों को लयात्मक ढंग से कहती एक तरह की व्यक्तिवादी कविता हो गयी। जैसा कि एक युवा कवि अशोक वाजपेयी ने अपने एक आलोचनात्मक लेख में कहा है—'वैयक्तिकता का ऐसा आतंक स्थापित हुआ कि व्यक्ति की दुनिया से बाहर जो था उससे लेखक को कोई सरोकार नहीं रह गया। ऊपर-ऊपर से तो यह लगता रहा कि वह सारे बाहरी तनावों और दबावों के प्रतिकृत हो रहा है पर साहित्य अधिकाधिक उनके नितांत निजी नाटक का लेखा-जोखा होता गया। अनुभूति की प्रामाणिकता के चक्कर में उसकी सार्थकता की बात धुंधली पड़ती गयी। मानवीय संबंधों की प्रामाणिक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई, पर उन्हें किसी बृहत संदर्भ से जोड़ने की कोशिश नहीं। बावजूद तमाम वक्तव्यों के, जिनमें समूची मानवीय नियति के नये लेखक की चिंता बार-बार बड़े घटाटोपी ढंग से व्यक्त हुई है, मानवीय नियति को कोई व्यापक अर्थ देने का, उसे देश की सामाजिक-राजनीतिक नियति से जोड़कर किसी सार्थक और अनिवार्य ढंग से देखने का, प्रयत्न बहुत कम हुआ। नये लेखक ने चीजों के बीच में जो संबंध खोजे उनमें अद्वितीयता का आग्रह बढ़ता गया। लेखक अपनी अद्वितीय दुनिया बनाने में इतना व्यस्त हो गया कि उस दुनिया को सार्थक, समृद्ध और मानवीय बनाने की बात गौण हो गयी। बल्कि धीरे-धीरे लगने लगा कि नया लेखक अपने अनुभव की वैयक्तिकता और अद्वितीयता से संतुष्ट होकर उसे बाहरी दबावों के प्रति खुला रखकर सार्थक और व्यापक बनाने से कतराने लगा।' इसलिए

अचरज की बात नहीं कि अद्वितीयता के सबसे बढ़िया कवि अज्ञेय इस काल की हिंदी कविता के शीर्ष पर आसीन हुए और सामाजिक सरोकारों के कवि शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र को बहुत कम महत्त्व दिया गया। लेकिन मुक्तिबोध की स्थिति इनसे भी बुरी थी। उन्होंने अपना संघर्ष बिना किसी ढील या समझौते के जारी रखा था और वे पूरी तरह भुला दिये गये थे।

हिंदी कविता में बदलाव 1964 में मुक्तिबोध की मृत्यु के पहले ही नजर आने लगा था। स्वतंत्रता की फुरफुरी समाप्त होने के बाद हुए स्वप्नभंग, एक के बाद एक योजनाओं की असफलता, चीनी घटनाक्रम और नेहरू का देहावसान, इन सबने जनसाधारण और बुद्धिजीवियों दोनों की मनःस्थिति को बदलने में सहयोग दिया। अचानक दृश्य में कुछ ऐसे युवा कवि उतरे जिन्होंने धुंधले आत्मसंतोष से भरी अधिकांश नयी कविता पर शक्तिशाली आक्रमण किया। जब वे व्यग्रता से नये रास्ते की तलाश कर रहे थे तभी मुक्तिबोध की करुण मृत्यु और उनके सबसे पहले कविता संग्रह के प्रकाशन ने अंधेरे में प्रकाशपुंज का काम किया। मुक्तिबोध रातोरात हिंदी कवियों के हीरो हो गये और चारों ओर उनकी शैली और तकनीक की नकल के प्रयत्न किये जाने लगे। मधुर व्यक्तिवादी छोटी कविता का स्थान सामाजिक सरोकारोंवाली लंबी कविता ने ले लिया और मुक्तिबोध की अत्यंत प्रिय फैंटेसी हरेक कवियश प्रार्थी के हाथों का खिलौना हो गयी।

मुक्तिबोध अलग तरह के कवि हैं—उनकी कविताएं समझ पाना आसान नहीं था। अगर कोई उन्हें बार-बार न पढ़े तो उनके आशय पकड़ से छूटे रह सकते हैं। बेशक प्रासंगिक दीप्तियां और मुहावरों के खूबसूरत मोड़ भी हैं किंतु उनकी अभिव्यक्ति में इनका कोई खास महत्त्व नहीं है। मुक्तिबोध के लिए कविता संपूर्ण संरचना होती थी इसलिए उसे उसकी संपूर्णता में देखा और अनुभूत किया जाना चाहिए। क्योंकि इसी तरह वे उनकी रचना करते थे। जैसे कि शमशेर बहादुर सिंह ने कहा है, "मैं मुग्ध होकर देखता, कितने परिश्रम से, हफ्तों और महीनों काम करते हुए वे, अपनी लंबी कविता के अलग-अलग हिस्सों को अपने चिंतन की ऊर्जा और कल्पना से जोड़ते, सशक्त करते, विस्तार देते थे और अंततः उन्हें एकसूत्र करते। उनका शिल्प एक वास्तुकार का शिल्प था।"

बुनावट की इस कठिनाई के साथ यह तथ्य भी याद रखा जाना चाहिए कि मुक्तिबोध की कविता का संस्कार एक रहस्यभरा संसार है—अयथार्थ का नहीं बल्कि आंतरिक सचाई का। अशोक वाजपेयी के शब्दों में, "वह एक 'अंडर ग्राउंड' संसार है, एक अधोलोक जिसमें वे अंधेरी शक्तियां उजागर होती हैं जो हमारे समय में मनुष्य को घेरे हैं और जिनसे उसे गहरा खतरा है।" इस तरह मुक्तिबोध दिनकर से भी बाह्य संसार के कवि थे और अज्ञेय से जो केवल भीतरी निजी संसार के कवि हैं, दोनों से समान दूरी पर खड़े हैं। वे हमारे

वस्तुगत संसार की भीतरी सचाइयों और उससे जुड़े हुए आतंक और जटिलता से, ठोस और ग्राफिक साक्षात्कार कराते हैं।

मुक्तिबोध की कविता विचलित करनेवाली कविता है। वह न तो हमें लोरी गाकर सुलाती है और न ही मधुरता और शांति के पलायनवादी संसार में ले जाती है। वह हमारे समय की जिसमें अभी भी वर्गीय स्वार्थ सामान्यजन की आवाज घोंटने का प्रयत्न करते हैं और जहां बुद्धिजीवी अभी भी जनसाधारण की तरफदारी करने में हिचक रहा है, आतंकित करती सचाई से गहरी संपृक्ति की कविता है। उनकी कविता में रहस्यमय संसार में हमारे समाज की विपन्नता और कष्ट, हिंसा और अमानवीयता सभी ठोस रूप में उजागर होते थे। और यद्यपि वह शुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ है तथापि कवि का 'स्व', अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता तथा बदलाव के संघर्ष में अपनी भूमिका के प्रति पूरी तरह सचेत है और अपने समय के सामाजिक नाटक का सक्रिय भागीदार है। सचाई तो यह है कि क्षण-भर के लिए भी इस भागीदारी से उनकी दृष्टि नहीं हटती और न ही आत्मालोचना करने में वे हिचकिचाते हैं :

अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया और दिया बहुत बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम

(अंधेरे में)

लेकिन हम इसीलिए
मरे कि जरूरत से
ज्यादा नहीं, बहुत कम
हम बागी थे।

(एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथ्य)

असफलता का धूल-कचरा ओढ़े हूँ
इसलिए कि चक्करदार जीनों पर मिलती है
छल छद्म धन की
किन्तु मैं सीधी-सादी पटरी पर दौड़ा हूँ
जीवन की।
फिर भी मैं अपनी सार्थकता में खिन्न हूँ।
विष से अप्रसन्न हूँ
इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं पाता
पर रोज कोई भीतर चिल्लाता है

कि कोई क़ाम बुरा नहीं
बशर्ते कि आदमी खुश हो
फिर भी मैं उस ओर अपने को ढो नहीं पाता।

लेकिन ऐसे सीधे वक्तव्य मुक्तिबोध की कविता में बहुत कम हैं। सामान्यतः वे अपने मत और विश्लेषण फैंटेसी के माध्यम से व्यक्त करते हैं और जो उनकी सबसे लंबी कविता 'अंधेरे में' में अपना गहनतम सर्वोत्कृष्ट प्रभाव प्राप्त करती है। कई छोटी कविताओं में भी उन्होंने फैंटेसी का अविस्मरणीय प्रभावशाली इस्तेमाल किया है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' संग्रह की इसी शीर्षक वाली कविता में भी आज की राजनैतिक सचाइयों पर टिप्पणी करने के लिए फैंटेसी का उपयोग किया गया है। 'ब्रह्म राक्षस', 'दिमागी गुहान्धकार का औरांग उटांग', 'लकड़ी का बना रावण ओ काव्यात्मन फणिधर', 'चंबल की घाटी' इन सभी कविताओं में मुक्तिबोध फैंटेसी का सफल प्रयोग करते हैं।

एक और विधि जो मुक्तिबोध अपनी कविताओं के प्लाट रचने के लिए प्रयोग में लाते थे वह है जासूसी, रोमांचकारी कहानी का ढांचा। इसका इस 'चौड़े ऊंचे टीले पर' कविता में चतुराई से इस्तेमाल हुआ है। इसी प्रकार वे कुछ प्रतीकों का—जैसे वटवृक्ष, सिरफिरा पागल, मणिधर नाग, मां और शिशु पौराणिक चरित्रों और घटनाओं का--जैसे रावण का, नवजात कृष्ण को बाढ़-ग्रस्त जमुना के पार ले जाते हुए वसुदेव का असाधारण उपयोग करते हैं। लेकिन इन सभी का उपयोग वर्गों में विभक्त समाज और सत् और असत् के संघर्षयुक्त समसामयिक सच्चाई को ठोस, सघन, और बांध लेनेवाली अभिव्यक्ति देने के लिए करते थे।

'अंधेरे में' मुक्तिबोध की काव्यकला के विभिन्न तत्वों को श्रेष्ठ कलात्मकता से प्रकट करनेवाली सर्वश्रेष्ठ कविता है। कविता अंधेरे कमरे मे एक अदृश्य उपस्थिति (जो कि और कोई नहीं उनका 'स्व' ही है) और उसको पहचानने की कवि की बेचैन कोशिश से शुरू होती है। अचानक कवि अपने को घने जंगलों में एक झील के किनारे पाता है जहां एक खटके से जादुई गुफा खुलती है और जलती मशाल लिये लाल रोशनी में नहाया एक व्यक्ति प्रकट होता है। कवि उससे ज्वलंत विषयों पर कुछ सवाल पूछना चाहता है कि अचानक फिर अंधेरा हो जाता है और कवि अपने को फिर अंधेरी घाटी में पाता है। वह अंधेरे में ही सोचते और छटपटाते हैं कि तभी उनके सामने से एक जुलूस गुजरता है जिसमें प्रसिद्ध पत्रकार, क्रुद्ध लोग, बुद्धिजीवी, कवि, मंत्रीगण, उद्योगपति, विद्वान और कुख्यात स्थानीय अपराधी डोमाजी उस्ताद हैं। इसके बाद कविता एक के बाद एक कई रहस्यमय घटनाओं—जैसे लोकमान्य तिलक की रक्त डूबी नाक, एक चिथड़े में किसी बच्चे को छिपाये महात्मा गांधी, कलाकार क़ी हत्या, गुप्त पुलिस द्वारा नायक की ब्रेनवाशिंग, जुलूस पर गोलीबारी, लूट दंगे आदि से गुजरती है। इस तमाम राजनैतिक और सामाजिक सचाई को आंतरिक एकीकरण कवि अपने आदर्श स्व की खोज और इस अंतिम अहसास

से उपलब्ध कराया गया है कि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उन्हें अभिव्यक्ति के सभी खतरे उठाने ही होंगे। अशोक वाजपेयी के शब्दों में यह 'भयानक खबर की कविता' है और समसामयिक भारतीय की तकलीफ और कष्टकर अनुभव को ग्राफिक अभिव्यक्ति देती है। अभिव्यक्ति की प्रखर ऊर्जा और शब्दों के शक्तिशाली प्रयोग के मामले में कविता अभी भी अप्रतिम है। कविता का अंत परम काव्यसत्य और अदृश्य उपस्थिति के पूरे तादात्म्य से होता है जो कवि का लक्ष्य भी है।

[रचनाकाल 1975, 'पूर्वग्रह' अगस्त 1975 में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' 1978 में संकलित, अंग्रेजी से अनुवाद, अनुवादक सोमदत्त। यह भारत जी का अंतिम निबंध है। इसे उन्होंने 5 मई, 1975 को भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में पढ़ा था।]

प्रसंग

साहित्य और आलोचना

अमर कलाकार शरदचंद्र

सन् 1907 के लगभग की बात है, बंगला के सुप्रसिद्ध साहित्यिक पत्र 'भारती' में एक अपरिचित लेखक की एक कहानी प्रकाशित हुई। उसका नाम था 'बड़ी दीदी'। कहानी के रचना-सौष्ठव और लेखक की अद्वितीय प्रतिभा के कारण बंगला साहित्य जगत् में एक हलचल मच गयी, और उस शक्तिमान् लेखक की खोज होने लगी। परंतु लेखक के प्रवास के कारण लोगों को उस समय निराश ही होना पड़ा। साहित्य-प्रेमी उसके परिचय को उत्सुक हो उठे थे।

दीर्घ प्रतीक्षा के उपरांत एक दिन संध्या की धूमिल वेला में लोगों ने देखा एक दीर्घकाय जलयान से उतरते हुए एक मलिन, साधारण नवयुवक को। यह व्यक्ति और कोई नहीं, आज के विश्वविख्यात शरद बाबू ही थे।

जिस महान् कलाकार की प्रथम रचना ने ही साहित्य-संसार में एक नवीन लहर उमड़ा दी, और जिसकी अमर कृतियों ने बंगला को अत्यधिक गौरव प्रदान किया, वही साहित्य-सेवी आज हमारे मध्य में नहीं है। अल्पकाल में ही भारतवर्ष के अनेक साहित्य-सुमन अपने सौरभ से इस देश का उपवन सुवासित करते हुए मुरझाते चले गये हैं। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि शरद बाबू उन सबमें श्रेष्ठ और प्रथम उल्लेखनीय हैं। वाणी की वीणा के जिस तार ने सारे भारतवर्ष में ऐसा मनो-मुग्धकारी कंपन मचा दिया था, जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक हृदय में स्पंदित हो रही थी, सहसा आज वही तार मूक हो गया। भारतवर्ष के ऐसे कलानिधि को यों अस्त हुआ देख किसे दुःख न होगा।

शरद बाबू नवयुग के बंगाल के सर्वश्रेष्ठ गल्पकार हैं। छोटे-छोटे उपन्यासों और कहानियों में उच्च कोटि की कला का समावेश करने में वह अनेक स्थानों पर रवींद्र बाबू से भी ऊंचे ठहरते हैं। ऐसी मंजी हुई लेखनी का कोई लेखक अभी तक हिंदी में तो हुआ ही नहीं। अपने विचित्र जीवन के अमूल्य अनुभवों और मानव-अध्ययन द्वारा अपने समाज के जो सुंदर चित्र उन्होंने उपस्थित किये हैं, वे युगों तक अपनी कहानी आप ही सुनाते रहेंगे। जिस मर्मस्पर्शी, सीधे-सादे, भोले ढंग से वह अपने पाठकों को अपने मानस की उद्वेलित लहरों से परिचित कराते हैं, उन्हें पढ़-पढ़कर अंग-अंग में कंपन मच उठता है। सहज सत्य की भांति हमें उस पर विश्वास हो आता है।

शरद बाबू को ग्रामीण जीवन बहुत प्रिय है। आपका जन्म और बाल्य काल ग्राम्य जीवन के स्वच्छंद वायुमंडल में ही व्यतीत हुआ है। आपके उपन्यासों में भी हमें विशेषतः ग्रामों के चित्र ही मिलते हैं। लेकिन ग्राम्य जीवन के जिन-जिन दृश्यों का चित्र उन्होंने अंकित किया है, वे बिल्कुल ही नवीन हैं। *हिंदी के प्रसिद्ध लेखक प्रेमचंद भी यद्यपि ग्रामों के ही लेखक हैं, लेकिन आपकी और शरद की कथा-वस्तु में कोई समानता नहीं।* हो सकता है, यह प्रांतों की विभिन्नता के कारण हो। लेकिन यह निश्चित है कि शरद के ग्रामों में आर्थिक समस्या को प्रधान स्थान प्राप्त नहीं है। 'लेन-देन' के अतिरिक्त हमें किसी उपन्यास में भी बार-बार लगान और रुपयों की याद नहीं दिलायी जाती। यहां तक कि 'देहाती समाज' में भी अन्य बुराइयों पर लेखक की उतनी ही दृष्टि है, जितनी आर्थिक पर। शरद को तो ग्रामीण परिवारों का चित्रण ही अत्यंत प्रिय है। उनको परिवारों के लेखक के रूप में यथेष्ट सफलता भी प्राप्त हुई है। समाज एक शक्ति के रूप में—एक इकाई के रूप में उनके सामने नहीं आता। 'देहाती समाज' की बात हम छोड़ सकते हैं। ग्राम्य जीवन के जिस अंग का आपने दिग्दर्शन कराया है, उसके लिए कितनी पैनी दृष्टि की आवश्यकता है, इसे हम उनके ग्रंथ पढ़कर ही समझ सकते हैं।

अन्य किसी विषय पर विचार करने से पहले हम शरद के पात्रों के संबंध में एक बात कह देना आवश्यक समझते हैं। शरद के प्रत्येक चरित्र में हम व्यक्तित्व का आभास पाते हैं, किसी में कम, किसी में अधिक। लेकिन शरद के किसी भी विशिष्ट पात्र को हम साधारण कहकर नहीं टाल सकते। उसे एक विशेष समुदाय का प्रतिनिधि-मात्र समझकर ही नहीं रह सकते। उनके चरित्रों में शक्ति है, अपनापन है। एक ऐसी विशेषता है, जो उन्हें महत्त्वपूर्ण बना देती है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह समाज से उठा हुआ अलग या असत्य चित्र है। नहीं, पूर्ण सत्य और संभावित। वह समाज में सांसें लेनेवाला व्यक्ति ही है, पर कुछ अपनापन रखता है। उसमें व्यक्तित्व है। यही विशेषता या विभिन्नता शरद के नीच से नीच पात्र को भी गिरने नहीं देती। उससे हम शायद घृणा भी नहीं कर पाते। 'देहाती समाज' के 'जीवानंद' की नीचता पर हमें स्थान-स्थान पर क्रोध आता है, हम अपनी बेबसी पर खीझ प्रकट कर रह जाते हैं, लेकिन अंत तक पहुंचते-पहुंचते हम एक ऐसे दृश्य पर आते हैं, जहां से उसे हटा देने की हममें क्षमता नहीं है। 'विजया' के 'विलास-विहारी' को भी हम यही कह सकते हैं। दुःख है, हिंदी में हमें अभी ऐसे पात्र नहीं मिलते।

शरद ने पारिवारिक जीवन का अच्छा अध्ययन किया है। अपने जीवन में उन्हें इसके लिए कई अवसर प्राप्त हुए। बालकपन से ही वह अपने मामा के यहां रहते थे। शिक्षा समाप्त होने पर भी वह दो-एक परिवारों में आश्रित की भांति रहे थे, और इधर-उधर भटकते फिरे थे। निश्चय ही उन्हें अपने इन अनुभवों ने ही पारिवारिक समस्याओं पर सोचने का अवसर दिया है, और लगभग प्रत्येक उपन्यास में हम ऐसी समस्याओं और उनके विवेचनों को पाते

हैं। 'मझली दीदी' में सौतेले भाई पर बहन का अत्याचार बहुत ही कुशलतापूर्वक चित्रित है। 'चरित्र-हीन' में स्थान-स्थान पर ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। लेकिन उन सबसे अधिक प्रभावशाली ारिवारिक चित्रण उनकी छोटी-छोटी गल्पों में हम पाते हैं। 'सुमति' में बालकराम और उसकी भाभी का जो वात्सल्य और करुण-रस-पूर्ण चित्रण हुआ है, वह किसी भी समाज के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है। 'काशीनाथ' में एक मामा के यहां आश्रित युवक का विचित्र परिस्थितियों में बड़ा सुंदर वर्णन है। इसी प्रकार 'निष्कृति' में तीन भाइयों के पारिवारिक संबंधों का बहुत ही चित्ताकर्षक विवेचन है।

परिवार के अतिरिक्त शरद बाबू समाज की कुरीतियों के प्रति उपेक्षित नहीं रहे। यथास्थान हमें उनका आभास मिलता है। 'लेन-देन' और 'पत्नी-समाज' तो इससे भरे पड़े हैं। समाज की रूढ़ियों के आधार-स्तंभ वृद्ध नर-नारियों का वर्णन शरद बाबू बड़े चाव और मनोयोग से करते हैं। ऐसे अवसरों पर आपकी भाषा में एक चटपटापन आ जाता है, जो व्यंग्य का आभास दिया करता है। इन लोगों के बात करने के ढंग, शब्दावली और विचार-क्रम का शरद को बहुत ही सुंदर और संपूर्ण अनुभव रहा होगा। इनके कपट-भरे व्यवहार और कथोपकथन शरद के उपन्यासों में भली प्रकार वर्णित हैं।

शरद बाबू के उपन्यासों के प्लॉट सुलझे हुए होते हैं। अनावश्यक भरती या गर्द-गुबार को वह पसंद नहीं करते। अधिक पात्रों को भी आप अच्छा नहीं समझते। इसलिए पाठक को इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती। घटनाओं का घटाटोप आपको प्रिय नहीं। 'चरित्रहीन' के अतिरिक्त किसी उपन्यास में हम घटनाओं की पात्रों पर प्रधानता नहीं पाएंगे। घटनाएं आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं—पात्र का चरित्र; उसका अपनापन उसे महत्त्वपूर्ण कर देता है। असाधारण मृत्यु आदि अप्रयोजनीय बातों में भी आपकी रुचि नहीं। विभिन्न परिस्थितियों में अपने पात्रों की हलचलों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण आपको बहुत प्रिय है। आपके उपन्यासों में मनोविज्ञान की सामग्री खूब बिखरी मिलती है। बिना मस्तिष्क का विश्लेषण किये ही शरद बाबू अपने पात्रों को लेखक के सम्मुख इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि पाठक पलक मारते ही उसे समझ लेता है।

शरद बाबू के उपन्यास बहुधा छोटे होते हैं, उनमें ही उनकी प्रतिभा खूब निखरती है। 'चरित्रहीन' और 'लेन-देन' के अतिरिक्त उनका कोई उपन्यास 200 पृष्ठों से अधिक लंबा नहीं। शरद बाबू की कहानियां और भी अधिक मार्मिक एवं कलापूर्ण होती हैं। 'पथ-निर्देश' और 'काशीनाथ' कहानियां होते हुए भी उपन्यासों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें उनके पात्र अनुचित रूप से बढ़ नहीं पाते—एक सीमित क्षेत्र में ही अपना अभिनय करते रहते हैं। 'चरित्रहीन' में शरद को वह पूर्णता और स्पष्टता न मिल सकी, जो उनकी 'बाम्हन की बेटी' में है। उसका भारीपन ही शरद की कला के विरुद्ध है। 'लेन-देन' भी ऐसा ही हो जाता यदि उसमें षोड़शी का अलौकिक चित्रण आकर्षक न होता।

शरद बाबू के उपन्यास हमें बहुत प्रिय हैं। इसका सबसे बड़ा कारण

है उनका नारी-चरित्र-चित्रण। शरदचंद्र में नारियों के प्रति स्वाभाविक करुणा थी, और, यही कारण है कि, उनके प्रत्येक उपन्यास में हमें नारी पात्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण, सधे हुए और प्रधान मिलेंगे। हमें तो कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि शरद की कला का मर्म यही है कि एक नारी के चरित्र को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर अध्ययन किया जाये। अपने स्त्री पात्रों पर शरद ने इतना अधिक ध्यान दिया है कि किसी भी कहानी में स्त्री ही हमारे सम्मुख प्रधान हो उठती है।

शरद बाबू के स्त्री पात्रों में आपस में यथेष्ठ समता दिखायी पड़ती है। ऐसा आभास होता है कि शरद के मस्तिष्क में दो-तीन मुख्य नारियों का चित्र था, और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्नताएं लिये वे ही समय-समय पर उनके उपन्यासों मे सजग हो उठी हैं। इस सत्य को हम विश्लेषण करके सिद्ध कर सकते हैं। स्थितियों की विभिन्नता और विषमता के कारण यद्यपि उनका बाह्य रूप समान नहीं रह पाया है, तथापि उन सबके अंतस्तल में एक ऐसी समानता विद्यमान है जो हमें तत्काल ही पहचान लेने में सहायक होती है।

'श्रीकांत' में चित्रित 'राजलक्ष्मी' शरद की पहली कोटि बनाती है, वह अपने में कुछ लिये है—ठोस है, जैसे उसे ठोक पीटकर बदलने योग्य शक्ति किसी में है ही नहीं। और, हृदय में एक प्रेम है, अछूता प्रेम—बिलकुल निष्कलंक। उसका उपभोग स्वयं भी इसलिए नहीं करती कि कहीं वह कम न हो जाये लेकिन बार-बार अवसर पर हम सदा उसे उपस्थित पाते हैं। संसार उसके विरुद्ध कैसी ही भावना क्यों न रखे, उसे जैसे कुछ चिंता ही नहीं। यह बात मानो इतनी नगण्य है कि ध्यान देने योग्य ही नहीं, शरद को यह कोटि कदाचित् बहुत ही प्रिय है, तभी उन्होंने अपने दो बृहत् उपन्यासों में इसका आश्रय लिया है। 'चरित्रहीन' की 'सावित्री' इस कोटि में है।

दूसरी कोटि 'देवदास' की 'पार्वती' द्वारा बनती है। स्वाभिमान पहला गुण—प्रेम दूसरा, दुःख भोगना शायद इन दोनों वृत्तियों की उपस्थिति में आवश्यक ही है। 'पथ-निर्देश' की 'हेम नलिनी' और 'बाम्हन की बेटी' की 'संध्या' इसी कोटि में आती हैं। किस प्रकार ये अपने स्वाभिमान के लिए अपने चारों ओर प्रबल तूफानों का ढेर खड़ा कर लेती हैं, और फिर किस प्रकार अपनी बह्नि में आप ही जल-जलकर घुटती रहती हैं, इसका आभास शरद की ही लेखनी दे सकती है।

एक कोटि और हमें सर्वत्र प्राप्त होती है। वह है, 'दत्ता' की प्रधान पात्री 'विजया'। प्रधान होते हुए भी इनके हृदय में एक ऐसी शक्ति का अभाव है, जो अपने अधिकारों की मांग आप कर सके। फल-फूलों से सज्जित लता की भांति ये प्रबल वायु में स्थिर नहीं रह पातीं, बह जाना ही पड़ता है। 'गृहदाह' की 'अचला', 'चरित्रहीन' की 'किरणमयी' और 'पंडित जी' की 'कुसुम' इसी कोटि में आती हैं।

'लेन-देन' की 'षोड़शी' हमें बहुत अच्छी लगती है। वैसी और कोई स्त्री पात्र हमें शरद के उपन्यासों में नहीं मिलती। 'नवविधान' की उषा में हम

कुछ-कुछ उसी की झलक देखते हैं, लेकिन परिस्थितियां इतनी बदली हुई हैं कि हम अपने इस कथन का भली प्रकार पोषण नहीं कर सकते।

शरद के पुरुष पात्र इस कारण कमजोर हों, ऐसा नहीं है, वे अपने-आपमें पूर्ण हैं। स्त्री पात्रों को पढ़कर हम चकित (आकर्षित) अवश्य हो पड़ते हैं। पर अधिकांशतः हमारी संवेदना पुरुषों के प्रति शीघ्र हो जाती है। 'पार्वती' का हृदय कहीं अधिक उज्ज्वल होते हुए भी हम 'देवदास' के साथ ही चलते हैं पार्वती के पास नहीं रह जाते। 'चरित्रहीन' का 'सतीश' भी कुछ ऐसा ही है। अपने निर्णय को ही प्रमुख स्थान देना इसका नियम है—वह चाहे कैसा भी हो। पश्चात्ताप न होना दूसरा गुण है।

'गृहदाह' में 'महिम' का चरित्र कहीं-कहीं इतना उठा हुआ जान पड़ता है, कि ऐसा आभास होने लगता है कि कोई शक्ति भी उन्हें अपने निर्णय से नहीं हटा सकती है। उनका जीव-सिद्धांतों का प्रतिपादन है, और उन्हें छोड़ना-जैसी तो कोई घटना घट ही नहीं सकती। 'पंडित जी' का वृंदावन उन्हीं तत्वों का बना हुआ है। कितना ही आकर्षित वह क्यों न हो जाये, अपनी मां के अपमान का प्रतिकार किये बिना वह 'कुसुम' को अपनी कहने की भूल कर ही नहीं सकता।

शरद के कोई-कोई पुरुष पात्र बहुत साधारण हैं, उन्हें नायक कहना भी अच्छा नहीं लगता। 'परणीता' का 'शेखर' और 'अरक्षणीया' का 'अतुल' दोनों इस संबंध में एक-से ही हैं। अपने हृदय को दबा देना इनके लिए आसान है, लेकिन विषम परिणामों को उपस्थित करना इन्हें सह्य नहीं। अवसर की बाट देखने में इनका समय जाता है। स्वयं अवसर उपस्थित करना जैसे कुछ बुरा या अनुचित लगता हो।

शरद बाबू के 'श्रीकांत' के विषय में हमने अभी कुछ नहीं कहा। उनका यह उपन्यास यथेष्ठ प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है, जिसका प्रमाण यही है कि भारतवर्ष की भाषाओं के अतिरिक्त यह अंग्रेजी और फ्रेंच में भी अनूदित हो चुका है।

'श्रीकांत' अनुभव से भरी हुई कहानी है। अंग्रेजी के 'वांडरिंग' शब्द से उसके भ्रमण का ठीक-ठीक परिचय हो जायेगा। लेकिन उसमें भी हमें घटनायें कम मिलेंगी, अध्ययन अधिक। इस उपन्यास में कदाचित् शरद ने विचारशील होने की चेष्टा की थी। इसमें हमें प्रकृति के वर्णन भी मिलते हैं। श्रीकांत एक संपन्न, कार्य-हीन व्यक्ति है। भ्रमण उसे बहुत प्रिय है। उसका जीवन ही उसी में कटा है। सरलता उसमें अभी शेष है, और वर्णन की सिधाई इसकी पुष्टि करती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों का वर्णन वास्तव में अत्याकर्षक है।

'श्रीकांत' में, अन्य उपन्यासों की अपेक्षा, शरद के जीवन की छाया अधिक है। श्रीकांत का बर्माप्रवास इसका परिचय देता है। इन्हीं दिनों शरद बाबू का एक पत्र भी समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने अपने प्रकाशक से श्रीकांत के लेखक का नाम गुप्त रखने की विनय की है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत

संबंध और सत्य घटनाओं का समावेश है। अपने हृदय को बिना किसी काट-छांट के जितना उन्होंने श्रीकांत में प्रकाशित किया है, उतना और किसी उपन्यास में नहीं किया। कदाचित् उस नवयुवक को, जो अपना देश छोड़कर रंगून चला गया हो, अपने अनुभवों को बहुत कुछ ज्यों का त्यों रख देना ही बहुत अच्छा जंचा हो। कल्पना का अधिक प्रयोग शायद उस समय उन्हें उचित न जान पड़ा हो।

इस प्रकार, हम देखते हैं, शरद बाबू ने अपनी अलौकिक प्रभा, असीम अनुभव, मधुर वर्णन शक्ति और हार्दिक कोमलताओं के अपूर्व सम्मिश्रण से साहित्य में ऐसे-ऐसे अमूल्य ग्रंथों की रचना की है, जिनसे उनकी कला सदैव अपने को प्रकाशित करती रहेगी। अपने समाज और परिवार का इतना सुंदर निरीक्षण, स्त्री-पुरुष के भिन्न-भिन्न संबंधों का ऐसा प्रभावोत्पादक वर्णन, कला की ऐसी सजीवता और किसी लेखक में नहीं मिलती । थोड़े में मर्मस्पर्शी ढंग से एक चरित्र का पूरा-पूरा चित्रण करने की ऐसी अपूर्व क्षमता बहुत कम पायी जाती है।

शरद का जीवन उन्हें लेखक बनाने की पूरी क्षमता रखता था। कहना चाहिए, उनका जीवन स्वयं एक उपन्यास था। बालकपन में मामा के यहां विद्योपार्जन करने के उपरांत आप भागलपुर कॉलेज आये, लेकिन मां की मृत्यु और आर्थिक संकट के कारण मिर्जापुर में, एक गृहस्थ के यहां आश्रित की भांति रहने लगे। अनेक दिन इस प्रकार भटकने के उपरांत रंगून चले गये, जहां एक नौकरी के सहारे अपना पालन करते रहे। इसी बीच आप निरंतर लिखते रहे। फिर एक-एक कर आपकी रचनाएं प्रकाश में आयीं और आप बहुत शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गये। कुछ दिन बाद आप कलकत्ते आकर स्थायी रूप से साहित्य-सेवा में व्यस्त हो लेखन-कार्य में जुट गये। संपन्न होने पर भी आपकी सरलता और दयालुता में कोई अंतर नहीं आया। ग्राम-प्रेम और करुणा आपके हृदय के स्वाभाविक गुण थे। ऐसे हृदय ने ऐसे-ऐसे करुण उपन्यासों की रचना की है इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इतने संपन्न, अनुभव और विभूतियों से युक्त होकर शरद ने जो भी किया, संभावित ही किया।

बंगला के इस महान् कलाकार के वरदानस्वरूप ये ग्रंथ हमारे साहित्य को सदा उज्ज्वल करते रहें, यही हमारी कामना है।

[रचनाकाल 1938, शरदचंद्र के देहावसान के अवसर पर श्रद्धांजलि रूप में लिखा गया लेख, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

साहित्यकार का दायित्व : एक प्रश्नोत्तरी

[प्रश्नकर्ता : भारतभूषण अग्रवाल

उत्तरदाता : स. ही. वात्स्यायन]

वात्स्यायन : लीजिए, भारतभूषणजी, आपका अभियुक्त हाज़िर है। आप मुझसे किस बात का उत्तर चाहते हैं?

भारतभूषण : पहले तो मैं यह जानना चाहता हूं कि मैं प्रश्न किससे पूछ रहा हूं—'अज्ञेय' से, या वात्स्यायन से? ये दो अलग व्यक्तित्व हैं, या एक सच्चा और एक छद्म, या कि क्या?

वात्स्यायन : तो आप शायद यह भी पूछें कि उत्तर 'अज्ञेय' दे रहा है या वात्स्यायन। फिर भी आपके प्रश्न में सार है, यह मैं मानता हूं। मैंने लिखने के लिए दोनों नामों का उपयोग किया है, क्योंकि लेखक की हैसियत से भी मैं अपने दो कर्म (function) मानता आया हूं। एक तो है साहित्य-सृजन का, जो साहित्यकार का वास्तविक कर्म है, और दूसरा साहित्य के असाधारण अध्येता का। यह काम आनुषंगिक है, पर अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यह स्रष्टा के पैर धरती पर टिकाए रखता है। फिर यह भी है कि मैं साहित्य को निरी-जीविका से अधिक कुछ मानता आया हूं। साहित्यकार बेचता नहीं, बांटता है, देता है। पर इस आदर्श को निबाहने के लिए उसे कुछ और बेचना भी पड़ता है, अर्थात् जीविका के प्रश्न का कोई हल उसे खोजना पड़ता है, चाहे पत्रकारिता में, चाहे व्यापार में, चाहे पल्टन में और चाहे मोचीगीरी में। यों कह लीजिए कि सामाजिक प्राणी के नाते लेखक समाज को कुछ देने को बाध्य है, और व्यक्ति के नाते अपने व्यक्तित्व को (या कि आत्मा को, भगवान् को, परमार्थ को इत्यादि)। यह ज़रूरी नहीं कि इस दुहरे दायित्व के लिए दो नाम रखे जाएं—छद्म नाम मुझे भी परिस्थितिवश मिल गया था— पर जब दो नाम मिल ही गए तब मैं उनमें यह अंतर निबाहता आया हूं।

भारतभूषण : वात्स्यायन आलोचक है। क्या उसके आलोचना-सिद्धांतों पर 'अज्ञेय' की रचनाओं को तोलना ग़लत होगा?

वात्स्यायन : ग़लत क्यों होगा? बिल्कुल उचित होगा। कर्म दो प्रकार के होने से मौलिक एकता तो नहीं मिट जाती। फिर मैं अपनी ही कसौटी

पर खरा न उतरूं तो बात ही क्या बनी?

भारतभूषण : आपने कहा कि लेखक सामाजिक प्राणी भी है। इस 'भी' का क्या यह अभिप्राय है कि उसका साहित्यिक कर्म उसके सामाजिक दायित्व से बिल्कुल अलग है? क्या उस दायित्व का पूरा निर्वाह साहित्य-रचना में ही नहीं हो सकता? बल्कि क्या साहित्य-कर्म में ही अपनी संपूर्ण सिद्धि पाना लेखक का कर्त्तव्य नहीं है?

वात्स्यायन : देखिए, निरे शब्दों के फेर में न पड़कर कुछ भेदों को साफ-साफ देखना चाहिए। साहित्य-कर्म या तो एक पेशा है, या पेशा नहीं है। अगर वह पेशा है तो साहित्यकार के जीवन में उसका वही स्थान है जो किसी दूसरे पेशे का हो सकता है, और केवल उसी में अपनी निष्पत्ति पा लेना उसके लिए आवश्यक नहीं है। अगर वह पेशा नहीं है और साधना अथवा आदर्श-प्राप्ति का प्रयास है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या वह आदर्श इतना व्यापक है या हो सकता है या होना चाहिए कि लेखक के जीवन में उसकी साधना के अतिरिक्त और किसी चीज़ के लिए स्थान न रह जाये या कि और कुछ भी करने की बाध्यता निरा विघ्न ही हो? इस प्रश्न का उत्तर मैं यह दूंगा कि साहित्यकार के लिए उतनी तल्लीनता संभव तो है, लेकिन न तो स्थायी रूप से न अनिवार्य रूप से। आदर्श साधना किसी को स्थूल जीवन के स्थूल दायित्वों से छुटकारा नहीं देती और कृत्रिम चेष्टा से ऐसा छुटकारा पलायन ही है। आदर्श के नाम पर जीवन से पलायन का व्यापार बार-बार देखा जाता है। इन इतर दायित्वों के साथ स्रष्टा के महानतर दायित्व का सामंजस्य स्थापित हो सकता है और होना चाहिए। इस सामंजस्य का प्रकार साहित्यकार के मानसिक संतुलन की कसौटी है।

भारतभूषण : मै समझता हूं कि इतना कहने से मेरे मूल प्रश्न का पूरा उत्तर नहीं हुआ कि आप साहित्य-सृजन को सामाजिक कार्य मानते हैं या नहीं?

वात्स्यायन : आप बिल्कुल ठीक समझते हैं लेकिन ऐसा कुछ इसलिए भी है कि आपका प्रश्न भी कोई पूरा प्रश्न नहीं है। किसी भी कर्म को दो तरफ से देखा जा सकता है—कर्त्ता की ओर से और बाह्य जगत् की ओर से। अगर आप पूछें कि साहित्यकार इच्छापूर्वक सामाजिक प्रभाव के लिए रचना करता है या नहीं तो मैं कहूंगा कि प्रायः नहीं; किंतु अगर आप पूछें कि उस रचना का सामाजिक प्रभाव होता है या नहीं तो मैं कहूंगा कि अवश्य। दूसरी तरफ अगर आप पूछें कि साहित्य समाज द्वारा मर्यादित होना चाहिए या नहीं, तो मैं कहूंगा कि नहीं, किंतु मगर यही प्रश्न आप साहित्यकार के बारे में पूछें तो मैं उत्तर दूंगा कि अवश्य।

भारतभूषण : यानी आपका मतलब है कि साहित्य सामाजिक नहीं है, साहित्यकार है।

वात्स्यायन : हां। लेकिन इतना मैं और जोड़ देना चाहता हूं कि जिस तरह और व्यापार पूर्व-परिस्थितियों, परिवृत्तियों और पूर्वाग्रहों से नियमित होते हैं, उसी तरह साहित्य के सृजन का व्यापार भी परिस्थितिगत प्रभावों से मर्यादित

होता है। परिस्थिति से अछूता कोई साहित्य नहीं है और ऐसा साहित्य पैदा करने की चेष्टा अस्वस्थ और घातक है। स्वस्थ और स्वावलंबी पेड़ की जड़ें धरती में ही होती हैं, आकाशबेल अनिवार्यतः परोपजीवी होती है।

भारतभूषण : अगर यही बात है तो अपने सामाजिक कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए साहित्यकार को अन्य कोई सामाजिक कार्य भी करना ही होगा। तब फिर क्या साहित्य-सृजन एक 'अतिरिक्त क्रिया' (extra activity) नहीं है जिसे नहीं भी किया जा सकता है?

वात्स्यायन : आपके प्रश्न में एक पूर्वग्रह है जिसे मैं स्वीकार नहीं करता।

भारतभूषण : वह क्या?

वात्स्यायन : आप सामाजिक जीवन को ही जीवन मानते हैं और व्यक्ति-जीवन को खुराफात। अगर आपके प्रश्न का मैं यों अनुवाद करूं कि आदमी पंचों की राय से जिये और जहां अकेला पड़ जाये वहां उसका जीवन 'अतिरिक्त क्रिया' मानकर गैरज़रूरी समझ लिया जाये, तो यह बात आपको रुचेगी? क्यों नहीं व्यक्ति-जीवन ही जीवन हो और बाकी सब अतिरिक्त व्यापार? मैं यह नहीं कह रहा कि वैसा ही होना चाहिए; लेकिन वह भी तो एक पूर्वग्रह हो सकता है जो आपके पूर्वग्रह से ज्यादा या कम गलत न हो।

भारतभूषण : 'अतिरिक्त क्रिया' से मेरा मतलब जीवनातिरिक्त नहीं था; बल्कि दूसरे सामाजिक प्राणी जो कुछ करते हैं उससे अतिरिक्त।

वात्स्यायन : तो मैं मान लेता हूं कि वह अतिरिक्त क्रिया है। किंतु यह मैं फिर भी नहीं मानता कि उसे नहीं भी किया जा सकता।

भारतभूषण : वह कैसे?

वात्स्यायन : वह इसलिए कि जो संपूर्ण साधारण यानी 'नार्मल' है उसी मात्र से साहित्य-सृजन को आप नहीं परख सकते। हर कोई साहित्य-स्रष्टा नहीं होता—हर किसी में उसकी प्रेरक बाध्यता नहीं होती। वह प्रेरणा असाधारण परिस्थिति से उत्पन्न है—'असाधारण परिस्थिति' में साहित्यकार की चेतना की अवस्था भी मैं गिन लेता हूं—और उस असाधारण परिस्थिति में साहित्य-सृजन अतिरिक्त क्रिया नहीं रह जाती। मैं यह मानता हूं कि संसार का जितना भी समर्थ साहित्य है उसके रचयिता के सामने यह विकल्प नहीं था कि वह लिखे या न लिखे।

भारतभूषण : मेरा इससे मतभेद है। क्या बिहारी और फिरदौसी के साहित्य को आप समर्थ साहित्य की कोटि में नहीं रखते—और क्या उनको अशर्फियों का लोभ न दिया गया होता तो वे लिखते?

वात्स्यायन : नहीं, और हां। मैं समझता हूं कि अपने आक्षेप का उत्तर मन-ही-मन आप भी जानते हैं। बिहारी की कविता में चमत्कार है, शब्दशिल्पी का उत्कृष्ट कौशल है। इसलिए रुचिरता और प्रभाव भी उसमें है। लेकिन प्राणवत्ता की उसमें कमी है, नहीं तो ऐसा क्यों होता कि काव्यकला की दृष्टि से तुलसी से कहीं अधिक सुघर होकर भी वह देश के जीवन में उस तरह नहीं पैठ

पाई? जिनके लिए साहित्य पेशा है वे भी काफी अच्छी रचना कर सकते हैं और कर गये हैं। लेकिन मैं इसे निरा संयोग नहीं मानता कि अच्छे कलाकार स्वाधीन ही रहे हैं। अपनी कला को कष्ट और भूख या अन्य व्याधियों से सीमित और कभी-कभी विकृत होने देना भी उन्होंने स्वीकार किया है, लेकिन व्यावसायिकता से आनेवाले विकार उन्हें स्वीकार नहीं हुए।

भारतभूषण : तो क्या मैं यह मानूं कि आप साहित्य को दो प्रकारों में बांटते हैं—एक वह जो पेशा है, और एक वह जिसके पीछे प्रेरक बाध्यता है; और क्या यह भी कि प्रेरित साहित्य पेशेवर साहित्य से सदा श्रेष्ठ होता है?

वात्स्यायन : कोई व्यक्ति साहित्यकार होने के नाते ऐहिक जीवन के नियमों से मुक्त नहीं हो जाता। आर्थिक विनिमय पर आश्रित समाज में रहते हुए उसे अपने निर्वाह के लिए अपने कृतित्व या व्यक्तित्व का अंश बेचना पड़ता है। वह अंश उसके साहित्यिक कृतित्व में से भी लिया जा सकता है और अन्यत्र से भी। अगर इतर अंश देकर काम चल सके तो खतरा कम होता है, ऐसी मेरी धारणा है। साहित्यकार अगर बागबानी या मोचीगीरी या ऐसे ही किसी व्यवसाय से जीविका निर्वाह करे, तो उसके ऐसी परिस्थितियों में पड़ने की संभावना कम है जो कि जाने-अनजाने में उसके सृजन के काम को दूषित कर सके। इसके विपरीत पत्रकारिता में यह खतरा निरंतर बना रहता है, क्योंकि लेखन-कर्म होने के नाते वह साहित्य-रचना के बहुत निकट है। ऐसा हो सकता है कि साहित्यकार, पत्रकार का व्यवसाय करते हुए अपना दुहरा व्यक्तित्व निबाहता चले। हम आप जैसे आज के साहित्यकार प्रायः ऐसा उद्योग करते भी हैं। और अगर आप व्यक्तिगत उदाहरण को बदतमीजी न मानें तो मैं कहूं कि वात्स्यायन और 'अज्ञेय' को अलग रखने की कोशिश भी एक उपजीवी पत्रकार और एक स्वाधीन साहित्यकार को एक ही इकाई में अलग-अलग रखने की कोशिश है। जिसे आप 'पेशेवर साहित्य' कहते हैं, वह विशुद्ध साहित्य और निरी पत्रकारिता के बीच की चीज़ हो जाती है। बहुत बड़ी प्रतिभा ही ऐसी परिस्थितियों में बिल्कुल अक्षत बनी रह सकती है, और ऐसी प्रतिभा के दृष्टांत आपको कम मिलेंगे।

भारतभूषण : लेकिन ऐसी स्थिति केवल साहित्य-सृजन में ही हो, ऐसा तो नहीं है। प्रत्येक कार्य के लिए ही यह सच है कि प्राण देकर कार्य करने वाले और मात्र खानापूरी करनेवाले में गुणात्मक अंतर होता है। उसके मूल में अपने और समाज के प्रति ईमानदारी का प्रश्न है। तो फिर क्या साहित्य-रचना अन्य कार्यों के समान ही नहीं है, और उसको 'अतिरिक्त क्रिया' मानना क्या केवल दिमागी कसरत ही नहीं है?

वात्स्यायन : सृजनात्मक प्रेरणा किसी भी काम में लगायी जा सकती है। कोई व्यक्ति अपने पेशे को पेशे से अधिक मान ले तो इससे पेशे का स्वभाव नहीं बदलता। पेशा मूलतः आर्थिक विनिमय है। उसमें व्यक्ति कुछ देकर नियमों से संचालित अनुपात में कुछ प्रतिदान मांगता है। साध्य और साधक अथवा शोध और शोधक का संबंध इससे कुछ भिन्न है। पेशे को पेशा मानना बेईमानी

नहीं है, ठोस व्यावहारिकता है। यों कलाकार अव्यावहारिक होते हैं और जो नहीं मांगा गया है या जिसका ठहराव नहीं हुआ है वह भी दे सकते हैं। पर उससे मेरी बात नहीं कटती।

भारतभूषण : आपकी बात काटने को मैं उत्सुक भी नहीं हूं। पर अब सिद्धांत की बात छोड़कर रचनाओं पर आवें। आपका उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' आत्ममूलक माना जाता है। लेकिन आप इलियट की तरह मानते हैं कि भोक्ता और स्रष्टा में जितना अलगाव होगा, वह रचना उतनी ही अच्छी होगी। तो क्या 'शेखर' को आप अच्छा नहीं मानते?

वात्स्यायन : मैं जो मानता हूं, उससे आप जो मानते हैं वही ज्यादा प्रासंगिक है, क्योंकि मैं तो मुलज़िम हूं—बल्कि आप शायद कहें कि मुजरिम, क्योंकि लिखने का जुर्म तो मैं कर चुका। फिर भी स्पष्टीकरण में दो बातें कहूं। एक तो यह कि 'शेखर' मेरी आत्मकथा नहीं, शेखर की आत्मकथा है। दूसरे यह कि अगर वह मेरी आत्मकथा भी होती, तो उसे आत्म-चरित से यानी व्यक्तिगत इतिहास से उठाकर उपन्यास यानी कलावस्तु बनाने के लिए भोक्ता और स्रष्टा का पृथक्करण आवश्यक होता—अगर उसे निरा इतिवृत्त बनाना ही मुझे अभीष्ट न होता।

भारतभूषण : 'शेखर' में आपने एक स्थान पर विद्रोह की जो व्याख्या की है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि आप ट्राट्स्की को स्टालिन से बड़ा मानते हैं। क्या आप सचमुच यह मानते हैं कि ट्राट्स्की का जीवन स्टालिन के जीवन से अधिक मूल्यवान था?

वात्स्यायन : 'बड़ा' और 'अधिक मूल्यवान' दोनों विशेषण एक तो सापेक्ष्य हैं; और दूसरे पूर्वाग्रही हैं। फिर 'शेखर' में जो तुलना है, वह शेखर ने की है, मैंने नहीं। लेकिन यह कहकर मैं आपके प्रश्नों को टाल नहीं रहा हूं। बल्कि मैं आभारी हूं कि आप ऐसा प्रश्न पूछ रहे हैं जिससे कि 'शेखर' और उसके लेखक के बारे में प्रचलित एक भ्रांति का निराकरण हो सके। ट्राट्स्की के चरित का उत्थान (और उसके अहं की अंतिम पराजय भी) कल्पना को छूता है और भावनाओं को उद्वेलित करता है। ट्राट्स्की के जीवन में स्टालिन के जीवन की अपेक्षा नाटकीय तत्व कहीं अधिक है। और 'शेखर' के जमाने के आतंकवादी क्रांतिकारियों के लिए भावना-मूलक विद्रोह है। उसमें बुद्धि-संगति बिल्कुल नहीं है यह नहीं, लेकिन साम्यवादी आंदोलन के विकास के आदर्शवादी परिच्छेद में उसका स्थान रहा। यह भी है कि आतंकवादी क्रांतिकारियों की मौलिक प्रेरणा मनोवैज्ञानिक अतोष में अधिक रही, आर्थिक विरोधों के ज्ञान में कम। मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि शेखर के समयुगीन सभी आतंकवादी ट्राट्स्की के प्रति अधिक आकर्षित थे। उन आतंकवादियों में से बहुत से आज आगे बढ़कर उस भावनामूलक आकर्षण को गलत मानें, यह तो उचित है; लेकिन ऐसा आकर्षण उनमें था ही नहीं, यह दावा झूठ होगा।

भारतभूषण : क्या आप अपने-आपको प्रगतिवादी मानते हैं? (यदि हां, तो आप 'प्रगतिशील लेखक संघ' के सदस्य क्यों नहीं हैं?)

वात्स्यायन : प्रगतिवादी, नहीं; किन्तु प्रगतिशील, हां। साहित्यिक वाद और शील में जो अंतर मैं करना चाह रहा हूं, उसको आशा है आप समझ सकेंगे। जहां तक संघ की सदस्यता का सवाल है, मैं यह समझता हूं कि व्यक्ति और संस्था का संबंध यदि व्यक्ति के विकास में सहायक हो तो उचित है; और अगर केवल एक सीमा हो, तो अनावश्यक तो है ही, और बहुधा अनुचित भी है। अगर कोई ऐसी संस्था हो जो कि साहित्यकारों को उनके सामाजिक दायित्वों के विषय में सचेत करे या ऐसे दायित्वों को निबाहने में सहायक हो, तो उसकी सदस्यता साहित्यकार के जीवन के सामाजिक पक्ष को पुष्ट कर सकती है। लेकिन, अगर संस्था साहित्य का ही नियमन करना चाहती है और एक वादाक्रांत साहित्य को ही अच्छा साहित्य मानती है तो कम-से-कम मुझे उसकी सदस्यता में दिलचस्पी नहीं है। यों व्यक्ति को संस्था का बड़ा सहारा है और मैं भी अगर शोध में थक या लड़खड़ा जाऊं, तो किसी संस्था का सहारा लेने की सोच सकता हूं। फिर चाहे उसके उद्देश्य अस्पष्ट ही क्यों न हों।

भारतभूषण : आपके इस उत्तर के पहले भाग से मैं संतुष्ट नहीं हूं। मैं यह जानना चाहता हूं कि आप प्रगतिवाद के मूल सिद्धांतों में आस्था रखते हैं या नहीं।

वात्स्यायन : उन मूल सिद्धांतों का कोई स्पष्ट निरूपण हुआ ही कहां है? उन्हें तो हम लोग अनुमान से ही जानने को बाध्य हैं। साधारणतया द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का साहित्य पर थोक आरोप ही प्रगति का 'वाद' समझा जाता है; द्वंद्व का सिद्धांत मैं मानता हूं (लेकिन उसे मानने के लिए किसी संस्था की सदस्यता मुझे आवश्यक नहीं जान पड़ती।)

भारतभूषण : एक आखिरी प्रश्न और। साहित्यकार के नाते अपने पाठकों के प्रति आप अपना क्या उत्तरदायित्व मानते हैं; और अपनी राय में आप उसे कहां तक निबाह सके हैं?

वात्स्यायन : साहित्यकार के नाते मेरा दायित्व अपने प्रति है। और वह यह है कि मेरी संपूर्ण इयत्ता मेरी रचना में व्यक्त हो—यानी मेरी व्यक्तिगत, सामाजिक, युगीन और परंपरागत चेतना—मेरा निजी और सांस्कृतिक व्यक्तित्व उसमें बोले। मैंने कहा कि यह मेरा अपने प्रति कर्त्तव्य है, वह इसलिए कि मैं कर्त्ता हूं; नहीं तो इसके अतिरिक्त अपने पाठक के या अपने समाज के या युग के प्रति किस कर्त्तव्य का और कैसा निर्वाह साहित्यकार कर सकता है, मैं नहीं जानता।

[रचनाकाल 1947, आकाशवाणी लखनऊ से प्रसारित, 'हंस' में 1947 में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

प्रसाद की प्रतिभा

'कामायनी' में श्रद्धा का एक गीत है :

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक-सी रही तब
मैं मलय की बात रे मन!
चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर वन की
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा
कुसुम विकसित प्रात रे मन!

श्रद्धा के इस आशा-भरे गीत की प्रतिध्वनि में मानो प्रसाद की प्रतिभा की ही परिभाषा है। भारतीय इतिहास के जिस पीड़ा-भरे प्रहर में प्रसाद की प्रतिभा ने अपनी पलकें खोलीं उसमें उसे अपने चारों ओर यदि 'व्यथा का तिमिर वन' ही दिखायी दिया तो आश्चर्य ही क्या? किंतु तिमिर की उन काली घड़ियों को चीरकर उनकी प्रतिभा 'उषा की ज्योति-रेखा सी' ही हमारे मानस-क्षितिज पर उदित हुई, और आज का हमारा 'कुसुम विकसित प्रात' उन्हीं की प्रतिभा के दान का मंगल आलोक बिखेर रहा है।

प्रसाद वास्तव में हिंदी में नवीन सांस्कृतिक जागरण के रजत-तूर्य थे। राजनैतिक चेतना की अकुलाहट तो हमें भारतेंदु के स्वरों में ही मिल चुकी थी, पर पराधीनता और राष्ट्रीय निःस्वता में जन-मानस की अतृप्ति-भरी प्रगति-कामना को सबल स्वर छायावाद में ही प्राप्त हुआ जिसके उन्नायकों में प्रसाद अन्यतम थे। प्रसाद का युग वह युग था जब बंधनों की कठोर कारा से रुंधकर हमारा सामाजिक जीवन दुर्गंध-भरा दलदल बन चुका था। प्रसाद की प्रतिभा की प्रथम किरणों ने ही मन की उन रूढ़ियों पर प्रबल आघात

किये और संवेदनाओं की विभूति से हमारे नयनों में नवीन अंजन लगाया।

ब्रजभाषा के रीति काव्य ने अपने अंतिम दिनों में स्थूल और कामुकतापूर्ण वासना का जो प्रदर्शन अपनाया था, उसी की प्रबल प्रतिक्रिया के रूप में प्रसाद ने 'प्रेमपथिक' नामक खंड-काव्य की रचना की जिसमें व्यक्ति-परक प्रेम को उत्थान और विस्तार प्रदान कर सारी सृष्टि को समा लेने की प्रेरणा निहित थी। समाज की जड़ रूढ़ियों के कारण बिछुड़ने पर विवश किये गये प्रेमी-प्रेमिका जब नियति के संकेत से मिलते हैं, तब वे किसी छोटे-से घरौंदे के निर्माण में नहीं लगते, वरन् वे प्रेम को एक नया और गंभीर अर्थ देते हैं। कवि का संदेश है :

पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है
घनी छांह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुए
प्रेमयज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे

व्यक्तिगत जीवन के कष्ट और अभावों से जूझकर समष्टि की प्रगति में योगदान का यह संदेश समयोचित तो था ही, उसमें भारतीय संस्कृति की वह गहरी अंतर्धारा भी प्रतिध्वनित थी जिसके नवीन परिचय से प्रसाद ने हिंदी साहित्य को संपन्न किया। इसी गहरी संवेदना से उन्हें वह दूरदृष्टि मिली जिसने उनकी कवि-कल्पना को मन की सूक्ष्म भावनाओं के अनेक अनोखे चित्र सजाने में समर्थ किया। दैनंदिन जीवन में पग-पग पर सामने आनेवाली पीड़ा की उन्होंने अनदेखी नहीं की, बंदी मन की निष्फल फड़फड़ाहट पर उन्होंने अपने कान बंद नहीं किये, अपितु इन दृश्यों और ध्वनियों को उन्होंने मार्मिक करुणा से रूपायित किया। साथ ही उनकी करुणा में मानस के भार को बहाकर हल्का कर देनेवाली निर्मलता भी थी। उनकी विख्यात रचना 'आंसू' ऐसे ही करुण उज्ज्वल भावों की चित्रशाला है। उसमें ध्वनित 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' की आलोक के लिए आर्द्र पुकार प्रसाद के प्राणों को आजीवन टेरती रही, उनकी प्रतिभा को निरंतर चुनौती देती रही। वर्तमान के भीषण शैलकाय अवरोधों को काटने के लिए उन्होंने भारत के स्वर्णिम अतीत से अनेक वेगवान निर्झर बहाये, जिन्होंने पर्वतों को तोड़-तोड़ कर जन-मानस में आशा की हरियाली फैलायी। उनकी दृष्टि अपने बाहरी राजनैतिक बंधनों तक ही सीमित न थी, वे भविष्य के भारतीय राष्ट्र और उसकी संस्कृति के पुनरुत्थान के भी सपने पाल रहे थे। इसी प्रयत्न में उनके वे नाटक रचे गये जिन्होंने एक ओर तो भारत के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक गौरव को मूर्तिमन्त किया, और दूसरी ओर हिंदी साहित्य को अनुपम निधि प्रदान की। 'विशाल', 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी' एक-एक कर इन नाट्य-कला-कृतियों ने भारतीय अतीत का बहुरंगी पट निर्मित किया जिसमें हम अपने जीवन के उदात्त चित्र प्राप्त कर सकें। अपने देश के गौरव की मर्यादा—जिसे हम भूल

चुके थे, अपनी संपन्नता—जो हमारा साथ छोड़ चुकी थी, अपने पूर्वजनों का कर्त्तव्य-परायण उदार चरित्र—जो हमारे संस्कारों में समाया हुआ था, सब हमारे सामने आये। रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से इन रचनाओं को चाहे निर्दोष न कह सकें (और इस बात के यथेष्ट ऐतिहासिक कारण थे) पर यह निर्विवाद और निस्संदेह है कि प्रसाद ने हिंदी संसार को एक बार फिर अपने उज्ज्वल अतीत के स्मृति-चित्र देकर हमें नवीन आशा और प्रेरणा दी। यह उनकी प्रतिभा की सूक्ष्म दृष्टि ही थी जिसने चाणक्य के मन में समस्त देश को एक सूत्र में आबद्ध सशक्त राष्ट्र की कल्पना चित्रित की। इस विशाल भारत-भूमि को एक सुबद्ध राष्ट्र में परिणत कर देने की इस परिकल्पना के ही बल पर चाणक्य ने अपनी गहरी नीति की नींव डाली और इसी के सहारे उसने एक ओर मगध में निरंकुश नंद शासन का अंत कर चंद्रगुप्त को परिषद्-नियंत्रित शासन का प्रमुख बनाया, और दूसरी ओर छोटे-छोटे राज्यों के साधन और उपकरणों को एकत्र कर यवनों के आक्रमण से देश की रक्षा का उपाय किया। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखे जाने पर भी इस नाटक की प्रेरणा में आधुनिक पराधीन भारत के लिए एक युगानुकूल संदेश था, तभी तो नाटक में गुंथे हुए गीतों के स्वर हमारे नवीन मुक्तियज्ञ के मंत्र बन गये। उनका यह आह्वान आज भी हमारे कानों में गूंज रहा है :

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्यदाह-सी
सपूत मातृ-भूमि के
रुको न शूर साहसी
अराति सैन्य सिन्धु में सुवाडवाग्नि-से जलो
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो!

प्रगति पंथ पर विजय हेतु अग्रसर होने की यह ओजमयी ललकार प्रसाद के प्रदीप्त प्राणों से ही फूट सकती थी। केवल 'चंद्रगुप्त' ही नहीं, उनके अनेक नाटकों में अतीत की गौरव-गाथा के साथ भविष्य के प्रति यह उद्‌बोधन अत्यंत कलात्मक रूप में पिरोया गया है। उनके सर्वश्रेष्ठ नाटक 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' में स्कंदगुप्त मानो भारत की आत्मा का ही जीता-जागता प्रतीक है। जो एक ओर विदेशी हूणों के आक्रमण से रात-दिन चिंतित है और दूसरी ओर आंतरिक विश्रृंखलता और षड्यंत्र उसके उपकरणों को संगठित नहीं होने देते। पर मातृभूमि की रक्षा और स्वतंत्रता के लिए स्कंदगुप्त भारत की ही भांति बड़े से बड़ा

बलिदान करता है, यहां तक कि अपने प्रेम को भी देश की वेदी पर न्योछावर कर देता है। 'स्कंदगुप्त' का यह स्थल जितना उज्ज्वल है उतना ही मर्मस्पर्शी।

प्रसाद की रचनाओं की सबसे प्रमुख विशेषता वास्तव में यही है कि वे प्रस्तुत राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का चित्रण करने में भी निरंतर सांस्कृतिक पक्ष की ओर संकेत करती रहती हैं। उनका यह गुण उन्हें गहराई और स्थायित्व दोनों प्रदान करता है, और उन्हें चिंतन-प्रधान बना देता है। कभी-कभी तो प्रसाद की पूरी रचना ही एक प्रकार का चिंतन बन उठती है। उनका रूपक 'कामना' इसका बड़ा सुंदर उदाहरण है जिसमें पूर्व समुद्र के एक कल्पित द्वीप के निवासी एक विदेशी सौदागर के आगमन से पहले त्रस्त होते हैं, फिर उसके स्वर्ण पर मुग्ध होकर पराधीन हो जाते हैं, और उसके स्वर्ण अपने सहज, सरल गुण खो बैठते हैं। विदेशी सौदागर विलास है जिसके पाश में सारी भूमि अनाचार और पतन का क्षेत्र बन जाती है। पूरा रूपक भारत की पराधीनता के कारणों की ओर संकेत करता है और एक प्रकार से वर्तमान सांस्कृतिक संकट पर प्रकाश डालता है।

इसी प्रकार, प्रसाद की कहानियां और उनके दोनों पूर्ण उपन्यास 'कंकाल' और 'तितली' भी समाज के इस पहलू पर विचार उपस्थित करते हैं। 'कंकाल' में सामाजिक अनाचार और अधर्म के कटु-चित्र बड़ी निर्ममता से हमारे सामने उपस्थित किये गये हैं। संभवतः उनमें अतिरंजना का पुट है; यह भी हो सकता है कि उनमें जिस यथार्थ का अंकन है, उसे अतियथार्थवाद या यथातथ्य चित्रण ही कहा जाये। पर वे अनेक सामाजिक कुरीतियों के प्रति हमें चेतावनी देते हैं, हमारे सामाजिक दायित्व को चुनौती बनकर आते हैं। 'तितली' में प्रसाद अपनी कवि-सुलभ-कल्पना से हमें भारत के उपेक्षित अविकसित ग्रामों की ओर ले जाते हैं और ग्रामीण समस्याओं पर अपने विचार उपस्थित करते हैं। 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' अधिक पुष्ट और सफल उपन्यास है और उसके मार्मिक स्थल मन पर गहरी छाप छोड़ते हैं। ग्रामोद्योग और ग्राम-विकास की उनकी कई योजनाओं में हमें गांधी-युग की प्रतिध्वनि स्पष्ट मिलती है।

नाटक और कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रसाद की प्रतिभा ने अपना सम्यक् दान दिया है इसमें संदेह नहीं, किंतु उसका सर्वोत्तम रूप काव्य में ही प्रस्फुटित हुआ। प्रसाद साहित्यिक से भी अधिक द्रष्टा थे, उन्होंने अपनी असामान्य कल्पना दृष्टि से काव्य में अंतर्मन के गूढ़ भावों की अत्यंत विशद व्यंजना की है, सुख-दुख, आशा और कामनाओं की अनुभूतियों को चित्रों के रंग पहनाये हैं। 'आंसू' के बाद उनके काव्य संग्रह 'लहर' में भावना की ये लघु-लघु लहरें हमारी साहित्यधारा को अमर संगीत प्रदान करती हैं। जग-जीवन के कठोर संघर्षों की ज्वाला में शीतल छाया और आर्द्र करुणा की कामना 'लहर' में अनगिनत भाव-चित्रों की सृष्टि करती है :

जग की सजग कालिमा रजनी में मुखचन्द्र दिखा जाओ
हृदय अँधेरी झोली इसमें ज्योति भीख देने आओ
प्राणों की व्याकुल पुकार पर एक भीड़ ठहरा जाओ
प्रेम वेणु की स्वर लहरी में जीवन गीत सुना जाओ
स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो
जीवन-घन इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो

लेकिन 'इस जले जगत को वृंदावन' बनाने की यह कामना प्रसाद ने केवल करुण निष्क्रिय प्रार्थना के रूप में ही व्यक्त नहीं की, ज्यों-ज्यों उनकी प्रतिभा के रंग गहरे होते गये त्यों-त्यों विश्व की पीड़ा का समाधान पाने की उनकी खोज गहरी होती गयी। उसी व्याकुल खोज का फल है उनका महाकाव्य 'कामायनी' जिसमें प्रसाद की प्रतिभा अपने चरमोत्कर्ष पर प्रकाशित हुई और जो आधुनिक हिंदी साहित्य की सर्वमान्य सर्वोत्कृष्ट काव्य-रचना है। छोटे-छोटे गीतों के स्फुट प्रयासों की किरणें इस प्रगीति महाकाव्य में मानो संगठित होकर प्रदीप्त सूर्य का रूप ले उठती हैं। 'कामायनी' में युग के संकट और संघर्ष की गहरी छाप है। उसमें विश्वास और विज्ञान सामाजिक विकास और व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं भौतिक वैभव और आध्यात्मिक उन्नयन के संघर्षों का विशद चित्रण है। 'कामायनी' की कथा उपनिषदों से ली गयी पौराणिक कथा है जो इस रचना को हमारी सांस्कृतिक परंपरा की जीवंत शक्ति प्रदान करती है। 'कामायनी' की कथा मनु, श्रद्धा और इड़ा के रूप में अंतर्मन में निरंतर विद्यमान श्रद्धा और बुद्धि के संघर्ष का रूपक है जो इस रचना को स्थायित्व और गांभीर्य प्रदान करता है। 'कामायनी' की कथा भौतिक वैभव और पार्थिव कर्मों के देश सारस्वर नगर के पतन-उत्थान की और मनु के उसका परित्याग कर हिमालय के शिखरों में आनंद लोक के दर्शन की कहानी है जो हमारे युग की अशांति के लिए एक समाधान प्रस्तुत करती है, यद्यपि वह समाधान व्यक्ति-परक होने के कारण अपूर्ण और अव्यावहारिक ठहरता है। यही नहीं, 'कामायनी' में महाकवि प्रसाद की वाणी सिद्धि-प्राप्त समर्थ कवि की प्रौढ़ वाणी है जो अभिव्यंजना के माध्यमों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुकी है। मानव-जीवन के अमिट सौंदर्य से आलोकित उनकी स्वर-धारा इस काव्य में निर्झर का वेग और सागर का विस्तार लेकर प्रकट हुई है। महाकाव्य के प्रारंभ में ही जलप्लावन का विशद चित्र है जिसमें बचकर 'हिमगिरि' के उत्तुंग शिखर पर एक शिला की शीतल छांह में बैठकर एकाकी मनु विगत वैभव और उसके विनाश पर चिंता प्रकट कर रहे हैं :

चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की
उतनी ही अनन्त में बनती
जातीं रेखायें दुख की
आह! सर्ग के अग्रदूत! तुम

असफल हुए, विलीन हुए
भक्षक या रक्षक जो समझो
केवल अपने मीन हुए
मणिदीपों के अन्धकारमय
अरे ! निराशपूर्ण भविष्य!
देवदम्भ के महामेघ में
सब कुछ ही बन गया हविष्य
अरे अमरता के चमकीले
पुतलो ! तेरे वे जयनाद
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बनकर मानो दीन विषाद

प्रकृति की शक्तियों से पराजित देवों के विनष्ट वैभव पर चिंतन करते मनु जब कुछ शांत होते हैं तभी कामायनी श्रद्धा उनके सामने प्रकट होती है :

कौन तुम ! संस्कृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक
मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत् का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य ?

और इस आकस्मिक अप्रत्याशित मिलन से मनु सहसा प्रश्न कर उठते हैं :

कौन हो तुम वसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार
घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार
नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कान्त
कल्पना की लघु लहरी लोल
कर रहीं मानस हलचल शान्त

अपने जीवन में श्रद्धा पाकर मनु के मानस की हलचल शांत हो जाती है, वे फिर कर्म में लग जाते हैं, एक बार फिर जीवन का व्यापार चल पड़ता है। पर कालांतर में मनु के हृदय में श्रद्धा के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होती है, और वे उसे छोड़कर चल देते हैं। अंत में वे उजड़े सारस्वर प्रदेश मे पहुंचते हैं जहां की अधिष्ठात्री बुद्धि की प्रतीक इड़ा उनका स्वागत करती है, और

उन्हें विज्ञान और पुरुषार्थ के सहारे पार्थिव ऐश्वर्य प्राप्त करने का उद्बोधन देती है :

हाँ, तुम ही हो अपने सहाय?
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उसका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो, विज्ञान सजग साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।

इस प्रकार विज्ञान और कर्म के सहारे मनु सारस्वर प्रदेश को फिर समृद्ध बनाते हैं, नियमों की सृष्टि कर राज्य का संचालन करते हैं। पर अपने मन पर अभी उनका शासन नहीं है। अधिकार-मद में वे नगर की अधिष्ठात्री इड़ा पर भी प्रभुत्व चाहते हैं। तब उनकी प्रजा विद्रोह करती है और वे संघर्ष में आहत होकर श्रद्धा की याद करते हैं। श्रद्धा उन्हें खोजती हुई उनके पास जाती है।

इसी खोज में श्रद्धा को इड़ा मिलती है जो उसे मनु के पास ले जाती है। उसके साथ उसकी संतान मनु-पुत्र कुमार भी है। मनु श्रद्धा को पाते ही कातर विनय कर उठते हैं :

श्रद्धा! तू आ गई, भला तो,
दूर, दूर ले चल मुझको
इस भयावने अन्धकार में
खो दूं कहीं न फिर तुझको
हाथ पकड़ ले, चल सकता हूँ
हाँ कि यही अवलम्ब मिले
वह तू कौन, परे हट, श्रद्धे!
आ कि हृदय का कुसुम खिले

मनु की इस पुकार में आज का युग ही मानो अपनी सारी पीड़ा और संकट से शांति पाने की याचना करता है। 'कामायनी' की पूरी कथा ही इस लाक्षणिक अर्थ से भरी है, और उसकी यही शक्ति उसे मर्मस्पर्शी बनाती है। 'कामायनी' के अंत में श्रद्धा-प्रेरित मनु हिमालय की गोद में आनंद-लोक का संधान पाते हैं और उनका अनुकरण कर इड़ा एवं कुमार भी वहीं पहुंच जाते हैं। आनंद-लोक की यह प्राप्ति इस काव्य को रहस्य भावना और अंतर्मुखी वृत्ति की ओर ले जाती है, परंतु पूरी 'कामायनी' की संघर्ष-भरी विकलता हमारी पृथ्वी की वर्तमान यंत्रणा की सफल प्रतिनिधि है। और उस विकलता के ऊपर छाया करनेवाली

कामायनी श्रद्धा की यह गीत-लहरी विश्व को आशा का अमर संदेश देती है जो प्रसाद की प्रतिभा की मूल आत्मा है :

जहाँ मरु ज्वाला धधकती
चातकी वन को तरसती
उन्हीं जीवन घाटियों की
मैं सरस बरसात रे मन!
पवन की प्राचीर में एक
जला जीवन जी रहा झुक
इस झुलसते विश्व दिन की
मैं कुसुम रितु रात रे मन!
चिर निराशा नीरधर से
प्रतिच्छायित अश्रु सर से
मधुप मुखर मरन्द मुकुलित
मैं सजल जलजात रे मन!
तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!

[रचनाकाल : 1954,
'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

पंत का प्रकृति-चित्रण

अपनी कविता : 'जन्म दिवस' (अतिमा) में पंत ने अपने जन्मकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है :

गत युग के ऐश्वर्य चिन्ह-से, मधु के अन्तिम
ताम्र-हरित कुछ पल्लव, कुछ कलि-कोरक स्वर्णिम
जाड़े से ठिठुरे, डालों पर बिलमाये थे,
रजत-कुहा से पट में लिपटे अलसाये थे,
धरती पर जब शिशु ने पहले आँखें खोलीं!
(आँगन के तरु पर तब क्या गिरि-कोयल बोली?)

कवि का यह अनुमान सहज सत्य है; पंत की काव्य-भूमि में गिरि-कोयल की बोली हमें निरंतर गूंजती मिलती है। नाना भाव-भूमियों को, नाना अनुभूति-प्रसंगों को और नाना युग-कालों को पार करती गिरि-कोयल की वह 'स्वर्ण-जाल-सी तान' हिंदी-मानस के 'तुहिन-वन' में आज भी छायी हुई है। प्रकृति से साहचर्य और निसर्ग से तादात्म्य कवि पंत के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है।

उनके व्यक्तित्व की इस विशेषता में देश-काल-परिस्थिति—तीनों ने भरपूर योग दिया है। हिमालय का सुषमा-मंडित अंचल नवयुग की स्वप्न-कल्पनाओं को सजीव करने को उत्सुक विद्रोही यौवन, और मातृहीन भाव-प्रवण हृदय का एकांत परिवेश। उस छोटी-सी पहाड़ी बस्ती का वह एकाकी मन प्रकृति को ही अपना सखा, अपना संगी मानता था। पहाड़ी झरने मे वह बातें करता, विहगों से गीत सीखता, भौंरों के साथ 'कुसुम के चुने कटोरों' से मधु-पान करता।* पंत के भाव-जीवन का अभिन्न अंग होने के कारण ही उनकी कविता में प्रकृति एक निराले सर्व-व्यापी रूप में उपस्थित है, हिंदी के लिए ही नहीं, समस्त भारतीय वाङ्मय के लिए वह अभूतपूर्व घटना है। प्रकृति-चित्रण पहले

* देखिए 'वाणी' संग्रह में आत्मिका शीर्षक कविता।

भी अनेक कवियों ने किया था, उनके बाद भी अनेक कवियों ने किया, और *आलंबन, उद्दीपन, प्रतिबिंबन आदि सभी प्रणालियों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में* हो चुके थे और हुए, पर उनका प्रकृति-चित्रण अद्वितीय है, क्योंकि उनके रूप में मानो :

स्वयं, लो, प्रकृति बोलती आज
विदा कर अपना चिर-व्रत मौन!

(बच्चन)

यही कारण है कि पंत की रचनाओं का पाठ करते समय हमें ऐसा नहीं लगता कि हम अपने कमरे में बैठे प्रकृति की चर्चा कर रहे हों—जैसाकि द्विवेदी-कालीन कविता को पढ़ते समय लगता है—न यह लगता है कि हम अपने वातायन से प्रकृति के दृश्य देख रहे हों—जैसा कि अन्य छायावादी रचनाओं को पढ़कर लगता है। उनके काव्य का अनुशीलन किसी ऐंद्रजालिक प्रक्रिया से हमारे कक्ष की दीवारों को विलीन कर देता है, हम सहसा हरियाली के क्रोड़ में पहुंच जाते हैं जहां हमारे चरणों के तले नरम घास है,चारों ओर पक्षियों की चहचहाहट और भौरों की गुंजार है, और दूर से आती पहाड़ी निर्झर
की 'टल-मल' हमारे प्राणों में भर गयी है। प्राकृतिक दृश्यों और व्यापारों का ऐसा अनोखा अनुभावन और फिर उनका ऐसा सफल अनुप्रेषण हमें विस्मय से भर जाता है—हमें लगता है मानो हमने पहली बार उषा के दर्शन किये हों, पहली बार कोयल को कूकते सुना हो, पहली बार आम्र-बौर की गंध पी हो। 'पल्लव'-काल तक की रचनाओं में प्रकृति का ऐसा ही प्रत्यक्ष, मूर्त्त और अभिनव परिवेषण है। भावुक पार्वत्य-किशोर ने अपनी समस्त आकांक्षाओं और अभावानुभूतियों को उस रमणीक प्राकृतिक सौंदर्य पर न्योछावर कर दिया था, और विनिमय में प्रकृति के प्राणों का स्पंदन-गीत और वन-श्री के प्रफुल्ल मानस की मुस्कान पायी थी। 'वीणा' की कविता में प्रकृति के प्रति पंत का यही सरल मुग्ध, धन्य भाव ध्वनित है।

प्राकृतिक सौंदर्य की ऐसी समग्र छवि ही कवि को विनत होकर तद्गत होने की प्रेरणा देती है, उसकी 'वाणी' की नारी-भावना उसके सरल, सहज समर्पण को रेखांकित करती है। अंधकार से वह 'रंग रहित होकर छिप रहने' की कला सीखना चाहता है, छाया से शीतल आश्रय मांगता है, बाल-विहंगिनि और मधुप-कुमारी से वह सहचर की भांति संलाप करता है। तृण-तरु-निर्झर की भांति वह अपने-आपको उसी परिवेश का अभिन्न अंग मानता है, इसीलिए वह 'विश्वसृज' से 'यौवन के प्लाये' में फिर से 'जीवन का तुतलाता उपक्रम' भर देने की प्रार्थना करता है, और नारी के सहज आकर्षण का प्रतिषेध करता है :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया

बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

'मोह' शीर्षक इस कविता तक, जिसका रचना-काल सन् 1918 है, प्रकृति से किशोर कवि का जो एकांत संपर्क है उसका आरण्यक स्वरूप विस्मय और उल्लास से निर्मित है। अभी उसमें न तो परवर्ती वेदना का पुट आया है; और न परवर्ती कल्पना का। नारी के सहज आकर्षण का निषेध ही 'ग्रंथि' के क्रंदन को जन्म देता है, और 'पल्लव' की कल्पना-पूरित वेदना की भूमि तैयार करता है। 'सरल शैशव की सुधि-सी' बालिका-मित्र को खोकर वह मानो अचानक प्रकृति-परे के जीवन का पहला आस्वाद पाता है, और यह कटु आस्वाद उसके 'गुंजन' काल तक की रचनाओं को करुणा-प्लावित कर देता है। 'पल्लव' में तो यह करुणा प्लावन का ही रूप धारण कर लेती है। प्रकृति के क्रोड़ में बैठा होकर भी कवि अब केवल अश्रु-भरे नयनों से ही उन दृश्यों को देख पाता है जिन्हें पहले निश्चल मुग्ध भाव से देखता था, और विच्छेद-व्यथा के कारण अब वह फूलों-झरनों-बादलों में प्रिया की झलक पाना चाहता है :

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान।

(आंसू)

प्रकृति के प्रति यह 'पहुंच' हमारे लिए चिर-परिचित है, पर कवि पंत के लिए वह नयी है। साथ ही कवि इस तक काव्य-परंपरा के सोपानों से नहीं, 'मर्म-पीड़ा' की डगर से आया है इसीलिए उसमें आरण्यक गुण कम नहीं हुआ है।

वास्तव में 'वीणा' और 'पल्लव' के बीच क दो वर्ष अपनी छोटी-सी परिधि में कवि पंत के लिए एक संपूर्ण युग-परिवर्तन समेटे हुए हैं और इसलिए उन पर कुछ ठहरकर विचार कर लेना आवश्यक लगता है। मेरे मत में 'वीणा' और 'पल्लव' में कवि का दृष्टि-भेद उसके समूचे परवर्ती काव्य की कुंजी है, उसमें कवि के भोक्ता से दर्शक—और फिर बाद में द्रष्टा—बन जाने का रहस्य छिपा हुआ है। 'वीणा' का काल हमें कालिदास की शकुंतला की याद दिलाता है, उस शकुंतला की जिसने अभी दुष्यंत का नाम भी नहीं जाना, तन की वासना ने जिसके मन को अभी विकलता नहीं दी। वह मन अभी प्रकृति के मंदिर का निर्माल्य है, और उसी में कवि को चरम परितोष दीखता है। पर 'पल्लव' तक आते-आते किशोर नवयुवक हो उठता है, उसके लोचन 'बाला' के 'बाल-जाल' में उलझ कर अश्रु-सिक्त हो गये हैं, वह अब प्रकृति को देखता

है तो समस्त दृश्यावली पर जैसे आंसुओं की एक झीनी चादर फैल चुकी है—'वीणा' के स्नात रूप से 'पल्लव' के वाष्पा-वृत रूप का यह भेद बरबस हमारा ध्यान खींचता है। 'वीणा' में कवि अपने को एक विहग-कुमार ही मानता था:

है स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जग-उपवन में
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में

पर 'पल्लव' में यह आवेग-मुक्त आश्वस्ति नहीं है, उसमें उमड़न है वर्षा की सी। और कवि उस वर्षा को पक्षी बनकर भोगता नहीं, बादल बन कर बहा देता है :

मेरा पावस-ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन
गहरे धुँधले, धुले, साँवले
मेघों-से मेरे भरे नयन!

(आंसू)

'वीणा' में कवि गाने चुगता था, अब उसकी आंखों से चुपचाप कविता अनजान उमड़कर बही जाती है।

इस दृष्टि-भेद का कारण नारी है, वह नारी जो सरल बालिका है, जो गिरि-पर्वत को 'बादल-घर' कहती है, जिसके स्पर्श में 'गंगा-स्नान' की पवित्रता है, जिसके उर में उषा का आवास है, स्वभाव में चांदनी का। उसके नख-शिख में, रूप-व्यक्तित्व में प्रकृति बसी हुई है, तभी तो वह किशोर कवि के लिए 'मंद-हास-सा उसके मृदु अधरों पर मंडराने' की प्रेरणा बन जाती है। इस अनायास प्रणय-विकास में भी वही एकांत निश्चल गति है जो शकुंतला के लिए दुष्यंत पर न्योछावर होने की प्रेरणा बनी थी। और ठीक शकुंतला की ही भांति संदेह उसके विच्छेद का कारण बनता है; कवि ने 'ग्रंथि' में इस प्रसंग को मार्मिक कथा का रूप दिया है, यद्यपि प्रबंध-परंपरा का निर्वाह करने के प्रयत्न में कवि अपने प्रति पूरा न्याय नहीं कर पाया है। 'ग्रंथि' का यही प्रसंग 'वीणा' के भोक्ता को 'पल्लव' का दर्शक बना देता है, प्रकृति से उसके एकात्म-भाव को सदा के लिए समाप्त कर देता है। कवि अपनी विरह-वेदना के कारण प्रकृति का और अपना भेद पहचान लेता है, यद्यपि यह पहचान कम वेदनापूर्ण नहीं है :

शैवलिनि! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर—
उडुगणों! गाओ पवन-वीणा बजा!
पर, हृदय! सब भाँति तू कंगाल है,
उस किसी निर्जन विपिन में बैठकर

अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबो दे आँख-सी!

'पल्लव' के दर्शक-कवि की आंखें अश्रुओं की इसी बाढ़ में डूबी हुई हैं, प्रकृति के दृश्यों का वर्णन अब एक वेदना से—गहरी, तीखी, वेदना से—रंग उठता है, कलियों में उसे कोमल घाव खुलते दिखायी देते हैं। जब 'भादों की भरन' मंद पड़ जाती है और 'उच्छ्वास' धीमा हो जाता है, तब कवि मानो बीच के इस अल्प-कालिक प्रसंग को भुलाकर फिर से प्रकृति के क्रोड़ में लौटना चाहता है। पर यौवन का पहला कटु अनुभव उसे परिपक्व बना चुका है, फूल का फिर कली बनना प्राकृतिक नियमों से भी असंभव है। इसीलिए कवि अब एक नयी ललक से प्राकृतिक अवयवों का दर्शन करता है, परिपक्व कल्पना से उनमें वह रस पाना चाहता है जो उसने अपने 'बालापन' में सहज ही भोगा था और जो अब उसे सदा के लिए अलभ्य हो गया। शकुंतला को कण्वाश्रम लौट जाना संभव नहीं होता। प्रकृति से यह अनिवार्य अलगाव उसको बार-बार प्रकृति की ओर खींचता है, 'मौन निमंत्रण' देता है; और कवि एक तो उस आकर्षण से बंधा होने के कारण और दूसरे अपनी मर्म व्यथा के शमन के लिए प्रकृति की चित्रावली सजाने लगता है। 'पल्लव' के ये चित्र हिंदी काव्य में नयी उपलब्धि बनकर आये थे क्योंकि प्रकृति के अद्वितीय दर्शक होने के नाते एक ओर उनमें कवि की अनियारी दृष्टि का निर्मल स्पर्श था, दूसरी ओर वियोगी के उद्‌गार होने के कारण उनमें विकलता की बांकी गति थी। उनमें से कुछ तो साहित्य में अपना स्थायी स्थान बना चुके हैं। यथा, गिरि-पावस का यह चित्र अविस्मरणीय है :

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश!
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!
गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग-भरे निर्झर!
गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं के तरुवर
हैं झांक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिंता पर!

—उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर!
रव-शेष रह गये हैं निर्झर—
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

(उच्छ्वास)

शास्त्रीय दृष्टि से भी प्रकृति-वर्णन का यह सफल प्रयास काफ़ी महत्त्व प्राप्त कर चुका है, इतनी पंक्तियां तक एक ही अंत्यानुप्रास का निर्वाह वर्षा की झड़ी का शब्द-चित्र बन जाता है।

शब्द—नाद—के और भी कई अभिनव चित्र इस काल में कवि ने दिये हैं—सबमें कविता का सूक्ष्म पर्यवेक्षण और कुशल शिल्प है। एक उदाहरण :

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर्-झर् ;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर;
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

(आंसू)

इतनी कुशल चित्र-योजना के उपरांत, अंतिम दो पंक्तियां 'वीणा' की भावना से कितनी भिन्न हैं! वे कवि की अन्यमनस्कता और प्रकृति से अलगाव की अनिच्छित प्रमाण हैं। सच बात तो यह है कि 'पल्लव' में बहुत-सी ऐसी रचनाएं हैं जो कवि की 'मूक-व्यथा का मुखर भुलाव' ही हैं—या तो हमें उनकी ओठ में बहनेवाली आंसुओं की अंतर्धारा की झिलमिल दीखती रहती है, या फिर कवि का वह आयास प्रकट हो जाता है जिसके सहारे वह अपनी व्यथा भूलकर बाह्य प्रकृति के दर्शन करता है। इस दर्शन में प्रयास स्पष्ट है; यह और बात है कि कवि के उत्कृष्ट शिल्प के कारण इन रचनाओं का दान भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। 'बादल', 'निर्झर', 'विश्ववेणु', 'वीचि-विलास', 'अनंग'—ये सभी रचनाएं इसकी साक्षी हैं। इनमें बड़ी सजीव और मनोहारिणी कल्पना के सहारे प्रकृति को नाना कोणों से देखा गया है, पर वे मानो किसी अधिक तीव्र वेदना से बचने का ही प्रयत्न है। निस्संदेह ये रचनाएं छायावाद की अमूल्य निधि हैं, पर उनका प्रकृति-वर्णन कभी आरोपण की सीमा तक जा पहुंचता है, तो कभी तटस्थता की। मानस को आप्लावित करनेवाला वह गुण उनमें नहीं है जो 'उच्छ्वास' का प्राण है।

और 'परिवर्तन' में तो कवि दर्शक से भी एक कदम आगे आकर दार्शनिक बन जाता है। जब वह प्राकृतिक सौंदर्य में सायास लीन रहकर अपनी व्यथा को भुलाने की अपेक्षा उससे जूझना चाहता है; सौंदर्य, प्रणय, वेदना, सुख—सबके अंतरतम रहस्य से दो-चार होना चाहता है। दर्शन की पहली कड़ी के रूप में उसके हाथ दृश्य जगत् की नश्वरता लगती है। एकाएक विश्वास नहीं होता कि प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म चितवन पर मुग्ध होकर समर्पित हो उठनेवाला कवि ही कह रहा है कि :

वही मधु-ऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!
आज पावस-नद के उद्गार
काल के बनते चिन्ह कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती सन्ध्या की ज्वाल!

गूंजते हैं सब के दिन चार,
सभी फिर हाहाकार!

'परिवर्तन' बड़ी लंबी और पुष्ट कविता है और उसमें कवि के प्रथम दार्शनिक प्रयत्न हैं जो सौंदर्य से प्राप्त वेदना की संगति खोजने के फल हैं। सौंदर्य में प्राकृतिक सौंदर्य भी सम्मिलित है क्योंकि वेदना की राह कवि उसकी नश्वरता पर भी पहुंच चुका है। और नश्वरता का यह प्रश्न जीवन और समाज के सारे प्रश्नों को अपने में समोकर कवि को एक विराट् दृष्टि और मंगल-चेतना देता है। 'परिवर्तन' में यह मंगल-चेतना सूत्र रूप में ही है। कवि का मानसिक विस्फोट अभी शांत नहीं हुआ है—पर 'गुंजन' की रचनाओं में हमें उसके शांत, स्निग्ध रूप के दर्शन होते हैं।

इसीलिए 'गुंजन' का प्रकृति-चित्रण कवि के अब तक के प्रकृति-चित्रण से स्वर और स्तर दोनों दृष्टियों से भिन्न और नवीन प्रकार का है। यदि हमें यह सूचना दूसरे स्रोतों से न भी मिली होती तो हम 'गुंजन' की रचनाओं के आधार पर ही यह कह सकते थे कि कवि अब गिरि-शैलों से शादूल-मंडित मैदानों में उतर आया है, उसके स्वर में अब पहाड़ी निर्झर का आवेग और संघर्ष नहीं है, गंगा की मंद मंथर सहज तरल गति है और प्रकृति के उन दृश्यों को वह पहली बार देख रहा है जो गिरि-उपत्यका में विरल थे। 'पल्लव' तक की रचनाओं में वर्षा और पक्षियों का बाहुल्य है, 'गुंजन' से मधुरित और भौंरों का बाहुल्य प्रारंभ होता है। 'गुंजन' से लेकर 'ग्राम्या' तक कवि का मंथन-काल है; जिन आवेग-विस्फोटों को पार कर वह आगे निकल आया है, उन्हें वह व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता, उनसे निष्कर्ष निकाल कर अपने जीवन को समग्र जीवन के परिप्रेक्ष्य से अधिक संगत और पूर्ण बनाने को आतुर है।

'गुंजन' की प्रेयसी में यदि अपेक्षाकृत कम वायवीयता और अधिक पार्थिवता *है तो वह न तो आकस्मिक है न अज्ञात। कवि अपने चिंतन के फलस्वरूप* उस ओर आया है। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रण में भी 'उन्मन गुंजन' की प्रधानता नयी है। ग्रीष्म, शीत या वर्षा उसकी प्रतिनिधि ऋतुएं नहीं हैं, वसंत की हल्की, मद्धिम धूप और शरद् की निर्मल नरम चांदनी उसमें सर्वत्र व्याप्त है। आवेगोपरांत कवि में रिक्तता नहीं; एक सीमित भराव है। 'पल्लव' में वर्षा की बाढ़ों से उमड़कर जो भाव-नदी कूल-कगारों को डुबाती फूट निकली थी, वह अब 'गुंजन' में बाढ़ उतर जाने पर अपनी मर्यादा को पुनः स्वीकार कर सौम्य धीर गति से बहती मिलती है। इसी कारण 'गुंजन' में उपलब्ध प्रकृति-चित्र अधिक मोहक और अधिक वस्तुगत हैं। अब कवि प्रकृति पर अपने भावों का आरोप कम करता है, प्रकृति-दर्शन से अपने भावों का परिमार्जन अधिक :

तरुण विटपों से लिपट सुजात
सिहरती लतिका मुकुलित गात,
सिहरतीं रह-रह सुख से, प्राण!
लोम लतिका बन कोमल गात!

मिल रहे नवल बेलि-तरु, प्राण!
शुकी-शुक, हंस-हंसिनी संग,
लहर-सर, सुरभि-समीर, विहान
मृगी-मृग कलि-अलि, किरण-पतंग!

(मधुवन)

आंसुओं से घुलकर निर्मल बन चुके कवि के नयनों ने 'गुंजन' में प्रकृति का सधा, संतुलित निखार देखा है, और आत्मस्थ होकर उस निखार से 'सुख-दुख' में संतुलन पाना चाहा है। प्रकृति की किसी भी छवि को वह विस्मृत नहीं करता, किसी पर अपना आरोप नहीं करता। 'ज्योत्स्ना' इसी तटस्थ दृष्टि का परिणाम है, जहां प्रकृति के अवयव और व्यापार पात्र बनकर कवि के मनोमंच पर क्रीड़ाभिनय कर उसे पूर्णता का पथ बताते हैं। भाव और वस्तु का अद्भुत संतुलन 'गुंजन' की विशेषता है, भाव-भीन वस्तुपरक दृष्टि ने उसमें प्रकृति की छवि के वे शतदल खिलाये हैं जिनकी रस-गंध से आकृष्ट होकर कवि का उन्मन चिंतालीन मन गुंजन करता रहता है। कवि की यह अन्यत्रलीनता 'गुंजन' के स्वरूप को अधिक पार्थिव बनाकर अधिक मोहक बनाती है। यदि प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'पल्लव' की प्रतिनिधि रचना 'उच्छ्वास' थी तो 'गुंजन' की प्रतिनिधि रचना 'नौका-विहार' है। नौका में बैठे हुए कवि का मन जीवन के आदि-अंत की सोचता रहता है, पर उसके सधे नयनों में नदी का सांगोपांग प्रतिबिंब झूलता रहता है। कविता की अंतिम पंक्तियों में कवि अपनी समस्या का संकेत कर जहां इस कविता के प्रकृति-चित्र को थोड़ा बिगाड़ देता है, वहीं

वह अपने प्रति ईमानदारी का भी बड़ा अकम्पित प्रमाण देता है। 'बादल' के वेग-भरे कल्पनारोपित क्रीड़ा-चित्रों से शरद-हासिनी चांदनी के इस चित्र की हम तुलना करें तो कवि का विकास स्पष्ट हो जायेगा :

वह शशिकिरणों से उतरी चुपके मेरे आंगन पर
उर की आभा में खोयी अपनी ही छवि से सुंदर!
वह खड़ी दृगों के सम्मुख सब रूप, रेख, रंग ओझल;
अनुभूति-मात्र-सी उर में आभास शांत, शुचि उज्ज्वल!

(चांदनी)

'शांत, शुचि, उज्ज्वल' किंतु फिर भी केवल 'आभास'—'गुंजन' का यही मूल स्वर है।

इस आभास का क्रमिक विकास ही 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का आधार है। दार्शनिक प्रश्नों का संपूर्ण उत्तर खोजते-खोजते ही पंत विचारक हो उठते हैं, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कार, अर्थ-व्यवस्था इन सब पर वह मनन और विचार करते हैं। प्रकृति के प्रति उनका सौंदर्य-बोध अब जीवन की इन जटिलताओं की उपेक्षा करके नहीं, उन्हें आत्मसात् करके नया रंग-रूप ग्रहण करता है। 'गुंजन' से 'युगांत' की ओर यात्रा कर पंत अपने छायावादी समवर्त्तियों को पीछे छोड़कर आगे निकल जाते हैं। अब वे अपनी काव्य-यात्रा में अकेले है। इस पथ-बिंदु के उपरांत उन्हें केवल अनुगामी ही मिलते हैं, सह-यात्री नहीं। विकासवाद और क्रांतिवाद के सैद्धांतिक अध्ययन से अपनी दृष्टि में एक नयी सोद्देश्यता और वस्तु-धर्मिता का समावेश कर अब कवि द्रष्टा बनने की तैयारी करने लगता है। प्रकृति के सौंदर्य का दर्शन अब वह समग्र जीवन के परिप्रेक्ष्य में करता है :

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर
मानव! तुम सब से सुन्दरतम!

(मानव)

मानव प्रकृति के प्रति समर्पित नहीं, प्रकृति का उपभोक्ता है, कवि की यह नयी उपलब्धि है। इसीलिए 'विहग-कुमारी' अब 'चिड़ियों' का रूप धरकर 'सोने का गान' नहीं गातीं, 'टी-बी-टी-टुट्-टुट्!' करती हैं और 'श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर' मधुर सपने बरसाती हैं। प्राकृतिक सौंदर्य का भोग भी, इसीलिए, अब एक नया प्रफुल्ल रूप ले उठा है, जिसमें समर्पण नहीं, ग्रहण है—मानव-मन को निखारने के लिए। इन चित्रों के रंग और भंग इस नयी वस्तुधर्मिता का परिचय दे सकेंगे :

चंचल पग दीप-शिखा के घर
गृह, मग, वन में आया वसन्त
सुलगा फागुन का सूनापन
सौंदर्य शिखाओं में अनन्त!

पल्लव-पल्लव में नवल रुधिर
पत्रों में मांसल रंग खिला
आया नीली-पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला!

लो चित्र-शलभ-सी, पंख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी,—
यह है अल्मोड़े का वसन्त,
खिल पड़ीं निखिल पर्वत-पाटी!

(युगांत)

कवि के लिए प्रकृति अब शरण-स्थल नहीं, अध्ययन-शाला है, उसके सौंदर्य से वह शक्ति और रस पाता है, उसके व्यापारों से सामाजिक व्यवस्था में आवश्यक हेर-फेर के दृष्टांत और उसकी गति में जीवन के लिए संदेश। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र', 'गा कोकिल, बरसा पावक-कण!', 'झर पड़ता जीवन-डाली से मैं पतझड़ का-सा जीर्ण पात' आदि रचनाएं इसी भावना की द्योतक हैं। 'पल्लव' में कवि ने छाया को संबोधित करके कहा था :

हे सखि! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँक कर
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण भर!

अब 'युगांत' में उसी छाया के प्रति कवि का उद्गार है :

तुम कुहुकिनी, जग की मोह-निशा,
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा!

छायावाद के कुहासे से निकलकर वास्तव के प्रकाश में आने की यह घोषणा अन्य अर्थों में भी महत्त्वपूर्ण है।

इसमें संदेह नहीं कि यह प्रकाश नये युग का था, उस युग का जो जीवन की सारी विषमताओं के मूल की खोजकर समाज और विश्व को समता के नये सिद्धांतों के अनुरूप ढालना चाहता था। पर कवि इस राह पर केवल बाहरी दबाव के कारण नहीं आया; उसकी पूर्ववर्ती समर्पण वृत्ति व्यक्तिगत निराशा और विवशता के आघात से लोक-मंगल की ओर स्वतः मुड़ गयी थी। युग को अपने अनुकूल पाकर उसके स्वर में एक अभिनव संदेश का विश्वास प्रबल हो उठा। इस अर्थ में वह उन छद्म संदेशवाहकों से भिन्न प्रकार का था जो निरे युगानुकरण की प्रेरणा से लोक-मंगल की आवाज़ें बुलंद करने लगे थे। उनकी रचनाओं में इसीलिए जीवन के विविध पक्षों का—और विशेषतः प्रकृति से साहचर्य का—अभाव-सा है। पर कवि पंत अपने नये रूप में भी समग्रता और समन्वय

को नहीं भूल पाते, इसीलिए प्रकृति की भी उपेक्षा नहीं कर पाते, उसके सौंदर्य में नये अर्थ और सार्थकता खोजते हैं, और समस्त जीवन के समन्वित आदर्श में उसका स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। उनके प्रकृति-चित्रण के लिए यह युग एक नये संतुलन का युग है—समाज और प्रकृति का संतुलन, व्यक्ति और प्रकृति का संतुलन, इतिहास और प्रकृति का संतुलन। 'युगवाणी' इस दृष्टि से बड़ी सार्थक रचना है। प्रकृति को निहारने का अर्थ केवल कुसुम, मारुत और खग-कुल को निहारना ही नहीं है, उस भू को भी निहारना है जिस पर 'सुर-मुनि वंदित मानव पद-तल' अंकित है। कवि की दृष्टि अब रंग-बिरंगी 'सुमन-चेतना' तितली पर ही नहीं जाती, चींटी पर भी जाती है क्योंकि :

चींटी है प्राणी सामाजिक
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक।

(चींटी)

प्रकृति-चित्रण का यह नया आयाम है जिसमें उपनिषदों की तल-स्पर्शी भावुकता वैज्ञानिक तर्क-प्रणाली से अपना मेल बैठाने की चेष्टा करती है। वर्णन-लालित्य, और बिंब-ग्रहण में अब भी पहले-सा ही चारु शिल्प है, पर अब कवि प्रकृति के प्रत्येक दर्शन से समाज के लिए कुछ पाना चाहता है। गंगा का वर्णन करते-करते इस प्रकार की पंक्तियों की यही सार्थकता है :

क्षुद्र व्यक्ति को विकसित होकर बनना अब जन-मानव
सामूहिक मानव को निर्मित करती है संस्कृति नव
मानवता के युग-प्रभात में मानव जीवन-धारा
मुक्त अबाध बहे, मानव जग सुख-स्वर्णिम हो सारा!

(गंगा का प्रभात)

यही तर्क-प्रणाली कवि को अगली रचनाओं में ग्रामोन्मुख कर देती है। छायावादी काव्य-धारा की यह अभावित परिणति तब भी मर्मज्ञों के आश्चर्य का विषय बनी थी और आज भी बनी हुई है। 'ग्राम्या' का स्थान काव्य में वही है जो उपन्यासों में 'गोदान' का, पर पंत और प्रेमचंद दो भिन्न मार्गों से चलकर गांवों में पहुंचे हैं। यह पंत के साहस और संकल्प का प्रताप है जो उन्हें 'ग्राम्या' में इतनी सफलता मिली। उनके जैसे संस्कारी और रहस्यदर्शी कवि ने जब ग्राम्य-जीवन के गलित यथार्थ पर दृष्टिपात किया था तब ये दोनों संभावनाएं थीं कि या तो कवि को स्वप्नभंग की-सी अनुभूति हो या उसके विचारों की आधारशिला हिल जाये। पर 'ग्राम्या' इन दोनों संभावनाओं से बच गयी। उनमें पहली बार हमें अपने ग्राम्य-जीवन का आदर्श-प्रेरित यथार्थ स्वरूप मिला जो कवि की पारगामी दृष्टि के मंगल आलोक से मंडित है। वाद-प्रतिश्रुत कविगण जहां भटक गये वहां पंत ने अपना जय-केतन स्थापित किया। 'ग्राम्या' में

वस्तु-परक चित्र-सौंदर्य और जन-मुक्ति-कामना का अभूतपूर्व मेल संपन्न हुआ है। तर्क से राग तक पहुंचने की *यह कठोर साधना पंत के व्यक्तित्व को नया निखार देती है।*

'ग्राम्या' में ग्राम-जीवन के अनुपम चित्र हैं, जिनमें ग्राम-प्रकृति के भी अनेक चित्र सम्मिलित हैं। इन चित्रों का विवरण-कौशल यदि कवि की वस्तु-निष्ठा का प्रमाण है तो इनका नियोजन उसकी मंगल-कामना का। प्रकृति यहां जीवन की पृष्ठभूमि मात्र नहीं है, वह जीवन की सहायक भी है। यदि प्रकृति का यह दर्शन :

यह रवि-शशि का लोक—जहाँ हँसते समूह में उडु-गण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण-क्षण विद्युत-प्रभ वन!
जहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की उजियाली,
यहाँ धूल है, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली!
ये रहते हैं यहाँ—और नीला नभ, बोयी धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती!
प्रकृति-धाम यह : तृष्ण-तृष्ण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर-विषण्ण, जीवन्मृत!

(ग्राम-चित्र)

मानव-जीवन के विषाद की पीठ बनता है, तो ग्राम-युवती का चित्र हमें प्रकृति के आशीर्वाद का, मानव-जीवन में उसके योग का स्मरण करा देता है। पर'ग्राम्या' में ऐसे प्रकृति-चित्र भी कम नहीं हैं, जो केवल सौंदर्य-चित्र हैं, जहां कवि अपना संदेश-वाह-पद भूलकर मुग्ध भाव से प्रकृति-दर्शन करता है। ग्रामीण प्रकृति के वैभव के ये चित्र अद्भुत साक्षी हैं :

रोमांचित-सी लगती वसुधा
आयी जौ-गेहूँ में बाली
अरहर-सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध
फूली सरसों पीली-पीली
लो, हरि धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली

(ग्राम-श्री)

गुन के बल चल रही प्रतनु नौका चढ़ाव पर,
बदल रहे तट दृश्य चित्रपट पर ज्यों सुन्दर!
वह, जल से सटकर उड़ते हैं चटुल पनेवा,

इन पंखों की परियों को चाहिए न खेवा!
दमक रही रजियारी छाती, करछौहैं पर,
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षणक्षण पर!
उधर कगारे पर अटका है पीपल तरुवर—
लम्बी, टेढ़ी जड़ें जटा-सी छितरीं बाहर!

(दिवा-स्वप्न)

पिक-बयनी मधुऋतु के प्रति वत्सर अभिनन्दित
नव आम्र-मंजरी मलय तुम्हें करता अर्पित।
प्रावृट् में तव प्रांगण घन-गर्जन से हर्षित
मरकट-कल्पित नव हरित प्ररोहों में पुलकित।
शशिमुखी शरद करती परिक्रमा कुन्द-स्मित
वेणी में खोंसे काँस, कान में कुँई लसित
हिम तुमको करता तुहिन-मोतियां से भूषित,
बहु सोन-कोक युग्मों से तव सरि-सर कूजित!
अभिराम तुम्हारा बाह्य, रूप मोहित कवि-मन
नभ के नीलम-सम्पुट में तुम मरकत शोभन!

(ग्राम-देवता)

पर वह बाह्य रूप कवि को संतुष्ट न कर सका। उसने देह के ही नहीं, प्राणों के दैन्य का भी अनुभव किया, और तब उसे लगा कि जीवन का संस्कृति से कितना अटूट नाता है। 'ग्राम्या' में ही कवि कह उठा था :

'आज वृहत सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित'

और जब वह इस सांस्कृतिक समस्या का समाधान खोजने चला तो जिस प्रकार 'युगांत' पर पहुंचकर उसने छायावादियों को पीछे छोड़ दिया था, उसी प्रकार 'स्वर्ण-किरण' के संधान में उसने प्रगतिवादियों को पीछे छोड़ दिया। गांधीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय की बात तो वह पहले भी कह चुका था, अब उसमें अरविंदवाद का समन्वय भी आवश्यक हो गया।

पंत के प्रकृति-चित्रण की विशेषता पर विचार करते समय उनके काव्य के अन्य पक्षों की चर्चा संगत नहीं मानी जा सकती, पर 'स्वर्ण-किरण' एवं परवर्ती रचनाओं में प्रकृति-चित्रण का वैशिष्ट्य उन पक्षों पर ध्यान दिये बिना उपलब्ध नहीं किया जा सकता। 'ग्राम्या' तक यद्यपि प्रकृति के प्रति कवि के रुख में कई बार परिवर्तन हुए थे, पर उन सबमें धरातल एक ही था, इसलिए उन परिवर्तनों को समझना अपेक्षया सरल है। पर 'स्वर्ण-किरण' में धरातल ही बदल गया है। कवि अब आगे नहीं जा रहा है, वह ऊपर उठ रहा है, अग्रगामी न होकर वह ऊर्ध्वगामी हो गया है। 'पल्लव' तक वह प्रकृति के साथ था, 'ग्राम्या' तक प्रकृति और समाज के साथ; पर अब वह प्रकृति, समाज

और संस्कृति तीनों को साथ लेकर भविष्य के स्वप्न-पथ पर संचरण करना चाहता है। 'स्वर्ण-किरण,' 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा', 'युगपथ', 'अतिमा', 'वाणी', 'रजत-शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण'—इन सब रचनाओं में कवि का यह ऊर्ध्वगमन एकसूत्रता लाता है, और उसके समग्र दर्शन के अंश-स्वरूप प्रकृति-चित्रण को एक नया गुण देता है। उसकी अनुभूति अब विश्वानुभूति है, उसके प्राणों में नयी आध्यात्मिक चेतना है, वह अब मानव-मात्र के समग्र कल्याण के लिए भविष्य-स्वप्नों की ऐसी झांकी प्रस्तुत करता है जिससे हम आज की मटमैली स्थिति की तुलना कर अपने अभावों का बोध पा सकते हैं, अपनी हीनता के प्रति सचेत हो सकते हैं। और क्योंकि कवि का पथ अब भविष्य-स्वप्नों का पथ है इसलिए उसमें परिचय का एक मनोरम कौतूहल है, रहस्य-भेदन की एक धुंधली प्रतीति है, नयी दिशा का एक विचित्र आभास है। इन रचनाओं में कवि के शब्द अपने परंपरागत अर्थों की भूमि से उखड़कर मानो अधर में झूलने लग गये हैं, उसकी अत्यंत वैयक्तिक दृष्टि से रंगकर यह चिर-परिचित दृश्य-जगत् एक अपरूप सुषमा से मंडित हो गया है। यह एक नये प्रकार का रहस्यवाद है, जो पंत का अपना है। उसमें कवि के अपने प्रतीक हैं, अपने शब्दार्थ हैं, अपनी रंग-कल्पना है। उनका अर्थ-ग्रहण साधना मांगता है, उनका रस-ग्रहण और भी कठिन है। अब तक कवि हमारे ही धरातल पर खड़ा था, वह जो चित्र देखता था, वे हमें पहले चाहे न दीख सके हों, पर उसके अंगुलि-निर्देश पर तुरंत दीख जाते थे। किंतु अब कवि मानो उड़कर अंतरिक्ष से नीचे भूमि को देखकर उसका वर्णन कर रहा हो। कंवाश्रम में कैशोर्य बितानेवाली शकुंतला समाज के निर्ममत्व की कड़वी स्मृति लिये मानो देवलोक में महर्षि कश्यप के आश्रम में पहुंच गयी है। अपनी कल्पना द्वारा जब तक हम उसके पास जाकर खड़े न हो सकें तब तक उन दृश्यों की उपलब्धि हमें नहीं हो सकती जिनके सौंदर्य ने उसे नयी स्फूर्ति और चेतना दी है।

इसीलिए इन रचनाओं का प्रकृति-वर्णन केवल हिंदी के ही लिए नहीं, साहित्य मात्र के लिए अनूठा है। जहां से कवि देख रहा है, वहां से प्रकृति और मानव-समाज दोनों परस्पर आबद्ध दिखायी देते हैं—यही नहीं, इतिहास, पुराण, संस्कृति और विज्ञान भी एक-दूसरे से संश्लिष्ट नज़र आते हैं। इसलिए कवि ऐसे समन्वित चित्र उपस्थित करने का प्रयास करता है, जिनमें नदी और आत्मा, लहर और कामना, उषा और चेतना परस्पर गुंथी हुई हैं। 'पल्लव' में कवि ने वेदनाभिभूत होकर कहा था :

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में विविधाभास!

(परिवर्तन)

'स्वर्ण-किरण' में कवि मुग्ध होकर उसी विविधाभास में अंतःस्थित असीम उल्लास (चेतना) के दर्शन करता है, और प्राणों के रंगमय प्रकाश से उसे रंगकर समस्त

दृश्य-जगत पर बिखेर देता है। प्रकृति का मानवीकरण तो हमारा परिचित है, पर इस प्रकार ज्योति-चेतना से उसका रूपांतरण हमने पहले कभी नहीं देखा था। कवि प्रकृति का वर्णन कर रहा है, या मानव-भावना का, या भविष्य-स्वप्न का—यह कहना भी कठिन हो जाता है :

व्रीडा दौड़ी भू पर आ ऊषा के मुख पर
प्रणय-रुधिर से हृदय शिराएँ काँपी थर-थर!
अधर-पल्लवों में जागा मधु स्वर्णिम मर्मर
मौन मुकुल मुख खिला लालिमा से रंग सुन्दर!
क्या था गिरि-कुंजों में, सरित-तटों में गोपन
लिपटी मर्म-मधुर लज्जा में जो अमर किरण!
सलज किसलयों का घर आनन पर अवगुंठन
स्वर्ग-चेतना बनी लाज मदिरा भी मोहन!

(उषा)

परवर्ती समस्त रचनाएं इसी गुण से वेष्टित हैं। इस गुण की परिभाषा भी सरल कार्य नहीं है। वह न सूक्ष्मीकरण है, न वायवीकरण है, न भावारोपण है—वह तो एक ऐसे प्रबुद्ध द्रष्टा कवि का मानस-लोक है जहां सृष्टि की मूल चेतना अपनी ज्योतिकिरणों से समस्त अस्तित्वों पर आलोक की पर्त चढ़ा देती है। वहा पहुंचकर हिमालय महाकाल बन जाता है, सागर मनश्चेतना और लहरें मत्स्यगंधाएं।

अद्वैत चेतना की यह नयी प्रतीति कवि को सहज ही आदिकाव्य की ओर ले जाती है। वेदों की ऋचाओं को वह स्वर देता है, उनमें नयी ऋचाएं भी जोड़ता है। जीवन के किसी एक पक्ष का, किसी एक वाद का, किसी एक अंग का वह कवि नहीं है, वह समग्र का है। इसीलिए अब वह केवल प्रकृति का भी कवि नहीं है—उसके प्राकृतिक चित्र इस समग्र चेतना के पराग से आलिप्त हैं। वह अब द्रष्टा ही नहीं, मंत्र-द्रष्टा भी है! 'कला और बूढ़ा चांद' की रचनाएं कविता ही नहीं, मंत्र भी हैं जिनमें पंत की जीवनव्यापी मंगल-कामना ज्योति-रूपों में व्यक्त हुई है। 'धेनुएं', शीर्षक रचना में नदियों का यह वर्णन ऐसी ही मंत्र-शैली मे हुआ है जो मानव-जीवन और संस्कृति को नदियों के दान का निरूपण तो करता ही है, भविष्य-निर्माण का प्रतीक भी है :

ओ रंभाती नदियो,
बेसुध
कहाँ भागी जाती हो?
वंशी-रव
तुम्हारे ही भीतर है!
ओ फेन-गुच्छ

लहरों की पूँछ उठाये
दौड़ती नदियो!
इस पार—उस पार भी देखो,—
जहाँ फूलों के कूल,
सुनहले धान के खेत हैं!
कल-कल छल-छल
अपनी ही विरह-व्यथा,
प्रीति-कथा कहते
मत चली जाओ!

क्या इस रचना में वर्णित नदी प्राकृतिक नदी है, क्या वह केवल मात्र प्रतीक है किसी चेतना-प्रवाह की, क्या वह कवि की कोई उमंग-भर है? कहना कठिन है। पर उसमें अनुभूति की ऐसी मीठी तीव्रता है, समग्रता की एक ऐसी तरल झांकी है, जो मानो अब 'गूंगे का गुड़' बननेवाली है। द्रष्टा पंत के नयन अब बाह्य यथार्थ की पर्तों को उघाड़कर कोई नया पूर्ण सत्य देखने में लीन हैं।

पर वह जन्म-सहचर 'गिरि-कोयल' अब भी कवि के प्राणों में मुखर है। कवि मानो अपने भविष्य-दर्शन के प्रयास से थककर कभी-कभी अपना मन बहलाने के लिए उसकी तान सुनने लग जाता है। और तब कुछ ऐसी रचनाओं की सृष्टि हो उठती है, जिनमें हम प्रकृति के उन रंग-गंध-गतिमय चित्रों को फिर पा जाते हैं जिनके दर्शन ने पंत को कैशोर्य में उद्वेलित कर दिया था और जिनकी स्मृति आज भी उन्हें मोहित कर लेती हैं। 'जन्म-दिवस', 'कूर्मांचल के प्रति' ऐसी ही रचनाएं हैं। इनका विवरण-कौशल और इनका निखार हमारे काव्य की अमूल्य संपत्ति है।

[रचनाकाल 1960, 'रूपांबरा' 1960 में संकलित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ. नगेंद्र से मेरा पहला परिचय आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले हुआ था। सन् 1936 के आस-पास की बात है। मैं उन दिनों चंदौसी में इंटरमीडियट-इन-कामर्स की शिक्षा ले रहा था और छायावादी कवियों की अनुकृति पर थोड़ी-बहुत तुक-बंदियां करने लग गया था। मेरे बड़े भाई (श्री विद्याभूषण अग्रवाल) सैंट जॉन्स कॉलेज आगरा में बी. ए. के विद्यार्थी थे। गर्मियों की छुट्टियों में जब वे घर आये तो अपने साथ एक कविता की किताब भी लाये जो शायद स्वर्गीया पुरुषार्थवती की रचनाओं का संग्रह था। उस पर बड़े ही लंबे-पतले, सुडौल-कोमल घुमावदार हस्तलेख में एक नाम लिखा था: नगेंद्र। मैंने कौतूहलवश भैयाजी से उनका परिचय पूछा तो उन्होंने बताया कि वे उन्हीं के कॉलेज में एम. ए. (अंग्रेजी) के विद्यार्थी हैं, बड़े भावुक हैं और छायावादी कविताएं लिखते हैं। मुझे अभी तक याद है, मैंने उस हस्तलेख के सहारे अपने मन में नगेंद्रजी का एक कल्पना-चित्र भी बनाया था, और उनसे मिलने और परिचित होने का सहज कौतूहल भी अनुभव किया था।

सन् 1937 में मैं भी बी. ए. की शिक्षा के लिए सैंट जॉन्स कॉलेज, आगरा में भर्ती हुआ। यद्यपि तब तक नगेंद्रजी अपनी शिक्षा समाप्त कर आगरा छोड़ चुके थे, फिर भी बीच-बीच मे उनकी चर्चा सुनायी पड़ती रहती थी। श्रद्धेय बाबू गुलाब राय, साहित्य-रत्न-भंडार के तेजस्वी अध्यक्ष श्री महेंद्र और पूज्य गुरुदेव श्री सत्येंद्र के मुंह से उनकी प्रशंसा बराबर सुनता रहता था। बीच-बीच में उठती रहनेवाली इन चर्चाओं से उनके बारे में मेरा कौतूहल जागता रहता था।

तभी एक दिन उनके दर्शन हुए। मैं सोचता हूं, सन् '38 के अंत की बात होगी। हृषिकेश-कप-काव्य-प्रतियोगिता में एक प्रतियोगी मैं भी था। सैंट जॉन्स कॉलेज की दिनचर्या में यह अवसर साहित्य की दृष्टि से वर्ष का सबसे बड़ा पर्व होता था। उस बार डॉ. नगेंद्र भी उस समारोह में उपस्थित थे। कह नहीं सकता, वे प्रतियोगिता के निर्णायकों में थे, या सामान्य 'ओल्ड बाय' के नाते वहां आये थे। पर वे मंच पर बैठे थे। और प्रतियोगियों का काव्य-पाठ समाप्त हो जाने के बाद निर्णायकों को विचार का समय देने की गरज से अध्यक्ष ने उनसे निवेदन किया कि वे भी अपनी एक रचना सुनाने की कृपा करें।

घोषणा सुनते ही मेरा मन उछल पड़ा। और दूसरे ही क्षण मैंने नगेंद्रजी को कविता पढ़ते देखा। कल्पना-चित्रों में किस हद तक वास्तविकता हो सकती है, यह बताने की तो कोई जरूरत ही नहीं पर जहां तक मुझे याद है उनकी उस पहली झांकी से मुझे कोई निराशा नहीं हुई। उनके सौम्य व्यक्तित्व में एक सजीलापन था, छरहरे बदन में एक कोमलता थी और वाणी में सहज संस्कार। उन्होंने धीरे-धीरे एक गीत सुनाना शुरू किया जिसकी पहली पंक्तियां मुझे आज भी याद हैं :

आ सखि तुझको गीत सुनाऊँ
इस चन्दा की उजियारी में सुख के गाने गाऊँ।

उन दिनों जैसे गीत मैं लिखता-पढ़ता रहता था, उनसे यह भिन्न कोटि का था। उसके भाव जैसे सरल और मुक्त थे, भाषा और अभिव्यक्ति भी मीठी और निश्छल थी। सरल प्रणय-निवेदन के इस गीत ने मेरे मन में नगेंद्रजी के व्यक्तित्व को एक मीठी कोमलता से मंडित कर दिया। यही कारण था कि अगले वर्ष जब साहित्य-रत्न-भंडार के कार्यालय में मुझे दुबारा उनके दर्शन का सौभाग्य मिला तो यह जानकर मुझे एक विचित्र निराशा-सी हुई कि वे उस समय अपनी एक आलोचनात्मक पुस्तक (सुमित्रानंदन पंत) के प्रकाशन के संबंध में आये हुए थे। मेरा अतिभावुक अधकचरा मन कवि को जिस श्रद्धा से देखता था, आलोचक को उससे वंचित रखता था। मैं सोचता हूं, आज भी हम पाठकों में ऐसे अनेक हैं जो आलोचक के कर्म को जाने-अनजाने कुछ घटिया स्तर देते हैं।

जो हो, आलोचना-पुस्तक के साथ नगेंद्रजी ने उन दिनों एक छोटा-सा काव्य-संग्रह भी प्रकाशित कराया—'वनबाला', और महेंद्रजी ने कृपापूर्वक उसकी एक प्रति भी मुझे दी थी। आज सोचता हूं कि 'वनबाला' की रचनाओं की मौलिकता पंत के काव्य के अतिशय प्रभाव के कारण कुछ दब-सी गयी थी, पर उन दिनों उन कविताओं में मुझे बड़ा रस मिला, और जहां तक मैं उन्हें समझ सका, उनसे काव्य-शिक्षा भी मैंने ग्रहण की।

पर 'वनबाला' से जो सुख और संतोष मुझे मिला था, वह फिर एक घटना से समाप्त हो गया। सन् 1940 के आस-पास की बात है। एक बार प्रोफेसर प्रकाशचंद गुप्त के घर अनायास ही कुछ हिंदी लेखक इकट्ठे हुए। उन दिनों प्रगतिशील लेखक-संघ आन्दोलन जोरों पर था; और मैं भी उस आंदोलन से प्रभावित होकर प्रगतिशील बन बैठा था। उस दिन की गोष्ठी में साहित्य के मूल सिद्धांतों पर श्री शिवदान सिंह चौहान और नगेंद्रजी में बड़ी गरमागरम बहस छिड़ गयी। मैं स्वभावतः चौहानजी के तर्कों को मुग्ध भाव से सुन रहा था, और नगेंद्रजी के तर्क मुझे व्यर्थ और निस्सार लग रहे थे। तिस पर जब मैंने देखा कि नगेंद्रजी के स्वर की दृढ़ता ज्यों की त्यों बनी हुई है, और वे चौहानजी की बातों पर अपनी स्थापनाओं में रंचमात्र भी परिवर्तन स्वीकार नहीं करना चाहते, तो मुझे घोर निराशा हुई। और जब बहस का अंत होते

न देखकर नगेंद्रजी ने सहसा एक विनोदपूर्ण वाक्य से सारी बहस काट दी तो मुझे लगा कि वे हंसी के सहारे अपनी कमजोरी छिपा रहे हैं।

अपने मानस के कल्पना-चित्र से नगेंद्रजी के इस यथार्थ आलोचक-रूप की यह विषमता देखकर मैं ऐसा दंग रह गया कि मैंने उनके निकट पहुंचने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। यों उनसे भेंट करने का और मिलते-जुलते रहने का मौका मुझे सदा मिलता रहा, और वे जब भी मिले, मुझे छोटे भाई का-सा स्नेह देते रहे, पर उनके व्यक्तित्व से उत्पन्न अपने निराशा-भाव पर मैं बहुत दिनों तक वश न पा सका। मेरठ साहित्य-परिषद में, जैनेंद्रजी के निवास-स्थान पर 'साहित्य-संदेश' के कार्यालय में अनेक बार उनसे मेरी मुलाकात हुई, और वे सदा मुक्तभाव से मुझे अपनाते रहे; मार्च 1947 में दिल्ली में दंगे के समय एक दिन रात के दो बजे मैंने उनका दरवाजा खटखटा कर शरण ली। 'प्रतीक' की सहकारी योजना में भाग लेते समय उन्होंने मुझे कई ऐसे परामर्श दिये जो बाद में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। आकाशवाणी के अपने कार्य-काल में मुझे उनसे कई बहुमूल्य सहायताएं मिलीं—पर मैं उनके कृतित्व को और उनकी उपलब्धि को कभी भी सही परिप्रेक्ष्य में न देख सका। मेरी यह बद्धमूल धारणा थी कि वे मूलतः कवि हैं जो छायावाद का रंग उतर जाने के कारण और नयी काव्य-धारा से अपना मेल न बैठा सकने के कारण कविता लिखना छोड़कर अपनी प्रतिभा के साथ अन्याय कर रहे हैं। बाद में संयोग से एक बार उनके परवर्ती काव्य-संग्रह 'छंदमयी' को पढ़ने पर भी मेरे मन में इसी धारणा की पुनरावृत्ति हुई।

यह बात नहीं है कि मैं नगेंद्रजी के आलोचक-रूप से नितांत अनभिज्ञ या अपरिचित था। समय-समय पर उनके निबंध पत्र-पत्रिकाओं में मिलते रहते थे और उनके ग्रंथों पर भी नजर पड़ती रहती थी। पर इन निबंधों और ग्रंथों के विषय मुझे कुछ पुराने-से लगते थे। काव्य की जिस वेगवती धारा में मैं अनायास बहा चला जा रहा था, उससे उनका कोई विशेष संबंध दिखायी नहीं पड़ता था। तिस पर उन दिनों मेरा अपना जीवन कुछ ऐसी निजी समस्याओं और उलझनों से घिरा हुआ था, और घटनाचक्रों के घात-प्रतिघात में मैं निरंतर ऐसा घूमता-भटकता फिर रहा था कि यदा-कदा काव्य-रचना के अतिरिक्त हिंदी-साहित्य के उच्च संसर्ग से मैं एक प्रकार से वंचित ही हो गया था। प्रयाग में सन् 1954 के आस-पास जब मैं कुछ स्थैर्य और धैर्य पा सका, तभी पहली बार नियमित अध्ययन का क्रम आरंभ कर सका। और तभी पहली बार मैं नगेंद्रजी के विकास को एक नये और सही परिप्रेक्ष्य में देखने में सफल हो सका। मैंने पाया कि नगेंद्रजी के कविता-सृजन बंद कर देने से हिंदी-काव्य की हानि चाहे हुई हो या न हुई हो, उन्होंने आलोचना का क्षेत्र अपना कर हिंदी के एक उत्कट अभाव की पूर्ति की ओर दृढ़ कदम उठाया है, और मूलतः कवि होने के नाते वे साहित्य के सही मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। उस समय के अन्य आलोचकों ने राजनीति और मतवाद के पूर्वग्रहों को अपना कर आलोचना को जो भीषण क्षति पहुंचाई थी, नगेंद्रजी उसका प्रतिकार करने

में लगे हैं और बहुत दिनों बाद पहली बार साहित्य में उन मूल्यों की चर्चा उठाई जा रही है जो उसके अपने निजी हैं। तब से अब तक मैं बराबर नगेंद्रजी के आलोचना-कार्य को श्रद्धा और प्रशंसा से देखता आया हूं, और यद्यपि समसामयिक हिंदी कविता के मूल्यांकन के संबंध में मैं उनसे सहमत नहीं हो पाता हूं, फिर भी यह निर्विवाद है कि नगेंद्रजी ने साहित्य-सृजन के मूल स्रोतों की खोज की और ध्यान दिलाकर, प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का गंभीर अध्ययन प्रस्तुत कर, और आलोचना के प्राचीन मानदंडों को युगानुकूल नई व्याख्या से संपन्न कर हिंदी में स्थायी महत्त्व का कार्य किया है, और हिंदी आलोचना को नयी प्रतिष्ठा से मंडित किया है।

[2]

'सुमित्रानंदन पंत' का प्रकाशन सन् 1938 में हुआ था। यद्यपि उसके पूर्व ही, अपने विद्यार्थी काल से ही नगेंद्रजी आलोचनात्मक निबंध लिखने लग गये थे, और सन् 1937 में साहित्य-संदेश के प्रकाशन से वे अपने इस रूप में पाठकों के सम्मुख आने लग गये थे, फिर भी नगेंद्रजी के सच्चे कार्य का आरंभ इसी ग्रंथ से माना जा सकता है। सन् '38 में नगेंद्रजी को अंग्रेजी और हिंदी का एम. ए. पास किये दो-एक वर्ष ही हुए थे और अपनी इस प्रथम पुस्तक में उन्होंने छायावाद के प्रमुख कवि को साहित्य के विद्यार्थी की ही दृष्टि से देखा था। स्वयं प्रकृति से छायावाद के अनुकूल होने के कारण वे पंतजी को सहज सहानुभूति दे सके थे। यों भी वे उनके प्रिय कवि थे और आज भी हैं। फिर भी आलोचना के क्षेत्र में 'सुमित्रानंदन पंत' का योगदान एक उल्लेखनीय साहित्यिक घटना है। जिस प्रकार उनके पूर्ववर्ती आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पहली बार सूर, जायसी और तुलसी का विशद एवं सांगोपांग विवेचन कर हिंदी के इन महाकवियों की प्रतिभा को प्रकाशित किया था, उसी प्रकार नगेंद्रजी ने 'सुमित्रानंदन पंत' और 'साकेत : एक अध्ययन' लिखकर अर्वाचीन कवियों को समुचित स्थान देने का श्रीगणेश किया। कविगुरु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर तो और भी आलोचक पुस्तकें लिख चुके थे (यथा—गिरीशजी और डा. सत्येंद्र) पर पंतजी के काव्य के विस्तृत विवेचन का यह प्रथम प्रयास था। पर प्रथम प्रयास होते हुए भी उसमें प्रौढ़ता, गंभीरता और स्पष्टता का प्रसन्न सम्मिश्रण था। सच तो यह है कि अपनी पहली पुस्तक में ही नगेंद्रजी ने अपने परवर्ती परिपक्व स्वरूप की सम्यक् झांकी देने में सफलता पायी थी। शुक्लजी ने प्रारंभ में छायावाद को काव्येतर दर्शन पर आधारित मानकर जो उपेक्षा दी और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी उसे केवल एक अभिनव शैली की ही जो प्रतिष्ठा दी, उसके कारण आलोचना के क्षेत्र में एक रिक्ति आ गयी थी। छायावाद के प्रशंसकों की यों कोई कमी न थी, और छायावादी कृतित्व से संबंधित स्फुट समीक्षाएं भी निरंतर प्रकाशित होती रहती

थीं, पर उसके एक प्रवर्तक कवि के समक्ष कृतित्व का व्यवस्थित विवेचन अभी तक न हुआ था। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जैसे प्रशंसक और समर्थक तो उसे प्राप्त हो गये थे, पर एक अध्यवसायी तटस्थ आलोचक का अभाव नगेंद्रजी ने ही पूरा किया।

'सुमित्रानंदन पंत' के प्रकाशन का समय मोटे तौर पर हिंदी में प्रगतिशील आंदोलन के उत्थान का समय है। छायावाद उस समय ढलान पर था, और देश-विदेश की उथल-पुथल से घिरकर साहित्यकार राजनीति के निकट जा रहा था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, साहित्य और राजनीति का यह गठबंधन मजबूत होता गया, यहां तक कि प्रगतिशील आंदोलन एक दल-विशेष का पर्याय बन गया और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में पहले प्रयोगवाद और फिर नयी कविता का युग आया। पचीस वर्ष की एक छोटी-सी अवधि में जब हिंदी कविता निरंतर अपना रूप-रंग बदल कर नयी और विचित्र होती जा रही थी, तब नगेंद्रजी का आलोचक बिलकुल विपरीत दिशा में अग्रसर हो रहा था। पंत से मैथिलीशरण, फिर देव और रीतिकाल और फिर प्राचीन काव्य-शास्त्र-आलोचक नगेंद्र की यह यात्रा जितनी विचित्र लगती है उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। जब अन्य आलोचक तात्कालिक प्रश्नों का तात्कालिक समाधान दे-ले रहे थे और काव्य के बहिरंग को लेकर माथापच्ची करते रात-दिन एक कर रहे थे, तब नगेंद्र काव्य की आत्मा के आविष्कार में, उसके मूल स्रोतों की खोज में सिद्ध कवियों और पंडितों का अनुशीलन कर रहे थे, एवं काव्य के सत्य स्वरूप के दर्शन के लिए व्याकुल थे। उनकी इस यात्रा ने मेरे समान अन्य अनेक विद्यार्थियों-लेखकों को इस भ्रम में डाल दिया कि वे भटक गये। जबकि सत्य यह है कि वे उस परंपरा को आगे बढ़ाकर चरितार्थ करने के प्रयत्न में अनवरत लगे हुए थे जो स्वर्गीय रामचंद्र शुक्ल ने चलाई थी, और जिसके बिना आधुनिक साहित्यिक आलोचना अपनी सच्ची भूमि नहीं पा सकती। श्री शिवदान सिंह चौहान से उनकी जिस बहस की चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूं वह क्षणिक संयोग न था। आज मैं पूरे तौर पर अनुभव कर रहा हूं कि नगेंद्रजी ने अपने विकास की एक दिशा निर्धारित कर ली थी, और तब से आज तक वे निष्कंप डगों से उसी पर चलते आ रहे हैं। अपने उद्देश्य के प्रति जो एकांत निष्ठा और अपने कर्म के प्रति जो तन्मय मनोयोग नगेंद्रजी ने प्रदर्शित किया है उसी का यह फल है कि नगेंद्रजी आज हिंदी के मूर्धन्य आलोचकों में हैं और वे प्रतिदिन उस सत्य के निकट पहुंच रहे हैं जो समग्र भारतीय साहित्य के मूल में बसा हुआ है। अत्याधुनिक साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण से बहुतों को असंतोष हो सकता है। क्योंकि उनके प्रति उनका वही दृष्टिकोण है जो शुक्लजी का छायावाद के प्रति था। पर इसका कारण न तो यह है कि वे आधुनिक जीवन की समस्याओं से अवगत नहीं हैं, और न यह कि वे नयी अभिव्यक्ति को सहानुभूति नहीं दे पाते। उसका एकमात्र कारण यह है कि नये काव्य ने अभी स्वयं अपना उत्कर्ष नहीं पाया है और समग्र साहित्य की उपलब्धि की तुलना में उसकी उपलब्धि अभी महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकी है। तिस पर वर्तमान को

अपनी सहानुभूति देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेनेवाले आलोचक के प्रयत्न की व्यर्थता भी किससे छिपी है। साहित्य को परंपरा से जोड़ने के लिए परंपरा का ज्ञान और मूल्यांकन प्राथमिक महत्त्व रखता है। सच पूछिए तो जो कार्य अपने पिछले पचीस वर्षों के जीवन में नगेंद्रजी ने किया है, वह पहले ही हो जाना चाहिए था। यदि ऐसा होता तो आज का साहित्य भी श्रेष्ठतर होता, और उसका मूल्यांकन भी अपेक्षाकृत सहज होता। पर अनेक ऐतिहासिक कारणों से ऐसा न हो सका और आलोचना एवं साहित्य-रचना के बीच की खाई न पट सकी। पर अब नगेंद्रजी ने जो आधारभूत कार्य संपन्न कर लिया है उससे यह आशा बंधती है कि आलोचना शीघ्र ही आधुनिकतम साहित्य से संपर्क स्थापित कर सकेगी। इस आवश्यकता के प्रति स्वयं नगेंद्रजी भी सचेत हैं, और यही कारण है कि वे प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करते रहे हैं, क्योंकि समसामयिक साहित्य पर पाश्चात्य का जो अनिवार्य प्रभाव है, उसका सही मूल्यांकन इसके बिना नहीं हो सकता। साथ ही विश्व-साहित्य के मूल तत्वों का विवेचन और समन्वय भी तभी संभव हो सकेगा। निश्चय ही नगेंद्रजी का ध्यान इस ओर भी लगा हुआ है, और उसी के पहले कदम के रूप में वे विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की आत्मिक एकता के अनुसंधान और प्रत्यय पर बल देते रहे हैं। ऊपरी विविधता के मूल में अंतरंग एकता की यह खोज साहित्यिक सत्य की प्रतीति की सही दिशा है।

[3]

अपनी पचीस वर्ष की अनवरत साहित्य-साधना से डा. नगेंद्र ने हिंदी-साहित्य को जो दान दिया है, और उसकी उपलब्धि में जो योग दिया है, उसकी एक झांकी उनके निबंधों में मिलेगी। समय-समय पर उनके लिखे और संपादित जो ग्रंथ अब तक प्रकाशित हुए हैं, उनकी संख्या पचीस के ऊपर है, उनमें से प्रायः सभी ने आलोचना के किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण पक्ष की पूर्ति का काम किया है, और आलोचना के मान और स्वरूप को निर्धारित करने में सहायता दी है। व्यवस्थित अध्ययन के फलस्वरूप ये आलोचना-ग्रंथ एक-दूसरे के पूरक बन गये हैं, और अपनी समग्रता में वे बहुमूल्य उपलब्धि हैं। उनके द्वारा डा. नगेंद्र ने पाश्चात्य और भारतीय काव्य-सिद्धांतों का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत कर उनके समन्वय का मार्ग उन्मुक्त किया है, छायावाद और राष्ट्रीय जागरण के काल तक के हिंदी-साहित्य का नवीन और अधिक संपूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, और पहली बार हिंदी आलोचना में अन्य भारतीय साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन और पारस्परिकता की चेतना का समावेश किया है। 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' नामक अपने निबंध में इस चेतना को स्वर देते हुए वे कहते हैं : "किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य

तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यंत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिंदी या बंगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धारा में अवगाहन करना होगा—गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएंगे। हिंदी साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएं सांयोगिक-सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिंदी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परंपरा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है।''' इस अंतः-साहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियां अनायास ही मिल जाएंगी—अगणित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हो जायेगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखंड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।" निश्चय ही भारतीय साहित्य का ऐसा सम्यक् और समग्र अध्ययन हमारे ज्ञान और आस्वाद के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह बड़ा शुभ लक्षण है कि यह कार्य हिंदी के द्वारा संपन्न किया जा रहा है। हिंदी आलोचना को इस नये अध्याय तक पहुंचाने के लिए डा. नगेंद्र हम सबकी बधाई के पात्र हैं।

इसी प्रकार आज के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का पुनराख्यान और विवेचन एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों से उसकी तुलना में अपने गंभीर श्रम द्वारा डा. नगेंद्र ने एक अन्य दिशा में समन्वय का मार्ग खोल दिया है। उन्होंने बड़े धैर्य और मनोयोग से विभिन्न काव्य-सिद्धांतों के मूल-तत्व को समझने का प्रयास किया है, और प्रत्येक के गुण-दोषों का पूरा विवेचन किया है। यह कितना कठिन कार्य है; इसे कहने की आवश्यकता नहीं। साथ ही, उनके अध्ययन में वांछित तटस्थता और विवेक का ध्यान रखकर डा. नगेंद्र ने पहली बार हमें उनके सच्चे स्वरूप से अवगत कराया है। तिस पर भी, जहां उन्हें भारतीय सिद्धांत पाश्चात्य सिद्धांतों से अधिक संपूर्ण अथवा अधिक उपयुक्त दीखे हैं, वहां अपने वक्तव्य में उन्होंने बड़ी दृढ़ता से कार्य किया है। सत्य की शोध में उन्होंने न तो कोई रू-रियायत की है, न किसी प्रकार की दुविधा या हिचक को प्रश्रय दिया है। उनके निबंधों का पाठ करने से पाठक सहज ही इस कथता की सत्यता और महत्त्व को परख सकता है।

इनके अतिरिक्त डा नगेंद्र ने हिंदी आलोचना को एक तीसरी दिशा में भी अग्रसर किया है। वह है अनुसंधान अथवा शोध की दिशा। आलोचक और अनुसंधाता के कार्य-क्षेत्रों का निर्धारण, अनुसंधान के उद्देश्य और उपकरणों का निर्देश एवं अनुसंधान की प्रकिया—इन सभी पक्षों पर डा. नगेंद्र ने गंभीर चिंतन कर अपने निबंध 'अनुसंधान और आलोचना' में अनुसंधान का एक पूरा शास्त्र ही विकसित किया है। गंभीरता और मौलिकता की दृष्टि से यह निबंध जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही सामयिकता और उपयोगिता की दृष्टि से भी। आज

जब हिंदी में अनुसंधान की बाढ़-सी आ गयी है, और कोरे कथ्य-संकलन को अनुसंधान की गरिमा से विभूषित करने की जो भ्रामक प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है, उसको देखते हुए नगेंद्रजी का यह निबंध *अनुसंधाताओं के लिए अनबुझे दीपस्तंभ का काम करता है। इस निबंध में प्रसंगवश आलोचक के सत्य* रूप का जिस ओजपूर्ण स्पष्टता से आख्यान हुआ है, वह भी प्रशंसनीय है।

इन तीनों दिशाओं में डा. नगेंद्र ने जो कार्य किया है, उसके बल पर हमें यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं कि रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना की सच्ची प्रगति डा. नगेंद्र के ही द्वारा हुई है, और वे शुक्लजी की परंपरा का विस्तार कर हिंदी की आलोचना को नयी उपलब्धियों के गौरव-शिखर की ओर ले जा रहे हैं।

[4]

साहित्य-शास्त्र के सिद्धांतों की चर्चा और मूल्यांकन करनेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण निबंधों का उल्लेख हम अभी कर आये हैं। उनके अतिरिक्त 'साहित्य में आत्मभिव्यक्ति' निबंध की ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते हैं। जिस युग में प्रगतिशील आंदोलन के प्रभाव से साहित्य अधिकाधिक निर्वैयक्तिक और रूढ़ होता जा रहा था, उसमें से रचयिता का आत्म-प्रकाश घटने लग गया था। उसी पृष्ठभूमि में लिखा गया यह निबंध साहित्य की मूल प्रेरणा का पुनराख्यान कर सही मूल्यों की स्थापना का एक सबल प्रयत्न है। जब राजनीतिक मतवादों के प्रचार-प्रसार को ही साहित्य का मूल धर्म बनाने की चेष्टा की जा रही थी तब डा. नगेंद्र ने निर्भीकता के अहं का संस्कार और परिष्कृत आनंद की उपलब्धि के इस उभयपक्षी सिद्धांत का प्रतिपादन कर तत्कालीन गर्द-गुबार को दूर करने में सहायता पहुंचाई। उन्होंने निर्द्वंद्व घोषणा की थी "...व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गांभीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और वे महत्तर मूल्य अंत में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परंतु इसका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य, (सामाजिक और राजनीतिक) आंदोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखंड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ, इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर अधकचरे निर्णय देता रहा है, परंतु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस अखंड मानव-चेतना ने तुरंत ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है।" निर्भ्रांत और निर्मल दृष्टि के बिना कथन में ऐसी दृढ़ता संभव नहीं होती।

डा. नगेंद्र के कुछ निबंध ऐसे हैं जो भारतीय साहित्य के कुछ पक्षों के विवेचन के अतिरिक्त स्वतंत्र भारत में हिंदी साहित्य की प्रगति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं। *'स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी साहित्य'* शीर्षक निबंध अपनी स्पष्टता और संतुलन के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य है। राजभाषा के रूप में हिंदी की आवश्यकताएं क्या हैं, उनकी पूर्ति की सही दिशा कौन-सी है, और किन पथों में जाकर उसके भटक जाने की संभावना है, यह इस निबंध में संक्षेप और गहराई से व्यक्त किया गया है। आलोचक नगेंद्र के सभी गुण इस निबंध में एकत्र मिलते हैं। विषय को समग्रता में देखने का संकल्प, इस प्रकार की अतिरंजना और अतिव्यक्ति से बचने की सावधानी, स्पष्टता, दृढ़ता और तटस्थ मूल्यांकन—इन सबका प्रमाण यह निबंध है। हिंदी के विकास को राजनीतिक दलदल में घसीटने का जो प्रयत्न किया गया है, उसकी ओर संकेत करते हुए डा. नगेंद्र लिखते हैं : "भारत की राजभाषा होते ही हिंदी भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया है। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है जिससे अनेक महारथी जूझ गये और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति का योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं।" शैली की यह प्रखरता तेजयुक्त होते हुए भी न्यायपूर्ण है। इसी प्रकार गांधी-विषयक उत्कृष्ट काव्य का हिंदी में अभाव देखकर उन्होंने जो निष्कर्ष दिया है वह जैसा संतुलित है वैसा ही सही भी है : "गांधी के महानिर्वाण से संबद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है, अभी वह संस्कार नहीं बन पाया—संभव है वर्षों तक बन भी न पाये। इसलिए गांधी महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गांधी के जीवन-मरण से संबद्ध हमारी गुणानुभूति प्रकृत अनुभूति न रहकर संस्कार बन जाएगी।" इस कथन में निहित जो मूलभूत तत्व है उसकी प्रतीति करने पर हम आधुनिक काव्य की अनेक रचनाओं की असफलता का कारण जान सकते हैं।

डा. नगेंद्र का एक निबंध है 'भारतीय साहित्य पर रवींद्रनाथ का प्रभाव' यह निबंध सामयिक होने के अनिरिक्त हिंदी आलोचना के लिए अभिनव योगदान है क्योंकि ऐसे सम्यक् और संपूर्ण रूप में इस विषय को पहले कभी नहीं उठाया गया। हमें इस निबंध में सर्वाधिक प्रशंसनीय बात यह लगती है कि विद्वान लेखक ने रवींद्रनाथ की महत्ता को प्राणपण से स्वीकार करते हुए भी अन्य कृतिकारों की प्रतिभा का बराबर ध्यान रखा है, और इस बात की सावधानी बरती है कि कहीं भी कथन में अतिशयोक्ति न आ जाये। वास्तव में सच्ची आलोचना का यह अनिवार्य गुण है। किसी भी महापुरुष की देन को स्वीकार करने में हम इतने अंधे न हो जायें कि अन्य रचयिताओं को उनका प्राप्य देना भूल जाये। रवींद्र-शतवार्षिकी के अवसर पर देश में जो अतिरंजना का

निर्घोष चतुर्दिक् सुनायी पड़ा, उससे अप्रभावित रहकर संतुलन का ऐसा सचेष्ट प्रयास विलक्षण-निष्ठा और शक्ति का उदारहण है।

'छायावाद' और 'प्रयोगवाद' हिंदी के दो आधुनिक काव्य-वादों पर भी निबंध लिखे हैं। इनमें 'छायावाद' पर निबंध जिस पैनी दृष्टि और सहानुभूति का परिचायक है, उसके दर्शन 'प्रयोगवाद' में कम होते हैं। डा. नगेंद्र ने प्रयोगवादी परिस्थिति का विवेचन तो यथेष्ठ गहरायी से किया है, पर उसकी सफलता-असफलता पर उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे हम सहमत नहीं हो पाते। छायावाद के मूल्यांकन में स्वर्गीय शुक्ल ने जो एकांगिता दिखायी थी इस मूल्यांकन में भी कुछ-कुछ वैसा ही आभास होता है। जिस प्रकार शुक्लजी ने छायावाद को मात्र एक शैली माना था, उसी प्रकार डा. नगेंद्र भी प्रयोगवाद की शैली पर ही विशेष बल दे रहे हैं। हमारा विश्वास है कि कालांतर में डा. नगेंद्र अपने इन विचारों में परिवर्तन करेंगे।

'कामायनी' छायावाद का तो सर्वोत्कृष्ट काव्य है ही, वह आधुनिक हिंदी का भी सबसे महान ग्रंथ है। यही कारण है कि उसके विवेचन में आलोचक स्वयं भी बड़ी उदात्त भूमि पर पहुंच जाता है। 'कामायनी' से संबंधित उन दो निबंध 'कामायनी में रूपक-तत्व' और 'कामायनी का महाकाव्यत्व' कामायनी की उपलब्धि को उजागर करने में तो सर्वथा समर्थ हैं ही, वे डा. नगेंद्र की भी विशिष्ट उपलब्धि हैं। मनन की गहराई, शैली की गंभीरता, विषयानुरूप भाषा और अभिव्यक्तिगत संयम इन निबंधों को उज्ज्वल बनाते हैं। कामायनी की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए ये दो निबंध जो कार्य करते हैं, वह बड़े-बड़े ग्रंथों से भी संभव नहीं।

डा. नगेंद्र ने व्यक्ति-परक निबंध भी लिखे हैं, यद्यपि 'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' तथा 'कहानी और रेखाचित्र' निबंधों में लेखक का आलोचक-रूप भी पूर्णतः मुखरित है, फिर भी उनमें व्यक्ति नगेंद्र का ऊष्ण स्पर्श भी हम पाते हैं। 'दादा : स्व. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ' निबंध विशुद्ध संस्मरण है और एक ऐसे अनोखे व्यक्तित्व के प्रति भावमयी श्रद्धांजलि है जो बहुत कम देखा जाता है। इन निबंधों के बिना नगेंद्रजी के पूरे व्यक्तित्व के साथ न्याय होना संभव नहीं था क्योंकि इनमें जो आत्मीयता हमें मिलती है, वह अपने विषय के कारण अन्य निबंधों में नहीं मिलती। स्पष्टता, संतुलन और निर्भीकता, जो नगेंद्रजी के विशिष्ट गुण हैं, यहां भी पूरे रूप में विद्यमान हैं; पर उन सबके साथ आत्म-परिचय की एक कोमलता इन निबंधों को आलोचना से अधिक रचनात्मक बना देती है। यों नगेंद्रजी के मत से आलोचक भी रचयिता होता है, और हम उनसे पूर्णतः सहमत हैं, पर इन निबंधों में मुझे उस खोए हुए कवि-रूप के पुनः दर्शन होते हैं जिसकी कल्पना एक युग पहले मेरे मन ने की थी।

इतना होने पर भी इन व्यक्तिपरक निबंधों में भी यथेष्ट प्रकार भेद हैं। 'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' यदि आत्म-कथात्मक है, तो 'कहानी और रेखाचित्र' चर्चा-अंकन है, और 'दादा : स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' '

विशुद्ध संस्मरणात्मक। विषयगत भेद के कारण तीनों की शैलियों में जो भेद है वह इतना अनिवार्य है कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उनके साथ अन्य किसी प्रकार से न्याय नहीं हो सकता था। इन निबंधों में हमें एक प्रसन्न प्रवाह के साथ-साथ घटनाओं, कथोपकथनों और मुद्रांकनों के भी पुट मिलते हैं। अपने आलोचनात्मक निबंधों में विषय के प्रति संतुलन बनाने के लिए नगेंद्रजी जिस तटस्थता का प्रयोग करते हैं, उससे इन निबंधों का विवर्तन प्रफुल्ल विस्मय प्रदान करता है। इसीलिए इन निबंधों की भाषा भी अपेक्षाकृत हल्की और कल-कलमयी हो जाती है। कामायनी-संबंधी निबंधों के महानद-प्रवाह से इन लहरियों की तुलना कर पाठक स्वयं ही इस मर्म को ग्रहण कर सकता है।

[5]

साहित्य के मूल्यांकन और हिंदी आलोचना के विकास के क्षेत्र में डा. नगेंद्र ने जो योग दिया है, उसके प्रतिनिधि होने के नाते तो उनके निबंध महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं ही, निबंध-कला की दृष्टि से भी ये कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अपने विद्यार्थी-काल से आरंभ कर आज तक डा. नगेंद्र निरंतर निबंध को अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते आये हैं, और उनकी कला में निरंतर प्रौढ़ि और निखार आता गया है। यद्यपि प्रारंभिक निबंध अपेक्षाकृत उथले और सीमित हैं और बाद के निबंध अपेक्षाकृत अधिक गहरे एवं व्यापक, फिर भी यह द्रष्टव्य है कि प्रत्येक निबंध में डा. नगेंद्र के व्यक्तित्व की अचूक छाप है, और उन सबों मे समाहित मूल सूत्र एक ही है। अधिकांश निबंध-लेखक निबंध-रचना को सरल समझकर उसके रूप और प्रकार पर विशेष ध्यान नहीं देते, पर नगेंद्रजी के साथ यह बात नहीं है। वे निबंध-रचना में उतनी ही सावधानी और श्रम बरतते हैं जितना एक कुशल कवि अपनी कविता की रचना में। कुछ दिन पहले की बात है, उनके एक निबंध को पढ़ कर मैंने उसमें एक विशेष प्रसंग में कुछ परिवर्तन करने का सुझाव दिया था। उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा वह यद्यपि मेरे लिए अप्रत्याशित था पर उससे उनके चिर-जागरूक कलाकार का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा कि निबंध में किसी बाहरी आवश्यकतावश कोई परिवर्तन करना वे सह नहीं सकते। अर्थात् संपूर्ण निबंध एक कलासृष्टि है, उसका आदि-मध्य-अंत अत्यंत सावधानीपूर्वक प्रकल्पित और प्रणीत है, उसमें अब छेड़-छाड़ उसके स्वरूप को बिगाड़ देगी। उनका यह उत्तर सुनकर मैं मन ही मन गद्‌गद हो गया था क्योंकि उससे उनकी सावधानी और दृढ़ता का पता चलता है। यही कारण है कि उनके निबंध आलोचना-परक होते हुए भी कलात्मक कृतियां हैं। उनमें प्रत्येक शब्द अपनी अनिवार्यता से उपस्थित है, न कहीं अनावश्यक विस्तार है, न उलझन। निबंधकार ने अपने कथ्य को पूरे मनन के उपरांत रचना का रूप दिया है, उसकी उठान, उसका विकास और उसकी परिणति कलाकार के संयम से निर्मित है। उनके निबंधों का यह कसाव और यह सर्वांगता डा. नगेद्र की निबंध-कला की प्रमुख विशेषता है।

डा. नगेंद्र के निबंधों की दूसरी विशेषता है उनकी स्फटिक-तुल्य पारदर्शिता एवं तर्क-संगत विचार-गुंफन। अपनी धारणाओं की स्थापना में वे पक्षधर नहीं बनते। प्रत्येक तथ्य के सभी पहलुओं पर सम्यक् धैर्य से विचार करते हैं, और जो निष्कर्ष तर्क एवं विवेक द्वारा पुष्ट न हो सके उसे मात्र आग्रह या भावोच्छ्वास से प्रतिनिष्ठत करने की चेष्टा नहीं करते। इस एक गुण में मैं उन्हें शुक्लजी से भी बड़ा निबंधकार मानता हूं। कतिपय आलोचकों ने डा. नगेंद्र को खीझ, क्रोध, हर्षोल्लास आदि प्रकट न करते देखकर निराशा व्यक्त की है, पर मैं इनके अभाव को सच्चे आलोचक का गुण मानता हूं। हां, जिन निबंधों का स्वर वैयक्तिक है, उनमें इस प्रकार के भावोद्गारों का अभाव नहीं है, उनका बाहुल्य तो नगेंद्रजी देंगे ही क्यों। इसी गुण के अनुषंग रूप में एक और गुण इन निबंधों में मिलता है—निबंधकार का संतुलन! इसका अत्यंत सुंदर उदाहरण है 'अनुसंधान और आलोचना' जिसमें साहित्य की इन दोनों विधाओं के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लेखक ने ऐसे विलक्षण संतुलन से काम लिया है जिसे 'तलवार की धार पै धावनो' कह सकते हैं। लगता है कि लेखक तनिक-सी भी डगमगाहट से संतुलन खो बैठता, पर उसकी सावधानी के कारण ऐसा कहीं भी नहीं हुआ। इसमें संदेह नहीं कि उनके निबंध अत्यंत उच्च कोटि की निबंध-कला के प्रमाण हैं, और उनका स्वरूप, उनका कलेवर, उनकी भंगिमा सब प्रतिपाद्य के अनुरूप ढली हुई है। उदाहरण के लिए 'कहानी और रेखाचित्र' वाला निबंध ले लीजिए। कहानी और रेखाचित्र दो विधाएं हैं, या एक ही के दो प्रकार, और दो हैं तो उनमें अंतर क्या है, इसका विवेचन लेखक ने एक गोष्ठी की कार्यवाही के अंकन के माध्यम से किया है। हमारा निश्चय है कि अन्य किसी रूप में कहानी और रेखाचित्र के साम्य और भेद को इतनी सूक्ष्मता से उपस्थित करना कठिन होता।

अंत में एक शब्द भाषा के संबंध में। डा. नगेंद्र की भाषा को हम संस्कृत-गर्भित कह सकते हैं। निश्चय ही, साधारण पाठक जिस भाषा की अपेक्षा रखता है, उससे यह कठिन है। पर उपन्यास और आलोचना की भाषा एक कभी नहीं हो सकती। फिर भाषा का काठिन्य अधिकतर पारिभाषिक शब्दों का ही है, समग्रता में भाषा इतनी स्पष्ट और निखरी हुई है कि उसमें उलझन अथवा अस्पष्टता का लेश भी नहीं। और जहां तक पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है, मैं समझता हूं कि जितने नये शब्दों का निर्माण डा. नगेंद्र ने किया है, उतना आज के और किसी आलोचक ने नहीं। यद्यपि डा. नगेंद्र ने कहीं-कहीं अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, पर वहीं जहां स्पष्टता के लिए वह आवश्यक लगी है। अन्यथा उन्होंने प्रायः सभी अंग्रेजी शब्दों के सटीक और समानार्थी पर्याय हमें दिये हैं।

['डा. नगेंद्र के श्रेष्ठ निबंध' पुस्तक
की संपादकीय भूमिका 1962।]

लेखक की मान्यताएं : साधक या बाधक

लेखक की मान्यताएं उसके सृजन-कर्म में सहायता देती हैं, अथवा बाधा पहुंचाती हैं, यह प्रश्न, एक प्रकार से, ऐसा ही है जैसा यह कि पौधे के विकास में पानी लाभदायक है या हानिकारक। और जहां तक पौधे का प्रश्न है, हम बिना किसी हिचकिचाहट के कह सकते हैं कि यद्यपि पानी उसके विकास के लिए सहायक ही नहीं, अनिवार्य भी है, तथापि पानी की अति उसके विकास को ही नहीं, उसके अस्तित्व को भी मटियामेट कर सकती है। क्या यही हाल मान्यताओं का भी है? यदि हां, तो मान्यताओं की अति हम किस स्थिति को कहेंगे?

पर मैं सोचता हूं इस दृष्टांत को अधिक खींचने से कोई लाभ नहीं। उसे छोड़कर सीधे लेखक और उसकी सृजन-प्रक्रिया पर विचार करना उचित होगा। सच पूछिए, तो यह प्रश्न एक प्रकार से नया प्रश्न न होकर एक ऐतिहासिक प्रश्न है, और अपने लघु कलेवर में हिंदी के विगत दो दशाब्दों का इतिहास समेटे हुए है। इस पर विचार करने के लिए विगत बीस वर्षों के हिंदी-साहित्य के विकास पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। साथ ही यह कोरा ऐतिहासिक प्रश्न भी नहीं है, क्योंकि आज हिंदी-साहित्य की जो स्थिति है उसके मूल में भी मान्यताओं का यह प्रश्न अपना आसन जमाए बैठा है। एक प्रकार से, जाने-अनजाने, हिंदी के प्रायः सभी सक्रिय लेखक इस प्रश्न से जूझते रहे हैं, और अपने-अपने ढंग से उसका समाधान पाते रहे हैं। इस स्थापना से असहमति प्रकट कर यदि आप कहना चाहें कि समाधान पाना सभी के भाग्य में नहीं जुट पाया है, तो भी मुझे कोई आपत्ति न होगी। क्योंकि मेरा बल केवल इस बात पर है कि इस प्रश्न से जूझना सभी को पड़ा है। आज हमारे साहित्य में जो बिखराव और विरलता है, गहराइयों और ऊंचाइयों का जो आश्चर्यजनक अभाव है वह इसी का प्रमाण है।

कलाकार यानी लेखक जीवन को देखता-भोगता है, अपनी कल्पना से अपने अनुभवों को क्रम और स्वरूप देता है, और फिर अंत में अपनी सृजन-शक्ति से उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। मोटे तौर पर सृजन-प्रक्रिया के यही तीन स्तर हैं; और इन तीनों में ही उसकी मान्यताओं का यथेष्ट योग होता है। जीवन को देखने-भोगने में उसकी सामाजिक-राजनीतिक मान्यताएं साथ

रहती हैं, अनुभवों को क्रम और स्वरूप देने में उसकी दार्शनिक मान्यताएं उसके साथ होती हैं, और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति में उसकी साहित्यिक और कला-संबंधी मान्यताएं साथ रहती हैं। यही विभाजन मैं केवल अध्ययन की सुविधा के लिए सुझा रहा हूं, यूं तो व्यक्तित्व स्वतः अभेद्य और संपूर्ण होता है, अतः सभी स्थितियों में सभी मांयताओं का थोड़ा-बहुत हाथ रहता है। यदि कलाकार के व्यक्तित्व में इन सभी मान्यताओं का संपुंजन परस्पर पूरक और मैत्रीभाव से होता है तो मान्यताएं उसके सृजन-कर्म का सशक्त आधार बन जाती हैं। इसके विपरीत, जब इन मान्यताओं में किसी कारणवश विरोध उत्पन्न हो जाता है तब उसके सृजन-कर्म पर उनका हानिकारक प्रभाव पड़ता है, और यदि विरोध तीव्र और उत्कट होता है तो कभी-कभी लेखक सृजन-कर्म से उपराम भी हो जाता है। विश्व-भर के महान् लेखकों पर यदि दृष्टि डालें तो हम पायेंगे कि उनकी महानता का रहस्य उसी एकांत समर्पण में निहित है जो इन मान्यताओं के अटूट ऐक्य से उत्पन्न होता है। साथ ही हम ऐसे भी उदाहरण पा सकते हैं जब इन मान्यताओं ने परस्पर विरोध उत्पन्न कर लेखक को असफल, व्यर्थ, यहां तक कि अलेखक भी बना डाला है।

पर अलेखक बनकर भी व्यक्ति को चैन नहीं मिलता, क्योंकि मान्यताओं का विरोध केवल लेखक को ही तंग करता हो, ऐसा नहीं है; वह प्रत्येक सचेत व्यक्ति को त्रस्त करता रहता है। हर व्यक्ति, चाहे वह लेखक हो या न हो, अपना प्रत्येक कर्म, चाहे वह लेखन हो या दुकानदारी, अपनी मान्यताओं के आधार पर ही करता है। यह और बात है कि वह अपनी मान्यताओं के प्रति सचेत हो या न हो, पर वे उसके साथ होती हैं, और उसके प्रत्येक कर्म को, समस्त जीवन को अनुरूपित करती रहती हैं। उनमें परिवर्तन होते ही उसके जीवन में, सामाजिक व्यवहार में, उसकी कलात्मक रचना में परिवर्तन अनिवार्य है। इस परिवर्तन के कारण जब कभी मान्यताओं में विरोध की सृष्टि हो जाती है तभी जीवन और रचना में गतिरोघ उत्पन्न हो जाता है। यह गतिरोध व्यक्ति को चुनौती देता है, उससे जूझकर उसे समाप्त किये बिना फिर गति नहीं बचती। पर जब व्यक्तित्व इतना विशाल अथवा समर्थ नहीं होता कि वह इस विरोध का शमन कर एक संश्लिष्ट जीवन-दर्शन पा सके तो वह बहुधा एक सुविधा-मार्ग अपनाता है। या तो वह अपनी कलात्मक मान्यताओं की बलिवेदी पर अपनी सामाजिक-दार्शनिक मान्यताओं की हत्या कर देता है, या फिर वह अपनी सामाजिक-दार्शनिक मान्यताओं के चरणों में अपनी कलात्मक मान्यताओं की बलि दे देता है। एक मार्ग पर पलायनवादी साहित्य की सृष्टि होती है, दूसरे पर उपदेशात्मक साहित्य की। पर साहित्य के ये दोनों ही प्रकार सर्वांगपूर्ण नहीं हो पाते।

इस सामान्य विवेचन को यदि हम आधुनिक हिंदी-साहित्य पर लागू करें तो हम देखेंगे कि यदि छायावाद का उत्तरार्द्ध कलात्मक मान्यताओं के अंधेपन के कारण पलायनधर्मी बन गया था तो प्रगतिवाद ने सामाजिक मान्यताओं को प्रश्रय देकर कोरे उपदेशात्मक साहित्य की सृष्टि की। मान्यताओं के विरोध

से मुक्ति पाने के ये दोनों ही सुविधावादी उपाय थे जो व्यक्तित्व को छोटा और असंपूर्ण बनाते थे, और साहित्य को छिछला। जिसे आज हम प्रयोगवाद के नाम से जानते हैं, उस धारा का विकास इन सुविधावादी विकल्पों के सचेत त्याग और मान्यताओं के परस्पर विरोध से जूझकर एक विराट संश्लेष की प्राप्ति की चेष्टा का परिणाम था। उसकी उपलब्धि अभी तक सीमित और अपर्याप्त है तो इसी कारण कि मान्यताओं में विरोध अभी बना हुआ है, चेष्टा अभी सफल नहीं हुई है।

महान् साहित्य की रचना सर्वदा उसी कलाकार ने की है जिसकी विशद संवेदना में व्यावहारिक, दार्शनिक और कलात्मक मान्यताओं की तीनों धाराएं समुद्र के समान विलीन होकर एकमेक हो गयी हों। इस विलीनीकरण का सबसे प्रबल प्रमाण है कि लेखक के लिए अपना सृजन-कर्म अत्यंत सहज, अनायास और अनिवार्य बन उठा हो, उसमें और केवल उसी में उसे अपने जीवन की चरम और एकमात्र सार्थकता मिलती हो। जब-जब ऐसा नहीं हो पाता, जब-जब मन में विकल्प और द्विधा रहती है, जब-जब सृजन-कर्म सचेत और सप्रयास होता है, तभी-तभी रचना महान् होने से रह जाती है। मान्यताएं सृजन-कर्म की साधक हैं, इसका सबसे सही और सीधा प्रमाण यही है कि वे लेखक के सृजन-कर्म की प्रेरणा तो बनें, पर उसमें ऐसी विलीन हो जायें कि अलग से दिखायी न दें। यदि वे अलग से दिखायी पड़ती हों तो हम यह मान सकते हैं कि लेखक की मान्यताओं ने कहीं-न-कहीं बाधा अवश्य पहुंचाई है। 'सेवासदन' और 'गोदान' पर एक क्षण को तुलनात्मक विचार कर इस सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। 'सेवासदन' अपेक्षया हलकी रचना है क्योंकि लेखक की सुधारवादी मान्यताएं उसकी संवेदना को अपने कूलों में भरकर चलती हैं। 'गोदान' अपेक्षया पुष्ट रचना है क्योंकि उसमें लेखक की नानाविध मान्यताएं विराट संवेदना के समुद्र में समा गयी हैं। और निकट से यदि उदाहरण लें, तो राजनीतिक मान्यताओं के प्रश्रय के कारण यदि एक ओर हमें 'दादा कामरेड' के 'दादा' का अस्वाभाविक चित्रण हाथ लगता है तो दूसरी ओर 'नदी के द्वीप' के 'चन्द्रमाधव' का। मान्यताओं का अनुचित आग्रह ही ऐसे चरित्र-चित्रण का कारण है।

वास्तव में सृजन-क्रिया एक प्रच्छन्न प्रक्रिया है। लेखक उसके संबंध में जितना ही अचेत और अनभिज्ञ रहे उतना ही शुभ है। जीवन को देखने, समझने और फिर चित्रित करने में उसकी दृष्टि यदि संपूर्ण समर्पण पर रहे, तभी उसकी रचना गहरी और सच्ची होती है। उसमें उसकी मान्यताएं स्वयं एक सामंजस्य और संगति पा लेती हैं। कठिनाई तभी उपस्थित होती है जब लेखक अपनी किसी मान्यता के आग्रह के कारण अपने सृजन को उससे प्रभावित करने की चेष्टा करता है। इससे वह अपने सजृन के प्रति अन्याय ही नहीं करता, अपनी मान्यताओं को भी व्यर्थ करता है। कदाचित् इसीलिए हमारे आचार्यों ने साहित्य का एकमात्र लक्ष्य, उद्देश्य और प्रयोजन रस माना था। अपने जीवन के अनुभवों का रस यदि हम अधिकाधिक मात्रा में अपने पाठकों तक पहुंचा सकें तो हमारा

सृजन-कर्म सार्थक है। मान्यताएं अपनी चिंता आप कर लेंगी। इसके विपरीत यदि हम अपनी रचना को इस या उस मान्यता का प्रमाण या प्रचार बनाने की ओर प्रवृत्त होंगे तो उसका रस घट जाएगा और उसी अनुपात में वह साहित्य की कसौटी पर असफल हो जायेगा।

[रचनाकाल 1961, 'साहित्यिकी' दिल्ली द्वारा आयोजित एक गोष्ठी के लिए लिखा लेख, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

रांगेय राघव का औपन्यासिक व्यक्तित्व

रांगेय राघव हिंदी साहित्य की ऐसी विलक्षण प्रतिभा थे कि किसी एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व को बांध देना बड़ी टेढ़ी खीर है। 39 वर्ष की अल्पायु में कैंसर जैसे रोग से सन् 1962 में इहलीला समाप्त कर देनेवाला यह लेखक उपलब्धि से भी अधिक संभावना का ही धनी रहा। मंथन-काल के मध्य में उदित होकर राघव स्वभावतः हिंदी के प्रगतिशील आंदोलन की ओर आकर्षित हुए और मार्क्सवाद के संपर्क में आये। तभी जो उनकी लेखनी ने चलना आरंभ किया तो सबको चमत्कृत कर देनेवाली गति से अजस्र धारा बनकर झरती रही। उनकी प्रथम प्रकाशित रचना 'तूफानों के बीच' बंगाल के अकाल पर लिखे गये रिपोर्ताजों का संकलन था जो 1944 में प्रकट हुआ। तब से 1962 तक के 18 वर्षों में उन्होंने 135 ग्रंथ प्रकाशित किये। यदि इस संख्या में उनके अप्रकाशित और अपूर्ण ग्रंथ भी सम्मिलित कर लिये जायें तो वर्ष में दस ग्रंथों का अनुपात ठहरता है। यह संख्या अपने आपमें कुछ कम विस्मयकारक नहीं है, पर यदि इसी के साथ इन ग्रंथों की विषयगत विविधता का भी ध्यान करें तो चकित हो जाना पड़ता है। काव्य, कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, रिपोर्ताज, अनुवाद के अतिरिक्त इतिहास, पुरातत्व, कला, समाज-शास्त्र, समीक्षा आदि-आदि विषयों पर भी उन्होंने ग्रंथों की रचना की ऐसी उद्दाम गति से सृजन-रत कलाकार की कलात्मक उपलब्धि यदि संतोषजनक न हो सकी हो तो आश्चर्य ही क्या। प्रकाशचंद्र गुप्त ने ठीक ही लिखा है : "बहुत गहरी भावना और तेजी से राघव लिखते थे। वे लिखते चले जाते थे और संशोधन अथवा संपादक की ओर कम ध्यान देते थे। उनके साहित्य में भावना का उद्रेक रहता था।"

पर यह तथ्य स्मरणीय है कि राघव की यह भावना कोरे उच्छ्वास से भिन्न थी। उसके पीछे एक चिंतन-धारा का बल था और कर्त्तव्य-पालन की बौद्धिक प्रेरणा थी। मार्क्सवाद के संपर्क में आकर उन्होंने अपने जीवन और जगत को ऐतिहासिक-सामाजिक दृष्टि से समझने का भरपूर प्रयास किया और उन्हें जो धारणाएं प्राप्त हुईं उन्हें अपने पाठकों तक पहुंचाने की व्यग्रता ने उन्हें निरंतर सृजन-रत रखा। उनके मित्रों ने उनके अथक श्रम-सामर्थ्य का बार-बार उल्लेख किया है। शेक्सपियर के एक-एक नाटक का अनुवाद उन्होंने एक-एक दिन में किया, और बड़े-से-बड़ा उपन्यास भी एक मास में ही समाप्त

किया। इसमें संदेह नहीं कि इस असाधारण गति का कुछ कारण यह भी था कि वे लेखन से ही आजीविका अर्जित करते थे, सर्वोच्च शिक्षा पाकर भी उन्होंने कोई वृत्ति नहीं ली, पर यही एकमात्र कारण न था। उनकी उतावली भी उसका कारण थी। अपना काम पूरा करने की उतावली। और उनका अपना काम था अपनी दृष्टि से भारतीय इतिहास और समाज का प्रगतिशील चित्रण।

यद्यपि डा. रांगेय राघव का जन्म उत्तर प्रेदश में (आगरा में) हुआ था तथापि उनका परिवार दाक्षिणात्य था। उनकी मां कन्नड़भाषी थीं और पिता तमिलभाषी। ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति उन्हें पैतृक दाय में मिली। पिता संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और तमिल के ज्ञाता थे। उन्होंने राघव की अध्ययन-वृत्ति को सदा प्रोत्साहन दिया और जब राघव ने लेखन को ही अपना एकमात्र कर्म निश्चित किया तो परिवार की ओर से सहयोग ही मिला। मार्क्सवाद के संपर्क ने उनकी ज्ञान-पिपासा और विश्लेषणात्मकता को उत्तेजित अवश्य किया पर उसकी जड़ें उनके मन में पहले से ही जम गयी थीं। द्राविड़-परंपरा का सहज ज्ञान होने के कारण वे भारतीय इतिहास और प्रागैतिहास में गहन रुचि रखते थे। जब उन्हें मार्क्सवाद के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत प्राप्त हुआ तो उन्होंने अन्य प्रगतिशील विचारकों की भांति उसे सामयिक संदर्भ तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उसे समस्त भारतीय इतिहास के विराट क्षेत्र पर लागू किया। फलतः 'आधिकारिक' मार्क्सवादियों से महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनका मतभेद हो गया। तब अपने मत की पुष्टि में उन्होंने ग्रंथ पर ग्रंथ रचकर उन्हें अभिभूत कर दिया। उनका मतभेद विशेषतः प्रगतिशील समालोचक डा. रामविलास शर्मा से था और शर्मा ने स्वीकार किया था कि "जब तक मैं उनकी (राघव की) एक किताब का अध्ययन समाप्त करता हूं, तब तक ये कई और लिख डालते हैं।" राघव का यह मतभेद अंत तक बना रहा, वे 'वाद' के संकीर्ण घेरे में न समा सके और उन्होंने अपनी रचना में अपनी ही मौलिक और स्वतंत्र लीक का निर्माण किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की : "मैं किसी पार्टी का सदस्य नहीं हूं अतः जनता के प्रति ही जिम्मेदार हूं, पार्टियों के प्रति नहीं।"

अपने इस मत के प्रतिपादन के लिए डा. रांगेय राघव ने भारत के प्राचीन इतिहास, पुराण, शास्त्र, साहित्य, पुरातत्व और धर्म-ग्रंथों का बड़ा विस्तृत और विशद् अध्ययन किया और साथ ही पाश्चात्य साहित्य, समाज-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र का भी। पर भारतीय अध्ययन की तुलना में उनका पाश्चात्य अध्ययन सीमित और स्वल्प था, जो कि उचित ही था। फिर भी वह अन्य किसी भी उपन्यासकार से न्यून न था। उनके स्वर्गवास के बाद उनका ग्रंथ 'संसार के महान् उपन्यास' प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने पैंतालिस पाश्चात्य उपन्यासों का कथा-सार प्रस्तुत किया है और प्रत्येक लेखक के जीवन एवं कृतित्व पर टिप्पणियां भी दी हैं। यह ग्रंथ चाहे उन्होंने दो-एक महीनों में ही रच डाला हो पर इसके बल पर यह तो कहा ही जा सकता है कि स्पेनी उपन्यासकार सर्वांतीस से लेकर फ्रांसीसी उपन्यासकार आल्बेयर कामू तक—पश्चिम का कोई भी प्रमुख उपन्यासकार ऐसा नहीं है जिसका उन्होंने अध्ययन न किया हो।

यही नहीं, राघव ने स्वयं यह भी स्वीकार किया है कि सन् 1944 में अपना पहला उपन्यास 'घरौंदे' प्रकाशित करने के पूर्व भी उन्होंने उपन्यास लिखे, जो विदेशी साहित्यों के भारतीय वातावरण के अनुकूल किये गये रूपांतर थे, जैसे 'अंधेरे की भूख', 'बोलते खंडहर' और 'नवाब का वारिस'। उनमें रोमांस का प्रभाव अधिक था। और उनके समीक्षक विश्वम्भर 'मानव' की भी यह धारणा है कि राघव के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला' पर 'टामकाका की कुटिया' और 'पम्पाई के अंतिम दिन' का प्रभाव स्पष्ट है। पर उनके कृतित्व पर ध्यान देने से यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि उनके व्यक्तित्व में पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का बहुत ही गौण स्थान है।

इस कथन की पुष्टि के लिए रांगेय राघव के दृष्टिकोण और सृजन की विवेचना आवश्यक है। जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, प्रारंभिक काल में उन्होंने विदेशी रोमांसों के अनुकरण पर कुछ रचनाएं कीं और उनमें से दो (अंधेरे की भूख, बोलते खंडहर) प्रकाशित भी हुए, पर उनकी दृष्टि में रोमांस का यह पुट 'घरौंदे' में आकर ही समाप्त हो गया था। और वे शीघ्र ही प्रगतिवाद के सिद्धांतों से इस वेग एवं एकाग्रता से जूझने लग गये कि पश्चिम के सभी वाद उन्हें त्रुटिपूर्ण और अपर्याप्त लगने लग गये। उनकी मान्यता थी कि "प्रगति का अर्थ यदि संकीर्ण मनोवृत्ति के तथाकथित मार्क्सवादियों ने विकृत किया है, तो वर्ग-संघर्ष के कठोर सत्य से पलायन करनेवाले अध्यात्मवादी, अंतश्चेतनावादी, प्रतीकवादी, ध्वनिवादी, प्रकृतवादी, प्रयोगवादी तथा 'कला कला के लिए' वालों ने प्रयोग का अर्थ विकृत किया है। दोनों ओर से दो प्रकार की अति का वर्णन होता है। पहलेवाले अर्थात् संकीर्ण मनोवृत्ति के तथाकथित मार्क्सवादी केवल वर्ग-संघर्ष के आधार पर समस्त मानवीय मूल्यों और साहित्य के समस्त चित्रों की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं, केवल लोक-कल्याण की भावना को देखते हैं और लोकरंजन की भूमि पर उद्‌भूत व्यक्ति के उस आनंद पक्ष को नहीं देखते जो शैली, चित्रण आदि के सौंदर्य से उत्पन्न होता है, तो दूसरी ओर के लोग वर्ग-संघर्ष का आधार छोड़कर समन्वयवाद पकड़कर, लोक-कल्याण के ऊपर संकुचित व्यक्तिवाद रखकर, आनंद पक्ष की भावना को युग और देश से अलग करके 'कला' को ऊपरी वासना की झंकृति मानकर चलते हैं।"

राघव इन दोनों प्रकार की अतियों से बचना चाहते थे। उनका विश्वास था कि मार्क्सवाद को तथाकथित मार्क्सवादियों ने जिस शिकंजे में कस दिया है, वह उसका सहज-स्वाभाविक रूप नहीं है। इसी तर्कना से वे मार्क्सवाद को छोड़ने के स्थान पर उसको विकसित करने में लगे थे। उनके इस प्रयत्न के दो बड़े रोचक परिणाम निकले। (1) उन्होंने समस्त भारतीय जीवन (और इतिहास) की मार्क्सवादी व्याख्या की चेष्टा की (जो उनकी रचना 'महायात्रा' में विशेष रूप से उपलब्ध है), (2) उन्होंने अन्य मार्क्सवादियों के निष्कर्षों की टीका-टिप्पणी की, यहां तक कि वे इस परिणाम पर भी पहुंचे कि स्वयं मार्क्स के भारत संबंधी वक्तव्य एकांगी और अपूर्ण हैं। उनके चिंतन का यही मंथन,

और इसी धारणा पर आश्रित उनकी जीवन-दृष्टि ही उनकी रचनाओं में व्यक्त हुई है—सो भी उद्वेग और त्वरापूर्ण रूप में। अतः उनकी रचनाओं पर किसी विदेशी प्रभाव की चर्चा बहुत सीमित रूप में ही की जा सकती है। अपने सम्मुख उपस्थित जीवन को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने के लिए राघव कटिबद्ध थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय परंपरा के ज्ञान और उसके प्रति रुझान में यदि राघव डा. देवराज के अत्यंत समीप हैं तो साहित्य के प्रति अपनी दृष्टि में वे उनसे कोसों दूर हैं। देवराज की दृष्टि क्लासिकी दृष्टि है, वे प्रतिष्ठित रचनाओं को ही कसौटी मानते हैं और अनुभूति पर, जीवन की मर्म-छवियों की अभिव्यक्ति पर गौर देते हैं। पर राघव अपने को 'सच्चा' मार्क्सवादी और 'प्रगति'-प्रतिश्रुत मानते हैं और जीवन की व्याख्या और समाज के उन्नयन को साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। वे 'अधिकारी' प्रगतिवादियों से असंतुष्ट तो हैं, पर इसलिए नहीं कि उनके साहित्य-गत उद्देश्य भिन्न हैं, वरन् इसलिए कि वे उन्हें 'सच्चा' प्रगतिवादी नहीं मानते। प्रगतिशील भावना के विकास की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "हिंदी में इस भावना का विकास विलायत से लौटे हुए उन मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय युवकों ने किया जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे, किंतु जिनका ज्ञान भारत के विषय में नहीं के बराबर था। ये लोग भारत के इतिहास और संस्कृति को कुछ अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से ही पढ़ सके थे।...प्रारंभ से ही जो नींव पड़ी उसकी ईंट टेढ़ी गिरी और दुर्भाग्य से उनके ऊपर की इमारत भी जरा तिरछी ही उठी। ...यह नेता यूरोपीय दृष्टिकोण से भारत को देखते थे और यूरोपीय लोग उनकी पीठ ठोकते थे।" और अपनी इस मान्यता के कारण राघव ने द्राविड़-युग से भी पहले से प्रारंभ कर वर्तमान काल तक भारतीय समाज के विकास का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया और उस विवेचन पर आधारित कर अनेक रचनाएं लिखीं। चरण-चरण पर उन्होंने प्रगतिवादियों की मान्यताओं का परीक्षण किया और उनमें उन्हें जो असंगतियां मिलीं, उनका बड़ी निर्भीकता से विरोध किया। विशेष रूप से उन्होंने 'कुत्सित समाजशास्त्रियों' की बड़ी खिल्ली उड़ाई और यह सिद्ध किया कि प्रगतिशीलता को विदेश से लाने की आवश्यकता नहीं है, वह विशद् भारतीय इतिहास के हर मोड़ पर प्रकट होती रही है: उसने (गांधी ने) जो प्रगतिशील कार्य किया है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उसे न समझने के कारण और यूरोपीय इतिहासवाले दृष्टिकोण को ही देखने के कारण बहुधा यह लगता है कि यहां इतिहास की आवश्यकता के कारण प्रगतिशील चिंतन नहीं जन्मा है, वरन् बाहर से आया है। प्रगतिशील चिंतन हमारी राष्ट्रीय परंपरा में से ही उद्भूत हुआ है। विज्ञान के सिद्धांत किसी देश विशेष के नहीं होते, वे अंतर्राष्ट्रीय होते हैं। अतएव प्रगतिशील साहित्य हिंदी साहित्य की मानवतावादी विचारधारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है।

वस्तुतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रति निष्ठावान् होने पर भी राघव हर

प्रकार की संकीर्णता के विरोधी थे। विदेशी अनुकरण की संकीर्णता की उन्होंने जैसी निंदा की, प्रायः वैसी ही, 'भारतीयता' के हामियों की संकीर्णता की भी। हिंदी साहित्य के विकास की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं : "हम हिंदी को ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण से ही क्यों देखें? हमारे यहां बौद्ध, जैन, ब्राह्मण और अन्य परंपराएं भी हैं। ईरानी सभ्यता से प्रभावित एक शैली भी है। उर्दू की प्रेरणा विदेशी स्रोतों से आयी है, पर वे विदेशी स्रोत भी भारत के ही अंग हैं।" जो प्रगतिवादी यह कहते थे कि आर्थिक शोषण ही जीवन का एकमात्र संघर्ष है उनको उन्होंने बताया कि "शोषण केवल आर्थिक ही हो ऐसा नहीं है, उसके विभिन्न रूप हैं। वह मानसिक भी होता है।" और जो क्रांति को संकीर्ण दृष्टि से देखते थे, उन्हें उन्होंने याद दिलाई कि "क्रांति का मतलब मजदूरों का उत्थान-मात्र नहीं है। पहले बौद्धिक परिवर्तन की जड़ें जमानी पड़ती हैं।" इसी प्रकार साहित्य-गत संकीर्णताओं के संबंध में भी उनके वक्तव्य उतने ही प्रखर और निर्भीक हैं। यथार्थ के नाम पर 'यौन-वाद' पर उनका यह प्रहार द्रष्टव्य है : "ज्यूले रोम्यां की भांति जो कलाकार स्त्री-पुरुष के संभोग की विचित्रताएं प्रकट करके समझते हैं कि वे शाश्वत सत्यों के बारे में लिख रहे हैं, वे यह भूल जाते हैं कि वे जीवन के एक सत्य को इतना अतिरंजित कर रहे हैं कि बाकी सब पर उसे ही लाद देना ठीक समझते हैं।... जिस प्रकार कोई व्यक्ति सदैव ही कामुकता में डूबा रहने पर शीघ्र नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वह साहित्य भी जो केवल कामुकता को ही चित्रित करता है गतिरुद्ध हो जाता है और नाशवान होता है।" ठीक इसी प्रकार वे मनोविज्ञान-वादियों और अंतश्चेतनावादियों की संकीर्णता का उद्घाटन करते हैं। इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं : "इलाचंद्र जोशी की 'पर्दे की रानी' को अंतश्चेतनावाद का प्रतीक माना जाता है। उसमें अंतश्चेतनावाद क्या है? यौन अतृप्तियों की घुटन। जोशी जी ने चाहे जो कुछ सोचकर लिखा हो, पर कलाकृति क्या कहती है? वह मध्यवर्ग की घोर आर्थिक और सामाजिक विषमता को दिखाती है। वह मध्यवर्गीय युवकों का निरुद्देश्य जीवन बताती है।...लेखक की कमी क्या है? उसने अपने पात्रों को जैसे वे हैं वैसे ही बने रहने की इच्छा की है। वह उसके अंतश्चेतनावाद का मूल है। वह है, समाज को बदलो मत।" पर सबसे अधिक प्रखर टीका उन्होंने की है 'कुत्सित' समाजशास्त्रियों की संकीर्णता की। साहित्य के संबंध में उनकी उथली और अनुत्तरदायी दृष्टि की भर्त्सना करते हुए वे लिखते हैं : "पहले पिकासो कम्युनिस्ट हो गया तो वे ही चित्र सर्वहारा वर्ग को आगे बढ़ाने लगे और मध्यवर्गीय पूंजीवादी संस्कृति के भंडाफोड़ बन गये। रूमां पहले अस्तित्ववादी था, किंतु कुछ दिन से वह प्रगतिशील-सा होने लगा है। कुछ प्रगतिशील विचारकों की यह डांवाडोल तबियत ही पूंजीवाद के ह्रासकाल में मरणोन्मुख संस्कृति के इन विभिन्न वादों को जीवित रहने की शक्ति देती है।" और फिर अपनी उदार दृष्टि से वे 'सच्ची' प्रगतिशीलता की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "प्रगतिशील साहित्य वर्ग-संघर्ष को मानकर मनुष्य के सर्वांगीण चित्र को प्रस्तुत करनेवाला

नया मानवतावाद है, जो समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करके पुरानी श्रेष्ठ विरासत को अपने भीतर लेता हुआ वर्गहीन समाज बनाता है, और मनुष्य को रूढ़ियों से मुक्त करके ज्ञान की ओर ले जाता है और व्यक्ति और समाज के बीच के उन समस्त व्यवधानों को तोड़ देता है, जो उन्हें विकास में एकत्रित होने से रोकते हैं और इसीलिए वह हवा के नहीं बल्कि जगत और शोषित समाज के समीप आता है और कठोर सत्यों में से जीवन की शक्ति ग्रहण करता है।"

राघव द्वारा दी गयी यह परिभाषा स्पष्टतः रचना-प्रक्रिया की परिभाषा है, साहित्यगत मूल्यों की नहीं। पर साहित्यगत मूल्यों को भी वे इसी दृष्टिकोण से परखते हैं और अपनाते हैं। संस्कृत साहित्य, मध्यकालीन संत-साहित्य और आधुनिक देशी-विदेशी साहित्य का अनुशीलन उन्होंने इसी 'प्रगतिशील' पहलू से किया है और अपने लिए उपयोगी निष्कर्ष प्राप्त किये हैं। उनके ये मंतव्य उनकी समीक्षात्मक कृतियों में तो मिलते ही हैं, रचनात्मक कृतियों में भी वे यत्र-तत्र मिल जाते हैं—कभी पाठक को ज्ञान-दान के रूप में तो कभी पात्रों के संलाप और कथोपकथन के रूप में। पर कृतियों का पृथक् अध्ययन करने की अपेक्षा वे कृति का उद्देश्य और कृति के सामाजिक परिवेश का अध्ययन ही अधिक करते हैं। कृति के आंतरिक मूल्यों की अपेक्षा वे उसके प्रभाव और सामाजिक विकास में कृति के 'योगदान' को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

उनके इस अध्ययन में पाश्चात्य उपन्यास भी सम्मिलित हैं, इसमें संदेह नहीं, पर उनका अनुशीलन भी उन्होंने उपरोक्त उद्देश्य से ही किया है। पाश्चात्य उपन्यास का सबसे अधिक अध्ययन उनकी कृति 'संसार के महान् उपन्यास' में मिलता है। इसमें उन्होंने 45 विख्यात उपन्यासों का कथासार प्रस्तुत किया है। ये सभी उपन्यास पाश्चात्य उपन्यासकारों की रचना हैं, और इस दृष्टि से ग्रंथ का नाम किंचित भ्रामक है, 'पश्चिम के महान् उपन्यास' अधिक समीचीन होता। इस ग्रंथ में कथासार के अतिरिक्त लेखक-विशेष के जीवन और कृति-विशेष के महत्त्व के संबंध में अल्पकाय टिप्पणियां भी दी गयी हैं। अधिकांश में यह टिप्पणियां परिचयात्मक और विवरणात्मक हैं, एवं रांगेय की अभिरुचि के संबंध में कोई महत्त्वपूर्ण संकेत-सूत्र प्रस्तुत नहीं करतीं। हां, दो-चार टिप्पणियों से अवश्य कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ऊपर हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि राघव के 'मुर्दों का टीला' उपन्यास पर विश्वम्भर मानव 'अंकिल टाम्स केबिन' और 'लास्ट डेज आफ पोम्पई' का प्रभाव देखते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में राघव ने इन दोनों उपन्यासों का कथासार प्रस्तुत किया है। 'अंकिस टाम्स केबिन' की टिप्पणी में राघव कहते हैं : "इसमें दास-प्रथा का बहुत ही गहरा चित्रण है। दासों की भीतरी कमजोरियों को भी उभाड़कर लेखिका ने सामने रख दिया है। तत्कालीन शासक-वर्गों के भीतर कितनी मानसिक प्रक्रियाएं तथा चिंतन-स्तर थे, वे भी हमें यहां स्पष्ट दिखायी देते हैं।" और इसमें संदेह नहीं कि अपने उपन्यास 'मुर्दों का टीला' में राघव ने भी मोहनजोदड़ो के समाज में दासों की स्थिति का गहरा चित्रण किया है। इसी प्रकार 'लास्ट डेज आफ पोम्पई' की टिप्पणी में राघव लिखते हैं : "प्रस्तुत उपन्यास की भूमि व्यापक है। इसमें

लेखक ने तत्कालीन समाज की कुरीतियों के साथ मनुष्य की सार्वभौम चेतना का अच्छा चित्रण किया है। पोम्पिआई का पतन बहुत ही चित्रात्मक ढंग से हुआ है।" और कथा-भूमि की व्यापकता और मोहनजोदड़ो के ध्वंस का विशद् चित्रण 'मुर्दों का टीला' की भी विशेषता है।

इन दो टिप्पणियों के अतिरिक्त इस ग्रंथ में राघव की चिंतन दिशा का अनुमान देनेवाली कुछ और टिप्पणियां भी हैं। रोम्यां रोलां के उपन्यास 'ज्या क्रिस्तोफ' पर उन्होंने जो टिप्पणी दी है उसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वे फ्रांस और भारत के जीवन और नीति-दर्शन के अंतर के प्रति सजग थे। उपन्यास का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी वे इस अंतर को अनदेखा नहीं करते: "यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि क्रिस्तोफ अपने एक के बाद एक होनेवाले प्रेम-संबंधों के कारण विलासी है, किंतु इसमें हमें यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि यह वातावरण फ्रांस की सांस्कृतिक विरासत पर आधारित है जो हमारी नैतिकता से कुछ अलग है। हमारी बहुत-सी मान्यताएं ऐसी हैं जो अपना अधिक विकास कर चुकी हैं। यह मतभेद का विषय हो सकता है किंतु रोलां के उपन्यास की गहराई हमें अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है।" यहां यह दृष्टव्य है कि साधारण मत के विपरीत राघव भारतीय नीति-दर्शन को पश्चिम की अपेक्षा अधिक विकसित मानते हैं, यद्यपि रोलां को सहानुभूति देने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि वे यह पहचानते हैं कि रोलां अपने देश के अनुसार चित्रण कर रहे हैं। पर डी. एच. लारेंस को राघव ऐसी सहानुभूति नहीं दे पाते, और उनके उपन्यास 'संस एंड लवर्स' के संबंध में यह कहने को बाध्य हो जाते हैं कि "उसने इन समस्याओं को (काम-वासना संबंधी) सुलझाने की बजाय उजागर करने की चेष्टा की है।" इस उक्ति में उनकी असहमति की अंतर्ध्वनि स्पष्ट है। इसके विपरीत राइडर हैगार्ड के उपन्यास 'शी' में हिंदू चिंतन का गहरा प्रभाव पाकर राघव लेखक के साम्राज्यवादी विचारों को भी क्षमा कर देते हैं और मत व्यक्त करते हैं कि "इस उपन्यास में बडी सार्वभौमिकता है।" पर अपने मुक्त-कंठ की प्रशंसा उन्होंने टाल्सटाय के उपन्यास 'वार एंड पीस' को ही दी है जिसका कथा-सार उन्होंने ग्रंथ के अंत में दिया है। तत्संबंधी टिप्पणी में वे कहते हैं : "समय सैट माम ने लिखा है कि संसार का सबसे बड़ा उपन्यासकार बालज़ाक था, किंतु 'वार एंड पीस' संसार का सबसे महान् उपन्यास है। पहली बात के बारे में लोगों को विवाद करने की गुंजाइश हो सकती है किंतु ऐसे बहुत ही कम लोग होंगे जो इस दूसरी बात से अपना मतभेद प्रकट करेंगे। मनुष्य का जितना सर्वांगीण और गहन-गंभीर चित्रण इस उपन्यास में हुआ, वह अन्यत्र दुर्लभ है।"

सच तो यह है कि राघव ने टाल्सटाय और गोर्की इन दो रूसी उपन्यासकारों को जो श्रद्धांजलि अर्पित की है, वह और किसी को नहीं। उनके कृतित्व पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है और 'कुत्सित' समाजशास्त्रियों को निरुत्तर करने के लिए पद-पद पर उनका उल्लेख किया है। स्पष्ट ही वे इन दो उपन्यासकारों को अपने सबसे अधिक निकट पाते थे, ठीक जैसे हिंदी उपन्यासकारों में प्रेमचंद और यशपाल को। टाल्सटाय के संबंध में तो वे गोर्की

के मत को ही उद्धृत कर देते हैं : "एक दिन लेनिन टाल्सटाय का 'वार एंड पीस' उपन्यास पढ़ रहे थे। गोर्की के पहुंचने पर लेनिन ने कहा—'वाह क्या लिखा है "गोर्की महोदय, इससे लिखना सीखो।' "गोर्की ने सिर हिलाकर स्वीकार किया कि टाल्सटाय महान् लेखक था। अगर गोर्की कुत्सित समाजशास्त्री होता तो वह कहता कि लेनिन, तुमने टाल्सटाय जैसे सामंतवादी व्यक्ति की प्रशंसा करके "एक मजदूर और उसकी कला का अपमान किया है।" और गोर्की के लिए तो राघव के मन में अपार श्रद्धा है। "गोर्की में केवल यथार्थ वर्णन, सोवियत यथार्थ वर्णन, प्रकृति, चरित्र, कथा, प्रचार तथा क्रांतिकारी भावना का वर्णन ही नहीं, वरन् पुरानी में से नयी कला का सृजन भी है। क्रांति के बाद गोर्की ने साहित्य का बहु-पक्ष देखा। उसने भटके हुए लोगों को इकट्ठा किया, अज्ञातपूर्व कवियों को प्रतिष्ठा दिलाई, लेखक-संघ का निर्माण किया, और संपादन के विराट् कार्य को हाथ में लिया। गोर्की ने जीवन के जिस निम्न स्तर से उन्नति की और जितनी उन्नति की, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वह गोर्की, जिसे दर-ब-दर भूखे भागना पड़ा, जो कई-कई दिना बिना विश्राम के बर्फ में चलता रहा, जिसे प्रारंभ में पढ़े-लिखे उच्च वर्गों से आनेवाले मार्क्सवादी बराबरी का दर्जा नहीं देते थे, अंत में एक महान् स्रष्टा बना।"

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण से राघव गोर्की को सर्वाधिक निकट पाते हैं, पर वे गार्की की और अपनी परिस्थितियों के अंतर को नहीं भूलते, "रूस में और भारत में भी अंतर है। रूस की मानवतावादी विचारधारा अल्पकालीन थी। भारत की बहुत पुरानी है।" अन्यत्र भी उन्होंने कहा : "मैंने देखा है कि भारतीय चिंतन का समन्वयवादी दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी रहा है।" और यद्यपि अपने दृष्टिकोण में वे सार्वभौमिकता को प्रश्रय देते थे, वे मानते थे कि अब पूर्वीय और पश्चिमी संस्कृतियों के दिन लद गये। अब तो सारे संसार को एक ही संस्कृति की आवश्यकता है। वह दिन आयेगा, जब धर्म, सभ्यता, और न जाने कितने-कितने भेद सदा का लिए मिट जायेंगे। तब मनुष्य का नया पुनर्जागरण होगा। किंतु यह सार्वभौमिकता उन्होंने भारतीय जीवन-दर्शन के अनुषंग के रूप में ही पायी थी। अपनी रचना के संबंध में उन्होंने निर्भ्रांत घोषणा की है : "मैं किसी 'वाद' में सीमित नहीं हो जाता, क्योंकि मैंने किसी की नकल नहीं की। मैंने उपन्यास का मूलाधार भी अन्य अभिव्यक्तियों के रूपों की भांति भाव को माना है, और भाव के विषय में मेरा मत स्पष्ट ही है कि लोक-कल्याण को समन्वित करके ही युगसत्य के बीच मनुष्य ,की चेतना का निखार भाव को लेकर चलता है। चमत्कारवाद का मैं पक्षपाती नहीं हूं, किंतु उपन्यास की नवीनतम शैलियों के ढूंढ़ते रहने का पक्षपाती हूं। न मैं यौनवादी तृष्णा में व्यक्तिवाद और प्रयोगवाद का आश्रय लेना चाहता हूं; न प्रगतिवाद के चोले में अपने को यांत्रिक बना सकता हूं। मेंरे सामने इतिहास है, जीवन है, मनुष्य की पीड़ा है और है वह मनुष्य की चेतना जो निरंतर अंधकार से लड़ रही है।"

[रचनाकाल संभवतः 1962,
'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

चीनी आक्रमण और बंगाल का कवि

बंगाल-सोनार बंगभूमि—जहां गुलामी के अंधेरे को चीर कर सबसे पहले बंकिम ने मातृभूमि की वंदना की थी : 'वंदे मातरम्' और गरजकर ललकारा था : 'के बोले : मा, तुमि अबले?' (कौन कहता है मां कि तुम अबला हो?) और फिर जहां से देश की एकता और संस्कृति का आलोक बिखेरते हुए रवींद्र ने मुक्त-कंठ से गाया था : 'जन-गण -मन अधिनायक जय हे, भारत-भाग्य-विधाता!'—वही बंगाल, जिसने न जाने कितने शहीदों को जन्म दिया है, जिसने हमारी आजादी की लड़ाई में अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी—वही बंगाल आज सीमांत की रक्षा और देश की सुरक्षा के लिए कमर कसकर खड़ा हो गया है और उसी के भावों को अपने स्पष्ट स्वरों में वहन कर आज बंगाल का कवि जनता का सिपाही बन गया है। बर्बर आक्रमण की आकस्मिकता, थोथे वचनों पर सरल विश्वास के फलस्वरूप क्षणिक असमंजस, और शत्रु को पवित्र मातृभूमि से निकाल-भगाने का अटल संकल्प—वर्तमान संकट की तीनों अवस्थाएं उसकी रचना में मुखरित हुई हैं। यही नहीं, उसे पूरी चेतना है इस बात की कि यह संघर्ष वास्तव में सिद्धांतों का संघर्ष है, जीवन-पद्धतियों की टकराहट है और यह भी कि अंतिम विजय जनतंत्र की होगी। तभी तो संजय भट्टाचार्य 'चीन' नामक कविता में पूरे विश्वास से शत्रु की भर्त्सना करते हुए कहते हैं:

रंग-बिरंगे फूल खिले!
—ठीक है,
पर क्या आग की फुलझड़ियां?
मैं तुम्हें भाई कहकर पुकारूं
तो क्या तुम छुरा पैनाओगे?
ऐसी निर्ममता, ऐसा अविश्वास
हृदय के किसी इतिहास में नहीं मिलेगा।
तुमने वायुमण्डल दूषित कर डाला है
जहाँ अब सिर्फ घृणा जनमती है—साँप की भाँति।
वसुधैव कुटुम्बकम् के भरोसे
मन सो रहा था
तुमने उसे जगा दिया है, घृणा से।

अब मन की वीणा पर
सिर्फ रुद्र ताल बज रहा है।
मेरा आसमान नीला है।
तुम्हारा आसमान चाहे लाल रहे!

वास्तव में यह युद्ध जमीन का नहीं, आसमान का है, आसमान नीला रहेगा या लाल, उसमें शांति की रागिनी लहरायेगी या आग की लपटें उठेंगी? इसलिए कवि आक्रमण की आकस्मिकता से उबरकर उस परिस्थिति को, उस जीवन-पद्धति को देखता है जिसने ऐसे भयंकर कृत्य को जन्म दिया है। दक्षिणारंजन बसु के शब्दों में :

दो हजार साल तक
जिसे हमने अपना मित्र माना
जिसके लिए हम लड़े
और जिसकी हमने वकालत की :
क्या यही है वह देश?
ह्वेनसांग, अब तो तुम्हारी आत्मा तृप्त हुई!
रवीन्द्रनाथ, अब तो तुम्हारी आत्मा तृप्त हुई,
हिमालय घर-घर करके काँप रहा है
मानो इस कल्पानातीत विश्वासघात से
देवों का हृदय बिंध गया हो,

यांगटि सीक्यांग के पानी में कीड़े, सिर्फ कीड़े
कीड़ों की कतार पर कतार, अनगिनती कतारें!
साल पर साल अजगर विष की सांसें उगलता रहा है
और खेत उजड़ गये हैं, पेड़ ठूंठ हो गये हैं,
पत्थरों तक के दिल चीख रहे हैं—मृत्यु की चीख—
किस पाप का फल है यह? क्यों है यह अभिशाप?

(चीन : 1962)

जीवन-पद्धतियों की इस टकराहट की गहराई कवि पूरी तौर से समझ रहा है, तभी तो वह पहचानता है कि यह युद्ध कितना अहम है, कितना कठिन, और कितना अनिवार्य। और वह कमर कसके आ खड़ा होता है मोर्चे पर, जहां भारत की अजेय जनता अपनी सर्वस्व-रक्षा में प्राण-प्रण से लगी हुई है। संकल्प की यह चेतना शांतनु दास ने दो सांझ-चित्रों से अभिव्यक्त की है :

1954 : *उस दिन हम तेज धूप में*
बीडन स्ट्रीट के मोड़ पर खड़े थे,
पंचशील का समर्थन कर
हमने तुम्हारा स्वागत किया था।

जनता ने आवाज गुँजाकर कहा था :
हम तुम्हारे भाई हैं।
उस दिन कलकत्ते में साँझ
कपोत के पंखों पर बैठकर उतरी थी।

1962 : *आज भी हम रास्ते पर खड़े हैं*
एक भीष्म संकल्प सहेजे—
या तो तुम्हारा स्वागत करेंगे, गोलियों से
या फिर तुम्हारी गोली खाकर
यह उपत्यका रंग देंगे।
आज भी कलकत्ते की छाती पर साँझ उतर रही है,
रक्त-भरी साँझ।

जनता के इस दृढ संकल्प की कीमत वह पहचानता है। तभी तो स्वदेश रंजन का स्वर 'जन्मभूमि' को यह विश्वास दिलाता है :

हम तुम्हारा मुख विकृत नहीं होने देंगे। तुम्हारे देह-पद्म से
एक भी पंखुरी हम उसे नोंचने नहीं देंगे।
तुम्हारा यह शरीर हम विकृत नहीं होने देंगे : जिसके स्तन से
हम इतने दिन पले हैं : जिसका ऋण
चिरकाल हमें अपने रक्त से चुकाना है।
यह माटी हम दस्यु की मुट्ठी में नहीं बँधने देंगे,
और न यह हरियाली लुटने देंगे,
जब तक हम में रक्त की एक भी बूँद बाकी है,
जब तक ये हाथ मुट्ठी तान सकते हैं
तब तक हम तुझे किसी के हाथों लान्छित नहीं होने देंगे।

यह संकल्प अपनी सफलता का आप प्रमाण है। उसके पीछे सारे देश की जनता का, एकीकृत, संगठित बल है और इस अटूट एकता का ध्यान करते ही कवि को ध्यान आता है उन गुमराह भाइयों का, उन भटके हुए देशवासियों का, जिन्होंने चीन के झांसे में आकर अपनी मां से, मातृभूमि से मुंह-मोड़ लिया था। पर उसके स्वर में क्रोध नहीं है, वैर नहीं है, बीते हुए पर पश्चाताप का यह मौका नहीं है। आओ, प्रायश्चित करो, मां को पहचानो, उस करुणामयी को पुकारो! यह है नीरेंद्र चक्रवर्ती का आह्वान :

अब भी तुम अँधेरे में बैठे हो?
अब भी तुम दबी जुबान से बातें कर रहे हो?
क्यों?
आओ, यहाँ धूप में आकर खड़े हो जाओ
अपनी माँ को एक बार माँ कहकर पुकारो!
क्योंकि

तुम्हें भी तो आईने में मुँह देखना पड़ता है,
क्योंकि
तुम्हें भी तो आँखों में आँखें डालकर
अपने आपको पहचानना पड़ता है।
फिर तुम अँधेरे में क्यों बैठे हो?
फिर तुम दबी जुबान से बातें क्यों करते हो?
आओ, इस रास्ते पर आकर खड़े हो जाओ,
आओ, यहाँ धूप में आकर खड़े हो जाओ।
आओ, यहाँ आकर एक बार इस हवा को,
इस विश्वासघातक उत्तरी हवा को
भीषण रूप से कँपकँपा कर पुकारो :
माँ! मेरी माँ।

निस्संदेह इस संकट की घड़ी ने कवि की आंखें खोल दी हैं, उसने मातृभूमि को आज फिर नये सिरे से पहचाना है, उसके वात्सल्य की आश्वस्ति को, उसके शांत-जीवन की पद्धति को फिर से उपलब्ध किया है। वह जाग गया है। तभी तो वह आक्रमणकारी को धन्यवाद तक देने की हिम्मत रखता है। प्रेमेंद्र मित्र की इस 'धन्यवाद' कविता में आज के जीवन की पूरी कशमकश एक साथ प्रतिबिंबित हो गयी है, और प्रतिध्वनित हो गया है बंगाल के कवि का महान् संकल्प :

मेरा धन्यवाद स्वीकार करो
ओ बर्बर लुटेरो!
तुमने मुझे जगा दिया है।
शायद मैं भूल गया था
कि संयम और बल अभिन्न होते हैं
कि अनाक्रमण का अर्थ पुंसत्वहीनता नहीं है।
शायद मैं चाहता था
बादल-सा लहराते स्नेह बरसाते चलना
या रंग-बिरंगी प्रभा में ढलना—
तुमने मुझमें वज्र सुलगा दिया है।
यह तुम्हारी ही कृपा है
अरे, विश्वासघात के विष-चक्र!
तुम्हारे बिच्छू-डंक के दंशन से
मेरा शान्त रक्त हहरा उठा है
मेरी निरपेक्ष आश्वस्ति की नींव हिल गयी है!
तुमने अभी तक
सिर्फ मेरी उदारता का ही परिचय पाया है
प्रेम से बढ़े दाहिने हाथ की उदारता,

अब जरा यह लौह-मूठ भी तो देखो
जो हिमालय पार कर तुम तक आ रही है।

शायद तुमने सोचा हो : इसे चूर-चूर करते क्या देर लगेगी
यह तो पहले ही चटख चुका है
पर,
यह एक संगठित संकल्प है
कुमारिका से कैलास तक
प्रतिकार के लौह-प्रण में ढला हुआ।

मेरे निखरे विश्वास का एक-एक टुकड़ा
तुम्हारे विनाश का धड़ाका बनेगा
अरे उद्धत समूह-रथी!
मैं भी तो न जाने कितनी बार हिमालय पार कर चुका हूँ
बुद्ध के शुभ-सन्देश वहन करता,
पर तुम?
तुम आये हो
नरभक्षी की कपट-लिप्सा लिये।

फिर भी तुम्हें मेरा ऋण स्वीकार करना ही पड़ेगा
उस दिन
जब पुण्य हिमालय की पवित्रता का उद्धार कर
मैं तुम्हारी मदमाती आँखों में पड़ा
खून का कतरा
पोंछ डालूँगा।

['धर्मयुग' 31 मार्च, 1963 में प्रकाशित।]

बंगला भाषा और साहित्य

हिंदी की सहवर्ती भाषाओं में बंगला का स्थान अन्यतम है। आधुनिक भारतीय साहित्य का प्रथम सूर्योदय उसी में हुआ था। बंकिमचंद्र और शरच्चंद्र आधुनिक बंगला साहित्य के ऐसे प्रख्यात लेखक हैं जिनका नाम हिंदी क्षेत्र में ही नहीं, देश-भर में व्याप्त है। और रवींद्रनाथ का नाम तो विश्व साहित्य में भी बड़े आदर से लिया जाता है। यह निरा संयोग नहीं है कि स्वतंत्रता-संग्राम का मंत्र-गान 'वंदे मातरम्' और स्वतंत्र भारत का राष्ट्र-गान 'जन-गण-मन' दोनों बंगला की रचनाएं हैं। राजा राममोहन राय से लेकर रवींद्रनाथ तक बंगला साहित्य का जो विकास हुआ उससे हिंदी और अन्य प्रतिवेशिनी भाषाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता रहा है। आधुनिक हिंदी के अनगिनती साहित्यकार बंगला के अध्येता रहे हैं। यद्यपि यही बात बंगला के साहित्यकारों के बारे में नहीं कही जा सकती।

बंगला भारोपीय परिवार की भाषा है और हिंदी आदि उत्तर भारत की भाषाओं के समान ही उसका उद्भव और विकास प्राकृत की ही पूर्वी शाखा से हुआ है। उसकी लिपि भी समान स्रोत से रूपायित हुई है, और देवनागरी से मिलती-जुलती है। उसके शब्द-कोष में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। उच्चारण की दृष्टि से हिंदी-भाषी को बंगला सीखना शायद कुछ कठिन लगे, अन्यथा उसकी भाषा और लिपि सीखना काफ़ी सरल काम है। बंगला के अनेक शब्द हिंदी में रच-बस गये हैं। इसका कारण यह भी है कि पूर्वी बिहार में कुछ स्थानों पर हिंदी और बंगला का भेद बहुत घट जाता है।

सन् 1916 में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल के राजकीय ग्रंथालय से प्राप्त कुछ चर्या-पद प्रकाशित किये थे। विद्वानों के अनुसार ये चर्या-पद ही बंगला की आदि रचनाएं हैं। इनका रचना-काल 1000 ईसवी के आस-पास माना गया है। वैसे ये रचनाएं साहित्यिक नहीं हैं—उनमें नाथ-पंथी सिद्धों की आचार-संहिता है—पर उनमें यत्र-तत्र काव्य-गुण भी झलक उठा है।

मध्य-युग में बंगला साहित्य के विकास की रूपरेखा बहुत-कुछ अन्य उत्तर भारतीय साहित्यों के ही अनुरूप चलती है। एक ओर संस्कृत की महान साहित्य-परंपरा को सर्वजन-सुलभ बनानेवाले ग्रंथ और दूसरी ओर लोक-गीतों

और लोक-आख्यानों की पुष्ट परंपरा। पंद्रहवीं शताब्दी के आस-पास कृत्तिवास द्वारा रामायण की और काशीरामदास द्वारा महाभारत की रचना की गयी।, मुकुंदराम चक्रवर्ती (कविकंकण) का 'चंडीमंगल' भी इसी काल की रचना है, जो मंगल-काव्य-परंपरा का विशिष्ट ग्रंथ है। इन्हीं के समानांतर वैष्णव गीतों और भक्ति-पदों की अविराम धारा प्रवाहित होती रही जिसे विद्यापति, चंडीदास, ज्ञानदास और गोविंददास जैसे कवियों ने घर-घर पहुंचाया था। इसी काल में चैतन्य महाप्रभु की भगवद्भक्ति ने बंगला को भी परोक्ष रूप से भाव-विह्वल बनाया। चैतन्य के जीवन और दर्शन पर आधारित काव्यों में कृष्णदास कविराज का 'चैतन्य-चरितामृत' मूर्धन्य माना जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी में बंगला में दो मुस्लिम कवियों का उदय हुआ—दौलत काजी और सैयद अलाउल। ये अराकान (उत्तरी वर्मा) के मुस्लिम नरेश के कृपा-पात्रों में थे और इन्होंने बंगला में लौकिक प्रेमाख्यानों की रचना की जिनमें सूफी मत का भी प्रभाव मिलता है और अपभ्रंश की काव्य-परंपरा का भी। अलाउल ने अवधी कवि जायसी के महाकाव्य से प्रभावित होकर 'पद्मावत' की भी रचना की थी। अठारहवीं सदी के कवियों में भारतचंद्र और रामप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत होने पर सन् 1800 में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से ही आधुनिक भारतीय साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। विदेशी प्रशासन-कर्मचारियों की सुविधा के लिए स्थापित इस कालेज ने परोक्ष रूप से भारतीय भाषाओं को नये संस्कार देने में योग दिया। स्वभावतः आधुनिकता का सबसे प्रबल स्पर्श बंगला को ही मिला और देखते-देखते बंगला में साहित्य-सर्जना के अनेक नये पथ खुल गये! अनेक सुधारकों और देश-सेवियों ने भाषा और साहित्य के नवोत्थान के लिए कार्य किया। नव शिक्षा के क्रमशः प्रसार से शिक्षित मध्य-वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जिसने शीघ्र ही राष्ट्रोन्नयन के महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में साहित्य का व्रत लिया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और केशवचंद्र सेन के नेतृत्व में बंगाल में नवजागरण की लहर दौड़ गयी। विस्मृत अतीत से नया संबंध जोड़ा गया, और शासकों का सामना करने के लिए हीनभावना का परित्याग कर समाज को अंधविश्वास, अज्ञान और रूढ़ियों से मुक्त करने के प्रयत्न होने लगे। गद्य इस जागृति का वाहन बना।

इस प्रकार बंगाल प्राचीन और नवीन (विदेशी) पद्धतियों की टकराहट का रंगस्थल बना। राजा राममोहन राय के कुछ दिनों बाद तरुण जनों का एक ऐसा दल प्रकट हुआ जो जल्दी से जल्दी पश्चिम के रंग में रंग जाने में ही अपना कल्याण समझता था। यह दल इतिहास में 'यंग-बंगाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस दल के प्रमुख सदस्यों में ही डेरोज़ियों थे जिन्होंने अल्पायु में ही साहित्य की महान सेवा की। इन्हीं में माइकेल मधुसूदन दत्त थे जिन्होंने ईसाई धर्म भी अपना लिया था और अंग्रेजी में साहित्य-रचना भी की थी। पर शीघ्र ही उन्होंने अपनी भूल सुधार कर बंगला में लिखना आरंभ कर दिया।

उनके लिखे अनेक ग्रंथों में 'मेघनाद वध' महाकाव्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह बंगला का पहला आधुनिक उत्कृष्ट ग्रंथ है और काव्यगुण की दृष्टि से उच्च कोटि का माना जाता है। हिंदी में इसका पद्यानुवाद राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त ने किया है। इसी दल के प्रभाव में बंकिमचंद्र चटर्जी ने भी अपना पहला उपन्यास अंग्रेजी में ही लिखा था। पर बंकिम बाबू ने शीघ्र ही एक स्वतंत्र पथ का निर्माण कर अपने सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा बंगला भाषा और साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की। 'विष-वृक्ष', 'आनंद मठ' उनके अत्यंत प्रसिद्ध उपन्यास हैं जो हिंदी पाठकों को .भी सहज सुलभ रहे हैं।

बंकिम के बाद रवींद्रनाथ आये। रवींद्रनाथ में विलक्षण प्रतिभा थी। उन्होंने प्राचीन और नवीन का, पूर्व और पश्चिम का अद्‌भुत समन्वय किया। यद्यपि थोथी राष्ट्रीयता और राजनैतिक नारेबाजी से उन्हें चिढ़ थी, पर उनकी रचनाओं में एक प्रबुद्ध, जागृत और आत्म-विश्वासी राष्ट्र का चित्र उभर उठा। गीत, काव्य, कहानी, उपन्यास और नाटक के क्षेत्रों में तो रवींद्रनाथ की देन अनुपम है ही, निबंध, संस्मरण और चारु-लेख में भी उन्होंने उत्कृष्ट योग दिया है। विराट मानव-भावना से प्रेरित, गहरी संवेदना से पूरित, सूक्ष्म कौशल से मंडित उनकी रचनाएं बंगला की अमर निधियां हैं। रवींद्रनाथ ने लोक-साहित्य से प्रभावति होकर बंगला भाषा को भी एक अभिनव सरलता और सहजता दी थी। उनके अद्वितीय साहित्य-सर्जन के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उन्हें विश्व का सर्वोच्च सम्मान 'नोबेल पुरस्कार' सन् 1913 में प्रदान किया गया।

रवींद्रनाथ का अपने समकालीन साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, और बंगला में उनके अनेक अनुयायी हुए। उनकी देन के कारण ही बंगला साहित्य का वह काल रवींद्र-युग कहलाता है। पर रवींद्र-युग में कुछ ऐसे भी लेखक हुए जिन्होंने नितांत भिन्न सरणियों में प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनमें शरच्चंद्र चटर्जी अन्यतम हैं। उन्होंने बंगाल के ग्रामों का, और विशेषतः बंगाल की गृहिणी का ऐसा संवेदनमय अंकन किया है कि वह एक साथ ही स्वप्नशील भी है और यथार्थ भी। शरच्चंद्र कदाचित् बंगला के सर्वाधिक लोकप्रिय लेखक हैं। भारतीय लेखकों में उन्हीं की रचनाओं के सबसे अधिक अनुवाद हुए हैं। शरच्चंद्र के अतिरिक्त प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने भी अपनी कहानियों में दैनिक जीवन के सहानुभूतिपूर्ण चित्र दिये। विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय ('पथेर पांचाली' के लेखक) बंग-जीवन की मार्मिक करुणा और वन-जीवन के सौंदर्य को अंकित करने में सिद्धहस्त थे। राजशेखर बसु (परशुराम) हास्य-व्यंग्य के अनूठे कथाकार थे। सत्येंद्रनाथ दत्त ने काव्य में छंद-प्रयोग और शब्द-प्रयोग की नवीनता द्वारा बंगला भाषा में नयी शक्ति का उद्‌घाटन किया था। काजी नज़रुल इस्लाम राष्ट्रीय और ओजस्वी काव्य-रचना में लोकप्रियता के एक अछूते शिखर पर पहुंचे। उनके संग्रह 'अग्निवीणा' और उनकी कविता 'हे विद्रोही वीर।' से हिंदी संसार भली भांति परिचित है। उन्होंने बंगला में गीत-रचना भी की है और गज़ल-रचना के भी प्रयोग किये हैं।

हिंदी में छायावादी काव्य पर रवींद्रनाथ का प्रभाव माना जाता है, और

कुछ सीमा तक यह बात सही भी है। पर रवींद्रनाथ में वह करुण अश्रुपूर्ण भावुकता नहीं मिलती जिससे छायावाद का अधिकांश ग्रस्त है। रवींद्रनाथ में आदर्शोन्मुखी वृत्ति और आशावाद का ही प्राधान्य है। इस आदर्शवाद के विरुद्ध बंगला साहित्य में शीघ्र ही बड़ी उग्र प्रतिक्रिया हुई थी और सन् 1923 में 'कल्लोल' पत्रिका के प्रकाशन से उसे ठोस रूप भी मिल गया था। 'कल्लोल निकाय' में ऐसे अनेक प्रतिभा-संपन्न तरुण युवक थे जो आगे चलकर प्रसिद्ध लेखक बने। प्रेमेंद्र मित्र, बुद्धदेव बसु, अचिंत्यकुमार सेनगुप्त, सुधींद्रनाथ दत्त—सब 'कल्लोल' से संबद्ध थे। पर शीघ्र ही इनमें से प्रत्येक ने अपना-अपना स्वतंत्र साहित्य-पथ निर्मित कर लिया। ये लेखक मोटे तौर पर अति-आधुनिकतावादी थे और टी. एस. इलियट, एज़रा पाउंड प्रभृति विदेशी सर्जकों के प्रभाव से मनोविश्लेषण और प्रयोग भी अपनाते थे। प्रारंभ में इनकी रचनाओं में चौंकाने वाले तत्वों की भी प्रधानता रहती थी।

'कल्लोल निकाय' के उपरांत बंगला में मार्क्सवाद का प्रभाव आया जिसके वाहकों में माणिक वंद्योपाध्याय, ताराशंकर बनर्जी, गोपाल हालदार, विष्णु दे, सुबोध घोष आदि प्रमुख थे। इनमें से ताराशंकर बनर्जी शीघ्र ही सिद्धांतवाद से मुक्त होकर गहरे यथार्थ के प्रति निष्ठित हो गये। आज अन्य भाषाओं की भांति बंगला में भी वादों की संकीर्णता लुप्त हो चुकी है, और जन-जीवन का उदार यथार्थवादी चित्रण प्रधान हो गया है। रूपगत वैविध्य और व्यक्तिगत विभेद के बावजूद व्यक्ति-मन की सच्ची भावनाएं ही साहित्य का आधार हैं। प्रेमेंद्र मित्र, ताराशंकर बनर्जी, अन्नदाशंकर राय, बनफूल, शैलजानंद मुखर्जी, अमिय चक्रवर्ती, प्रमथनाथ बिशी, विमल मित्र ('साहब, बीवी, गुलाम' के लेखक), नारायण गंगोपाध्याय, सतीनाथ भादुड़ी आदि-आदि अनेक समर्थ लेखक बंगला साहित्य को निरंतर संपन्न कर रहे हैं।

आधुनिक भारत के साहित्य स्रष्टाओं में रवींद्रनाथ का स्थान अद्वितीय है। साहित्य-सर्जन का एक भी ऐसा अंग नहीं है जिसको उन्होंने अलंकृत और गौरवांवित न किया हो। उनकी विश्व-व्याप्त निर्मल दृष्टि, भारतीय अध्यात्म दर्शन के प्रति अगाध श्रद्धा और उदार लोक-चेतना से अनुप्रेरित उनकी रचनाएं बंगला की ही नहीं भारतीय साहित्य की भी अमर कृतियां हैं। सन् 1913 में उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित कर पश्चिम ने भी रवींद्रनाथ के दान को सराहा था। भारतीय साहित्यकारों ने एक स्वर से उन्हें 'गुरुदेव' कहा है।

रवींद्रोत्तर बंगला साहित्य मे प्रेमेंद्र मित्र का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं में कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध—सभी अंग सम्मिलित हैं। पर विशेषतः वे कवि और कहानीकार के ही रूप में विख्यात हैं। उनके काव्य-संकलन 'सागर थेके फेरा' को सन् 1957 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिल चुका है।

अपने प्रारंभिक साहित्य-जीवन में प्रेमेंद्र मित्र श्री अचिंत्यकुमार सेनगुप्त और श्री बुद्धदेव बसु के साथ मिलकर काम कर चुके हैं। वे ढाका से प्रकाशित बंगला पत्रिका 'प्रगति' में नियमित रूप से लिखते थे। पर प्रेमेंद्र बाबू का प्रगतिवाद

उग्र और राजनीतिक न होकर मृदु और मानवीय रहा है। उन्होंने जन-गण की भावनाओं को किसी नारेबाजी के अधीन साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं दी, अपितु जीवन के सच्चे और संपूर्ण आनंद की दृष्टि से ही उनका चित्रण किया।

अपने कथा-साहित्य मे प्रेमेंद्र बाबू ने नगर के यंत्र-ग्रस्त जीवन और निम्नवर्गीय जनों की भावना का अंकन करके विशिष्ट ख्याति अर्जित की है। उनका पहला लघु उपन्यास 'पंक' इसी पृष्ठभूमि पर रचा गया था, और उनका कहानी-संग्रह 'बनामी बंदर' भी इसी परिवेश से संबद्ध है।

[रचनाकाल 1964, 'माध्यम' में प्रकाशित।]

गुप्तजी की आधुनिकता का स्वरूप

विद्वानों ने आधुनिकता के जो मूलतत्व माने हैं, उनमें प्रमुख हैं—इहलौकिकता, जनतंत्र और विश्वबंधुत्व। वैसे तत्व और भी हैं, पर प्रस्तुत निबंध के लिए इन्हीं को दृष्टि में रखना उचित है। मध्ययुगीन दर्शन का प्रमुख आधार था—परलोक-दृष्टि। मानव अपने जीवन को और इस संसार को असार और मायामात्र मानता था, और इसका चरम लक्ष्य बैकुंठ-प्राप्ति। ज्ञान-विज्ञान के विकास से विशेषतः पाश्चात्य-विज्ञान के विकास से धीरे-धीरे इस लोक की सत्यता प्रतिष्ठित हुई है और उपस्थित जीवन को संवारने-सुधारने पर बल दिया जाने लगा। परलोक-दृष्टि का सबसे बड़ा दूषण था—जनसाधारण में आलस्य और निष्क्रियता का दार्शनिक स्तर पर स्वीकार। और इसीलिए लौकिक दृष्टि का प्रथम प्रमाण है—वर्तमान में कर्म की प्रतिष्ठा।

इस दृष्टि से हम गुप्तजी को हिंदी का पहला आधुनिक कवि कह सकते हैं। वैसे साधारणतः यह गौरव भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र को दिया जाता है। और इसमें संदेह नहीं कि भारतेंदु ने तंद्रामग्न हिंदी-जगत को झकझोर कर जगाया था, भारत-दुर्दशा का प्रभावोत्पादक उद्घाटन किया था। पर एक तो उनमें मध्ययुगीन दृष्टि का प्रभाव काफी हद तक मौजूद था, दूसरे यह सीमित आधुनिक दृष्टि भी उन्होंने अपनी गद्य-रचनाओं में ही प्रकट की, अपने काव्य में उन्होंने उसका समावेश नहीं होने दिया। यही कारण है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें ऐसी विलक्षण प्रतिभा से संपन्न माना है कि "एक ओर तो वे पद्माकर *और द्विज देव की परंपरा में दिखायी देते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल* मधुसूदन दत्त और हेमचंद्र की श्रेणी में।" सच तो यह है कि भारतेंदु धुंधलके के—संधिकाल के कवि थे, और यद्यपि अपने अल्प-जीवन में उन्होंने हमें अमूल्य अवदान दिये, पर आधुनिकता का पहला सर्वांग स्पर्श हमें मैथिलीशरण में मिलता है। जो *अंतर झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और महात्मा गांधी की दृष्टि में है,* ठीक वैसा ही अंतर भारतेंदु और मैथिलीशरण में है। तभी तो, जहां भारतेन्दु को ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में कविता करना कठिन ही नहीं व्यर्थ भी लगता था, वहां मैथिलीशरण ने खड़ी बोली में कविता ही नहीं की, अपनी साधना से उसी को समवर्ती और परवर्ती समस्त कविता का एकमात्र माध्यम

बना दिया। काव्य-साधना से बिलकुल अलग, भाषा की यह साधना भी अत्यंत ऐतिहासिक महत्त्व की है। भारतेंदु और मैथिलीशरण के इस अंतर को हम उनकी इन प्रसिद्ध पंक्तियों से भी देख सकते हैं। भारतेंदु ने कहा :

आवहु, सब रोवहु मिलकर भारत भाई,
हा-हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।

पर मैथिलीशरण ने कहा :

कुछ काम करो, कुछ काम करो,
जग मे रह कर, कुछ नाम करो।

अथवा

हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें बैठ करके ये समस्याएँ सभी।

आह्वान दोनों में ही है, पर दोनों के आह्वान का अंतर महत्त्वपूर्ण है: कर्म की जो प्रमुखता गुप्तजी के स्वर में है उसका भारतेंदु में अभाव है। कर्म की इस आवश्यकता का गुप्तजी ने बड़ी उत्कटता से अनुभव किया था, 'भारत-भारती' उसी का फल है। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि गुप्तजी जब अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों की बात करते हैं, तब भारतेंदु अपने प्रसिद्ध गीत में केवल अतीत और उपस्थित वर्तमान की—यानी उस परिस्थिति की जिसके निर्माण में हमारा कोई हाथ नहीं है। भविष्य का चिंतन ही कर्म को जाग्रत करता है। भारतेंदु में उसका अभाव था, फिर कर्म का स्वर कहां से आता।

इस बात को हम एक और प्रकार से भी देख सकते हैं। अपनी दीर्घ और गौरवमयी परंपरा के प्रति अनुराग दोनों ही कवियों में था, पर क्या दोनों कवि अपनी परंपरा को एक ही रूप में ग्रहण कर रहे थे? मन में यह प्रश्न आते ही दोनों कवियों का अंतर और भी स्पष्ट हो जाता है। भारतेंदु ने परंपरा से ही रीतिकालीन काव्याभिव्यक्ति प्राप्त की और उसकी रूढ़ियों को यथावत् रखा। उनका शृंगार और उनका भक्ति-भाव कोई मार्के की नवीनता नहीं रखता—यही नहीं, उन्होंने मंगल, व्रत और स्तोत्र सब में लीक का ही अनुसरण किया है। पर मैथिलीशरण ने अपने पथ का आप निर्माण किया, उसमें रीतिकालीन रूढ़ियों का कोई अनुकरण नहीं है। दृष्टि-विस्तार के लिए उन्होंने समसामयिक बंगला कवियों का अनुवाद किया, और सांस्कृतिक परंपरा को आत्मसात् करने के लिए उसकी समयानुरूप व्याख्या प्रस्तुत की। रामायण और महाभारत के आख्यानों को जो नवरूप उन्होंने दिया उसमें नवीन युग की छाप हम पग-पग पर स्पष्ट लक्षित करते हैं। और परंपरा का ऐसा पुनराख्यान वर्तमान की भविष्य दृष्टि के अनुरूप संचालित करने के लिए करना होता है। तभी तो वे 'द्वापर' में कहते हैं :

अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी,
सजग रहो, इससे दुर्बलता और दीनता होगी।

जिस युग में हम हुए, वहीं तो अपने लिए बड़ा है,
अहा! हमारे आगे कितना कर्म-क्षेत्र पड़ा है।

प्रगति और कर्म का यह आह्वान आधुनिकता का ही धर्म है। 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' के नारे से इसका भेद महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए जो समीक्षक गुप्तजी को भक्ति-परंपरा का कवि मान कर उसकी आधुनिकता की अनदेखी करते हैं वे उनका सच्चा रूप नहीं पहचानते। गुप्तजी परंपरावादी भक्त कवि नहीं थे, संसार के बंधनों को असार समझ कर अनन्य भक्ति द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की कामना उन्होंने नहीं की। सूर और तुलसी की भांति उन्होंने अपने आराध्य और प्रभु को आत्म-निवेदन तो अवश्य किया, पर लोक और लौकिक जीवन का निरादर नहीं किया। इसलिए उनकी भक्ति एक प्रकार से आदर्शों के प्रति निष्ठा का ही प्रकाश है, वह उनका संस्कार है, उनका वाद नहीं। तभी तो उन्होंने कहा :

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या
तो मैं अनीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें!

अपने राम के वे भक्त थे, उन मर्यादा-पुरुषोत्तम के जो जीवन के आदर्शों को सर्वोपरि रखते थे। उन आदर्शों की भी व्याख्या गुप्तजी ने युगानुरूप ढंग से ही की है। भारतेंदु की एक आंख लौकिक जीवन पर थी तो दूसरी परलोक पर—गुप्तजी ने पहली बार भर-आंखों लौकिक जीवन को देखा।

यहां आधुनिकता के दूसरे तत्व—जनतंत्र की बात आती है। राजतंत्र की अंतिम स्वीकृति परलोक निष्ठा में ही मिलती है। वह ईश्वर का दूत है इसीलिए जन्मजात राजा है। पर लौकिक-जीवन के प्रतिनिष्ठित होते ही राजतंत्र का यह आधार खिसक जाता है। तब जनतंत्र ही सही और उचित तंत्र रह जाता है। गुप्तजी को जनतंत्र का यह सिद्धांत बड़ी उत्कटता से प्राप्त हुआ क्योंकि भाग्यवश उसके साथ स्वदेश-मुक्ति का भी प्रश्न जुड़ा हुआ था, और स्वदेश भी भारतवर्ष-जैसा, जिसके अतीत-गौरव की परंपरा विश्व को आविष्ट कर चुकी थी। इसलिए यह अनिवार्य था कि जनतंत्र के प्रति आग्रह राष्ट्रीयता का रूप लेता। गुप्तजी ने अपने युग-धर्म का पालन इतनी गहन निष्ठा और साधना से किया कि वे 'राष्ट्रकवि' कहलाये। सन् 1947 में भारत के मुक्त होने तक उन्होंने जितने भी काव्य रचे उनमें सर्वत्र राष्ट्रीय भावना समायी हुई है और वह राष्ट्रीय भावना निभ्रांत रूप से जनतंत्र पर आधारित है। 'भारत-भारती' में यद्यपि समाज के विभिन्न वर्गों का अलग-अलग चित्रण मिलता है और उसमें वर्णाश्रम धर्म का ही एक परिवर्तित रूप झलकता है, पर उसकी संवेदना समानता और एकता की भावनाओं पर टिकी है, जो जनतंत्र के दो प्रमुख तत्व हैं। अपने युग के इस यथार्थ से गुप्तजी इतने गहरे रूप में प्रभावित

थे कि उन्होंने जनतंत्र को रामराज्य की आदर्श कल्पना में भी विस्मृत नहीं होने दिया। परंपरा का पुनराख्यान तभी सार्थक भी होता है। 'पंचवटी' में लक्ष्मण कहते हैं :

और आर्य को, राज्य भार तो
वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सब को भी
मानो विश्व विसारेंगे।
कर विचार लोकोपकार का
हमें न इससे होगा शोक,
पर अपना हित आप नहीं क्या,
कर सकता है यह नर लोक।

इसी प्रकार 'साकेत' में भी जनतंत्र-समर्थक भाव पिरोये मिलते हैं। राम के वन जाते समय प्रजा कहती है :

राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना,
करो न यों तुम हाय! लोकमत अनसुना।

इतिहास का डर न होता तो जनतंत्र का यह उद्घोष गुप्तजी और भी ऊंचा कर देते, पर राम-कथा में इससे अधिक की गुंजाइश नहीं थी।

इस प्रसंग में गुप्तजी की दो कृतियों की चर्चा आवश्यक लगती है। दुर्भाग्य से ये दोनों कृतियां यथोचित ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी हैं। 'साकेत' गुप्तजी की सर्वश्रेष्ठ काव्यकृति है, इसमें चाहे अधिक मतभेद की गुंजाइश न हो, पर जो लोग यह समझते हैं कि गुप्तजी का भाव-विस्तार 'साकेत' काल तक ही सीमित है, वे भ्रम में हैं। सन् 1950 में गुप्तजी ने 'हिडिम्बा' की रचना करके अपनी जन-भावना को नवीन एवं समयोचित विस्तार दिया। स्वतंत्र भारत के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप मे वनवासी और आदिवासी जनों के प्रति हमारा ध्यान इसी समय गया था। हिंदी काव्य में इन्हीं दिनों लोकगीतों का रंग आने लगा और हिंदी उपन्यास आंचलिकता की ओर बढ़ा। गुप्तजी ने 'हिडिम्बा' की रचना कर उस पक्ष को बड़ा पुष्ट समर्थन प्रदान किया। प्रसंग चाहे महाभारत का ही है, पर उसका नियमन कवि ने एक प्रसन्न आधुनिक दृष्टि से किया है जिसके फलस्वरूप जन की मूलभूत एकता और विभिन्न संस्कारों के आदान-प्रदान और विकास को बल मिलता है। कुंती से हिडिम्बा कहती है :

तो भी जो नरों से हैं नरों का भेद करते,
वे क्या नहीं मिथ्या दर्प में ही पड़े मरते।
प्राणिमात्र सहज प्रवृत्तियों में एक से,
राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से।
निर्भय वे मारते हैं निर्भय वे मरते,
किन्तु अपनों की लूट-मार नहीं करते।

रखते तुम्हीं क्या, नहीं इस कुछ देने को,
प्रस्तुत कृतज्ञता के साथ कौन लेने को?
हीनता-सी मान दोनों हीन रह जाते हैं,
अपने ही अपने में लीन रह जाते हैं।
एक नई सृष्टि हम चाहें तो यहाँ रचें,
तुम पचो हममें वा हम तुम में पचें?

यह जनतंत्र का ऐसा नवीन उद्घोष है जो पश्चिम के मूल्यों का भी विकास करता है। इससे नितांत भिन्न कृति है, 'राजा-प्रजा' (सन् 1956) जिसमें अतीत-पुराण का कोई आधार नहीं, सीधा और प्रखर वर्तमान चिंतन है। वस्तुतः वह एक पद्यबद्ध निबंध ही है जिसमें भारतीय जनतंत्र के व्यावहारिक पक्ष से संबंधित कवि की अनेक विदग्ध उक्तियां मिलती हैं। कवि ने जहां जनतंत्र के सिद्धांत को अपनी अटूट श्रद्धा सौंपी है, वहीं उसकी सफलता के लिए कर्त्तव्य-पालन के महत्त्व को अंकित किया है, और सामान्य त्रुटियों की प्रखर भर्त्सना की है :

राष्ट्र सभा के सभ्य, मुख्य दायित्व तुम्हीं पर,
लोकराज्य का यहाँ चिरस्थायित्व तुम्हीं पर।
भय-विजयी तुम कहीं लोक के हाथों हारे,
तो दिन में दीख पड़ेंगे तुमको तारे!

खाकर लुढ़का गए विदेशी वे व्यवसायी,
उनकी जूठन पर न लड़ो कुत्तों से भाई!

अब भी देश दरिद्र, इसी से स्वार्थ प्रबल है,
मृतप्रायः संस्कार, विवेक विचार विकल हैं।

और सन् 1940-41 के कारावास के समय रची गयी अपनी कृति 'अजित' में गुप्तजी ने अपराधियों और डाकुओं के प्रति भी जो मानवतावादी दृष्टि रखी है, वह उनकी जनतांत्रिक भावना का एक नया ही आयाम है। उसकी लघु-भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि परपरावादियों को उनका यह कार्य 'चपलता' भी लग सकता है!

जनतंत्र की भावना से विश्वबंधुत्व अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, वास्तव में ये दोनों मानववाद के ही दो पक्ष हैं जो आधुनिक चिंतन का अंतिम मूल्य है। अपनी निष्ठा में राष्ट्रीय रहकर भी गुप्तजी एक-राष्ट्रीय कभी नहीं रहे, वे एक विश्व के सदस्यों के रूप में राष्ट्र-राष्ट्र की समानता और स्वतंत्रता के हामी थे, और गांधीजी की भांति समस्त विश्व के जनों को प्रेम और अहिंसा के आधार पर संगठित करने के पक्षपाती थे। इस विश्व-दृष्टि में निस्संदेह वे भारत को विशिष्ट स्थान देते थे, पर वह तात्कालिक राष्ट्रीयता का तकाजा था। अन्यथा उनकी 'युद्ध' और 'विश्व-वेदना' नामक कृतियां उनके सार्वभौम दृष्टिकोण की ज्वलंत साक्षी हैं। वे निर्भ्रांत स्वर में कहते हैं :

कटे ही निज पराधीनता के बन्धन के,

हुए नागरिक भाव हमें अर्पित लन्दन के।
किन्तु हमारा लक्ष्य एक अम्बर, भू सागर,
एक नगर-सा बने विश्व, हम उसके नागर।

यह उनके विश्वबंधुत्व का ही प्रभाव है कि उन्होंने चीनी आक्रमण के समय भी उदारवाणी में ही राष्ट्रीय रोष व्यक्त कियाः

ऋषि दधीचि से गांधी जी तक मिली हमें जो दीक्षा है,
बंधु जनो, प्रस्तुत हो, उनकी फिर आ गई परीक्षा है।

बलि देकर ही बल लेंगे हम भीम-भामिनी-भीमा से
जो पर हैं, वे रहें परे ही, हटें हमारी सीमा से।।

इस ललकार में आत्म-रक्षा का ही भाव है, पर-विजय का नहीं।

[रचनाकाल 1964, गुप्तजी के देहावसान के अवसर पर श्रद्धांजलि रूप में लिखा लेख, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

जैनेंद्र के दंपति

'सुनीता' मैंने लगभग सन् 1937 में पढ़ी थी। तब हाल ही में वह छपी थी और हिंदी-जगत् में उन दिनों उसका बाज़ार बड़ा गरम था। ऐसी हलचल मची थी उससे कि गज़ब। खास तौर से उसके क्लाइमैक्स ने तो जैसे समाज की नींवें ही हिला दी थीं। नारी निर्वसन हो जाये—स्वेच्छा से—सो भी पुरुष को स्वीकार करने के उद्देश्य से नहीं, उसका प्रतिकार करने के लिए—यह बात आसानी से गले न उतरती थी। उतरती भी कैसे—समाज के सामने तो सती नारी का वह स्वरूप था जिसके आगे रावण जैसा प्रतापी भी पराभूत हो गया था। वही सती-साध्वी अपनी पवित्रता की रक्षा ऐसे विचित्र ढंग से करे, और सो भी हरिप्रसन्न जैसे फुसफुसे रावण से जो सुनीता के घर में शरण लिये हुए है, जो उससे रुपयों की भीख मांगता है, और अपने क्रांतिकारी काम के लिए प्रेरणा—उसके सामने ऐसी दयनीय बन जाने की क्या बाध्यता थी सुनीता को? सारा हिंदी-जगत् उन दिनों यह प्रश्न पूछ रहा था। मैंने सोचा, चलो लगे हाथ मैं भी यह प्रश्न पूछ लूं। पर पूछता किससे? जैनेंद्र को जानता न होऊं यह बात नहीं, पर उनके सामने तब मेरा मुंह भी न खुलता था, और यदि पत्र में कुछ पूछो तो उन दिनों वे कागज-पत्रों से आग जलाने का काम लेते थे।

सो वह प्रश्न मन में ही पड़ा रहा। अब, प्रश्नों के साथ एक विचित्र बात यह है कि जब तक उनका समाधान न हो जाये तब तक उनकी मुक्ति नहीं होती। प्रेतात्मा की तरह वे आस-पास अपने सूक्ष्म रूप में मंडराते रहते हैं। इस प्रश्न की भी यह हालत थी। बरसों बीत गये पर वह मन में ही चक्कर काटता रहा। और तभी मेरी मुलाकात हरिप्रसन्न से हो गयी। सन् '47 के आसपास मैं 'प्रतीक' सहकारी-योजना के सिलसिले में प्रयाग में रह रहा था कि एक दिन अचानक देखा कि सामने हरिप्रसन्न! हू-ब-हू वही रूप जो 'सुनीता' से जाना था। दाढ़ी बढ़ी हुई, एक हाथ में पिस्तौल और दूसरे में पेंटिंग का ब्रश, कंधे पर सामान-लदा झोला जिससे लगा कि अभी वैसे ही हैं, दांपत्य के चक्कर में नहीं फंसे। बल्कि कुछ बदहवास-से भी थे मानो अब भी 'सुनीता' के निर्वसन-चक्र से दुर्वासा की भांति सहमे-डरे शरणस्थल खोज रहे हों। बड़ी

मुश्किल से उन्हें कुरसी पर बैठा सका। बैठकर भी वे बराबर खुले दरवाज़े से बाहर देखते रहे मानो आहट होते ही भाग निकलेंगे। जैसे-तैसे उन्हें चाय पिलायी। प्याला मेज़ पर रखते ही बोले : "अब चलूंगा।"

मैंने कहा—"प्रसन्नजी, आप अप्रसन्न न हों तो एकाध प्रश्न पूछकर अपना कुतूहल शांत करना चाहता हूं।"

बोले—"पुरानी बातें कुरेदने से क्या फायदा? फिर आप मुझसे क्यों पूछते हैं। सुनीता से क्यों नहीं पूछते? या फिर, जैनेंद्र से—उन्हें तो सब मालूम है।"

इस तरह शुरू होकर हरिप्रसन्न से मेरी जो इंटरव्यू हुई वह काफी लंबी चली। बातें तो उन्होंने कम बतायीं पर अटकते बहुत थे, और बड़ी मुश्किल से बिंदु पर आते थे। उनका भाव यह था कि जैनेंद्र ने उनके साथ न्याय नहीं किया है, कुछ घटनाएं तोड़-मरोड़ दी हैं और कुछ को साफ छिपा गये हैं। उन्होंने कुछ यह आभास भी दिया कि कभी चैन से बैठ सके तो वे अपनी आत्मकथा लिखेंगे और तब उसमें सुनीता का सही रूप चित्रित करेंगे।

मैंने कहा : "एक तरह से तो आप कर चुके हैं।"

"कहां?"

"ओ तू—वाले चित्र में क्या सुनीता का ही रूप न था?"

"अरे, वह—वह तो मेरे मन की गांठ का चित्रण है।"

"बिल्कुल ठीक। जैनेंद्र ने भी तो यह दरसाया है कि सुनीता आपके मन की गांठ थी। अब आप ही बताइए, परायी स्त्री को अपने मन की गांठ बना लेना, और इस तरह उनके दांपत्य-स्वर्ग में घोर नरक का तूफान उठा देना—यह कहां की सभ्यता है? तिस पर श्रीकांत के आप इतने गहरे मित्र थे, और सुनीता को भाभी कहते थे।"

मैंने सोचा था कि यह अभियोग सुनकर हरिप्रसन्न खुल पड़ेंगे, और उनका पक्ष प्रकट हो जायेगा, पर वे तो मेरी बात पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण हंसी हंसे और बोले : "आप नहीं समझेंगे।"

मैंने उन्हें बताया कि मैं एम. ए. पास हूं और सब समझता हूं। यही नहीं, जो मेरी समझ में न आये उसमें समझने लायक कुछ है ही नहीं, यह मान लेना अतिशयोक्ति न होगी।

आज की इस दूरी पर उस इंटरव्यू को ज्यों-का-त्यों सुनना शायद आप पसंद न करें, शायद मुझे याद भी न हो, पर कुएं में कांटा डालकर घंटों की मेहनत और परेशानी के बाद जिस रहस्य का उद्‌घाटन हुआ वह जैनेंद्र को विचित्र लग सकता है। इसीलिए अब तक छिपाता रहा हूं। और आज अगर संपादकीय सत्याग्रह के आगे हथियार डाल देने पर विवश न हो गया होता, तो कहता भी नहीं। हरिप्रसन्न का कथन था कि श्रीकांत ने स्वयं उसे बड़े आग्रह से अपने यहां बुलाया था। (यह बात तो जैनेंद्र भी मानते हैं) और कहा था कि उसका दांपत्य-जीवन बड़ा ही एकरस—नीरस—हो गया है (यह भी जैनेंद्र ने कहा है) और उसका कारण यह है कि सुनीता पढ़ी-लिखी होकर भी उसका साथ नहीं दे पाती। चक्की-चूल्हा तो ठीक (पाठक देख ही चुके हैं कि मकड़ी

के जाले वह कितनी सुंदरता से साफ करती है) पर सभा-सोसायटी से वह कतराती है। श्रीकांत ने मुझसे निवेदन किया था कि किसी तरह सुनीता को आधुनिक जाग्रत जीवन की ओर उन्मुख कर दो तो साथ-साथ रहने का रस मिले। (यह बात जैनेंद्र ने नहीं बताई) और मैंने उसकी बात मानकर सुनीता को सार्वजनिक कार्यों में रुचि दिलानी चाही। श्रीकांत जब बाहर जाते समय सुनीता से यह कह गया था कि हरिप्रसन्नजी मांगें सो देना, उसे नाराज मत करना, तो उसका इशारा मेरे इसी प्रयत्न की ओर था (जैनेंद्र ने इसको नितांत भिन्न रूप से प्रस्तुत किया है) पर सुनीता ने कुछ और ही समझा और वह कांड घट गया जो मेरी लज्जा का कारण बना।

मेरे तो अचरज की हद न थी। बरसों से हम सुनीता के अहिंसक प्रतिकार की प्रशंसा करते आये हैं और आज यह हज़रत दूध के धुले बनकर सारा दोष श्रीकांत और सुनीता के मत्थे मढ़ रहे हैं, जैसे इन्होंने कुछ किया ही न हो। सुनीता को क्रांतिदेवी बनाने में क्या केवल श्रीकांत का आग्रह ही था, हरिप्रसन्न की अतृप्त नारी-भूख का कोई स्थान न था? श्रीकांत-सुनीता के दांपत्य में क्या आदर्श से तिल-भर भी कमी थी?

हरिप्रसन्न तो अपनी सफाई देकर चले गये, पर मेरे मन में एक और ही प्रश्न उठा गये। जैनेंद्र के दंपति क्यों असफल होते हैं, और हर बार सारी यातना, सारी विपदा नारी ही को क्यों झेलनी पड़ती है? और इस प्रश्न का जो उत्तर मुझे मिला है, वह बड़ा कष्टकर है। वह उत्तर यह है कि जैनेंद्र के दांपत्य का पति पढ़ी-लिखी नारी को बरदाश्त नहीं कर पाता। शक्ति और सामर्थ्य की बात तो दूर, वह उसे बरदाश्त करने की इच्छा भी नहीं रखता, क्योंकि उसके मन में एक घरेलू टाइप की चुलबुली लड़की बसी हुई है—वह लड़की जिसे जैनेंद्र कट्टो कहते हैं। कट्टो यानी गिलहरी।

भला बताइए, नारी कभी गिलहरी भी हो सकती है? पर 'परख' में जैनेंद्र ने उसे गिलहरी के ही रूप में पेश किया है। आप खुद ही सोचें, आखिर सत्यधन और श्रीकांत में ऐसा क्या भेद है? नाम का ही न! पर सुनीता कट्टो नहीं है, वह गरिमा है। सारे रहस्य की यही जड़ है। गरिमा हो या सुनीता, मृणाल हो या कल्याणी—कट्टो उनमें एक नहीं है। और सत्यधन यानी श्रीकांत यानी शीला का भाई अर्थात् डॉ. असरानी सब उसी कट्टो की तलाश में हैं जो हंसमुख है, पढ़ी-लिखी नहीं है, सरल है पर बुद्धू नहीं है, जो अत्यंत मनमोहिनी है पर ड्राइंगरूम सभ्यता में नहीं खप सकती। सत्यधन के मन में उसी का स्थान है, लेकिन उस विधवा को अंगीकार करना समाज से लड़ने की अपेक्षा रखता है, इसलिए वह गरिमा से शादी कर लेता है, और सोचता है कि समस्या हल हो गयी। क्योंकि गृहस्थी के लिए एक पत्नी चाहिए और वह आ ही गयी है—पढ़ी-लिखी, सुशील, समझदार, संभ्रांत। यह तो उसे तब पता चलता है कि समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई है जब वह श्रीकांत के रूप में सुनीता नामी गरिमा के साथ रहता है और दिनोदिन उस चुलबुलाहट को बुझता पाता है, और उस नीरसता को सुनीता के घरेलू घेरे का परिणाम समझता

है। पर उस नीरसता का असली कारण स्वयं श्रीकांतजी के मन का वह चोर है जो कट्टो के आस-पास मंडरा रहा है और जिसने सुनीता-जैसी प्रबुद्ध नारी को घर में रखकर सड़ा मारने का उपक्रम किया है। हरिप्रसन्न का सचमुच कोई दोष नहीं था क्योंकि उसकी जगह कोई भी होता परिणाम यही होना था। जो ध्यान श्रीकांत से नहीं मिला वह जिससे भी मिलेगा सुनीता उसी के प्रति उन्मुख होने को बाध्य है। क्योंकि यदि सुनीता सभा-सोसायटी में रस नहीं लेती तो आखिर यह किसकी गलती है, और इसका निदान स्वयं उसे उस ओर उन्मुख करना है या अपने किसी मित्र को बुलाकर उससे प्रार्थना करना? और क्या यह विचित्र समाधान श्रीकांत इसीलिए नहीं अपनाता कि वह अपने मन को सुनीता में नहीं रमाना चाहता, क्योंकि वह कट्टो को नहीं छोड़ पाता?

जैनेंद्र के उपन्यासों में इसीलिए पत्नी शिक्षिता होते हुए भी घरेलू पिंजड़े में बंद मिलती है, अपने पति की सहधर्मिणी बनकर घर-बाहर उसकी अर्द्धांगिनी के रूप में नहीं। और पति का मन हरेक उपन्यास में एक अविकसित बालक-मन है जिसकी ललक किसी अन्य ओर है, पर जिसमें उस ललक का साथ देने की कर्मठता नहीं है। ऐसे पति-पत्नी मिलकर जिस दांपत्य की रचना करेंगे वह निश्चय ही पति के लिए नीरस और पत्नी के लिए कारागार ही सिद्ध होगा। इस बात से विशेष क्या फर्क पड़ता है कि उसे श्रीकांत से 'द क्वीन कैन डू नो रौंग' का सर्टिफिकेट मिल जाये या मृणाल की भांति आत्म-बहिष्कृत होकर स्लम एरिया में पहुंच जाये अथवा मिसेज़ कल्याणी असरानी की तरह कभी कविता लिखने की कोशिश करे, कभी उपासना-आश्रम बनाने की और अंत में किसी लोलुप राजनीतिज्ञ की वासना की बलि बन जाये। दांपत्य की मूल प्रतिबद्धता का जहां अस्तित्व नहीं है, वहां ऐसी विभीषिकाएं अनिवार्य हैं। पति और पत्नी जब तक प्रेमी-प्रेमिका के रूप में निरंतर एक-दूसरे को नित-नवीन रूप में पाने की चेष्टा न करते रहें, जहां पति पढ़ी-लिखी नारी को पत्नी रूप में वरण कर अपने घर में ला बिठाये और सोचे कि अब वह तन की भूख शांत करके निर्विघ्न अपने धंधे में जुटा रह सकता है, जहां पत्नी को एक मूर्ति की तरह—ख्वाह वह वीनस की ही मूर्ति हो—घर के एक कोने में स्थापित कर पति अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता हो, या इससे भी घटिया—पत्नी को आत्मोन्नति के साधन के रूप में प्रयुक्त करने लगता हो वहां दांपत्य के सुख का प्रकाशन नहीं हो सकता। वहां नारी का धर्म है विद्रोह—दांपत्य की शर्त से विद्रोह। बकौल रवींद्रनाथ, चित्रांगदा ने भी अर्जुन से यही कहा था :

मैं चित्रांगदा हूँ—
मैं देवी नहीं हूँ,
न मैं सामान्य रमणी हूँ।

पूजा करके सिर पर बैठाओ
ऐसी भी मैं नहीं हूँ,
और उपेक्षा से पाल कर पीछे-पीछे चलाओ,
ऐसी भी नहीं हूँ।

यदि तुम संकट-मय पथ पर मुझे अपने बगल में रखोगे,
जटिल चिन्ता में मुझे भाग लेने दोगे,
कठिन व्रत में सहायता करने की अनुमति दोगे,
यदि सुख में दुख में
मुझे अपनी संगिनी बनाओगे
तभी तुम मेरा सही परिचय पा सकोगे।

पर जैनेंद्र के किसी भी पति को इतनी फुरसत नहीं कि वह चित्रांगदा की मांग पूरी कर सके। उसके बाल-मन ने नारी को सिर्फ कट्टो के रूप में ही जाना है—विधवा अर्थात् निरीह—जिसकी कोई मांग नहीं है, जिसको सिर्फ एक अवलंब, एक शरण-स्थल चाहिए। श्रीकांत हो या डॉ. असरानी, नारी के सच्चे ऊष्म स्पर्श से वे स्वयं अपने ही कारण ऐसे वंचित रह जाते हैं कि दया आने लगती है। आश्चर्य होने लगता है कि ऐसे आत्मबंद दृष्टिहीन पुरुष के प्रति जैनेंद्र की नारी विद्रोह क्यों नहीं करती—उसके चरणों में समर्पित रहकर अपने को धन्य क्यों मानती है? मृणाल की परिणति में तो उस विद्रोह की पुष्टि के बजाय नारी के लिए एक चेतावनी ही निहित है कि खबरदार, जैसे कहूं वैसे रह, नहीं तो देख ले, जज साहब की बुआ होकर भी तुझे भिखारिन ही बनना पड़ेगा!

[रचनाकाल 1965, 'ज्ञानोदय' के दांपत्य विशेषांक 1965 में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

एक स्थितिहीन संलाप

हाल ही में जब जैनेंद्र कुमार का नया उपन्यास 'मुक्तिबोध' प्रकाशित हुआ तो नयी दिल्ली में उसकी चर्चा के लिए एक गोष्ठी आयोजित की गयी। छोटे-बड़े, नये-पुराने सभी तरह के विद्वानों ने उसमें भाग लिया। इस बात पर तो अचरज करने की कोई इच्छा नहीं होती कि किसी के मत से किसी और का मत नहीं मिलता था क्योंकि मतभेद साहित्य-जैसे विषय में सहज संभव है। पर इस बात पर आश्चर्य ज़रूर हुआ कि इस मतभेद में कुछ इतना अधिक भेद था कि मति का नितांत अभाव मालूम पड़ता था और मुझे लगा कि हो-न-हो इसमें कहीं कुछ गड़बड़ जरूर है। और इसी पर विचार करते-करते ध्यान में आया 'कल्पना' का वह विशेष अंक, जिसमें दिनकर की 'उर्वशी' पर अनेक विद्वानों की प्रतिक्रियाएं एक साथ प्रकाशित की गयी थीं। मतभेद का कुछ ऐसा ही ठाठ उस विशेषांक में भी था।

तभी से इस संबंध में सोचता रहा हूं और जितना सोचता हूं उतना ही हैरान हो जाता हूं। हिंदी में आज छोटे-बड़े मिलाकर बीसियों ही पत्र प्रकाशित होते हैं जिनमें से अधिकांश फूल-जैसे हल्के तो होते ही हैं, फूलों की तरह ही दो दिन में मुरझाकर झड़ जाते हैं और कुछ पत्र ठूंठों की तरह रस-रंगहीन होकर भी बरसों से चले आते हैं। उन सबमें जो आलोचनात्मक, समीक्षात्मक अथवा वैचारिक निबंध दिखायी पड़ते रहते हैं उनमें भी मतभेद की यही छटा मिलती है। आज हिंदी में मतभेद पर कुछ इतना जोर दिया जा रहा है कि मतैक्य शायद बुरी बात मानी जा रही है। पर जिस प्रकार व्यक्तिगत अभिरुचि के संदर्भ में मतभेद सहज और अनिंदनीय माना जाना चाहिए, उसी प्रकार क्या कोई ऐसा सैद्धांतिक स्तर नहीं है जहां थोड़ा-बहुत मतैक्य आवश्यक हो। यह सच है कि किसी भी काल में अनेक साहित्यिक सिद्धांत और प्रवृत्तियां प्रवाहित मिलती हैं और उनमें आपस में थोड़ी-बहुत भिन्नता होना स्वाभाविक है। पर क्या जीवन अथवा साहित्य के कुछ ऐसे आयाम नहीं होने चाहिए जिनके संबंध में समानधर्मी साहित्यिकों की दृष्टि एक-सी हो।

आजकल एक प्रवाद बहुत प्रचलित है कि हिंदी साहित्य में नयी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष चालू है। मैं इसे प्रवाद ही कहता हूं क्योंकि मुझे नयी-पुरानी

पीढ़ी का यह भेद कहीं दिखायी नहीं देता। जो लोग नयी पीढ़ी को एक मानते हैं और इसलिए यह सोचते हैं कि नये लेखक सब-कुछ भिन्न किंतु एक-सी भिन्नता से साहित्य को देखते हैं, वे शायद इन नयों की रचनाएं पढ़ने का कष्ट नहीं करते। नये के नाम पर इस समय हिंदी में जो अराजकता व्याप्त है, उसमें से एकता का कोई सूत्र खोज निकालना मुझे प्रायः असंभव लगता है। यह ठीक है कि जब किसी एक विषय पर चर्चा होती है तो कलकत्ते से जैसलमेर तक उसी पर चर्चा होने लग जाती है। पहले नयी कविता की धूम थी और उसके सिलसिले में आधुनिकता की व्याख्या का बोलबाला रहा। इधर कुछ दिनों से नयी कहानी चर्चा का विषय बन गयी है और प्रतिबद्धता का शोर मच उठा है। पर इन विषयों पर जो लेख छपे हैं उन्हें पढ़कर जितने मुंह उतनी ही बातों का नज़ारा दिखायी देता है। उन्हें पढ़कर मेरे मन पर पहला प्रभाव यही होता है कि मानो नयेपन की कोई दौड़ लग रही है और इस डर से कि कहीं पिछड़ न जाये, हर लेखक 'काता और ले भागे' को ही सच्चा सिद्धांत मानता है। यहां तक कि अपनी बात की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण उपस्थित करना भी उसे अनावश्यक या व्यर्थ लगता है। परिणाम यह होता है कि रचना की दिशा का न तो बोध है और न अध्ययन, समीक्षा और चर्चाएं एक स्वतंत्र रूप से अपनी पृथक् ही लीक बनाये चली जा रही हैं।

इस स्थिति को संलाप कहना कठिन है। यह तो अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग ही है।ज्यादातर ढपली किसी संपन्न मित्र की होती है और राग किसी यशःप्रार्थी उदीयमान लेखक का जो एक ही लेख से युग-प्रवर्तक की श्रेणी में पहुंचना चाहता है और चुनाव के हथकंडों की तरह अपने इर्द-गिर्द बसे हुए नामी-अनामी साहित्यकारों को प्रशंसा या निंदा बांटता रहता है। समग्र और स्थिर दृष्टि से साहित्य को देखना जैसे हम भूल ही गये हैं। चंडीगढ़ से जो पत्रिका आती है, उसमें कलकत्ते के लेखकों का जिक्र नहीं होता और कलकत्ते से जो पत्रिका आती है उसमें मध्यप्रदेश के लेखकों का ज़िक्र नहीं होता। यह स्थिति इतनी विकट हो गयी है कि हर प्रांत का हिंदी साहित्य एक पृथक् कोटि बन गया है। बिहार में जो लेखक मूर्धन्य माना जाता है, उसके नाम के छींटे राजस्थान में नहीं पहुंचते और 'त्रिपथगा' में जिनकी रचनाएं छपती हैं, उन्हें दिल्ली में कोई नहीं पहचानता।

इस पर तुर्रा यह कि जो सुधी-समीक्षक साहित्य में स्थापित हो चुके हैं और जिनके स्वर में यथोचित प्रौढ़ता है, वे आज के साहित्य से नितांत पराङ्मुख दिखायी पड़ते हैं। लगता है कि '35 के बाद की रचनाएं न तो उन्होंने खरीदी हैं, न उनको लेखकों ने भेंट ही की हैं। बेचारे करें तो क्या! हिंदी साहित्य इतने स्थानों से इतनी प्रबल और विस्तृत धाराओं में प्रवाहित हो रहा है कि उसका आकलन अत्यंत कष्टसाध्य और अत्यंत समयसाध्य बन गया है और लगता है इतना कष्ट करने का और इतना समय देने का साहस अब हिंदी से लुप्त हो गया है।

ऐसी स्थिति में यह कहना मुश्किल हो जाता है कि हिंदी साहित्य किस

अवस्था में है और किधर जा रहा है। कुछ के लेखे अगर वह पश्चिम के बीटनिकों का भाईबंद है तो और कुछ के लेखे अभी वह रस-सिद्धांत की लीक पर ही झूमता चल रहा है। कहीं निराला द्वारा छंदमुक्त प्रयोगों को पचास वर्ष बीत जाने के बाद भी अभी छंदहीन कविता को अकविता माना जा रहा है तो कहीं फ़िल्मी गीतों को भी काव्य के अध्ययन का अंग मानने का आग्रह किया जा रहा है। ऐसी स्थितिहीन स्थिति में जो कृतिकार समसामयिक चर्चाओं और आलोचनाओं से अपने लिए कुछ उपयोगी सुझाव या दिशा-निर्देश पाने की चेष्टा करता है, वह चक्कर में आ जाता है। न उसे यही पता लग पाता है कि अपने निजी संदर्भ के बाहर उसकी रचना की क्या सार्थकता है अथवा क्या मूल्य है। मेरा निश्चित मत है कि यह स्थिति सृजन को प्रोत्साहन नहीं देती।

[रचनाकाल 1965, 'लहर' के प्रसंगवश स्तंभ में 1965 में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

लेखक का कर्म

('संस्कृति', नयी दिल्ली द्वारा प्रचारित कुछ प्रश्नों के उत्तर में)

मैं इन प्रश्नों को ऊपर से नीचे देखने की बजाय नीचे से ऊपर देखना ज्यादा पसंद करता हूं कि क्या हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक अपने दायित्व को समझते हुए साहित्य के विभिन्न अंगों को सम्यक् समृद्ध करने के लिए कटिबद्ध हैं और क्या ललित (शक्ति) साहित्य और ज्ञान साहित्य के सभी अंगों के बारे में बढ़ती हुई मांग की पूर्ति करनेवाली पुस्तकें धड़ाधड़ लिखी जा रही हैं, अर्थात् जिस बढ़ती हुई मांग की पूर्ति की अपेक्षा लेखक से की गयी है उसकी जांच पहले करना चाहूंगा।

मैं नहीं जानता कि इधर पुस्तकों की मांग बढ़ती गयी है—यानी उन पुस्तकों की जिनके लेखक को कलाकार कहा जा सकता है। वैसे जनशिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण और शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं के अधिकाधिक अंगीकरण के कारण पाठ्य-पुस्तकों की और पाठ्यक्रम-सहायक पुस्तकों की मांग निश्चित ही बढ़ गयी है। इसी प्रकार देश की औद्योगिक-वैज्ञानिक प्रगति की नानाविध योजनाओं को सफल बनाने के लिए प्रावैधिक एवं वैज्ञानिक पुस्तकों की मांग भी बहुत बढ़ गयी है। पर ये सब उस मोटे पेटे में आती हैं जिसे आपने ज्ञान का साहित्य कहा है। लेखन की जिस शाखा से मैं संबद्ध रहा हूं, वह यह नहीं है।

मैं केवल उसी साहित्य के बारे में थोड़ा-बहुत जानता हूं जिसे आप शक्ति का साहित्य कहते हैं और यह कहते हुए दुःख होता है कि ऐसे साहित्य की मांग मुझे बढ़ती नहीं दिखायी देती। निश्चित ही इस बात के अकाट्य और प्रबल कारण होंगे, पर यह बात सभी को प्रकट है कि आज समाज के निरंतर नगरीकरण के कारण एक तो स्वाध्याय के लिए अवकाश घटता चला गया है, दूसरे सभ्यता और संस्कृति के सतही एवं ऊपरी पक्ष इतने प्रबल हो गये हैं कि पुस्तक पढ़ने-जैसी क्रिया कम होती जा रही है।

हमारे घरेलू बजट में पुस्तकों की खरीद के लिए साधारणतया कोई स्थान नहीं होता क्योंकि वह केवल मनोरंजन के अंतर्गत ही हो सकता है। और अब मनोरंजन के नाम पर सिनेमा से लेकर कश्मीर-यात्रा तक के लिए तो

गुंजाइश रहती है, पर पुस्तकों की खरीद के लिए नहीं। जिन घरों में पढ़ने का थोड़ा-बहुत शौक मौजूद भी है, उनमें भी पुस्तकों के नाम पर साधारणतः या तो दैनिक या साप्ताहिक पत्र आते हैं या बहुत हुआ तो कुछ मासिक पत्र। कम-से-कम कलात्मक पुस्तकों के पाठक हिंदी में विरल हैं, यह बात मैं निजी अनुभव से कह सकता हूं। इसलिए ज्ञान के साहित्य की बढ़ती हुई मांग तो समझ में आती है, पर शक्ति के साहित्य की मांग को बढ़ती हुई कहना अतिशयोक्ति ही है, बल्कि मैं तो कहूंगा भ्रम है। पाठक की ओर से शक्ति-साहित्य को आज जो उपेक्षा मिल रही है उससे यदि लेखक हतोत्साहित न हो, तो इसे भी मैं उनकी मर्दानगी ही कहूंगा।

पर इस प्रश्न से एक और बात भी मन में उठती है। क्या लेखक कभी भी किसी बाहरी मांग की पूर्ति करने के लिए रचना करता है? मुझे तो यही बताया गया है और मैंने अपने अनुभव से भी यही जाना है कि लेखक की रचना प्रमुख रूप से और कभी-कभी एकांत रूप से आत्माभिव्यक्ति के लिए ही होती है। फिर बाजार में उसकी मांग है या नहीं, इसका उस पर क्या असर पड़ सकता है और क्या विश्व के साहित्य में सबसे महान् और क्रांतिकारी पुस्तकें वे ही नहीं रही हैं जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती दी है और फलस्वरूप उपेक्षा ही नहीं निंदा भी सही है। प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य की चर्चा छोड़ भी दें तो भी क्या यह कहा जा सकता है कि 'पल्लव' या 'अनामिका', 'सुनीता' या 'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'तारसप्तक' या 'अंधा युग' किसी बढ़ती हुई मांग की पूर्ति के लिए रची गयी थीं? और यद्यपि कालांतर में इनमें से कई रचनाएं बिक्री की दृष्टि से भी सफल मानी जा सकती हैं, पर क्या यह सच नहीं है कि शुरू में उन्हें प्रकाशक मिलने में भी दिक्कत हुई थी?

इसलिए मेरा यह निश्चित मत है कि यदि सत्साहित्य का विकास और उन्नयन करना है तो बाहरी मांग की पूर्ति की बजाय लेखक अपनी आंतरिक प्रेरणा पर ही भरोसा करे, तभी वह ऐसी रचनाएं कर सकेगा जो आज की सामाजिक परिस्थितियों का आलोचनात्मक चित्रण कर सकेंगी। यह बात ठीक है कि प्रबुद्ध पाठक के रूप में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी साहित्यिक रुचि का परिष्कार करते रहना चाहिए और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि स्थापित स्वार्थों के विरुद्ध रचना को समाज तुरंत आदर दे सकता है तो उससे लेखक को अपने रचनात्मक कार्य के लिए प्रोत्साहन मिलता है। पर ये बातें रचना की प्रक्रिया तक नहीं पहुंचती और सच्चा लेखक इनके भरोसे नहीं रहता।

जहां तक लेखक को सुविधाएं देने और उसके मार्ग की कठिनाइयों का निदान और निवारण सोचने का प्रश्न है, मेरी समझ से जो व्यवस्था लेखक की कठिनाइयां दूर करने की सोचती है, मैं उसे लेखन-कार्य के लिए बाधक ही नहीं खतरनाक भी मानता हूं, क्योंकि विश्व के अनेक देशों का इतिहास यह सिद्ध करता है कि जब भी किसी सामाजिक व्यवस्था ने लेखक को सुविधा दी है, तब उसके बदले में उससे बड़ी भारी कीमत वसूल की है। मैं वह कीमत

देने के लिए तैयार नहीं हूं। इसलिए लेखक को सबसे बड़ी सुविधा जो समाज से मिल सकती है, वह यही है कि समाज अपने स्थापित विचारों के विरुद्ध भी रचनाएं लिखी जाने दे, उन पर रोक न लगाए। जो रचनाएं स्थापित मूल्यों अथवा स्थापित रूढ़ियों से मेल न खाती हों उन्हें भी यदि हम सह सकें (यानी 'बेनिफ़िट ऑफ़ डाउट' दे सकें) तो मैं सोचता हूं कि लेखक को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिल सकता है।

यदि हम अपनी समसामयिक परिस्थितियों की ओर देखें तो पाएंगे कि आज भारतीय लेखक के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह जो कहना चाहता है वह बहु-प्रचारित आदर्शों और सिद्धांतों के अनुकूल नहीं पड़ता और इसलिए एक शक्तिशाली वर्ग की निंदा और कभी-कभी कोप का भाजन बनता है। पर सच्चा लेखक इस निंदा अथवा कोप से सृजन-विमुख नहीं हो सकता, न वह इन तथाकथित मूल्यों अथवा रूढ़ियों का अनुगमन कर सकता है क्योंकि वह जीवन के अकाट्य अनुभव पर अपनी रचना की नींव डालता है, घोषित और प्रचारित आदर्शों पर नहीं।

पिछले बीस वर्षों से हिंदी में प्रयोगशील नयी कविता को लेकर जो तूफान मचा है, वह मेरी बात का प्रमाण है। नयी कविता के नाम पर जो कुछ लिखा गया है वह सब उत्कृष्ट अथवा शुभ था, यह मेरा कथन नहीं है। पर, जिस प्रकार की अंधी लाठी से उसे नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की गयी उससे साहित्य का हित नहीं हुआ और हठधर्मी को ही प्रश्रय मिला। यह हठधर्मी इसके पहले भी दिखायी देती रही है। यद्यपि इस बात का आपके प्रश्न से सीधा सरोकार नहीं है तथापि यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद से लेकर अज्ञेय तक हिंदी में जितने भी कारगर लेखक हुए हैं उन सबको इस हठधर्मिता से जूझना पड़ा है। मैं सोचता हूं कि यदि इस स्थिति में हम कुछ उदारता का और विशाल-हृदयता का समावेश करा सकें तो लेखक का पथ प्रशस्त हो।

[रचनाकाल 1966, 'संस्कृति' में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

मैक्सिम गोर्की और हिंदी साहित्य

आधुनिक हिंदी साहित्य जिन विदेशी लेखकों को अत्यंत श्रद्धा और आत्मीयता से स्मरण करता रहा है और जिनके कृतित्व और व्यक्तित्व से समय-समय पर प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करता रहा है उनमें रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की अन्यतम हैं। हमारे लेखकों ने उन्हें अपने बीच जो स्थान दिया है वह रोम्यां रोलां और तौल्सतोय से किसी भी प्रकार कम नहीं है, वरन् कुछ दृष्टियों से गोर्की का आदर अधिक स्थायी और गहरा रहा है। इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में गोर्की विश्व साहित्य के आकाश पर एक धूमकेतु की भांति प्रकट हुए और अन्याय के अपने अनवरत संघर्ष के कारण, समानता पर आधारित नये मानववाद की स्थापना के अपने संकल्प के कारण एवं साहित्य तथा कला में सच्ची अनुभूति पर आधारित अपने यथार्थवाद के कारण वे पहले पश्चिम के देशों में और फिर कालांतर में एशिया एवं पूर्व के देशों में केवल यश के ही भागी नहीं हुए वरन् अपने उदाहरण से सर्वत्र न्याय, मुक्ति और समता की विजय का संदेश देते रहे। सन् 1905 में जिस वर्ष उनका विख्यात उपन्यास 'मां' प्रकाशित हुआ उसी वर्ष महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'इंडियन ओपीनियन' में गोर्की के संबंध में एक विदग्ध टिप्पणी प्रकाशित करके भारतवासियों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया था। उस टिप्पणी में गांधीजी ने गोर्की के जीवन-संघर्ष का, दलितों एवं शोषितों के उनके निर्भीक पक्ष-समर्थन का और रूसी क्रांति में उनके कर्मठ योगदान का मार्मिक उल्लेख किया था।

अतएव, यह स्वाभाविक ही था कि जब भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम महात्मा गांधी के नेतृत्व में जनता की मुक्ति का आंदोलन बना और देश के बुद्धिजीवी और साहित्यकार उसमें आगे बढ़कर भाग लेने लगे तो मैक्सिम गोर्की की कृतियां, उनके विचार और उनकी जीवन-चर्या भारतीय लेखकों के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण की भांति उपस्थित हुए। हिंदी में इस नये सृजनात्मक उभार के प्रतिनिधि थे प्रेमचंद, और यह आकस्मिक नहीं है कि आज कई दशाब्दों से हिंदी जगत में गोर्की का नामोल्लेख करते ही प्रेमचंद का ध्यान आ जाता है। अपने जनों की मुक्ति और उन्नति में पूरी निष्ठा से आजीवन रत रहनेवाले प्रेमचंद अन्य पाश्चात्य लेखकों के साथ-साथ गोर्की का भी बड़ा आदर करते

थे, इसका हमें पद-पद पर प्रमाण मिलता है। हिंदी उपन्यास और कथा-साहित्य को मनोरंजन के स्तर से उठाकर प्रेरक और विदग्ध सृजन की कोटि मे लाने में प्रेमचंद का हाथ अनन्य है, और इस महत् कार्य में प्रेमचंद ने कुछ संकेत गोर्की से भी प्राप्त किये थे। 'कलम का सिपाही' में अमृतराय का साक्ष्य है : "मन के फीके रंग चटक हो गये और पहली बार उन्होंने समझा कि किसान वक्त पड़ने पर बगावत भी कर सकता है। अगर रूस में कर सकता है तो यहां भी कर सकता है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि उन्हें तैयार किया जाये, जगाया जाये—वैसे ही जैसे वहांवालों ने जगाया, टाल्सटाय ने तुर्गनेव ने, चेखोब ने, गोर्की ने।" यह सन् 1919 का काल है जब प्रेमचंद ने अपने मित्र को एक पत्र में लिखा था : "मैं अब करीब-करीब बोल्शेविस्ट उसूलों का कायल हो गया हूं।" और अमृतराय का संकेत है कि 'सेवासदन' के सुधारवादी चित्रण से 'प्रेमाश्रम' के कृषि-जीवन की ओर प्रेमचंद इसी प्रेरणा से उन्मुख हुए थे। और यद्यपि रचना के अंतिम रूप में प्रेमचंद और गोर्की में पर्याप्त भेद था जो सर्वदा बना रहा, क्योंकि सृजन अत्यंत जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया होती है और उसमें बाह्य प्रभाव आनुषंगिक ही रहते हैं, तथापि गोर्की के विचारों से प्रेमचंद निरंतर प्रभावित होते रहे। एक दशाब्दी उपरांत जब भारत का राजनीतिक संघर्ष और भी उग्र एवं गंभीर हो गया था और प्रेमचंद अपने देशवासियों में व्याप्त अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों से और भी डटकर लोहा लेने लगे थे, तब अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट ही गोर्की का दृष्टांत उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा : "मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार मज़दूरों ने ईश्वर को एक सफल, सहृदय मजदूर के रूप में देखा—इसके बाद जब ईश्वर और देवताओं की सृष्टि का गौरव मजदूर सेवकों के हाथ से निकलकर धनी स्वामियों के हाथ में आ गया तो ईश्वर और देवता भी मजदूर की श्रेणी से निकल कर महाजनों और राजाओं की श्रेणी में जा पहुंचे जिनका काम अप्सराओं के साथ विहार करना, स्वर्ग से सुख लूटना और दुखियों पर दया करना था। भारत में तो मजदूर देवताओं का कहीं पता नहीं है। यहां के देवता तो शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हैं।" यह टिप्पणी प्रेमचंद की उत्तरचर्या के काल की है जब वे अपने सुधारवाद की अपर्याप्तता का आभास पा चुके थे और अपनी कहानियों में यथार्थ का अधिकाधिक निर्मम एवं कठोर स्वरूप उद्घाटित करने लग गये थे। इसी मानसिकता का चरम प्रकाश 'गोदान' में मिलता है।

गोर्की की इन रचनाओं का अध्ययन प्रेमचंद ने प्रकट ही अंग्रेजी के माध्यम से किया था। यद्यपि सन् 1919-20 के आसपास तक मैक्सिम गोर्की का नाम भारतीय साहित्य जगत के वातावरण में निरंतर लहराने लग गया था और लोकनिष्ठ लेखक के लिए वह संजीवनी का-सा काम करता था तथापि उनकी रचनाओं के हिंदी अनुवाद अभी इक्का-दुक्का ही हुए थे। सन् 1935 के 'हंस' में 'रूसी साहित्य और हिंदी' शीर्षक टिप्पणी में स्वयं प्रेमचंद ने लिखा था : "गोर्की की कम-से-कम दो पुस्तकों का अनुवाद निकल चुका है।" इन दो पुस्तकों में निश्चय ही एक तो गोर्की का विख्यात उपन्यास 'मां' था जिसका अनुवाद

छविनाथ पांडेय ने प्रस्तुत किया था। प्रसंगवश यहां यह निवेदन करना आवश्यक है कि कुछ विद्वानों ने अज्ञानवश पांडेयजी को दिवंगत विशेषण से विभूषित कर दिया है। दूसरा ग्रंथ मेरे अनुमान से गोर्की की कहानियों का संग्रह था 'टानिया'। संग्रह का नाम गोर्की की अत्यंत प्रसिद्ध कहानी 'स्वेन्टी सिक्स मैन एंड ए गर्ल' की नायिका तान्या के नाम पर रखा गया था। यह संग्रह मैंने सन् '32-33 के आसपास अपने नगर के स्थानीय पुस्तकालय में पढ़ा था, यद्यपि ग्रंथ के अनुवादकर्ता का नाम अब मैं खोज कर भी न पा सका। इन रचनाओं के अतिरिक्त हिंदी में उस समय तक गोर्की का परिचय डा. सत्यनारायण की यात्रा-पुस्तकों से ही मिला था। 'आवारे की योरप-यात्रा' और 'रोमांचक रूस में' नामक ग्रंथ में सत्यनारायण ने गोर्की से अपने साक्षात्कार का विशद विवरण उपस्थित किया था। इसी काल के आसपास प्रेमचंद के घनिष्ठ मित्र और स्वतंत्रता संग्राम के सक्रिय कार्यकर्त्ता चंद्रभाल जौहरी ने 'मां' का एक और अनुवाद प्रस्तुत किया जो पांडेय के अनुवाद से कहीं बढ़कर है क्योंकि एक तो यह संपूर्ण ग्रंथ का अविकल अनुवाद है, दूसरे इसमें अनुवादक ने मूल के रस को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने में अत्यधिक श्रम किया है। यह अनुवाद सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रेमचंद और गोर्की दोनों के स्वर्गवास के तीन वर्ष बाद सन् 1939 में प्रकाशित हुआ था। इसके जन्म की कथा उपन्यास की मूल वृत्ति से बड़ा मेल खाती है अतः उसका कुछ उल्लेख अनुचित न होगा। स्वयं अनुवादक के शब्दों में : "मैंने यह कठिन काम अपने हाथों में लिया, उसका एक कारण था। बात यों थी कि सन् 1930 के सत्याग्रह आंदोलन में जेल हो जाने पर पहले तो काफी दिन तक मुझे खूब सोने से ही फुरसत नहीं मिली, क्योंकि बाहर के दिन-रात के लगातार काम से मैं बड़ा थका हुआ जेल में घुसा था। परंतु जब वह थकावट चली गयी और बंबई जेल से चालान होकर हमारी नौजवान टोली नासिक जेल पहुंच गयी और वहां भी जेलवालों से हमारा शुरू का अपने अधिकार जमाने की खींचा-तानी और झगड़ा-टंटा खत्म हो गया, तब हमारे दिन जेल में कटना मुश्किल हो गये।...जवानी का रगों में खून था, उत्सुकता और बेसब्री थी। देश के लिए कुछ करने को जी चाहता था। परंतु जेल में कुछ करने को नहीं था—बेबसी का सामना था। अपने दिल के फफोले फोड़ने के लिए जेलवालों से ही लड़ बैठते थे। परंतु जब जेलवाले ही लड़ाई से कन्नी काटने लगे तो व्यर्थ में हम भी उनसे कहां तक लड़ाई मोल लेते। अस्तु, निश्चय हुआ कि खूब अध्ययन किया जाये।—परंतु जेल के अधिकारी इतने कुपढ़ थे कि जिस ग्रंथ पर राजनीतिक शब्द लिखा देखते थे, उसे हमारे पास, सरकारी हुक्म के अनुसार, अंदर नहीं आने देते थे।—हमने राजनीतिक उपन्यास मंगाने शुरू किये, जिनमें अंदर तो राजनीति का वह हलाहल था जो अधिकारी हमसे दूर रखना चाहते थे, परंतु ऊपर से नाम के लिए कहने को उपन्यास ही थे। इन्हीं उपन्यासों में मैक्सिम गोर्की का यह उपन्यास 'मां' भी हमारे पास पहुंचा जो कि ऐसा क्रांतिकारी उपन्यास है कि उसको पढ़कर उसका दिल मुर्दा नहीं हो गया है, तो अवश्य क्रांतिकारी विचारों का नहीं

है तो भी, क्रांतिकारी हो जाये। यह उपन्यास तो पहले भी पढ़ा था, परंतु जिन हालतों और जिस वातावरण में यह इस समय हमारे पास पहुंचा, उसमें उसके पढ़ने में और भी मजा आया और इच्छा हुई कि इसको अपने देश के सर्वसाधारण लोगों तक पहुंचा दिया जाये। अस्तु, इसका हिंदी में अनुवाद करना शुरू कर दिया गया। जेल के दफ्तर के कोरे कागजों के दस्तों पर सरकारी मुहर लगाकर आती थी, जिन पर जेल में बैठा-बैठा ब्रिटिश साम्राज्यशाही का एक कैदी ऐसे उपन्यास का अनुवाद लिखने लगा, जिसको एक बार जो पढ़ ले, वही साम्राज्यशाही का दुश्मन हो जाये, क्योंकि साम्राज्यशाही पूंजीशाही की पुत्री का ही नाम तो है। जेल के अधिकारियों के बार-बार पूछने पर कि क्या लिख रहे हो, उन्हें सादा और सूक्ष्म उत्तर मिलता था—एक उपन्यास का अनुवाद कर रहा हूं। इसी प्रकार कई मास तक जेल में यह अनुवाद होता रहा और आखिरकार जेल अधिकारियों की जांच-पड़ताल और मुहरें लगकर यह बाहर निकला। जेल से छूटने के कुछ दिन बाद मैं फिर गिरफ्तार हो गया और जो पुलिस के लोग मेरे घर की तलाशी लेने आये थे, उन्होंने उसको उठाकर एक कोने में फेंक दिया और मेरे दूसरी बार छूटने तक यह अनुवाद उस कोने में ही एक रद्दी के ढेर में दबा पड़ा रहा, जिसे मैंने छूटकर वहां से निकाला। यह बात सच हुई है कि, 'जाको राखे साइयां मार न सकि है कोय'। इस अनुवाद का हिंदी पाठकों के पास तक पहुंचना ही था, अतएव, उसे रोक कौन सकता था।"

पर हिंदी का प्रबुद्ध लेखक वर्ग इस अनुवाद के लिए रुका नहीं बैठा था। वस्तुतः जब 1939 में यह अनुवाद प्रकाशित हुआ तब तक प्रेमचंद, बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेंद्र और प्रगतिशील लेखक संघ के उल्लेखों के माध्यम से गोर्की का नाम घर-घर में फैल चुका था। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न प्रेमचंद के ही थे। उन्होंने अपनी परवर्ती कृतियों में जनसाधारण के जो जीवंत चित्र अंकित किये और कटु यथार्थ की जो झांकियां प्रस्तुत कीं उनमें तो गोर्की का पुट मिलता ही है, प्रत्यक्ष रूप में भी प्रेमचंद ने गोर्की को असाधारण श्रद्धांजलि अर्पित की थी। एक विद्वान लेखक के अनुसार 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में भिखारी, कैदी, अपराधी और श्रमिक जनों के चित्रण में प्रेमचंद गोर्की का-सा रंग अपनाते हैं। विशेष रूप से 'कर्मभूमि' की सलोनी में उन्हें 'मां' की स्पष्ट छाया मिलती है। उनका यह मंतव्य उद्धरणीय है : "...प्रेमचंद ने इस उपन्यास की एक अन्य पात्री सलोनी के चित्रण में ग्रामीण जनता की विद्रोही भावना को बड़े सफल रूप से व्यक्त किया है। सलोनी के चरित्र पर विचार करते समय मैक्सिम गोर्की लिखित 'मां' का स्मरण हो आता है। अपढ़ वृद्धा नारियां भी किस प्रकार विषम परिस्थिति, अन्याय और अत्याचार के कारण विप्लव के मार्ग पर अग्रसर होती हैं यह सलोनी और गोर्की की 'मां' के चरित्रों से जाना जा सकता है। नौकरशाही के प्रति सलोनी के मन में इतना क्षोभ भरा हुआ था कि उनके अत्याचारों से पीड़ित होकर प्रतिशोध की भावना से वह हाकिम के मुंह पर थूक देती है और गोलियों के सामने सीना तानकर खड़ी हो जाती

है। वह हंटर की मार से भी नहीं डरती वरन् हंटर की हर चोट उसके प्रतिशोध और ग्लानि की भावना को तीव्रतर करती है।" —गोर्की के उपन्यास 'मां' में भी शोषक वर्ग के जुल्म और अत्याचार के विरोध में मां चिल्ला-चिल्लाकर अपनी वेदना प्रकट करती है : "अरे ना समझो! यह खून एक दिन तुम्हारे सिर पर चढ़कर बोलेगा।" इसमें संदेह नहीं कि इस चित्रण में जो उग्रता है वह प्रेमचंद के सामान्य रंग से कुछ गहरी है और गोर्की के रंग के अधिक निकट है। 'गोदान' की धनिया के चित्रण में भी हमें ऐसा ही उग्र प्रतिवाद और प्रचंड विरोध देखने को मिलता है।

पर प्रेमचंद और गोर्की की आत्मीयता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण शिवरानी देवी प्रेमचंद ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : घर में' प्रस्तुत किया है। गोर्की के निधन का दुःखद समाचार उन दिनों की असामान्य परिस्थितियों के कारण जब कुछ दिनों बाद बनारस तक पहुंचा तो 'आज' के दफ्तर में एक सार्वजनिक शोक-सभा का आयोजन किया गया। प्रेमचंद उन दिनों अस्वस्थ थे, तदापि उन्होंने सभा में भाषण देना स्वीकार किया। यह प्रसंग स्वयं शिवरानी देवी के शब्दों में—

अगस्त, 1936

"गोर्की की मौत पर 'आज' ऑफिस मे मीटिंग होनेवाली थी। रात को जब आपको नींद नहीं आयी तो आप उठकर भाषण लिखने लगे। उन दिनों मुझे भी रात को नींद नहीं आती थी। मेरी आंख खुली तो देखा कि आप जमीन पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

मैं बोली — आप यह क्या कर रहे हैं?

बोले — कुछ नहीं।

मैं बोली — नहीं, कुछ तो जरूर लिख रहे हैं।

तब बोले — परसों 'आज' ऑफिस में गोर्की की मृत्यु पर मीटिंग होनेवाली है।

मैं बोली — कैसी मीटिंग? तबियत अच्छी नहीं, भाषण लिखने बैठे। मालूम है, दो बजे हैं।

आप बोले — नींद नहीं आती तो क्या करूं। भाषण तो लिखना ही पड़ता।

मैं बोली — तबियत ठीक नहीं तो भाषण कैसे लिखा जायेगा?

आप बोले — जरूरी तो है ही। बिना लिखे काम न चलेगा।...

मैं बोली — यह मीटिंग है कैसी?

आपने कहा — शोक-सभा है।

मैं बोली — वह कौन हिंदुस्तानी थे?

आप बोले — यही तो हम लोगों की तंगदिली है। गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके विषय में जातीयता का सवाल ही नहीं उठता, लेखक हिंदुस्तानी या यूरोपियन नहीं देखा जाता। वह जो लिखेगा, उससे सभी को लाभ होता है।

मैंने कहा — ठीक। उसने हिंदुस्तान के लिए भी कुछ लिखा?

आप बोले — तुम गलती करती हो, रानी! लेखक के पास होता ही क्या है जिसे वह अलग-अलग बांट दे। लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है। वही सबको वह दे सकता है।"

मैं बोली — गांववालों में तो शायद ही कोई गोर्की का नाम जानता हो।

आप बोले — यहां के गांवों की क्या? यहां के आदमी तो अपनों को नहीं जानते। इसके माने यह नहीं कि यहां के लोगों के लिए कुछ काम ही नहीं किया जाये।

मैं बोली — जानते क्यों नहीं? तुलसी, सूर, कबीर, ये किसको नहीं जानते?

आप बोले — इनके भी जानकार गांव में थोड़े हैं। इसका कारण है शिक्षा का अभाव। अभी यहां बहुत थोड़ी शिक्षा है। उसी वजह से यहां जो कुछ होता है, वह थोड़े लोगों के लिए होकर रह जाता है। जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जाग्रेगा, तो क्या गोर्की का प्रभाव घर-घर न हो जायेगा? वे भी तुलसी-सूर की तरह चारों ओर पूजे जायेंगे।

सुबह हुई दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो मैं बोली—आप चल तो सकते नहीं, फिजूल में जा रहे हैं।

आप बोले — तांगे पर जाना है। पैदल तो जा नहीं रहा हूं।

मैं बोली — जीने पर उतरना-चढ़ना है न?

आप बोले — यह तो लगा ही रहता है। मेरी तबियत नहीं मानती।

मैंने उनके साथ में बड़े लड़के को भेज दिया। नीचे तक खुद पहुंचाने आयी। मैं यह डर रही थी कि कहीं जीने पर से ये गिर न जायें। जब वे वहां से लौटे तो मैं फिर दरवाजे पर मिली। जब वे ऊपर चढ़ने लगे तो बहुत करने पर भी उनके पैर लड़खड़ा गये। मैं उनके पीछे-पीछे आ रही थी जिससे कि उन्हें मेरा संभालना मालूम न हो। ऊपर आने पर चारपाई पर लेट गये। सुस्त पड़ गये। मैं उनके पास बैठी धीरे-धीरे उनके पैर दबा रही थी। जब वे कुछ सुस्ता लिए, तब बोले— मैं वहां खड़ा न हो सका। भाषण पढ़ना तो दूर रहा। एक और महाशय से भाषण पढ़वाया।

गोर्की के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते, तब-तब उनके हृदय में एक प्रकार का दर्द-सा उठता दिखायी पड़ता। गोर्की के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा थी। वही उनका अंतिम भाषण था। गोर्की का कोई समकक्ष लेखक उनकी निगाह में नहीं आता था। गोर्की की चर्चा वे अक्सर उन दिनों करते। कौन जानता था कि दो महीने भी बीतने नहीं पायेंगे कि वह खुद चले जायेंगे।"

जैसा कि शिवरानी देवी ने लिखा है, यह प्रेमचंद का अंतिम भाषण था, और जहां तक मैं जान पाया हूं गोर्की के संबंध में वह उनका एकमात्र सार्वजनिक

वक्तव्य था। वह भाषण लिखित था अतएव यह अनुमान अत्यंत स्वाभाविक है कि वह 'आज' में प्रकाशित भी हुआ होगा। पर प्रेमचंद के किसी भी जीवनीकार *अथवा शोधकर्त्ता ने उसका उद्धरण नहीं दिया है। अमृतराय द्वारा संपादित 'विविध प्रसंग' में भी वह अंतर्मुक्त नहीं है।* यदि इस भाषण की प्रतिलिपि प्राप्त की जा सके तो हम गोर्की के संबंध में प्रेमचंद के निश्चित अभिमत का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

जो हो, प्रेमचंद और गोर्की की आत्मीयता निर्विवाद है। दोनों का अपने-अपने जनों के सुख-दुःख से इतना गहरा तादात्म्य था, और दोनों लेखक अपनी कृतियों के माध्यम से उनके संघर्ष को बल देने में इतने प्राणप्रण से लगे हुए थे कि यह तादात्म्य सहज स्वाभाविक था। वस्तुतः प्रेमचंद और गोर्की समानधर्मी थे। किसी दलगत मूल्य अथवा मतवाद के संकीर्ण अर्थ में नहीं, अपितु मानव-हित और विश्वमैत्री के उदार एवं विशद अर्थ में। यह समानधर्मिता हमें बड़े स्थूल रूप में भी दिखायी पड़ी थी। चंद्रभाल जौहरी का एक वक्तव्य दृष्टव्य है : "मैक्सिम गोर्की और प्रेमचंद में यह तो बड़ी समता है ही कि जैसे प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों में हमारा जीवन जैसा उन्होंने पाया, उसका वैसा ही चित्रण किया है, वैसे ही मैक्सिम गोर्की ने भी अपने समय में जैसे रूसी जीवन को पाया, वैसा ही चित्रण किया है। परंतु इसके अतिरिक्त यह भी समता है कि प्रेमचंदजी ने जिस प्रकार न सिर्फ अपने समय में होनेवाले अपने देश के राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों को अपने उपन्यासों में चित्रण ही किया; बल्कि उनको और अपने देश के नेता के विचारों को अपने जीवन में भी अपनाने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार मैक्सिम गोर्की ने भी अपने समय के रूस देश में होनेवाले राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों को न सिर्फ अपने उपन्यासों में ही चित्रण करने का प्रयत्न किया बल्कि अपने जीवन में उन्हें और अपने देश के नेता लेनिन के विचारों को भी अपनाया।" अन्यत्र जौहरी एक अन्य समानता का विवरण प्रस्तुत करते हैं : "प्रेमचंदजी और मैक्सिम गोर्की में मुझे बड़ी समता लगती है। इन दोनों महान् लेखकों के फोटो देखकर उनके चेहरों की झुर्रियों के पीछे मुझे एक-सी ही सरल बाल-आत्मा हंसती हुई दीखती है। प्रेमचंदजी के ठट्ठे, जो आनंद से अट्टहास करनेवाले बालकों की तरह उनका चेहरा खिला देते थे और उनके शरीर को झकझोर डालते थे, को अक्सर देखने का मुझे सौभाग्य अपने जीवन में मिला। परंतु मैक्सिम गोर्की को देखने का मुझे कभी सौभाग्य नहीं मिला। फिर भी न जाने क्यों मेरे मन में यह बैठा-सा है कि मैक्सिम गोर्की भी अवश्य प्रेमचंदजी की ही तरह संसार पर मानो ठट्ठे लगाता हुआ हंसता होगा। गोर्की इसी उपन्यास में लिटिल रूसी नाम के पात्र से एक स्थान पर कहलवाता भी है 'शायद वह लोग जिनके दिल अंदर से पके होते हैं, बाहर से बहुत हंसा करते हैं।' यह मैं अच्छी तरह जानता हूं कि प्रेमचंदजी को वैसी आवारागर्दी या कठोर यातनाएं तो अपने जीवन में नहीं मिलीं जैसी गोर्की को मिली थीं। परंतु तो भी उन्होंने अपने जीवन में काफी कष्ट और अन्याय का अनुभव किया था जो उनके चेहरे पर गोर्की के

चेहरे की तरह झुर्रियां डाल देने और उनके कोमल हृदय को पकाकर उसमें मनुष्य-समाज के उस बड़े भाग के प्रति जो थोड़े से आदमियों की गुलामी से दबा हुआ है, असीम सहानुभूति भर देने के लिए काफी था।" इस स्थूल समानता पर एक अन्य लेखक ने भी बल दिया है। इलाचंद्र जोशी का कथन है, "यदि गौर किया जाय तो प्रेमचंदजी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्य आकृतियों में भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखायी पड़ता है। दोनों के फोटो उठाकर दोनों का व्यक्तित्व मिलाकर देखिए। आप हैरत में पड़ जायेंगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता तथा संस्कृति में मूलतः भिन्नता होने पर भी दोनों देशों के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुख्याकृतियों में प्रकट होनेवाले व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पायी जाती है।"

और इसे हम हिंदी साहित्य के इतिहास का छोटा-मोटा आश्चर्य ही कह सकते हैं कि मैक्सिम गोर्की से नानारूपों की आत्मीयता रखनेवाले प्रेमचंद से जब यूसुफ मेहरअली ने इस साम्य का संकेत किया तो उन्होंने कहा : "तुम गोर्की चाहते हो? हिंदुस्तान में कोई गोर्की है या हो सकना है तो वह जैनेंद्र है?" आज गोर्की और जैनेंद्रकुमार में ऐसी समानता खोज पाना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। जैनेंद्र के प्रकाशक प्रेमचंद के इस वक्तव्य को जैनेंद्र की कृतियों के प्रच्छद पट पर बहुत दिनों तक प्रचारित करते रहे हैं। पर इधर के वर्षों में उन्हें भी यह अनुपयोगी प्रतीत हुआ है। तो क्या प्रेमचंद ने यह वक्तव्य बिना सोचे-विचारे ही दे डाला था। यह मानना भी हमें कठिन प्रतीत होता है। वस्तुतः इस वक्तव्य में प्रेमचंद के सहज संकोच और विनय के अतिरिक्त जैनेंद्र की पूर्व चर्या के प्रति एक आदर-भाव भी निहित है। अपनी युवावस्था में जैनेंद्र प्रायः गोर्की की ही भांति स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लेते, कभी जेल में और कभी जेल के बाहर अनिश्चित जीवन बिताते, साहित्य सृजन की धुन में इधर-उधर रमते फिरते रहे हैं। प्रेमचंद का संकेत संभवतः इसी ओर था। साथ ही इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जैनेंद्र की प्रारंभिक कहानियों में सामाजिक न्याय का जो दावा ध्वनित होता रहा है और पीड़ित मानवता के प्रति जो अंतरंग सहानुभूति व्यक्त होती रही है वह प्रेमचंद के इस वक्तव्य को अर्थ प्रदान करती है। आज यह कहना सहज है कि सामाजिक क्रांति का सक्रिय कर्मी गोर्की और अबुद्धिवाद एवं अभेद के आधार पर हृदय-परिवर्तन के कामी जैनेंद्र में कदाचित् ही कोई साम्य है। एक यदि अपने समाज के जर्जर जीर्ण ढांचे को समूल नष्ट करने को उत्सुक है तो दूसरा सुनीता के शब्दों में खुद टूट कर भी समाज के ढांचे को यथावत् रखना चाहता है। पर 'अपना-अपना भाग्य' का स्वर गोर्की के निकट अवश्य पहुंचता था, और जैसा कि एक विद्वान ने कहा है, "जैनेंद्र की कहानी 'पत्नी' में भी गोर्की के 'मां' की अनुगूंज सुनी जा सकती है। और इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि जैनेंद्र ने गोर्की का अनुशीलन भी किया है और वे उनकी कृतियों के प्रशंसक भी रहे हैं। और इस प्रशंसा में उन्होंने गोर्की के दो तत्वों पर विशेष बल दिया है : एक तो सत्ता के यंत्र का विरोध और दूसरे उनकी निपट मानवीयता।

अपने एक निबंध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : 'हेनरी बारबूज, गोर्की और रोम्यां रोलां की लेखकी सफल इसीलिए तो है न कि उन्होंने सत्ता के दर्प को नहीं माना और मानवता के हित की टेक को नहीं छोड़ा। बेशक लेखक का यदि कोई काम है तो यही काम है।" यह और बात है कि जैनेंद्र ने इस काम को नितांत निजी और विशिष्ट ढंग से अग्रसर किया। उसके मूल में जैनेंद्र की अपनी मान्यताएं तो थी ही, अपने परिवेश का वैशिष्ट्य भी था जो प्रेमचंद-परवर्ती युग की विशेषता थी।

वस्तुतः प्रेमचंद और उनके युग ने गोर्की के प्रति जिस आत्मीयता का अनुभव किया वह प्रेमचंद-परवर्ती युग के लेखकों ने नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेमचंद-परवर्ती युग के प्रारंभ में ही हिंदी में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी जो उस अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का ही एक अंग था जिसके शीर्ष पर मैक्सिम गोर्की को बड़े गाजे-बाजे के साथ प्रतिष्ठित किया गया था। इसी आंदोलन के सिलसिले में गोर्की के 'समाजवादी यथार्थवाद' का नारा बुलंद किया गया था। पर इसे चाहे हम कितनी ही आश्चर्यजनक बात क्यों न मानें, प्रगतिशील लेखक संघ गोर्की को वह आत्मीयता न दे सका जो उसे प्रेमचंद से मिली थी। प्रगतिवादी समीक्षक निरंतर गोर्की का नाम घोखते रहे, उसकी उक्तियां मंत्रों और तंत्रों की भांति प्रयुक्त की जाती रहीं, और आगे चलकर गोर्की को अपने प्रतिपक्षी को धराशायी कर देनेवाले डंडे के रूप में भी भांजा जाता रहा, पर जो हार्दिक मिलन प्रेमचंद ने अनुभव किया था वह प्रेमचंद-परवर्ती युग में कहीं नहीं दिखायी पड़ा। निस्संदेह इसके ऐतिहासिक कारण थे और यह ठीक ही था कि हिंदी के लेखक गोर्की की रचनाओं का अनुकरण करने के स्थान पर अपने विशिष्ट आंतरिक सत्यों से जूझते रहे, पर प्रकट रूप में गोर्की का जो तुमुल जयघोष किया जाता रहा वह आज उसकी स्मृति को कुछ-कुछ करुण अवश्य बनाता है।

वस्तुतः प्रेमचंद-परवर्ती युग में गोर्की की कृतियां नहीं, गोर्की के वैचारिक मंतव्य और गोर्की का आधिकारिक रूप ही अधिक चर्चित हुआ। प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने बचकाने जोश में प्रगतिशीलता का आरोपण लेखक पर न कर उसके लेखन पर कर दिया जिसने एक पूरे दशाब्द तक व्यर्थ के वितंडावाद को प्रश्रय दिया। 'प्रगतिशील साहित्य क्या है' का प्रश्न चारों ओर गूंजने लग गया। इसमें इस बात का भी काफी हाथ था कि भारतीय लेखकों का सोवियत लेखकों से कोई सीधा संपर्क न था और वे जिस सामग्री को अपना आधार बनाते थे वह उन्हें इंग्लैंड से ही प्राप्त होती थी। न उन्होंने इसी बात को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा की कि सोवियत भूमि के लेखक अपने देश के नव-निर्माण के सिलसिले में जिन समस्याओं से जूझ रहे थे वे भारतीय लेखक की समस्यायों से भिन्न थीं जो अपनी मुक्ति के संग्राम में लगे हुए थे। यह तथ्य भारत की स्थिति को पाश्चात्य देशों की स्थिति से भिन्न और विशिष्ट कर देता था। यही सही है कि अनेक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न सभी लेखकों को समान भाव से प्रभावित कर रहे थे, पर सृजन का स्वरूप केवल विचारों से ही नहीं,

अनुभूति के वैशिष्ट्य से भी निर्धारित होता है जिसमें निकट परिवेश का महत्त्व आत्यंतिक है। यही कारण है कि प्रगतिशील लेखक संघ ने जितने उत्ताप को जन्म दिया उतने आलोक को नहीं।

तथापि गोर्की का उदाहरण सर्वथा हिंदी लेखक के समक्ष उपस्थित रहा और जनगण की नियति से प्रेमचंद एवं गोर्की का तादात्म्य उन्हें सर्वदा यह प्रेरणा देता रहा कि वे अपने जनों के सुख-दुख में निरंतर हाथ बंटायें। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रेमचंद-परवर्ती युग में हिंदी में ऐसे विपुल साहित्य की सृष्टि हुई जिसमें प्रत्येक सामाजिक-राजनीतिक घटना पर जनगण की प्रतिक्रियाओं को स्वर मिला। विशेष रूप से बंगाल के अकाल और सांप्रदायिक विभीषिकाओं ने ऐसे प्रचुर साहित्य को जन्म दिया जो जनगण की सच्ची भावनाओं का प्रतिबिंबन करता था और उनकी मुक्ति एवं उन्नति का संदेश सुनाता था। पर एक तो यह साहित्य अधिकांशतः कविता एवं कहानी की विधाओं में ही सीमित रहा, दूसरे उसमें उच्छ्वास एवं नारेबाजी का ऐसा अतिरेक था कि आज उसका एक बहुत बड़ा अंश विस्मृत हो चुका है। आज इस प्रसंग में नागार्जुन और रांगेय राघव ही उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं।

पर प्रगतिशील आंदोलन के साथ-साथ और उसके घेरे के बाहर भी गोर्की की चर्चा सदैव ध्यान आकर्षित करती रही। जैनेंद्र कुमार का उल्लेख हम कर आये हैं। इसी प्रकार इलाचंद्र जोशी ने भी विश्व-साहित्य के अंग के रूप में गोर्की की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और उस पर अपने मंतव्य व्यक्त किये। गोर्की के यथार्थ आग्रह से वे अत्यंत प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। उनके कुछ वक्तव्य दृष्टव्य हैं "गोर्की ने अपने पात्रों का चित्रण पूरी कलात्मकता के साथ करते हुए उनके प्राणों में यही विद्रोहात्मक चेतना फूंकी थी। इसीलिए वह वास्तविक अर्थ में प्रगतिशील कलाकार था। "उसने किसानों, मजदूरों, गृह-हीन आवारों तथा इसी कोटि के दूसरे लोगों को अपने उपन्यासों तथा कहानियों के चरित्रों के रूप में चुना—गोर्की जानता था कि उक्त वर्ग के भीतर निहित आदिम शक्ति में विस्फोट उत्पन्न होने से चेतना का ज्वालामुखी ही फट पड़ेगा और आग की प्रचंड लपटों के साथ-साथ पिघलती हुई धातुओं का द्रव भी बाहर फूट निकलेगा। पर साथ ही वह यह भी जानता था कि बुर्जुआ समाज की गलनशीलता के कारण मानव-समाज के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास का जो पथ रुद्ध हो चुका है, वह केवल विस्फोट की ज्वालामयी लीला द्वारा ही उन्मुक्त हो सकेगा।" लेकिन इतनी श्रद्धा प्रकट करने के उपरांत भी जोशी अपने मनसचिकित्सावाद की झोंक में गोर्की के यथार्थवाद को श्लाघ्य नहीं मान पाते। पापी के प्रति कठोर होने का उनका संकल्प इतना गहरा है कि वे मानवतावाद पर ही संदेह कर उठते हैं। अन्यत्र वे स्पष्ट कहते हैं "गोर्की को अंतर्राष्ट्रीय मार्क्सवादियों ने निर्विवाद रूप से प्रगतिवादी कलाकार माना है। गोर्की ने प्रगतिवाद को इस दृष्टि से अवश्य अपनाया है कि उसने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अधिकांशतः चरित्रहीन नायक की अवतारणा की है।"पर उन चरित्रहीन नायकों का चरित्र-चित्रण उसने इसलिए नहीं किया है कि उनकी

मानसिक विकृतियों और असामाजिक प्रवृत्तियों का पोल-प्रकाश करे बल्कि इसलिए कि वह भी (संभवतः अपने अनजान में) उन्नीसवीं शताब्दी के बुर्जुआ कलाकारों की तरह तथाकथित मानववाद के मोह से मुक्त नहीं हो पाया था।"गोर्की को क्या देशी क्या विदेशी सभी आलोचकों ने प्रगतिशील माना है "मार्किस्ट अर्थ *में प्रगतिशील। यह कितनी बड़ी भ्रांति साहित्यिक जनता में इतने वर्षों से फैली रही है,* इस बात पर जब मैं ध्यानपूर्वक विचार करता हूं तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। "गोर्की ने भले ही तथाकथित सर्वहारा वर्ग के पात्र-पात्रियों की अवतारणा अपनी रचनाओं में की हो, पर उनके चरित्र-चित्रण में उसका दृष्टिकोण—उसका एप्रोच—बुर्जुआ कलाकारों के मानववादी दृष्टिकोण से मूल में तनिक भी भिन्न नहीं रहा है। उसके जिस 'मां' नामक उपन्यास की इतनी ख्याति है उसमें भी यह मानवतावादी दृष्टिकोण अत्यंत सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट हो उठता है। "अपने आलोचनात्मक निबंधों में स्वयं गोर्की ने उन्नीसवीं शताब्दी के मानववाद का खंडन किया है। पर अपनी कहानियों और उपन्यासों में वह इस मत का सच्चा अनुसरण करने में असमर्थ रहा है।" इस उद्धरण के बाद यह कहना व्यर्थ ही है कि जोशी ने अपनी कृतियों में गोर्की के कोई संकेत प्राप्त नहीं किये हैं। यही नहीं, गोर्की की रचनाओं के मूल प्रभाव और महत्त्व के प्रति भी वे कुछ भ्रांतियों को पालते रहे हैं। और ये भ्रांतियां केवल जोशीजी के ही मन में रही हों, ऐसी नहीं है। विख्यात प्रगतिवादी समीक्षक डा. रामविलास शर्मा ने भी उनका प्रमाण दिया है। अपने एक वक्तव्य में वे स्पष्ट कहते हैं: "गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रांति के पश्चात् भी क्रांति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता रहा है।" सब जानते हैं कि शिवदान सिंह चौहान ने डा. शर्मा के इस वक्तव्य की बड़ी कड़ी आलोचना की थी।

जोशी की ही भांति प्रेमचंद-परवर्ती युग के एक अन्य प्रतिष्ठित उपन्यासकार यशपाल भी हमें कुछ-कुछ निराश करते हैं। क्रांति-कर्म की दृष्टि से यशपाल और गोर्की में प्रेमचंद से भी अधिक सादृश्य है। पर सृजनोद्देश्य के विभेद के कारण उनमें वैसी आत्मीयता स्थापित न हो सकी। यशपाल अपनी कृतियों में अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं करते, वे उन्हें मार्क्सवादी विचारों के प्रचार का साधन बनाते हैं। और जहां तक औपन्यासिक कला का संबंध है, वे फ्रांसीसी लेखक अनातोल फ्रांस और विक्तर ह्यूगो के ही प्रशंसक हैं। अतः यशपाल गोर्की के काफी दूर पड़ जाते हैं। उन्होंने अपने त्रिखंडी ग्रंथ 'सिंहावलोकन' में अपनी जीवन-चर्या की विस्तृत विवृत्ति प्रस्तुत की है, और प्रसंगवश अपने स्वाध्याय के भी विवरण अंकित किये हैं। पर इनमें हमें गोर्की का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनका अनुशीलन सैद्धांतिक-वैचारिक ग्रंथों और राजनीतिक समस्याओं पर ही केंद्रित रहा एवं कथा-साहित्य में वे अपने प्रिय लेखकों की रचनाएं ही पढ़ते रहे। स्पष्ट है कि गोर्की इन कोटियों में नहीं आते। तथापि 'दादा-कामरेड' में श्रमिक जीवन का जो नैकट्यपूर्ण चित्रण है

और मजदूरों की हड़ताल एवं उनके संघर्ष का जो मार्मिक रूप उपस्थित किया गया है उसमें गोर्की का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार 'गीता' अर्थात् 'पार्टी कामरेड' में भावरिया का क्रमिक विकास एवं उत्कर्ष 'मां' का स्मरण करा देता है। जिस प्रकार मां अपने बेटे के संघर्ष में धीरे-धीरे अनजाने ही भाग लेकर शहीद होती है, भावरिया भी उसी प्रकार गीता के माध्यम से जन-संघर्ष में सहयोग देकर शहीद होता है। तथापि लेखक ने हमें इस समानता का कोई अंतर्साक्ष्य प्रदान नहीं किया है, और यह सहज संभव है कि इस प्रकार का चित्रण उन्होंने गोर्की से न लेकर स्वयं अपने अनुभव से ही ग्रहण किया हो।

वस्तुतः प्रेमचंद-परवर्ती युग सामाजिक यथार्थवाद के आग्रह का युग न होकर मूल्य-मंथन का काल था जब लेखक और विचारक अपने राजनीतिक परिहरण की जटिलता से प्रेरित होकर नाना सिद्धांतों और मतवादों की परीक्षा करने लगे थे और जिसके फलस्वरूप वैचारिक वाद-विवाद एवं खंडन-मंडन का एक ऐसा उत्तप्त वातावरण निर्मित हो गया था कि कलात्मक सृजन अबाध नहीं रह सकता, फलस्वरूप, इस वाद-विवाद में गोर्की की कृतियों के स्थान पर गोर्की की उक्तियां ही अधिक संचारित हुईं और लेखक-समीक्षक अपने-अपने पक्ष-समर्थन के लिए उनका मनमाना प्रयोग करते मिलते हैं। तिस पर सैद्धांतिक आग्रह के कारण मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन और स्टालिन के ही कथन अधिक उद्धृत किये गये, गोर्की के उतने नहीं। वैसे इस काल में हिंदी के साहित्य-समाज को गोर्की के कुछ और ग्रंथ सुलभ हुए, जिनमें उनकी पुस्तक 'लिटरेचर एंड लाइफ' और तीन खंडों में प्रकाशित उनकी आत्मकथा महत्त्वपूर्ण है। पर इन ग्रंथों का उपयोग भी इस वैचारिक मंथन के ही लिए किया गया। यहां विस्तार-भय के कारण इस मंथन का सम्यक् निरूपण संभव नहीं है, केवल उसका यत्किंचित आभास प्रस्तुत किया जा रहा है।

गोर्की के प्रसंग में इस मंथन का वही अंश विचारणीय है जिसमें प्रगतिवादी समीक्षकों ने भाग लिया। इस मंथन का आरंभ शिवदान सिंह चौहान के उस निबंध से हुआ जो उन्होंने सन् 1937 में 'विशाल भारत' में प्रकाशित किया था और जिसमें हिंदी में मार्क्सवादी साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया था। लेकिन उस निबंध में गोर्की का कोई उल्लेख नहीं था। 'हंस' के संपादकीय लेखों अथवा अन्य विवेचनाओं में भी चौहान ने गोर्की का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया। पर जब डा. रामविलास शर्मा के मंतव्य पर उन्होंने दृष्टिपात किया तो गोर्की के संबंध में उन्होंने बहुतेरी पैनी बातें कहीं और यह बताया कि किस प्रकार गोर्की ने 'क्रांतिकारी रोमांटिसिज्म' को 'समाजवादी यथार्थवाद' का अंग माना था। इसी निबंध में चौहान ने उन लोगों की खिल्ली उड़ाई जो प्रेमचंद और गोर्की की तुलना करते थे और बताया कि प्रेमचंद गोर्की की अपेक्षा टाल्सटाय के अधिक निकट हैं। इसके विपरीत एक अन्य प्रगतिशील समीक्षक ने सन् 1940 में ही गोर्की को मंत्र की तरह प्रयुक्त कर कामना व्यक्त की : "क्या जो देश में नयी शक्तियां भूकंप की सागर-लहरी की तरह

[illegible] है, [illegible] कोई प्रतिनिधि कलाकार नहीं मिलेगा? उस भावी गोर्की को हमारी आंखें निष्फल खोज रही हैं।" अन्यत्र वे क्रांतिकारी उपन्यासकार यशपाल की त्रुटियां उजागर करने के लिए भी गोर्की का उपयोग करते हैं: "यशपाल के राजनीतिक उपन्यासों में राजनीति और रोमान्स के ताने-बाने से कथानक बुना जाता है। वास्तव में राजनीतिक ज़ीवन में रोमांस की खोज इन कथाओं का ध्येय है। राजनीतिक उपन्यास का क्या ढांचा होता है, यह हम गोर्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'मां' से सीख सकते हैं। गोर्की अपने लक्ष्य की तरफ तीर की तरह सीधा पहुंचता है।" इसी प्रकार 'साहित्य और भौतिकवाद' का विवेचन करते हुए डा. रामविलास शर्मा ने गोर्की के वक्तव्यों को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है। यह वक्तव्य देखिये : "लेनिन के साथ-साथ गोर्की ने अपने कथा-साहित्य और निबंधों से क्रांतिकारी भावनाओं का प्रचार किया। उसके उपन्यास 'मां' ने मज़दूरों के संगठन में बड़ी भारी मदद की। 1905 की असफल क्रांति के बाद अनेक बुद्धिजीवी लोग जनता के स्वाधीनता संग्राम से विमुख हो रहे थे। गोर्की ने उनकी अच्छी तरह खबर ली। उसने दिखाया कि जिस संकट में साहित्य पड़ा हुआ है, उससे वह बिना जन-क्रांति के नहीं उबर सकता। इसी निबंध में डा. शर्मा लिखते हैं : "एक नयी जिंदगी की चाह के बारे में गोर्की ने लिखा था—'हम लोगों को स्वस्थ, खुशहाल और सुंदर देखना चाहते हैं। सभी स्वस्थ आदमियों की यह स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए। हम समझते हैं कि हमारी जनता की मानसिक शक्ति विकसित और संगठित की जाये तो वह सारी दुनिया की जिंदगी में एक रवानी ला सकती है और सत्य और सौंदर्य की आनेवाली विजय को और भी निकट ला सकती है।' " मंत्र-बल के रूप में गोर्की का एक प्रयोग अमृत राय की लेखनी से भी देखिए : "क्या क्रांतिकारी रूसी साहित्य का कोई जिज्ञासु विद्यार्थी इस बात से इनकार करेगा कि मायकोवस्की और बैज़िमेस्की की कविताएं और गोर्की के उपन्यास और कहानियां श्रेष्ठ साहित्य नहीं हैं?" सन् 1944 में लिखे गये अपने एक लेख में उन्होंने कहा : "वह दिन अब करीब है जब संसार की जनता गोर्की के आदर्शों से प्रेरणा पाकर उन्हीं के आधार पर नवीन विश्व, नवीन सभ्यता और संस्कृति की नींव रखेगी, वह जनता जिसके जीवन का लक्ष्य विश्व को सुंदर बनाना और मानव-जाति के योग्य एक नये प्रकार के जीवन की रचना के लिए मानव-शक्तियों को उन्मुक्त करना है।"

इसी काल में हिंदी समीक्षा में वह प्रकरण भी उपस्थित हुआ था जिसे 'अंह का विस्फोट' पदावली से स्मरण किया जाता रहा है। डा. नगेंद्र ने सृजन की वैयक्तिकता पर बल देते हुए यह मंतव्य व्यक्त किया था : "संसार में ऐसा महान् साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इकबाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के

असाधारण क्षणों की सृष्टि है।" इस वक्तव्य की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया करते हुए डा. रामविलास शर्मा ने एक लंबा लेख लिखा, पर उसमें गोर्की के जीवन अथवा सृजन का कोई तर्क नहीं दिया।

परंतु डंडे के रूप में गोर्की का सबसे उल्लेखनीय प्रयोग शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिशील लेखक संघ के कश्मीरी साथियों के प्रसंग में किया था। उन दिनों प्रगतिशील आंदोलन कुत्सित समाजशास्त्रीयता के स्तर पर जा पहुंचा था और विद्रोह के नाम पर कला-कृतियों में प्रेम के चित्रण को निंदनीय माना जाने लगा था। उनके दृष्टिकोण को सुधार कर स्वस्थ बनाने के उद्देश्य से चौहान ने एक बार संघ की एक बैठक में एक हिंदी कविता पढ़कर सुनायी और फिर प्रत्येक साथी से बारी-बारी से उस कविता पर अपनी सम्मति व्यक्त करने को कहा। कविता प्रेम की थी अतः अधिकांश साथियों ने उसे प्रतिक्रियावादी और घटिया सिद्ध किया। सबके बोल चुकने पर चौहान ने अपने श्रोताओं को चकित करते हुए यह सूचना दी कि वह हिंदी कविता वस्तुतः गोर्की की एक कविता का अविकल अनुवाद थी। यह सुनकर उपस्थित साथियों पर मानो गाज ही गिर पड़ी। तब इस घटना से सभी प्रगतिशील वर्ग को लाभांवित करने के उद्देश्य से चौहान ने इस बैठक की पूरी कार्यवाई 'हंस' के एक अंक में प्रकाशित करायी। संयोग से उन्हीं दिनों जब मेरी भेंट प्रकाशचंद्र गुप्त से हुई तो मैंने उनसे इस घटना की चर्चा की। उन्होंने मुझे भी विस्मय में डालते हुए कहा कि सत्य होने पर भी चौहान को यह कार्यवाई प्रकाशित नहीं करनी चाहिए थी क्योंकि उससे आंदोलन की कमजोरी व्यक्त होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि प्रेमचंद-परवर्ती काल में गोर्की की चेतना प्रेमचंद काल से बढ़कर ही थी तथापि उसका उपयोग सृजन-गौरव के लिए न होकर मुख्यतः अपने-अपने पक्ष-समर्थन के लिए तर्क के रूप में ही होता रहा। यही कारण है कि इस अवधि में गोर्की-विषयक कोई सुसंबद्ध अनुशीलन नहीं प्रस्तुत किया गया। केवल चौहान ने गोर्की के नाटक 'लोअर डैप्थ्स' के अनुवाद कराने का प्रयास अवश्य किया था।

स्वातंत्र्य-प्राप्ति के उपरांत के जनतांत्रिक काल में एक बार फिर गोर्की के प्रति हिंदी लेखकों ने वैसी ही प्रीतिकर आत्मीयता का प्रमाण दिया जैसी प्रेमचंद युग में दिखायी पड़ी थी। इन लेखकों में रांगेय राघव और धर्मवीर भारती प्रमुख हैं। रांगेय राघव का व्यक्तित्व गोर्की के व्यक्तित्व के कई तत्वों से पूर्ण था। वैसी ही निर्भीकता, जनसाधारण से वैसा ही अभिन्न संबंध और अन्याय के प्रति वैसा ही अधीर विद्रोह। फलस्वरूप राघव की सृजन-चर्या में भी गोर्की के कई गुण समाहित हो गये। निठल्ले आवारागर्द, परित्यक्त और पीड़ितों के प्रति राघव का मन गीला हो जाता था। उन्होंने निम्न से निम्न जनों में निस्संकोच प्रवेश कर उनके जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन किया और फिर तूफान की-सी गति से अपनी कृतियों की रचना की। यद्यपि अल्पायु के कारण वे कोई परिपक्व कृति हमें न दे सके तथापि हिंदी लेखकों में गोर्की के वे सबसे निकट आत्मीय थे। उनसे पहले नरोत्तम नागर में भी ऐसे ही लक्षण प्रकट

हुए थे पर उन्होंने अपनी प्रतिभा को कभी विकसित करने का भी प्रयत्न न किया। उनके विपरीत राघव ने अनेक सुंदर रचनाएं कीं—विशेष रूप से उनकी कहानी 'गदल' और उनका उपन्यास 'कब तक पुकारूं' ऐसी ही प्रेरणा से निर्मित हुए। यही नहीं, राघव ने गोर्की के कृतित्व के अधिक गहरे और स्थायी पक्षों की ओर इंगित करके उन्हें प्रगतिवादी संकीर्णता के घेरे से उबारने का भी प्रयत्न किया। प्रगतिशील साहित्य के मानदंड के संबंध में डा. रामविलास शर्मा से जो उनका प्रलंबित वाग्युद्ध छिड़ा उसमें प्रसंगवश उन्होंने गोर्की का अनेकशः मार्मिक उल्लेख किया। यहां हम उनके दो-एक उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। "एक दिन लेनिन टाल्सटाय का 'वार एंड पीस' उपन्यास पढ़ रहे थे। गोर्की के पहुंचने पर लेनिन ने कहा—'वाह, क्या लिखा है।... गोर्की महोदय, इससे लिखना सीखो।' ...गोर्की ने सिर हिलाकर स्वीकार किया कि टाल्सटाय महान् लेखक था। अगर गोर्की कुत्सित समाजशास्त्री होता तो वह कहता कि लेनिन, तुमने टाल्सटाय जैसे सामंतवादी व्यक्ति की प्रशंसा करके एक मज़दूर और उसकी कला का अपमान किया है।" और यह टिप्पणी भी दृष्टव्य है : "गोर्की में केवल यथार्थ वर्णन, सोवियत यथार्थ वर्णन, प्रकृति, चरित्र, कथा, प्रचार तथा क्रांतिकारी भावना का वर्णन ही नहीं, वरन् पुरानी में से नयी कला का सृजन भी है। क्रांति के बाद गोर्की ने साहित्य का बहु-पक्ष देखा। उसने भटके हुए लोगों को इकट्ठा किया, अज्ञातपूर्व कवियों को प्रतिष्ठा दिलाई, लेखक संघ का निर्माण किया, और संपादन के विराट् कार्य को हाथ में लिया। गोर्की ने जीवन के जिस निम्न स्तर से उन्नति की और जितनी उन्नति की, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वह गोर्की, जिसे दर-ब-दर भूखे भागना पड़ा, जो कई-कई दिन बिना विश्राम के बर्फ में चलता रहा, जिसे प्रारंभ में पढ़े-लिखे उच्चवर्गों से आनेवाले मार्क्सवादी बराबरी का दर्जा नहीं देते थे, अंत में एक महान् सृष्टा बना।" इस प्रकार अपने दृष्टिकोण से राघव गोर्की को सर्वाधिक निकट पाते हैं, पर वे गोर्की की और अपनी परिस्थितियों के अंतर को नहीं भूलते। उनका स्पष्ट कथन है : "रूस में और भारत में अंतर भी है। रूस की मानवतावादी विचारधारा अल्पकालीन थी। भारत की बहुत पुरानी है।"

धर्मवीर भारती ने भी राघव की ही भांति उदार मानवतावाद के प्रसंग में ही गोर्की का विवेचन किया है। प्रगतिशील आंदोलन की त्रुटियों और भूलों को उजागर करने के लिए उन्होंने एक संपूर्ण ग्रंथ ही रचा जिसमें आंदोलन के मूल स्रोतों से लेकर उसके पूरे इतिहास को निरूपित किया और यह स्थापित किया कि सच्ची प्रगतिशीलता साहस एवं दृढ़ता से अन्याय और शोषण का विरोध करके विश्वबंधुत्व और मानवीय हित को अग्रसर करने में ही है। गोर्की की जन-निष्ठा और मानवता को भारती ने भांति-भांति से बखाना है और समाज के उपेक्षितों-दलितों के प्रति उसकी करुणा को स्वयं अपने उपन्यास 'सूरज का सातवां घोड़ा' में अंगीकार किया है। अपने ग्रंथ 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' के अंत में भारती ने सहायक पुस्तकों की जो सूची दी है उसमें एक

ही उपन्यास सम्मिलित है और वह है गोर्की का 'मां'। इससे संभवतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारती ने 'मां' के अतिरिक्त जिन उपन्यासों अथवा उपन्यासकारों का उल्लेख इस ग्रंथ में किया है वे उन्होंने मूलरूप में नहीं पढ़े हैं। उनके विषय की सामग्री उन्होंने अन्य ग्रंथों से जुटाई है। यही कारण है कि पुस्तक में 'मां' की ही विस्तृत चर्चा मिलती है, अन्य किसी उपन्यास की नहीं। अपनी भूमिका में ही भारती गोर्की का उल्लेख करते हैं : "जैसाकि गोर्की ने कहा है : 'मानव हमारा देवता है। मानव से बड़ा कोई सत्य नहीं।' " प्राचीन साहित्य के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर बल देते हुए भारती फिर गोर्की का स्मरण करते हैं : "गोर्की अपने दरिद्र और अभावग्रस्त बचपन के बावजूद पढ़ने का बेहद शौकीन था।...गोर्की ने लिखा था : 'लेखक जितना पढ़ सके उसे पढ़ना चाहिए, जानना चाहिए, वह जितनी अच्छी तरह प्राचीन से परिचित होगा, उतनी ही अच्छी तरह वह वर्तमान को पहचान सकता है, उतनी ही स्पष्टता और गंभीरता से वह आधुनिक युग के क्रांतिकारी तत्वों को समझ सरकता है।' " किंतु गोर्की संबंधी सबसे विस्तृत उल्लेख सोवियत साहित्य में धर्म और ईश्वर के प्रश्न पर किया गया है। इसी प्रसंग में भारती ने 'मां' के पात्रों के वार्तालाप का उद्धरण दिया है और यह सिद्ध किया है कि गोर्की की चिंतना भारतीय दर्शन के निकट आ गयी थी : "दूसरी बात गोर्की ने यह स्वीकार की कि मानवता की प्रगति में श्रद्धा और हृदय से बल आता है। लेकिन वह अंधश्रद्धा में विश्वास नहीं करता था, वह बुद्धि को समुचित स्थान देना चाहता था।" और फिर गोर्की के इस कथन पर कि "दुनिया-भर के मनुष्य एक हैं। जीवन की नींव प्रेम पर है, घृणा पर नहीं" भारती टिप्पणी करते हुए लिखते हैं : "स्पष्ट है कि गोर्की संकीर्ण मार्क्सवाद से महान मानववाद पर उठ गया था।" यही नहीं, भारती की कुछ कहानियों में भी, विशेष रूप से 'मुर्दों का गांव' के अंतर्गत कहानियों में हमें गोर्की के इसी मानववाद के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार जब सन् 1954 के आस-पास अमृतराय अपना पहला उपन्यास 'बीज' प्रकाशित करते हैं तो हम यह देखकर विस्मित रह जाते हैं कि उसमें विद्रोही युवक की पत्नी का चित्रण बहुत कुछ 'मां' के ही अनुरूप होता है। विशेष रूप से 'बीज' का चरम-बिंदु प्रायः उसी प्रकार प्राप्त होता है जिस प्रकार गोर्की के 'मां' का।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के उपरांत इस काल में गोर्की के व्यक्तित्व और कृतित्व पर हिंदी लेखकों के गहरे आकर्षण का एक कारण यह भी है कि इस काल में गोर्की की अनेक कृतियों के हिंदी अनुवाद प्रकाश में आये। इस कार्य में सोवियत संघ के प्रगति प्रकाशन ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनुवादकों में शिवदान सिंह चौहान, विजय चौहान, गोपीकृष्ण गोपेश, मुनीश सक्सेना और महाव्रत विद्यालंकार उल्लेखनीय हैं। इसी काल में शचि रानी गुर्टू ने 'प्रेमचंद और गोर्की' ग्रंथ का संपादन किया जिसमें पहली बार अनेक हिंदी लेखकों के सहयोग से गोर्की के व्यक्तित्व और कृतित्व पर बहुविध प्रकाश डाला गया। इसमें जिन लेखकों ने अपने निबंध प्रस्तुत किये उनमें बनारसीदास चतुर्वेदी,

नरोत्तम नागर (छद्मनाम त्रिविडा जोशी), डा. केसरी नारायण शुक्ल, अमृतराय, रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल, इलाचंद्र जोशी, हंसराज 'रहबर' और श्री एवं श्रीमती शिवदान सिंह चौहान का उल्लेख आवश्यक है। विशेष रूप से इलाचंद्र जोशी ने गोर्की की कविता पर निबंध प्रस्तुत कर उनके एक ऐसे पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया जो अपेक्षया उपेक्षित ही रह गया था। उसके पूर्व गोर्की की एक कविता का उपयोग चौहान ने किया था, जिसकी हम चर्चा कर आये हैं, और एक अन्य कविता का हिंदी अनुवाद रांगेय राघव ने प्रस्तुत किया था। तथापि इस ग्रंथ में हिंदी चलचित्रों पर गोर्की के प्रभाव का कोई विवेचन नहीं किया जा सका। यह सर्वविदित है कि सन् 1935 में प्रेमचंद ने अजंता सिनेटोन के लिए मिल (मजदूर) नामक चित्रकथा की रचना गोर्की के प्रभाव से ही की थी जिस पर ब्रिटिश सरकार ने रोक लगा दी थी। इसके उपरांत सन् 1941 के आसपास चेतन आनंद की फिल्म 'नीचा नगर' को फ्रांस में अंतर्राष्ट्रीय सम्मान से विभूषित किया गया था। यह चित्र भी गोर्की के 'लोअर डैप्थ्स' से प्रेरित था।

इस संक्षिप्त विवेचन को समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि मैक्सिम गोर्की ने हिंदी लेखकों की तीन पीढ़ियों को अत्यंत गहरे रूप में प्रभावित किया और उन्हें अपनी रचना को अधिकाधिक लोकहितकारिणी एवं यथार्थपरक बनाने की प्रेरणा दी। जहां तक वर्तमान का प्रश्न है, हम सारे वाद-विवाद के परे यह निस्संकोच कह सकते हैं कि गोर्की की सृजन-विधि के दो गुण आज की नयी पीढ़ी के लिए प्रकाशस्तंभ का काम दे सकते हैं। एक तो उनकी निर्भीकता जो घोर से घोर विपत्तियों और विरोधों का सामना करके भी अपने पथ से विचलित नहीं हुई, और दूसरे उनकी अनुभूति की प्रामाणिकता। गोर्की ने अपने समय में अत्यंत प्रामाणिक जीवन जिया, विशाल जनगण से अपना तादात्म्य स्थापित किया और फिर अपने निजी अनुभवों को अत्यंत प्रखर और निभ्रांत रूप से अपनी रचना में व्यंजित कर कला के मान्य-मूल्यों में भी क्रांति उपस्थित की।

अंत में यह उल्लेख करना भी उचित प्रतीत होता है कि गोर्की के नाम ने हिंदी में एक रुबाई को भी जन्म दिया है। इसके लेखक हैं प्रसिद्ध कवि केशवचंद्र वर्मा। रुबाई इस प्रकार है :

स्पीच तो देते थे वे हरदम बड़े जोर की
शक्ल मगर पाई थी एक नम्बर चोर की
अक्ल के नाम पर मिला खुदा का ठेंगा!
दुहाई में उचारते थे लेनिन और गोर्की!

[रचनाकाल 1968, जन्म शताब्दी के अवसर पर लिखा लेख, 'कवि की दृष्टि' में संकलित]

रवींद्र की तस्वीर

रवींद्रनाथ की एक तस्वीर बंगला-भाषियों के मन में है, एक अन्य भाषा-भाषी भारतीयों के मन में और एक विदेशियों के मन में। इन तीन तस्वीरों में आपस में बड़ा फ़र्क है। विदेशी लोगों के लिए टैगोर अब एक धुंधली-सी स्मृति रह गये हैं, महायुद्धों के पहले के उस मीठे अनुभव की स्मृति, जब उन्हें 'गीतांजलि' की कविताओं से यह लगा था कि पश्चिम के भौतिकवाद को झुठलाते हुए पूर्व का अध्यात्मवाद नये रूप में प्रकट हो रहा है। बंगाल के अतिरिक्त शेष भारतवर्ष में टैगोर गीतकार, कवि, नाटककार और एक सीमित क्षेत्र में चित्रकार के रूप में भी जाने जाते हैं—जिन्होंने अपनी रचनाओं से विदेशियों का भी ध्यान आकर्षित कर लिया था और विश्व का सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार—नोबेल पुरस्कार—प्राप्त करके इस पराधीन राष्ट्र का मस्तक ऊंचा किया था। बंगला-भाषी जन रवींद्रनाथ को अपने साहित्य और संस्कृति के महान उन्नायकों में मानते हैं, जिन्होंने उन्हें आधुनिक जीवन की समस्याओं और उनके समाधान का परिचय दिया। सिनेमा के इश्तिहार से लेकर जलपान-गृह के साइन-बोर्ड तक पर वहां रवींद्रनाथ के नाम और वचन के दर्शन होते हैं।

परंतु सच्चाई यह है कि रवींद्रनाथ अपने समग्र रूप में इन सबसे कहीं अधिक बड़े थे और उनकी पूरी तस्वीर में उनके व्यक्तित्व के और भी बहुत-से पहलुओं को समेटना जरूरी है। वैसे तो इस काम के लिए बड़े समय और विस्तार की ज़रूरत है, पर आज उनकी जयंती के उपलक्ष्य में उनके कुछ ऐसे रूपों को याद करना उचित है, जो सामान्यतः हमारी दृष्टि से ओझल रहे हैं।

अक्सर सुनने में आता है कि टैगोर को आर्थिक संकट से नहीं जूझना पड़ा। कुछ अर्थों में सही होने पर भी यह वक्तव्य इस बात की अनदेखी कर देता है कि टैगोर आजीवन आर्थिक कठिनाइयों से जूझते रहे। महर्षि पिता के कठोर अनुशासन में लालित-पालित होने के कारण शैशव और युवावस्था में उनका रहन-सहन सरल और सात्त्विक ही रहा, उसमें विलासिता की कोई पहुंच न थी। कस्बे के हॉस्टल में उत्तर प्रदेश के विद्यार्थी का खान-पान जैसा एक-रस और अनाकर्षक होता है, वैसा ही टैगोर का था। यह सादगी जीवन-भर उनके साथ रही। हां, उनकी पैतृक संपत्ति इतनी अवश्य थी कि उनके सीमित

परिवार की गुजर हो सकती थी— पर अपनी झोंक में जब उन्होंने शांति निकेतन ***का स्कूल स्थापित किया, तब जाने-अनजाने उन्होंने एक ऐसा हाथी पाल लिया*** **जिसका आहार जुटाने में उनके होश गुम हो जाते थे।**

स्कूल के प्रारंभिक दिनों में तो उनकी पत्नी को अपने गहने भी बेच देने पड़े थे, और वे विद्यार्थियों के लिए भोजन भी पकाती थीं। स्वयं टैगोर भी एक प्राइमरी टीचर की भांति बच्चों को पढ़ाते, उनके लिए पाठ्य-पुस्तकें रचते, उत्सव-आयोजन करते, उनके गाने के लिए गीत और उनके खेलने के लिए नाटक लिखते और उनमें स्वयं भी भाग लेते। स्कूल ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, त्यों-त्यों उसका खर्च भी बढ़ता गया, यहां तक कि उसने टैगोर की रचनाओं से प्राप्त रायल्टी, नोबेल पुरस्कार की धनराशि आदि भी हज़म कर लीं। वैसे उन दिनों बंगला लेखन से रायल्टी बहुत थोड़ी ही होती थी, ज्यादातर रायल्टी टैगोर को अपनी रचनाओं के विदेशी अनुवादों से ही मिलती थी। यही नहीं, टैगोर ने कई बार तो केवल इसीलिए विदेश-यात्रा की कि वहां से अपने स्कूल के लिए दान मांग कर लायें। एक-दो बार जब वे इसमें सफल न हो सके, तो उन्हें जो भीषण ग्लानि हुई उसका वर्णन स्वयं उन्होंने अपने पत्रों में किया है। यह घटना तो सभी भारतीयों को ज्ञात है कि एक बार जब वे अपने स्कूल के लिए धन इकट्ठा करने के उद्देश्य से अपने विद्यार्थियों का एक दल लेकर नृत्य-नाट्य प्रदर्शन करने देश-भर में घूम रहे थे, तो गांधीजी के संकेत पर उन्हें साठ हज़ार का एक चेक गुमनाम दानी ने भेंट किया था, ताकि वे बुढ़ापे में इस तरह भटकने से बच सकें।

इसी से मिलती-जुलती एक बात यह भी सुनने में आती रहती है कि टैगोर किसी पलायनवादी कवि की भांति अपने एकांत नीड़ में बंद रहकर काव्यसाधना करते रहते थे, देश के स्वतंत्रता-संग्राम में उन्होंने कोई योगदान नहीं किया। पर इस बात का भी सच्चाई से कोई मेल नहीं है। महात्मा गांधी के बहुत पहले ही सन् 1905 के बंग-भंग-विरोधी आंदोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था, वे स्वयं जूलूसों में अपने रचे गीत गाते निकले, 'वंदे मातरम्' की धुन उन्हीं ने बनायी थी, और ब्रिटिश सरकार उन पर कड़ी नज़र रखती थी। हां, यह अवश्य है कि कुछ ही दिनों बाद उन्होंने सक्रिय राजनीति की सीमाओं को देखकर यह पहचान लिया कि उनकी प्रवृत्ति से उनका कोई मेल नहीं है। तथापि, अपने देश के जनों की मुक्ति और प्रगति की उनकी कामना मे कोई अंतर नहीं आया, और वे प्रत्येक प्रश्न पर अपनी रचनाओं, अपने भाषणों और अपने निबंधों से उसमें निरंतर योगदान करते रहे।

गांधीजी के सिद्धांतों से उनका मतभेद अवश्य था, और यह मतभेद उन्होंने खुल कर प्रकट किया था, पर वे केवल मतभेद प्रकट करके रह गये हों, ऐसा नहीं। अपने क्षेत्र में उन आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक योजनाओं को वे निरंतर कार्यान्वित करते रहे, जो उनके विचार से सच्चे स्वराज्य की नींव बन सकती थीं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि स्वतंत्र भारत

ने उनकी अनेक योजनाएं स्वयं अपनी लीं। गांधीजी उनके वास्तविक महत्त्व को पहचानते थे, इसीलिए वे उन्हें 'गुरुदेव' कहते थे और अपने हर कदम पर उनका आशीर्वाद मांगते रहते थे।

यही नहीं, रवींद्रनाथ ने अपने उग्र विचार ब्रिटिश सरकार तक पहुंचाने में भी कोई कोताही नहीं की। जलियांवाला बाग की घटना से क्षुब्ध होकर 'सर' की उपाधि लौटाते हुए उन्होंने वाइसराय को जो पत्र लिखा था वह देशभक्ति और मुक्तिनिष्ठा का अनूठा दस्तावेज है। जर्मनी और जापान के फासिस्ट रूप को भी उन्होंने अच्छी तरह पहचाना था और देश-विदेश में अपने भाषणों द्वारा उनका पर्दाफाश किया था। अंतर है, तो केवल यही कि वे राष्ट्रीय के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय जीवन पर भी नज़र रखते थे और विश्व-भर की मानवता को एक मानते थे।

इसीलिए वे अपने देश की दुर्दशा के लिए केवल अंग्रेजों को कोस कर ही नहीं रह जाते थे। उनका कथन था कि मुक्ति की सच्ची नींव जीवन की सर्वांगीण प्रगति में है और इसलिए वे रचनात्मक कार्यक्रम पर अधिक बल देते थे। इस प्रकार वे गांधी के विरोधी नहीं, गांधी के पूरक थे। साथ ही, वे उस समस्त व्यवस्था का विरोध करते थे, जिसमें यंत्र मानव को अपना दास बना लेता है। उनकी परवर्ती कृतियों में उनका यह भाव प्रबल रूप से हमारे सामने आता है। वे विज्ञान को जनसाधारण की सेवा में लगाना चाहते थे, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास का समुचित अवसर पा सके।

रूस की यात्रा करने के उपरांत उन्होंने 'रूस की चिट्ठियां' में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे आज भी हमारे काम के हैं। यही कारण है कि कलकत्ते में जब प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन हुआ, तो वे उसकी अध्यक्षता के लिए फ़ौरन तैयार हो गये। यद्यपि अस्वस्थता के कारण वे उसमें भाग न ले सके, और उनका भाषण पढ़कर सुनाया गया। इन्हीं दिनों उन्होंने दूसरे महायुद्ध की विभीषिका पहचान कर फ़ासिज्म का विरोध करनेवालों का स्वागत करते हुए एक कविता भी लिखी थी, जिसका हिंदी अनुवाद इस प्रकार है :

चारों ओर नागिनें ज़हरीली सांसें छोड़ रही हैं
इस समय शांति की मीठी वाणी बेकार का मज़ाक लगेगी—
इसीलिए विदा लेने के पहले
मैं उन वीरों को टेरता हूं
जो दानवों से संग्राम करने के लिए
घर-घर में कमर कस रहे हैं।

सच तो यह है कि टैगोर के व्यक्तित्व के बहुत-से पहलू अभी हमारी आंखों से ओझल हैं। प्राचीन और नवीन, एवं पूर्व और पश्चिम के समन्वय पर उन्होंने जो बल दिया, शिक्षा में मातृ-भाषा और दस्तकारी को उन्होंने जो महत्त्व दिया, रूढ़ियों की जकड़ से कला एवं संस्कृति को मुक्त करने का उन्होंने जो प्रयत्न

किया, नारियों को समान अधिकार और भाग देने का उन्होंने जो आग्रह किया, वह बार-बार याद करने योग्य है। वस्तुतः टैगोर कवि भी थे और योद्धा भी। वे एक ओर यदि सौंदर्य की सृष्टि करते थे, तो दूसरी ओर अपने जनों की प्रगति में भी जुटे रहते थे। उनके इन दोनों पक्षों को एक साथ सामने रखने पर ही उनकी सच्ची तस्वीर हमारे मन में उभर सकती है। वे मानवधर्मी कलाकार थे और उस विश्व मानवता की सर्वप्रथम झाँकी पा लेनेवालों में थे, जिसकी ओर आज सभी देश बढ़ते हुए दिखायी देते हैं।

रवींद्रनाथ की दो कविताओं का उल्लेख हम कर रहे हैं। उन्होंने 'भारत तीर्थ' में भारतीय राष्ट्र का सच्चा स्वरूप उजागर किया है। 'अफ्रीका' में उनकी विश्व-भावना को अत्यंत प्रबल स्वर मिला है।

[रचनाकाल 1968, रवींद्र जयंती के अवसर पर लिखा लेख, 'मुक्तधारा' में प्रकाशित।]

प्रेम और मस्ती के कवि

रामचंद्र शुक्ल ने जिसे आधुनिक काल के तृतीय काल की संज्ञा दी है उसमें छायावाद के समानांतर एक और काव्यधारा प्रवाहित मिलती है, जो यद्यपि छायावाद की ही भांति हिंदी स्वच्छंदतावाद का ही प्रकाश है तथापि वह अपने रंग, प्रभाव और उपलब्धि में छायावाद से स्पष्ट रूप में भिन्न है। इस धारा को विद्वान् आलोचकों ने कभी छायावाद के ही अंतर्गत विवेचित कर दिया है तो कभी उसे 'पलायनवाद', 'हृदयवाद' या 'हालावाद' की संज्ञाओं से अभिहित किया है। पर ये नाम काव्यधारा की कुछ प्रवृत्तियों का संकेत भले ही कर सकें, उसे पूरी तरह से परिभाषित नहीं करते। अतः अन्य किसी स्पष्ट संज्ञा के अभाव में हम धारा को 'मस्ती और यौवन की कविता' ही कह सकते हैं ।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इस धारा की सामाजिक पृष्ठभूमि वही थी जो छायावादी काव्य की थी और उसके प्रमुख कवि उसी काल में विशेष सक्रिय थे जिसमें छायावादी कवि अपने उत्कर्ष पर पहुंचे थे। इसलिए इन दो धाराओं का काव्यगत भेद किसी परिस्थितिगत भेद से परिभाषित नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से उस भेद का मूल स्रोत बाह्य परिवेश में न होकर उस परिवेश के प्रति कविगण की प्रतिक्रियाओं में है। दूसरे शब्दों में, उस भेद का जन्म कवियों के व्यक्तित्व के भेद में हुआ है। हिंदी के आलोचक काव्य के विवेचन में प्रायः व्यक्तित्व की विशेषताओं को अनदेखा करते रहे हैं, और सामाजिक परिस्थितियों की समानता पर बल देते रहे हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण से जो क्षति होती है उसका एक छोटा-सा उदाहरण हमारे इन कवियों के महत्त्व का विस्मरण भी है जो छायावाद के साथ-साथ चलते हुए भी अपनी एक निराली ही लीक पकड़े रहे। फलस्वरूप इन दोनों समांतर धाराओं में कुछ तत्त्व यदि समान रूप से प्रकट हुए हैं, तो कुछ अन्य तत्त्व उन्हें एक-दूसरे से अलग करते हैं और उनकी पहचान बन जाते हैं।

छायावाद में जड़ता और रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह की जो भावना गूढ़ दार्शनिकता से प्रारंभ होकर पीढ़ी के आग्रह की परिणति तक पहुंची है, वह हमारे इन मस्ती के कवियों में अधिक स्थूल और साकार रीति से प्रकट हुई है। इनमें से प्रायः सभी कवि प्रत्यक्ष जीवन में कर्मठ देशभक्त और समाजसेवी

रहे हैं और उनमें से अधिकांश राष्ट्रीय मुक्ति के संग्राम में भाग लेने के कारण नाना प्रकार के कष्ट, अभाव और राजदंड एवं कारावास भी भोगते रहे हैं। उनकी इस चर्या ने उनकी कविता को सामाजिक जीवन का स्थूल सामीप्य भी दिया है और उनकी भाषा को बोलचाल के प्रति ग्रहणशील भी बनाया है। माखनलाल चतुर्वेदी से लेकर नरेंद्र शर्मा तक की कृतियों में प्रवाहित काव्य की धारा और कुछ नहीं तो अपनी भाषा की विशेषताओं के ही कारण पहचानी जा सकती है। इनकी भाषा में छायावाद की वायवीयता एवं अलंकरणलालित्य का अभाव है, वह अधिक सहज और नुकीली है, यहां तक कि माखनलाल और नवीन में तो वह ऊबड़-खाबड़ भी मिलती है। पर उसके इस रूप के ही कारण उसमें सर्वत्र समकालीन जीवन की धड़कनें अधिक आसानी से बज उठती हैं। सच तो यह है कि इन कवियों की रचनाओं का एक बड़ा अंश तो नितांत सामयिक ही है और आज उसे काव्य से भी अधिक तत्कालीन परिवेश के आलेख के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। छायावाद के कवियों ने काव्य के स्थायित्व की खोज में लगे रहने के कारण इस तात्कालिकता को सीधे रूप में कभी-कभार ही व्यक्त किया होगा। और वह भी सन् 1936 के बाद ही, जब समस्त हिंदी साहित्य में सामाजिक उद्देश्य का आग्रह बड़ा बलवान हो उठा था।

यह ठीक है कि मस्ती के इन कवियों ने यदि एक ओर ऐसी रचनाएं की हैं जिन्हें विद्वान सहज ही छायावाद के अंतर्गत सम्मिलित कर लेते हैं तो दूसरी ओर उन्होंने ऐसी भी रचनाएं की हैं जो उस विशुद्ध राष्ट्रीय काव्यधारा के अंतर्गत समेटी जा सकती हैं जिसका सर्वोच्च प्रकाश मैथिलीशरण गुप्त में मिलता है। वह प्रवृत्ति विशेष रूप से माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन में दिखायी देती है। शायद यही कारण हो कि ये दो कवि जीवन में भी मैथिलीशरण गुप्त के निकट रहे। पर उनका अधिकांश सर्जन न छायावाद का अंग है, न राष्ट्रीय काव्यधारा का। उसमें हमें यथार्थ जीवन की विषमताओं के प्रति सचेत मानस की बेचैन प्रतिक्रियाएं मिलती हैं जो राष्ट्रीयता की सरल स्थिति से बढ़कर वर्गीय विषमताओं की सीमाएं छूने लगती हैं और उन विषमताओं से मुक्ति की कामना में ध्वंस और विनाश का भी आह्वान कर उठती हैं। ध्वंस की यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में हम इन सभी कवियों में पाते हैं। यद्यपि प्रकट रूप में यह प्रवृत्ति उन गांधीवादी सिद्धांतों के विरुद्ध प्रतीत होती है जो अहिंसा और हृदय-परिवर्तन पर टिके हैं, तथापि अपने आंतरिक रूप में यह गांधीजी के सत्याग्रह संग्राम को ही पुष्ट करती है। जिस प्रकार युद्ध के विरुद्ध होते हुए भी गांधीजी अपने अभियान में युद्ध की शब्दावली का प्रयोग करते थे— 'सेना', 'कूच', 'संग्राम' शब्द बराबर सुने जाते रहे, उसी प्रकार 'जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ महानाश-सी मेरी आग' (भगवतीचरण वर्मा) या 'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए' (नवीन) आदि भावनाएं आक्रामक नहीं हैं, वे केवल भारतीय युवा मानस की बेचैनी की ही अतिरंजित अभिव्यक्तियां हैं। स्वतंत्रता संग्राम के उस दौर में भारतीय मानस विदेशी की

गुलामी से, उसके अन्याय से, उसके शोषण से उत्पीड़न से इतना विकल और बेचैन हो उठा था कि उसकी यंत्रणा से छुटकारा पाने के लिए वह विषमताओं को ही नहीं, उनके आधार इस समाज और विश्व को भी नष्ट करने की सोच बैठा था। और यद्यपि उसका आक्रोश प्रमुख रूप से विदेशी शासक सत्ता के ही प्रति था, तथापि अपने समाज में उपस्थित जड़ता, अविद्या, दैन्य और अभाव भी उसके इस क्रोध को भड़काने में सहायक होते थे। कभी वह विधवा के दुर्भाग्य को लक्ष्य करता था, कभी किसानों-मजदूरों से सहानुभूति प्रकट करता था, तो कभी धनकुबेरों पर बरसता था। उसकी बेचैनी के मूल में अपने वर्तमान के प्रति यही असंतोष काम कर रहा था। यही कारण है कि उसकी वाणी में ओज का प्राबल्य था, उसकी भंगिमा में अमर्ष का पुट था और उसकी भाषा में परुषता थी। छायावाद की कोमलकांत पदावली उसके भावों को वहन करने में असमर्थ थी। छायावाद का यदि प्रमुख लगाव था सौंदर्य से तो इस वर्ग के कवि का प्रमुख लगाव था—परिवर्तन से, क्रांति से। यद्यपि क्रांति का यह भाव अभी प्रौढ़ और वास्तव रूप ग्रहण न कर पाया था और इसलिए उसमें निर्ममता के स्थान पर उच्छ्वास और अतिरेक का ही प्रकाश है।

यौवन और प्रेम के प्रति इन कवियों के दृष्टिकोण को इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। छायावाद में भी प्रेम की अत्यन्त मार्मिक और प्रभावी अभिव्यक्ति मिलती है पर मस्ती और यौवन के इन कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति उसकी-सी कोमल, निभृत और सूक्ष्म नहीं है। इनका प्रेम अधिक मुखर, स्थूल और कोलाहलपूर्ण है। एक ओर यदि इनके कर्मजीवन की व्यस्तता का प्रतिफलन है तो दूसरी ओर यह सामाजिक रूढ़ियों, बाधाओं से टकराने को उद्यत उदंडता का भी। अपनी चर्या के प्रारंभ में ही नवीन ने प्रेम की अभिव्यक्ति के माध्यम से इन सामाजिक रूढ़ियों को चुनेती दी थी। उन्होंने एक कविता में स्पष्ट कहा था—'यों भुज भर के हिय लगाना है क्या कोई पाप? या अधखिले दृगों का चुंबन है क्या पाप कलाप'।

अथवा, एक अन्य कविता में उन्होंने कहा :

संयम? मेरी प्राण, जरा तो आज असंयम में बहने दो।

उसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा ने भी ताल ठोकी थी :

हाँ, प्यार किया है, प्यार किया है मैंने
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने।

और आगे चलकर बच्चन ने भी रूढ़ियों को चुनौती देते हुए कहा :

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।
या
वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी?

इसमें संदेह नहीं कि हमारे इन कवियों की रचनाओं में प्रेम की नाना अनुभूतियां

अपने पूरे वैविध्य में व्यक्त हुआ है और प्रत्येक कवि का अपना निजी व्यक्तित्व उनमें पूरे निजीपन से प्रकट हुई हैं, पर इस बात में वे सब समान हैं कि उनका प्रेम घोषित रूप में लौकिक प्रणय है, वह समाज की परिपाटी या मर्यादाओं की परवाह नहीं करता और वह सर्वत्र एक पौरुषपूर्ण कामना के रूप में प्रकट हुआ है, उसका प्रमुख स्वर आत्म-निवेदन का नहीं अपितु आत्माधिकार का है, प्रेम के प्रति कवि का दृष्टिकोण ही उस द्वैत अथवा द्वंद्व का मूल है जो इन कवियों को छायावादी अद्वैत से भिन्न करता है, और अंत में उन्हें मस्ती या फक्कड़पन अपनाने की अथवा निराशा और मृत्यु का वरण करने की ओर ले जाता है। छायावाद की चरम परिणति है एक अनंत अलौकिक सत्ता के प्रति एकांत समर्पण जो महादेवी वर्मा के शब्दों में यह रूप ले उठता है :

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

इन हृदयवादी कवियों की चरम परिणति है बच्चन के इन शब्दों में :

आओ, सो जाएँ, मर जाएँ!

अपने उन्मेष के काल में यह द्वंद्व इन कवियों को असाधारण संघर्ष और ललकार की शक्ति देता है, अपने अंतिम दिनों में यही द्वंद्व उन्हें तोड़ देता है, दयनीय बना देता है।

द्वंद्व की इन दो चरम स्थितियों के बीच, अर्थात् ध्वंस और आत्महत्या के बीच की अवस्था में द्वंद्व की तीव्र अनुभूति से छुटकारा पाने के लिए ही ये कवि मस्ती का, नशे का, मादकता का सहारा लेते हैं। यद्यपि हालावाद के प्रर्वतन का श्रेय बच्चन को दिया जाता है, और इसमें संदेह नहीं कि मधु का संदेश देनेवालों में वे अग्रणी हैं, तथापि मादकता की यह प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में मिलती है, यहां तक कि तत्कालीन राष्ट्रीयतावादी कवि और छायावादी कवि भी इससे अछूते न रह सके। प्रत्येक कवि के दृष्टिकोण में थोड़ा-बहुत भेद तो अनिवार्य ही माना जायेगा, पर ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने मधु, हाला या मादकता पर ध्यान न दिया हो। अवश्य ही तत्कालीन वातावरण में ऐसी कोई सामान्य प्रवृत्ति रही होगी जिसने हिंदी के कवि को इस ओर उन्मुख किया। वैसे तो भारतेंदु ने भी मौज में आकर लिखा था :

पी प्रेम पियाला भर भरकर कुछ इस मै का भी देख मजा।

पर उनकी कविता का यह प्रमुख स्वर नहीं है, न उनके व्यक्तित्व में वह द्वंद्व ही है जो इसे प्रतीक से अधिक कोई सार्थकता देता। भारतेंदु का यह प्रयोग केवल उनके उर्दू-काव्य-परंपरा से परिचय का ही प्रमाण है और यद्यपि हमारे ये कवि भी उर्दू-काव्य-परंपरा से भली प्रकार परिचित थे, और छायावादी कवियों से भिन्न किंतु भारतेंदु के समान ही, उर्दू शब्दों, मुहावरों और व्यंजनायुक्तियों

को ग्रहण करने से परहेज नहीं करते थे, (यथा : प्रेमी के लिए 'यार' का प्रयोग, अथवा बच्चन का गीत 'सुरा पी, मधु पी, कर मधुपान, रही बुलबुल डालों पर बोल') तथापि मादकता और हाला की ओर उनका ऐसा गहरा झुकाव इस परंपरा-परिचय से परिभाषित करना समीचीन नहीं जान पड़ता। साहित्य का उत्स उसकी परंपरा में न होकर उसकी तात्कालिक परिस्थितियों में ही विशेष रूप से होता है, विशेषतः ऐसे उथल-पुथल के काल में कवियों की सार्थक अभिव्यक्ति का बीज वर्तमान की विशेषताओं में ही ढूंढा जाना चाहिए।

यदि हम इन कवियों के अलग-अलग कृतित्व पर दृष्टिपात करें तो हमें यह भी ज्ञात होता है कि यह फक्कड़पन या मतवालापन क्रमशः बढ़ा है। माखनलाल चतुर्वेदी में यदा-कदा ही कुछ छींटे मिलते हैं, नवीन अपनी कुछ ही कविताओं में उसका भरपूर प्रकाश करते हैं। (कूजे, दो कूजे में मिटने वाली मेरी प्यास नहीं), भगवतीचरण वर्मा उनसे भी आगे बढ़कर दीवानापन अपना लेते हैं (हम दीवानों की क्या हस्ती; हैं आज यहां कल वहां चले) और अंत में बच्चन इस भावना को पराकाष्ठा तक पहुंचा देते हैं (वह मादकता ही क्या जिसमें बाकी रह जाए जग का भय)। अतएव, यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन अपने प्रारंभिक उत्साह को पार कर असफलता और अगति के दलदल में फंसता गया त्यों-त्यों हमारे ये कवि 'मादकता' की ओर बढ़ते गए। ध्यान देने की बात यह है कि 'मधुशाला' का प्रकाशन सन् 1935 के आस-पास हुआ था जब ब्रिटिश सरकार यह मानने लग गयी थी कि उसने कांग्रेस के आंदोलन को तहस-नहस कर दिया है। और सन् 1936 में जब जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने नया समाजवादी रंग पकड़ा तब हिंदी काव्य से 'मादकता' का वह स्वर अचानक तिरोहित हो गया। बच्चन और नरेंद्र शर्मा का अंतर इसी तथ्य से रेखांकित किया जा सकता है।

वस्तुतः 'मादकता' की शरण में जाना इन कवियों के कमजोर व्यक्तिवाद का प्रतिफलन है। भारत की आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों ने, पाश्चात्य शिक्षप्रणाली और राष्ट्रीय गौरव की भावना ने हमारे यहां व्यक्तिवाद को जन्म तो दे दिया था, पर पराधीन राष्ट्र का यह व्यक्तिवाद अपनी प्रकृति से ही कमजोर और निराश व्यक्तिवाद था। बंगला में रवींद्रनाथ और हिंदी में छायावादी कवि किसी हद तक इस कमजोरी से त्राण पा गए क्योंकि उन्होंने भारतीय अद्वैत दर्शन को एक नया रूप देकर उसे अपने जीवन का आधार बना लिया पर हमारे ये कवि किसी ऐसे समग्र संपूर्ण दर्शन की टेक नहीं पा सके। कर्मसंकुल जीवन में प्रति पग पर प्राचीन और नवीन की टकराहट में लिपटते वे निरंतर शंका और संशय के वातावरण में जीते रहे। यही कारण है कि कभी तो वे उत्साह में भरकर अपना सब कुछ उत्सर्ग करके 'बलिदानी' बनने की सोचते और कभी निराशा के अंधकार में घिरकर समाज से अलग हो जाने की अथवा 'मादकता' की फूंक से संसार को ही उड़ा देने की सोचते हैं। इसका एक कारण यह भी हुआ कि इन कवियों का कोई एक व्यक्तित्व नहीं बन सका, वह बहुविध और बहुमुखी रहा जिसके कारण उनका कृतित्व भी असमान और अनिश्चित बना।

वे स्वच्छंदतावादी भी हैं, राष्ट्रीयतावादी भी, विद्रोही भी हैं और फक्कड़ भी, समाजसेवी भी हैं और व्यक्तिगत कामनाओं से ग्रस्त भी। एक वाक्य में वे अपने समय के मध्यवर्ग के बड़े ईमानदार प्रतिनिधि हैं। मध्यवर्गीय जीवन में जिस प्रकार अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे और वह कभी एक दिशा में और कभी दूसरी दिशा में टटोलता रहा, यही हालत हमारे इन कवियों की रही है। नवीन ने स्वयं कहा :

हम संक्रांति काल के प्राणी, बदा नहीं सुखभोग।

भगवतीचरण वर्मा ने इसको और भी दो टूक ढंग से पेश किया:

मेरे चरणों में गति, पलकों में है अतीत का अंधकार।
मैं अपनी ही कमजोरी से टकरा जाता हूँ बार-बार।।

छायावाद ने अपने विशिष्ट ढंग से व्यष्टि और समष्टि की खाई को पाटकर अपने लिए एक मार्ग निकाल लिया था, हमारे ये कवि उस खाई के ठहरे पानी में ही लगातार हाथ-पैर मारते रह गए।

कुछ विद्वान् आलोचक इन कवियों की मस्ती और फक्कड़पन का सारा श्रेय उमर खैयाम की रुबाइयों को देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के कवियों पर इन रुबाइयों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है, और यदि कवि की परिस्थितियों और कवि का व्यक्तित्व भिन्न होता तो यह प्रभाव इतना गहरा कदापि न होता। उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद यदि बच्चन ने प्रस्तुत किया था तो उनके भी पहले एक अनुवाद मैथिलीशरण गुप्त भी कर चुके थे। किंतु गुप्त के काव्य पर हम उमर खैयाम का कोई स्थायी प्रभाव नहीं खोज सकते। यह ठीक है कि उमर खैयाम की रुबाइयां अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी दौर में फिट्जेरल्ड के अनुवाद के माध्यम से अचानक कवियों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ हुई थीं। किंतु यह ध्यान देने की बात है कि फिट्जेरल्ड ने अपने अनुवाद में काफी स्वतंत्रता से काम लिया था, और उमर खैयाम को अपने समय के अनुकूल बनाकर पेश किया था । मूल में उमर खैयाम वैसा सरस कवि नहीं है जैसा अंग्रेजी अनुवाद में वह प्रकट होता है। स्वभावतः ही अंग्रेजी कवि ने उसकी एकांत तन्मयता और समाज से विमुखता को अपने काम की चीज माना। और जब पाश्चात्य शिक्षा प्राणाली ने हिंदी कवि को इस अंग्रेजी साहित्य से परिचित कराया तो हिंदी कवि भी उसकी ओर आकर्षित हुआ, और कुछ ही वर्षों में फिट्जेरल्ड के कई हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए। छायावादी कवियों की रचनाओं में हाला, प्याला के प्रतीक इसी का परिणाम है, यद्यपि हमारे विचार में वे रवींद्रनाथ के माध्यम से ही हिंदी में आये हैं। अस्तु, छायावादी कवियों में भी मदिरा और मधुशाला का उल्लेख मिल जाता है—यथा प्रसाद :

माणिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।

अथवा महादेवी वर्मा :

तेरी ही मधु माणिक हाला
तेरा अधर विचुंबित प्याला
तेरी ही मादक मधुशाला
फिर क्यों पूछूँ, मेरे साकी,
देते हो मधुमय विषमय क्या?

पर छायावाद में हाला-प्याला-साक़ी और मधुशाला के ये उल्लेख अभिव्यक्ति की ही युक्तियां हैं, उनका मर्म कुछ और ही है। इनका ग्रहण प्रभाव का ही फल है।

छायावादी कवियों से भिन्न हमारे इन कवियों ने फक्कड़पन और मस्ती को काव्यार्थ के स्तर पर व्यंजित किया है, वह उनके मर्म का ही अंग है। और इसका कारण वही द्वंद्व है जो उनके चित्त को निरंतर मथता रहता है। उमर खैयाम के काव्य में ऐसा कोई द्वंद्व नहीं है, वह फिट्जेरल्ड के अनुवाद में नितांत भाग्यवादी अथवा क्षणवादी अभिव्यक्ति है। यह जीवन नश्वर है, निस्सार है, इसमें जितने पल हैं उन्हें रो-धोकर बिताने से कोई लाभ नहीं, अतः आओ इन्हें प्रेम और यौवन की मदिरा से आनंदपूर्ण बना दें—फिट्जेरल्ड के काव्य की यही टेक है। हमारे इन कवियों ने अपनी 'मादकता' को ऐसा कोई एकांत दर्शन नहीं बनाया है। और की बात छोड़ भी दें तो बच्चन तक ने स्पष्ट लिखा है :

मुस्करा आपत्तियों-कठिनाइयों को दूर टाला,
संकटों में धैर्य धरकर खूब अपने को सँभाला।
किंतु जब पर्वत पड़ा आ शीश पर, मैं सह न पाया
जब उठा हो भार जीवन, तब लगाया ओठ प्याला
व्यर्थ कर दिन रात निंदा विश्व ने जिह्वा थकाई
था बहाना एक मनबहलाव का मधुपान मेरा

इस कथन से सिद्ध है कि हिंदी के कवि ने संकटों की यंत्रणा से त्राण पाने के लिए संघर्ष से कुछ देर बचकर 'मनबहलाव' के लिए मादकता का यह पथ अपनाया था । वह उसका दर्शन नहीं था, बल्कि दर्शन का अभाव था। एक अन्य कविता में बच्चन ने लिखा है :

ओठ गीले देखकर तू और कुछ संदेह मत कर
रक्त मेरे ही हृदय का है लगा मेरे अधर में

यह ठीक वैसी ही उक्ति है जैसी पहले नवीन ने कही थी

दिल को मसल-मसलकर मैं मेहँदी लगवा आया हूँ देखो।

व्यक्तिवाद ने इन कवियों को जो कामनाएं प्रदान की थीं उनकी पूर्ति के रास्ते

में तत्कालीन उथल-पुथल आड़े आती थी, जिसके कारण कवि कभी 'बलिदानी' और 'विद्रोही' बनने का ठाठ बांधता था, और कभी 'दीवाना' और 'अनिकेतन' होने का। इसीलिए उसकी मस्ती भी क्षणिक होती थी और उसका विद्रोह भी। इस अर्थ में ये कवि सचमुच अभिशप्त थे कि ये कहीं के भी न हो सके।

वस्तुतः जिन परिस्थितियों में इन कवियों का आविर्भाव हुआ उनमें इनके सर्जन को सच्ची सार्थकता तभी मिल सकती थी जब ये अपने समग्र सार्थक दर्शन का विकास कर पाते। पर उन परिस्थितियों में ही यह भी निहित था कि ऐसे किसी दर्शन का विकास उनकी पहुंच के परे हो। उन्हें छायावाद का अद्वैतवाद पूर्णतः स्वीकार न था, पर द्वैतवाद का जो रूप उन्हें परितोष दे सकता था वह भारत में तब तक रूपायित न हो पाया था। (यह सचमुच दुःख की बात है कि जब कालातर में मार्क्सवाद भारत में प्रकट हुआ तो ये कवि उसके सच्चे महत्त्व को न पहचान सके। उससे भी अधिक दुःख की बात यह रही कि मार्क्सवादी प्रगतिवादी जनों ने भी इन कवियों का सच्चा महत्व नहीं पहचाना। बल्कि अपनी मूढ़ता में वे इन्हीं को 'पलायनवादी' कह उठे क्योंकि उनके काव्य का एक बाह्य रूप समाज से किनारा करने का-सा उद्योग करता था।) फलस्वरूप, किसी उपयुक्त दर्शन का आधार न पाने के कारण वे बाध्य होकर अपने प्रत्यक्ष अनुभव को ही सर्वोपरि मानने लगे। स्वानुभव को दर्शन के स्थान पर प्रतिष्ठित करना सर्वथा जोखम होता है, और इन कवियों को भी अपने इस निर्णय की भारी कीमत चुकानी पड़ी। अपने अनुभव से बंधे रहने के कारण वे परिस्थितियों के संघात में निरंतर डांवाडोल होते रहे, उनके पांव कभी किसी प्रशस्त भूमि पर टिकने का अवसर न पा सके, और इस प्रकार उनका काव्यसंसार उनके प्रत्यक्ष संसार का प्रतिरूप बन गया। यही कारण है कि वे काव्य को कला की गरिमा देने का भी अवकाश न पा सके। उनकी कृतियां उनकी निजी अनुभूतियों पर टिकी हैं, और उन्हीं के बल पर अपनी सार्थकता चरितार्थ कर सकती हैं। इसमें संदेह नहीं कि इसके फलस्वरूप हमें हिंदी काव्य में उस रूप-गंध की एक ठोस दुनिया देखने को मिलती है, और लौकिक प्रणय एवं लौकिक संघर्ष की अनेक छवियां उसमें जीवंत हो सकी हैं, पर एक समग्र दृष्टि का अभाव हमें उसमें निरंतर खटकता रहता है।

प्रमुख कवि

पं. माखनलाल चतुर्वेदी (1889-1969)

चतुर्वेदीजी ने 1913 ई. में 'प्रभा' का संपादन आरंभ किया और तभी से निरंतर काव्यसर्जन करते रहे, तथापि आपकी कृतियां पुस्तकाकार बहुत देर में प्रकाशित हुईं जिनके कारण आपकी प्रतिभा का समुचित मूल्यांकन न हो सका। 'हिमकिरीटिनी', 'हिमतरंगिणी', 'माता' आदि काव्यकृतियों के अतिरिक्त आपके

कई अन्य ग्रंथ 'कृष्णार्जुन युद्ध' (नाटक), 'साहित्य देवता' (निबंध), कला का अनुवाद (कहानी-संग्रह)—भी महत्त्वपूर्ण हैं।

यद्यपि माखनलाल ने प्रायः तभी काव्यरचना प्रारंभ की जब मैथिलीशरण गुप्त ने, तथापि इन दोनों की राष्ट्रीयतापूर्ण रचनाओं में भी बहुत अंतर है। मैथिलीशरण का प्रमुख स्वर अतीत गौरव का गायन और उद्‌बोधन का है। माखनलाल की राष्ट्रीय कविताओं का मुख्य स्वर वर्तमान संघर्ष में कूद पड़ने का और अपना सर्वस्व बलिदान करने का है। उनकी छह पंक्तियों की प्रसिद्ध रचना पुष्प की अभिलाषा एक प्रकार से उनके इस पक्ष का सही प्रतिनिधित्व करती है :

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमीमाला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ।।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।।
मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक।।

यह रचना समय की कसौटी पर खरी उतर चुकी है और एक प्रकार से हिंदी काव्य में माखनलाल के हस्ताक्षर का पद पा चुकी है। पर इसमें उनका एक ही, और वह भी प्रारंभिक रूप ही समा सका है। साधारणतः माखनलाल का काव्य ऐसा अभिधात्मक नहीं है। उनमें विलक्षण वाग्वैदग्ध्य है, और उनकी शब्दावली अनोखे और बहुस्तरीय प्रयोगों के कारण नये स्पंदन से पूर्ण है। उनकी दूसरी विख्यात रचना 'कैदी और कोकिला' में उसकी कुछ झलक मिल जाती है। यह बात महत्त्व से खाली नहीं है कि उस कविता में राष्ट्रीय भाव की वह सरलता भी नहीं है जो 'अभिलाषा' में है। यहां कैदी का मन उस द्वंद्व का अनुभव करने लग गया है जो आगे के कवियों में उजागर हुआ। यदि एक ओर कवि अपनी देशसेवा पर दृढ़ है :

क्या?—देख न सकती जंजीरों का गहना।
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश राज का गहना।।
कोल्हू का चर्रक चूँ?—जीवन की तान।।
मिट्टी पर लिखे अंगुलियों ने क्या गान?
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ।।
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ।।

तो दूसरी ओर अंधेरी आधी रात में अचानक कोयल की कूक उसे कुछ विचलित और उद्विग्न भी कर उठती है और वह कुछ दयनीय स्वर में अपनी स्थिति की तुलना कर उठता है :

तुझे मिली हरियाली डाली।
मुझे नसीब कोठरी काली॥
तेरा नभ भर में संचार।
मेरा दस फुट का संसार॥
तेरे गीत कहावें वाह।
रोना भी है मुझे गुनाह॥

तथापि अभी मध्यवर्गीय मन कुंठित नहीं हुआ है और अंत में वह कोकिल के स्वर से क्रांति की प्रेरणा लेना चाहता है। पर ये पंक्तियां हमें उस द्वंद्व का आभास दे ही देती हैं जो कवि के मन में है और जो उसकी बलिदान भावना को शुद्ध अतिशयोक्ति और कुछ गर्व का रूप दे देता है :

द्वार बलि का खोल चल, भूडोल कर दें।
एक हिमगिरि एक सिर का मोल कर दें॥
मसलकर, अपने इरादों सी उठाकर।
दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दें॥
रक्त है? या है नसों में क्षुद्र पानी!
जाँच कर, तू सीस दे, देकर जवानी!

वस्तुतः माखनलाल का वाग्वैदग्ध्य, उनकी वचनवक्रता, उनका विचित्र शब्दचयन, उनकी देश एवं प्रणय दोनों के सामने बलिदानी भंगिमा उनके भीतर के इसी द्वंद्व को छिपाने-समेटने के साधन हैं। अपनी प्रारंभिक चर्या में उन्होंने वैष्णव परंपरा के प्रभाव से भक्तिपरक रचनाएं कीं, फिर देशभक्तिपरक कविताएं रचीं। उन दोनों में उनकी भंगिमा सरल और अभिधात्मक है। अपने प्रौढ़ वर्षों में वे सर्वदा लक्षणा का प्रयोग करते रहे और उसी काल की रचनाएं उनकी प्रतिनिधि रचनाएं हैं। विषयवस्तु और छंदचयन आदि की दृष्टि से उनमें इतना वैविध्य है कि पाठक सहसा चमत्कृत हो जाता है। राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओं के कथन, राष्ट्रीय पुरुषों के स्मरण-अभिनंदन से लगाकार लौकिक प्रेम की मुखर अभिव्यक्ति तक उनका विस्तार है। कहीं उनकी रचनाओं में छायावाद के पूर्व स्वर इतने उभर आते हैं कि आलोचक उन्हें छायावाद का प्रवर्तक मान बैठते हैं, तो कहीं सामाजिक विषमताओं का ऐसा भीषण प्रहार मिलता है कि वे प्रगतिवादियों के पूर्वज प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उनका काव्य एक पंचमेल रूप धारण कर लेता है, और उनको किसी भी वर्ग के खांचे में बैठाना असंभव हो जाता है। पर उनकी अधिकांश रचनाओं में अनुभव का ताप और अभिव्यक्ति की वक्रता पायी जाती है और ये दो तत्व ही उनके प्रधान गुण ठहरते हैं। और इन दोनों तत्वों को वे अपनी उन रचनाओं में सर्वाधिक व्यक्त करते हैं जो यौवन की चर्चा से संबद्ध हैं और जिनमें प्रणय या बलिदान का अतिरेक है। इस अतिरेक में वे कभी-कभी कबीर के-से फक्कड़पन पर पहुंच जाते हैं :

मत बोलो बेरस की बातें, रस उसका जिसकी तरुणाई
रस उसका जिसने सिर सौंपा, आगी लगा भभूत रमाई

अथवा

फेंक तराजू ये बलि पंथी, सिर के कैसे सौदे सट्टे
बहुत किए मीठे मुँह तुमने, अब उठ आज दाँत कर खट्टे

वस्तुतः अपने समस्त कृतित्व में माखनलाल ने राष्ट्र और प्रणय दोनों को एक ही तराजू पर तोला है, दोनों को उन्होंने मरणत्योहार की संज्ञा दी है, जिस पर वे अपनी तरुणाई बार-बार चढ़ाते हैं। उनकी प्रखरता और उत्कृष्टता सदैव युवकों को आकर्षित करती रही और एक पूरे युग तक वे सचमुच एक भारतीय आत्मा बने रहे।

पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (1897-1960)

माखनलाल चतुर्वेदी से 8 वर्ष बाद जन्मे और उनसे 8 वर्ष पूर्व ही महाप्रयाण कर जानेवाले कवि 'नवीन' अनेक ऊपरी बातों में अपने अग्रज के समान थे। दोनों का ही जन्म मध्यप्रदेश में हुआ, दोनों की ही तरुणाई व्यावहारिक राजनीतिक संघर्ष में गुजरी, दोनों ने ही अपने काव्य में अनेक शैलियों और वादों को प्रतिध्वनित किया। पर समानताएं जितनी ऊपरी हैं, उतनी भीतरी नहीं। 'नवीन' पर छायावाद का प्रभाव कम है, वे मस्ती और फक्कड़पन पर अधिक बल देते हैं। उनकी कविता आत्मानुभव पर अधिक निर्भर है, कल्पना को वे सीमित रूप में ही साथ लेते हैं। यही कारण है कि उनकी बहुत-सी रचनाएं डायरी का-सा रूप ले बैठती हैं और उनकी सार्थकता अनेक बार उनके अंतरंग वृत्त तक ही सीमित रह जाती है। अग्रज और अनुज के इस अंतर को उनके उपनामों के अंतर से भी रेखांकित किया जा सकता है। 'एक भारतीय आत्मा' में राष्ट्रीयता की जो गौरव झंकार है उससे 'नवीन' की नवीनता में कोटि और स्तर दोनों का भेद है। इसीलिए कभी-कभी छायावादकालीन मस्ती और जवानी की इस कविता को माखनलाल-नवीन-स्कूल की कविता भी कह दिया जाता है।

इन दों कवियों की बाह्य समानता का एक कारण उनका भौतिक सामीप्य हो सकता है। स्कूली शिक्षा समाप्त करते न करते ही 'नवीन' कांग्रेस अधिवेशन का दृश्य देखने लखनऊ गये थे जहां उन्हें एक साथ माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त और गणेशशंकर विद्यार्थी से परिचय पाने का सौभाग्य मिला। इसी मिलने के परिणामस्वरूप वे माखनलाल के भक्त बने, और कानपुर में गणेशशंकर विद्यार्थी के आश्रय में रहकर पहले विद्यार्जन और फिर राजनीतिक कार्य में जुटे। इस प्रकार वे माखनलाल से भिन्न, सचमुच ही अनिकेत' बन गये और राजनीतिक सरगर्मियों में डूबे रहने पर भी उनका भावुक मध्यवर्गीय मन यथार्थ के अभाव और कष्टों के प्रति अधिक वैयक्तिक और तीव्र प्रतिक्रियाएं

करता रहा। यही कारण है कि नवीन के काव्य में उद्‌बोधन का स्वर यदा-कदा ही मिलता है, यद्यपि वह माखनलाल को अत्यंत प्रिय है। माखनलाल अपने काव्य में प्रायः सर्वदा मानो एक मंच पर चढ़े रहते हैं और अपनी निजी प्रतिक्रियाओं को आदर्श और गौरव की छलनी में छानकर ही प्रस्तुत करते हैं। पर नवीन अपने प्रदेश और परिवार से कटकर समाज में एकाकी अनुभव करते हैं और अपने मन की भावनाओं को बड़े खरेपन से, प्रायः ताल ठोककर प्रस्तुत करते हैं। उन्हें जब क्रोध आता है तो वे सारी सृष्टि को चुनौती देते हैं :

सावधान, मेरी वीणा में
चिनगारियाँ आन बैठी हैं

और जब सत्याग्रह आंदोलन की निष्फलता पर उनका मन हताशा से भर जाता है तो वे 'पराजय गान' गाने में भी नहीं झिझकते :

आज खड्‌ग की धार कुंठिता
औ' खाली तूणीर हुआ।

इस प्रकार नवीन का काव्य उनके निजी जीवन के उतार-चढ़ावों का, उनके निजी भावों अभावों का आलेख बन जाता है। उनके काव्य के सम्यक् अध्ययन से यह सहज ही बताया जा सकता है कि उनकी कौन-सी कविता उनके जीवन के किस चरण में लिखी गयी होगी। उनके काव्य की यह विशेषता आगे चलकर बच्चन के काव्य में भी प्रकट हुई।

अपने निजी घात-प्रतिघातों को कविता का रूप देने का यह आग्रह नवीन के काव्य में एक नवीनता तो भर ही देता है, उसमें और भी कई विशेषताओं का समावेश कर देता है। शैशव में उन्हें भी वैष्णव संस्कार प्राप्त हुए थे और वे कभी-कभी विगलित भक्ति की भी रचनाएं कर उठते हैं, पर अधिकांशतः उनका काव्य लौकिक जीवन का ही काव्य है। उनकी निजी सामाजिक स्थिति का अनिश्चय और संशय उनके काव्य में भी फूट उठता है। और 'अनिकेतन' एवं 'एकाकी' मन की प्रेम और सत्य की खोज उनकी कविता में प्रणय की उत्कट अभिव्यक्ति को जन्म देती है। ऐसा व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं और लीकों की भला क्या चिंता कर सकता है और यही कारण है कि नवीन अपने काव्य में उनके विरोध का झंडा उठाते हैं। वे मात्र राजनीतिक भी नहीं हैं, वे समाज में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं और मुक्त प्रणय का ही अधिकार नहीं मांगते, नर को जूठे पत्ते चाटते देखकर दुनिया-भर में आग लगाने की भी सोच उठते हैं। उधर उनका भूखा मन ब्रजभाषा के अपने अभ्यास के कारण सरस पदरचना भी करता है, और विषमताओं के संसार में संशयग्रस्त होकर कभी-कभी मूलभूत प्रश्न भी कर उठता है 'क्वासि?'। मृत्यु संबंधी कविताएं उनके व्यक्तित्व में इसी पक्ष का निरूपण हैं। वस्तुतः नवीन अपने काव्यसर्जन में अपने बहुविध और जटिल व्यक्तित्व को संपूर्णतः प्रकाशित करने के प्रयत्न में नाना शैलियों

और वादों की शरण लेते हैं जिसमें एक ओर यदि ब्रजभाषा के दोहों की रचना है, तो दूसरी ओर 'उर्मिला' जैसा महाकाव्य है और प्रायः छायावाद शैली के प्रगीत हैं। पर नवीन के काव्य का सच्चा उत्कर्ष उन्हीं रचनाओं में प्रतिफलित हुआ है जो या तो उनके उद्वेलित मानस की हुंकार से निर्मित हैं ('विप्लव गायन', 'सिरजन की ललकारें मेरी') या फिर उनकी आंतरिक कामनाओं को प्रतिबिंबित करती हैं। इन कामनाओं में प्रणयाकांक्षा भी है, सुरक्षा की इच्छा भी है, और वैभव-विलास के प्रति ललक भी—यद्यपि यह ललक तिर्यक् रूप में ही हो सकी है। वस्तुतः नवीन लगातार अपने मन से जूझते रहते हैं—वह मन जो ऊपर से राजनीतिक संघर्ष में जुटा है पर भीतर ही भीतर निजी सुख-सुविधा का आकांक्षी है। उनके मन का यह द्वंद्व ही उनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है और उनका अधिकांश उत्कृष्ट काव्य इसी द्वन्द्व के तनाव का प्रतिफलन है। इसका एक स्थूल प्रमाण यह भी है कि उनकी अधिकांश रचनाएं या तो जेल में रची गयी हैं या फिर रेल में—और ये दोनों ही तनाव की स्थितियां हैं। इस रूप में नवीन अपने पूर्वज माखनलाल से नितात भिन्न सिद्ध होते हैं। आज का समीक्षक अत्यंत प्रीतिकार आविष्कार करता है कि नवीन के काव्य में उस साधारण मध्यवर्गीय मन की भावनाएं हैं जो दैववश असाधारणत्व के भंवर में उलझ गया है। वह क्षणिक आवेश में ताल ठोककर यह कहने की कोशिश तो जरूर करता है :

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन
हम तो रमते राम हमारा क्या घर क्या दर · कैसा वेतन?

पर यह उक्ति मात्र एक बाह्य भंगिमा या ऊपरी मुद्रा ही सिद्ध होती है क्योंकि दूसरे ही क्षण वह अत्यंत आग्रह से गा उठता है :

सुकुमार पधार खिलो टुक तो इस दीन गरीबिन के अँगना
हँस दो, कस दो रस की रसरी; खनका दो अजी कर के कँगना
तुम भूल गए कल से हलकी चुनरी गहरे रंग में रँगना
कर में कर थाम लिए चल दो रंग में रँग के अपने सँग-ना?

और सामाजिक कर्त्तव्य एवं व्यक्तिगत कामना की इसी टकराहट में जब उनका मन क्षत-विक्षत और दिग्भ्रमित होता है तभी क्षण-भर के लिए उनके काव्य में वह भाव प्रकट होता है जो बच्चन के शब्दों में उन्हें हालावाद का प्रवर्तक करार देता है। ऐसी रचनाएं अधिक नहीं हैं, पर उनकी कविता 'साकी' अत्यंत प्रसिद्ध ही नहीं, अत्यंत सफल है जो अपने प्रवाह में पाठक के मन को भी बहा ले जाती है और संयम के बंधन तोड़ने की उनकी कांक्षा से उसको सहानुभूति होने लगती है। एक अंश द्रष्टव्य है :

हो जाने दे गर्क नशे में, मत पड़ने दे फर्क नशे में
ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के फट जाने दे वर्क नशे में

ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला
साकी अब कैसा विलंब भर-भर ला तन्मयता-हाला

पर इसी कविता का अंतिम बंद उनकी भावना का असली भेद खोल देता है। मदिरा के प्रति उनकी इस उत्कट और अधीर याचना का उद्देश्य यही है कि 'डूबे जग सारा का सारा'। अर्थात् उनकी यह याचना किसी दुःख के भूलने अथवा गम गलत करने के लिए नहीं है, वे अपनी निभृत कामनाओं से समाज की मर्यादाओं से और सांसारिक संघर्ष की भीषणता से घबराकर ही ऐसी याचना करते हैं। और ये रचनाएं उनके सच्चे मन की रचनाएं हैं, इसका एक भाषागत प्रमाण भी हमें मिल जाता है। इनमें उनकी शब्दावली अचानक ग्रामीण मुहावरों और उर्दू पदों को ग्रहण कर उठती है। उनके शुद्ध भाषा-प्रयोगों से इन प्रयासों में अधिक सहजता और प्रभाविष्णुता पायी जाती है।

अपने कर्मसंकुल जीवन में नवीन अपनी रचनाओं को सही समय पर सही ढंग से प्रकाशित कराने का अवकाश न पा सके। यही कारण है कि उनके काव्य का अभी तक कोई सम्यक् अध्ययन संभव नहीं हो सका है। वैसे भी, राष्ट्रीय आजादी के उपरांत अपेक्षया सुखी सुविधामयी स्थिति पाकर उनके काव्य का रंग भी समाप्त हो गया क्योंकि जिस तनाव में वे रचना करने के आदी थे वह समाप्त हो चुका था। फिर भी अपने अंतिम वर्षों में अपने निजी जीवन की विषमता के कारण एक बार उनके काव्य में नये स्फरण का अवसर आया था। इस काल की उनकी सर्वोत्कृष्ट कविता 'यह अहिआलिंगित जीवन' एक ऐसे करुण परिताप से पूर्ण है जो नवीन के लिए भी नया है।

भगवतीचरण वर्मा (1903)

नवीन के अंतरंग मित्रों में होते हुए भी भगवतीचरण वर्मा अपने काव्य में नवीन से भिन्न हैं। इसका प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि वर्मा ने राजनीतिक कर्म की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, उनका संघर्ष सदा निजी और व्यक्तिगत ही रहा। अत्यंत विषम परिस्थितियों में जन्म पाकर, शैशव में ही पिता की असामयिक मृत्यु के कारण प्रायः अनाथ के रूप में पल-बढ़कर उन्होंने सबसे पहले समाज में अपना सही स्थान बनाने पर बल दिया और प्रायः इसी प्रयत्न में उनका सारा जीवन बीता। फलस्वरूप उनके दृष्टिकोण में एक ऐसा राजनीतिक तत्व आ समाया जो उन्हें माखनलाल और नवीन से अलग करता है। और यही कारण है कि उन्होंने राष्ट्रीय भावना की रचना प्रायः नहीं की। इस रूप में वे ठेठ मस्ती और जवानी के कवि हैं।

पर वर्मा पर उनकी सामाजिक राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव न पड़ा हो, ऐसा नहीं है। वे उनसे चाहे जितना कतराना चाहते रहे हों, पर परिस्थितियां उन्हें मुक्त करने को तैयार न थीं। इस कारण वर्मा के काव्य में—भाव और अभिव्यक्ति दोनों के स्तर पर ऐसी उक्तियां मिल जाती हैं जो उन्हें छायावादी कवियों के अत्यंत निकट ले आती हैं। एक उदाहरण लें :

पल-भर परिचित बन उपवन
परिचित है जग का प्रति कन
फिर पल में वही अपरिचित
हम तुम सुख सुषमा जीवन
है क्या रहस्य बनने में?
है कौन सत्य मिटने में?
मेरे प्रकाश दिखला दो
मेरा खोया अपनापन!

यह उनके पहले कविता-संग्रह 'मधुकण' का एक अंश है, जिसका प्रकाशन 1932 में हुआ था। 'प्रताप' में वर्मा की कविताएं 1917 के आसपास से ही प्रकाशित होने लग गयी थीं, गणेशशंकर विद्यार्थी, नवीन और प्रेमचंद जैसे राष्ट्रकर्मियों का उन्हें सान्निध्य प्राप्त हो चुका था, फिर भी उनका प्रारंभिक काव्य छायावाद की ही क्षीण प्रतिध्वनि प्रतीत होता है। इसका एक कारण यदि उनका अपने निजी सुख-दुःख से उलझाव है तो दूसरा कारण अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है। प्रयाग विश्वविद्यालय में बी. ए., एल. एल. बी. तक की शिक्षा प्राप्त करनेवाले वर्मा अपने समय में हिंदी साहित्यकारों में सर्वाधिक सुशिक्षित व्यक्ति कहे जा सकते हैं। इस शिक्षा ने उनकी कामनाओं और सपनों पर आधुनिक वैयक्तिकता का गहरा रंग चढ़ाया तो उनके मन में एकाकीपन का वह भाव भी भरा जो लगातार उन्हें 'मैं' का प्रयोग करने पर विवश करता रहा। यद्यपि वर्मा की एक अत्यंत प्रसिद्ध रचना है :

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले

पर इसमें प्रयुक्त 'हम' अनजाने रूप में नवीन के प्रभाव का ही परिणाम है, वह उनका प्रतिनिधि प्रयोग नहीं है। प्रायः उसी समय की उनकी रचना है जिसमें यह 'मैं' उजागर हुआ है :

मैं एकाकी—है मार्ग अगम
है अंतहीन चलते जाना
नभ में व्यापकता का संदेश
क्षिति में सीमा सेटकराना
उजले दिन काली रातों में
लय हो जाते हैं हास-रुदन
धुँधली बनकर इन आँखों ने
केवल सूनापन पहचाना
है उस जीवन का बोध असह
मैं निर्बलता से चूर प्रिये!

उर शंकित है पग डगमग है
तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!

'मैं' की यह अभिव्यक्ति अन्य कवियों से भिन्न प्रकार की है क्योंकि यह इकाई अपने सामाजिक परिवेश से निःसंग दिखायी देती है। यह इस बात की भी द्योतक है कि नवीन के मन का द्वंद्व यदि सामाजिक और व्यक्तिगत साधनों के बीच के तनाव में निहित था तो वर्मा का द्वंद्व 'मैं' और 'बाकी दुनिया' के बीच के तनाव में निहित है। सन् 1940 में मेरठ साहित्य परिषद में वर्मा ने जिस निबंध का पाठ किया था उसका शीर्षक इसीलिए 'मैं और मेरा युग' था, और यही कारण है कि हिंदी साहित्य में वर्मा अहंवादी लेखक कहलाते रहे हैं। वस्तुतः वर्मा अपने समय की सामाजिक हलचल को कर्मी अथवा योद्धा की भांति 'जुझारू' रूप में नहीं देखते, वरन् उसे अपने सपनों के लिए एक विषम बाधा के रूप में, अपने से अलग एक अवांछित आरोपण के रूप में देखते हैं। यही दृष्टिकोण उनमें दैन्य और विवशता का बोध उत्पन्न करता है और उस हलचल को नियति के समकक्ष मानने पर बाध्य करता है। अपने सच्चे काव्य में वर्मा विद्रोही अथवा कर्मवीर के रूप में नहीं आते, वरन् सामाजिक गति के दबाव से चूर असहाय व्यक्ति के रूप में ही प्रकट होते हैं। दृष्टव्य :

मेरे पैरों में गति, पलकों में है अतीत का अंधकार
मैं अपनी ही कमजोरी से टकरा जाता हूँ बार-बार

उनकी सबसे बड़ी कामना यही है कि काश, उनके समय की परिस्थितियां कुछ भिन्न, कुछ सरल होतीं ताकि वे अपने सपने सच कर सकते! पर उनसे जूझने का वे विचार नहीं करते, वे जानते हैं कि ऐसा संघर्ष उन्हें बिल्कुल ही उखाड़ देगा, इसीलिए वे उन्हें नियति का पर्याय मानकर अपनी निर्बलता कबूल कर लेते हैं। यही नहीं, वे ऐसी आत्मदया भी प्रकट कर उठते हैं जो आधुनिक समीक्षक को विव्रत करे देती है :

मैं एक दया का पात्र अरे
मैं नहीं रंच स्वाधीन प्रिये।
हो गया विवशता की गति में
बँधकर हूँ मैं गतिहीन प्रिये।

अपनी हीनता का यह भाव वर्मा में इतना बद्धमूल है कि वे अपने लौकिक प्रणयभाव में उसे समाविष्ट कर देते हैं :

कल सहसा यह संदेश मिला
सूने से युग के बाद मुझे
कुछ रोकर कुछ मोहित होकर
तुम कर लेती हो याद मुझे!

जिस विध ने था संयोग रचा
उसने ही रचा वियोग प्रिये
तुमको हँसने का भोग मिला
मुझको रोने का रोग प्रिये!
सुख की तन्मयता मिली तुम्हें
पीड़ा का मिला प्रसाद मुझे
फिर एक कसक बनकर अब क्यों
तुम कर लेती हो याद मुझे!

रोमांटिक प्रणय के कवि होते हुए भी वर्मा में निबिड़ समर्पण की अनुपस्थिति का कारण यही विवश हीन भाव है। जिसे वे पाप-पुण्य की समस्या का नाम देते हैं वह वस्तुतः योग-भोग की समस्या है। उनका प्रारंभिक भावनाट्य 'तारा' और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' इसे सिद्ध करता है।

और भोग-योग की यह टकराहट ही उनके मन में कभी 'जग की नश्वरता' का ज्ञान देती है और कभी ऐसे फक्कड़पन की ओर ले जाती है जब वे अपने सारे परिवेश से निवृत्त हो जाना चाहते हैं। उन्हें लगने लगता है कि सांसारिक जीवन में रहकर ज्ञान प्राप्त करना, कर्म करना, अथवा प्रेम में पड़ना, सब निस्सार है, सबको त्यागकर फकीर बन जाना ही उस तनाव को समाप्त कर सकता है जो उनके मन को मथता रहता है। नवीन से भी कहीं अधिक उत्कृष्ट रूप में वर्मा अपने-आपको इस संसार में एक 'एकाकी' ही नहीं, 'पराया' और 'बिराना' अनुभव करते हैं 'भैंसा गाड़ी', 'राजा साहब का वायुयान', 'ट्राम' आदि कविताओं में वे जिस सामाजिक चिंता और व्यंग्यशक्ति का परिचय देते हैं उसमें भी 'बिरानेपन' की यह निस्संगता और फक्कड़पन उपस्थित मिलता है। वस्तुतः वर्मा का समस्त काव्य सामाजिक कर्म से उपराम होने का तर्क बन जाता है। अपने ताजे वक्तव्यों में भी वे यही पुराना स्वर अलापते मिलते हैं :

चहल पहल की इस नगरी में हम तो निपट बिराने हैं
हम इतने अज्ञानी, निज को हम ही स्वयं अजाने हैं
इसीलिए हम तुमसे कहते
दोस्त, हमारा नाम न पूछो
हम तो रमते राम सदा के
दोस्त, हमारा गाम न पूछो
एक यंत्र-सा जो कि नियति के
हाथों से संचालित होता
कुछ ऐसा अस्तित्व हमारा
दोस्त, हमारा काम न पूछो
यहाँ सफलता या असफलता, ये तो सिर्फ बहाने हैं
केवल इतना सत्य कि निज को हम ही स्वयं अजाने हैं।

सामाजिक संघर्ष को अविचल नियति के रूप में देखना और उसमें योगदान के बजाय उससे विरत होकर, उसकी अनदेखी कर अपनी सहायता का रुदन करना, अथवा उस सबसे अपने-आपको अलग कर अबूझ और पराया बन जाना ही वर्मा के काव्य का प्रमुख रूप है। इसमें संदेह नहीं कि क्षणिक उमंग में बहकर वे अत्यंत कोमल प्रणय-भावों को भी प्रकट करते हैं और क्षणिक आवेश में संसार को ललकारने की भी सोचते हैं, पर उनकी स्थायी मुद्रा पराएपन और बेबसी की ही है, और क्योंकि इस मुद्रा के पीछे एक अत्यंत भावुक मन की उत्कृष्ट कामनाओं का संसार स्पंदित है, अतः यह मुद्रा कभी भी बहुत विश्वसनीय नहीं हो पाती।

हरिवंशराय 'बच्चन' (1907)

भोग और योग का ऐसा द्वंद्व बच्चन में नहीं है। उनके मन में पाप-पुण्य की भी वैसी उथल-पुथल नहीं है। यद्यपि बच्चन को अपने प्रारंभिक जीवन में प्रायः वैसे ही कष्ट उठाने पड़े और विषमताओं से वैसे ही दो चार होना पड़ा जैसे वर्मा को, तथापि बच्चन में उस आत्मदया या विवशता का जन्म नहीं हुआ जो वर्मा को निरंतर तंग करता रहा। इसका एक कारण तो है बच्चन की आर्यसमाजी पृष्ठभूमि, जिसके सुधारक रूप ने, ओछा ही सही, पर प्रगति का एक मार्ग दिखाया था। दूसरा कारण है असहयोग आंदोलन में बच्चन का भाग लेना, जिसके कारण उन्हें कुछ दिनों कारावास भी भोगना पड़ा। फलस्वरूप बच्चन के व्यक्तित्व में एक बलिष्ठता का समावेश हुआ और प्रायः वर्मा के समान परिस्थितियों में भी उनकी प्रतिक्रिया भिन्न हुई। बच्चन की प्रारंभिक रचनाओं में एक उत्कृष्ट और लंबी कविता है 'पगध्वनि' जिसका ठाठ बहुत कुछ छायावादी है। पर उसके अंतिम बंद में बच्चन स्पष्ट कर देते हैं कि वह केवल एक रूपक है :

उर के ही मधुर अभाव, चरण
बन स्मृतिपट पर करते नर्तन
गुंजित होता रहता मधुवन
मैं ही उन चरणों में नूपुर
नूपुर ध्वनि मेरी ही वाणी

इस बंद से हम अनायास ही बच्चन के काव्य का वास्तविक रहस्य समझ जाते हैं, उनकी कविता 'मधुर अभाव' की ही वाणी है। आगे चलकर उन्होंने फिर एक बार इस बात पर बल दिया है कि :

मैंने पीड़ा को रूप दिया
जग समझ मैंने कविता की

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक बल और

विश्वास के साथ बच्चन अपने अभावों और अपनी पीड़ा को अपने काव्य में व्यक्त कर सके। छायावादी प्रभाव के कारण संयम-असंयम की जो उलझन और असमंजसता उनके पूर्ववर्तियों को घेरे रही, बच्चन ने उसका कोई बंधन स्वीकार नहीं किया। अपने आत्म-परिचय में उन्होंने यह स्वीकार किया कि उन पर जगजीवन का भार है पर उन्होंने यह भी बताया कि वे प्यार में डूबे हैं और जग की परवाह नहीं करते :

मैं जगजीवन का भार लिये फिरता हूँ
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ

औ॰ जगजीवन के भार के बावजूद इस प्यार को महत्त्व देने के कारण ही बच्चन को यह बल मिलता है कि वे अपना एक निजी ससार निर्मित कर सकें और उसे अपनी सांसों के बल पर जीवित रख सकें । नवीन और वर्मा दोनों ने संसार से अपने पराएपन की बात कही, पर वह आवेशगत होने के कारण अर्धविश्वसनीय ही रही—बच्चन अपनी ऐकांतिकता अधिक संयत, अतएव प्रबल रूप में व्यक्त करते हैं :

मैं और, और जग और—कहाँ का नाता
मैं मिटा मिटा कितने जग रोज बनाता!
जग जिस पृथ्वी पर भोगा करता वैभव
मैं प्रति पग से उस पृथ्वी को ठुकराता!

अपने निजी संसार के प्रति यह मोह ही बच्चन को अंत में मधु की सृष्टि को ओर ले गया जिसके फलस्वरूप हिंदी में एक पूरे युग तक बच्चन और उनकी मधुशाला की धूम रही और बच्चन हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

बच्चन का यह निजी संसार यौवन की भावना, प्रणय की आकांक्षा और वैयक्तिक स्वप्नों का संसार है जिसे वे मधुशाला और मदिरालय के प्रतीकों से व्यक्त करते हैं। बच्चन अपने समय में इस भोले भ्रम के शिकार रह चुके हैं कि वे मदिरा का प्रचार करते हैं। पर धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि जिस मदिरा की वे बात करते हैं वह एक भावना है—यौवन, प्रणय और लालसा उसके अंग हैं। तन्मयता या बेहोशी मदिरा का सबसे बड़ा गुण है और अपने यौवन के संसार से वे जगजीवन के भार को निष्कासित करने के लिए ही मधु का प्रतीक अपनाते हैं। उन्होंने कहा :

भावुकता अंगूर लता से
खींच कल्पना की हाला

और इस प्रकार स्पष्ट किया कि भावातिरेक ही वह मधु है जिसका वे गान करते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि बच्चन की इस मधुचर्या में खैयाम की कविता का बहुत बड़ा हाथ है। उमर खैयाम की रुबाइयों का हिंदी अनुवाद तो पहले भी कई कवि कर चुके थे, पर जिस सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत परिवेश में बच्चन ने उसका अनुवाद प्रस्तुत किया वह तात्कालिक रूप से ऐसी निराशा में डूबा था कि मधु उससे बचने का अत्यंत सफल उपाय सिद्ध हुआ। यही कारण है कि अनुवाद के तुरंत बाद बच्चन ने 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' नामक तीन कविता-संग्रह प्रकाशित किये और समस्त विषमताओं का उत्तर जीवन, रूप और भावना के मधु से दिया। इसी के मिस उन्होंने कट्टर रूढ़िपंथियों, धर्मद्विषियों और प्रगतिविरोधी शक्तियों की भर्त्सना की और स्वप्नदर्शी एवं साकांक्ष यौवन की ऐसी अप्रतिहत प्रतिमा प्रतिष्ठित की कि बच्चन के साथ यौवन का अनुषंग चिरस्थायी हो गया। आज भी हिंदी के पाठक बच्चन को यौवन का ही कवि लेखते हैं और जब वे वृद्धावस्था की-सी भावना प्रकट करते हैं तो साधारण पाठक को कहीं गहरे में ठेस पहुंचती है।

प्रचलित प्रवाद के बावजूद बच्चन द्वारा प्रतिपादित यौवन रुग्ण अथवा अकर्मण्य यौवन नहीं है। वह अपने सपनों को साकार करने के लिए जूझने को उत्सुक है :

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ
चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ

इस स्वर में कर्मठता तो है ही इसकी लौकिकता भी द्रष्टव्य है जो छायावाद के अलौकिक आग्रह के प्रतिलोभ में है। यही कारण है कि बच्चन को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने छायावाद के प्रभाव में वायवीय हो जानेवाली हिंदी कविता को भूमि पर उतारा।

बच्चन अपनी इसी कविता में आगे यह दावा करते हैं कि 'हों युवक डूबे भले ही, किंतु डूबा है न यौवन' और ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा करते हैं :

नाव नाविक फेर ले जा
अब नहीं कुछ काम इसका
आज लहरों से उलझने
को फड़कती हैं भुजाएँ

यह नाविक और कुछ नहीं, प्रसाद का ही नाविक है जो भुलावा देकर धीरे-धीरे उस पार ले जा रहा था।

अपनी इसी बलिष्ठता के कारण बच्चन इस काल में अपने निंदकों और आलोचकों से जूझने में भी कसर नहीं रखते थे। वे ललकार कर कहते थे कि :

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी

और कि

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता!

इस उक्ति में छायावादी कवियों की ओर ही संकेत है जो अपनी युवा लालसाओं को गुप्त और अस्पष्ट रूप में ही व्यक्त होने देते थे।

इस प्रकार अपने हालाकाल में बच्चन एक ऐसे मधुसंसार का निर्माण करने में सफल हुए जो तात्कालिक दहन और वैषम्य के बीच एक सुरक्षित द्वीप के समान सिद्ध हुआ जिसमें कवि अपने मनोभावों को चरितार्थ कर सकता था। मधुशाला में बच्चन कुछ अप्रौढ़ रूप में प्रकट हुए हैं जिसके कारण उसमें उच्छ्वास की मात्रा अधिक है। पर उस कच्चे रूप में भी एक लुभावनी शक्ति निहित है जो पाठक को और विशेषतः श्रोता को इस त्रस्त जगत से दूर कर उनके मधुसंसार में ले जाने में समर्थ होती है। 'मधुशाला' की रंगीनी और प्रगीतात्मकता यद्यपि गहरी नहीं है, अनुप्रास की अनगिनत आवृत्ति उसे अंत में एक युक्ति का ही रूप दे देती है, तथापि उसमें कवि का आग्रह इतना सच्चा है कि वह प्रभावित किये बिना नहीं रहती। उसकी तुलना में 'मधुबाला' और 'मधुकलश' अधिक प्रौढ़ कृतियां हैं। इसीलिए उनमें कोरी मादकता नहीं है, तर्क और व्यंग्य का भी अच्छा समावेश है। 'मधुबाला' की 'इस पार उस पार' शीर्षक प्रसिद्ध कविता मस्ती और यौवन का अभिनंदन तो है ही, वह उस पार की अपेक्षा इस पार के महत्त्व का भी गायन है। इसी संग्रह में बच्चन यह स्पष्ट करते हैं कि :

तेरा मेरा संबंध यही
तू मधुमय, औ' मैं तृषित हृदय!

अपनी प्यास को तृप्त करने में सभी बाधाओं और मर्यादाओं को चूर-चूर करने का आह्वान बच्चन का प्रतिपाद्य है। 'मधुकलश' इसी भाव का विस्तार है, यद्यपि उसमें 'मेघ' शीर्षक कविता सिद्ध करती है कि बच्चन का मधुसंसार अब विनष्ट हो रहा है, वह कितना ही मादक रहा हो, पर स्थायी नहीं है।

नरेंद्र शर्मा (1913)

बच्चन के अनुवर्ती होकर भी नरेंद्र शर्मा के काव्य का पहला चरण बच्चन का ही सहचर रहा, और इसलिए यद्यपि उनकी अधिकांश रचनाएं छायावादोत्तर प्रगतिवादी दौर में पड़ती हैं, तथापि उनका पूर्वरूप मस्ती और यौवन की काव्यधारा की परिणति का ही रूप है। एक प्रकार से नरेंद्र शर्मा का काव्य दो विभिन्न युगों की संधि पर प्रतिष्ठित है, और यह उनके काव्य के सामर्थ्य का ही प्रमाण है कि उनके बाद जो कवि हुए उन पर नरेंद्र शर्मा का उल्लेखनीय प्रभाव रहा । शमशेरबहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल आदि प्रयोगवादी कवियों ने उनके इस प्रभाव को सहज स्वीकारा है।

प्रयाग विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा-दीक्षा पूरी करके नरेंद्र शर्मा ने सक्रिय राजनीति में रुचि लेना शुरू किया और उनकी जीवनचर्या ने कई विचित्र मोड़ लिए। ये घटनाएं चर्चित युग से बाद की होने के कारण यहां विचारणीय नहीं हैं। नरेंद्र का प्रारंभिक काव्य उनके शैक्षिक जीवन के ही समय रचा गया था और हम यहां उसी पर दृष्टिपात करेंगे।

माखनलाल से लेकर बच्चन तक के सभी कवियों में—न्यूनाधिक रूप से—अपने जनों का नेतृत्व करने की-सी एक भंगिमा, द्रष्टा की-सी एक मुद्रा पायी जाती है जो उनके काव्य को बहुधा उद्‌बोधनात्मक बना देती है और उनके काव्य में स्फीति और उच्छ्वास का पुट जोड़ देती है। पर नरेंद्र में युवावस्था तक आते-आते देश की सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों में नेहरू की सक्रियता के कारण एक नया उत्साह और आशावाद आ समाया था जिसके कारण नरेंद्र शर्मा इस भंगिमा से अछूते न रह सके। फलस्वरूप, नरेंद्र का काव्य-व्यक्तित्व अधिक सहज और कोमल हो सका। वे मध्यवर्गीय मन की व्यक्तिगत कामनाओं और आकांक्षाओं को न तो विद्रोह का-सा रूप देते हैं और न उनसे छुटकारा पाने के लिए बेचैन होते ही मिलते हैं। इस सहज स्वीकार के कारण नरेंद्र में प्रगीतात्मकता का आधिक्य मिलता है और वे अपने युवा नयनों से इस जीवन और जगत् के सौंदर्य को, निजी सपनों और आशा-निराशाओं को उनकी अपनी विशेषताओं में देख सके हैं। नरेंद्र शर्मा पहले कवि हैं जिनकी रचना में हमारे साधारण जीवन के दैनिक कार्यकलाप भी महत्त्वपूर्ण स्थान पा जाते हैं। यही कारण है उनकी रचनाओं में कच्चे सपनों की ताजगी और रंगीनी तो है, यौवन के सौंदर्य और प्रणय की लगन का मर्मस्पर्शी चित्र तो है, पर उस प्रकार की छद्म अथवा आयातित मस्ती अथवा मादकता नहीं जो उनके पूर्ववर्तियों में मिलती है। और इसी कारण नरेंद्र शर्मा प्राकृतिक दृश्यों की छोटी-छोटी सुंदरताओं को भी शब्द देने में सफल हो जाते हैं। उनके प्रथम दो काव्य-संग्रह 'कर्णफूल' और 'शूलफूल' यद्यपि अशक्त रचनाओं से रहित नहीं थे, तथापि उनमें एक प्रीतिकर सादगी और ताजापन था जो

युवा मन की रंगीनी को उसके प्रकृत रूप में ग्रहण कर सका था। बाद में नरेंद्र ने इन संग्रहों की श्रेयस्करी रचनाओं के साथ कुछ नई कविताएं जोड़कर 'प्रभातफेरी' (1938) नामक संग्रह प्रकाशित कराया। अगले दो वर्षों में उनके दो और संग्रह प्रकाशित हुए 'प्रवासी के गीत' और 'पलाशवन'। तीनों ही संग्रहों में वे गुण भरपूर हैं जो नरेंद्र को अपने अल्हड़ और युवा मन को सहज रूप से अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं। इन संग्रहों में हमें पहली बार लौकिक प्रणयलीला के मनोरम और बेझिझक चित्र मिलते हैं—प्रणय का निवेदन, संयोग का माधुर्य, विरह की व्यथा। इन रचनाओं में यौवन का स्वरूप मांसल भी है और व्यर्थ की दार्शनिकता से भी मुक्त है। कुछ अंश द्रष्टव्य हैं :

गुन गुन प्रिय के गुणगण गाने
बन गया मधुपमन कर्णफूल

तुम दुबली पतली दीपक की लौ-सी सुंदर
मैं तुम्हें समेटे हूँ अपनी सौ-सौ
बाँहों में, मेरी ज्योति प्रखर

आज न सोने दूँगी बालम
आज अभी से सो जाओगे
अभी नहीं सोए हैं तारे
उत्सुक हैं सब सुमन सेज के
एक तुम्हीं हो अधिक निंदारे
फूलों के तन से कस लूँगी
अलि से रैन निंदारे बालम

वियोग के दुःख की अभिव्यक्ति करते हुए नरेंद्र शर्मा का लंबा गीत आज के 'बिछुड़े न जाने कम मिलेंगे' तो अपने समय में अत्यंत लोकप्रिय हो गया था।

इस सहजता के कारण नरेंद्र की भाषा बेधक और मार्मिक होते हुए भी बोलचाल की भाषा से बहुत दूर नहीं है। साथ ही उसमें वह ऊबड़खाबड़पन भी नहीं है जो माखनलाल अथवा नवीन ने प्रदर्शित किया था। नरेंद्र की शब्दावली कोमल और संयत है, वह न लड़खड़ाती है, न उफनती है। इसी प्रकार वे अपने उपमान, प्रतीक और बिंब भी अपने परिवेश से और अपने आस-पास के जगत् से ले लेते हैं और उनमें एक नयी व्यंजकता का योग करने में सफल होते हैं। दुःख और कष्ट की अभिव्यक्ति भी वे किसी गहन त्रास के रूप में नहीं वरन् कोमल अवसाद के ही रूप में प्रस्तुत करते हैं :

अब तो तुम्हें और भी मेरी याद न आती होगी

फिर-फिर रात और दिन आते
फिर-फिर आता सांझ सबेरा
मैंने भी चाहा, फिर आए
बिछुड़ा जीवनसाथी मेरा
पर मेरे जीवन का साथी
छूट गया सो छूट गया।

ऐसा ही कोमल, सहज स्पर्श उनके प्रकृतिचित्रों में है :

पकी जामुन के रंग की पाग
बाँधकर आया सो आषाढ़

शांत है पर्वत समीरण, मौन है यह चीड़ का वन भी
बालकों की बात सी आई गई सी हो गई है बात

मैंने देखा मैं जिधर चला
मेरे सँग-सँग चल दिया चाँद

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नरेंद्र में भावों की गहराई तो है पर उसमें आवेश का वेग नहीं है। निराशा अथवा दुःख में भी वे पागल नहीं होते, अथवा विस्मृति नहीं खोजते, वरन् अपने मन को प्रबोध देकर धीरज देने लगते हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण नरेंद्र अपने समसामयिक युवकवर्ग का बड़ा सच्चा प्रतिनिधित्व कर सके हैं। और यही कारण है कि सन् 1940 के आसपास ही वे अपने समय की प्रवृत्तियों और तनावों में पड़कर काव्य के उस पथ पर पहुंच जाते हैं जो कर्म और संघर्ष की ओर जाता है। वे पहचान जाते हैं कि व्यक्तिवाद का जो स्वरूप उनके मन में है वह अकेले रहकर सार्थकता नहीं पा सकता और इसीलिए वे बृहत्तर सामूहिक जीवन की ओर आकर्षित हो जाते हैं। और इस प्रकार वे इस धारा के अंतिम प्रमुख कवि सिद्ध होते हैं।

कुछ अन्य कवि

ऊपर जिन कवियों की चर्चा की गयी है, उनके अतिरिक्त कुछ और भी कवि हैं जिन्होंने इस काव्यधारा में उल्लेखनीय योगदान किया है, यद्यपि नाना कारणवश उनकी काव्यचर्चा उपलब्धि के शिखर तक पहुंचने में असमर्थ रही। वस्तुतः प्रत्येक काव्यधारा में ऐसे अनेक कवियों का स्वभावतः सहयोग होता है जो समकालीन परिस्थितियों के प्रति समान प्रतिक्रिया करते हुए उस धारा को आगे बढ़ाने में सहायक तो होते हैं पर जिनका निजी वैशिष्ट्य इतना प्रबल

नहीं हो पाता कि वे धारा में दूर से ही चमक सकें। मस्ती और जवानी के इन कवियों में उल्लेखनीय हैं : गोपालसिंह नेपाली (1902), हृदयनारायण 'हृदयेश' (1905), हरिकृष्ण प्रेमी (1908), पद्मकांत मालवीय (1908) और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (1915)। इस प्रकार अपने आविर्भाव क्रम से भी ये पूरे छायावाद युग में बिखरे हैं। वस्तुतः अंचल तो नरेंद्र शर्मा की ही भांति अगले युग में भी सार्थक काव्यसर्जन से रत रहे।

गोपालसिंह नेपाली ने यद्यपि अपेक्षया कुछ देर से ही काव्य-रचना आरंभ की, उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'उमंग' 1934 में ही प्रकाशित हुआ, तथापि भाषागत रंगीनी और चित्रात्मकता के कारण, भावगत मस्ती और सचाई के कारण एवं अपनी सुमधुर शैली के कारण वे अपने समय के अत्यंत लोकप्रिय कवि रहे और उनके गीत पहले कवि-सम्मेलनों में और फिर चलचित्रों में श्रोताओं को मुग्ध करते रहे। वस्तुतः लोकप्रियता ही एक प्रकार से उन्हें काव्यपथ पर ऊंचे चढ़ने से रोकती रही क्योंकि वे अपनी रचना को तत्कालीन अपढ़ जनता के स्तर तक रखने को बाध्य रहे। उनकी रचनाओं में यौवन की उमंग और मादकता का स्वच्छंदवादी रूप तो मिलता ही है, उनमें प्राकृतिक सुषमा के भी अत्यंत रमणीय चित्र मिलते हैं। उनके गीतों में सरल प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा प्रणय-प्रसंगों का सरस वर्णन हुआ है।

'हृदयेश' की काव्य-चर्चा दीर्घ काल में फैली हुई है, पर उनके काव्य को कभी एकांत वैशिष्ट्य उपलब्ध न हो सका। वे उर्दू के भी अधीत विद्वान् हैं और संस्कृत के भी। यही नहीं, उन्होंने अपने युग में प्रचलित प्रायः सभी काव्य-शैलियों में रचना की है, पर यह वैविध्य उनके अपने व्यक्तित्व की निजता स्थापित करने में सहायक न हो सका। उर्दू के छंदों का भी उन्होंने यथेष्ट प्रयोग किया पर उनकी रचनाओं में उर्दू की बेधकता का प्रायः अभाव रहा। उनकी उल्लेखनीय रचनाएं वे ही हैं जिनमें जीवन की करुणा को प्रगीत रूप मिला है। उन्होंने कुछ रचनाओं में हालावादी भावना भी प्रकट की है।

हरिकृष्ण प्रेमी हिंदी साहित्य में प्रायः नाटककार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं यद्यपि उन्होंने अपनी चर्या का प्रारंभ काव्य-रचना से ही किया था। राष्ट्रभक्त परिवार में जन्म पाकर उन्होंने देशभक्ति की भावना भी ग्रहण की और कुछ दिनों माखनलाल चतुर्वेदी के साथ संपादन कार्य भी किया। फलस्वरूप उनके काव्य में लौकिक प्रणय की कसक और यौवन की मादकता का सहज ही समावेश हो गया। पर वे अपनी काव्य रचनाओं में किसी एक ही प्रवृत्ति में बंधकर न रह सके और कई दिशाओं में प्रयत्न करते रहे। उनके काव्य-संग्रहों में 'आंखों में' (1930) का विशिष्ट स्थान है जिनमें उनके उपनाम के ही अनुरूप प्रेम की वेदना को मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कविता में व्यथा का अतिरेक है और आत्मसमर्पण की विकलता। प्रेमी वस्तुतः प्रणयनिवेदन के ही कवि हैं। उनकी शैली और शब्दयोजना छायावाद के ही आसपास मंडराती रहती है,

यद्यपि छायावाद की सूक्ष्मता और तिर्यक् बेधकता का उसमें अभाव है। फिर भी उसमें साहस और संकल्प की झलक अवश्य मिलती है। यथा :

पत्थर के टुकड़े में भी तो
मिलता प्रियतम का आभास
उठा हृदय पर रख लेता हूँ
करता रहे जगत् उपहास

पद्मकांत मालवीय का संबंध ऐसे परिवार से रहा है जिसे राष्ट्रीय गौरव का वरदान मिला है। परंतु मालवीय की प्रमुख उपलब्धि पत्रकारिता के ही क्षेत्र में हुई और 'अभ्युदय' का संपादन कर उन्होंने अपने समय के राजनीतिक आंदोलन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान किया। काव्य के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया जब अपने समय के नैराश्यपूर्ण वातावरण में उन्होंने उमर खैयाम के हालावाद से प्रेरणा पाकर स्वयं भी उसी प्रकार की रचनाएं प्रस्तुत कीं। सरल, उर्दूमिश्रित शैली में मन के भावों की स्वच्छंद अभिव्यक्ति हमें उनके संग्रह 'प्याला' में उपलब्ध होती है। तथापि काव्यसर्जन में पद्मकांत कुछ अन्यमनस्क ही रहे और हालावाद के प्रर्वतकों में होकर भी अपने काव्य को किसी विशिष्ट स्तर पर न पहुंचा सके।

चर्चित काव्यधारा के अंतिम चरण में प्रकट होकर भी अंचल ने एक ऐसे वेग और बल का प्रमाण दिया जो उनका विशिष्ट अवदान बना । उनकी रचनाओं में यौवन की उद्दामता और प्रणय की उत्कट वासना को बड़ी ही मांसल और आग्रहपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। पर इन गुणों के ही कारण अंचल की रचनाओं में एक प्रकार की स्फीति और पुनरावृत्ति भी मिलती है और उनकी एक कविता से दूसरी को भिन्न करना कठिन हो जाता है। अंचल मुख्यतः प्रेम के नहीं, तृष्णा के कवि हैं, उनकी भंगिमा निवेदन अथवा समर्पण की नहीं है, आग्रह की होती है। उनमें एक प्रकार की आक्रामकता है जो उनके काव्य में कोमल भावों की अभिव्यक्ति को भी ओजपूर्ण कर देती है। यही कारण है कि वे नरेंद्र शर्मा के समवर्ती होकर भी उनसे इतने भिन्न हैं। उनके मनोगगन में मानो सर्वदा लालसा का अंधड़ चक्कर लगाता रहता है जो उन्हें अस्थिर और अधीर किये रहता है। उनकी शब्द-योजना भी उसी प्रकार आवेशमयी होती है। कोमल करुण भाव अथवा सांकेतिकता के उनकी रचनाओं में कभी-कभी ही दर्शन होते हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि तृषाकुल मन के मंथन को रूप देने में वे काफी सफल हुए हैं।

विवेच्य काल के छोर पर प्रकाशित अंचल के दोनों काव्य-संग्रह—'मधूलिका' (1938) और 'अपराजिता' (1939)—में उनकी रचना की ये विशेषताएं सहज ही पहचानी जा सकती हैं। यौवन की तृष्णा, यौवन का उन्माद और वासना की प्रखरता यदि इन संग्रहों की कविताओं को धार देती है तो लंबे-लंबे

छंदों का प्रयोग, शब्दों का घटाटोप और बाह्य क्रियाकलाप एवं दैहिक रूप पर उनका बलाघात यह सिद्ध करता है कि ये कविताएं प्रेम की कविताएं न होकर, मन के अंधड़ की कविताएं हैं। कहीं-कहीं तो अंचल का स्वर इतना अतिरंजित हो जाता है कि उनकी रचनाओं में प्रणय की अनुभूति की अपेक्षा अतृप्त प्रणय की ललक ही प्रकट होती है। प्रेयसी को देखते ही कवि कह बैठता है :

एक पल के ही दरस से
जग उठी तृष्णा अधर में

—मधूलिका

यह अभिव्यक्ति अपने मौलिक खुलेपन में यदि आग्रहशील है तो वासना के उन्माद का प्रकाश होने के कारण क्षणिक और एकांगी है। वस्तुतः अंचल अपने काव्य में सर्वत्र इसी भंगिमा का सहारा लेते हैं तथा मस्ती और मदिरा की चर्चा करते समय भी अतृप्ति और अभाव को नहीं भूल पाते। 'अपराजिता' की एक कविता में वे अचानक अपना स्वर बदलकर कुछ अंतर्मुख हो जाते हैं और तब उनके मन का सच्चा भाव स्पष्ट हो जाता है :

कौन शून्यता दूर करे जो अंतर में घिरती आती
इतना प्यार भरा घर-घर में किंतु तृषित मेरी छाती
जब घर का सूना-सा आलम हाल हिए का क्या कहिए
बिना पिए तूफान उमड़ता, पीकर प्रिये कहाँ रहिए!

यहां अंचल का वह शाब्दिक समारोह सहसा तिरोहित होता-सा जान पड़ता है। अन्यत्र वे अपनी प्रेयसी के रूप-वर्णन और हाव-भाव चित्रण में जिस प्रकार धरती-आसमान एक कर देते हैं और अपनी आकांक्षा की वेदी पर अपना सारा काव्य-संसार चढ़ाते दिखायी पड़ते हैं वह कितनी बड़ी आत्मवंचना है, यह इस कविता से स्पष्ट हो जाता है।

एक प्रकार से अंचल इस प्रवृत्ति की परिणति के भी बड़े सटीक उदाहरण हैं। सामाजिक यथार्थ से जूझने और वैयक्तिक आकांक्षाओं को सिद्ध करने के लिए कवियों का जो दल इस पथ पर आ निकला था, उसे धीरे-धीरे यह पता चल गया कि वह एक निजी संकीर्णता में घिरता जा रहा है और बाहरी यथार्थ के आगे नितांत अवश एवं असहाय होता जा रहा है। कुछ दिनों तक तो उसने मस्ती अथवा ऐकांतिकता की मुद्रा अपनाकर अपने-आपको भुलावे में डालने की चेष्टा की पर शीघ्र ही वह जान गया कि उसकी निजी एवं वैयक्तिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भी सामाजिक क्रांति आवश्यक है। यही कारण है कि जब 1938-40 के आस-पास हिंदी में प्रगतिशील प्रवृत्ति का दौर चला तो अंचल, नरेंद्र शर्मा और शिवमंगल सिंह 'सुमन' जैसे प्रणय और यौवन के

कवि तुरंत ही उस नये पथ पर चल पड़े एवं पीड़ितों और शोषितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने में बड़े उत्साह से जुट गये। उनके काव्य में यह आकस्मिक मोड़ उनके मन की रंगीनी की कलई खोल देता है। प्रगतिवाद ने जिस काव्यप्रवृत्ति को पलायनवाद का नाम दिया था, वह छायावादी कवियों में नहीं अपितु चर्चित प्रवृत्ति के कवियों में ही प्रकट हुई थी।

[रचनाकाल 1969, 'हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास', दशम भाग 1971 में संकलित, 'कवि की दृष्टि' में भी संकलित।]

दिनकर : आत्मा की ऋतुओं का कवि
(एक बातचीत)

डा. रामधारी सिंह, जो अपने दिनकर 'उपनाम' से अधिक ख्यात थे, किसी भारतीय रचनाकार को मिल सकनेवाले सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान—ज्ञानपीठ-पुरस्कार (1973) से पुरस्कृत थे। इस तरह वे मलयालम कवि जी. शंकर कुरुपा, बंगला उपन्यासकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय तथा उर्दू शायर रघुपति सहायक 'फिराक गोरखपुरी' जैसे अहम्मन्य रचनाकारों की श्रेणी में आ गये थे। पिछले चार दशकों से हिंदी कविता के क्षेत्र में सक्रिय दिनकर, तीसरी दशाब्दी के प्रारंभिक वर्षों में अपनी देशभक्तिपूर्ण क्रांतिकारी चेतनावाली, उद्‌बोधक कविताओं से प्रख्यात हुए। रुमानी और रहस्यवादी कविता आंदोलन—छायावाद के अंतिम दिनों में उभरते कवि दिनकर ने एक साथ सहज और स्पंदनशील भाषा का प्रयोग कर कविता को जनाकांक्षाओं से प्रतिश्रुत किया और काव्य का ढांचा ही बदल दिया। इसने उन्हें राष्ट्रकवि (युग-गायक) की गौरवपूर्ण उपाधि दिलायी।

लेकिन दिनकर अपने युग के गायक के अतिरिक्त भी बहुत कुछ थे। ऊंचे स्वरों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन के गान गाते हुए भी वे जीवन-मूल्यों के टकराव से उपजे वैयक्तिक त्रास और बेचैनी से नहीं बच सके जिसकी परिणति उनकी रचनाओं में हमेशा पाये जानेवाले तनाव में हुई।

दिवास्वप्न देखनेवाले रोमांटिकों और नारेबाजी करते 'प्रगतिवादियों' के बीच भटकते दिनकर ने जल्द ही वह निजत्व प्राप्त कर लिया जो इन दो बिंदुओं के मध्य में कहीं स्थित था। वे अपने उस जन को कभी नहीं भूल सके जिसके कष्टों को वे मर्मभेदी अभिव्यक्ति देते थे और न ही सुंदर के चिंतन और आत्म-विश्लेषण की ओर ले जानेवाली अपनी आत्मोत्कंठा और छटपटाहट से उन्होंने मुंह मोड़ा। इस तरह दिनकर हिंदी के 'राष्ट्रकवि' मैथिलीशरण गुप्त से विविध रूप में जिनका उन्होंने स्थान लिया, बहुत भिन्न थे।

दिनकर की काव्य रचनाओं में सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए हिंसा के प्रयोग पर (वाद-विवाद) विचार करती (करनेवाली) लंबी कविता 'कुरुक्षेत्र' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। रचना पर 'पथ के खोजी' प्रयोगवादियों का गहरा प्रभाव

है। वह वर्तमान सामाजिक स्थितियों और समस्याओं को समझने के लिए पौराणिक आख्यान (कविता बहुपरिचित महाभारत कथा पर आधारित है) के प्रयोग के लिए जानी जाती है। कविता को असाधारण शक्तिशाली कोण (आयाम) देते हुए कवि ने आधुनिक विज्ञान और टेकनॉलॉजी द्वारा लायी गयी भौतिक प्रगति को जांचते-परखते हुए, वर्तमान समाज को बांधनेवाली शक्ति के रूप में प्रेम और सहानुभूति के महत्त्व पर बल दिया है। पारंपरिक छंदानुशासनवाली कविता से लेकर तब के नये फैशन मुक्तछंद तक के सभी काव्यरूपों का कुशल शिल्पी की दक्षता से निर्वाह करनेवाले बहुविध प्रयोग भी उस कविता के आकर्षण का कारण रहे हैं।

वर्तमान समाज को पौराणिक कथा के सहारे समझने के बहुत बाद में किये गये एक दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न—'उर्वशी' (1961) पर उन्हें 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिला। कई मानो में 'उर्वशी' उनकी प्रारंभिक रचना कुरुक्षेत्र से बिल्कुल ही भिन्न है, क्योंकि वह मुख्य रूप से वैयक्तिक प्रेम और सुख तथा इनमें 'काम' की भूमिका पर विचार करती है। ये दोनों कृतियां मिलकर उस द्वैत का प्रतिनिधित्व करती हैं (को स्पष्ट करती है) जो दिनकर थे।

भ्रमों भरे (मायावी) नेहरू युग के अंतिम काल की वह रचना तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग के सरोकारों का उल्लेखनीय प्रतिबिंब है। इसी वजह से उसे युवा पीढ़ी के समीक्षकों की कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा, क्योंकि स्वाभाविक रूप से वे समकालीन रचना में अपनी तात्कालिक समस्याओं का अंकन चाहते थे।

इसके बावजूद, 'उर्वशी' सच्चे सुख की आंतरिक खोज मे लगे कवि की—यथार्थ (निष्कपट) अभिव्यक्ति होने के साथ काव्य तत्व की दृष्टि से भी परिपूर्ण है। जिस साहस और दृढ़ता से कवि ने हमारे समाज में स्त्री-पुरुष संबंध और व्यक्ति के जीवन में कामसुख की भूमिका की पड़ताल की, वह हिंदी साहित्य में अपूर्व है और दिनकर जैसे कवि-व्यक्तित्व की काव्ययात्रा का यथायोग्य स्वाभाविक चरम परिणति (उत्कर्ष) भी।

इसीलिए हाल ही में उनसे हुई नीचे प्रस्तुत मेरी बातचीत का केंद्र बिंदु 'उर्वशी' रही :

भारतभूषण : आप देशभक्ति और सामाजिक क्रांति के कवि रहे हैं, (ओज) शक्ति और पराक्रम (प्रखरता) आपकी कविता के मुख्य तत्व रहे हैं, फिर उर्वशी जैसी प्रेम और सौंदर्य की काम और आध्यात्मिकता के आश्चर्यजनक बिंबों से भरी लंबी कविता लिख सकने लायक मृदु (कोमल) (सौम्य) कैसे हो सके आप?

दिनकर : वह तो शेक्सपियर से कुछ यों पूछना हुआ कि वह मेकबेथ और रोम्यो जूलिय दोनों कैसे लिख सका। मैं कोई अपवाद नही हूं। ऐसे बहुत से कवि हुए हैं जिनके हृदय में एक साथ उत्तर और

दक्षिण ध्रुव वास करते थे और आत्मा में चल रही ऋतु के अनुसार वे इस या उस ध्रुव से बोलते थे। जब 'रेणुका' (1935) और 'हुंकार' प्रकाशित हुए तब मुझमें क्रांति और देशभक्ति का प्रमुख स्वर माना गया—कह लो—युग की आवाज, लेकिन लोगों का ध्यान उन पंक्तियों पर नहीं गया जिनमें मैं अपना भविष्य देख रहा था।

मैं राजनीति की उस ऊहापोह और आपाधापी में नहीं डूबना चाहता था जो देश को हिला रही थी। लेकिन वह इतिहास का महान समय था। भारत, महात्मा गांधी के नेतृत्व में दासता की बेड़ियां तोड़ने के लिए (कड़ी मेहनत से) जूझ रहा था। भले ही आप जेल न गये हों, स्वयं को इस संघर्ष से दूर कैसे रख सकते थे।

कला की दृष्टि से महज आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं ही देखना पर्याप्त नहीं था। मानव हृदय की सौंदर्यपरक और आध्यात्मिक आकांक्षाओंवाली ज्यादा उदात्त विषयवस्तु भी थीं ही। लेकिन गांधीजी द्वारा प्रज्ज्वलित की गयी वह अग्नि ऐसी भीषण और शुद्ध थी कि ऐसी उदात्त विषयवस्तुएं भी सहज ही उस लपट में हवन हो गयीं।

जब भी मेरी नयी क्रांतिकारी कविता छपती, मैं जीवंत बम फोड़ने का संतोष प्राप्त करता। लेकिन साथ ही मैं हाथीदांत की मीनार में बैठ मधुर गान गानेवाले कवियों से भी ईर्ष्या करता और कई बार तो उनका अनुकरण भी करना चाहता। लेकिन धरती की पुकार मेरे लिए ज्यादा असरदार थी। जब भी मैं ऊपर खूब ऊंचे बादलों में उड़ने का प्रयत्न करता, धरती के कष्टों की गूंज वहां भी पहुंच जाती और मैं पंखहीन पक्षी की तरह नीचे वहां पहुंच जाता जहां विप्लव था, हलचल थी।

प्रारंभिक दिनों से ही मैं दो विभिन्न दिशाओं की ओर खिंचता रहा। एक ओर जनसागर को आंदोलित कर रहे महान क्रांतिकारी भावावेगों के लिए सही शब्दों की खोज की आकुलता थी। दूसरी ओर उन चीजों के गीत गाने की आकांक्षा थी जो बस सुंदर हैं और इस दुनिया के लिए जिनका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। इकबाल सरमोहम्मद इकबाल और रवींद्रनाथ टैगोर इन धाराओं के दो जीवंत प्रतिनिधि कवि थे, और दोनों ने ही मेरी युवा चेतना को गहराई तक प्रभावित किया।

जब आप अपने निर्माण काल में हों, तब आपको वह कवि खोजना पड़ता है जिसे आप सबसे अधिक पसंद करते हैं। एक के बजाय मैंने दो खोज लिए थे। मैं उन्हें इतना अधिक

पसंद करता कि एक से दूसरे और दूसरे से एक की ओर यात्रा करना मेरे लिए स्वाभाविक था।

जब 'रेणुका' और 'हुंकार' प्रकाशित हुईं, लोगों ने मुझे देशभक्त और क्रांतिकारी कहा। लेकिन एक वर्ष बाद जब 'रसवंती' और 'द्वंद्व गीत' प्रकाशित हुए तब लोगों में फुसफुसाहट हुई कि मैं भी पलायनवादी हो गया। लेकिन दोनों संबोधन मेरे लिए अर्थहीन थे। मैं कवि था और अलग-अलग अंतरिक्षों से बोल रहा था—सब मुझसे समाहित थे।

भारतभूषण : उर्वशी में कामाध्यात्म के विवेचन पर हिंदी में काफी चर्चा हो चुकी है। क्या आप स्पष्ट कर सकते हैं कि इसका क्या अर्थ (तात्पर्य) है? क्या यह कहा जा सकता है कि इसका अर्थ कामोन्मुख (विषयोन्मुख) (वासनात्मकपरक) आध्यात्मिकता है?

दिनकर : इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। मैं नहीं जानता कामाध्यात्म 'उर्वशी' से कैसे जुड़ा लेकिन इस संस्कृत शब्द में (विषयों) कामोन्मुख आध्यात्मिकता का अर्थ तो निश्चित ही निहित नहीं है। यहां तक कि—म्यूको स्प्रिच्युअल—शब्द भी जो आल्डुअस हक्सले ने आविष्कृत किया—कामाध्यात्म का पर्याय नहीं, दूर का संबंधी ही हो सकता है। मनुष्य की वासना वही नहीं जो पशु में है। रतिक्रीड़ा करने के लिए मनुष्य को किसी विशेष ऋतु की जरूरत नहीं होती और न ही वह केवल प्रजनन के लिए संभोग करता है। नैसर्गिक सुख (चरम सुख) के लिए भी उसका अपना औचित्य है। यह दृष्टिकोण उर्वशी का है जो देवी और अप्सरा है।

जहां तक पुरुरवा का संबंध है, वह स्त्री को भोगना चाहता है पर साथ ही उसका अतिक्रमण भी करना चाहता है। मनुष्य ने ईश्वर की कुछ ऐसी परिकल्पना की है कि जल पर चलते हुए भी उसके पांव गीले नहीं होते। पुरुरवा यही भूमिका निभाना चाहता है। वह कल्पना करता है कि उसकी बांहों में झूल रही लड़की युवा स्त्री नहीं बल्कि प्रार्थना की एक कविता है।

यह सही है कि उर्वशी में प्रेम का प्रस्तुतीकरण बहुत ऊंचे धरातल पर हुआ है जो कभी-कभी आत्मा के धरातल तक पहुंचता (से मेल खाता) प्रतीत हो सकता है, लेकिन यह कहीं नहीं कहा गया कि काम क्रीड़ा आत्मचेतना प्राप्त करने का माध्यम है। उर्वशी वह जरूर कहती है कि ईश्वर प्रकृति-विरोधी नहीं है, जिस स्त्री ने मनुष्य को जाना है, ईश्वर को भी जान सकती है। इसी तरह पुरुष आत्मचेतना प्राप्त करने के अयोग्य नहीं हो जाता कि उसने स्त्री का सान्निध्य प्राप्त किया है।

उर्वशी न तो कामशास्त्र का और न ही आध्यात्मिकता का गुटका है। लेकिन वह इस भ्रम को जरूर तोड़ती है कि आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति के आकांक्षियों के लिए काम निषिद्ध (अवांछनीय) है। काम-सुख मात्र पशुत्व के स्तर पर ही नहीं भोगा जाता। काम-सुख (वासना) की आकारहीन तरंगें, तन और आकार की तरंगों से शायद अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

उर्वशी लिखते समय मैं पारलौकिक अनुभवों से प्रेरित नहीं था। दो प्रेमी जब चेतना के उच्च धरातल पर मिलते हैं तब उनकी आत्मा और मस्तिष्क की गहराइयों में, शारीरिक कंपनों की जो अनुगूंज तरंगायित होती है, उसकी गहराइयों को शोधना मेरा एकमात्र उद्देश्य था। प्यार हमें पारलौकिक उंचाइयों तक ले जा सकता है, अगर हम शारीरिक चेतना का अतिक्रमण कर सकें। लेकिन यह अनुभव बहुत विरल है और स्वतःस्फूर्त ही हो सकता है। अकृत्रिम प्रेम में हमें भौतिक धरातल से पारलौकिक धरातल पर पहुंचा देने की क्षमता है। काम (निर्मल काम) जब शोध लिया जाता है तब वह आध्यात्मिक अनुभव के समान हो जाता है।

भारतभूषण : उर्वशी के मिथ का चरित्रांकन करने के पीछे क्या था? आपने मिथक का केवल भाष्य किया है अथवा उसे आधुनिक जीवन को समझने के लिए प्रयोग किया है?

दिनकर : भाष्य के लिए नहीं, समझने के लिए। स्त्री के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक जिसे हम लक्ष्मी कहते हैं और दूसरा जिसे अप्सरा। जब लक्ष्मी पक्ष प्रधान हो जाता है तब स्त्री त्याग करती है, वह सेवा करती है और संरक्षण देती है; जब अप्सरा पक्ष प्रधान होता है तब वह स्त्री हमें मोहित करती है और प्रेम किये जाने के विचार (या कामना) से अभिभूत हो जाती है।

पूर्वज जानते थे कि जब स्त्री में अप्सरा पक्ष प्रधान हो जाता है तब वह गर्भ-धारण नहीं करना चाहती, न ही वह बच्चे को पोसना चाहती है; ऐसे क्षण कभी-कभार ही वह औरों के लिए जीती है। उर्वशी, अप्सरा है, अतः स्वाभाविक रूप में वह ऐसी सभी स्त्रियों की प्रतीक है जिनमें अप्सरा पक्ष प्रधान होता है। दुर्भाग्य से सभ्यता के विकास के साथ स्त्री में अप्सरा पक्ष अधिक से अधिक हावी होता जा रहा है।

इसी प्रकार मैंने च्यवन के मिथ का प्रयोग किया है, यह सिद्ध करने के लिए कि आध्यात्मिक ज्ञान के आकांक्षी व्यर्थ ही काम को निषिद्ध मानते हैं। सुकन्या से विवाह के बाद भी आखिर च्यवन ऋषि ही रहे आये। सचाई तो यह है कि सुकन्या की

प्राप्ति को ऋषि ने अपनी समस्त तपस्याओं का सुफल माना।

भारतभूषण : उर्वशी का कौन-सा पात्र आपके मन के ज्यादा निकट है? आप खुद को किससे आइडेंटिफाई करते हैं, पुरुरवा या उर्वशी से?

दिनकर : स्वयं को मैं उर्वशी से कैसे आइडेंटिफाई कर सकता हूं? वह स्त्री थी मैं पुरुष हूं। और तुम जानते हो—शरीर रचना प्रारब्ध होती है। लेकिन मैं पुरुरवा से भी अपने को पूरी तरह आइडेंटिफाई नहीं कर पाता, यद्यपि कुछ कोणों में वह मेरे व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है।

लेकिन तुम्हें इतना गंभीर क्यों होना चाहिए? एक गंभीर पुस्तक भी अपने युग पर 'व्यंग्य' हो सकती है। तुम पुरुरवा और उर्वशी को चतुर आधुनिक स्त्री-पुरुषों के रेखांकन क्यों नहीं मान लेते जो बातें तो ऊंची-ऊंची करते हैं पर मन-ही-मन हमेशा एक-दूसरे को पाना चाहते हैं।

भारतभूषण : आधुनिक स्त्रीत्व के बारे में आपकी क्या राय है, लक्ष्मी या अप्सरा?

दिनकर : स्त्री को मैं शय्या पर अप्सरा और शेष समय लक्ष्मी देखना चाहता हूं। लेकिन गर्भ-निरोध के रासायनिक और यांत्रिक साधनों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि स्त्री का अप्सरा पक्ष बहुत आसानी से लक्ष्मी को पीछे ढकेल सकता है।

[रचनाकाल 1973, इंडियन एंड फॉरेन रिव्यू, अगस्त '73 के अंक में प्रकाशित लेख का अनुवाद, अनुवादक : सोमदत्त, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

संस्मरण

एक महान नेता : जमनालाल बजाज

सेठ जमनालाल बजाज के देहांत का आकस्मिक संवाद सारे देश के लिए दुःखद और चौंका देनेवाला हुआ है। यद्यपि कुछ दिनों से वे अस्वस्थ थे, और हमें याद है कि इसी कारण महात्माजी ने उन्हें दुबारा सत्याग्रह करने की अनुमति नहीं दी थी, फिर भी हम इस समाचार के लिए तनिक भी प्रस्तुत न थे। इसमें संदेह नहीं कि उनकी मृत्यु से कांग्रेस का एक स्तंभ और देश का एक आदर्श सेवक चला गया है। सेठजी ने अपने बहुमुखी सार्वजनिक कार्य से देश की प्रगति में जो योग दिया था, वह अमूल्य तो सिद्ध हुआ ही है, वह उनका अमर स्मारक भी सिद्ध होगा।

लक्ष्मी की गोद में पले होने के कारण यदि वे चाहते तो सरलता से अपना सारा जीवन भौतिक सुख और विलास में बिता सकते थे। पर आरंभ से ही उनमें वह दिव्य ज्योति थी, जो मनुष्य को स्वहित के संकुचित क्षेत्र से निकालकर सर्वहित के व्यापक क्षेत्र में पहुंचाती है। राजनीति में आने के पूर्व भी सेठजी में समाज और जाति-सेवा की प्रबल भावना थी। फिर यह असंभव था कि दासता की बेड़ी में जकड़ी पड़ी भारत-मां के दुःख-दर्द की पुकार जब महात्मा गांधी ने घोषित की, तो वे मैदान में न आ जाते। सन् 1929 के सत्याग्रह-संग्राम ने इस राजसी युवक को जेल में देखा।

इसके बाद सेठ जमनालाल बजाज ने एक क्षण को भी देश-हित को अपने ध्यान से नहीं हटाया। उन दिनों भारतवर्ष के बंधनों की अवांछनीयता का अनुभव तो सभी करते ही थे, गांधीजी के अहिंसा-संदेश ने बजाजजी को प्रबल भाव से आकर्षित और प्रभावित किया। उन्हें अपने जीवन-भर के लिए एक आदर्श दिखायी पड़ गया, जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहने में ही उन्हें सच्चे सुख की प्रतीति हुई।

तब से लेकर अपने जीवन के अंतिम क्षण तक उन्होंने देशोन्नति के विविध क्षेत्रों में जो महान् त्याग और सेवा की, वह इतिहास में अमिट रहेगी। देश-सेवा उनके जीवन का एक गौण या आंशिक लक्ष्य नहीं था। उन्होंने अपना सारा शेष जीवन, तन, मन और धन, देश की स्वाधीनता और प्रगति में लगा दिया। उनके अपरिमित दानों के विषय में तो हमें गांधीजी ने स्वयं बतलाया है कि

यदि बजाजजी ने सर्वस्व त्याग नहीं किया, तो उसका कारण उनकी अनिच्छा नहीं बल्कि गांधीजी की अनिच्छा थी। वे बीस वर्ष तक कांग्रेस के कोषाध्यक्ष रहे। इस अवधि में उन्होंने कांग्रेस के कोष की अध्यक्षता ही नहीं की, यथावश्यक उसको अपने निजी कोष से पूरा भी करते रहे। गांधीजी के शब्दों में 'वे वास्तव में जनता के ट्रस्टी थे।'

लेकिन उनका त्याग धन तक ही सीमित नहीं था। आंदोलन से पूर्व उनके और हमारी सरकार के बीच में घनिष्ठ संबंध थे, और सरकार ने उन्हें रायबहादुर की उपाधि से विभूषित भी किया था, पर देश की स्वाधीनता के लिए ज्यों ही वे मैदान में आये उन्होंने उपाधि लौटा दी, और जितने भी कष्ट आये, सबको हंस कर ही लिया। संग्राम के काल में उन्हें सबने आगे ही पाया। अपने राजनैतिक जीवन में उन्होंने अनेक बार जेल यात्रा की, और अभी कुछ दिन पहले जयपुर राज्य में प्रजा-मंडल की स्थापना और जन-आंदोलन के वे प्रवर्त्तक थे।

रचनात्मक कार्यक्रम उनके विचार और स्वभाव को विशेष रुचिकर थे, और इसीलिए गांधीजी ने उन्हें पहले खद्दर का और अब गो-सेवा का कार्यक्रम सौंपा था। उनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास था, और वे मानते थे कि स्वराज्य की सच्ची कुंजी सर्वोदय के रचनात्मक कार्यक्रम में ही है। गांधी सेवा-संघ के वे प्राण और जीवन-दाता थे। इसके अतिरिक्त अ. भा. चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ आदि संस्थाओं के वे दृढ़ स्तंभ थे। हाल ही में गांधीजी की प्रेरणा से उन्होंने गो-सेवा का कार्य हाथ में लिया था और अंत तक वे उसकी धुन में रहे। इसके अतिरिक्त समाज के सुधार और विकास में भी विशेष रुचि रखते थे। हमें व हमारे समाज को उनके जैसा नेता पाने पर गर्व है।

जब हम बजाजजी के स्वभाव का ध्यान करते हैं, तब तो हमारा दुःख द्विगुणित हो जाता है। इतना त्याग करने पर भी उनके मन में कोई अहंभाव या अभिमान का लेश भी न था। उनकी निश्छल और निस्पृह प्रगति सबको आकर्षित कर लेती है। अपनी सहृदयता और उदारता के कारण वे सभी के मित्र हो गये थे। आतिथ्य-सत्कार में उन्हें बड़ा आनंद मिलता था, जो हमारे अतीत का एक गौरवशाली अंग है। वे अत्यंत ही विनम्र और हंसमुख थे। यश या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की भावना उन्हें छू भी न गयी थी। अपनी सहज चतुराई और व्यवसाय-बुद्धि से वे क्रियात्मक योजनाओं में महत्त्वपूर्ण योग देते रहते थे। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति होना जिस प्रकार असंभव है, उसी प्रकार उन्हें भुला देना भी भारतवर्ष के लिए असंभव है।

[जमनालाल बजाज के देहावसान के अवसर पर श्रद्धांजलि रूप में लिखा संस्मरण, 23 फरवरी, 1942 को 'समाज सेवक' में प्रकाशित।]

बाबूजी : एक आदर्श साधारण

एक व्यक्तित्व होता है : विराट्, पर्वताकार, ठीक हिमालय की भांति, अपने नैसर्गिक रूप में भी दिव्य-आदिम, जिसे देखकर कवि बरबस कह उठे—'ओ गौरवगिरि, उच्च, उदार!' जिसके अजस्र दान का समाचार धरती क्षितिज को और सरिता समुद्र को सुनाती रहती है, जिसकी छाया युग-युग के इतिहास को काह्-कार्य से संपन्न कर देती है। बाबूजी ऐसे व्यक्ति नहीं थे।

एक और व्यक्तित्व भी होता है : सीमित, सुडौल, ठीक तुलसी चबूतरे की भांति मुहल्ले के बीच में स्थित, अनंत लघु-लघु दानों में भी अलक्षित, आसपास के दैनिक जीवन का चिर साक्षी और सहयोगी, बालकों का क्रीड़ास्थल, पर्वों का लीला-मंच, पथिकों का आश्वासन, पर यदि नगर के आधुनिकीकरण के लिए उसे हटाना भी पड़े तो शायद ही कोई प्रतिवाद का स्वर उठे। बाबूजी ऐसे ही व्यक्ति थे।

बाबूजी साधारण थे, कम-से-कम मैंने उन्हें ऐसा ही जाना। पर उनकी साधारणता विलक्षण थी, वे आदर्श साधारण थे।

बाबूजी मुझे आगरे के साहित्यिक जीवन के विशिष्ट अंग के रूप में मिले। सबसे पहली बार जब मैंने उनका नाम सुना तब मैं आगरे में नहीं रहता था, भैयाजी (मेरे बड़े भाई श्री विद्याभूषण अग्रवाल) सेंट जान्स कॉलेज के विद्यार्थी थे। छुट्टियों में उनके घर आने पर ही मैंने बाबूजी की पुस्तक 'नव-रस' के दर्शन किये थे। और जब कुछ दिनों बाद मैं भी उसी कॉलेज का विद्यार्थी बना तब पहली बार उनके दर्शनों का सौभाग्य मिला पर मुझे तनिक भी याद नहीं कि मैंने उस घटना को किसी असामान्य महत्त्व से मंडित माना हो। और इतना समय बह जाने के बाद अब यह निश्चित रूप से बता सकना तो मेरे लिए प्रायः असंभव ही है कि कब, कैसे, किन अनगिनती साधारण क्षणों की शृंखला में बंधकर बाबूजी मेरे लिए अपने अंतिम क्षण तक अभिभावक के पद पर प्रतिष्ठित रहे। पर यह निश्चित है कि जिन इने-गिने अग्रजों ने मेरे इस नगण्य मन-जीवन को रूपायित किया है उनमें बाबूजी का विशिष्ट स्थान है।

नहीं, साहित्यिक नहीं। मेरी साहित्यिक प्रेरणा में बाबूजी का शायद ही कोई हाथ रहा हो। यों, जब मैंने उन्हें जाना तो वे 'साहित्य संदेश' के संपादक थे, अपना विख्यात 'सुबोध इतिहास' लिख रहे थे और दोनों के ही कुछ-न-कुछ प्रूफ उन्होंने मुझ से पढ़वाये थे। मेरे रेडियो नाटक 'लज्जा' की कहानी उन्हीं ने दी थी और 'पलायन' में एक ऐतिहासिक व्यतिक्रम की ओर भी इंगित किया था—पर इन कुछ बातों के अतिरिक्त साहित्य-पथ पर मैं उनके साथ कभी नहीं चला। यह भी याद नहीं कि उन्होंने कभी चलाना भी चाहा हो। सेंट जान्स कॉलेज में हिंदी के सम्मान्य शिक्षक के रूप में मैं उनका विद्यार्थी भी रहा, पर उस शिक्षा की सीमा कक्षा तक ही थी। जो जीवन-शिक्षा मुझे उनसे मिली वह अनायास कक्षातीत रूप में ही मिली। और उसका सार तीन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है : विनय, निष्ठा और उदारता।

मैं आयु में बाबूजी के पुत्र के बराबर था, इसलिए यह तनिक भी जरूरी नहीं था कि उनका विनय-भाव कभी भी मेरे सामने आता। आज तो समवयस्क ही नहीं न्यून वयस्क साहित्यकारों तक में उस विनय के दर्शन नहीं मिलते। पर बाबूजी अपने को साहित्यकार नहीं मानते थे। वे सदा सद्गृहस्थ के ही रूप में प्रकाशित होते। और उनका विनय-भाव इतना सच्चा था कि उसमें प्रदर्शन अथवा आडंबर की कोई गंध न थी। वे सखा की भांति बात करते, हास-परिहास में योग देते, और निरंतर उपदेश देते रहने पर भी कभी उपदेश देते न जान पड़ते। वे छतरपुर महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में काम कर चुकने के बाद सेवा-निवृत्त हुए थे, अपनी सीमा में उनका जीवन साफल्य से मंडित हो चुका था, और वे चाहते तो आत्मश्लाघा का अधिकार पा चुके थे। पर मैंने उन्हें वर्तमान में सक्रिय और भविष्य के प्रति आशावान ही पाया। यह नहीं कि वे अतीतोन्मुख होते ही न थे, पर वे अतीत से उपदेश का काम लेते थे। हमारी समस्या चाहे जैसी हो, वे अपने व्यतीत में से उसका कोई दृष्टांत खोजकर चट-से सुना देते और कर्त्तव्य का अप्रत्यक्ष संकेत दे देते थे। पर यह तो मैं आज ही देख-कह सका हूं—तब तो उसका प्रधान प्रभाव मैत्रीगत आत्माभिव्यक्ति का ही होता था।

आयु की इस दुर्लंघ्य दूरी पर सहज सेतु बन जाती थी उनकी विनोदशीलता। गंभीर से गंभीर चर्चा में भी वे सहज ही विनोद-परिहास का अवसर पा जाते थे। और यद्यपि वे प्रेमचंद की भांति ठठाकर नहीं हंसते थे, तथापि उनकी हंसी निर्द्वंद्व और मुक्त होती थी। उसमें पहाड़ी झरने की काट नहीं, ग्रामीण नदी की सजलता होती थी। और जिस तपाक से वे और किसी की बात पर परिहास करते थे उससे भी अधिक तत्परता से स्वयं अपने पर भी हंसते थे। 'मेरी असफलताएं' आदि निबंधों में वे इसके निर्भ्रांत प्रमाण छोड़ गये हैं। वे साहित्य से भी अधिक जीवन के कलाकार थे। मैंने उन्हें विषम

विषम परिस्थिति में भी इस विनोदप्रियता का पल्ला छोड़ते नहीं पाया। उदाहरण के लिए बाबूजी ने दिल्ली दरवाजे पर अपना नया मकान बनवाया ही था कि भारी वर्षा के कारण एक बार उसके तहखाने में पानी भर गया और कमरों के फर्श बैठ गये। महेंद्रजी जिस दिन सवेरे यह सूचना पाकर बाबूजी के यहां गये तब मैं भी उनके साथ था। बाबूजी से भेंट होने पर उनके चेहरे पर वही चिर-परिचित हास्य की झलक पाकर मेरे मन पर जो छाप पड़ी थी वह अविस्मरणीय है।

[रचनाकाल संभवतः 1958, बाबूजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर 1988 में 'जनसत्ता' में प्रकाशित।]

अलीक-निष्ठा के धनी : रांगेय राघव

मेरे पास एक खाता है। उसमें 'एयरमेल' जैसे पतले कागज के लगभग 300 पन्ने हैं, डिमाई साइज़ के, और उस पर बहुत मुलायम काले चमड़े की जिल्द है। मित्र-वर्ग इस खाते से काफी परिचित हैं, क्योंकि इसमें सन् 1945 से लेकर अब तक की मेरी सारी फुटकर कविताएं लिखी हैं, और यदा-कदा जब काव्यपाठ के लिए आता-जाता हूं तो बस यही खाता मेरे साथ रहता है।

खाते की जिल्द पर रीढ़ की ओर सुनहरी अंकों में 1945 लिखा है और पहला पृष्ठ खोलते ही बायें हाथ पर नीचे के कोने पर ये शब्द अंकित हैं :

श्री भारतभूषण अग्रवाल को सस्नेह
रांगेय राघव, आगरा, 5. 1. 45

साधारणतः मित्र अनुमान लगाते हैं कि यह खाता मुझे रांगेय राघव से भेंट में मिला है। पर बात ऐसी नहीं है। गौर से देखने पर पता चल जाता है कि 'रांगेय राघव' शब्द एक स्याही से लिखे हैं और बाकी शब्दांक दूसरी स्याही से। लिखावट में भी थोड़ा-बहुत फर्क है ही।

इस फर्क की कहानी यह है कि यह खाता मुझे रांगेय राघव ने भेंट में नहीं दिया वरन् मैंने उससे बरजोरी करके छीन लिया था और अपना कब्जा पक्का करने के लिए उस पर उपहार-वाक्य जोड़ दिया था, उसी के सामने। ऐसा न करता तो खाता शायद ही मुझे मिलता।

पांच जनवरी की दोपहर

5 जनवरी, 1945 की वह दोपहर बीच-बीच में मुझे याद आती रहती है। मैं उन दिनों कलकत्ते में काम करता था और छुट्टी लेकर घर आया था। आगरा आया तो फिर पप्पू—रांगेय राघव—से क्यों न मिलता! दरवाजा खोलते ही उसने कहा था : "मैं सोच रहा था, कौन आया है ऐसा पुराना मित्र जो पप्पू कहकर पुकार रहा है।"

उसका कहना ठीक भी था। पप्पू उसका घर का स्नेह-संबोधन था जो मुझ जैसे कुछ अंतरंग मित्रों को ही सुलभ था, और उस दिन तक वह अपने नये नाम 'रांगेय राघव' से ख्याति प्राप्त कर चुका था। पर मैंने उसे पप्पू कहने का अधिकार कभी नहीं छोड़ा। हम लोग भीतर आये तो बीच की गोल मेज पर यह खाता पड़ा हुआ था। मुझे वह इतना पसंद आया कि मैंने कहा : "यह मेरा है!"

उसने खाता लपककर मुझसे छीन लिया और बोला : "मुश्किल है। यह देखो इस पर मेरा नाम भी लिखा हुआ है।"

मैंने कहा : "सच? देखूं।" और जब अपना नाम दिखाने के लिए उसने खाता मुझे फिर से दिया तो मैंने चट-से अपना कलम निकाल कर उस पर ऊपर लिखे शब्द टांक दिये।

वह मुस्कराते हुए बोला : "बड़े हो, इसलिए अब क्या कहूं! तुम्हीं ले लो!"

मैंने हंसकर कहा : "तुम तो इसे एक हफ्ते में भर कर रख दोगे, मेरे पास यह जिंदगी भर चलेगा।" भविष्यवाणी करना, अपने बारे में भी, जोखम का काम है। पर लगता है, मेरा यह वाक्य सच बनकर ही रहेगा। आधी से ज्यादा जिंदगी बीत चुकी है, पर खाता अभी आधा भी नहीं भरा।

आश्चर्यजनक लेखनी

उस वाक्य का पहला अंश भी नितांत सत्य पर आधारित था। पप्पू के बारे में पहली बात जो मुझे और उसके अन्य मित्रों को याद रहती थी, वह थी उसकी आश्चर्यजनक लेखनी। सच पूछिए तो हम लोगों की गोष्ठी में उसके बारे में यह मजाक बराबर प्रचलित रहता था कि वे तौलकर लिखते हैं। कलम तौलकर नहीं, कागज़ तौलकर—और गिन-गिन कर शब्द लिखनेवाले हम लोगों को उसकी यह दुर्दम गति अभिभूत किये रहती थी। एक हफ्ते में एक उपन्यास लिखना उसके लिए साधारण बात थी। और फिर यह भी जरूरी न था कि वह एक समय में एक ही चीज़ लिखे। जिस दिन का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है, उसी दिन की बात है, उसने मुझे तीन अलग-अलग कापियां दिखायी थीं। एक में एक उपन्यास लिखा जा रहा था, एक में कबीर के संबंध में एक ग्रंथ, और एक समीक्षा-ग्रंथ था। उपन्यास लिखने की वह रीति भी मुझे बड़ी विलक्षण लगी थी। पूरी कापी अध्यायों में बांटी जा चुकी थी, और काफी अध्यायों में बीच-बीच के अनुच्छेद लिखे जा चुके थे। कहने लगा : "ये 'डिटेल' फिर भर लूंगा।" उसके मन से रचना निर्झर की भांति अजस्र वेग से फूटती थी और उसको रूप देने के लिए यही रीति सुविधाजनक थी। इतनी अल्पायु में इतने अधिक ग्रंथों की रचना स्वयं में एक विलक्षण उपलब्धि है। इस संख्या-गुण के साथ यदि हम यह भी याद कर लें कि साहित्य-रचना का शायद ही कोई

प्रकार हो जो उसने न आज़माया हो तो हम उस प्रतिभा का कुछ अंदाज़ लगा सकते हैं। यह ठीक है कि परिस्थितियों के कारण वह सदा इस प्रकार की हड़बड़ी में रहता था और 'जड़िया' की तरह शब्दों की नक्काशी करना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था, जिसके कारण उसकी कुछ रचनाएं अशक्त और बहुत-सी रचनाएं त्रुटिपूर्ण रह गयी हैं, पर प्रतिभा की प्रखरता सबमें समान रूप से व्याप्त है। मुझे याद है 'सहयोगी प्रतीक-योजना' के दिनों 'घरौंदे' पढ़कर अज्ञेयजी ने मुझसे कहा था : "परिपक्वता तो समय से ही आती है, पर यह लेखक सच्चा 'जीनियस' है।" यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि वह समय रांगेय राघव को न मिल सका।

टी. एन. वी. राघवाचार्य

पप्पू से जब मेरा पहला साक्षात्कार हुआ तो परिचय में मुझे उसका नाम बताया गया था : टी. एन. वी. राघवाचार्य। कॉलेज के रजिस्टर में उसका यही नाम दर्ज था। परिचय का अवसर था लायड होस्टेल, आगरा में मनायी गयी सन् 1937 की तुलसी जयंती। प्रकाशचंद्रजी गुप्त के मार्मिक भाषण के बाद महादेवी वर्मा के संग्रह 'सांध्य-गीत' से एक गीत सुनाया था पप्पू ने। वह दृश्य आज भी मेरी आंखों में है। मूलतः दाक्षिणात्य होते हुए भी पप्पू ने राष्ट्रीय संस्कार पाये थे। वह गौर वर्ण का अत्यंत आकर्षक व्यक्ति था और उसी के अनुरूप उसका कोमल और सुशील स्वर था। परिचय पर पता चला कि मुझसे दो क्लास नीचे है और साहित्य में विशेष रुचि है। आनन-फानन में मैत्री हो गयी और वह मेरे लिए 'पप्पू' हो गया।

पप्पू से रांगेय राघव

एक दिन पप्पू बड़े आग्रह से मुझे अपने घर ले गया और मुझे अपनी कुछ कविताएं दिखायीं। मैं पढ़ चुका तो उत्सुकतापूर्वक बोला : "कैसी हैं!"

मैंने कहा : "भाव अच्छे हैं। पर इनमें एक कमी हैं। तुकें गलत हैं।"

वह कहने लगा : "मुझे तुक मिलाना नहीं आता। तुम ज़रा समझा दो तो मैं सीख जाऊंगा।"

मैंने अपनी समझ से तुकों की पूरी व्याख्या दी। उत्तम, मध्यम और अधम तुकों के उदाहरण भी दिये। वह बोला : "अब समझ गया। पर तुकों के इस झंझट से शब्द-चयन की सीमा बड़ी छोटी हो जायेगी।"

मैंने कहा : "अभ्यास से बात अपने आप तुकों में निकलने लगेगी।"

अगले ही हफ्ते उसने मुझे कुछ और कविताएं दिखायीं। बोला : "इनमें तुक ठीक हैं? पप्पू ने सचमुच मेरे कहे अनुसार तुक लगाने की चेष्टा की थी और काफी सुधार कर लिया था। मैंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

बीच में कुछ महीने निकल गये। एक दिन मिला तो बोला : "तुम्हारी तरकीब भी फेल हो गयी।"

मैंने पूछा : "कैसे?"

बोला : "तुमने जैसा बताया था वैसे ही तुक मिलाकर कविताएं छपने भेजी थीं, कई पत्रों में। सब जगह से लौट आईं।"

मैंने कहा : "तुम्हारे नाम के कारण।" वह अबूझ आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगा।

मैंने कहा : "तुम्हारा यह दाक्षिणात्य नाम संपादकों को कवित्वहीन लगता है इसीलिए रचना लौटा देते हैं। कविता लिखनी हो तो उपनाम रख लो। या फिर गद्य लिखो।" मानता हूं, बात कुछ हंसी में ही कही थी। पर पप्पू ने उसे मंत्र की तरह ग्रहण किया।

गर्मी की छुट्टियों में एक दिन अचानक पप्पू घर पर टपक पड़ा। आते ही बोला : "तुम्हारी तरकीब चल गयी, तुम ठीक कहते थे।'

देखा, एक संपादक ने उसकी कविता का स्वीकृति-पत्र भेजा था। संबोधित था : रांगेय राघव के नाम। मेरी दृष्टि में झलकते प्रश्न के उत्तर में बोला: "यही उपनाम रखा है।" और फिर एक भारी-सा पुलिंदा मुझे दिया।

मैंने पूछा : "यह क्या है?"

"तुमने गद्य लिखने के लिए कहा था न! ये पचास कहानियां हैं। पढ़कर जो पसंद आयें बताना ताकि छपने भेज सकूं।"

तूफानों के बीच

देखते-देखते रांगेय राघव नाम प्रसिद्ध हो चला। वह रोज ही कुछ लिखता, रोज ही लिखने की लंबी-लंबी योजना बनाता, और मित्रों से निरंतर सलाह लेता।

पर उसकी एक मित्र-मंडली ऐसी भी थी, जहां साहित्य-सेवियों की पहुंच न थी। अपने जीवन के शुरू से ही पप्पू जनसाधारण से आत्मीयता का संबंध रखता था। कोरी कागजी या आदर्शवादी आत्मीयता नहीं, सच्ची और दुःख-सुख में साथ देनेवाली। साइकिल की दुकान पर काम करनेवाला लड़का, होटल बॉय, गरीब दूधवाली, बेकार मटरगश्त, चवन्नीवाले सिनेदर्शक, कुली-कबाड़ी—सबको वह अपनाये रहता था। खुल कर हंसी-मज़ाक करता, रस लेकर उनके जीवन की गाथाएं और समस्याएं सुनता और उनके चेहरे कहीं गहरे में अंकित करता जाता। पर उसके अपने आकर्षक व्यक्तित्व में जो एक शालीनता और धैर्य था, उस पर इससे तनिक भी आंच न आती दिखती। मैं जब-जब यह अविश्वसनीय सत्य देखता, दंग रह जाता। बाद में ये ही चेहरे उसके उपन्यासों और कहानियों में जी उठे। दलितों और दुखियारों का ऐसा भाई-बंद मैंने और कोई नहीं पाया, प्रगतिशीलता का दम भरते तो बहुतेरे देखे। बंगाल के दुर्भिक्ष की खबर से वह

इतना विचलित हुआ कि उनके बीच पहुंच कर ही दम लिया। 'तूफानों के बीच' संग्रह में जो रिपोर्ताज इकट्ठे हुए उनकी रचना वहीं हुई थी। एक नये माध्यम में ऐसी ओजपूर्ण रचना देखकर सारा हिंदी संसार सनसना उठा था। उस विलक्षण सफलता का रहस्य पप्पू की सच्ची और गहरी वेदना है। नयेपन के लिए, विचित्र दृष्टि और विचारों के लिए राघव बेजोड़ लेखक था। कंजर और भील, नट और भिखारी, भूखे और कुंठित, उसकी रचनाओं के माध्यम से हिंदी में पहली बार अपनी करुण कहानी सुना पाये। बंधी-बंधायी लीक पर चलने के बजाय वह जीवन-भर अलीक पर चला और ऐसी अद्भुत निष्ठा के साथ कि अनुकरण तक असंभव है।

अदम्य जिज्ञासा

रांगेय राघव की रचना जैसी अदम्य थी, वैसी ही उसकी जिज्ञासा भी। भारतीय इतिहास और संस्कृति के विस्मृत अध्यायों को पढ़ने की वह निरंतर चेष्टा करता था। इस प्रयास में उसने तत्व-शोध के अनेक ग्रंथ रचे और अनगिनती निबंध। अपनी उपाधि के लिए शोध का विषय भी उसने ऐसा ही चुना था : गोरखनाथ। पर जिज्ञासु होते हुए भी वह अतीत का उपासक न था। इस दृष्टि से वह उन पंडितों से नितांत भिन्न था जो आगे न बढ़ने के लिए ही अतीत की ओट करते हैं। वह निर्ममता से देखता था और विस्तार से लिखता था। कुरीति और कुत्सा को उघाड़ने का वह कोई अवसर कभी न चूकता था। सफेदपोशी से उसे जन्मजात वैर था। भंडता के विरुद्ध उसकी लेखनी कुठार बन जाती थी।

हिंदी का कैंसर

भारत और हिंदी का यह अथक और प्रखर कलाकार कैंसर के रोग से अपनी तरुणाई में ही चल बसा। मैं सोचता हूं, तो यह कैंसर का रोग हिंदी को ही हो गया है जो प्रतिदिन एक-एक प्रतिभा गंवाती जाती है। पप्पू लिखता चाहे तौल कर न हो, पर प्रकाशक उसकी रचनाओं को तौल कर ही खरीदते थे। वह चाहता तो आज यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर बनकर आचार्य कहा सकता था पर अलीक की अपनी निष्ठा कैसे छोड़ता। फलस्वरूप हम उससे कुछ अमर कहानियां ही पा सके, उसकी परिपक्वता के फल से वंचित ही रह गये।

[रचनाकाल 1962, रांगेय राघव को श्रद्धांजलि रूप में लिखा संस्मरण, नवभारत टाइम्स में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

भारतीय साहित्य के आत्मीय : डॉ. बरुआ

पहला अप्रैल '64 की सुबह जब चाय पीकर 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के पन्ने खोले तो उस समाचार पर नज़र पड़ते ही अखबार हाथ से छूट गया। हृदय जोर से चीत्कार कर उठा, 'नहीं, यह सच नहीं है, यह नहीं हो सकता।' कुछ दिनों पहले ही तो डॉ. बरुआ के दर्शन हुए थे जब वे अमरीका में एक वर्ष के सफल प्रवास के बाद अकादेमी कार्यालय में पधारे थे। तब भला कौन कह सकता था कि कुछ ही दिनों बाद वे हमें छोड़कर चले जाएंगे। बड़ी मुश्किल से मैंने पत्नी से कहा, "बिंदु, गजब हो गया!"

और मन में एक-एक कर डॉ. बरुआ के सुखद सान्निध्य में बिताये दिन उभर आये; उनका प्रभावपूर्ण मुस्कराता व्यक्तित्व, उनकी निश्छल सादगी, साहित्य-सेवा में उनकी लगन और तत्परता। दो-तीन दिन तक मैं अजीब खोयी-खोयी-सी हालत में रहा। कृपालानीजी से उनकी चर्चा करते समय और अकादेमी बुलेटिन के लिए उनके संबंध में टिप्पणी लिखते समय मेरी आंखें फूट पड़ी थीं। बाद में मैं यही सोचता रहा कि यदि मेरी यह हालत है तो फिर उनकी क्या दशा होगी जिन्होंने उनके सहयोगी के रूप में न जाने कितने दिन उनके साथ काम किया है। और उनके परिवार के सदस्यों की मनोदशा की तो कल्पना करना भी कठिन लगता था.

सच तो यह है कि कई महीने गुजर जाने पर आज भी उनके बारे में सोचता हूं तो विचलित हो उठता हूं। मन इतना भर आता है कि कुछ भी कहने की तबीयत नहीं होती। डॉ. बरुआ के आकस्मिक निधन से असम साहित्य और भारतीय साहित्य के प्रेमियों के मन में जो घाव हो गया है उसके भरने में वर्षों लगेंगे। क्योंकि डॉ. बरुआ ने जो काम अपने हाथ में लिये थे वे अब भी अधूरे हैं, उनकी देन चुक नहीं गयी थी। और उनके बिना यह काम कब और कैसे पूरा होगा, ये प्रश्न भी समाधान मांगते हैं।

डॉ. बरुआ से मेरा परिचय साहित्य अकादेमी में आने के बाद का ही था, इसलिए यों वह केवल चार वर्ष का ही परिचय था। पर इन चार वर्षों में मैं उनके इतने निकट आ गया था और उनके कर्मरत जीवन को इतने निकट से देख सका था कि वर्षों में उसकी नाप नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें

जानता गया, उनकी गतिविधि से परिचित होता गया, त्यों-त्यों मेरे हृदय में उनके लिए आदर और श्रद्धा बढ़ती ही गयी। उनकी कार्य-प्रणाली इतनी निर्मूल थी और साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा इतनी निर्द्वंद्व थी कि वे सहज ही सबके आत्मीय और स्वजन बन जाते थे। स्वार्थ अथवा उलझन का लेश भी उनके व्यक्तित्व में न था।

उनके व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी उदार और विस्तृत शिक्षा का निश्चय ही बहुत बड़ा हाथ था। असम-निवासी होते हुए भी उनकी उच्च शिक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय में हुई थी, और बाद में लंदन, ऑक्सफोर्ड और स्वीडेन में। वे इस बात के जीते-जागते प्रमाण थे कि प्रांतीयता की संकीर्णता को जीतने के लिए उदार शिक्षा सबसे कारगर उपाय है। देश-विदेश से ऐसा विस्तृत परिचय होने के कारण ही डॉ. बरुआ असमिया साहित्य की सच्ची सेवा कर सके और समस्त साहित्य-जगत् का सहयोग पा सके। दो-तीन वर्ष पूर्व जब असम में संकीर्णता की लहर ने बंग-विरोधी रूप धारण कर लिया था, और कुछ दिनों गौहाटी में बड़े निंदनीय और जघन्य प्रदर्शन किये गये, तब डॉ. बरुआ ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर उस आवेश को ठंडा करने में सहयोग दिया। जून '62 में मैं गौहाटी में उनके निवास-स्थान पर गया था तब रात को भोजनोपरांत उन्होंने वह लोमहर्षक घटना सुनायी थी जब अपने घर में ऊपर की मंजिल में बंगाली किराएदार रखने के कारण उन्हें सिरफिरी भीड़ का सामना करना पड़ा था, और उनके अडिग निश्चय ने आखिर भीड़ को निरस्त कर दिया था। अकादेमी की जनरल कौंसिल और कार्यकारी मंडल के सदस्य के रूप में और असमिया परामर्श-मंडल के संयोजक के रूप में उनकी इस उदार दृष्टि और विशाल-हृदयता के अनेक प्रमाण हमें मिलते रहे। साहित्य अकादेमी असमिया में अपना कार्यक्रम उन्हीं के सक्रिय सहयोग से पूरा कर सकी।

अन्य भाषाओं और साहित्यों के प्रति उदार होने के साथ ही डॉ. बरुआ असमिया से अटूट अनुराग रखते थे। उनका यह संतुलन उनकी रचनाओं और कार्यकलापों में सर्वत्र दिखायी पड़ता है। वे असमिया के सर्वमान्य विद्वान् थे। गौहाटी विश्वविद्यालय में वे असमिया के प्रोफेसर थे, और उनके दिशा-निर्देशन में असमिया साहित्य के अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ, और अनेक क्षेत्रों में शोध कार्य हुआ। विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उनके प्रति जो भक्ति-भाव रखते थे वह किसी भी शिक्षक के लिए गौरव की वस्तु थी। उन्हीं के सक्रिय प्रयत्नों से असम एकेडेमी ऑफ़ कल्चरल रिलेशंस की स्थापना हुई और असम साहित्य सभा की गति अग्रसर हुई। यही नहीं, अनेक शिक्षा-संस्थाएं उनके सहयोग और दिशा-निर्देशन से उपकृत हुई हैं। सन '60 में जब मैं गौहाटी में पहली बार गया था तब वे डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रयत्नों में इतने डूबे हुए थे कि रात के दो-दो बजे तक टाइपराइटर खटखटाता रहता था।

सार्वजनिक जीवन में उनका इतना केंद्रीय महत्त्व होते हुए भी वे विनय और सद्‌भाव की मूर्ति थे। अपनी असम यात्राओं में मुझे न जाने कितने लेखकों से परिचय-आलाप का सौभाग्य मिला, पर डॉ. बरुआ की सभी ने मुक्तकंठ

से प्रशंसा की। इसका मूल कारण यही था कि डॉ. बरुआ आगे बढ़ने में नहीं, आगे बढ़ाने में विश्वास रखते थे। कोई भी कार्यक्रम हो, कैसी भी योजना हो, वह सदैव अपने सहयोगियों को अवसर दिलाने में लगे रहते थे। स्वतंत्रता के बाद असम साहित्य ने जो अभूतपूर्व प्रगति की है, उसमें डॉ. बरुआ के इस निःस्वार्थ भाव का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, क्योंकि दोष की भांति गुण भी संक्रामक होते हैं। उनकी इस कार्यप्रणाली ने ऐसे बहुतेरे साहित्यकारों को प्रोत्साहन दिया है जो निःस्वार्थ भाव से साहित्योन्नति में लगे हैं। डॉ. बरुआ की इस सम्यक् दृष्टि ने असम साहित्य-क्षेत्र में एक और विलक्षण वातावरण की सृष्टि की है—वहां मुझे कहीं भी नवीन और प्राचीन का भेद देखने को नहीं मिला। उनके घर पर मूर्द्धन्य लेखक और नवोदित लेखक—सब एक-सी आत्मीयता से उठते-बैठते मिले।

साहित्य-समीक्षक, भाषाविद् और शिक्षक के नाते तो डॉ. बरुआ वरेण्य थे ही, लोक-संस्कृति में भी उनकी रुचि अगाध थी। बरसों उन्होंने असम के जन-जीवन का, प्राचीन इतिहास का और लोक-संस्कृति का अध्ययन किया था, अनेक नये तथ्य उद्घाटित किये थे और उनके संबंध में विधिवत् अनुशीलन की नींव डाली थी। उनकी उसी निष्ठा से प्रभावित होकर अमरीका के एक विश्वविद्यालय ने उन्हें भारतीय लोक-साहित्य के वृहद् संकलन का संपादक नियुक्त किया था। डॉ. बरुआ इस संकलन की तैयारी में इतने जी-जीन मे जुटे हुए थे कि उन्होंने न रात देखी और न दिन। उनके अकस्मात् निधन से उनका यह कार्य अधूरा ही रह गया है।

और मानो इतनी दिशाएं भी अपर्याप्त हों, कि डॉ. बरुआ सफल और उच्चकोटि के उपन्यासकार भी थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'सेउजी पातर काहिनी' (हरी पत्तियों की कथा) असम के चायबागान के जीवन का अन्यतम चित्र है जिसमें उनका लोक-संस्कृति-विषयक अध्ययन इतनी रोचकता से पिरोया गया है कि देखते ही बनता है। यह उपन्यास उन्होंने 'रसना बरुआ' के छद्म नाम से प्रकाशित किया था, और इसकी इतनी धूम मची हुई थी कि वह साहित्य अकादेमी पुरस्कार के लिए भी अनुशंसित हुआ था। डॉ. बरुआ अकादेमी के कार्यकारी-मंडल के सदस्य थे और नियमतः पुरस्कार नहीं पा सकते थे, इसलिए अंतिम मंजिल पर उसे छोड़ देना पड़ा। पर इसमें संदेह नहीं कि वह ऐसा उपन्यास है जो भारत की हर भाषा में अनूदित होना चाहिए।

ऐसा कर्मठ, दूरदर्शी और प्रतिभाशाली व्यक्ति कुल 53 वर्ष की आयु में हमारे बीच से उठ जाये—यह बात जब भी सोचता हूं तो तिलमिला उठता हूं। उनकी मृत्यु का संवाद पाकर अपने एक मित्र को मैंने जो वाक्य लिखा था, वही मेरे भाव का सच्चा परिचायक है : "ऐसा लगता है, मानो किसी ने किसी महाकाव्य के अंतिम पृष्ठ फाड़ डालें हों।"

[रचनाकाल 1964, डॉ. बरुआ के प्रति श्रद्धांजलि रूप में लिखा संस्मरण, 'देवनागर' में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

मुक्तिबोध की याद

हां, सितंबर का महीना हर साल हमें मुक्तिबोध की याद दिलाएगा—क्योंकि गत वर्ष इसी महीने उनका देहांत हुआ। जून के महीने में जब वे उपचार के लिए दिल्ली लाये गये थे तब उनके मित्रों और शुभचिंतकों ने जी-जान से चेष्टा की थी कि वे चंगे हो जायें। और जब वे सारी आशाओं पर पानी फेरकर चल दिये तो पूरे साहित्य-समाज में शोक छा गया था। पर शोक के नीचे त्रास का भी एक कांटा था जिसको मैंने तभी लिखे इस वक्तव्य में व्यक्त किया था जो अभी तक अप्रकाशित ही रहा—

"कल तक मुक्तिबोध भविष्य थे, आज इतिहास बन गये। और जब भविष्य अधूरे रूप में ही इतिहास बन जाता है तो एक टीस छोड़ जाता है। आज हमारे मन में वही टीस है। ऐसा नहीं है कि 11 सितंबर की रात को नौ बजकर दस मिनट पर जब उन्होंने आखिरी सांस ली तो कोई अनभ्र वज्रपात हुआ हो। महीनों पहले से मृत्यु के ये बादल मुक्तिबोध के चारों ओर मंडरा रहे थे और उनके अनेकानेक हितैषी और मित्र इन बादलों का गहरा रंग देखकर कांप उठते और अपने नन्हे-नन्हे हाथों से मुक्तिबोध को ढंकने का प्रयत्न करते। प्रयत्न करते थे पर यह भी जानते थे कि यह प्रयत्न व्यर्थ रहेगा। मुक्तिबोध जहां पहुंच चुके हैं वहां से उनको वापस लाना चमत्कार ही कहलाएगा, और चमत्कार आज के युग में कहां होते हैं? इललिये मुक्तिबोध का जाना हमें कितना ही दुख और विकलता पहुंचाए, उसकी पूर्व-सूचना हमको थी।'पर मन में जो टीस हुई वह असल में इस बात को लेकर कि मुक्तिबोध क्यों इस स्थिति तक पहुंचे कि 46 साल पूरे करते-न-करते वे इस संसार से विदा हो जायें और अपने मित्रों को ऐसी स्थिति में छोड़ जायें कि रोते भी न बनता हो।"

"क्या मुक्तिबोध में कोई मर्मांतक कमी या कमजोरी थी? क्या उनकी प्रतिभा और लगन ओछी थी? क्या उन्होंने अपनी जिंदगी के साथ कोई लापरवाही बरती थी? क्या उन्होंने अपने कर्त्तव्यों से मुंह मोड़ा था? क्या वे हार मान बैठे थे? इन, और ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है : नहीं। तो फिर क्यों मुक्तिबोध का अंत, और अंत ही नहीं उनका समग्र जीवन, अपरितृप्त और अभागा रहा? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही है

कि वे सच्चे अर्थों में लेखक थे, हिंदी के लेखक थे।

"क्योंकि आज के समाज में लेखक होने से बड़ी विडंबना और कोई नहीं है। उन लेखकों की बात और है जो शौकिया लिखते हैं, जो लेखन को धर्म नहीं, आत्माभिव्यक्ति भी नहीं, विलास और क्षणिक यश की सीढ़ी बनाते हैं, या फिर जो लेखन को धंधा बनाये बैठे हैं। मैं तो उन लेखकों की बात कर रहा हूं जो कृतिकार हैं, लेखन जिनकी आत्माभिव्यक्ति है; लेखन जिनके जीवन का एकांत कर्म और लक्ष्य है। ऐसे लेखकों की स्थिति आज के समाज में भयावह है। भारत के स्वतंत्र होने के बावजूद, भारत के जनतंत्र होने के बावजूद, भारत में शिक्षा का निरंतर प्रसार होने के बावजूद, भारत का लेखक और विशेष रूप से हिंदी का लेखक उपेक्षणीय व्यक्ति बना हुआ है। सिनेमा के लिए गीत लिखने पर चाहे आपको सुविधा और संपन्नता मिल जाये, टैक्स्ट बुकों के नाम से चलनेवाले भानमती के पिटारे जोड़ने पर चाहे आप मालामाल हो जाये, जनसाधारण की सुरुचि को विकृत करनेवाली गंदी और अश्लील पुस्तकों का ढेर लगाकर चाहे आप चार पैसे कमा लें, पर यदि आप लेखक बनना चाहते हैं तो हमारा समाज आपका जीवित रहना भी मुश्किल कर देगा। मुक्तिबोध यह न जानते रहे हों, ऐसा नहीं है। उन्होंने जान-बूझकर ही यह पथ अपनाया था। कोई भय या प्रलोभन उन्हें इस पथ से विचलित न कर सका और उन्होंने अपने निर्णय की कीमत अपने प्राण देकर चुकाई। और इस प्रकार उन्होंने प्रेमचंद, निराला, राहुल और रांगेय राघव की परंपरा में अपना नाम भी जोड़ दिया।

"और मेरे मन में आज मुक्तिबोध के जाने पर यही उद्वेलन सबसे प्रमुख है। निस्संदेह मुक्तिबोध के बीमार पड़ने पर मध्यप्रदेश की सरकार ने उनके उपचार की व्यवस्था की। बाद में उनका रोग असाध्य हो जाने पर भारत सरकार के प्रधानमंत्री ने लेखकों के प्रतिवेदन पर तुरंत उन्हें दिल्ली बुलाया और अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था में उनका इलाज करवाया। निस्संदेह पांच-छः महीनों की उनकी बीमारी में उनके अनेक मित्रों ने दिन-रात चिंता और यत्न में काटे हैं, जिससे जो भी बन पड़ा किया है, बिना बताये भी किया है और ढिंढोरा पीटकर भी किया है, और निस्संदेह मुक्तिबोध के शोक में आज दैनिक पत्र बड़े-बड़े लेख निकाल रहे हैं, पत्रिकाएं विशेषांक निकालेंगी, देश-भर में शोक-सभाएं होंगी, उनके स्मृति-ग्रंथ भी छापे जायेंगे और अचरज नहीं कि साहित्य में उनके योग का भी मूल्यांकन होने लग जाये। पर इन कामों से यह तथ्य मिटाया या बदला नहीं जा सकता कि मुक्तिबोध असमय ही चले गये हैं और ये काम यदि समय पर होते तो शायद वे अभी न जाते। मैं जानना चाहता हूं कि हिंदी के अलावा संसार की किस भाषा में यह संभव है कि मुक्तिबोध के स्तर का कवि अप्रकाशित ही मर जाये। हम सब जानते हैं कि आज के पहले उनका एक भी काव्य-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ।

"और मैं अपने इन शब्दों से अपने समानधर्मा चिंतकों, विचारकों और लेखकों से यही निवेदन करना चाहता हूं कि वे सब मिलकर इस बात पर विचार करें कि क्या हमारे समाज में ही कोई ऐसा दोष नहीं है जो मुक्तिबोध

जैसे प्रतिभासंपन्न लेखक को भी लेखन-कर्म में अनवरत जुटे रहने की सुविधा नहीं दे पाता? क्या किसी कृतिकार के लिए यह जरूरी है, या क्या जरूरी होना चाहिए कि वह जिंदा रहने के लिए अपनी कलम को विश्राम दे या उसका दुरुपयोग करे? और मुक्तिबोध ने ऐसा नहीं करना चाहा, क्या इसी कारण उनका असमय में अंत नहीं हुआ? जनतंत्र में यह सहज संभव होना चाहिए कि कलाधर्मी लेखक, जिसकी निष्ठा एकमात्र लेखन पर हो, आत्माभिव्यक्ति पर हो, औसतन सुविधापूर्वक जीवन-निर्वाह कर सके। इसके लिए यह जरूरी नहीं होना चाहिए कि वह शासन-सत्ता की चाटुकारिता करे, व्यावसायिक संस्थाओं या प्रतिष्ठानों के आगे गिड़गिड़ाए अथवा घटिया बनने को विवश हो।"

इस त्रास से मैं उबर नहीं पाया हूं, इसलिए कुछ दिन पहले जब एक संस्था की ओर से मुझे 'मुक्तिबोध-स्मृति-समारोह' का निमंत्रण मिला तो मैं कुछ स्पष्टोक्तियां करने से न रह सका। मैंने लिखा :

"मुक्तिबोध की याद करना और उनकी याद में बैठक करना दोनों बातें समझ में आती हैं। पर यह समझ में नहीं आता कि जिस व्यक्ति ने साहित्य में नयी सड़क बनाने के लिए मिट्टी काटना और रोड़े पीटना तक स्वीकार किया हो, उसकी याद गद्देदार कुर्सियों पर बैठकर की जाये और मुक्तिबोध की भी हालत वही कर दी जाये जो तीन-चार सौ साल पहले सनातनी पंडितों ने क्रांतिकारी कवि तुलसीदास की कर दी थी। अर्थात् उन्हें पूर्व-प्रचलित स्थापित समाज का ही अंग मानकर स्वीकार कर लिया जाये। नहीं, ऐसी कोई भी बात मुक्तिबोध के विरुद्ध ही पड़ेगी। मुक्तिबोध अभाव में रहे, उनकी यादगार की गोष्ठी में वैभव का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। कम-से-कम वह गोष्ठी वैभव के प्रदर्शन पर समाप्त नहीं हो जानी चाहिए' अर्थात् जो रुपया हम-आप इकट्ठा करके इस दो दिन के मेले में बहाने की सोचते हैं उस रुपये से मुक्तिबोध की कुछ और रचनाएं छापकर साहित्य के अखाड़े में खड़ी कर देनी चाहिए। ग्यारह सितंबर को उनका प्रकाशन हो जाये तो क्या कहना! फिर आप जरूर गंभीर चर्चा के लिए एक गोष्ठी भी करें, चाहे भोपाल में चाहे उज्जैन में, चाहे राजनांद गांव में। पर गोष्ठी में वे ही सम्मिलित हों जिनके हृदय में मुक्तिबोध के प्रति भाव भी हो और स्वयं सारा खर्च वहन करके वहां तक पहुंचकर उसका प्रमाण भी दे सकते हों। जो इतना भी नहीं कर सकते, वे मुक्तिबोध के साहित्य की चर्चा करने के अधिकारी नहीं हैं, ऐसा मेरी ओर से मान लीजिए।"

क्या सचमुच मुक्तिबोध को समझना ऐसा ही कठिन है?

[रचनाकाल 1965, 'लहर' में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

व्यासजी : मेरे बालसखा

यों तो व्यासजी मुझसे बड़े हैं, क्योंकि वे तो पूरा अर्धशतक बना चुके हैं और मैं पैंतालीस के ही आसपास चल रहा हूं, और वे जब भी मुझे कोई पुस्तक भेंट करते हैं तो मेरे नाम के पहले चिरंजीव लगाना नहीं भूलते और बिंदुजी को व्यास-पत्नी बहू ही मानती हैं, फिर भी व्यासजी बचपन से ही मुझे अपना मित्र और सखा मानते रहे हैं। इसे मैं उनकी उदारता ही समझता हूं और जब वे आज के बाल-नवयुवकों को भी बराबरी का दर्जा देने लगते हैं तो मुझे कोई ताज्जुब नहीं होता।

व्यासजी से मेरा परिचय अपने बड़े भाई (श्री विद्याभूषण अग्रवाल) की ही मार्फत हुआ। मथुरा में हम लोगों का घर गली सतघड़ा में था और व्यासजी का घर उसी के पास दशावतार गली में था (व्यासजी ने जो ख्याति प्राप्त की है। उसके बल पर, हो सकता है कभी कोई विनोदी मित्र मथुरा नगर-पालिका मे यह प्रस्ताव भी रख दे कि अब उस गली का नाम एकादशावतार हो जाना चाहिए)। और संयोग से दोनों की रुचि साहित्य में होने के कारण दोनों में बड़ा मेलजोल भी था। इसी मेल का फल था वह क्लब जो व्यासजी ने सन् '27 में चालू किया और जिसका नाम उन्होंने 'बाल-नवयुवक क्लब' रखा। मथुरा की डंडेशाही से जो लोग परिचित हैं, उन्हें यह बात मजेदार लगेगी कि सन् '30 के आसपास एक डंडेशाही में इस क्लब ने भी भाग लिया था। मलमल के सफेद बुर्राक कुर्त्ते पहनकर, दुपल्लियां ओढ़े, गले में फूलों की माला डाले, पान से मुंह और ओठ रचे, हाथों में चिकने-चिकने डंडे लेकर जब हम सबने मिलकर यह गीत गाया था :

सन् '27 में शुरू हुई यह बी. एन. क्लब हमारी
बी. एन. क्लब हमारी, रे भाइयो बी. एन. क्लब हमारी।

मैं सोचता हूं क्लब का नाम 'बाल-नवयुवक क्लब' रखने में व्यासजी का यही उद्देश्य रहा होगा कि उसमें मैं भी सम्मिलित हो सकूं, क्योंकि मैं बाकी सब सदस्यों से उम्र में तीन-चार साल छोटा था और किसी भी हालत में नवयुवक

नहीं कहला सकता था। उस क्लब की ओर से व्यासजी ने अपने मंदिर में एक पुस्तकालय भी चलाया जिसमें सब सदस्यों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार पुस्तकें दान में दीं और एक हस्तलिखित पत्रिका भी प्रकट हुई, पर वह जोश कुछ ही दिनों बाद ठंडा हो गया। इतिहास में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि बड़ी-बड़ी क्रांतियां प्रारंभिक असफल प्रयोगों से ही उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टि से मैं 'बी. एन. क्लब' को बेकार नहीं मान सकता, क्योंकि वह चाहे असफल रही हो, पर उसी ने व्यासजी को वह प्रारंभिक अनुभव दिया जिसके बल पर उन्होंने बाद में अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल और दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसी भारत प्रसिद्ध संस्थाओं को अग्रसर किया।

कहने को तो व्यासजी कुछ दिनों मेरे सहपाठी भी थे, शायद कक्षा-7 में, पर कक्षा में उनके सख्य का अब मेरे मन में कोई संस्मरण नहीं। न यही याद है कि उस कक्षा के बाद उन्होंने पढ़ना क्यों छोड़ दिया। जो बात अब तक याद है वह यह कि साहित्य में व्यासजी की रुचि गहरी थी। ब्रज भाषा के सवैये और कवित्त वे धाराप्रवाह रूप से सुनाते थे और ब्रज मंडल की बड़ी-बड़ी पढ़ंतों में उन्होंने अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर श्रोताओं से जयजयकार पाया था। इसके अलावा बचपन की जो बात मुझे याद रह गयी है वह यह कि व्यासजी ने अपनी पारिवारिक परिस्थितियों से विवश होकर एक प्रेस में कम्पोजीटर के रूप में काम करना शुरू किया था, और जब हाई स्कूल की कक्षा में मैं अपने हस्तलिखित पत्र 'भूषण' के लिए फार्म छपाने गया था तो व्यासजी को एक केस के सामने स्टूल पर बैठे देखा था।

पर कम्पोजीटर का काम व्यासजी ने ज्यादा दिन नहीं किया। मैं सोचता हूं यह उपयुक्त स्थान है उस साहित्यिक क्रांति की याद करने का जो मथुरा के वातावरण में सत्येंद्रजी ने उपस्थित की थी। सत्येंद्रजी सन् '33 के आसपास चंपा अग्रवाल हाई स्कूल मथुरा में अध्यापक होकर आये थे और आते ही उन्होंने अपने गहरे साहित्यानुराग और उससे भी गहरे शिक्षानुराग के द्वारा केवल विद्यार्थियों को ही नहीं, नगर के सभी साहित्य-प्रेमियों को अपने इर्द-गिर्द जमा कर लिया था। हम लोग जो विद्यार्थी थे, वे तो उन्हें 'गुरुदेव' ही कहते थे। उनकी सिद्धातनिष्ठा, आदर्शवादिता, कर्मठता और सादगी एक संक्रामक रोग की तरह हम लोगों में प्रवेश कर गयी थी और देखते-देखते सत्येंद्रजी का एक अदृश्य गुरुकुल मथुरा में स्थापित हो गया था। जिसके प्रमुख सदस्यों में क्रमशः मेरे बड़े भाई श्री विद्याभूषण अग्रवाल, मथुरा के प्रसिद्ध एडवोकेट श्री शर्मनलाल अग्रवाल, पद्मश्री गोपालप्रसाद व्यास, दिल्ली के प्रसिद्ध पत्रकार श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी और नेशनल लाइब्रेरी के हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्री कृष्णाचार्य रहे। यद्यपि कुछ दिनों बाद सत्येंद्रजी के आगरा-प्रयाण के कारण गुरुकुल की यह परंपरा और आगे न बढ़ पायी तथापि उन्होंने जो ज्योति मथुरा में जगाई थी, वह आज तक दम देती रही है और उनके ये शिष्य अपने-आपको एक परिवार का अंग मानकर चलते रहे हैं।

व्यासजी के संबंध में मेरे अगले संस्मरण भी आगरा-प्रवास के ही हैं। बात यह है कि बड़े भाई की देखादेखी मैं भी सेंट जान्स कॉलेज में भरती हो गया था और हम दोनों गोकुलपुरे में एक घर लेकर रहते थे। घर की देखभाल भाभी करती थीं। उन्हीं दिनों व्यासजी मथुरा से हमारे घर पधारे। वे और कोई उपाय न पाकर उन दिनों साहित्य रत्न की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और साहित्य रत्न का केंद्र उन दिनों आगरे में ही था। वे महीनों हमारे यहां रहे, वहीं रहकर उन्होंने शानदार ढंग से साहित्य रत्न की परीक्षा पास की और फिर प्रसिद्ध समीक्षा पत्रिका 'साहित्य-संदेश' के सह-संपादक बन गये।

जिस प्रकार मथुरा में सत्येंद्रजी ने एक साहित्यिक-क्षेत्र का निर्माण किया था, ठीक उसी प्रकार आगरा में 'साहित्य-संदेश' के तेजस्वी संपादक-संचालक और 'साहित्य-रत्न भंडार' के अध्यक्ष महेंद्रजी ने भी एक महत्त्वपूर्ण साहित्य-क्षेत्र का निर्माण किया था। सच तो यह है कि सत्येंद्रजी के व्यक्तित्व के निर्माण मे महेंद्रजी का काफी हाथ रहा है और इसलिए सत्येंद्रजी का सारा गुरुकुल सहज ही 'साहित्य-संदेश' परिवार का अंग बन गया है। साहित्य रत्न की परीक्षा पास करने के बाद जब व्यासजी की आजीविका का प्रश्न उठा, तो महेंद्रजी को उन्हें काम देते एक पल भी न लगा और व्यासजी धूमधाम से 'साहित्य-संदेश' के संपादन-मंडल में और नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा, के शिक्षक मंडल में स्थापित हो गये।

लगता है कि यहीं से व्यासजी को अपना सही पथ प्राप्त हुआ। यहीं रहकर उन्होंने ब्रज साहित्य मंडल की स्थापना में योग दिया और फिर उसके विस्तार और विकास में, यहीं रहकर वे श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री जैनेंद्र कुमार और श्री सियारामशरण गुप्त के संपर्क में आये और दिल्ली में उन्होंने जो महान् साहित्य-कार्य किया है, उसकी भूमिका तैयार हुई। यह ठीक है कि 'साहित्य-संदेश' का सीमित क्षेत्र व्यासजी की प्रतिभा को समा न पाता था और जल्दी ही उन्हें वहां से हटकर फैलना पड़ा। पर जितने दिन व्यासजी 'साहित्य-संदेश' में रहे, उसके प्रत्येक अंक पर उनके श्रम और उनकी दृष्टि की छाप मौजूद रही। वे पत्र को मौलिक साहित्यिक प्रश्नों में लगाना चाहते थे। महेंद्रजी उसका स्वरूप अधिकांश में परीक्षोपयोगी रखना चाहते थे। 'साहित्य-संदेश' तो जरूर परीक्षोपयोगी ही रहा, पर व्यासजी के प्रयत्नों से कुछ दिनों तक उसमें महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रश्नों की भी चर्चा रही। उदाहरण के लिए आलोचना के मानदंड संबंधी चर्चा का श्रीगणेश व्यासजी के तत्वावधान में साहित्य-संदेश ने ही किया था।

आगरे में शिक्षा समाप्त कर मैं कलकत्ते भटक गया और व्यासजी दिल्ली चले आये। हम दोनों के जीवन की गतिविधियां बहुत भिन्न और दूर हो गयीं। संपर्क तो रहा, पर उतना सामीप्य न मिल सका। उनके दिल्ली-जीवन की मेरे मन पर जो छाप है वह यही कि वे बाजार सीताराम में या शायद लाल कुआं में एक टीन के सायवान में रहते थे और गमछा लपेटे बाजार में निकल आते थे। उनकी इस फक्कड़ तबीयत ने ही उन्हें पहले-पहल जनप्रिय बनाया और

इस जनप्रियता की पूंजी से ही उन्होंने साहित्य सम्मेलन के काम को धीरे-धीरे इतना गहरा जमा दिया कि आज वह प्रशंसा का ही नहीं, ईर्ष्या का भी विषय है।

सन् '59 के अंत में जब मैं दिल्ली आया तो व्यासजी कीर्ति अर्जित कर चुके थे। हिंदी की सेवा का मार्ग उन्होंने प्रशस्त कर लिया था और उसे वे अपने जीवन का लक्ष्य बना चुके थे। यह स्वाभाविक ही था कि एक नगर में रहकर हम निकट आते और एक-दूसरे की सहायता करते। पर सच्चाई यह है कि जहां तक सहायता का प्रश्न है, वह तो व्यासजी ही करते रहे हैं और मेरे न करने का उन्होंने कभी बुरा नहीं माना। बीच-बीच में वे यह भी कहते रहे हैं कि अब मैं मन से काफी परिपक्व और संतुलित हो गया हूं। इसे मैंने अपने प्रमाण-पत्र से भी अधिक इस बात का सबूत माना है कि व्यासजी की उदारता और दूरदृष्टि अब बहुत व्यापक हो गयी है। इसीलिए मुझे अपार आनंद तो हुआ, पर आश्चर्य जरा भी नहीं जब उन्हें भारत सरकार ने 'पद्मश्री' की दुर्लभ उपाधि से विभूषित किया।

व्यासजी के सामने अभी पूरी अर्धशताब्दी बिछी हुई है और उन्हें अभी बहुत से उपयोगी कार्य करने हैं, इसलिए विस्तृत संस्मरण का अभी समय नहीं आया है। मैं उनके इस सम्मान में पूरी हार्दिकता से योगदान करना चाहता हूं।

[रचनाकाल 1965, 'व्यास अभिनंदन ग्रंथ' 1966 में प्रकाशित।]

देवीशंकर अवस्थी

कठिन परिस्थितियों से घिरा, कष्टमय जीवन और अकाल मृत्यु—साहित्यकार की यह नियति कोई नयी नहीं है। पर देवीशंकर जिस तरह हमारे बीच से चले गये हैं, उसकी काट कुछ इतनी पैनी है कि बरसों तक सालती रहेगी। एक ऐसी दुर्घटना जो नितांत अनावश्यक थी, उनकी मृत्यु का कारण बनी, सो भी इतनी कम उम्र में कि अभी उन्होंने साहित्य के आसमान में अपने पंख तौलना शुरू ही किया था। जब हम उन संभावनाओं की सोचते हैं जो उन्होंने जगाई थीं और फिर देखते हैं कि वे नहीं रहे तो कहीं भी कोई आश्वासन खोजे नहीं मिलता।

छायावाद के काल में साहित्यकार अक्सर अपनी विपन्नता पर विजय पाने के लिए अविवाहित रहना पसंद करता था। प्रगतिवाद के काल में वह अक्सर क्रांति के सपने देखता हुआ अपने परिवार की सुख-सुविधा की अनदेखी कर देता था। पर आज के यथार्थवादी युग में वह साधारण गृहस्थ के दायित्व को ओढ़कर साहित्य-कर्म में लगना श्रेयस्कर मानता है। पहली दो परिस्थितियों में साहित्यकार का व्यक्तित्व एक असाधारणता से, एक वैशिष्ट्य से मंडित हो जाता था। पर आज के साहित्यकार को वह सुविधा प्राप्त नहीं है। उसे साधारण बनना है और इस प्रकार साधारण बने रहने में पहले की अपेक्षा कितना अधिक कष्ट और संकल्प शामिल है यह हम सभी जानते हैं।

देवीशंकर ने अपनी इन परिस्थितियों को सहर्ष स्वीकार करके भी अपने साहित्य-संकल्प को डिगने नहीं दिया। हम सभी जानते हैं कि धीरे-धीरे दिल्ली में साहित्य-कर्म एक उद्योग की शक्ल लेता जा रहा है, कुछ-कुछ उसी तरह जिस तरह बंबई का फिल्म व्यवसाय। फलस्वरूप दिल्ली के साहित्य-जगत् में एक धुरीहीनता, एक अवसरवादिता, एक सुविधा-समझौते की भावना अनिंदनीय मानी जाने लगी है। देवीशंकर इस खतरे से परिचित थे, उसके प्रति उचित आक्रोश से भरे थे और यह उनकी लगन एवं दूरदृष्टि का प्रमाण है कि वे प्रयासपूर्वक प्रतिष्ठानों से दूर रहकर ही प्रतिष्ठित होने की कोशिश में थे।

साहित्य की वेदी पर अपने प्राणों की आहुति चढ़ाने में बहुतों को अमर गौरव मिला है। पर देवीशंकर की आकस्मिक मृत्यु ऐसा निरर्थक अंत है जिसकी भयंकरता शब्दो में नहीं बांधी जा सकती।

[रचनाकाल 1965, अप्रकाशित।]

बेढबजी का हास्य-व्यंग्य : युग के राष्ट्रीय आदर्शों से अनुप्राणित

बेढबजी से मेरा निकट का कोई परिचय न था। मेरा बाल्यकाल और विद्यार्थी जीवन ब्रज प्रदेश में बीता और जीविका के लिए कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक के नगरों की दौड़ लगाता रहा। पर बेढबजी की साहित्यिक कृतियों से मेरा परिचय घनिष्ठ रहा है। किशोरावस्था में उनकी पुस्तक 'बेढब की बहक' मेरी प्रिय पुस्तकों में थी।

उनसे साक्षात्कार करने का पहला अवसर आकाशवाणी, प्रयाग में हुआ। तब जो सुख मिला उसमें कुछ विस्मय का भाव भी शामिल था, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में वैसा कोई असंयम अथवा लष्टं पष्टं भाव नहीं था, जैसा हम हास्य-रस के कवियों के साथ सामान्यत· जोड़ लेते हैं। मैं सोचता हूं, उन्हें यह संयम और महिमा शिक्षक होने के नाते ही मिली थी और वह केवल उनके व्यक्तित्व में ही नहीं, उनकी हास्य-रचनाओं में भी देखी जा सकती थी। अपने समय में जैसा सुरुचिपूर्ण और सधा हुआ हास्य बेढबजी ने लिखा, वैसा उनके अन्य समकालीन न कर सके। फिर क्या आश्चर्य था कि वे सबकी श्रद्धा के पात्र रहे।

हास्य और व्यंग्य का अभिन्न साथ है और बेढबजी की रचनाओं में दोनों मिलते हैं। पर उनका व्यंग्य उन राष्ट्रीय आदर्शों से अनुगणित था जो उनके युग में समस्त राष्ट्रकर्मियों को प्रेरणा देते थे। इसीलिए उनके व्यंग्य में क्षुद्रता अथवा व्यक्तिगत राग-द्वेष का पुट नहीं होता था। यह अपने-आपमें बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

बेढबजी के व्यक्तित्व के एक विशेष पक्ष की ओर संकेत करके मैं अपनी यह श्रद्धांजलि समाप्त करता हूं। अपने बाद आनेवाले लेखकों के प्रति उनमें जो सहानुभूति और उदारता थी, वह उनकी पीढ़ी के बहुत कम लेखकों में मिलती है। जब मैं आकाशवाणी, प्रयाग में काम करता था तब मेरे कुछ तुक्तक इधर-उधर छपे थे। बेढबजी उन्हें देखकर इतने प्रसन्न हुए थे कि अगली बार

की भेंट में उन्होंने विशेष रूप से उनकी चर्चा की और उन दिनों वे जिस पुस्तक की भूमिका लिख रहे थे उसमें मेरे तुक्तकों का बहुत प्रीतिकर उल्लेख किया। अपने एक अग्रज से ऐसा सम्मान पाना अविस्मरणीय कहलाएगा।

[रचनाकाल 1968, बेढबजी के देहावसान के अवसर पर एक श्रद्धांजलि, 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में प्रकाशित।]

स्वर्गीया रजनी पणिकर

श्रीमती रजनी पणिकर के निधन का समाचार इतना अप्रत्याशित और आकस्मिक है कि समझ में नहीं आता क्या कहूं। अभी उनकी उम्र ही क्या थी, और लगभग एक महीने पहले जब साहित्य अकादमी की एक बैठक में भाग लेने वे आई थीं, तब पूर्णतः स्वस्थ और सक्रिय लगती थीं। फिर अचानक यह क्या हो गया!

उनकी अकाल मृत्यु का समाचार मुझे बेहद खिन्न और उदास कर गया है।

श्रीमती रजनी पणिकर से मेरी पहली भेंट आकाशवाणी लखनऊ पर हुई थी—शायद सन् 1950 में। एक तरह से वे मेरी अफसर बनकर आयी थीं, क्योंकि मैं प्रोग्राम असिस्टैन्ट था, और वे प्रोग्राम एक्जीक्यूटिव। तब तक वे अपना एक उपन्यास प्रकाशित कर चुकी थीं—कुमारी रजनी नैयर के उस उपन्यास 'ठोकर' की भूमिका महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने लिखी थी। इस बात ने सहज ही मुझे उनकी ओर आकर्षित किया। और जब मुझे यह मालूम पड़ा कि पंजाब की बेटी होने पर भी उनका विवाह एक मलयालम-भाषी सैनिक अफसर से हुआ है, तब तो मेरे मन में एक श्रद्धा-भाव उमड़ आया।

श्रीमती रजनी पणिकर निस्संदेह तेजस्विनी महिला थीं। भारतीय नारी का जो दुर्बल, कोमल, लज्जा-भीरु चित्र छायावादी युग ने अंकित किया था वे उसका साकार खंडन थीं। साहित्य और प्रसारण काम के मामले में मैं भी अपने को कुछ कम नहीं समझता था, इसलिए दो-तीन वर्ष के उस सहकर्म-काल में श्रीमती पणिकर से मेरी अनेक बार टक्कर हुई। पर हार-जीत से भी बढ़कर एक बात जो मैं कभी नहीं भूला, वह यह है कि उनकी कर्मठता और कुशाग्र-बुद्धि नारी की समानता का अत्यंत विश्वसनीय प्रमाण थी।

एक वाक्य में नारी की समानता सिद्ध करना श्रीमती पणिकर के जीवन की चरितार्थता थी। अपनी रचनाओं से उन्होंने और कुछ किया हो या न किया हो, पर आधुनिक भारतीय नारी की दयनीयता को असिद्ध करके उसकी संघर्षरत

तेजस्विता को प्रतिष्ठित करने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी। नारी को निरे भोग की वस्तु समझकर जो पुरुष-समाज उसे हीन और वशवर्ती मानकर चलता है उसे चुनौती देना मानो श्रीमती पणिकर ने अपना एकमात्र उद्देश्य बना लिया था। यही कारण है कि वे रचना करके ही संतुष्ट नहीं हुईं। उन्होंने लेखिकाओं को ख्याति और प्रोत्साहन देने के लिए 'लेखिका-संघ' की भी स्थापना की और उसके माध्यम से महिलाओं में साहित्यिक रुचि का प्रचार-प्रसार भी किया।

अपने प्रारंभिक उपन्यासों में श्रीमती पणिकर को उतनी सफलता नहीं मिली। जन्मजात प्रतिभा का अभाव और अहिंदी-भाषी क्षेत्र में निवास उनके मार्ग में बाधक बना। पर धीरे-धीरे उन्होंने अपने माध्यम पर वश प्राप्त कर लिया था—और उनकी इधर की कृतियों में कलात्मक निखार और वस्तुगत गहराई आ गयी थी। उनके कई उपन्यास पुरस्कृत भी हुए।

1974, श्रीमती पणिकर को एक श्रद्धांजलि,
नवंबर 1974 'लोकराज' में प्रकाशित।]

प्रसंग

पुस्तक समीक्षा

शरद की दो कहानियां

'बिंदो का लल्ला' और 'सुमति' पर एक दृष्टि

शरद की कोई भी रचना ऐसी नहीं है, जिसे पढ़कर एक सहृदय व्यक्ति द्रवित न हो उठे। कभी-कभी तो ऐसा लगा करता है मानो शरच्चन्द्र ने यह प्रण करके ही अपनी लेखनी उठाई हो कि उसके द्वारा वे पीड़ित परंतु मूक मनुष्यों की ओर सारे संसार का ध्यान आकर्षित कर देंगे। उनकी रचनाओं में मूल रूप से बहनेवाली करुणा की आर्द्र-धारा जीवन के सभी अंगों में अपना मार्ग बनाती हुई मानव के चिर-संतप्त हृदय की अनेक-अनेक परिस्थितियों में हमें पीड़ा की अनुभूति कराती हुई अपनी कातरता से हमारे अंतरतम तक एक दया-भरी चीत्कार पूरित कर प्रवाहित होती हुई मिलती है। शुरू से लेकर आखिर तक शरद में करुणा के दिग्दर्शन होते हैं।

शरद ने नारी-जीवन को विशेषतः अपनी रचनाओं का लक्ष्य बनाया है। वास्तव में यह चकित कर देनेवाली बात है कि जो पुरुष आजीवन अविवाहित रहा—उसी ने नारी-हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्तियों का ऐसा सजीव और सुंदर चित्रण किया है कि उसकी समानता मिलती ही नहीं। नारी के प्रेम, अभिमान, लज्जा, भय और पर दुख-कातर हृदय का जो विवरण शरद ने अपनी रचनाओं द्वारा हमारे सम्मुख रखा है—वह एक दर्पण की भांति ही स्पष्ट और प्रतिबिंब-शक्ति से पूर्ण है।

प्रस्तुत लेख में हम शरद की दो कहानियों का एक संक्षिप्त अध्ययन रख रहे हैं। उनके किसी उपन्यास पर न लिखकर हम जो उनकी कहानियों को ले रहे हैं—इस विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है। एक उपन्यास के विस्तार में हृदय को स्पष्ट कर देना अपेक्षाकृत सरल होता है। परंतु एक कहानी द्वारा ही—जिसमें स्थान और समय अल्प होता है—एक उपन्यास के बराबर भारी बात रख देना वास्तव में कलाकार की महानता सिद्ध कर देता है।

हम जब-जब इन कहानियों पर दृष्टि डालते हैं तब-तब ही हमें हिंदी के दुर्भाग्य पर दुःख होने लग जाता है। वास्तव में यह हमारे लिए लज्जा की बात है कि जो कुछ हमारी भाषा में अच्छा है वह या तो किसी अन्य भाषा का अनुवाद ही है या यदि पूर्णतः अनुवाद नहीं है तो आधार वहीं से

लिया गया है। हिंदी की मौलिक रचनाएं अभी उच्चकोटि की क्यों नहीं होतीं यह तो हम कैसे कहें पर नहीं होतीं यह ठीक ही है। एक भी कहानी अभी हिंदी में ऐसी नहीं है जिसे 'बिंदो का लल्ला' पढ़ लेने पर भी पढ़ने का मन करे।

प्रस्तुत दोनों कहानियों में नारी के मातृत्व का चित्रण है। अभिमान शरद की लगभग सभी नारियों में रहता है। सो इनमें भी है। परंतु परिस्थितियां किस प्रकार उनको विवश कर देती हैं—और अपने प्रेम को अपने पीड़ित कर में दबाकर किस प्रकार छटपटाती रहती हैं, शरद की लेखनी ही इसे व्यक्त कर सकती थी।

पृथक् अध्ययन के पूर्व एक बात शरद की भाषा के संबंध में कह देना चाहते हैं। शरद के हाथों में भाषा अपने समुचित रूप में रहती है—उनके साथ भाषा वास्तव में माध्यम का ही काम करती है। अपने भावों के वाहन के अतिरिक्त शरद बहुत कम भाषा को किसी अन्य प्रयोग में लाते हैं। स्पष्ट, तीखी हृदय में पैठ जानेवाली और प्रवाहपूर्ण उनकी भाषा पाठक को न कभी अपने ऊपर दृष्टि डालने का अवसर देती है, न बेकार के वर्णनों में ही उसका समय नष्ट करती है। 'श्रीकांत' के अतिरिक्त कहीं भी शरद के वर्णन बड़े नहीं हुए। इन कहानियों में तो उसके लिए स्थान ही न था।

1. बिंदो का लल्ला

हम 'बिंदो का लल्ला' को उनकी सर्वोत्कृष्ट गल्प मानते हैं। एक कहानी में इतनी करुणा का समावेश हमें उनमें और कहीं नहीं मिला। स्थान-स्थान पर मन करता है कि लेखक के हाथ से लेखनी छीन कर स्वयं मनचाही दिशा में कहानी बढ़ाएं। परिस्थितियों में मानव-हृदय की विवशता कैसी कलपती रहती है यह इस कहानी और दूसरी कहानी 'सुमति' में अपने सबसे अधिक प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त हुआ है।

बिंदो नवविवाहिता वधू है—संपत्तिवान पिता की कन्या है—अतएव उसमें गर्व और अभिमान की मात्रा अधिक है। पति के घर वह आकर नौकरों इत्यादि पर इतनी कठोर हो गयी कि दो ही दिन में उसके स्वभाव से सब तंग आ गये। बिंदो को फिट आने की बीमारी भी थी। एक दिन उसको फिट आने को था कि उसकी जेठानी अन्नपूर्णा को क्या सूझा कि उसने अपने डेढ़ साल के लड़के अमूल्य को लाकर उसकी गोदी में डाल दिया। बालक रोने लगा। उसे चुप करनें में बिंदो अपने होश में ही रही आयी, फिट न आ पाया।

उसी दिन से बिंदो अमूल्य को प्यार करने लगी। उसके हृदय में जो प्रेम का कोष संचित था और अहंकार एवं अभिमान के कारण जो अभी तक बंद ही पड़ा था, आज इस निरीह बालक के लिए वात्सल्य रूप में मिल गया। बिंदो के जीवन में केवल अमूल्य ही रह गया। इस प्रकार से अन्नपूर्णा उसकी माता न होकर वही अमूल्य की मां बन बैठी।

इसके बाद किस प्रकार तनिक-तनिक-सी बात का ध्यान बिंदो रखती है, बात-बात पर घर-भर में हत्याकांड मचा देती है, ननद के लड़के के घर में आ जाने से अमूल्य की कुटेबों से जैसी चिंतित रहती है वह—उसका वर्णन शरद की लेखनी से पढ़कर बिंदो के विषय में उच्चमत बनाने के अतिरिक्त हम और कुछ नहीं कर सकते। सचमुच एक स्त्री का वात्सल्य किस प्रकार उसके हृदय के अन्य अंगों पर अपनी छाया डालकर उसके जीवन की धारा को बदल देता है उसे पढ़-पढ़ कर हम लेखक की असीम प्रतिभा पर स्तंभित रह जाते हैं।

बिंदो अमूल्य को सुपुत्र बनाना चाहती है—एक महान पुरुष की मां कहलाना चाहती है। इसीलिए वह उसके प्रत्येक आचरण पर कड़ी नज़र रखती है। अपने पुत्र की सद्मनोवृत्ति के लिए एक मां जो कुछ कर सकती है वह हमें बिंदो में मिलता है—यहां तक कि अमूल्य की वास्तविक मां के मुंह के ये शब्द मानो पाठक के हृदय को ही व्यक्त कर देते हैं, "लल्ला से ही फुरसत नहीं, व्यस्त रहती है। सो भी पेट में नहीं धरा—नहीं तो न जाने क्या करती।"

पर बात यहीं समाप्त नहीं होती। अमूल्य अपने फुफेरे भाई नरेंद्र की सोहबत से शैतानी और अवगुण सीख जाता है। उस पर स्कूल में जुर्माना होता है, डर के मारे वह अपनी मां से रुपया चुपचाप ले जाकर दाखिल कर देता है। बिंदो को पता भी नहीं मिलता। लेकिन बिंदो को मालूम होते ही वह इस बात पर अपनी जेठानी से झगड़ा कर बैठती है और कहा-सुनी इतनी अनुचित हो जाती है कि परिवार में पार्थक्य हो जाता है।

बिंदो अपने अभिमानी हृदय में मातृस्नेह की पीड़ा लिये घुलती रहती है पर स्वयं जाकर अमूल्य पर अपना अधिकार नहीं दिखा पाती। वह मायके जाती है, वहां बीमार हो जाती है—मृत्यु की आशंका हो उठती है।

अंत में बिंदो जीतती है। पुत्र और पति के साथ अन्नपूर्णा जाकर उसे मना लाती है और बिंदो मरने नहीं पाती।

कहानी के अंत में एक विशेषता है, रोने-रोने होने पर भी हम रो नहीं पाते, मानो कोई शक्ति आकर हमारे आंसुओं को पी जाती है।

बिंदो के अतिरिक्त, यादव (अन्नपूर्णा के पति) का एकांत-सा जीवन जिसमें बिंदो के प्रति अगाध स्नेह है, माधव (बिंदो के पति) की अपने बड़े भाई पर श्रद्धा और अन्नपूर्णा की गृह-कुशलता एवं मातृ-हृदय की कमजोरियों से शरद बाबू की मनोवैज्ञानिक पूर्णता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वास्तव में कहानी के अंग-अंग में ऐसी स्वाभाविकता और उसके वातावरण में ऐसी गंभीरता भरी हुई मिलती है कि सारी घटनाओं को केवल पूर्ण सम्भावित कहने के अतिरिक्त पाठक और कुछ नहीं कर सकता। एक छोटे-से चित्र द्वारा ही हमारे सम्मुख संसार के अनेक दृष्टिकोण आ जाते हैं।

2. सुमति

सुमति में नरायनी का चरित्र-चित्रण बिंदो की भांति जहां मुख्य नहीं रह गया है, वहीं अमूल्य के विरुद्ध राम का चित्र स्पष्टतः अंकित किया गया है। बंगला में शरद बाबू की इस कहानी का नाम 'रामेर सुमति' है जिससे पता लगता है कि लेखक का अभिप्राय राम का चरित्र उपस्थित करना ही है।

दोनों कहानियों में काफी समानता है। श्यामलाल की पत्नी नरायनी अपने देवर राम को बहुत प्यार करती है। राम बारह-चौदह वर्ष का उद्दंड लड़का है—बहुत ही शैतान, गांव की नटखट-मंडली का मुखिया। उसके उपद्रवों की शिकायतों से गांव का वातावरण निरंतर गूंजता रहता है, स्वयं नरायनी भी परेशान रहती है।

पर नरायनी का राम के प्रति जो सहज वात्सल्य है और राम की अपनी भाभी के प्रति जो स्वाभाविक स्नेहमिश्रित श्रद्धा है, वह सारे वातावरण में एक सुगंधि का संचार कर देती है। राम—उद्दंड राम—अपनी भाभी के आगे ऐसा अबोध बन जाता है कि हम चकित-से रह जाते हैं। नरायनी अपने प्रेम के कारण कितनी करुण और कितनी कठोर बन सकती है, यह भी हमें चौंका देता है—पर उनकी स्वाभाविकता पर संदेह करना एकदम असंभव है।

नरायनी की मां दिगंबरी के प्रवेश से घर में कलह की सृष्टि होती है। दिगंबरी राम को नहीं देख सकती—राम दिगंबरी की उपस्थिति सहन नहीं कर सकता। बात-बात में बखेड़े उत्पन्न होते हैं। अंत में तंग आकर श्यामलाल अपने छोटे भाई को अलग कर देता है।

राम के भय की सीमा नहीं रहती। भाभी उसे खाने को नहीं बुलाती, उससे अच्छी तरह बात नहीं करती—और अब उस घर में उसका प्रवेश भी निषिद्ध है—वह बेचारा घबरा उठता है। अंत में जाने को तैयार होकर कहीं को भी चल देना चाहता है।

भाभी का धैर्य जवाब दे देता है। अपने पति की सौगंध में बाध्य वह अपने पुत्र-तुल्य देवर को इतनी उपेक्षा से देखना जैसे-तैसे सह लेती है, पर उसको जाते देख वह उसे स्वयं बुलाकर फिर ग्रहण कर लेती है। स्नेह की विजय होती है।

कहानी में छोटे-छोटे विवरणों का स्वाभाविक वर्णन और शरद की विशेषतामयी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति आकर्षण और कथानक को दुगुना कर देती है।

[रचनाकाल संभवतः 1935-36,
'साहित्य-संदेश' मे प्रकाशित।]

एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति

हमारे जीवन में घुन लग गया है। जीवन को नये ढंग से सोचना, उसकी आवश्यकताओं पर विचार कर उनकी पूर्ति के नवीन उपायों की खोज करना और फिर उनको क्रियात्मक रूप में समाज के सन्मुख रखना जैसे हमने सीखा ही नहीं। जहां विज्ञान और ज्ञान के क्षेत्र में संसार की अन्य जातियां वायु-वेग से अग्रसर हो रही हैं, वहां हम अभी अपनी नींद छोड़कर आंखें ही मल रहे हैं। हमारी यह निष्क्रियता एक क्षेत्र में ही सीमित हो यह बात नहीं। यह सर्वतोमुखी और व्यापक है—कोई भी क्षेत्र इस भारतीय मनोवृत्ति से अछूता नहीं बचा है।

और यही दशा हमारे साहित्य की है। जहां अन्य देशों के साहित्यिकों ने अपने-अपने साहित्य को पुष्ट और संपूर्ण बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी है—वहां हमारे लेखकों ने भिन्न-भिन्न विभागों में ठोस कार्य करना अभी सीखा भी नहीं है। व्यक्तिगत शैली और अपनत्व की छाप हमारे लेखकों में बहुत ही कम पायी जाती है। स्वतंत्र साधनों का हमें कोई ज्ञान ही नहीं है—हमने तो केवल प्रभाव में बहना-भर सीखा है।

समाचार-पत्रों से सामयिक साहित्य को अत्यंत सराहनीय सहायता प्राप्त हुआ करती है। वास्तव में समाचार-पत्र ही साहित्य की उन्नत अथवा विपरीत अवस्था के परिचायक हैं। साहित्य-भवन के लिए समाचार-पत्र सुदृढ़ स्तंभ की भांति हैं।

समाचार-पत्रों में मासिक-पत्रों का एक अपना विशेष स्थान है। दैनिक पत्र सामयिक समाचारों के संकलन में ही सारा समय व्यतीत कर देते हैं—अतएव उनसे किसी भी भाषा के सहित्य के लिए कोई स्थायी कार्य होना कठिन ही हो जाता है। दैनिक पत्र साहित्य के प्रचारक-स्वरूप हैं। परंतु मासिक-पत्र समाचार और संवादों में ही अपना समय व्यतीत न कर साहित्य की वर्तमान प्रगति, उसके लेखकों की मनोवृत्ति और उसकी उन्नति पर अपना सारा ध्यान रखकर एक समालोचक की भांति निष्पक्ष होकर साहित्यं को आदर्श बनाने के लिए उचित मार्ग-प्रदर्शन करते तथा सक्रिय साधनों से परिचित कराते हैं।

मासिक-पत्र ही साहित्य की कसौटी हैं। परंतु खेद है कि समाज, शिष्टाचार तथा साहित्य के अन्य अंगों की भांति इस अंग का भी हम सुचारु रूप से निर्वाह नहीं कर सके हैं। वर्तमान हिंदी के मासिक पत्रों की अवस्था अत्यंत शोचनीय है। एक प्रकार से साहित्य-सुधार के इस सर्वप्रिय साधन का दुरुपयोग ही हो रहा है। साहित्य को सुदृढ़ और संपन्न करने के उद्देश्य से परे होकर हमारे मासिक पत्रों ने असंबद्ध एवं अनावश्यक बातों की ओर ही अधिक झुकाव दिखाया है। अभी तक हमारी दृष्टि में कोई ऐसा मासिक पत्र नहीं आया जो व्यक्तिगत झंझटों से अछूता रहकर, साहित्य के लिए स्थायी और ठोस कार्य कराने में सफल हो। अंगरेजी में Literary Digest आदि अनेक ऐसे पत्र हैं जो सामयिक परिस्थितियों से विग्रह में रहकर एकांत भाव से साहित्य में सुरुचि उत्पन्न करने में प्रोत्साहन देते हैं परंतु हिंदी में ऐसे पत्रों का सर्वथा अभाव ही है।

मासिक-पत्रों का क्षेत्र कविता, कहानी, धारावाहिक उपन्यास और सिनेमा तक ही सीमित जान पड़ता है। साहित्य में गंभीर और अध्ययनपूर्ण निबंधों की बहुत भारी कमी है। इस कमी की ओर किसी का ध्यान न गया हो—यह बात भी नहीं। परंतु पत्रकारों ने अपनी असावधानी से ही परिस्थितियां इतनी विषम बना ली हैं कि अब वे स्वयं उनसे मुक्त नहीं हो सकते। आर्थिक प्रश्न इन सबमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि हिंदी में एक ऐसे सुरुचि-संपन्न साहित्यिक मासिक-पत्र की अत्यंत आवश्यकता है जो हिंदी में गंभीर और स्थायी कार्यों को प्रोत्साहन दे सके। हर्ष का विषय है कि अभी हाल में ही इस आवश्यकता की पूर्ति हो गयी है। आगरे से बाबू गुलाबराय एम. ए. के संपादकत्व में 'साहित्य-संदेश' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ है। इस पत्र का उद्देश्य और आदर्श ठीक वही है—जिसकी कि इस समय हिंदी में परम आवश्यकता थी। श्री महेंद्रजी ने इस पत्र का प्रकाशन कर हिंदी के एक महत्त्वपूर्ण अभाव की पूर्ति की है। आगरा की जनता के लिए यह बड़े सौभाग्य का विषय है।

'साहित्य-संदेश' को निकले अभी केवल दो मास ही हुए हैं—परंतु फिर भी इसका स्थान बहुत ऊंचा है। अनेक विद्वानों ने इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और पूज्य आचार्यजी ने इसके पुनीत आदर्श की सराहना की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी साहित्य में साहित्य-संदेश एक Milestone है। मनोरंजक कहानियों, सिनेमा-समाचारों और चलती-फिरती बातों के स्थान पर इसके अंकों में बहुत ही गंभीर विवेचनापूर्ण विद्वानों के लेख और निबंध हैं। इसके दो अंकों ने ही इसकी सुरुचि का परिचय दे दिया है। बड़े से बड़े हिंदी लेखकों का इसको सहयोग प्राप्त है। हमें पूर्ण विश्वास है यह पत्र अपने निश्चित आदर्श का अनुकरण कर साहित्य की महान सेवा करने में सफल हो सकेगा और अन्य पत्रों के लिए पथ-प्रदर्शक बन सकेगा। इसके संपादक और प्रकाशक इतने

महत्त्वपूर्ण पत्र को प्रकाशित करने के लिए हमारे बधाई के पात्र हैं।

एक बात और—इतना आदर्श पत्र होते हुए भी इसका मूल्य सबसे कम है। इसका वार्षिक मूल्य 2 रु. है और विद्यार्थियों एवं पुस्तकालयों के लिए केवल 1 रु.। अन्य पत्रकारों को इससे शिक्षा लेनी चाहिए। पं. रामनारायण मिश्र के शब्दों में—"इतना सस्ता और अच्छा पत्र निकालना आप ही का काम है।" हम सारे साहित्यिक-वर्ग से निवेदन करते हैं कि इस प्रतिभाशाली पत्र की भरसक सहायता करें जिससे हिंदी के एक आवश्यक अंग की पूर्ति संभव हो सके।

[रचनाकाल 1937, 'आगरा पंच'
4 अगस्त, 1937 में प्रकाशित।]

'उन्मुक्त' : वर्तमान युद्ध की बर्बरता का चित्र

'उन्मुक्त' कवि सियारामशरण गुप्त की नवीनतम रचना है। यह बात नहीं है कि उसके विषय में हमारे साहित्य-क्षेत्र में चर्चा ही न हुई हो। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वानों की लेखनी से 'उन्मुक्त' आदर पा चुका है। विज्ञ आलोचकों ने बतलाया है कि 'उन्मुक्त' में एक सफल टेकनीक है, कि वह 'गांधीवाद' के दर्शन-पक्ष की सफल अभिव्यक्ति है, कि उसमें तपःपूत आत्मा का अमर संदेश है। और भी इसी तरह की अनेक शास्त्रीय बातें हमें पढ़ने को मिली हैं, जो साहित्य के परीक्षार्थियों के विशेष काम की हैं।

पर अभी तक 'उन्मुक्त' के संबंध में जो बात नहीं कही गयी है, और जिसको कहने की हमें नितांत आवश्यकता प्रतीत होती है, वह यह है कि 'उन्मुक्त' वर्तमान हिंदी साहित्य का प्रथम क्रांतिकारी काव्य है। संप्रति हमारा आलोचना-साहित्य जिस शास्त्रीय ढंग को अपनाता जा रहा है, उसमें समालोचना के कटे-छंटे साधन उपलब्ध हैं। साहित्य को एक बक्स में बंद कर बाल की खाल निकाली जाती है, पुस्तक के विषय में कुछ परिचयात्मक बातें सुंदर शब्दावली में कह दी जाती हैं, और आलोचक के कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली गयी है। ऐसे पृष्ठाधार में यह कोई आश्चर्यजनक नहीं है कि 'उन्मुक्त' के महत्त्व को पहचाना न जा सके, और अनेक अन्य रचनाओं की भांति उस पर कुछ प्रशंसात्मक बातें कहकर छुट्टी पा ली गयी हो।

जिस विचार-रहित झोंक के साथ हिंदी में आज शब्दावलियों का उपयोग हो रहा है, उस पर दृष्टि रखकर हम दुहराते हैं कि 'उन्मुक्त' वर्तमान हिंदी काव्य में प्रथम क्रांतिकारी रचना है। गुप्तजी के व्यक्तित्व का और क्रांति के साथ उग्रता का जो भाव लगा हुआ है, उनका मिलान करने पर इस वाक्य को असत्य माना जा सकता है, पर विचार करने पर इस सत्य से बचना कठिन होगा।

हिंदी-काव्य में इस समय तीन प्रधान प्रवृत्तियां हैं। एक, स्वप्नशील—जो छायावाद की वायव्य अभिव्यक्ति को छोड़कर रूप और उल्लास के मांसल आधार को ग्रहण कर चुकी है, दो, विस्फोट-शील—जो क्रांति के सामाजिक

और ऐतिहासिक पक्ष से विमुख होकर जोर-जोर से बजनेवाले शब्दों में इंकलाब, क्रांति और प्रलय का आह्वान कर रही है, और तीन, प्रगतिशील—जो एक भूल से बचने की चेष्टा में दूसरी भूल कर बैठी है और अपना भोजन जीवन से न पाकर बौद्धिक सिद्धांतों से पाने के प्रयास में प्रभावात्मकता खो रही है। यदि विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि ये तीनों ही कल्पना-विलास हैं। सचमुच ही भविष्य के साहित्यितिहासकार के निकट यह एक बड़ी मनोरंजक बात होगी कि हिंदी का कवि विश्व की प्रगति से अपने संस्कारों को एकदम अछूता रखकर, एक हठपूर्ण उदासीनता में काल्पनिक लोक में रहा आया। क्योंकि सच्चे साहित्य को जिस सामाजिक आधार की अनिवार्य शरण लेनी होती है, उसे हमारा कवि पाने से निरंतर इनकार करता रहा है और एक स्टेज से दूसरी स्टेज में जाते समय भी वह भूमि पर पैर नहीं रखता। ऊपर की तीनों प्रवृत्तियों में अपवाद-स्वरूप सुंदर और सच्ची रचनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया है। लेकिन वैसे यह ठीक ही है कि जिस ढंग से हिंदी का कवि रचना करता है, उससे चाहे वह रूपसी का आह्वान करे या क्रांति का, मुस्कानों का वर्णन करे या मजदूरों की आहों का—वह जीवन से उतना ही दूर रहता है। एक विषय घिस जाने पर वह दूसरा विषय चुनता है, एक संसार मिट जाने पर वह दूसरा बनाता है। पर अपना दृष्टिकोण नहीं बदलता, संसार बनाना छोड़कर संसार को अपनाना शुरू नहीं करता।

इसलिए 'उन्मुक्त' हिंदी की एक युग-परिवर्तनकारी रचना है और उसकी निर्माण-तिथि एक ऐतिहासिक तिथि है। जब हिंदी में यह वाद-विवाद चल रहा था कि कवि का राजनीति से कोई लगाव होना चाहिए या नहीं, जब यह पूछा जा रहा था कि कला समाज के लिए है या निज के लिए, जब यह जिज्ञासा लोगों का ध्यान आकर्षित कर रही थी कि युग का सत्य कवि का विषय है, या युग-युग का—तब हिंदी के एक स्वस्थ कवि ने अपने मुक्त-मन की सहज-प्रेरणा से अपनी कला को सामाजिक आधार देकर एक ऐसे युग की रचना कर डाली जो युग, समाज और राजनीति तीनों में ही अपने कवित्व को कृतार्थ पाता है, और इस प्रकार हिंदी में एक सच्ची प्रगतिशील रचना के दर्शन हुए, जो सीमाओं से घिरी है तो क्या, पर जो जीवन पर आधारित है, शास्त्रीय सिद्धांत पर या वर्गीय मन की कल्पना पर नहीं।

विगत असहयोग और सत्याग्रह-संग्राम के काल में हिंदी को एक अवसर प्राप्त हुआ था कि वह सामाजिक बने। पर वह खो दिया गया। यह बात नहीं कि साहित्य उससे अछूता ही रह गया हो। उस समय समस्त देश में जो अग्नि प्रज्ज्वलित हो गयी उसमें कवि का अंतर भस्म होकर नया रूप तो न ले सका, पर उसके ताप का अनुभव उसने किया और उसके जमे हुए विश्वासों की लौह-शृंखला की कुछ कड़ियां भी पिघलीं। राष्ट्रीय-गान बने, आंदोलन और डांड़ी-मार्च पर कविताएं लिखी गयीं और हिंदी की 'युग-युग' की हिमायती

कला ने गांधीजी को नायक भी स्वीकारा। 'नवीन' का 'पराजय-गान' जहां तक हम याद कर सकते हैं, उन रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रहा। और वह आज भी लोगों के मन में है तो इसी कारण कि उसमें सत्याग्रही जनता की तत्कालीन भावना का, जनानुभूति का प्रबल और प्रखर समावेश हुआ है। लेकिन हिंदी का कवि तब भी अपना दृष्टिकोण न बदल सका, क्योंकि कला का जो रूप हमारे सदियों के संस्कारों ने बना रखा था उसमें वह कवि के व्यष्टि की अंतर्संगिणी थी, समष्टि की शक्ति नहीं थी। और इसलिए उन दिनों की राष्ट्रीय रचनाएं भी मुक्तक का ही रूप ले सकीं और वे सामाजिक न होकर वैयक्तिक ही रहीं।

और हिंदी के कवि की इस प्रमादमयी उदासीनता का ही यह अनिवार्य परिणाम हमारे सामने है कि आज जब जन-तंत्र विश्व की भट्टी में अपना स्थायी स्वरूप पानेवाला है, तब भी हममें ऐसी कोई प्रेरणा नहीं है कि हम उसमें अपना कोई योग दे सकें। हिंदी के कवि, कम-से-कम कुछ कवि कर्मठ हैं, राजनीति, समाजनीति और नव-निर्माण पर कहने को भी उनके पास बहुत कुछ है। पर उनका व्यक्तित्व दो पृथक भागों में विभाजित है। जिस व्यक्तित्व से हिंदी का कवि समाज की इकाई बनता है, उस व्यक्तित्व से वह कलाकार नहीं बनता और इस कारण आज वह कला, जिसका प्रथम उत्स सामाजिक सहयोग से ही जन्मा था, अंतर की, निभृत-वास की वस्तु हो गयी है।

'उन्मुक्त' हिंदी की कविता की इस एकांत अलौकिकता के विरुद्ध एक आवाज है, और वह बड़ी सशक्त आवाज है। हमारे देश ने वर्तमान युद्ध में जो तटस्थता रखी है, वह अत्यंत हानिकर सिद्ध हुई है। देश की एकमात्र राष्ट्रीय संस्था अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने भी इस भूल को हाल में ही पहचान पाया है। फिर साहित्य की तो चर्चा ही व्यर्थ है जो तुलसी के बाद से जनता का नेतृत्व न कर उसका अनुगमन करता रहा है, और जो देश की समष्टि के मानस को भोजन न देकर स्वयं जुगाली करता रहा है। युद्ध की बर्बरता की बात हम सब सुनते रहे हैं, और अब जब वह हमारे काफी निकट आ पहुंचा है तो हम शायद सुनकर कांप भी रहे हैं। पर उसका मनःप्रेषण कर उसमें अपनी सहानुभूति नहीं घोल सके हैं—उससे आत्मसात करने की तो बात ही क्या! और यह सब बिना किसी संकोच या हिचक के केवल इसीलिए हो कि प्रथम तो भारतवर्ष की राजनीति यह सोचती रही कि वह इस युद्ध से अछूती रह जायेगी और इसीलिए उसे विदेशी राजनीति से लगाव स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, और फिर हिंदी-साहित्य यह सोचता रहा कि वह देश-काल-परिस्थिति से अछूता रह सकेगा, और इसलिए उसे भारतीय राजनीति से भी लगाव स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार दो तालों में बंद हिंदी साहित्य का मानस विश्व-शरीर के घावों के प्रति पूर्ण तटस्थ रह सका।

सियारामशरण गुप्त वास्तव में हिंदी साहित्य की कृतज्ञता के पात्र हैं कि उन्होंने उसकी आंखें खोली हैं। जीवन और साहित्य के प्रति उनका जो निर्बंध अप्रोच (Approach) है—वह उन्हें बरबस इस 'उन्मुक्त' की रचना की प्रेरणा दे सका। स्वयं रोग से पीड़ित होते हुए भी उन्होंने यूरोप के रोग और उसकी पीड़ा को एक कृती की सहानुभूति से देखा और अपनी मंजी हुई कला द्वारा—जिसमें सब कुछ छन कर आता है—वर्तमान युद्ध की बर्बरता का अत्यंत स-प्राण और विशद-चित्र उपस्थित किया है। स्वार्थ और एकाधिकार के लिए विज्ञान का, और उससे भी बढ़कर मानव-मन और विचार का जो शोषण आज यूरोप में हो रहा है, उसकी संपूर्ण प्रणाली इसमें है। इस प्रकार यह काव्य देश-काल और परिस्थिति से ऊपर उठने का कोई ढोंग न कर शक्ति के साथ उन्हीं को अपना आधार बनाता है, वह सिद्ध करता है कि कविता का स्रोत मन नहीं पर विश्व और समाज है, और सिद्धांत को न देखकर जीवन-दर्शन ही सच्ची राह है।

['समाज सेवक' 1941 में प्रकाशित।]

पंत : गद्य-पथ पर

'काव्य ही कवि का परम वक्तव्य है' (स. ही. वात्स्यायन) पर कभी-कभी परिस्थितिवश कवि को अपनी बात अन्य माध्यम से भी कहनी पड़ जाती है। विशेषतः प्रथम महायुद्ध और उसके बाद से भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो संक्रांति उपस्थित हुई, और जो आज तक उत्तरोत्तर गहन-गंभीर रूप ग्रहण करती जा रही है, उसने कवि को बाध्य कर दिया कि वह काव्य और जीवन-संबंधी अपनी मान्यताएं पाठकों तक पहुंचाये, और जीवन की गतिविधि के अनुरूप काव्यगत वस्तु और शिल्प में निरंतर प्रतिफलित परिवर्तन की ओर उसके विवेक को जागृत करे। इसी कारण आज के कवि को स्वयं अपना व्याख्याता भी बनना पड़ा है, और जो मूल्यांकन उसे अपने आलोचक से सहज ही मिल जाना चाहिए था, उसकी ओर भी ध्यान दिलाना पड़ा है। यह चाहे कवि का धर्म न हो, अपधर्म ही हो, पर यह आवश्यक है, और कविता में जो विकास और संक्रांति उपस्थित हुई है, उसका आग्रह है।

इसीलिए अपने प्रथम प्रकाशित काव्य-संग्रह 'पल्लव' के साथ नवयुगवाहक कवि पंत को एक विशद भूमिका जोड़ देनी पड़ी थी जिसमें उन्होंने तत्कालीन काव्य परिस्थितियों का विवेचन कर अपनी काव्य-शैली और रूप-प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की थी। 'पल्लव' की वह भूमिका युगांतरकारी थी, और अपनी ओजस्विता और नवीन दृष्टि के लिए ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। तब से लेकर अब तक युग-शिल्पी पंत के काव्य ने जीवन और समय की प्रगति के साथ-साथ चलते हुए अनेक मोड़ पार किये हैं, और प्रायः प्रत्येक मोड़ पर उनको अपनी नयी प्रगति का महत्त्व उद्घाटित करने के उद्देश्य से गद्य की पगडंडियों का सहारा लेना पड़ा है। इन्हीं पगडंडियों का संग्रह अब 'गद्य-पथ' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

गद्य का यह पथ कवि पंत ने अवश्य ही आपद्धर्म से निःसृत सामयिक आवश्यकता के रूप में अपनाया पर उनके इन निबंधों को एकत्र देखकर हमें इस आकस्मिक संयोग से आंतरिक सुख भी मिलता है। क्योंकि इन निबंधों में पिछले तीस वर्षों की कविता के उत्थान, विकास और विस्तार का जो आकलन

है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पंत की कोटि के कवि-साधक में अपने युग की समस्याओं का विश्लेषण करने और उनसे उद्भूत काव्य-प्रभावों का मूल्यांकन करने की ऐसी असाधारण क्षमता विरल ही है।

'पल्लव' का काल कवि पंत की कला का उदय-काल है, इसीलिए उसकी भूमिका में जो प्रखर आत्मविश्वास और अपनी बात को बेहिचक कह सकने का खुलापन है वह तत्काल मन पर प्रभाव डालता है। 'पल्लव' के साथ पंत ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया था, उसमें यद्यपि खड़ी बोली निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी, पर अभी ब्रजभाषा और उसके काव्य के प्रति लोभ भरी दृष्टि बराबर जाती थी, और ऐसा भी माना जाता था कि खड़ी बोली गद्य के लिए तो ठीक है, पर पद्य-रचना ब्रजभाषा में ही मधुर हो सकती है। अपनी इस भूमिका में, इसीलिए, पंत को एक प्रकार से हिंदी के समस्त पूर्व काव्य पर दृष्टि-निक्षेप करना पड़ा, और प्राचीन महारथियों के प्रति यथायोग्य श्रद्धा प्रगट कर चुकने के बाद ब्रजकाव्य और ब्रजभाषा-माध्यम की सीमाएं दिखानी पड़ीं। उनकी वाणी में युग की पुकार थी, और तरुण कवि हृदय का ओज था, इसीलिए उनकी शैली और वाक्य विन्यास में असाधारण प्रवाह और गहरी प्रभावोत्पादकता है। "पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़ करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृभिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचोबीच बहती हुई अमृत जान्हवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न, कालानिल के झोंकों से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएं हैं।"

उद्दाम निर्झर की-सी वेगवती शैली में मन के उत्साह को नाना रूपक-प्रतीकों के माध्यम से चित्रित कर पंत ने इस भूमिका में ब्रजभाषा युग की परिसमाप्ति और नवीन सांस्कृतिक जागरण को शंखध्वनित किया था। पंत कवि के रूप में अपने कर्त्तव्य और धर्म के प्रति सदैव सचेत रहे हैं। इस भूमिका से भी स्पष्ट है कि वे काव्य-इतिहास के किस मोड़ पर हैं, यह स्पष्टतः चीन्हते थे। और भूमिका के पहले भाग का अंत जिन वाक्यों से होता है वे ऐसी भविष्यवाणी लगते हैं जो आज सच हो चुकी हैं।

'पल्लव' की इस भूमिका के उत्तरार्द्ध में कवि ने अपनी कविता के शिल्प-विधान और रूप-प्रकार की विवेचना उपस्थित की है, विशेष रूप से उन्होंने अपनी शब्द-योजना और छंद-संगीत पर दृष्टि डाली है। उन दिनों छायावाद के विरोध में सबसे प्रबल तर्क उसके रूप और शिल्प को लेकर ही दिये जाते थे, इसलिए यह व्याख्या आवश्यक और समयानुकूल ही थी। इस अंश को पढ़ने से हम अचानक कवि के अनुभवों के साझीदार हो जाते हैं। एक-एक शब्द कवि के मन में कौन-सी झंकारें जगाता है, शब्दों से भावों और व्यापारों की

चित्र-योजना किस प्रकार की जाती है, यह पंत ने अत्यंत मनोरम और उल्लासपूर्ण ढंग से इस भूमिका में स्पष्ट कर अपने सूक्ष्म संवेदनशील मन की एक झांकी दी है। यह ठीक है कि सारी भूमिका में छायावाद के भाव-जगत का कोई निरूपण नहीं है, निरूपण तो क्या उल्लेख तक नहीं है, पर कवि यह जानता न हो, सो नहीं। शिल्प और रूप-विधान पर उसने यह ज़ोर जान-बूझकर, उसकी अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करके ही दिया है, और आज तो यह बात हम निश्चय रूप से जानते हैं कि हिंदी कविता में छायावाद की प्रतिष्ठा और सम्मान में 'पल्लव' की इस ऐतिहासिक भूमिका का अत्यंत मूल्यवान योग रहा।

अपने प्रथम काव्य-संग्रह, और 'पल्लव' के उपरांत प्रकाशित, 'वीणा' के लिए पंत ने जो भूमिका लिखी थी, और जो बाद में संक्षिप्त और संशोधित रूप में ही प्रकाशित हुई, वह अपने 'पूर्वकल्पित' रूप में पहली बार 'गद्य-पथ' में संगृहीत हुई है। तीन पृष्ठों की छोटी-सी इस भूमिका में कवि पंत के एक ऐसे व्यक्तित्व की झलक है जो अन्यत्र नहीं मिलती। इसमें उनके स्वर में व्यंग्य की किंचित परुषता भी है, और आत्मरति का पुट भी, जो निश्चित रूप से तत्कालीन हिंदी-काव्य-मठाधीशों की समयांधता की ही प्रतिक्रिया है। इन स्वनामधन्य आलोचकों ने छायावादी काव्य-कृतित्व को समझने और परखने के स्थान पर उसकी जैसी बेहिसाब खिल्ली उड़ाई, उससे पंत जैसे कोमल-स्वभाव प्राणी को भी यदि यह स्वर अपनाना पड़ा तो क्या आश्चर्य! यही नहीं, इस छोटी-सी भूमिका में छायावाद के विरुद्ध दिये गये तर्कों की जो झलक है वह बरबस हमें आज दिन प्रयोगशील काव्य के विरुद्ध तर्कों का स्मरण करा देती है, और यह कहने पर विवश करती है कि अपनी सहज संवेदन शक्ति के सहारे हिंदी के कवि ने समय-समय पर जो युगानुरूप मार्ग ग्रहण किया है उसका सच्चा आशय समझने में हिंदी के तत्कालीन गद्दीधारी आलोचक असमर्थ रहे हैं। यह तो ठीक है कि आलोचना सदैव आलोच्य की अनुगामिनी होती है, पर हिंदी साहित्य में छायावाद काल के प्रारंभ से प्रयोगवाद काल तक के इस दीर्घ समय में आलोचना ने पहले अपने आलोच्य का तिरस्कार कर बाद में ही उसका मूल्य पहचाना है।

'वीणा', 'ग्रंथि' और 'पल्लव' के बाद 'गुंजन', 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'—कवि पंत की काव्य-चेतना के ये विकास-चरण हैं। इन सारी काव्य-कृतियों में 'गुंजन' एक प्रकार से बीच की कड़ी है, और उसमें प्रौढ़तर भाव-मंथन ध्वनित है। 'गुंजन' तक आते-आते हिंदी में छायावाद समादृत और प्रतिष्ठित हो चुका था, उसके उद्घोषक कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारंभ हो गया था; वैसे भी वह काव्य-चेतना के एक चरण की परिणति सूचित करता है। इसीलिए, 'गुंजन' में कवि ने गद्य-पथ का सहारा नहीं लिया, और बाद में 'युगांत', 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' के प्रकाशन तक उसको इस पथ की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि इनमें अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियां युग-जनित भावनाएं थीं, और यह हिंदी के लिए शुभ योग था कि उन्हें परखने

वाले आलोचक उस समय विद्यमान थे। सच तो यह है कि छायावाद के उपरांत जो सशक्त सामाजिक भाव-धारा हिंदी में प्रवाहित हुई उसने कम-से-कम प्रारंभ में, कवि और आलोचक की दूरी घटा दी। पंत के काव्य में जो मोड़ इस समय उपस्थित हुआ उसका सहज अपनाव आलोचकों में मिला, और छायावाद का यह अग्रदूत अनायास ही नयी सामाजिक चेतना का भी अग्रदूत बना। निरंतर विकास करते रहनेवाले कवि पंत की यह सिद्धि साधारण नहीं है क्योंकि ऐसा बहुत ही कम होता है कि अपने ही द्वारा प्रतिपादित भाव और सिद्धांत को छोड़कर कलाकार आगे बढ़ सके। पर पंत के लिए यह अत्यंत सहज था, क्योंकि वे जीवन-द्रष्टा हैं. और अपने कवि-कर्म को जीवन से संबद्ध करके ही देखते रहे हैं। छायावाद का कार्य समाप्त हो चुका है, यह उन्होंने स्वयं ही पहचाना, स्वयं ही नया पथ ग्रहण किया और हिंदी काव्य को नयी गति और प्रेरणा दी। 'आधुनिक कवि : भाग 2' की बृहत भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिखा : "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौंदर्य बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" छायावाद के समर्थ कवियों में पंत के अतिरिक्त केवल निराला की रचनाओं में ही यह चेतना मिलती है। अन्य अनेक कवि आज तक उस 'अलंकृत संगीत' से ही अपना काम चलाते रहे हैं।

'पर्यालोचन' शीर्षक 'आधुनिक कवि : भाग 2' की यह भूमिका कवि पंत ने सन् 1941 में लिखी थी जब 'ग्राम्या' के प्रकाशन के साथ उनके काव्य-विकास का द्वितीय याम पूर्ण हो चुका था और वे युग-कवि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। इसीलिए इस भूमिका में पहली बार उन्होंने अपने भाव-जगत और काव्य-सिद्धांतों पर अपने विचार व्यक्त किये, एवं अपने विभिन्न काव्य-संग्रहों के संबंध में अपना मत प्रकाशित किया। इस भूमिका का अध्ययन साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यंत उपयोगी है क्योंकि वह पंत के काव्य के व्यक्तिगत पक्ष और सामाजिक पक्ष दोनों पर भरपूर प्रकाश डालता है; और ऐसा करने में पंत ने जिस तटस्थता एवं वस्तु-परक दृष्टि का प्रमाण दिया है वह उनके गंभीर मानसिक संतुलन का परिचय देती है।

अपनी प्रारंभिक काव्य-प्रेरणा के संबंध में पंत ने लिखा है : "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिलती है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" लेकिन, बाद में चलकर पंत ने इस प्राकृतिक दर्शन की सीमाएं पहचानीं। उन्होंने लिखा : "अब मैं सोचता हूं कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्म-समर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।" छायावाद में अति-व्याप्त

जीवन की क्षण-भंगुरता अस्वास्थ्यकर है, यह पहचानकर ही कवि पंत उसके शैलोद्यान से उतर कर सामाजिक जीवन की कुरूपता मिटाने की ओर उन्मुख हुए थे। तब उनकी वाणी में जो भाव व्यक्त हुए, वे एक सीमा तक प्रगतिवाद की तत्कालीन भाव-धारा से मिलते थे। लेकिन एक और सीमा भी थी जहां उनका इस भाव-धारा से मतभेद था। प्रगतिवाद के आरंभ में यह मतभेद सामने नहीं आया, पर बाद में चलकर यह हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रमुख चर्चा का विषय बना और आज तक बना हुआ है। इस दृष्टि से, यह बात बड़े महत्त्व की है कि सन् 1941 में भी पंत ने अपने शब्दों में अपनी मान्यताएं अत्यंत स्पष्टता से लिखी थीं। जिस प्रकार 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अपनी अनेक रचनाओं में उन्होंने मार्क्सवाद का स्वागत करते हुए उसका गांधीवाद से समन्वय करने की आवश्यकता बतायी थी, उसी प्रकार इस भूमिका में भी उन्होंने साफ़ लिखा था कि वे ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को उपयोगी मानते हुए भी अपूर्ण मानते हैं, और विशद् लोक-कल्याण के उद्देश्य से यह आवश्यक समझते हैं कि उसका भारतीय अध्यात्म से समन्वय किया जाये। उनकी घोषणा है : "ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अंदर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से संबंध रखनेवाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनैतिक क्रांतियां ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूत हित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहां सत्य की खोज में, सापेक्ष के उस पार, 'अवाङ्मनसगोचर' की ओर चले गये हैं, वहां पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अंतस्तल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में, जन समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास नहीं हो सका है।" लेकिन इस समन्वय की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए भी पंत की दृष्टि भविष्य पर ही टिकी थी, सामाजिक कर्त्तव्य से बचने या भाग जाने की किसी ओछी प्रवृत्ति की आड़ के लिए उन्होंने समन्वय का यह नारा नहीं दिया था, वरन् वे आध्यात्मिक विकास पर निरंतर ध्यान इसी कारण रखते थे कि वे वर्तमान के मृतप्राय समाज के संस्कारों के भूतों की घृणास्पद वस्तुस्थिति से अत्यंत विकल थे, प्रगति के लिए आकुल थे। उन्होंने लिखा : "सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्वमूल अस्वस्थ को जड़ और शाखा सहित, उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न करना होगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद से आध्यात्मिक समन्वय की बात कह कर पंत ने सामाजिक प्रगति की आवश्यकता से मुंह नहीं मोड़ा था, वरन् वे सामाजिक जीवन के

उच्चतर सांस्कृतिक विकास के लिए ही निरंतर आध्यात्मिक विकास पर ज़ोर देते रहे हैं। निरे जड़वाद और यंत्रवाद को ही कहीं हम जीवन की इतिश्री न समझ बैठें, भौतिक सुख और वैभव में मानवीय संबंधों और भावनाओं के सौंदर्य से कहीं दृष्टि न फेर लें, यही सोचकर उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है। यही नहीं, भारतीय दर्शन के नाम पर वे अंधविश्वासों के पक्षपाती नहीं हैं, यह उन्होंने निस्संकोच घोषित किया : "भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाश-लता शताब्दियों के अंधविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मतमतांतरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुंजीभूत और विच्छिन्न होकर, एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़ कर उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त का शोषण करनेवाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धांतों को ग्रहण किये बिना, इसमें वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्य, सामूहिक उत्तरदायित्व, और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

'ग्राम्या' के बाद एक दीर्घकालीन मौन के उपरांत पंत के कई नये काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। भारत की स्वतंत्रता से लेकर अब तक 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'युगपथ', 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' उनके काव्य-ग्रंथ हैं। इनमें से पहले दो ग्रंथों में पंत का आध्यात्मिक चिंतन ही प्रमुख रूप से व्यक्त हुआ है, और वह चिंतन श्री अरविंद के दर्शन से गहरे ढंग पर प्रभावित चिंतन है। इस प्रभाव की विशेष रूप से, और उनके इस आध्यात्मिक रुझान की साधारण रूप से आलोचकों ने काफ़ी चर्चा की है, और उसमें प्रतिगामी तत्वों की ओर झुकाव पाया है। इस चर्चा में उस सांस्कृतिक स्तर का अभाव रहा है जिसकी ओर पंत ने सन् 1941 में ही संकेत किया था: सच पूछिए तो पंत के काव्य के इस तृतीय याम में एक बार फिर आलोचक उनके भाव और शिल्प को समझने में असमर्थ रहे। इसलिए एक बार फिर 'उत्तरा' की भूमिका के रूप में पंत को अपना मत और जीवन-दर्शन स्पष्ट करना पड़ा है। 'उत्तरा' की यह भूमिका पंत के प्रौढ़ मानस का गंभीर उद्‌गार है जिसमें आवश्यक विशालता और उदारता तो है ही, समसामयिक जीवन को उसके सर्वांग और समस्त रूप में देखने का भी उज्ज्वल प्रयत्न है। यही कारण है कि इस भूमिका के स्वर में मन्यु होते हुए भी क्षोभ का अभाव है, अपने सिद्धांत पर अविचल आस्था होते हुए भी मतभेद के प्रति संयम और संतुलन का प्रदर्शन है। इस भूमिका में उन्होंने एक बार फिर भौतिक दर्शन के साथ आध्यात्मिक विकास के समन्वय की ओर हम सबका ध्यान आकृष्ट किया है। पर सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सामाजिक प्रगति की ओर कम बल नहीं दिया है, जैसा कि भ्रमवश कुछ आलोचक मान बैठे हैं। वरन् यही स्थापित किया है कि सामाजिक विकास की संपूर्णता तभी सिद्ध होगी जब हम आध्यात्मिक और सांस्कृतिक

विकास पर भी अपनी दृष्टि गड़ाए रहेंगे। उन्होंने लिखा है : "मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आंदोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—संपूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।" अपने ऊपर लगे प्रतिगामिता के आरोप के विरुद्ध उन्होंने बहुत दृढ़ स्वर में यह प्रतिवाद व्यक्त किया है : "मेरा मन यह स्वीकार नहीं करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनःसंगठन की ओर ध्यान आकर्षित किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, संप्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक-कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अब खिसक गयी है और जो मानव चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त किये हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-संगठन तथा मनःसंगठन एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।"

'गद्य-पथ' के दूसरे भाग में पंत की आकाशवाणी से समय-समय पर प्रसारित वार्ताएं, और कुछ महत्त्वपूर्ण भाषणों के अंश संगृहीत हैं। इनका सबसे पहला आकर्षण तो यही है कि वे पहली बार प्रकाशित हुए हैं। फिर भाषण होने के कारण उनमें रोचकता अधिक है, और पंत के मनोरम व्यक्तित्व की अधिक कोमल और हृदयग्राही छाप उनमें मिलती है। 'मेरा रचना काल', 'मैं और मेरी कला', 'आज की कविता और मैं', 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण', 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा', 'काव्य-संस्मरण' और 'मेरी पहली कविता' नामक निबंध व्यक्तिपरक हैं, और पंत के जीवन और कृतित्व के संबंध में अनेक उपयोगी एवं आवश्यक सूचनाएं देते हैं। पंत के आलोचक और जीवनीकार के लिए यह अमूल्य सामग्री है। इन निबंधों में पंत ने अपनी कला के विकास पर जो विचार प्रकट किये हैं वे सर्वत्र उन विचारों से मिलते हैं जिनका उल्लेख हम कर आये हैं। कहीं भी कोई द्विधा, विरोध या अलगाव नहीं है। सच पूछिए तो पंत स्वयं ही अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं और अपने कवि की सूक्ष्म से सूक्ष्म गति को शब्दों में बांध सकने में समर्थ हो सके हैं। वे शायद अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी कविता उन्हीं के विचारों की कसौटी पर बेहिचक कसी जा सकती है। यह पंत के अंतःसंयोजित व्यक्तित्व का भी अकाट्य प्रमाण है। अन्य निबंध, जैसे 'भारतीय संस्कृति क्या है', 'भाषा और संस्कृति', 'सांस्कृतिक आंदोलन', 'सांस्कृतिक चेतना', 'कला और संस्कृति', 'साहित्य की चेतना' आदि युग की सांस्कृतिक और कलात्मक समस्याओं पर द्रष्टा पंत के विचारों को व्यक्त करते हैं जिनमें उनकी उपरोक्त

स्थापनाएं ही आवश्यकतानुसार संक्षेप या विस्तार में दी गयी हैं।

लेकिन इस खंड में एक रेडियो वार्त्ता इन दोनों समूहों से अलग है। वह है : "यदि मैं 'कामायनी' लिखता।" इस वार्ता में अनायास ही हमें प्रसाद की कला पर पंत के विचार मिलते हैं। 'कामायनी' जिस विशद और गहन रूप में अपने युग की चेतना और संघर्ष को प्रतिध्वनित करती है, उसकी ओर हम सबका ध्यान आकर्षित करते हुए, और प्रसाद की महान कलात्मक सिद्धि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भी पंत ने अपने अद्वितीय संतुलन का परिचय देते हुए 'कामायनी' की त्रुटियों का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है क्योंकि हिंदी आलोचना के किसी भी निकाय ने उस पर दृष्टि नहीं डाली है, और वह यह भी सिद्ध करता है कि समाज की वास्तविक प्रगति की कामना पंत में कितनी बलवती है। पंत ने 'कामायनी' की समस्या के व्यक्ति-परक समाधान की चर्चा करते हुए कहा है : "पर यह तो विश्व जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा-श्रद्धा का समन्वय कर वहां तक कैसे पहुंचे—उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन-जीवन तथा पदार्थ के स्वर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक-परलोक के बीच का, धरती-स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटा कर यह अंतराल किस प्रकार भरा जाये? उसके लिए निःसंशय ही इडा-श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आये। आने पर भी शायद वहां कुछ कर न पाते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किंतु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुंचकर, और वह भी व्यक्तिगत रूप से?"

[रचनाकाल 1954,
'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

1960 में हिंदी कविता की स्थिति

हिंदी कविता के बारे में कुछ कहना निरंतर कठिन होता जा रहा है। ज्यों-ज्यों काव्य-धारा बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों वह मानो परिचित घाटों को छोड़ कर बीहड़ वनों में भटकती जा रही है। घाटों पर खड़े समीक्षक को लगता है कि वह सूखती जा रही है, और अदृश्य होती जा रही है। जो समीक्षक साहसपूर्वक घाट का सहारा छोड़कर धार के अनुवर्ती चलने का उपक्रम करता है, वह भी यह देखकर दंग रह जाता है कि जिसे बीहड़ वन समझा था वह छोटे-छोटे पौधों और झाड़-झंखाड़ों का, प्राण-हीन सूखे डंठलों और ठूंठों का ही जाल है। वन्य सौंदर्य की जिस झांकी से वह परिचित है, उसका भी वहां अभाव है।

आज की हिंदी कविता का आलोचक बड़े सनुष्ण नेत्रों से सन् तीस की ओर देखता है जब 'पल्लव' और 'अनामिका' जैसी युगांतकारी रचनाएं चट-से नये विकास का सूत्र उसके हाथ पर धर देती थीं, सन् '40 की ओर देखता है जब 'युगवाणी' और 'ग्राम्या', 'मधुकलश' और 'निशा-निमंत्रण' उसके समीक्षा-कर्म को सही दिशा देने में सहायक होती थीं। वर्तमान काव्य-क्षेत्र में ऐसी युगांतकारी रचनाओं का लोप उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देता है।

आज की कविता सचमुच बदल गयी है, उसमें आमूल-चूल परिवर्तन हो गया है। ऊपरी नज़र से देखने पर वह अपरिहार्य रूप से बिखर गयी है। तुक और छंद की डोरियां खुलने से मानो भावों के पन्ने अलग-अलग उड़कर सर्वत्र छा गये हों। प्रखर प्रतिभा के अभाव में वह छिछली और सतही भी लगती है। छायावाद के निर्झर की बात तो दूर, उसमें प्रगतिवाद की नहर का-सा भी कल-कल नहीं है। छोटी-छोटी पतली-पतली अनंत जल-रेखाएं मानो मरु में खो जाने को चल पड़ी हैं। वाद और सिद्धांतों के कूलों में अब सूखी रेत ही रह गयी है। वर्गीकरण और काव्य-सिद्धांतों के नियमों के सहारे काव्य-परीक्षण करने का अभ्यस्त आलोचक आज की कविता को स्खालित मानने को विवश है।

जब सन 1943 में 'तारसप्तक' प्रकाशित हुआ था, तब पहली बार समीक्षक को थोड़ी उलझन का बोध हुआ था, पहली बार उसने हिंदी काव्य के उस रूप की झांकी देखी थी जो किसी भी भांति परंपरा की कड़ी बनता दिखायी

नहीं देता था। पर उलझन के कुछ दिनों बाद उसने उसे प्रयोगवाद का नाम देकर परंपरा की बाकी धार से उसे काटकर अपनी धारणाओं की रक्षा कर ली। आखिर थोड़े-से सिर-फिरे कविता को थोड़े ही बदल देंगे!

पर आज का दृश्य चौंकानेवाला है। आखिर यह हो क्या गया! वही 'तारसप्तक' जो प्रवाह से छिटक कर सूखे में पड़ी बूंद के समान था, वही नयी कविता का सोता बन बैठा और परंपरा की धारा सूख कर घाटों को सूना कर गयी! कुछ दिन समीक्षक ने हंसकर टाला, फिर खीझ दिखायी, पर जब परिणाम में हाथ कुछ भी न लगा तो उसने तय किया कि इसे समझना ही पड़ेगा। पर भाव अब भी समझने का नहीं, समझ लेने का है। 'साहित्य-संदेश' का प्रगति-विशेषांक इसका प्रमाण है, यदि प्रमाण आवश्यक हो तो।

पूर्वग्रह से साहित्य के विकास का अध्ययन ऐसी ही हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न कर देता है। नये कृतित्व को समझने-परखने के लिए पारखी को भी कुछ तैयारी करनी होती है, यह बात समीक्षक भूल जाता है। यदि रचना परिवर्तनशील है, सतत विकासमान है, तो समीक्षा क्यों स्थिर रहे? इसीलिए, समीक्षक को हमारी सलाह है कि वह संगमरमर के घाट पर बैठा धारा के आने की बाट जोहना छोड़कर, धार जिधर भटक गयी है, उधर चलने का प्रयास करे। तब वह जान पायेगा कि धारा चाहे भटकी हो या नहीं, वह अवश्य पीछे छूट गया है। सच तो यह है कि धारा सदा भटककर ही अपना मार्ग बनाती है, और मार्ग जब बन जाता है तब उस पर नये घाट बन जाते हैं। पुराने घाटों को सूना और जीर्ण देखकर धारा नहीं मुड़ती।

[2]

समसामयिक कविता के इस नितांत नये रूप को विस्मय, खीझ और पूर्वग्रह—तीनों से मुक्त होकर देखना आवश्यक है। तभी हम उसकी उपलब्धि और उसकी असफलता से आंखें मिला सकते हैं, तभी हम उसके स्वरूप को समझकर उसका अध्ययन कर सकते हैं, और परंपरा एवं भविष्य से उसका कोई पूर्वापर-संबंध पा सकते हैं। संयोग की बात है कि इसके लिए सन् 1960 का वर्ष अत्यंत उपयुक्त वर्ष है। वह एक दशाब्द का पर्यवसान और दूसरे का आरंभ तो है ही, वह इस बात की भी स्पष्ट घोषणा करता है कि कविता का पुराना रूप अब लौटनेवाला नहीं है, जो इस समय उपस्थित है, वही कविता का नया स्वरूप है। साथ ही, किसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति अथवा किसी विलक्षण प्रतिभा के प्रादुर्भाव से शून्य होने के कारण वह न तो हमें किसी भ्रम में डालता है, न प्रवंचित करता है। सामान्य धीर गति में वह नयी काव्य-सर्जना का सच्चा प्रतिनिधि है।

सन् 1960 के काव्य-कृतित्व का अलग-अलग विस्तृत विवेचन करने से पहले उसकी सामान्य प्रकृति पर कुछ विचार करना उपयोगी होगा क्योंकि

उसी के संदर्भ में नयी रचनाओं का परीक्षण किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से जो बात सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह यह है कि नयी कविता के प्रवाह ने उसे नये-पुराने कवियों को भी अपनी परिधि में खींच लिया है जो पहले उससे कतराते थे। उपेंद्रनाथ 'अश्क' और डॉ. देवराज जैसे उत्तर-छायावादकालीन कवि और 'नीरज' एवं रामकुमार चतुर्वेदी जैसे लोकप्रिय गीतकार दोनों इस धारा की ओर मुड़ते दिखायी देते हैं। क्या यह मात्र भेड़ियाधसान है? प्रचलित फैशन को अपनाने की विवशता है? हम ऐसा नहीं मानते। हमारा यह पक्का विश्वास है कि जिस आंतरिक विवशता ने 'अज्ञेय' या भारती को इस ओर प्रवृत्त किया था, वही आंतरिक विवशता इन कवियों के परिवर्तन का कारण है। यही विश्वास हमें नयी कविता की सार्थकता की पकड़ दे सकता है।

यह आंतरिक विवशता क्या है? क्यों आज का कवि ललित भाषा में, सुगठित छंदों में, अपनी सौंदर्य-भावनाओं का मूर्तन करने में असमर्थ है? क्यों वह छंदों की राह छोड़, प्रचलित प्रतीक-छवियों की छांह छोड़ इस कंकरीले पथ पर आता है? 'साकेत' की पद्यबद्धता, 'कामायनी' की उदात्तता, 'निशा-निमंत्रण' की गीतात्मकता आज क्यों अलभ्य हो गयी है?

इसका उत्तर एक शब्द में देना कठिन है। क्योंकि इसी उत्तर में तो नयी कविता का रहस्य बंद है। उसके ऊपरी रूप मात्र से उसकी आत्मा को समझना संभव नहीं है। इसलिए पहले उसकी आत्मा में प्रवेश कर उसके स्रोत का स्वरूप समझना होगा। जब 'पल्लव' प्रकट हुआ था तब रीतिकालीन रस-काव्य के मर्मज्ञ झनझना उठे थे। क्यों कवि के लिए यह संभव नहीं है कि वह वीर या करुण, या शृंगार रस का सांगोपांग चित्र खड़ा कर सहृदय को मुग्ध करे? वह वेदना और सौंदर्य-स्वप्न के ऐसे खंड चित्र क्यों देता है? पर कुछ दिन बाद पता लगा कि इसका सच्चा कारण कवि की आंतरिक विवशता थी। वह अपनी ऐतिहासिक स्थिति के कारण बाध्य था कि आत्मानुभूति का सहारा लेकर अपने स्वप्नों और आदर्शों को प्रतिबिंबित करे।

ऐसी ही आंतरिक विवशता के कारण एक बार फिर कवि-धर्म बदल गया है। अपनी ऐतिहासिक स्थिति के कारण आज का कवि विवश है कि वह आदर्शों और वैयक्तिक स्वप्नों का साथ छोड़ एक साधारण सामाजिक अनुभूति का कवि बने। उसने अपने सामने आदर्शों के रंग उतरते देखे हैं, वादों के लौह-पाश में जन-मन को चूर होते देखा है, विज्ञान की नित नवीन देन के सहारे जीवन की अमित संभावनाओं के साथ-साथ साधारण-जन के छोटे होते जाते जीवन की क्षुद्रता और व्यस्तता का आस्वाद पाया है, उसकी अनुभूति बदल गयी है, उसका मन बदल गया है। नयी कविता का यही नया संदर्भ है। छायावाद की स्वप्नशीलता, प्रयोगवाद की वैयक्तिकता और प्रगतिवाद की कट्टरता आज लुप्त हो गयी है। नये कवि का उदय हो चुका है जो अपने घर को, अपने परिवेश को, अपनी संभावनाओं को नये रूप में निरखता-परखता है। आज की कविता महानायक का चरित-गान नहीं है, सहृदय-मनमोहिनी रस-माधुरी नहीं

है, आदर्श-लोक की सौंदर्य-चित्रमाला नहीं है, क्रांतिकारी आंदोलन की शंख-ध्वनि नहीं है, भीड़ का मनोरंजन करनेवाली गीतों की आतिशबाजी नहीं है, वह साधारण-जन की अनुभूति की स्वर लिपि है।

इसलिए आज की कविता का पाठक यदि वह है जो जीना समाप्त कर चुका है, आज की विषम उलझनों से पारंगत हो चुका है, या वह है जो उन उलझनों को दूर से ही नमस्कार कर बैठा है, तो आज की कविता का वह पात्र नहीं है। पर जो आज के त्रस्त-व्यस्त कुंठा-विषादमय जीवन से जूझ रहा है, वह अपनी धड़कनों का स्वर नये काव्य में पा सकता है।

बात खटकती है। मन मानो मानना नहीं चाहता। क्या इन छोटी-छोटी कविताओं में बिखरी क्षीण जल-रेखाओं को ही हम चरम उपलब्धि मान लें? क्या कालिदास और तुलसी की कोटि में हमें अज्ञेय या भारती को स्थान देना होगा? क्या ये ही रचनाएं जिन्हें शायद ही कभी दुबारा पढ़ने को जी चाहे, जिनका शायद ही कोई अंश ऐसा हो जिसे हम मगन मन से गुनगुना सकें, जिनमें शायद ही कभी कोई संपूर्ण चित्र हो, क्या यही है 'रामचरित मानस' और 'कामायनी' की परिणति? बुरा चाहे लगे, पर बात ऐसी ही है। कवि-कर्म बदल जाये तो काव्य से मांग भी बदलनी चाहिए। और फिर, महाकवि रोज़ नहीं जनमते।

[3]

इस उत्स-परिवर्तन के कारण ही आज की कविता का यह स्वरूप है जो अपनी विविधता, विचित्रता, अनियमितता और लघुता से हमें अभिभूत किये हुए है। क्या नहीं है इसकी चिंता छोड़कर; अतएव, हमें देखना चाहिए कि इस काव्य में क्या है। तुक, छंद, गीत, स्वप्न, आदर्श, सिद्धांत, रस, उपदेश, चित्र—ये नहीं हैं तो न सही, पर जो कुछ है क्या वह कविता है? क्या उसमें मन को छूनेवाली अनुभूति की अभिव्यक्ति है; क्या उसमें भावना का संप्रेषण है? इस दृष्टि से देखने पर जो रचनाएं पहले उपेक्षित हो चुकी हैं वे अचानक नयी सार्थकता से भरी दिखने लग जाती हैं। आज का कवि अत्यंत प्रबुद्ध, भावुक, आस्थावान युवक है जो सांप्रतिक जीवन के जटिल दायित्वों को सिर माथे स्वीकार कर नवीन समन्विति की खोज में जुटा है। उसका यही महान् प्रयास—समष्टि में महान् पर अपने सीमित खंडों में लघु—आज की कविता में लक्षित, चित्रित और ध्वनित है। हर रचना छोटी होती हुई भी इस समष्टिगत महान् का लघु अंग है, उसी के संदर्भ में उसका पूरा महत्त्व उपलब्ध किया जा सकता है। जैसे बिहारी के दोहे को समझने के लिए अपनी ओर से रस-सिद्धांत और नायिका भेद का पूरा शास्त्र जोड़ना पड़ता है, वैसे ही—यद्यपि नितांत नये और भिन्न रूप में—आज की किसी भी रचना को समझने के लिए यह परिस्थिति

और पृष्ठभूमि जोड़नी जरूरी है। अन्यथा रचना को वह पूर्णता ही प्राप्त न हो सकेगी जो कवि की अभीष्ट है।

इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज का कवि लाघव से काम लेता है। वह नितांत अपनी निजी अनुभूति को स्वर देता है, बाकी की सारी पृष्ठभूमि भावक के लिए अनकही छोड़ देता है। यदि वह ऐसा न करे तो अपनी अनुभूति के साथ वह वैसी खरी ईमानदारी नहीं बरत सकता जो उसके जीवन की शर्त है। वह कवि है, पर निठल्ला दार्शनिक नहीं है, स्वप्न-कल्पनाओं में रमनेवाला विलास-प्रिय अवकाश-भोगी नहीं है, अपने विवेक को 'त्वदीयं वस्तु गोविन्दं' कहकर नायक के हाथों सौंप अंधनिष्ठा से कतार में चलनेवाला वर्दीधारी सैनिक नहीं है, और पेट के लिए चारणवृत्ति करनेवाला गीत-पद्यकार भी नहीं है। वह साधारण-जन है, जिंदगी के हर क्षण अपने मन और समाज को रूप देता, यथार्थ से जूझता और यथार्थ को गढ़ता। वह दर्शन की ओट नहीं करता (एम. ए. कोर्स तक जो दर्शन उसे पढ़ाया गया था वह निकम्मा निकला), वह वादों की ओट नहीं करता (हर वाद राजनीति के हाथ की कठपुतली बन गया है), वह सपनों की ओट नहीं करता (सपनों के पुण्य मार्ग जिंदगी में नहीं मिलते)। वह आंखें खोले, कड़ी धूप में सड़क पर चल रहा है—उस सड़क पर जिसका छोर दिखने लग गया है, और जो आगे उसी को अपने हाथों बनानी है। अपने धर्म के प्रति वह अत्यंत निष्ठावान है, अपनी सीमाओं के प्रति अत्यंत बेचैन। इसी सामूहिक विकलता का एक-एक खंड एक-एक कवि की रचनाओं में स्वर पा रहा है। प्रत्येक खंड का अपना विशिष्ट रंग है, और सारे खंड मिलकर पूर्ण और धवल सत्य का प्रकाश बन जाते हैं।

इसलिए आज की कविता के बिखराव से डरने की ज़रूरत नहीं। वह आज की कविता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। निरंतर विकसित जीवन के नाना स्तरों और नाना रूपों को इसके पहले कभी कविता में आने का सौभाग्य नहीं मिला। भक्ति, सौंदर्य, प्रगति, प्रणय—केवल यही आज की कविता के स्रोत नहीं हैं, समग्र जीवन की समस्त अनुभूतियां कविता का कच्चा माल बन उठी हैं। तुरंत ही चाहे उनमें अंतर्निहित अन्विति दिखायी न पड़े, पर वह विद्यमान है, और उसे देखकर परखना आज के समीक्षक का काम है। जीवन तभी श्रेय और सुंदर होगा जब उसका समग्र श्रेय और सुंदर हो, इसलिए समग्र जीवन ही आज के कवि का लक्ष्य है। विरोध को विरोधाभास से व्यंजित कर एक आरोपित एकता के स्थान पर आज का कवि विरोध को विरोध के रूप में ही साहसपूर्वक व्यक्त करता है, क्योंकि तभी समग्र में उसकी समाहिति का पथ प्रशस्त होगा। अंतर्मन से लेकर विश्वजीवन तक के सारे परदों को वह उघाड़-उघाड़ कर देख रहा है, किसी महानायिका या महाद्रष्टा के स्वागत के लिए नहीं, साधारण-जन के मंगल के लिए। आज की कविता सचमुच लघु मानव की कविता है, किसी विशिष्ट सौभाग्यशाली की कविता नहीं। कविता की इस सार्वदेशिक परिणति को लक्ष्य करके ही किसी पाश्चात्य विचारक ने कहा है कि आज की कविता अनेक कवियों द्वारा रचित एक संपूर्ण महाकाव्य-जैसी लगती है।

[4]

इस समग्रता की बात को ध्यान में रखते हुए यदि हम सन् 1960 में प्रकाशित कविताओं पर विचार करें तो आज की कविता से निराश होने का कोई कारण नज़र नहीं आता। 'अभी, बिलकुल अभी' (केदारनाथ सिंह), 'सपने तुम्हारे थे' (मार्कण्डेय), 'चांदनी चूनर' (शकुंत माथुर), 'आवाज़ तेरी है' (राजेंद्र यादव), 'सड़कों पे ढले साये' (उपेंद्रनाथ अश्क), 'उर्वशी ने कहा' (डा. देवराज) और 'पत्थर का लैंप पोस्ट' (शरद देवड़ा)—ये अपने-आपमें छोटे-छोटे संग्रह मिलकर आज की कविता का अत्यंत संतोषजनक पट बुन देते हैं। यद्यपि ये रचनाएं न तो एक स्तर की ही हैं, न एक शैली की, पर उनके योग से आज की कविता की विविधता और आज के कवि की ईमानदार विकलता की सहज उपलब्धि की जा सकती है। यदि इस वर्ष की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न रचनाओं को भी इस अध्ययन में जोड़ लिया जाये, तो कविता के विस्तार का और भी अच्छा परिचय मिल जाता है।

उपेंद्रनाथ 'अश्क' और डा. देवराज को छोड़कर बाकी कवियों के संग्रह उनके प्रथम काव्य-संग्रह हैं और पहली बार उनकी इतनी रचनाओं को एकत्र उपस्थित करते हैं। 'अश्क' और डा. देवराज के संग्रह प्रथम न होने पर भी आधुनिक अनुभूति के प्रथम संग्रह हैं। 'अश्क' ने अपने संग्रह में एक लंबी भूमिका भी दी है, जो नये कवि पर हंसती-सी जान पड़ती है। इस भूमिका की संगति समझने में हम असमर्थ हैं क्योंकि प्रस्तुत रचनाओं से उसका कोई मेल नहीं बैठता। इसलिए उसे छोड़कर रचनाओं पर दृष्टि डालते ही उनकी ताज़गी सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करती है। कवि रूप में अपना साहित्यिक जीवन प्रारंभ कर अश्क इधर बरसों से कथाकार ही रहे हैं, बरसों बाद का उनका यह कविता-संग्रह उनके पिछले काव्य-संग्रहों से नितांत भिन्न है। इस संग्रह की रचनाओं में दैनिक जीवन की साधारण झांकियां हैं, अपनी हलकी मिठास और तल्ख़ी लिये, यात्रा-वर्णन हैं जो पहाड़ों, नदियों, फूलों और वृक्षों की शोभा ध्वनि-गंध समेटे हुए हैं। कुछ रचनाओं में तीख व्यंग्य भी है, जैसे 'मीडियाकरों का गीत', 'ज़हर कि जो अमृत है' आदि। 'खिला दिन' के इस टुकड़े का प्रसन्न रूप मन को सचमुच खिला देता है :

बहुत दिनों के बाद खिला दिन—
जमी बर्फ शिखरों पर गिरिवर धवलधार के।
मेरे मन का जमा हुआ हिम लेकिन पिघला,
जी होता है गाऊँ जी-भर गीत प्यार के।
शिखरों पर घूमूँ आवारा—
खड्डों में उतरूँ!
नद, नदियों, नाले लाँघूँ!

ठोकरियाँ फेंकूँ सर के निथरे पानी पर!
पनचक्की का गीत सुनूँ छिदरी छाया में पेड़ों की
टुक बैठ, सीटियाँ भरूँ हवा-सी!
मुक्त हुए मन को छोड़ूँ उन्मुक्त धरा पर!
फलों का रस लूँ, रस दूँ,
वन-मिट्टी, जीवन नया जगा दूँ!
जी होता है—बन जाऊँ मैं खिला हुआ दिन,
खिले हुए दिन-सा मैं जग का कलुष मिटा दूँ!

यदि इस कविता की अंतिम पंक्ति में यह परोपकार-भावना ध्वनित न हुई होती तो यह जानना कठिन हो जाता कि 'अश्क' इतना लंबा रास्ता तय कर समसामयिक कविता के स्तर पर आये हैं।

लंबा रास्ता तय करनेवालों में अश्क अकेले नहीं हैं, डा. देवराज ने उनका साथ दिया है। एक प्रकार से डा. देवराज ने ज्यादा लंबा रास्ता तय किया है क्योंकि पूर्व-प्रचलित काव्यगत मूल्यों के प्रति उनका आग्रह अश्क से अधिक था। इस दृष्टि से 'उर्वशी ने कहा' संकेत-गर्भित रचना है। उसमें सचेष्ट प्रयत्न तो लक्षित होता ही है, सचेत प्रयत्न की सफलता-असफलता दोनों ही मिलती हैं। तुक के मोह में यदि 'चुंबन-सा गोल तिलक जड़ा' और 'पार्वती मेरी प्रिया रे!—अन्य की क्यों वधू होवे!' जैसे बरबस प्रयोग एक ओर हैं, तो दूसरी ओर एक नयी भाषा की शक्ति और संभावनाओं के भी उसमें अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। यद्यपि कविताएं नाना विषयों और मुद्राओं पर हैं, पर डा. देवराज की प्रणय-कविताएं ही सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। मन के मुक्त समर्पण से प्रेरित ये रूप-चित्र कोमल और पारदर्शी हैं। संग्रह की अन्य रचनाओं में किसी की प्रभाविष्णुता नहीं है।

पर ये दो संग्रह तो उस सचेष्ट प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करते हैं जो आज के काव्य-रूप को समझ कर अपनाने के लिए पुराने प्रतिष्ठित लेखक कर रहे हैं। जिनको काव्य की यह नूतन विधा सहज है उनमें 'अभी, बिलकुल अभी' और 'चांदनी चूनर' का विशिष्ट स्थान है। केदारनाथ सिंह और शकुंत माथुर दो नितांत भिन्न व्यक्तित्व के धनी होते हुए भी आज की कविता की उपलब्धि को समान रूप से चरितार्थ करते हैं। केदारनाथ सिंह में वह विकलता और अनुभव को ईमानदारी से झेलकर प्रस्तुत कर देने की वह तत्परता अधिक प्रखर है जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है। 'प्रक्रिया', 'अनागत' 'दिग्विजय का अश्व' आदि रचनाओं में ये तत्व स्पष्ट देखे जा सकते हैं। पर केदारनाथ सिंह की रचनाओं में कुछ गुण ऐसे भी हैं जो उनके निजी हैं। चित्र-बिंबों को बड़े ही सूक्ष्म, कोमल तारों से गूंथ देने की शक्ति, दैनिक जीवन से उठाये प्रतीकों में अनायास अप्रत्याशित लक्षणा, और गांव के वातावरण की-सी सरल, मीठी ताज़गी, उनके काव्य की विशेषता है। और जैसा कि स्वाभाविक ही है, जिंदगी की जटिलता और निराशा के स्थान पर उनके युवक मन की निर्माण की अधीरता

और भविष्य को स्वरूप देने की व्यग्रता ही इन रचनाओं में अधिक ध्वनित है। और इन सबके अलावा ऋतु-चित्रों की एक नयी समग्र मार्मिकता, जो इस रचना में देखी जा सकती है :

पपीहा-दिन आ गए
फिर
पपीहा-दिन आ गए
गुफा-कोटर
कुआँ-पोखर
एक स्वर के सूत से
सब ओर-छोर मिला गए।
बाँसुरी अपनी लुका रक्खो
छिपा रक्खो कहीं
बिन छुए पगली अचानक
पिहक उठेगी
प्रार्थना मन की दबा रक्खो,
दबा रक्खो कहीं,
हर गली, हर डगर बरबस
महक उठेगी!

धूल, पत्तों, अंधड़ों में
ये तुम्हें भटकाएंगे
दौड़ायेंगे, छिप जायेंगे
इनका ठिकाना क्या!
यहाँ बैठे, वहाँ गाया,
उधर जाकर छा गए
ये पपीहा-दिन आ गए!

'चांदनी चूनर' इस वर्ष की ही नहीं, समूची नयी काव्य-धारा की एक विशिष्ट उपलब्धि है क्योंकि उसमें दैनंदिन जीवन के एक अछूते पक्ष का प्रतिबिंबन है, और इस कारण वह आज की कविता को एक नये आयाम की ओर मोड़ता है, उसमें एक नया स्तर और जोड़ता है। गृहस्थी के इन सामान्य भाव-चित्रों में बड़ी ही दुर्लभ सरलता और अनूठी मार्मिकता मिलती है। इन रचनाओं को पढ़कर अचानक मन विस्मय से भर जाता है कि अनुभूति का वह कौन-सा गहरा तल इनमें उभर आया है जो ये अपने-आपमें नगण्य-सी लगनेवाली लघु झांकियां काव्य बन बैठीं! पर वे काव्य हैं, इसमें संदेह नहीं। उनमें विलक्षण सूक्ष्मता, प्रेक्षणीयता और अनायासता है। उसका बोध तभी होता है जब हम उन दो-चार रचनाओं को पढ़ते हैं जिनमें कवयित्री ने न जाने क्यों घर की सीमाएं लांघकर विश्व-जीवन की झांकी देनी चाही है। नारी-सुलभ कोमलता,

[illegible] करता है। 'बर...

[illegible]' में गृहिणी के अपत्य प्रेम का चित्र है, तो [illegible] बात' की [illegible] में दांपत्य का एक गहन क्षण बंद है। 'तुम सुंदर हो, घर सुंदर हो' का व्यंग्य सामूहिक विवशता बनकर एक ऐसा साधारणीकरण प्रस्तुत करता है जो आज की कविता में कभी-कभार ही उभरता है। कवयित्री की इसी स्तर की कई कविताएं इस वर्ष की पत्रिकाओं में भी पाठकों को सुलभ हुई हैं।

'सपने तुम्हारे थे', 'आवाज़ तेरी है' और 'पत्थर का लैंप पोस्ट' उन लेखकों की रचनाएं हैं जो कविता के अतिरिक्त अन्य माध्यमों की भी निरंतर साधना कर रहे हैं। मार्कण्डेय ग्राम के कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इसीलिए 'सपने तुम्हारे थे' में ग्रामीण वातावरण का उतना रंग भी न पाकर, जितना अन्य समसामयिक कवियों की सामान्य रचना में मिलता है, मन को गहरी निराशा होती है। मार्कण्डेय की कविता, एकाध स्थल को छोड़कर, बड़ी सपाट और फ़ीकी है। उनमें काव्य से अधिक काव्य की भंगिमा ही मिलती है। इसके विपरीत राजेंद्र यादव के संग्रह 'आवाज़ तेरी है' से एक विस्मय-भरा आनंद मिलता है। यादव कहानियों में जो सफलता अर्जित कर चुके हैं, वही उनकी कविताओं में भी प्रतिफलित है। उनमें नगर-जीवन की व्यस्तता, कोलाहल, कृत्रिमता और निष्ठाहीनता के चित्र हैं, व्यंग्यपूर्ण और मार्मिक। एक उद्धरण :

बाँट लिया मुझे
जिसको जो रुचा छाँट लिया :
सिनेमा के गीतों ने
बस में कन्धा-भर छू लेने की हारों ने, जीतों ने
केसरिया सरसों ने
शाब्दिक मसलों की बेमतलब बहसों ने
काफी के प्यालों पर बदराये चाँदों ने
कुहरीली साँसों-सी घनी-घनी यादों ने
अखबारी दुनिया ने
दरबारी मस्के ने
गुर्राती ट्रकों और सर्राती कारों ने
सतखण्डे महलों को बाँधे हुए तारों ने
थके-बुझे चेहरे से जड़ी हुई खिड़की ने
चोरी से छीने गए चुम्बन की झिड़की ने
धुलती प्लेटों के बचे-खुचे दानों ने
घावों की मक्खी-से मँडराते गानों ने
बाँट लिया मुझे...

जीवन, जो खा जा रहा है वह कितना ही बोझिल, रसहीन और लक्ष्य-भ्रष्ट हो, इस उद्धरण की एक-एक पंक्ति में वह उसका एक-एक खण्ड-चित्र बड़े कौशल से अंकित है। यही कौशल अन्य अनेक रचनाओं में विद्यमान है।

'पत्थर का लैंप पोस्ट' पंचमेल संग्रह है, जिसके एक खंड में कुछ कविताएं भी हैं। शरद देवड़ा राजस्थानी जीवन का रंग अपनी रचनाओं में समेटते हैं, पर इस संग्रह की रचनाओं में कवित्व विरल है। प्रकृति-सौंदर्य भी उनमें नगण्य ही है। ये रचनाएं छोटे-छोटे से स्केच हैं जो अधिकांशतः प्रगतिवादी फार्मूलों पर खड़े हैं। कोई गहरी अनुभूति, कोई मार्मिक भावना इनमें नहीं आ सकी है।

पत्र-पत्रिकाओं में इस वर्ष जिन कवियों की उल्लेखनीय रचनाएं छपी हैं, उनमें सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीकांत वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, प्रयागनारायण त्रिपाठी आदि प्रमुख हैं। सर्वेश्वर का व्यक्तित्व आज की कविता में एक सशक्त व्यक्तित्व है, जीवन की गहरी उदासी को मन में उतार देने की उनके पास विलक्षण प्रतिभा है। पर इस वर्ष उनकी जो रचना सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है, वह प्रसन्न मुद्रा की छवि है। 'जाड़े की धूप' शीर्षक उनकी रचना कई प्रकार से विस्मित करती है, उसका गीत-रूप, उसकी अनूठी बिंब-योजना और उसमें निहित सुखद अनुभूति की निश्छलता। श्रीकांत वर्मा की रचनाओं में एक ओर सहज, मीठे चित्र हैं ऋतु के, दैनिक जीवन के (यथा हवा, वर्षागम), दूसरी ओर अपने पर खीझ और झुंझलाहट के, जैसे यह टुकड़ा :

ओ मेरे कल पर कल जाने कितने कल को सौंपे
संकल्प!
मैं रचना के क्षण की प्रतीक्षा में
बीतता रहा।
मुझमें रचना का क्षण
क्षण-क्षण बीतता रहा।

मेरे हाथों से निकल गई नदी।
मेरे कोट के बटन में
टँग मुरझाया फूल।
मेरे जोड़ों में बूढ़ा हो
ठिठुर गई अग्नि।
मेरे रक्त में
अँधेरा बन डूब गई सृष्टि।
मुझ में सोये ही सोये समाप्त हो गया
मेरा स्वत्व।
मेरी अँगुली में टूट-टूट कर
गिरते गए
सभी स्तंभ⋯एक रोम⋯एक नगर।

'कल्पना' में प्रकाशित प्रयाग नारायण त्रिपाठी की कविता 'यात्रा-चिंतन' साधारण-

जन की जीवन-यात्रा की आस्था को स्वर देती है। अपने प्रकाश पर निर्भर आज का यह कवि-नागरिक पहले कवियों से कितना भिन्न है :

और क्षण-संस्पर्श और क्षण-संपृक्तियाँ
जो क्षण-सत्य दे गईं
वे टलमलाते जुगनू हैं
जो मेरे यात्रा-पथ के आलोक हैं
(क्योंकि आसमान में घनघोर बादल हैं
और ज़मीन पर चुके हुए मोम-दीपों-सा अँधेरा)
और सूर्य की विराट् कृपा की बाट जोहता
मैं रुकूँगा नहीं
सूर्य विराट् है
और उसकी अनुकम्पा भी महद्,
और शायद उसका आलोक दान अयाचित नहीं है
पर अयाचित दान भी, दान ही होता है
आत्मार्जन नहीं
जो मेरे ये जुगनूँ हैं
जो नितान्त मेरे हैं
जिनको ही लेकर मैं चलूँगा
यात्रा-पथ पर
अकेला ही
सूर्य! तुम्हें नमस्कार।

ऐसा ही आत्म-विश्वास और ऐसी ही संकल्पमयी तत्परता गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता 'एक अरूप शून्य के प्रति' में है जिसका एक अंश है:

मेरे इस साँवले चेहरे पर कीचड़ के धब्बे हैं
दाग हैं,
और इस फैली हुई हथेली पर जलती हुई आग, है
अग्नि-विवेक की,
नहीं, नहीं, वह तो है ज्वलंत सरसिज!!
जिन्दगी के दलदल-कीचड़ में फँस कर
वक्ष तक पानी में फँस कर
मैं यह कमल तोड़ लाया हूँ—
इसलिए गीला हूँ भीतर
पंक से आवृत्त,
स्वयं में घनीभूत.

मुझे तेरी बिलकुल ज़रूरत नहीं है
ओरे, निराकार शून्य!

छायावादी अद्वैतवाद से इस यथार्थवादी विज्ञानवाद तक की यात्रा आज की कविता की प्रखर और स्पष्ट उपलब्धि है। पर यह विज्ञानवाद असल में कोई वाद नहीं है, यथार्थ जीवन को कसकर पकड़ने के लिए नये मानव द्वारा आविष्कृत और ग्रहीत वैज्ञानिक दृष्टि ही है। 'पृथ्वी कल्प' नामक अपनी रचना में गिरिजाकुमार माथुर ने इसी वैज्ञानिक दृष्टि का प्रतिपादन करना चाहा है, यद्यपि वे अपने इस प्रयास में आश्चर्यजनक रूप से असफल रहे हैं। विज्ञान के अधुनातम आविष्कारों का भीषण घटाटोप जुहा कर भी उनकी यह अति लंबी रचना एक अविश्वसनीय कल्पना ही रह जाती है, उसकी आत्मा में छायावादी स्वप्नशीलता है। बड़े ही मनोरम शब्दों में, नाना परिभाषावलियों का निर्माण कर कवि ने भविष्य जीवन की झांकी देने की चेष्टा की है, पर उसमें आधुनिक मानव की धड़कन का नाम तक नहीं है। प्रगतिवादी फ़ार्मूले पर एक काल्पनिक संघर्ष उपस्थित कर कवि ने मध्ययुगीन ढंग से पृथ्वी की पूजा की है। उसे एक भावनात्मक रूपक के रूप में प्रस्तुत कर कवि ने उसके काव्य को और भी दुर्बल बना दिया है। अपनी असफलता में यह रचना नरेश मेंहता के 'समय देवता' की याद दिलाती है जहां कवि इतिहास-भूगोल के विवरण जाल में कविता के मर्म को विसार बैठा था। वैज्ञानिक दृष्टि और वैज्ञानिक आविष्कारों के जमघट में जो मौलिक अंतर है उसे पहचाने बिना ऐसी कोई रचना सफल नहीं हो सकती। इस दिशा में अभी तक केवल मदन वात्स्यायन ने ही कुछ सफल और सच्ची कविताएं दी हैं।

[5]

अब हिंदी कविता की उस धारा पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित है जो घाट से सटकर बह रही है। उसका पाट सिमट गया है, उसकी गहराई भी सूखती गयी है, पर अभी उसका रस निर्मल है। इस वर्ष के दो कविता-ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। छायावाद-राष्ट्रीयतावाद के मूर्धन्य कवियों में से एक, माखनलाल चतुर्वेदी का नया संग्रह 'वेणु लो, गूंजे धरा' और छायावादोत्तर-प्रगीत काव्य के प्रमुख कवि, नरेंद्र शर्मा की कृति 'द्रौपदी'। 'वेणु लो गूंजे धरा' माखनलाल चतुर्वेदी की स्फुट रचनाओं का संग्रह है जिनमें से अधिकांश नयी हैं। पर नयी होने पर भी वे हमें वही आनंद और रस देती हैं जो चतुर्वेदीजी की रचनाओं से हमें सदा मिलता रहा है। पाठक यह देखकर प्रसन्न होता है कि चतुर्वेदीजी के स्वर में वही मिठास और कंपन बना हुआ है, उसमें अब भी कोई शैथिल्य

या भर्राहट नहीं है। प्राकृतिक सुषमा के प्रति एक अनियारी दृष्टि, गूढ़ भावों को सहज ढंग से प्रकट करने की एक बांकी भंगिमा और धरती के सोंधे स्पर्श से बसी हुई भाषा की निराली अनगढ़ता—चतुर्वेदीजी के ये सभी विशिष्ट गुण इस संग्रह में भी हमें प्रभावित करते हैं। यह ठीक है कि इन रचनाओं के पीछे जो जीवन-दर्शन है वह अब हमें परितोष नहीं देता, उनका स्वर धीरे-धीरे एक दूर की अनुगूंज बनता जा रहा है, पर उनमें सौंदर्य के जो चित्र बंद हैं वे अब भी मुग्ध करते हैं। यदि :

धीरज को यह लाज आ गई,
कैसा मधुर त्रिकोण बन गया।
बहुत बोलता हुआ पराजय,
सहते-सहते मौन बन गया।

—जैसी पंक्तियां हमें छायावादी कुहेलिका और लक्षणा का ही एक भदरंग चित्र देती हैं, तो :

सूरज की किरणें हिम-नग पर
उतर-उतर चरती हैं जाड़ा

और

मधुर! बादल, और बादल,
और बादल आ रहे हैं।
और सन्देशा तुम्हारा बह
उठा है, ला रहे हैं।

—की कोमलता और पुलक हमें अब भी कहीं गहरे में छूने की क्षमता रखती है।

'द्रौपदी' महाभारत की कथा पर आधारित छोटा-सा काव्य है। कलेवर में छोटा होने पर भी वह काफी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वह प्रसिद्ध प्रगीत-कवि नरेंद्र शर्मा के प्रबंधात्मकता की ओर बढ़ने की सूचना देता है, और महाभारत के बहुचर्चित चरित्र को नूतन गरिमा से मंडित करने का प्रयत्न करता है। रामायण के उपेक्षित चरित्र उर्मिला और तिरस्कृत चरित्र कैकयी को नये आलोक में देखा-परखा जा चुका था। महाभारत की अभागी मां कुंती पर भी आधुनिक कवि अपनी सहानुभूति की वर्षा कर चुका था, पर द्रौपदी पर अभी कवि का ध्यान न गया था। नरेंद्र शर्मा ने इस काव्य की रचना कर यह कमी तो पूरी की ही, अपनी परंपरा को पुनरुपलब्ध करने का भी स्तुत्य कार्य किया है। काव्य की अर्वाचीन धारा कितने ही नये क्षेत्रों की ओर क्यों न मुड़ जाये, उसे अपनी शक्ति और रस के स्रोत परंपरागत काव्य-वैभव से संबंध बनाये ही रहना पड़ता

है। यदि आज का कवि यह न करे तो उसे वह गहराई और अर्थवत्ता प्राप्त नहीं हो सकती जो जीवन को समग्रता में देखने के लिए आवश्यक है। द्रौपदी को अनल-जा जीवनी-शक्ति मानकर उसे पंच-तत्व-रूप पांडवों की प्रेरणा बताकर कवि ने कर्म और सत्य की नयी, अधिक संगत और अधिक समीचीन व्याख्या करने की चेष्टा की है! यही भावनात्मक सत्य कवि का अभीष्ट है, महाभारत की स्थूल कथा का पुनराख्यान नहीं। इसीलिए कवि कथा को केवल छूता भर चला है, काव्य की प्रधान्-वस्तु कथा से उत्पन्न चिंतन है, कथा नहीं। यही कारण है कि नरेंद्र ने प्रबंध की शैली को प्रगीत के ही निकट रक्खा है। भाषा और अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता में यह रचना सहज ही कामायनी के कुछ अंशों की याद दिला देती है। जिन घटनाओं को कवि अपने कथन के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं मानता, अथवा जिन स्थलों में कवि रमना नहीं चाहता, उनको समेटने में वह एक प्रसन्न लाघव का परिचय देता है, यथा :

राजसूय समाज में थे सकल नृप-भूपाल
चक्रवर्ती थे युधिष्ठिर, चक्रहत शिशुपाल

फिर भी हमें यह कहना ही होगा कि 'द्रौपदी' हमें निराश करती है। उसमें नरेंद्रोचित उपलब्धि का अभाव है। खंड-सौंदर्य से तो यह काव्य प्रचुर मात्रा में भरा पड़ा है, पर अपनी संपूर्णता में वह कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता। नारी की स्तुति चरित्र-चित्रण के अभाव में बड़ी खोखली लगती है। आधुनिक कवि के अनुरूप तो यह था कि वह महाभारतकालीन रूढ़ियों एवं विवशताओं में छटपटाती नारी को मुक्ति प्रदान करता, यहां तो कवि ने बरबस उनसे उन्हीं विवशताओं को आदर्श रूप में स्वीकृत कराया है। यही कारण तो नहीं है कि द्रौपदी लगभग पूरे काव्य में मौन ही रहती है, उसकी ओर से सदा कवि ही बोलता है? फिर, सबल घोषणा के बावजूद कवि यह सिद्ध नहीं कर सका है कि द्रौपदी ही महाभारत की केंद्र थी। न कवि ने कथानक को ही इस पहलू से संयोजित किया है। फलतः यह काव्य महाभारत का ही लघु संस्करण हो गया है, द्रौपदी तो शीर्षक में ही प्रधानता पा सकी है। पांच पतियों की सेवा की विडंबना, भरी सभा में अपमान सहने की विवशता, वन-वन भटकने का कष्ट और खोखली विजय की परिणति—ये ऐसे स्थल थे जहां कवि द्रौपदी की प्रतिष्ठा का यथेष्ट अवसर पा सकता था, पर इन स्थलों को उसने एक ऐसे आदर्श के आवरण से ढांक दिया है, जिसका आश्रय महाभारतकार ने भी न लिया था। इसी के आनुषंगिक रूप में कवि ने दुर्योधन और दुःशासन के चरित्रों को ऐसे सूचीभेद्य कलुष से आवृत कर दिया है कि वे एकदम अविश्वसनीय हो उठे हैं। ऐतिहासिक-वैज्ञानिक दृष्टि के ऐसे अभाव में यह उत्कृष्ट प्रयत्न कुछ स्थलों पर व्यक्त कवि-कौशल के प्रमाणों की शृंखला-मात्र रह गया है। भाषा और शैली में भी स्थल-स्थल पर ऐसी क्लिष्टता आ गयी है जो काव्य-तत्त्व

को विरल कर देती है। ज्योतिष के आधार पर यह वर्णन इसका प्रमाण है:

जीव अतिचारी हुआ, नक्षत्र श्रवणा के निकट!
चरमराने लगा बोझिल मंद से रोहिणि-शकट!
सिंह-मुख में अग्नि-सा कुज मघा पर वक्री हुआ;
पुष्य को आक्रान्त करने लगा घूमायत विकट!
केतु चित्रा पर उदित हो, इन्दु को ग्रसने लगा!
सिंहिका-सुत अदिति-सुत को निगल कर हंसने लगा!
पड़ गए दो ग्रहण तेरह दिनों के व्यवधान में;
काल-व्याल विशाल अपनी कुण्डली कसने लगा!

पर ऐसी घटाटोप क्लिष्टता कहीं-कहीं है। ऐसे स्थल भी 'द्रौपदी' में यथेष्ट हैं जो रस से सिक्त हैं और काव्य को प्रखरता से दीप्त करते हैं। विशेष रूप से अंत में महाभारत की सभी अवशिष्ट पात्रियों के शोक का चित्र बड़ी करुणा उपजाता है। नारी की विवशता की व्यंजना यहां बड़ी मार्मिक है :

सुबला, द्रुपदा, पृथा, सुभद्रा, सबने भेंट चढ़ाई,
रणचण्डी से तब जेता ने विजय-प्रसादी पाई!
नर की हार-जीत का जग में मृत्य चुकाती नारी!
बात मर्म की धर्मराज को आज समझ में आई!

और प्रबंधात्मकता के प्रयत्न की दृष्टि से तो 'द्रौपदी' सन् 1960 की विशिष्ट रचना है ही।

प्रारंभ में हम जिस वैविध्य की चर्चा कर आये हैं उसमें हिंदी के गीतकार कवियों का भी योग है। बरसों हुए जब बच्चन ने अपनी सरल लोकप्रिय कविताओं द्वारा मुद्रित रचनाओं और श्रव्य गीतों के बीच एक सेतु बांधा था। बाद में अधिकतर गीत-कवि रोचकता पर ही अधिक जोर देते रहे, काव्यगत सत्य और जीवनाभिव्यक्ति पर कम। पर इधर फिर गीतकारों में ऐसी प्रतिभाएं उठती दिखायी दे रही हैं जो उस सेतु को इंद्रधनुषी बनाने की ओर अग्रसर हो रही हैं। नयी कविता का कवि जहां समकालीन जीवन की बौद्धिक अनुभूति को संप्रेषणीय बनाने की समस्या से जूझ रहा है, वहां हिंदी का गीतकार जनसाधारण की रुचि को बौद्धिक तत्व प्रदान करने की ओर प्रयत्नशील है। यह ठीक है कि छंद, तुक आदि कुछ रूढ़ तत्वों के कारण उसकी अभिव्यक्ति बहुधा ऐसा शब्द-जाल बनकर रह जाती है जो कितना ही रंग-बिरंगा हो, पर जिसमें काव्यगत अर्थ की मछली बड़ी छोटी-सी होती है, पर ऐसे गीतों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है जो लोकप्रिय ढंग पर उन्हीं सत्यों को अभिव्यक्त करते हैं जो नयी कविता में मिलते हैं। गीतकार को जिन सीमाओं का सामना करने के लिए विवश होना पड़ता है, उनको दृष्टि में रखने पर इतनी सफलता

भी आशाप्रद ही लगती है। यद्यपि सन् 1960 में प्रकाशित नीरज की 'मुक्तकी' और रामकुमार चतुर्वेदी की 'नयी पीढ़ी, नयी राहें' इस कसौटी पर बहुत खरी नहीं उतरतीं, पर साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गीतकारों की रचनाएं निश्चय ही इस ओर संकेत करती हैं। इनमें भी रामावतार त्यागी और बालस्वरूप राही की रचनाएं हमें विशेष रूप से दो काव्य-विधाओं के मेल का प्रयत्न करती जान पड़ती हैं। प्रचलित प्रचारात्मक गीतों की रूढ़ि से यह रचना कितनी भिन्न और सच्ची है :

जहां तक भी नजर जाती, धुआं ही हाथ आता है
कहीं भी जल नहीं है, सिर्फ रेगिस्तान गाता है

जिसे भी देख लें हम वह सितारा टूट जाता है
अगर धारा पकड़ते हैं, किनारा छूट जाता है

—रामावतार त्यागी

इसी प्रकार परिस्थितिगत थकान का यह स्वर आधुनिक जीवन का ही हामी है :

पार कितनी मंजिलें मैं कर चुका
किन्तु चुकती ही नहीं यह बालुका
कुछ पता जलस्रोत का चलता नहीं
और सूरज है कभी ढलता नहीं
दोहरा संताप यह कैसे सहूँ
कब तलक माँगू न छाया से शरण?

—बालस्वरूप राही

कैलाश वाजपेयी की इस व्यंजना में आज के युवक की असमर्थता और विवशता ने स्वर पाया है :

यह अधनंगी शाम और यह भटका हुआ अकेलापन
मैंने फिर घबराकर अपना शीशा तोड़ दिया।

ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह प्रकट है कि हिंदी का गीतकार भी नयी समस्याओं और नयी अनुभूतियों से जूझ रहा है। यदि उसके संवेदन की गहराई कम लगती है, अथवा उसके शब्द आवश्यकता से अधिक लगते हैं तो उसका कारण वह माध्यम है जो उसने अपनाया है। उसकी ये सीमाएं, ठीक उसी स्तर की हैं जैसी नये कवि की छंद-तुक-हीनता की सीमाएं, जिनके कारण उसका कथ्य भी बहुधा प्रभावहीन और व्यर्थ हो जाता है। पत्र-पत्रिकाओं में जहां दोनों विधाओं की सशक्त रचनाएं मिलती हैं, वहां दोनों

प्रकार की अक्षमहीन रचनाओं के भी दर्शन होते हैं। गीतकार जहां शब्दों के जाल में भटक जाते हैं, नये कवि वहां अपने कथ्य में कोई घनी अन्विति न ला पाने के कारण बिखरी-बिखरी अभिव्यक्ति देते हैं।

सन् 1960 की कविता का यह सर्वेक्षण कुछ अनुवादों की चर्चा किये बिना समाप्त नहीं किया जा सकता। यों तो हिंदी का कवि सदैव देशी-विदेशी काव्यों का अध्येता रहा है, यहां तक कि हिंदी-काव्य की कुछ धाराओं पर विदेशी अनुकरण तक का लांछन लग चुका है, पर स्वतंत्रता के बाद से हिंदी-कवि ने बड़ी तेजी से अन्य भाषाओं के काव्य को समझने-परखने की चेष्टा की है। यह शुभ लक्षण है। परंपरा और परिवेश के सम्यक् ज्ञान के बिना आज के जीवन की व्याख्या करना संभव नहीं है और उसके लिए भारतीय एवं अभारतीय काव्य-कृतियों से परिचय पाठक और कवि दोनों के लिए आवश्यक है। हर्ष का विषय है कि इस वर्ष दो उल्लेखनीय काव्य अनुवाद रूप में हमें उपलब्ध हुए हैं। 'सप्तपर्णा' में यशस्विनी कवयित्री महादेवी वर्मा ने प्राचीन भारतीय अमर साहित्य के कुछ अंश हिंदी कविता में उतारे हैं, तो 'देशांतर' में भारती ने इक्कीस पाश्चात्य देशों की एक सौ इकसठ कविताओं को हिंदी रूप दिया है। 'सप्तपर्णा' में वेद-ऋचाओं से लेकर 'गीत गोविंद' तक के अंशों का पद्य-बद्ध अनुवाद है। इसमें संदेह नहीं कि इनमें से अनेक रचनाएं पहली बार अनूदित हुई हैं, अभी तक वे केवल संस्कृत-रसज्ञों को ही उपलब्ध थीं। यहां तक कि कालिदास की रचनाओं के भी अभी तक कोई सफल और संतोषजनक अनुवाद नहीं थे। फिर भी इस ग्रंथ की उपयोगिता दो कारणों से अत्यंत सीमित हो जाती है। एक तो, अनुवाद के लिए अंशों का चुनाव किसी अंतःसंगति पर किया नहीं जान पड़ता। जहां भी मन रमा, और जब तक रमा, उतना ही अंश अनूदित है। इतनी रचनाओं के आंशिक अनुवादों के स्थान पर यदि किसी एक रचना का भी संपूर्ण अनुवाद किया जाता तो अधिक उपयोगी होता। दूसरे, इतने विभिन्न कालों में रचे गये इतने विभिन्न कवियों के काव्यों का अनुवाद पढ़ने में एक-सा ही लगता है। वेद, कालिदास और 'गीत गोविंद' सब छायावादी काव्य ही मालूम देते हैं। हमारे मत में अनुवाद के कार्य में अनुवादक को अधिक संयम से मूल रचना की आत्मा को, उसके वैशिष्ट्य को उभारने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस दृष्टि से भारती ने स्फुट कविताओं के संपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत कर अधिक उपयोगी कार्य किया है। 'देशांतर' में भारती ने इक्कीस पाश्चात्य देशों की एक सौ इकसठ आधुनिक कविताओं का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया है। समसामयिक विश्व-काव्य को समझने-परखने का यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। यही नहीं, समसामयिक हिंदी काव्य को भी इसके परिप्रेक्ष्य में ज्यादा अच्छी तरह समझा-परखा जा सकता है, क्योंकि सुने-सुनाए ढंग पर विदेशी

अनुकरण का आरोप लगानेवाले इससे जान सकेंगे कि हिंदी की कविता कितनी मौलिक और भिन्न है, और आधुनिक कविता को निस्सार बतानेवाले यह समझ सकेंगे कि हिंदी कविता का ही नहीं, विश्व-काव्य का ही स्वरूप आज बदल गया है। इस संग्रहणीय अनुवाद-चयन से हिंदी के एकांत लेखक-पाठक को पहली बार समसामयिक विदेशी काव्य-राशि का आस्वाद मिल सकेगा।

[रचनाकाल 1961, 'वार्षिकी' : 1960, खण्ड 1 में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

उर्वशी का कथ्य

'उर्वशी' कवि दिनकर की नवीनतम रचना है। वह इस वर्ष की ही नहीं, इस दशाब्द की भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है। आज जब कविता अधिकतर छोटे-छोटे ताल-तलैयों और सरोवरों का रूप ले चुकी है, तब 'उर्वशी' जैसी सशक्त और मौलिक रचना से शीतल झरने का-सा आनंद मिलता है। 'कुरुक्षेत्र' में हमें जिसकी पूर्व-सूचना मिली थी, 'उर्वशी' में वही आधुनिक प्रबंध-प्रतिष्ठा मुखरित हो उठी है। 'उर्वशी' नये हिंदी काव्य की प्रौढ़ि की घोषणा है।

यद्यपि 'उर्वशी' का आधार परंपरागत पौराणिक कथा ही है, जो वेदों से लेकर कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयं' तक में मिलती है, पर कवि ने अपने उद्देश्य और प्रयोजन के अनुसार उसमें कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं जिनसे कथा का स्वरूप नितांत नया और भिन्न हो गया है। सच तो यह है कि अन्य आधुनिक पौराणिक प्रबंध काव्यों के विपरीत 'उर्वशी' के कवि का उद्देश्य पौराणिक कथा को नवीन स्वरूप देना नहीं है, वरन् आधुनिक जीवन के सत्य को प्रखर और गहरी व्यंजना देने के लिए प्राचीन कथा का माध्यम अपनाना है। दृष्टिकोण का यह विभेद 'उर्वशी' काव्य को अन्य समस्त प्रबंध काव्यों से अलग कर देता है। केवल एक 'कनुप्रिया' ही और ऐसा काव्य है जो कदाचित् इसी कोटि में आता है।

यही कारण है कि 'उर्वशी' को प्रबंध काव्य की शास्त्रीय कसौटी पर कसना गलत होगा। उससे 'उर्वशी' के प्रति तो अन्याय होगा ही, उसके मर्म का वास्तविक रस-ग्रहण भी कठिन हो जायेगा। यद्यपि कवि ने काव्य में कथा-विकास को कुशलतापूर्वक सहेजा है और प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण में विलक्षण सूझ-बूझ और सामर्थ्य का परिचय दिया है, पर कथा अथवा चरित्र कवि का कथ्य नहीं है, वे साधन-मात्र हैं।

'उर्वशी' आधुनिक व्यक्ति-जीवन में काम की समस्या का काव्य है। कवि ने इस तथ्य को उजागर करने के लिए उसकी व्याख्या करते हुए स्वयं ही उसको 'कामाध्यात्म' का काव्य कहा है। पर फिर भी यह खेद का विषय है कि अभी तक उसकी जितनी भी समीक्षायें प्रकाशित हुई हैं, उनमें या तो इस तथ्य को भुला दिया गया है, या फिर उसको गौण ही माना गया है। हमारा

विनम्र आग्रह है कि 'उर्वशी' को काम समस्या के काव्य के रूप में देखना ही सही है। तभी उसके वास्तविक सौंदर्य के दर्शन किये जा सकते हैं और उसका यथार्थ महत्त्व पहचाना जा सकता है।

आधुनिक काम-दर्शन के दो आधार-स्तंभ हैं। एक : नर-नारी, दोनों के आकर्षण की एकांतिकता, और दो : काम की सफलता-असफलता की देहातीत संपूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्ति। 'उर्वशी' इन्हीं दोनों सिद्धांतों की गौरवपूर्ण स्थापना करती है, और रूढ़ियों में बंधे काम-जीवन की वेदना और विडंबना का उद्घाटन। यद्यपि नारी के लिए पातिव्रत्य अत्यंत प्राचीन सिद्धांत है, और पुरुष के लिए एक पत्नी-व्रत भी कोई कम प्राचीन सिद्धांत नहीं है, पर उनका आधार समाज-नीति है, व्यक्ति-मन का प्रेम नहीं। यही कारण है कि आदर्श रूप में इन दो कर्त्तव्यों की दुहाई देते रहने पर भी मानव-समाज आदिकाल से अब तक इनकी प्रतीति नहीं कर सका है। फलतः बहु-पत्नी प्रथा और वेश्यावृत्ति —ये दोनों विभीषिकायें प्रायः सभी युगों में मानव-समाज की व्यवस्था से जुड़ी मिलती हैं। आज का समाज इन दोनों के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध है, और वह जानता है कि इनका अंत तभी होगा जब समाज में एक नये और सर्वांगीण कामदर्शन की प्रतिष्ठा हो जाये। इसीलिए एकांत और अनन्य व्यक्ति-प्रेम नयी कविता का अभिन्न अंग बन चुका है। 'उर्वशी' इसी व्यक्ति-प्रेम को अत्यंत उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न है। रूढ़ियों की जकड़ के कारण प्रेम की यह समग्रता जीवन-परिपाटी में बड़ी गहरी उथल-पुथल मचा देती है। औशीनरी की वेदना, उर्वशी की विवशता और पुरुरवा के समाज-त्याग में कवि ने उस विडंबना को भी प्रबल रूप में उद्घाटित किया है।

पुरुरवा चंद्रवंशी राजा है, पराक्रमी और दिग्विजयी। स्वर्ग तक उसका स्यंदन पहुंचता है। उसे अपनी क्षमता की प्रखर चेतना है। वह अपने प्रताप का स्वयं वर्णन करता है :

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलों के सीस पर स्यंदन चलाता हूँ।

कथा के प्रारंभ में यही लगता है कि पुरुरवा के जीवन में अभाव का कोई स्थान नहीं। पर उर्वशी पर दृष्टि पड़ते ही मानो इस परमवीर प्रतापी पुरुष की दुनिया उलट जाती है। परिपाटी में बंधा जीवन जीते हुए और अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को वीर-कर्म में झोंकते हुए उसने जो कुछ पाया था, वह अब सब निःसार लगने लगता है। अपने जीवन के सबसे बड़े अभाव की उसे पहली बार चेतना होती है। वह उर्वशी के लिए विकल हो उठता है। उर्वशी के रूप के लिए नहीं, उसके व्यक्तित्व के लिए।

यह अंतर महत्त्वपूर्ण है। पुरुरवा की यह प्रेम-विकलता छायावादी प्रेम-विकलता से अधिक गहरी है। यह 'किसी अपरिचित' की चाह नहीं है, एक

निश्चित लक्ष्य की चाह है। और 'उर्वशी' का पुरुरवा, 'विक्रमोर्वशीय' के पुरुरवा से तो नितांत भिन्न स्तर का है। दिनकर ने इसकी सूचना रचना-कौशल की एक सूक्ष्म भंगिमा से दी है। उन्होंने राजा के मित्र और विदूषक को काव्य में आने ही नहीं दिया है। कालिदास का पुरुरवा उर्वशी को पाने की विकलता में जब विदूषक को अपने हृदय का हाल सुनाकर सांत्वना पाना चाहता है, तब विदूषक अपनी भूख की विकलता का वर्णन कर पाठकों के सामने यह स्पष्ट कर देता है कि राजा की विकलता किस कोटि की है। इसीलिए दिनकर ने विदूषक को काव्य में प्रवेश ही नहीं दिया। 'उर्वशी' का पुरुरवा अपनी विकलता में अपने अंतर का ही मंथन करता रहता है। आँशीनरी न होती, तो कोई बाधा न थी। इंद्र उससे प्रसन्न थे। उर्वशी से परिणय कठिन न होता। पर औशीनरी के रहते वह अपने प्राणों की अभिलाषा ओठों तक भी नहीं ला सकता, वह भीतर-ही-भीतर घुटता रहता है। कालिदास ने पुरुरवा के चरित्र के इस पक्ष पर अटकने की जरूरत ही नहीं समझी, क्योंकि वह राजा था, और राजा तो एकाधिक रानियां रखते ही थे। पर दिनकर इस पक्ष की अवहेलना नहीं कर सकते। उनका पुरुरवा राजा नहीं, मात्र पुरुष है। सो भी आधुनिक जीवन-दृष्टि से बंधा। उर्वशी को वह क्योंकर पाये, पर उर्वशी को देख लेने के बाद औशीनरी को भी क्योंकर स्वीकारे? कवि फिर एक रचना-कौशल का सहारा लेता है। पूरे काव्य में पुरुरवा और औशीनरी एक बार भी आमने-सामने नहीं आते।

हो सकता था, कहानी यहीं समाप्त हो जाती, जैसे कि यथार्थ जीवन में अनगिनत प्रेम-प्रसंग समाप्त हो जाते हैं, पर पौराणिक कथा आगे बढ़ने का पुष्ट आधार देती है। सच पूछिए तो असंख्य पौराणिक कहानियों में से इसी एक को चुनने के पीछे संगति ही यह है कि कहानी यहीं नहीं रुकती, वह आगे चलती है। पुरुरवा प्रेम में विकल होकर मन-ही-मन घुटता रहे क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं है, पर उर्वशी क्यों चुप रहे। वह तो स्वतंत्र है, अप्सरा है। आधुनिक संदर्भ में देखें तो वह सुशिक्षित, सुसंस्कृत समाज की विकसित व्यक्तित्व आत्माधीन नारी है। पुरुरवा के लिए उसके प्राण भी उतने ही छटपटा रहे हैं। वह प्रमाद-वश भरतमुनि का शाप अर्जित करती है, और उसके सहारे मर्त्यलोक में आकर पुरुरवा से भेंट करती है।

उर्वशी और पुरुरवा का यह मिलन काव्य के तृतीय अंक की वस्तु है, जो काव्य का प्रधान और सबसे लंबा अंश है। उर्वशी को सामने पाकर भी पुरुरवा उसे स्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि उसके मन में बाधा है। वह उस बाधा को पार करने का मार्ग नहीं जानता, अतः अपनी कामना से जूझना चाहता है, और अनासक्ति में ही सच्चे प्रेम का दर्शन करना चाहता है। दूसरे छोर पर, उर्वशी उसके द्वंद्व का मूल कारण जानती है, अतः काम के महत्त्व और दर्शन पर अपने विकसित विचारों द्वारा पुरुरवा को अतीत-भविष्य की चिंता छोड़ प्रस्तुत क्षणों की सहज स्वीकृति के लिए प्रेरित करती है। इस अंक में पुरुरवा और उर्वशी का संबंध बहुत-कुछ अर्जुन और कृष्ण के संबंधों की लीक

पर चलता जान पड़ता है। जिस प्रकार मोह में पड़े अर्जुन को कृष्ण ने निष्काम कर्म का पाठ पढ़ाकर कर्तव्य में प्रवृत्त किया था, उसी प्रकार उर्वशी भी द्विधा-ग्रस्त पुरुरवा को निष्काम काम का ज्ञान देकर अभीष्ट-प्राप्ति में प्रवृत्त करती है। पूरा अंक प्रेम भावना के नाना-विध रूपों का और जीवन में काम के प्रति सही दृष्टिकोण का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है, जिसमें आधुनिक विचारधारा अत्यंत उभरकर ऊपर आती है। यह अंक इस पौराणिक कथा को नये आध्यात्मिक अर्थ ही नहीं देता, समस्त काव्य को अभूतपूर्व महत्त्व भी प्रदान करता है। तन-मन के मिलन का ऐसा समग्र और आंतरिक चित्रण दुर्लभ है। यह प्रमाण है कि सच्चे और गहरे प्रेम का सहज स्वीकार कितना उत्थानकारी होता है। अंतर की एक-एक परत की छानबीन कर प्रेम के सही मर्म का यह उद्घाटन जितना विलक्षण है उतना ही प्रेरणादायक। प्रेम के परंपरागत अर्थों के विरुद्ध और रूढ़ियों के विरुद्ध यह विद्रोह दिनकर के अनुकरणीय साहस का प्रमाण है। यही कारण है कि वर्तमान के सहज स्वीकार के रास्ते चलकर ही पुरुरवा और उर्वशी सदैव के लिए बंध जाते हैं।

पर उर्वशी पर भरत मुनि के शाप की छाया है, इसलिए विछोह अवश्यंभावी है। उर्वशी अपने पुत्र को अपने प्रियतम से छिपाकर उस विछोह के दिन को दूर ठेलने का प्रयत्न करती है, और मातृत्व के दुर्लभ अतिरिक्त को उतनी वेदना से अपने मन में बंद कर लेती है, जितनी वेदना से प्रारंभ में पुरुरवा ने अपनी विकलता छिपायी थी। पर विछोह का दिन आकर रहता है। उर्वशी को स्वर्ग लौट जाना पड़ता है, और पुरुरवा राज-पाट छोड़कर संन्यास ले लेता है।

संन्यास किसलिए? यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है इसलिए और भी कि कवि को जो कथा परंपरा से मिली थी, उसमें पुरुरवा के संन्यास लेने की कोई चर्चा नहीं। उस चर्चा की जरूरत भी न थी, क्योंकि उर्वशी के स्वर्ग जाते-न-जाते स्वयं देवगण उर्वशी को स्वेच्छा से पुरुरवा को सौंप देते हैं क्योंकि उन्हें असुरों के विरुद्ध युद्ध में पुरुरवा की मदद चाहिए। पर एक पत्नी के रहते पुरुरवा उर्वशी को कैसे स्वीकार करे? काव्य की मूल समस्या ही यह है। अतः कवि मौलिक उद्भावना कर पुरुरवा को संन्यास-पथ पर भेज देता है। परित्याग का यही रूप तत्कालीन वातावरण से मेल खा सकता है। पुरुरवा का यों चला जाना औशीनरी को विषाद के सागर में डुबो देता है, और कवि साहसपूर्वक उसका चित्रण करता है, पर उसे प्रश्रय देना रूढ़ि को ही प्रश्रय देना होता। जो संबंध आडंबर मात्र हैं, आधुनिक कवि उनको तोड़ने में ही कल्याण मानता है।

पर संन्यास की एक संगति और भी है। पाठकों को याद होगा कि 'कुरुक्षेत्र' में धर्मराज युधिष्ठिर भी विजयी किंतु अशांति की स्थिति से बचने के लिए, शांति पाने के लिए संन्यास लेने की कामना करते हैं। पर फिर भीष्म के कहने से 'धर्म' 'करुणा' का दीप जलाते रह जाते हैं। 'उर्वशी' तक आते-आते कवि के दृष्टिकोण में प्रखरता और प्रौढ़ता दोनों की वृद्धि हुई है, और वह मूल कथा में आवश्यक संशोधन कर पुरुरवा को संन्यास की ओर भेज देता है, क्योंकि

संन्यास तप का, ध्येय-प्राप्ति के लिए साहसपूर्ण सत्प्रयत्न का प्रतीक है। और पुरुरवा संन्यास द्वारा उर्वशी को पाना चाहता है, ठीक जैसे च्यवन ने तपस्या द्वारा सुकन्या को प्राप्त किया था। काव्य में च्यवन और सुकन्या के प्रसंग के समावेश की यही सार्थकता है।

अपनी कल्पना में *'उर्वशी'* जितना साहसपूर्ण प्रयास है, अपनी रचना में भी वह कवि के विलक्षण सामर्थ्य का प्रमाण है। प्रेम-काव्य होने के कारण वह रमणीक स्थलों से भरा पड़ा है। तन और मन के सौंदर्य का ऐसा मुग्ध और प्रेरणाप्रद चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। पुरुरवा, औशीनरी और उर्वशी—तीनों के चरित्र-चित्रण में कवि ने गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है, और काम-संबंधों के विवेचन में आधुनिक जीवन दृष्टि का। काव्य की रचना नाटक के रूप में कर कवि ने अनावश्यक विस्तार से बचने का मार्ग निकाला है, जो वह 'कुरुक्षेत्र' में नहीं कर सका था, और संवादों के व्यवहार से वैदग्ध्य और मार्मिकता का। भाषा और व्यंजना दोनों में प्रीतिकर प्रखरता और ओज है जो काव्य को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं। उर्वशी और पुरुरवा घर और बाहर के ही नहीं, भाव-जगत् और वस्तु-जगत् के भी प्रतीक हैं। इस प्रकार *'उर्वशी'* काम-प्रेरणा के सही और साहसपूर्ण अनुगमन एवं प्रतिपालन द्वारा व्यक्ति के पूर्णत्व-अभियान का जयघोष है।

[रचनाकाल 1961,
'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

'उर्वशी' का आधुनिक परिप्रेक्ष्य

अपनी एक अमर रचना में गुरुदेव रवींद्रनाथ ने उर्वशी को संबोधित करते हुए लिखा है :

फिरिबे ना, फिरिबे ना, अस्त गेछे से गौरवशशी,
अस्ताचलवासिनी उर्वशी।

तबु आशा जेगे थाके प्राणेर क्रन्दने,
अयि अबन्धने!

हिंदी के सिद्ध कवि दिनकर ने सन् 1961 के सर्वाधिक चर्चित काव्य में इसी 'अबन्धने' को बांधने का प्रयत्न किया है।

पर उर्वशी को बांधना बड़ा दुस्तर कार्य है क्योंकि वह पूर्ण नारी की प्रतीक है, तन और मन दोनों के आदर्श सौंदर्य की छलछलाती प्रतिमा है जो क्षण-भर को पास आकर फिर छिटककर दूर हो जाती है और पुरुष जिसे पाकर भी आश्वस्तिलाभ नहीं कर पाता। क्योंकि उसकी अंतश्चेतना जानती है कि यह क्षण चिरस्थायी नहीं है। वह उस मुक्त और आत्मदीप्त नारी का रूप है जो उस घेरे में बंधने से इनकार करती है, जिसे हम मोटे अर्थ में समाज कहते हैं।

इसीलिए दिनकर उर्वशी को बांधने की प्रक्रिया में उस घेरे को ही चुनौती दे बैठते हैं जो उर्वशी को बांधने में असमर्थ है और उसके उपयुक्त एक नये और सही बंधन की खोज में समाज से विद्रोह कर उठते हैं। यह जितने बड़े साहस का काम है, दिनकर उतने ही गहरे संयम से काम लेकर अपने काव्य को ऐतिहासिक महिमा से मंडित कर देते हैं। 'उर्वशी' की कथा मात्र उर्वशी की कथा न रहकर समाजमुक्त नर-नारी के चिरंतन संबंधों की और पारंपरिक परिवार के घेरे में दबी उसकी युगयुग-व्यापी वेदना की साक्षी बन जाती है। 'उर्वशी' की यह उपलब्धि अभूतपूर्व है। सच पूछिए तो आज से पहले यह सम्यक् दृष्टि संभव ही न थी।

वैसे 'उर्वशी' काव्य की कथावस्तु नयी नहीं है। वैदिक रूपक से प्रारंभ

होकर कालिदास के साहित्यिक रूपक 'विक्रमोर्वशीयम्' तक आते-आते वह हमारी परंपरा बन गयी है। इस परंपरा को यथासंभव यथावत् रखकर कवि ने अपनी रचना को अपेक्षित गहराई दी है और प्रतीकों की प्रभाविष्णुता को घटने से बचा लिया है। यह परिचित पात्रों से तादात्म्य स्थापित करने में और काव्य का मूल रस ग्रहण करने में पाठक की सहायक बनती है।

पर कथा की इस ऊपरी रूपरेखा के अतिरिक्त 'उर्वशी' का सर्वांग नया, आधुनिक और मौलिक है। उसका रस उन काव्यों से भिन्न प्रकार का है जो परंपरा के पुनराख्यान तक ही सीमित रहे हैं। 'उर्वशी' के प्राण और आत्मा युगीन जीवन को प्रतिफलित करते हैं और मूल कथा में उपलब्ध जिस विसंगति और विषमता से सब लेखक आज तक कतराते रहे हैं, दिनकर उससे आंखें ही नहीं मिलाते, डटकर उसका सामना करते हैं और उससे पार पाने की राह भी खोजते हैं।

यह विसंगति अथवा विषमता क्या है? इस विषमता का परिचय हमें उर्वशी से भी अधिक पुरुरवा के चरित्र में मिलता है और पुरुरवा से भी अधिक ऑशीनरी के चरित्र में। औशीनरी राजमहिषी है, पुरुरवा की धर्मपत्नी, और यह मानकर चला जा सकता है कि दोनों का दांपत्य जीवन साधारण परिपाटी पर सुखपूर्वक व्यतीत होता रहा है। ऑशीनरी पति के चरणों में समर्पित होकर अपने-आपको कृतार्थ मानती रही है। उसका एकमात्र दुख यही है कि अभी उसकी कोख से वंशधर ने जन्म नहीं लिया। पुरुरवा भी अपनी प्रतिभा और पराक्रम से सफलता और ख्याति के शिखरों पर चढ़ता चला जाता है। उसके जीवन में कोई अभाव है, इसका पहला परिचय उसे तभी मिलता है जब उसकी नजरें उर्वशी से मिलती हैं।

यहां तक 'विक्रमोर्वशीयम्' की कथा भी बिलकुल यही है। पर इस स्थल से दोनों रचनाओं का भारी अंतर स्पष्ट होने लगता है। प्राचीन काल में राजाओं के लिए बहुपत्नीवाद सामान्य सत्य होने के कारण जिस प्रश्न पर कालिदास की दृष्टि भी नहीं पड़ती, दिनकर उसी में अटक जाते हैं और उसके माध्यम से आधुनिक दांपत्य जीवन के मर्म तक पहुंचते हैं। 'उर्वशी' को कामाध्यात्म का काव्य यों ही नहीं कहा गया है, वह उसकी यथार्थ व्याख्या है।

आधुनिक जनतांत्रिक युग में नर-नारी की समानता और एकपत्नी धर्म सर्वस्वीकृत सिद्धांत है। आदर्श चरित्रों में हम उनकी च्युति सहन नहीं कर सकते। हमारे कवियों में राम और सीता के चरित्रों की लोकप्रियता का यह बहुत बड़ा कारण है। श्रीकृष्ण के चरित्र की इस विषमता से बचने के लिए हम या तो उनमें भगवानत्व का आरोप कर देते हैं अथवा श्रीकृष्ण में वात्सल्य की प्रतिष्ठा कर देते हैं। दिनकर को यह सुविधा नहीं थी। यह सुविधा वे चाहते भी न थे, नहीं तो उन्हें कथानकों का अभाव न था। जिस प्रश्न पर आकर वे अटके उस प्रश्न की विवेचना ही उनका प्रधान लक्ष्य था और इसके लिए उर्वशी-पुरुरवा की कथा से अधिक सटीक कथा की कल्पना भी कठिन है।

पुरुरवा विवाहित है, उसका दांपत्य जीवन भी सुखी है, दोषरहित है। फिर अचानक उर्वशी के प्रति यह आकर्षण क्यों? युगप्रभाव के कारण कालिदास ने इसे सहज ही स्वीकार कर लिया—राजाओं के मन तो डिगते ही रहते हैं; कुल-मर्यादा पालन के लिए एक परिणीता पत्नी और रूपविलास के लिए अनेक प्रेयसियां। उन्हें उसमें कोई विरोध नहीं दिखा, पर आज का कवि इसे कैसे स्वीकार करे? मदनिका के शब्दों में वह उस परंपरागत मान्यता को दुहराता है जिसका समर्थन कालिदास का युग निस्संकोच कर देता :

उस पर भी नर में प्रवृत्ति है क्षण-क्षण अकुलाने की,
नयी-नयी प्रतिमाओं का नित नया प्यार पाने की,
वश में आई हुई वस्तु से इसको तोष नहीं है,
जीत लिया जिसको, उससे आगे सन्तोष नहीं है,
नई सिद्धि-हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद-नव जय, नित नूतन हर्ष चाहता है नर।

पर यह मदनिका का वक्तव्य है—परंपरा का प्रतिनिधि—कवि का वक्तव्य नहीं है। इस मान्यता में पुरुष के लिए समाज ने जो विशेषाधिकार सौंप रखा है, वह कवि को मान्य नहीं है।

तो फिर कवि उर्वशी के प्रति पुरुरवा के आकर्षण की क्या संगति देता है? इस आकर्षण की सूचना पाकर औशीनरी की जो प्रतिक्रिया होती है, उसके सहारे कवि के लक्ष्य का आभास पाया जा सकता है।औशीनरी आकर्षण का सारा दोष उर्वशी पर ही मढ़ देती है। उस अनिंद्य सुंदरी आदर्श नारी को वह सामान्य गणिका की ही भांति देखती है :

जानें, इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था,
कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था,
जिसके कारण, भ्रमा हमारे महाराज की मति को,
छीन ले गई अधम पापिनी मुझसे मेरे पति को।
ये प्रवंचिकाएँ, जानें, क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुल-वामाओं को तड़पाती हैं।

यहां 'कुल-वामा' पद अत्यंत सारगर्भित है। औशीनरी निस्संदेह कुलवामा है, पतिव्रता, पतिसेविका—आगे चलकर वह अपने दुर्भाग्य के लिए पतिव्रताओं की प्रथा के अनुसार अपने को भी कोसने लगती है :

अरी! कौन है कृत्य जिसे मैं अब तक कर न सकी हूँ?
कौन पुष्प है जिसे प्रणय-वेदी पर धर न सकी हूँ?
प्रभु को दिया नहीं, ऐसा तो पास न कोई धन है।

न्यौछावर आराध्य-चरण पर सखि! तन, मन, जीवन है।
तब भी तो भिक्षुणी सदृश जोहा करती हूँ मुख को,
सदा हेरती रहती प्रिय की आँखों में निज सुख को।
पर, वह मिलता नहीं, चमक, जानें, खो गई कहाँ पर!
जानें, प्रभु के मधुर प्रेम की श्री सो गई कहाँ पर!

पर वह यह नहीं पहचान पाती कि उसके इस कुलवामापन के कारण ही 'प्रभु के मधुर प्रेम की श्री' सो गयी है। यद्यपि उसकी सखियां इस ओर संकेत भी करती हैं :

क्षण-क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अंक में देकर;
जो सपने के सदृश बाहु में उड़ी-उड़ी आती हो,
और लहर-सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,
प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बस में।

और वह भी कहती है :

गृहिणी जाती हार दांव सम्पूर्ण समर्पण करके

पर इस परिणति से बचने के लिए उसे स्वयं भी कुछ प्रयास करने की जरूरत है, यह वह नहीं सोच पाती, क्योंकि :

पति के सिवा पोषिता का कोई आधार नहीं है।

औशीनरी और उसकी सखियों के इस वार्तालाप में सचमुच विवाहेतर आकर्षण पर परंपरागत मत का सार दे दिया गया है। पुरुष की प्रकृति है कि वह नया रस खोजता है, नारी की प्रकृति है कि वह संपूर्ण समर्पण देती है, और तब पुरुष अनिवार्य रूप से अन्य आकर्षण खोजता है। जो संपूर्ण समर्पित न हो वह भला नारी—कुलवामा—हो सकती है? वह तो वेश्या है। इसीलिए वे उर्वशी को भी गणिका की ही संज्ञा देती है।

पर कवि—आधुनिक कवि—को यह व्याख्या संतोष नहीं दे सकती। पुरुरवा आदर्श पुरुष है, लंपट नहीं है। वह उर्वशी की ओर आकृष्ट है तो क्यों? औशीनरी के शब्दों में ही हमें उसका रहस्य मिल जाता है। अपने विवाह से पुरुरवा का संपूर्ण व्यक्तित्व चरितार्थ नहीं हो सका है क्योंकि औशीनरी उसकी धर्मपत्नी तो है, सहधर्मिणी नहीं है, पति उसका साथी नहीं 'आधार' है। इसीलिए वह पुरुरवा के विकास में योग नहीं दे पाती। बाहर तो प्रतिपल उसके जीवन के नये आयाम खुलते जाते हैं, स्वर्गलोक तक उसका स्पंदन पहुंचता है, पर घर में वही एकरस कामनाहीन समर्पण। परंपरा से बंधी अविकसित व्यक्तित्व

वाली नारी वह दांपत्यसुख कैसे ले या दे सकती है जो मुक्त और विकसित व्यक्तित्व की पूर्ण नारी द्वारा ही संभव है। उर्वशी के प्रति पुरुरवा का आकर्षण इसी उच्चतर भावभूमि पर अंगीकृत हो सकता है, दैहिक विलासिता की परंपरागत भूमि पर नहीं। औशीनरी की वेदना परंपरागत विवाह व्यवस्था की अनिवार्य शर्त है। प्रेम, जहां व्यक्तित्व का मिलन न हो; और विवाह, जहां प्रेम का प्रतिफलन न हो; वहां आंसू की धारा को कैसे रोका जा सकता है?

इसीलिए, दिनकर की 'उर्वशी' में पुरुरवा का आकर्षण रूपवती देह की चाह का फल नहीं है, वह व्यक्तित्व द्वारा व्यक्तित्व की खोज है, बल्कि व्यक्तित्व के एक अंश द्वारा अपने दूसरे पूरक अंश की खोज है। कवि ने इस आकर्षण को प्रेम की अनन्यता प्रदान की है। उर्वशी और केवल उर्वशी ही पुरुरवा की काम्य है, वही वह नारीरूप है जिसके लिए उसका व्यक्तित्व बना है, जो उसकी सहयोगिनी बनकर उसे चरम सार्थकता और चरितार्थता दे सकती है। जब तक उसने उर्वशी को देखा न था, जब तक उसने यह न जाना था कि ऐसी भी एक रमणी इस सृष्टि में है, तब तक वह कुलमर्यादा में घिरा ऊपर से संतुष्ट पर भीतर से बेचैन अपना जीवन बिताता रहा था :

एक मूर्ति में सिमट गईं किस भांति सिद्धियां सारी,
कब था ज्ञात मुझे इतनी सुंदर होती है नारी?

पर उर्वशी के देख लेने पर उसे पाये बिना वह नहीं रह सकता क्योंकि उसका संपूर्ण अस्तित्व उस कामना में समा गया है :

नक्षत्रों के बीज प्राण के नभ में बोने वाली!
ओ रसमयी वेदनाओं में मुझे डुबोने वाली!
स्वर्गलोक की सुधे! अरी, ओ आभा नन्दन-वन की!
किस प्रकार तुझ तक पहुँचाऊँ पीड़ा मैं निज मन की?
स्यात्, अभी तप ही अपूर्ण है, न तो भेद अम्बर को,
छुआ नहीं क्यों मेरी आहों ने तेरे अन्तर को?

ये पंक्तियां साक्षी हैं कि पुरुरवा का आकर्षण छिछला, क्षणिक रूपमोह नहीं है। वे इस बात की भी साक्षी हैं कि अचेतन में ही सही, पुरुरवा का मन निरंतर एक ऐसी नारी के लिए तपता रहा है जो 'कुलवामा' न हो, सहयोगिनी हो। इनमें रूपलोभी भौंरे की आकुलता नहीं, युग-युग से अतृप्त अंतर का विकल आह्वान है। प्राचीन रूढ़ियों के आंशिक घिसटाव और नयी मान्यताओं के आंशिक अपनाव के कारण आज के जीवन में इस परिस्थिति का साधारणीकरण सहज है। उर्वशी को देख लेने के बाद पुरुरवा के लिए यह संभव नहीं रहता कि वह पहले की ही तरह जीवन बिताता रहे। कवि ने इस ओर एक मार्मिक संकेत करने के लिए ही काव्य-रचना इस कौशल से की है कि उर्वशी-दर्शन के उपरांत पुरुरवा और औशीनरी कभी भी आमने-सामने नहीं आते। उनके

दांपत्य जीवन की कोई झांकी कवि हमें नहीं देता, क्योंकि वह जानता है कि वह मृत रूढ़ियों पर टिका था। नारी से उसे अवश्य सहानुभूति है, इसलिए औशीनरी के आंसू तो हमें देखने को मिलते हैं, पर जिस दांपत्य का आधारमुक्त और समान युग्म के बीच अटूट और निरंतर नवीन प्रेम न हो वह आधुनिक कवि की सहानुभूति का अधिकारी नहीं। उसकी उपेक्षा कर दिनकर ने संयम से ही काम लिया है।

यह वह स्थल है जहां आधुनिक पाठक कवि से विद्रोह की मांग कर सकता है। यदि पुरुरवा उर्वशी के ही लिए बना है, तो वह औशीनरी का परित्याग कर उर्वशी को पाने के लिए आगे क्यों नहीं बढ़ता? क्यों वह तड़पता हुआ निश्चेष्ट रह जाता है?

कवि ने इस प्रश्न का कई प्रकार से उत्तर दिया है। एक उत्तर भूमिका में है : "प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं, कविता की भूमि केवल दर्द को पहचानती है, केवल बेचैनी को जानती है।" दूसरा उत्तर पुरुरवा के शब्दों में है जो विद्रोह न सही पर प्राणत्याग करने को तत्पर है :

मेरी मर्म-पुकार मोहिनी! वृथा नहीं जाएगी,
आज न तो कल तुझे इन्द्रपुर में वह तड़पायेगी।
और वही लाएगी नीचे तुझे उतार गगन से,
या फिर देह छोड़ मैं ही मिलने जाऊँगा मन से।

तीसरा उत्तर पुरुरवा और उर्वशी के प्रथम संभाषण में है। पुरुरवा कहता है कि उत्कट कामना होने पर भी वह सुरपति से जाकर अपनी व्यथा नहीं कह सका क्योंकि :

क्षत्रिय भी भीख माँगते हैं क्या?

और जब उर्वशी कहती है :

हरण किया क्यों नहीं, माँग लाने में यदि अपयश था?

तो पुरुरवा परंपरागत उत्तर देता है :

नहीं, इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है,
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।

अनासक्ति की यह चेष्टा, आत्मदमन का यह प्रयास आधुनिक जीवन की यथार्थ विवशता है। पुरुरवा के चरित्र में उसका समावेश कवि की अंतर्दृष्टि का परिचय देता है। अंतर की कामना की स्वीकृति के पथ पर बाधा देनेवाली सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह जिस साहस की मांग करता है उसका समावेश पुरुरवा जैसे तेजस्वी पुरुष में भी न कर कवि ने प्राचीन कथा को उन्मूलित होने से

बचा लिया है और पुरुरवा [illegible]
जीवन का अत्यंत मार्मिक प्रतिनिधित्व करती है। [illegible]

और कभी यह भी सोचा है जिस सुगन्ध में छक कर,
विकल वायु बह रही मत्त होकर त्रिकाल-त्रिभुवन की,
उस दिगन्त-व्यापिनी गन्ध की अव्यय, अमर शिखा को,
मर्त्य प्राण की किस निकुंज वीथी में बाँध धरेगा?

स्वर्ग-मर्त्य के रूपक को हटा कर यदि इस उक्ति पर विचार किया जाये तो यही अर्थ हाथ आता है कि एक तो पुरुरवा को यह विश्वास नहीं है कि उर्वशी के हृदय में भी उसके प्रति समान उत्कट प्रेम है और वह उसे प्राप्त हो सकती है, दूसरे उसे यह भी डर है कि कहीं उर्वशी मिल ही गयी तो उसे अपने जीवन में कहां स्थान देगा? उसके लिए तो उसे कुलमर्यादा को तिलांजलि देनी होगी। इसलिए उसका मन दो समाधान खोज निकालता है। एक अनासक्ति और दूसरा मरण। प्राप्ति की आशा के बिना ही छायावादी ढंग से प्यार करते रहना, और जब विरह असह्य हो जाये तो प्राण त्याग देना। इससे अधिक की गुंजाइश न तो मूल कथा में थी, न कवि के उद्देश्य में। क्योंकि कवि ने 'उर्वशी' के माध्यम से आधुनिक प्रणय-जीवन की समस्या का ही चित्रण किया है।

आत्म-दमन की यह प्रवृत्ति, जिसे वह अनासक्ति की संज्ञा देता है और जो मर्यादा-भंग के भय से उसके मन में समा गयी है, पुरुरवा को वह तड़प देती है जिससे वह मिलन के गहन क्षणों में भी विकल है। एक ओर यह अनासक्ति उसके प्रेम को अंतर्मुख बनाकर उत्कट करती है, दूसरी ओर उसे वर्तमान में डूबने नहीं देती। वह कहता है :

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ।
पर, सरोवर के किनारे कण्ठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ।
आग है कोई, नहीं जो शान्त होती,
और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है।

यह अंकुश और कुछ नहीं उसका संस्कारबद्ध अवचेतन मन है और यह आग और कुछ नहीं संपूर्ण और अकाट्य संयोग की कामना है। तन की भूख होती तो इस मिलन से संतुष्ट हो जाती। चित्रलेखा कह ही चुकी है :

नया बोध श्रीमन्त प्रेम का करते ही रहते हैं,
नित्य नई सुन्दरताओं पर मरते ही रहते हैं।

पर यह तो आत्मा की भूख है, संपूर्ण व्यक्तित्व की संपूर्ण व्यक्तित्व के प्रति उद्दाम ललक जो क्षणिक मिलन से तुष्ट नहीं हो सकती, जो दीर्घ जीवन-पथ पर संयुक्त जीवन से ही संतुष्ट होती है। तभी तो वह स्वीकार करता है :

बाहुओं के इस वलय में गात्र ही बन्दी नहीं है,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते हैं।

पर क्योंकि उसका मन इस तथ्य के सामाजिक परिणामों को स्वीकार करने से हिचकता है, इसीलिए वह देवत्व पाना चाहता है। देवत्व—अर्थात् वह स्थिति जहां भावना का देह-भोग से संबंध है ही नहीं। तभी तो वह कहता है :

ऊपर जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से!

'तन के इस अतिक्रमण' के पीछे वर्जनाओं का कैसा जटिल पुंज है, यह उर्वशी के पक्ष से प्रकट होता है।

पौराणिक कथा की ही भांति 'उर्वशी' की उर्वशी भी अप्सरा है, स्वर्गलोक निवासिनी है। स्वर्गलोक की अपनी पद्धति है, अपने नियम हैं, जो मर्त्यलोक से भिन्न हैं। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्वर्गलोक की जीवनचर्या उस जीवनचर्या से मिलती-जुलती है जिसका आधार सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं, जहां भौतिक अनुभूति के निषेध पर ही भावना स्वीकारी जाती है, जहां वासना और वृत्ति के तथाकथित उदात्तीकरण को ही सुसंस्कृत और सुसभ्य माना जाता है। मेनका स्पष्ट कहती है :

हम भी कितने विवश! गन्ध पाकर ही रह जाते हैं,
स्वाद व्यंजनों का न कभी रसना से ले पाते हैं।
हो जाते हैं तृप्त पान कर स्वर-माधुरी श्रवण से,
रूप भोगते हैं मन से या तृष्णा-भरे नयन से।

जल में कमलवत यह जीवन भौतिक सुखों की प्राप्ति पर नहीं, उनके निषेध पर टिका होने के कारण उतना ही अतृप्तिकर और वेदनामय है जितना औशीनरी का सुप्तमन भोगविद्ध जीवन :

क्या है यह अमरत्व ? समीरों-सा सौरभ पीना है,
मन में धूम समेट शान्ति से युग-युग तक जीना है।'
पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधु-रस पीता है!
दो दिन ही हो, पर, कैसे वह धधक-धधक जीता है।

इसलिए अमरलोक भी अपूर्ण है। स्वर्गजीवन की यह अपूर्णता परंपरागत धारणा के विरुद्ध है और आधुनिक जीवनदृष्टि का विशिष्ट दान है, क्योंकि आज का विवेकशील मानव जीवन की विविध प्रवृत्तियों के सामंजस्य द्वारा संपूर्ण जीवन के सर्वांगीण विकास को ही चरम सार्थकता समझता है। अमरों का यह निराधार असंपृक्त भावबद्ध जीवन भी वैसा ही एकरस, अतृप्तिकर और एकाकी है जैसा

बहुदेह भोगवाद। जिस प्रकार 'कुल-वामा' औशीनरी यह नहीं जान पाती कि उसके व्यक्तित्व में क्या कमी है, उसी प्रकार स्वर्गलोक की ये अप्सराएं भी नहीं जानतीं कि कितना उत्कट सुख सदा उनसे दूर रहता है। वरन उच्च कहलानेवाली कृत्रिम संस्कृति की ये अंगनाएं उन सुखों का मजाक उड़ाने से भी नहीं चूकतीं, काम की चरम सफलता को बोझ मात्र ही समझती हैं। रंभा का कथन द्रष्टव्य है :

सो सुख तो होगा, परन्तु यह मही बड़ी कुत्सित है,
जहाँ प्रेम की मादकता से भी यातना निहित है।
नहीं पुष्प ही अलम्, वहाँ फल भी जनना होता है,
जो भी करती प्रेम, उसे माता बनना होता है।
और मातृ-पद को पवित्र धरती, यद्यपि, कहती है,
पर, माता बनकर नारी क्या क्लेश नहीं सहती है?
तन हो जाता शिथिल, दान में यौवन गल जाता है,
ममता के रस में प्राणो का वेग पिघल जाता है।
रुक जाती है राह स्वप्न-जग में आने-जाने की,
फूलों में उन्मुक्त घूमने की, सौरभ पाने की,
मेघों में कामना नहीं उन्मुक्त खेल करती है,
प्राणों में फिर नहीं इन्द्रधनुषी उमंग भरती है।
रोग, शोक, संताप, जरा सब आते ही रहते हैं,
पृथ्वी के प्राणी विषाद नित पाते ही रहते हैं।
अच्छी है, यह भूमि जहाँ बूढ़ी होती है नारी,
कण भर मधु का लोभ और इतनी विपत्तियाँ सारी?

यह प्रतिक्रिया निश्चय ही ऐसे मन की है जिसने सच्चे प्रेम का स्पर्श तो दूर उसका महत्त्व भी न समझ पाया हो और जो आजीवन पूर्ण जीवनयापन को 'कण भर मधु का लोभ' ही लेखता हो। सच्चे प्रेम से, उसकी उत्कट अनुभूति और तज्जनित सार्थकता से वे कितनी अपरिचित हैं, इसका आभास चित्रलेखा देती है :

सरल मानवी क्या जानो तुम कुटिल रूप देवों का?
भस्म-समूहों के भीतर चिनगियाँ अभी जीती हैं।
सिद्ध हुए, पर सतत-चारिणी तरी मीनकेतन की,
अब भी मन्द-मन्द चलती है श्रमित रक्तधारा में।
सहे मुक्त प्रहरण अनंग का, दर्प कहां वह तन में?
बिबुध पंचशर के बाणों को मानस पर लेते हैं।
वश में नहीं सुरों के प्रशमन सहज, स्वच्छ पावक का,
ये भोगते पवित्र भोग औरों में वह्नि जगाकर!

कहते हैं, अप्सरा बचे यौवनहर प्रसव-व्यथा से,
और अप्सरायें इस सुख से बचती भी रहती हैं।
क्योंकि कहीं बस गईं भूमि पर वे माताएँ बनकर,
रस-लोलुप दृष्टियाँ सिद्ध, तेजोनि धान देवों की,
लौटेंगी किनके कपोल, ग्रीवा, उर के तल्पों पर?
हम कुछ नहीं, रंजिकाएँ हैं, मात्र अभुक्त मदन की।

फल से वंचित, तन से वर्जित यह मानस भोग सुख नहीं, अतिचार है। प्रेमहीन तन का दान जैसी वेश्यावृत्ति है, तनहीन प्रेम भी वैसा ही। दिनकर ने स्थान-स्थान पर इन दोनों अतियों के दोषों का साहसपूर्वक चित्रण किया है।

स्पष्ट ही ऐसे स्वर्गीय जीवन में उर्वशी संतुष्ट नहीं रह सकती, उर्वशी जो संपूर्ण नारी है, नारीमात्र की प्रतीक है, वह किसी भी बंधन में, चाहे वह स्वर्ग का ही क्यों न हो, नहीं खिल सकती, क्योंकि बंधन पूर्णता का विरोधी है। इसीलिए वह 'इतिवृत्तहीन आनंद शिखा' है :

जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली,
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।

उर्वशी के इस प्रतीक रूप को कवि ने अपने समर्थ कौशल से काफी विस्तार दिया है क्योंकि पूरी कथा को एक प्रतीक रूप देना ही उसका परम अभीष्ट है। यह प्रतीक स्पष्ट करता है कि 'उर्वशी' केवल पुरुरवा और उर्वशी की प्रणयकथा नहीं है, वह सर्वजन के कामजीवन की झांकी है।

यही कारण है कि उर्वशी 'तन के अतिक्रमण' के तल में छिपे भयों से और उनकी वर्जनाओं से भलीभांति परिचित है। उनसे असंतुष्ट हैं तभी तो वह मुक्त-स्वतंत्र परम रूपवती आदर्श नारी भूमि पर आती है, अपने प्रिय का योग पाने। वह चित्रलेखा से कहती है :

भला चाहती हो मेरा तो वसुधा पर जाने दो,
गेरे हित जो भी संचित हो भाग्य मुझे पाने दो।

स्वर्ग स्वप्न का जाल, सत्य का स्पर्श खोजती हूँ मैं,
नहीं कल्पना का सुख, जीवित हर्ष खोजती हूँ मैं।

यही चाहती हूँ कि गन्ध को तन हो, उसे धरूँ मैं,
उड़ते हुए अदेह स्वप्न को बाँहों में जकड़ूँ मैं;
निराकार मन की उमंग को रूप कहीं दे पाऊँ,
फूटे तन की आग और मैं उसमें तैर नहाऊँ;
कहती हूँ, इसलिए चित्रलेखे! मत बेर लगाओ,
जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुँचाओ।

पुरुरवा औशीनरी के नितांत ठोस व्यक्तित्व से ऊबकर अरूप आदर्श के लिए विकल होता है, उर्वशी स्वर्ग के अरूप जीवन से ऊबकर पुरुरवा के प्रति, पर दोनों की उत्कटता एक-सी है। कवि ने दोनों के ही अंकन में अत्यंत श्रम का परिचय दिया है ताकि यह तथ्य अप्रकाशित न रहे कि वे एक-दूसरे के विलोम होते हुए भी, बल्कि शायद इसी कारण, एक-दूसरे के पूरक हैं। उर्वशी पूर्ण नारी है, पर केवल प्रतीक रूप में, नारीत्व की पूर्णता में—पर वह भी अपूर्ण ही हैं, क्योंकि नर-नारी दोनों अपूर्ण और परस्पर पूरक होते हैं।

पर क्योंकि उर्वशी भावपक्ष का प्रतिनिधित्व करती है इसलिए वह यह खूब अच्छी तरह जानती है कि पुरुरवा की 'तन का अतिक्रमण' करने की चाह क्या है और क्यों है, पर पुरुरवा अभावपक्ष का प्रतिनिधि होने के कारण यह नहीं जान पाता कि नारी का यह कौन-सा पक्ष है, उनके व्यक्तित्व का वह कौन-सा अंश है जिसे पाने को वह लालायित है, पर जो उसकी पकड़ में नहीं आ पाता। एकांत प्रणय-मिलन के चरम क्षण में उसकी यह आकुलता बनी ही रहती है, उसके मन में एक प्रश्न चुभता ही रहता है। धर्मवीर भारती ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'नया रस' में भी उसी प्रश्न की व्यंजना की है।

पुरुरवा के मन का यह प्रश्न, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उसकी हिचक का निरापद रूप है, उर्वशी यह पहचानती है और इसीलिए उसका समाधान करने में सफल होती है। यह प्रश्न और इसका समाधान 'उर्वशी' के तृतीय अंक की वस्तु है, जो काव्य का केंद्र है और काम के जीवनव्यापी महत्त्व पर और उसके सच्चे स्वरूप पर कवि का चरम वक्तव्य है। अपने इस वक्तव्य को उजागर करने में कवि ने तनिक भी संक्षेप से कार्य नहीं लिया है। फल हैं एक दीर्घ संलाप जो काव्य को प्रबंधकाव्यों की परिपाटी से अलग कर देता है। पर परिपाटी की परख ही जिस काव्य की मूल प्रेरणा हो उसमें इन छोटे-मोटे विवर्तनों का क्या सोच हो? पुरुरवा और उर्वशी का यह संलाप मुक्त और विकसित व्यक्तित्व पुरुष और नारी का संलाप है और आधुनिक जीवन के मूल्यों पर आधारित है। प्राचीन परंपरा के अनुसार नर-नारी के काम-संबंधों का चरम लक्ष्य है : वंशरक्षा के लिए संतानोत्पत्ति। नारी के पातिव्रत्य धर्म के पीछे भी यही वंशरक्षा का प्रयोजन है। इसीलिए परंपरा परिस्थितिविशेष में बहुपत्नियों की भी स्वीकृति देती है और इसीलिए पुरुष के विवाहेतर काम-संबंध समाज से स्वीकृत नहीं तो क्षम्य अवश्य होते रहे। प्राचीन परंपरा में विवाह के लिए नर-नारी की काम-जनित अनन्यता की शर्त नहीं मांगी गयी जो उसे प्रेम-विवाह का रूप दे सकती।

'उर्वशी' के तीसरे अंक में कामसिद्धांत की जो व्याख्या है, वह इस परंपरा का जबरदस्त खंडन करती है। उर्वशी के प्रति प्रबल रूप से आकृष्ट होने पर भी पुरुरवा उसे पाने के क्षण में हिचकिचाता है। उसकी इस हिचक का विश्लेषण हम ऊपर कर आये हैं। इसी के फलस्वरूप वह 'तन का अतिक्रमण' कर 'देवत्व चाहिए' का नारा लगाता है। और तब उर्वशी अनायास कह उठती है :

यह मैं क्या सुन रही? देवताओं के जग से चलकर,
फिर मैं क्या फँस गई किसी सुर के ही बाहु वलय में?

स्वर्गलोक के जिस निराधार मानस-सुख से अतृप्त होकर और ऊबकर उर्वशी धरती पर उतरी है, यह पुरुरवा तो उसी के गीत गा रहा है? और तब उर्वशी उसे अपने सत्यस्वरूप का परिचय देती है, अपने उस सूक्ष्म-विराट रूप का जो उसे विश्वनारी का प्रतीक बनाता है और उस रूप का परिचय देने के बाद वह पुरुरवा से सारे द्वंद्व, द्विधा, संकोच त्यागकर, मन से दुश्चिंताओं और दुष्कल्पनाओं को निकालकर सहज भाव से तन की मांग को स्वीकार करने का आग्रह करती है :

अब बोलो, मन पर तो बाकी कोई बन्ध नहीं है?
बन्ध नियम, संयम, निग्रह, शास्त्रों की आज्ञाओं के?

क्योंकि यह द्वैत, प्रकृति और परमेश्वर (अथवा सत्य) मन की उपज है :

मन की कृति यह द्वैत, प्रकृति में सचमुच द्वैत नहीं है।

और इसीलिए वह मन से यह द्वैतजनित द्विधा निकालकर सहज अकलुष प्रमोद में मग्न होने का आवाहन देती है :

हम इच्छुक अकलुष प्रमोद के, पर वह प्रमुद निरामय,
विधि, निषेध भय संघर्षों, यत्नों से साध्य नहीं है।
आता है वह अनायास, जैसे फूटा करती हैं—
डाली से टहनियाँ और पत्तियाँ, स्वतः, टहनी से,

और इसी तर्कना के चरमबिंदु पर वह निष्काम काम की स्थापना करती है जो काम-संबंधी पूर्वधारणाओं के दुर्ग को एक ही झोंके में धराशायी कर देता है :

इसीलिए, निष्काम काम-सुख वह स्वर्गीय पुलक है,
सपने में भी नहीं स्वल्प जिस पर अधिकार किसी का।
नहीं साध्य वह तन के आस्फालन या संकोचन से;
वह तो आता अनायास, जैसे बूँदें स्वाती की,
आ गिरती हैं, अकस्मात, सीपी के खुले हृदय में।

लिया-दिया वह नहीं, मात्र वह ग्रहण किया जाता है।

और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
पर, निष्काम काम का, सचमुच वह भी ध्येय नहीं है।
निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धार में,
संतानें अज्ञात-लोक से आकर खिल जाती हैं,
वारि-वल्लरी में फूलों-सी।

विराट रूप के परिचय से शुरू करके हिचक और शंकाओं का उन्मूलन कर निष्काम काम में पुरुरवा को यों प्रयोजित कर उर्वशी मन के धरातल पर वही करती है जो कर्म के धरातल पर गीता में भगवान कृष्ण ने किया था। पुरुरवा की हिचक अर्जुन के मोह से किसी भांति कम नहीं कही जा सकती। जिस समाज, कुल-मर्यादा और आदर्श परंपरा से वह यावज्जीवन संपृक्त रहा है, उससे मुक्त होकर उर्वशी में रमना उसके लिए सहज नहीं था, चाहे उर्वशी उसकी समस्त आकांक्षाओं की केंद्र ही क्यों न हो। इसीलिए, उर्वशी उसका संकोच तोड़ने के लिए आजीवन प्रेम की शपथ नहीं लेती-देती (वही तो उसके मन का सबसे बड़ा बोझ है क्योंकि उसके लिए अपने समस्त अतीत का निषेध आवश्यक है)। वह उसे क्षण का, तन का, आकर्षण का सहज प्रकृत स्वीकार सिखाती है। पुरुरवा भी अर्जुन की भांति निमित्त मात्र ही है। पुरुरवा और उर्वशी का यह मिलनप्रसंग कवि के लिए, आधुनिक संदर्भों में, चुनौती बनकर आया था। कवि ने वह चुनौती स्वीकार कर जिस साहस का परिचय दिया था उतने ही साहस से उसने नये कामसिद्धांत का प्रतिपादन कर अपने काव्य को संदेशवाहकता के दुर्लभ गुण से मंडित कर दिया। पुरुरवा का संकोच मिट जाता है। जब वह उर्वशी के साथ विहार करने गंधमादन को चला था तब उसके मन में भीषण द्वंद्व था, रह-रहकर औशीनरी का ध्यान आता था क्योंकि औशीनरी ही उसे परंपरा से, मर्यादा से, समाज से बांधे हुए थी। इसीलिए अपने मन से छल करके वह सूचना भिजवाता है :

बहुत मग्न, अतिशय प्रसन्न हूँ मैं तो इस मधुवन में,
किन्तु, यहाँ भी कसक रही है वही वेदना मन में,
प्रतिष्ठान पुर में भू का स्वर्गीय तेज जगता है,
एक वंशधर बिना, किंतु, सब कुछ सूना लगता है।
पुत्र! पुत्र! अपने गृह में क्या दीपक नहीं जलेगा?
देवि! दिव्य यह ऐल वंश क्या आगे नहीं चलेगा?
करती रहें प्रार्थना, त्रुटि हो नहीं धर्मसाधन में,
जहाँ रहूँ, मैं भी रत हूँ ईश्वर के आराधन में।

औशीनरी ने यह छल समझ कर ही व्यंग्य किया था :

अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है!

पर उर्वशी अपने नये कामसिद्धांत से इस व्यंग्य को ही सत्य बना देती है। 'अप्सरारमण' सचमुच प्रकृति का स्वीकार और सत्य की आराधना का रूप ले लेता है। इससे कम पर यदि पुरुरवा उर्वशी के साथ रमण करता तो आधुनिक कवि उसे क्षमा नहीं कर सकता था। उर्वशी का कामधर्म पुरुरवा के मन पर से औशीनरी की पकड़ गायब कर देता है और वह कामप्रवृत्त होकर युग-युग

की तृषा शांत करता है। इस मिलन से उसके जन्म-जन्मांतर खिल उठते हैं। क्षण के स्वीकार पर टिका यह सहज मिलन चिरंतन बन जाता है :

पर, दिगन्त-व्यापिनी चन्द्रिका मुक्तविहरने वाली,
व्योम छोड़कर सिमट गई जो मेरे भुज-पाशों में;
रस की कादम्बिनी, विचरती हुई अनन्त गगन में;
अकस्मात् आकर प्रसन्न जो मुझ पर बरस गई है,
सो केवल संयोग-मात्र है? या इस गूढ़ मिलन के,
पीछे जन्म-जन्म की कोई लीला छिपी हुई है?

जहाँ जहाँ तुम रहीं, निष्पलक नयनों की आभा से,
रहा सींचता मैं; आगे तुम जहाँ जहाँ जाओगी,
साथ चलूँगा मैं सुगन्ध से खिंचे हुए मधुकर-सा।

परिपाटी मुक्त परिणय का मंत्रोच्चार इस अनन्य प्रेमप्रतिश्रुति के आगे कितना निस्तेज और निर्बल लगने लगता है! यह पूर्ण मन के पूर्ण प्रेम की अद्‌भुत व्यंजना है!

और जैसे इस सच्चे प्रेम के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क (ऐसा तर्क जो परंपरा को भी स्वीकार हो) देने के लिए ही प्रकृति एक अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है। उर्वशी गर्भवती हो जाती है और वह आयु जैसे तेजस्वी बालक को जन्म देती है।

मन करता है कि काव्य यहीं समाप्त हो जाता। उर्वशी और पुरुरवा की प्रणय-कथा कहना ही यदि कवि का एकमात्र अभीष्ट होता तो इसमें कोई हानि नहीं थी। पर समस्या तो अभी बनी ही रह जाती है। तन-मन का एकांत मिलन तो ठीक, पर उसका सामाजिक रूप क्या हो? समाज में यदि वह स्वीकृत हो तो किस पद्धति से, किस धरातल पर? ये प्रश्न कवि को अभी मथते हैं, यह लिखना समाप्त नहीं कर सकता।

पुरुरवा और उर्वशी मिले—मुक्त-स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में। पर क्या वे ऐसे ही मुक्त-स्वतंत्र हैं? नहीं, उन दोनों के व्यक्तित्वों के पीछे एक संबंध सूत्र अभी अविच्छिन्न है—अपने-अपने समाज का। पुरुरवा के मन में वह सूत्र है औशीनरी के रूप में, उर्वशी के मन में वह सूत्र है—भरतमुनि के शाप के रूप में । दोनों ही बंधे हैं।

तो क्या हो? क्या इस क्षणिक मिलन के उपरांत फिर वे सदा-सदा को अलग होकर अपने-अपने स्थान पर लौट जाएं? यह संभव तो था पर उनका मन इसे संभव नहीं रहने देता। जन्म-जन्म की प्रतीक्षा के बाद यह जो संयोग मिला है उसका सुख वे कैसे छोड़ दें?

दूसरा उपाय है कि वे दोनों अपने मन में बंधे रूढ़िसूत्रों को तोड़ें। पर

यह भी संभव नहीं जान पड़ता। पुरुरवा औशीनरी का त्याग तभी कर सकता है जब वह राजकुल और समाज-पद्धति सभी का त्याग करे। इसके लिए उसका मन तैयार नहीं है। उर्वशी ने उसे लाख समझाया है पर 'तन के अतिक्रमण' और 'चाहिए देवत्व' का कांटा अभी उसके मन से निकला नहीं है। देहगलन के चरम क्षणों में जो एकांत समर्पण उसके मन में आता है, अन्य क्षणों में उसकी उत्कटता घट जाती है और वह समाज से समझौता कर लेता है। फलतः उर्वशी—उसकी आकांक्षित नारी—भी उसके समस्त जीवन की संगिनी नहीं बन पाती, उसका व्यक्तित्व अब भी विभक्त है। व्यक्तित्व की इस विभक्ति पर कवि ने मौन का अविभेद्य परदा डाल दिया है। तीसरे अंक के बाद पुरुरवा केवल राजसभा में ही मिलता है। पर उसका संकेत हम औशीनरी के परवर्ती संभाषण में पाते हैं, जब वह कहती है :

वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु, मौन कंचन है।
पर क्या मिला, अंत में जाकर, मुझको इस कंचन से?
उतरा सब इतिहास, जहाँ निर्घोष, निनद, कल कल था,
चले गए उस मूक नीड़ की छाया सभी बचाकर,
घटनाओं से दूर जहाँ मैं अचल, शान्त बैठी थी।

इस उक्ति से कवि का स्पष्ट इंगित है कि उर्वशी को साथ लेकर जब पुरुरवा महलों में रहने लगा तब भी औशीनरी 'कुलवामा पतिव्रता' का धर्म निभाती 'मूक नीड़' में उपेक्षित बैठी रही। पुरुरवा जैसे प्रतापी और दुर्दम्य व्यक्ति का यह समझौता विद्रोह की ही आग फूंकता है। और जब वह समझौता भी सामाजिक परिस्थितियों के कारण नहीं टिक पाता, तब घड़ा पूरा भर जाता है, उसकी द्विधा का अंत हो जाता है और वह समस्त समाज का परित्याग कर संन्यास लेकर वन को चल देता है।

पुरुरवा के मन की द्विधा पर कवि ने भले ही परदा डाल दिया हो पर औशीनरी के आंसुओं की धारा की अनदेखी उसने नहीं की। बरसों की निराशा और व्यथा में डूबकर औशीनरी अपने विवाहित जीवन की असफलता का सच्चा कारण जान गयी है। कवि उसके विलाप के माध्यम से इस समस्या के एक पक्ष का समाधान करते हुए संदेश देता है :

पछताती हूँ, हाय रक्त आवरण फाड़ व्रीड़ा का,
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को,
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझमें भी छिपी हुई थी?
हाय सती! मैं ही कदर्य, दोषी, अनुदार, कृपण हूँ,
केवल शुभ-कामना, मंगलैषा से क्या होता है?
मैं ही दे पाई न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपार क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी।

इस मार्मिक विलाप द्वारा कवि ने दांपत्य जीवन के आधुनिक आदर्श की प्रतिष्ठा की है।

पुरुरवा की भांति उर्वशी भी समझौता करती है। पुरुरवा में क्षमता थी पर मन तैयार न था। उर्वशी का मन तैयार है, पर क्षमता नहीं। उसकी बाधा भरतमुनि का शाप है जिस पर उसका कोई वश नहीं। इसलिए उसका समझौता छल का रूप लेता है। वह अपने पुत्र को छिपाकर—अपने से और अपने प्राण-प्रिय पुरुरवा से दूर रखकर अपनी मिलनावधि को बढ़ा लेती है। इस छल से उत्पन्न उसकी विकलता को कवि ने पूरे वेग से वाणी दी है। आयु को जन्म देकर उर्वशी ने मातृत्व का स्वाद जाना है—वह स्वाद जो अप्सराओं को अलभ्य है—इसलिए आयु के लिए उसका मन रोता रहता है। तिस पर वह यह भी जानती है कि पुरुरवा संतान के लिए, वंशधर के लिए कितना व्यग्र है। इसलिए उसकी वेदना और भी गहरी हो जाती है। पर इतना सहन करने पर भी वह अपने प्रिय के साथ नहीं रह पाती। आयु के राजसभा में आते ही उसे शापवश स्वर्ग लौट जाना पड़ता है।

कथा का यह अंत दुखद ही नहीं, नये कामसिद्धांत की व्यर्थता भी सिद्ध करता-सा जान पड़ता है। कालिदास ने तो इसका समाधान राजनीति के मार्ग से पाया था। देवों ने पुरुरवा की सहायता पाने के लिए उर्वशी लौटा दी थी। पर दिनकर को यह उपयुक्त नहीं लगता। जहां सिद्धांत कसौटी पर हो, वहां परिस्थिति की शरण लेकर उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता। पुरुरवा यदि तेजस्वी है और उर्वशी उसकी अनिवार्य संगिनी है, तो वह चुप क्यों बैठे? इसीलिए, वह उर्वशी के ओझल होते ही स्वर्ग के विरुद्ध युद्ध ठानने चल पड़ता है।

पर राजसभा में आयु उपस्थित है, उसका वंशधर, भविष्य का सम्राट। उसके सामने अपने अदम्य प्रणय की ऐसी क्रुद्ध अभिव्यक्ति! वह थम जाता है; मन कहने लगता है, यही क्षण है जब तुम समाज से अपने संबंध सूत्र तोड़ सकते हो। और वह युद्ध का विचार त्याग देता है, आयु को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर संन्यास धारण कर लेता है।

पुरुरवा का संन्यास दिनकर की मौलिक उद्भावना है, इसलिए उस पर कुछ विस्तार से विचार आवश्यक है। संन्यास वह किसलिए लेता है? एक तर्क है : विवशता के कारण; वह विवशता चाहे पुरुरवा की हो, चाहे कवि की। पर इसके आगे क्या कहा जा सकता है? इसलिए यह ठीक नहीं जंचता। दूसरा तर्क है : उर्वशी के बिना वह अब राजा नहीं रह सकता, क्योंकि राजा रहने का अर्थ है औशीनरी के साथ रहना। सच्चे दांपत्य का सुख जान लेने के उपरांत वह औशीनरी के पास नहीं लौट सकता। उसके मन की द्विधा अब पूर्णतः कट चुकी है।

पर इससे भी प्रबल कारण है : च्यवन और सुकन्या का उदाहरण जो इस

काव्य में कवि की सबसे बड़ी मौलिक उद्भावना है। अपनी तपस्या के फल के रूप में सुकन्या को प्राप्त कर च्यवन सिद्ध करते हैं कि सफलकाम होना कितनी बड़ी तपस्या है, कितना बड़ा यज्ञ है। शुरू में जब उसे उर्वशी नहीं मिली थी तो कवि पुरुरवा के मुंह से कहला भी चुका है : "स्यात, अभी तप ही अपूर्ण है।" पुरुरवा च्यवन-सुकन्या के उदाहरण से प्रेरित होकर वही अपूर्ण तप पूरा करने चला है ताकि इस बार उर्वशी को कुछ दिनों के लिए नहीं, जन्म-जन्म के लिए पाये। 'तन का अतिक्रमण' भी तभी संपन्न होगा।

पुरुरवा का राजत्याग और संन्यास स्वीकार यही उद्देश्य रखता है। इसका कवि ने एक और प्रमाण भी जुटाया है। विलाप करते-करते औशीनरी कहती है :

याग-यज्ञ, व्रत-अनुष्ठान में, किसी धर्म-साधन में,
मुझे बुलाये बिना नहीं प्रियतम प्रवृत्त होते थे।
तो यह अंतिम व्रत कठोर कैसे संन्यास सधेगा,
किए शून्य वामांक, त्याग मुझ संन्यासिनी प्रिया को।

औशीनरी भूल जाती है कि वामांक शून्य करने के लिए ही तो संन्यास है! सच्चे प्रेम की खोज को तपस्या की संज्ञा देकर, सच्चे कामसंबंध को ईश्वरप्राप्ति की महत्ता देकर कवि ने 'उर्वशी' के माध्यम से नर-नारी के प्रणय जीवन को निर्मलता प्रदान की है।

पुरुरवा-उर्वशी की प्रणय कथा को आधुनिक संदर्भों में व्यक्त कर दिनकर ने हिंदी काव्य-परंपरा को एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रदान की है। 'कुरुक्षेत्र' में पहले उन्होंने महाभारत की कथा को आधुनिक संदर्भ दिया था और सामाजिक संगठन की न्यायोचित भूमि खोजनी चाही थी। 'उर्वशी' के द्वारा उन्होंने अब व्यक्ति-जीवन को विकसित विचारों का धरातल प्रस्तुत किया है। यह एक प्रौढ़ कवि की प्रौढ़ कृति है जो हिंदी काव्य की प्रौढ़ता की घोषणा करती है।

समसामयिक हिंदी काव्य में चार उल्लेखनीय प्रबंधकाव्य हैं : 'कुरुक्षेत्र', 'अन्धायुग', 'कनुप्रिया' और 'उर्वशी'। पिछले दोनों काव्य महाभारत के माध्यम से सामाजिक आदर्शों की व्याख्या करते हैं और परवर्ती दोनों काव्य पौराणिक प्रणयकथा के माध्यम से व्यक्तित्व-निर्माण के आदर्शों की। क्या यह मात्र आकस्मिक संयोग है?

शिल्प और काव्यत्व की दृष्टि से 'उर्वशी' इनमें अन्यतम है। प्रणयकाव्य होते हुए भी 'उर्वशी' में लुजलुजी कोमलता नहीं है, उसमें ओज का विलक्षण सम्मिश्रण है। यह प्रमाण है कि कवि प्रणयकथा कहने नहीं बैठा है, नया संदेश देने आया है। पर यह संदेश अत्यंत कौशल से विकसित चरित्रों एवं काव्यगत सौंदर्य के अनेक उपकरणों के सहारे प्रकट किया गया है। प्रणयकाव्य होने

के नाते 'उर्वशी' प्रणयजीवन के बहुविध प्रसंगों की संपूर्ण चित्रावली है। उनको उद्धृत करने से यह निबंध ग्रंथ बन जायेगा। प्राकृतिक वर्णनों में भी कवि ने एक अनियारी दृष्टि का प्रमाण दिया है। पुरुरवा और उर्वशी के प्रणय मिलन के प्रतिबिंब रूप जो प्रकृति-वर्णन हैं वे उस प्रसंग को अनिर्वचनीय आभा से मंडित कर देते हैं। और जहां तक नारी के विविध रूपों का प्रश्न है, 'उर्वशी' की संपन्नता अभूतपूर्व है। नारी-जीवन का कोई भी पक्ष उनकी दृष्टि से नहीं छूटा। इस अन्यतम उपलब्धि के लिए कवि हमारा प्रणम्य है। इसलिए अंत में कवि की ही उक्ति दुहराने को जी चाहता है :

तुम अनन्त कल्पना, अंक चाहे जिस भाँति भरूँ मैं,
एक किरण तब भी बाँहों से बाहर रह जाती है।

[रचनाकाल 1962, 'कल्पना' जनवरी 1964
में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

प्रत्यूष भटकी किरण यायावरी

अंचल के इस नवीनतम काव्य-संग्रह को पढ़कर सबसे पहले मन में जो भाव उठा वह यह कि उनके पहले काव्य-संग्रहों (मधूलिका, अपराजिता) से यह कितना भिन्न है। मैं सोचता हूं, किसी भी काव्य-रचना की परख के लिए यह काफ़ी अच्छी कसौटी है, क्योंकि जो कवि निरंतर सर्जनशील है और प्रति पल परिवर्तित होती दृश्यावली को भर आंखें देखता रहा है, उसकी रचना में भी तदनरूप परिवर्तन होते रहना अनिवार्य है। और इस दृष्टि से इस संग्रह ने मुझे बड़ा ही निराश किया। प्रणय-भावना से चुचाती इन कविताओं में अंचल का वही—बिलकुल वैसा ही—रूप मिलता है जो दसियों साल पहले मिलता था। प्रतिष्ठित पेटेंट दवाइयों के नुस्खों में भी चाहे थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो गया हो, पर अंचल ने अपनी पद्य-रचना का फ़ार्मूला ज्यों-का-त्यों रखा है।

और मैं सोचता हूं, इस संग्रह के संबंध में विचारणीय बात यही है। अंचल जैसा कभी-समर्थ कवि इस बुरी तरह अपने को दुहराता चला जाये, यह बात बड़ी दयनीय लगती है। दयनीय से भी अधिक यह चिंत्य है कि क्या कवि ने सचमुच ही अपनी काव्य-प्रतिभा या भावुक संवेदना को एक ऐसे कठोर शिकंजे में कस रखा है कि किशोर-सुलभ अल्हड़ प्रेम-निवेदन के अतिरिक्त जीवन और जगत का और कोई भी पहलू उसे स्पंदित नहीं करता। तिस पर यह कैशोर प्रणय-निवेदन भी एक युग पुराना रूप लिये है, क्योंकि आज के किशोर वैसे थोड़े ही रह गये हैं जैसे अंचल की कैशोरावस्था में होते थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत संग्रह की कविताओं के संगठन में वे सब गुण मौजूद हैं, जो अंचल के गुण रहे हैं—प्यास की उत्कट अभिव्यक्ति, अतिरंजित शब्दावली, जरा-सी बात को ढेरों पंक्तियों में फैला कर कहने की क्षमता—पर ये कविताएं अब अधिक-से-अधिक कवि की निजी उपलब्धि की कहला सकती हैं, आज की कविता को वे रत्ती-भर भी संपन्न या अग्रसर नहीं करतीं। और इस कारण पुस्तक के शीर्षक में नयेपन का अंदाज भ्रामक ही कहा जा सकता है।

[रचनाकाल संभवत · 1962-63]

एक उपन्यास वर्ष : 1962

सन् 1962 के हिंदी उपन्यासों पर दृष्टि डालते ही जो बात सबसे पहले हमें प्रभावित करती है वह है, उनकी संख्या और उनका वैविध्य।

क्षणस्थायी, मनोरंजनजीवी तथा ऐतिहासिक एवं अनूदित उपन्यासों को छोड़ देने पर भी कम-से-कम बीस उपन्यास इस वर्ष ऐसे प्रकाशित हुए हैं जो अपनी किसी-न-किसी विशेषता के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि ये बीसों उपन्यास हिंदी साहित्य के इतिहास में स्थान पायेंगे, तथापि यह तो कहा ही जा सकता है कि वे हिंदी-उपन्यास के बहुमुखी विकास में निस्संदेह सहायक हैं और भविष्य में आनेवाली प्रौढ़तर कृतियों के अग्रदूत हैं। हम तो कहना चाहते हैं कि एकाधिक अर्थों में प्रस्तुत वर्ष हिंदी-उपन्यास के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जायेगा।

यही बात वैविध्य के क्षेत्र में भी लागू होती है। संख्या है तो वैविध्य होगा ही, उसमें आश्चर्य ही क्या। पर आलोच्य वर्ष का उपन्यास साहित्य कुछ असाधारण रूप से वैविध्यपूर्ण है। जीवन का शायद ही कोई पक्ष हो जिसे उसमें अंकित न किया गया हो। इस वर्ष के उपन्यासों में सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आंचलिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यास तो हैं ही, उनमें उपन्यास का एक और प्रकार भी आ समाया है जिसे अन्य किसी नामकरण के अभाव में अस्तित्ववादी उपन्यास कहा जा सकता है, और जिसका पहला उदाहरण गत वर्ष 'अज्ञेय' के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में मिल चुका है। इनके अतिरिक्त इस वर्ष दो औपन्यासिक कल्पनाएं भी प्रकाशित हुई हैं और एक औपन्यासिक लोक-कथा।

शैली की दृष्टि से भी इस वर्ष के उपन्यासों में विलक्षण वैविध्य है। सीधी-सादी वर्णनात्मक शैली के उपन्यास तो हैं ही, पश्चादवलोकन-शैली (यह पथ बंधु था), आत्मकथात्मक शैली (अतृप्ता), विविधोद्गार शैली (काबेरी; रेत, शून्य, हवा), स्वप्न-शैली (आंसू की मशीन), डायरी-शैली (हीरक जयंती) और रिपोर्ताज-शैली (ये जाने-अनजाने) में भी कई-कई उपन्यास इस वर्ष प्रकाशित हुए हैं। भाषागत वैविध्य भी दर्शनीय है : भगवतीचरण वर्मा (सामर्थ्य और सीमा) और चंद्रकिरण सोनरिक्सा (चंदन-चांदनी) यदि परिनिष्ठित और टकसाली

भाषा में लिखते हैं तो नरेश मेहता (यह पथ बंधु था) और रघुवंश (अर्थहीन) काव्यात्मक भाषा में, रेवतीसरन शर्मा (न मीत न मंजिल) उर्दू की घुलावट देते हैं तो शैलेश मटियानी, राजेंद्र, रांगेय राघव, नागार्जुन, छेदीलाल गुप्त और विनोदचंद्र पांडे क्रमशः कुमायूंनी, गढ़वाली, ब्रज, बिहारी, कलकत्तिया और राजस्थानी बोलियों का स्वाद। यह बात भी ध्यान देने की है कि यथार्थ-चित्रण की निष्ठा के कारण प्रायः सभी उपन्यासकार अंग्रेजी शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं, यद्यपि उनका रूप और परिमाण उनके वर्णित परिवेश पर निर्भर है।

देश-काल के वैविध्य पर भी विचार करना आवश्यक है। यों तो प्रत्येक उपन्यास का अपना विशिष्ट देश-काल होता ही है, और वह प्रायः दूसरों से पृथक् ही होता है, पर इस वर्ष के उपन्यास इस बात में भी असाधारण हैं। एक ओर 'पतझर' (रांगेय राघव) है जो नर-नारी-प्रणय की समस्या को सुलझाने में जीवित वर्तमान से लेकर आदि प्रागैतिहासिक काल और जीवन तक के बीच झूल रहा है; 'यह पथ बंधु था' है जो अपने प्रभावोत्पादक कलेवर में उत्तर भारत के 1920 से 1945 तक के सामाजिक जीवन को समेटे है, 'मुख-सरोवर के हंस' (शैलेश मटियानी) है जो चिर नूतन चिर-पुरातन लोकगाथा का मार्मिक रूपांतरण हैं, 'न मीत न मंजिल' है जो भारत-विभाजन की परिणति पर टिका है, तो दूसरी ओर जागरित वर्तमान को चित्रित करनेवाले उपन्यास भी कम नहीं हैं : 'आखिरी आवाज', 'चंदन चांदनी', 'पराई डाल का पंछी', 'एक भीनी गंध' और 'हीरक जयंती'।

और अंत में जीवन-चित्रण का वैविध्य। हिंदी उपन्यासों के माध्यम से शायद पहली ही बार हम इस सत्य की उपलब्धि कर सकें कि हमारा राष्ट्र कितना विशाल और विस्तृत है, और उसमें बसनेवाले भारतीय मूलतः एक होते हुए भी कितनी भिन्न परिस्थितियों में जीवनयापन करते हैं। नगर और गांव का भेद तो मोटा और पूर्व-परिचित है ही, इस वर्ष के उपन्यासों में इनके भी अनेक भेद प्रस्तुत किये गये हैं, भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय जीवन की विशेषताएं उपस्थित की गयी हैं, और एक ही समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों पर जीनेवाले लोगों का भी चित्रण किया गया है।

लेखन-स्तर के संबंध में भी यही बात मिलती है। आलोच्य उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा जैसे मूर्धन्य कलाकार भी हैं, नागार्जुन और रांगेय राघव जैसे बहुग्रंथकार भी हैं, विश्वंभर 'मानव' और केशवचंद्र शर्मा जैसे बीच-बीच में उपन्यास झाड़ देनेवाले लेखक भी हैं, शैलेश मटियानी और राजेंद्र झा जैसे लोक-मर्मज्ञ भी हैं, रघुवंश, अमरकांत और नरेश मेहता जैसे लेखक भी हैं जिनकी प्रस्तुत कृतियां दूसरा औपन्यासिक प्रयास हैं तो नवीन हस्ताक्षरों में चंद्रकिरण सोनरिक्सा, कांता सिन्हा और विनोद चंद्र पांडे भी हैं। एक क्षण को यदि हम इन लेखकों की वय-दृष्टि-सामर्थ्य-अनुभूति-गत विशेषताओं का भी ध्यान कर लें तो प्रस्तुत वर्ष के उपन्यासों की विविधता का कुछ अनुमान हो सकता है। अब यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास ने प्रमुख रचना-विधा

के रूप में कविता का स्थान ले लिया है। जिस स्थिति की कल्पना करके उपन्यास की परिभाषा 'भविष्य के महाकाव्य' के रूप में की गई थी, वह स्थिति अब हिंदी साहित्य में प्रकट हो चुकी है।

इतने लेखकों द्वारा इतने प्रकार के इतने उपन्यासों के संबंध में कुछ सामान्य बातें कहना सहज नहीं है। यह तभी संभव है जब कालगत दूरी उन्हें एक परिप्रेक्ष्य दे दे, और वे उपन्यास-साहित्य के अतीत और भविष्य से संबद्ध करके देखे जा सकें। फिर भी, कुछ बातें प्रस्तुत समीक्षक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।

पहली बात तो यह है कि हिंदी के अधिकांश उपन्यासकार वादों के जाल से मुक्त होकर जीवन-चित्रण की ओर प्रवृत्त हो गये हैं। प्रेमचंद के समय से ही हिंदी-उपन्यासकार 'संदेशवाहक' की मुद्रा अपनाने लग गये थे। उपदेश, आदर्श, मनोविश्लेषण विद्रोह, क्रांति—सब किसी-न-किसी रूप में उपन्यासकार को आदर्शवादी बना देते थे। पर अब यह स्थिति बदल चुकी है। बिना किसी पूर्व-कल्पित संदेश के ही अब उपन्यासकार जीवन को देखते हैं, और उसका यथासंभव सही और पूर्ण चित्रण करते हैं। आलोच्य वर्ष में केवल दो ही उपन्यासकार ऐसे हैं जिनकी पूर्व-कल्पनाएं उन्हें जीवन के यथार्थ की अनदेखी करने की ओर ले गयी हैं : भगवतीचरण वर्मा और विश्वंभर 'मानव'। और उसका फल यही हुआ है कि उनमें समसामयिक जीवन का चित्रण होते हुए भी आधुनिकता नहीं है।

दूसरी बात, जो एक प्रकार से पहली बात की ही आवश्यक परिणति है, यह है कि अब पहली बार हिंदी-उपन्यास और हिंदी-कविता के बीच की दूरी घटी है। यदि बीच के उन कुछ वर्षों को छोड़ दें जब प्रगतिशील आंदोलन के कारण कविता और उपन्यास दोनों ही विधाओं में एक-सी सैद्धांतिक प्रचार-वाणी मिलने लगी थी, तो हम बेखटके कह सकते हैं कि यह एक नवीन और शुभ लक्षण है। यह सचमुच कुछ विचित्र बात है कि हिंदी-कविता और हिंदी-उपन्यास अपने विधायक रूपों में एक-दूसरे से काफी दूरी पर चलते रहे हैं। कारणों की अप्रासंगिक विवेचना में न जाकर यहां इतना कहना ही अलम् होगा कि अब हिंदी-उपन्यास और हिंदी-कविता प्रायः एक स्तर पर आ गये हैं—दोनों अपने चारों ओर के जीवन पर पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टि डालते हैं और यथार्थ-चित्रण पर बल देते हैं, अनुभूति की सचाई को ज्यों का त्यों उतारने में विश्वास करते हैं। प्रेमचंद और पंत, यशपाल और बच्चन में जो दूरी थी वह दूरी गिरिजाकुमार माथुर और नरेश मेहता में नहीं है। यह तथ्य निकट भविष्य में किसी नये भाव-समृद्ध युग का अग्रदूत जान पड़ता है।

तीसरी सामान्य बात जो सन् 1962 के इन उपन्यासों में मिलती है, वह है नारी के प्रति सहज समानता। नारी-स्वातंत्र्य जन-युग का एक प्रमुख पहलू है और हमारे साहित्य में उसके स्वर आधुनिक युग के प्रारंभ से ही गूंजते रहे हैं, पर इसके पहले उस स्वर में कहीं-न-कहीं एक पक्षपात का अथवा एक अनुकंपा का भाव भी निहित रहता था। मानो लेखक नारी को आगे बढ़ने

के लिए प्रोत्साहित कर कोई कर्त्तव्य-पालन कर रहा हो और हमसे शाबाशी चाहता हो। सन् '62 के प्रायः सभी उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण नारी-चरित्र है, काम-जीवन की झांकियां हैं, पर कहीं भी उनमें अतिरंजना नहीं है, न अस्वाभाविकता ही है। यहां तक कि नारी-उपन्यासकारों (चंद्रकिरण सोनरिक्सा, कांता सिन्हा) ने भी नारी-चित्रण में यथार्थ का ही आधार लिया है।

इन तीन तत्वों के कारण आलोच्य वर्ष के उपन्यास मोटे तौर पर समसामयिक जीवन की अधिक गहरी और अधिक विशद झांकी प्रस्तुत करते हैं। उनमें वर्णित यथार्थ से कदाचित् उस नेता-समीक्षक को कुछ कष्ट हो जो भारत की स्वतंत्रता को जादू की छड़ी मानकर पंचवर्षीय योजनाओं की घोषणाओं को ही जीवन का यथार्थ समझ बैठा हो; पर साहित्य के सच्चे विद्यार्थी को इससे प्रसन्नता ही होती है कि हमारे उपन्यासकार पूरी निष्ठा से आज के जीवन की मूल्यहीनता को, उसके विघटन और असमंजस को, उसके भ्रष्टाचरण और अविवेक को सम्यक् रूप से उपस्थित करते हैं। यही नहीं, वे अपने पात्रों को किसी आदर्शवादिता अथवा स्वप्नशीलता की कोई बैसाखी भी नहीं सौंपते, उन्हें पीड़ा और असफलता में झूलते रहने देने का साहस भी उनमें है।

समसामयिक सामाजिक जीवन की इस मूल्यहीनता के दो प्रमुख पहलू हैं—अगति और विघटन। यों तो ये दोनों तत्व थोड़े बहुत अन्योन्याश्रित हैं—एक-दूसरे के लिए कारण बन जाता है—पर मोटे रूप में हमारे ग्रामीण समाज में अगति अधिक है और नागरिक समाज में विघटन। प्रस्तुत वर्ष के उपन्यास इसका विलक्षण साक्ष्य उपस्थित करते हैं। 'सावन की आंखें' और 'आखिरी आवाज' भिन्न-भिन्न अंचलों के चित्र होने पर भी ग्रामीण जीवन में समाये हुए अंध-विश्वासों, अशिक्षा-जनित क्षुद्र दृष्टि, भयंकर आर्थिक संघर्ष से उत्पन्न आत्म-घाती हीन-भावना और प्रशासकीय एवं राजनीतिक जंजाल में बद्ध व्यक्ति की असमर्थता का सशक्त उद्घाटन करते हैं। 'सावन की आंखें' में कुछ राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की प्रभावहीन हलचलों की चर्चा होने पर भी मुख्यतः पिछड़े हुए ग्राम-जनों की अपनी ही समस्याएं उभरी हैं, और आदिम जातियों में विभिन्न स्तरों के संघर्ष से उत्पन्न पीड़ा और असमर्थता ही विशेषतः व्यंजित हुई है। 'आखिरी आवाज' में एक अनैतिक हत्याकांड के माध्यम से कानून और राजनीति के अदृश्य नाग-पाशों की विस्तृत विवृति है और भोले और अंधे ग्रामीणों की क्षुद्रता की कराह है। 'आखिरी आवाज' पुलिस और कचहरी की विस्तृत जानकारी में कभी-कभी उबाने लग जाता है, उसमें कलात्मक बिखराव भी असह्य हो उठता है, और जिस मूल घटना पर सारे उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है उसमें प्रेषणीय विश्वसनीयता का अभाव है, पर ग्रामीण जीवन के विविध पहलू उसमें इतने विस्तार से सम्मिलित किये गये हैं कि उसका बिखराव जीवन-व्यवस्था के ही बिखराव का प्रतीक बन उठता है, और उपन्यास में दर्शनीय उतार-चढ़ाव का अभाव बुझे प्रेरणा-हीन जीवन का प्रतिबिंब लगने लगता है। ग्रामीण चरित्रों में गतिहीनता और उच्चवर्गीय चरित्रों (जैसे पटवारी, अध्यापक, दारोगा, डी. एस. पी., एम. एल. ए. और मंत्री) में सिद्धांतहीनता को

प्रमुखता देकर लेखक ने सचाई का साथ निभाया है।

इनके विपरीत हैं, नागार्जुन का उपन्यास 'हीरक जयंती' और विनोदचंद्र पांडे के दो उपन्यास 'रेत, शून्य, हवा' और 'एक भीनी गंध'। ये दोनों नागरिक जीवन के विघटन का चित्रण करते हैं, यद्यपि दोनों के स्तरों और दृष्टिकोण में भारी भेद है। 'हीरक जयंती' एक प्रकार से राजनीतिक व्यंग्य है। डायरी-शैली में लिखा जाने पर भी उसमें एकाध स्थलों को छोड़कर भावाभिव्यक्ति का अभाव है। वह एक रिपोर्ट है एक मंत्री के हीरक-जयंती-समारोह और उसकी तैयारियों की, जिसके बहाने हमारे आज के राजनीतिक जीवन में पाये जानेवाले प्रायः सभी दुर्गुण और दोष दिखा दिये गये हैं। नागार्जुन व्यंग्यपूर्ण रचना करने में सिद्धहस्त हैं, और वे पूरे समारोह की घृण्य उपहासास्पदता को सफलतापूर्वक व्यक्त कर सके हैं। जयंती-समारोह के अंत में मंत्री के संकेत से मंत्री-पुत्र की गैर-कानूनी स्वार्थपरता पर सारी व्यवस्था किस प्रकार परदा डालने की कोशिश करती है और मंत्री की पुत्री उनकी इस जीवन-व्यापी क्षुद्रता से त्रस्त होकर घर छोड़ जाती है, उसे चरम-बिंदु के रूप में प्रयुक्त कर लेखक ने रचना में करुणा का भी समावेश कर दिया है। सब मिलाकर उपन्यास निशाने पर तो बैठता है, पर उसके प्रारंभिक पृष्ठों में कुछ भरती का-सा आभास होता है।

यदि 'हीरक जयंती' बहिर्मुखी उपन्यास है, जो सतह पर ही दौड़ता एक रिपोर्ट-जैसा बन जाता है, तो 'रेत, शून्य, हवा' और 'एक भीनी गंध' दोनों अंतर्मुखी उपन्यास हैं जिनमें आत्माभिव्यक्ति की-सी सघनता और संक्षिप्ति है। उनके लेखक हैं विनोदचंद्र पांडे, जिन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में इसी वर्ष प्रवेश किया है, और जिन्हें आज का हमारा उच्चवर्गीय जीवन हस्तामलकवत् है। उसी का चित्रण कर उन्होंने अपनी अनुभूति के लिए सही भूमि चुनी है और दोनों उपन्यास व्यंजना और मार्मिकता से युक्त हैं। हम कह सकते हैं कि हिंदी उपन्यास में ये पहली बार उच्चवर्ग का अंतरंग रूप उपस्थित करते हैं। प्रिवी पर्स के सहारे खोए गौरव की स्मृतियों में डूबा विद्यमान लक्ष्यहीनता में सांसें लेता राजन्य वर्ग, पिकनिक, कार-ड्राइव, फिल्म और 'कल्चरल प्रोग्राम' में उलझी ड्राइंग-रूम में चलती-फिरती रंगीन महिलाएं, निम्न पदस्थ चाटुकार और स्वार्थ-रत उद्योगपति अपने परोपजीवी जीवन की संकीर्णता, अपदार्थता, शून्यता और विरसता में यहां उपस्थित हैं। लेखक उनके सूक्ष्म रेखाचित्र बड़े सधे हाथ से आंकता है, न तो कोई रंग फैलने पाता है और न कोई चित्र अनगढ़ रहता है। शब्दों का प्रयोग करने में भी लेखक बड़ी सजगता का परिचय देता है। इन उपन्यासों में हमें एक प्रकार की 'शॉर्ट हैण्ड' मिलती है जो कहीं-कहीं निराला के 'चोटी की पकड़' की याद दिलाती है। पर फिर भी ये एक वर्ग के संपूर्ण चित्र न होकर समग्र जीवन के खंड-चित्र ही रह जाते हैं, और शैली-वस्तु-चित्रण में दोनों समान रूप से अविशेष रह जाते यदि 'रेत, शून्य, हवा' में लेखक ने कृत्रिम परिवेश में सहज अंकुरित हो उठनेवाले गहरे आत्मिक प्रेम का पुट न दिया होता, यद्यपि पहाड़ों पर कार में जाते प्रेमी-प्रेमिका का ट्रक दुर्घटना में अंत उपन्यास को फिल्मी बना देता है। दोनों उपन्यास पद

लेने पर, लगता है, कहीं लेखक की शैली रूढ़ि न बन जाये। फिर भी उच्च वर्ग की सांप्रतिक व्यर्थता के वे समर्थ प्रतिनिधि हैं।

पर यही बात भगवतीचरण वर्मा के 'सामर्थ्य और सीमा' के लिए नहीं कही जा सकती यद्यपि 'सामर्थ्य' शब्द उसके शीर्षक में ही सम्मिलित है, और भगवती बाबू आज के मूर्धन्य उपन्यासकार हैं। यह बात कुछ विचित्र लगती है कि एक अच्छे और एक मामूली उपन्यास का यह क्रम भगवती बाबू अपने साहित्यिक जीवन में कई बार दुहरा चुके हैं : 'चित्र लेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दांव', 'भूले बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा'। प्रस्तुत उपन्यास में भी उच्च वर्ग का ही चित्रण है। तराई-क्षेत्र में एक विशाल बांध की योजना पर विचार करने के लिए एक मंत्री, एक उद्योगपति, एक इंजीनियर, एक अफसर इकट्ठे होते हैं। स्थान की स्वामिनी रानी साहिबा और उनके चचा रिटायर्ड मेजर वहां पहले से हैं ही। पर उपन्यास में न तो तराई के वे प्रकृति-चित्र हैं जो 'सावन की आंखें' की उपलब्धि हैं, न राजनीतिक जीवन पर वह सशक्त व्यंग्य ही है जो 'हीरक-जयंती' का प्राण है, और न उच्च वर्ग की उस व्यर्थता का ही संकेत है जो विनोदचंद्र पांडे उघारते हैं। सारे उपन्यास में एक निस्पंद प्राणहीनता छाई हुई है। प्रत्येक पात्र के विगत का लंबा वर्णन है, उनकी मुलाकातों और बातचीतों की लंबी-लंबी रिपोर्टें हैं, एक-दूसरे पर चोट करने में और दुनिया-भर के अहम मसलों पर अंतहीन बहस करने में वे दक्ष हैं —पर सारी की सारी जिंदगी यहां सतही और उखड़ी-उखड़ी हुई लगती है। और उसका अंत तो ऐसा नियतिवादी है कि उपन्यास आधुनिक जीवन से उछट कर मध्ययुग में पहुंच जाता है। बार-बार लगता है कि भगवती बाबू कलाभिव्यक्ति के स्थान पर किसी यांत्रिक नुस्खे पर उपन्यास-रचना कर रहे हैं जैसा अक्सर रेडियो-लेखन में होता है। फल यह होता है कि जनतंत्रकालीन प्रशासन की कमजोरियों के दर्शन अथवा दफ्तरी योजनाओं पर व्यंग्य के बदले यह उपन्यास समस्त मानव-जीवन का ही उपहास करता जान पड़ता है।

'सामर्थ्य और सीमा' की तुलना में केशव चंद्र वर्मा की 'आंसू की मशीन' और वेदप्रकाश की 'बिना दिल का इन्सान' अधिक सार्थक रचनाएं हैं। यद्यपि ये दोनों ही साधारण अर्थ में उपन्यास न होकर औपन्यासिक कल्पनाएं ही हैं तथापि इनमें समसामयिक जीवन का प्रकृत संदर्भ स्पष्ट और पुष्ट है। 'आंसू की मशीन' एक असंभव कल्पना पर सामाजिक व्यंग्य का ऐसा सबल ढांचा प्रस्तुत करती है जो अमर अंग्रेजी-कृति 'गुलीवर्स ट्रैवेल्स' की याद दिलाता है। बस, उसका अंत ही उसका निर्बल पक्ष है क्योंकि इस सारे चित्रण को स्वप्न घोषित कर लेखक जैसे उठाया हुआ कदम वापस ले लेता है और रचना की चेतना अचानक भारतेंदु-युगीन बन जाती है।

रांगेव राघव का 'पतझर' नर-नारी के स्वाभाविक प्रेम की वकालत करता है और उनके स्थायी मिलन के रास्ते में आनेवाले ओछे स्वार्थों, जाति-वर्ण-वंश के बंधनों की भर्त्सना करता है। कथानक का संयोजन एक मनोवैज्ञानिक गुत्थी के रूप में किया गया है जिसमें कहीं-कहीं जासूसी उपन्यासों का-सा पुट भी

है। नायक और नायिका दोनों कॉलेज में पढ़ते हैं और दोनों के मन रुग्ण हो गये हैं। एक के मन में यह भय समा गया है कि उसे कुछ दिखायी नहीं देता और दूसरे के मन में यह कि वह सिर्फ गीत गा सकती है, बोल नहीं सकती। दोनों के अभिभावक एक ही मानसिक चिकित्सक के पास जाते हैं और डाक्टर बड़ी चतुराई और धैर्य से उनके अंतर्मन में बसे-दबे आकर्षण को उभारकर उन्हें प्रकृतिस्थ कर देता है। इस प्रक्रिया में डॉक्टर आदिम युग से चले आनेवाले प्रणय-व्यापार की ऊहापोहात्मक झांकियां देता है और उपन्यास में मनस्तत्व के साथ-साथ पुरातत्त्व और नृतत्व का आयाम भी समाविष्ट हो जाता है। पर मूल समस्या की असंदिग्ध महत्ता और वर्णन-कौशल के अतिरिक्त उपन्यास में कुछ भी स्वाभाविक भाव-भूमि पर नहीं है—न कथा-क्रम, न चरित्र-चित्रण। यह नहीं लगता कि हम किसी मानवीय समस्या से जूझ रहे हैं। ऐसा लगता है कि उपन्यास किसी पहेली के टूटे टुकड़े जोड़ रहा हो।

पर विश्वंभर 'मानव' के उपन्यासों 'कावेरी' और 'नदी' में तो यह प्रणय-समस्या भी सच्चे रूप में नहीं उपस्थित की गयी है। दोनों उपन्यासों की घटनाएं-पात्र-स्थल भिन्न हैं, पर दोनों का मूल ढांचा एक ही है। 'मानव' ने दोनों में यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि पुरुष और नारी के बीच जो स्वाभाविक आकर्षण होता है वह पार्थिव मिलन की कामना नहीं करता। यही नहीं, पार्थिव मिलन उसे दूषित करता है। फलस्वरूप वे कम-से-कम पुरुष के लिए दो नारियों की अनिवार्य आवश्यकता के हामी हैं—एक पत्नी, एक प्रेयसी। प्रणय का यह फलसफा सामाजिक मध्ययुगीन रूढ़ियों के स्वीकार पर टिका है, और उनके प्रति विद्रोह को अनावश्यक ही नहीं अवांछनीय भी ठहराता है। इस प्रकार मानव जीवन की यह पवित्रतम वृत्ति सस्ते रोमांस का रूप ले उठती है, और व्यक्तित्व की पूर्णता के संदर्भ में नहीं अपने-आपमें काम्य बन बैठती है। आधुनिक विचार और जीवन से तो यह कोसों दूर है ही, उसके आधार पर खड़े कथानक भी बड़े यांत्रिक और अस्वाभाविक हो उठते हैं।

इस दृष्टि से 'पराई डाल का पंछी' का वातावरण जीवंत ही नहीं, यथार्थ की स्पष्ट छाप लिये है। यहां लेखक समस्या से बचने के लिए सिद्धांत की ओट में विषम रूढ़िगत जीवन के खोखलेपन पर रोमांस का खोल नहीं चढ़ाता, वह सीधा समस्या से जूझ जाता है। विराट नगर के कृत्रिम जीवन से उत्पन्न अनैतिक उत्तेजक वातावरण में फंसकर सीमित साधनों का एक युवक कितनी जल्दी अपनी फूहड़ अशिक्षित पत्नी से विरक्त होकर गृहस्थी में घुटता रहता है और पराये परिवारों की स्वस्थ आकर्षक नारियों के प्रति काम-ग्रस्त हो जाता है, इसका चित्रण लेखक ने बड़े साहस से किया है, और उसका सच्चा विश्लेषण कर उपन्यास में बनावट नहीं आने दी है। वैसे भी उपन्यास-लेखक अमरकांत कलम के धनी हैं और फिर पक्की प्रेमचंद शैली के उत्तराधिकारी होने के नाते निम्न मध्यवर्ग के जीवन की उनकी पकड़ विश्वसनीय है। पर लेखक दीपक पर अपने ध्यान को अनावश्यक रूप से केंद्रित कर लेने के कारण उसकी पत्नी अहिल्या और उसकी प्रेयसी रेखा के चित्रण में असंतुलन कर बैठा है। जहां

यथार्थ का आग्रह महत्त्वपूर्ण हो वहां अहिल्या को ऐसा अतिशय सरल चित्रित करना, और रेखा को इतनी छोटी उमर में इतनी चालाक दिखाना सही नहीं हुआ। लगता है कि उपन्यास में बरबस घटनाओं की सृष्टि कर उसे एक पूर्व-निश्चित अंत की ओर धकेला जा रहा है। यही कारण है कि उपन्यास उपदेशवादी बन बैठा है—जैसे कि बीस-तीस साल पहले के उपन्यास होते थे। जिस समस्या को इतने साहस से उठाया गया था, उसे बाद में जहां की तहां छोड़कर घटनाओं के घटाटोप में उपन्यास का अंत कर देने से पाठक को निराशा ही हाथ लगती है। असल में यह समस्या इतनी गहरी है कि वह कुछ अधिक सूक्ष्म चित्रण की मांग करती है। फिर भी, उपन्यास अपने उद्देश्य में सफल है, और पत्नी की सही प्रतिष्ठा की ओर स्वस्थ प्रयत्न है।

पत्नी ही नहीं—नारी मात्र की सही प्रतिष्ठा की दिशा में बड़ा सबल प्रयत्न है 'चंदन-चांदनी' में जिसके द्वारा विख्यात कहानी लेखिका चंद्रकिरण सोनरिक्सा ने हिंदी उपन्यास में प्रवेश किया है। लेखिका की सिद्ध लेखनी और परिपक्व कला के कारण यह उपन्यास उन दोषों से मुक्त है जो बहुधा प्रारंभिक रचनाओं में होते हैं। उपन्यास का परिवेश आज का नागरिक जीवन है, पर निम्न-मध्यवर्ग का चित्र होने के कारण वह विनोदचंद्र पांडे के उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है और अधिक व्यापक है। साधारण परिवार की साधारण कन्या गरिमा किस प्रकार अपनी लगन और दृढ़ता से सारे अवरोधों, अंधविश्वासों और विरोधी संयोगों से जूझती अपने जीवन को सार्थक बनाकर अपने दांपत्य को सुखी करती है, इसका अत्यंत यथार्थ, मार्मिक और सूक्ष्म चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। प्राचीनपंथी रूढ़ियां, कृत्रिम जीवन की विकृतियां, आर्थिक अभावजनित विवशताएं—उपन्यास में सब अपने स्थान पर उपलब्ध हैं। लेखिका ने अंत तक पहुंचने में कोई जल्दी नहीं की, और किसी भी समस्या को कठिन मानकर टाला भी नहीं। यथार्थ जीवन के छोटे-छोटे विवरण जो कथा और पात्रों को मांसलता एवं गहराई देते हैं, लेखिका ने बड़े कौशल से संजोए हैं।

प्रायः ऐसे ही गुणों से विभूषित है 'अतृप्ता' जो कांता सिन्हा का पहला उपन्यास है। तथापि उसमें माधुर्य अधिक है। सोनरिक्सा की वर्णन-शैली तथ्यों के आग्रह पर टिकी है, कांता सिन्हा की शैली भावों के आग्रह पर। आत्मकथात्मक उपन्यास में यह स्वाभाविक भी है। 'अतृप्ता' एक ऐसी शिक्षित उच्च-मध्य-वर्गीय महिला की कथा है जो बचपन की एक छोटी भूल के कारण अपने अभिभावक बड़े भाई द्वारा सताई जाती है, और अंत में जब त्रास असह्य हो उठता है तो परिवार की झूठी प्रतिष्ठा की चिंता न कर अपना मार्ग स्वयं बनाती है। 'अतृप्ता' में एक भाव-प्रवण विचारवती नारी का नवनीत-पूत हृदय मुखरित है, उसके मिठास में बड़ा सरस संगीत है, और उसकी परिणति में नारी की सहज सच्ची सार्थकता का उद्घोष है।

अभी तक हमने जिन उपन्यासों की चर्चा की है उनका सीधा संपर्क सांप्रतिक जीवन और उसके परिवेश से है। यद्यपि मूल्यों और संस्थाओं की उथल-पुथल के प्रतिफल के रूप में वे युग-चेतना से संबद्ध हैं तथापि युग-बोध उनमें प्रधानतत्व

नहीं है। वह तो उन्हीं कुछ उपन्यासों में उभरकर आया है जिनमें इतिहास एक आयाम के रूप में ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक संदर्भ में युग-बोध की चेतना जिस उपन्यास में सबसे उत्कट रूप में विद्यमान है वह है डा. रघुवंश का 'अर्थहीन'। सत्तर पृष्ठों का यह उपन्यास अनेक कारणों से विचारणीय है। यद्यपि व्यावसायिक प्रकाशन की रूढ़ियों के कारण इस बेचारे को स्वतंत्र अस्तित्व भी नसीब न हुआ (उसके साथ बहुत-सी कहानियां नत्थी कर पुस्तक को स्थूल बनाया गया है) तथापि वह इस वर्ष की विशिष्ट उपलब्धि है। एक संवेदनशील युवक की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से सामाजिक परिवेश और ऐतिहासिक संदर्भों का उद्घाटन करते हुए लेखक ने युग-चेतना के कई स्तरों का उद्घाटन किया है और निकट अतीत में स्वीकृत आदर्शों और मूल्यों की व्यर्थता व्यंजित की है। साथ ही उसमें मन की उस दुविधा की भी तीखी व्यंजना है जो एक भाव-जगत् के तिरोहित हो जाने और दूसरे भाव-जगत् के निर्मित न हो पाने की शून्यता से उत्पन्न होती है। सामंतीय परिवेश में जन्म लेकर युवक अधुनातम जीवन में संचरण करता है पर खोजने पर भी वह ऐसे सूत्र नहीं पाता जो उसके भावों को स्थायित्व और जीवन-कर्म को गति दे सकें। उपन्यास में वर्णित तटस्थता और एक अस्पष्ट अमूर्तता इसी दुविधा को रेखांकित करती है। विगत इतिहास में अविच्छिन्न रूप में जुड़ा पर वर्तमान के यथार्थ को उसकी समग्रता में आत्मसात् करने का यह दुष्कर कार्य इसी शैली में संभव था जो घटना से अधिक उसकी मर्म-प्रेरणा को देखती है और कहीं भी वाचाल नहीं होती। पढ़ते-पढ़ते उपन्यास की स्थिर दृष्टि के पीछे छुपी हमें वह विकलता दिखायी दे जाती है जो मूल्यों को नयी सार्थकता देने के प्रयास में जन्म लेती है। इसमें संदेह नहीं कि साधारण पाठक को रमाने लायक रस का इसमें अभाव है और उसकी वैचारिकता कहीं-कहीं सचेष्ट लग उठती है पर वह सम-सामयिक जीवन में सोद्देश्यता खोजने और पाने का प्रखर प्रयत्न है।

इसके विपरीत 'न मीत न मंजिल' रेवतीसरन शर्मा का ऐसा उपन्यास है जिसे साधारण पाठक बीच में छोड़ ही नहीं सकता। विभाजनोत्तर विशृंखलित काल में राजधानी के जीवन का यह सरस और चुटीला चित्र एक ऐसी असहाय युवती के माध्यम से उपस्थित किया गया है जो अभाव की यातना को सह न पाने के कारण अनुचित और अनैतिक व्यवहार की ओर आकर्षित होती है। पर विभाजन के कथानक से 'झूठा सच' की याद आना स्वाभाविक है और यह स्मरण इस रचना के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं होता। निश्चय ही 'न मीत न मंजिल' का स्वर 'झूठा सच' की अपेक्षा बहुत मंद और उतरा हुआ है, साथ ही उसमें एक अदूरदर्शिनी नारी की सफलता की चाह ही अधिक प्रकट होती है उस काल का सर्वव्यापी उत्ताप नहीं।

इतिहास का यह आयाम सर्वाधिक प्रखरता से प्रयुक्त हुआ है, नरेश मेहता के विराट् उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' में, जो मालव-प्रदेश के 'एक निपट साधारण जन की दूब गाथा है' और जिसमें उत्तर-भारत के सन् 1920 से सन् 1945

तक के जीवन का बड़ा ही प्रामाणिक और विशद चित्र है। समग्र जीवन का जो वैविध्य इस उपन्यास में है, वह अपने-आपमें एक बड़ी उपलब्धि है। पर उपन्यास की उपलब्धि उतनी ही नहीं है। श्रीधर ठाकुर देशी रियासत के एक सामान्य अध्यापक हैं, उनके पिता पंडित और वैष्णव भक्त हैं, उनके भाई सफल दुनियादार हैं। अध्यापक से भी अधिक श्रीधर भाव-प्रवण युवक हैं जो हर सिद्धांत को जीवन में अनजाने ही उतारने लगते हैं और गौतम बुद्ध से लेकर विवेकानंद तक की जीवन-चर्या जिनकी चेतना में बसी हुई है। फलस्वरूप वे और उनका समस्त परिवार जिस अग्नि-परीक्षा का सामना करता है उसकी करुणा भावों का परिष्कार तो करती ही है अपने निपट सत्य से हमें अभिभूत कर लेती है। अंत में जब श्रीधर पच्चीस वर्ष तक जीवन-प्रयोग करते-करते खाली हाथ अपने उजड़े घर को लौटते हैं तब हृदय वैसे ही द्रवित हो जाता है जैसे 'गोदान' में होरी के तिल-तिल मिटने से।

उपन्यास की प्रामाणिकता और उसमें वर्णित जीवन की यथार्थता असंदिग्ध है। कवि-सुलभ अंतर्दृष्टि से नरेश प्रत्येक क्षण की विवृत्ति प्रस्तुत करते हैं और एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहां वे प्रभाव उत्पन्न करने में चूकते हों। न जाने कितने पात्र हैं इस महा उपन्यास में, पर एक मालती दीदी को छोड़कर सब मानो सीधे जीवन से पुस्तक में आ बैठे हों। और मालती दीदी भी हमें इतनी अविश्वसनीय नहीं लगतीं, अधिक से अधिक वह शरद की राजलक्ष्मी का स्मरण दिलाती हैं।

कला-संयोजन और शैली की दृष्टि से भी नरेश मेहता की उपलब्धि असाधारण है। वर्तमान से प्रारंभ होकर वर्तमान पर ही समाप्त होनेवाली इस पच्चीस वर्ष की कथा को लेखक ने पश्चादवलोकन के सहारे बड़ी सघनता दी है, एवं घटना-संकलन में बड़ी सूझ-बूझ का प्रमाण दिया है। वर्णन और शैली में वैचित्र्य का ऐसा प्रसन्न समावेश है कि मालवा का रंग-गंध-रसमय प्रदेश प्राणों में बस जाता है तथापि उसकी सार्वजनीनता अक्षुण्ण रहती है। हम उपन्यास की वस्तु को मानो एक साथ ही पंचेंद्रियों से ग्रहण करते हैं। तिस पर ललित शब्दावली के साथ चित्रात्मक व्यंजना एवं सार्थक और अनोखी उपमा-उत्प्रेक्षाएं वर्णन को बड़ी प्रखरता और दीप्ति दे देती हैं। आदर्शों के कवच ओढ़े ओछे क्षुद्र पात्रों के हाथों परास्त होता हुआ श्रीधर जब अपनी उपलब्धि-हीन परिणति पर पहुंचता है तब सारे उपन्यास की संपूर्णता एक जीवन-दर्शन का रूप ले उठती है और उसे महाकाव्यत्व के गुण से मंडित कर देती है। तुलना करना तो विस्तार की अपेक्षा रखता है, पर 'यह पथ बन्धु था' हिंदी के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में सहज ही रक्खा जा सकता है। जीवन को समग्र और स्थिर दृष्टि से देखना जो उपन्यास की अति प्रसिद्ध परिभाषा है, वह इससे चरितार्थ होती है।

[रचनाकाल 1963, 'वार्षिकी' : 1962, अंक 3 में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

'विषपायी' नवीन

कुछ दिनों पहले की बात है, एक अनुसंधित्सु ने मुझे एक प्रबंध दिखाया था—बंगला पर हिंदी का प्रभाव। क्योंकि मुझे बंगला का थोड़ा-बहुत ज्ञान है, इसलिए मैंने बड़ी रुचि और उत्सुकता से उसे देखा। और मैं यह देख कर दंग रह गया कि जिन तथ्यों से हम सामान्यतः हिंदी पर बंगला का प्रभाव सिद्ध करते हैं, उक्त विद्वान ने उन्हीं से बंगला पर हिंदी का प्रभाव सिद्ध कर दिया था। ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में ऐसा ही विपर्यय घटता है। और 'हम विषपायी जनम के' पढ़कर मेरे मन में सबसे पहले यही भाव उठा कि यदि कोई अहिंदीभाषी अनुसंधित्सु इसकी विवेचना करने बैठे तो संभव है वह नवीन के काव्य पर भगवतीचरण वर्मा से लेकर शिवमंगल सिंह 'सुमन' तक के काव्य का प्रभाव सिद्ध करने में सफल हो जाये; क्योंकि 'हम विषपायी जनम के' सन् 1964 का प्रकाशन है जबकि ये कवि अपनी मूल्यवान रचनाएं न जाने कब की प्रकाशित कर चुके हैं। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके द्वारा यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि नवीन की कलम से निकली पंक्तियां मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त, नरेंद्र शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर और ('इत्यलम्' तक के) अज्ञेय की पंक्तियां होने का भ्रम उत्पन्न करती हैं। यों ऐसी भी पंक्तियां मिल जाती हैं जो प्रसाद, निराला, पंत या महादेवी की पंक्तियां मालूम पड़ें, पर उनकी संख्या अत्यंत सीमित है। और सन् 1964 का प्रकाशन होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विरहित कोई अनुसंधित्सु यदि नवीन को इन सब कवियों से प्रभावित मान बैठ, तो कम-से-कम मुझे तो कोई आश्चर्य न होगा।

क्या मेरे इस कथन से यह करुण अंतःस्वर स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि नवीन का प्रतिनिधि काव्य-संकलन इतनी देर से प्रकाशित हो सका? नवीन तो हमारे बीच से इस बीच उठ ही गये हैं, हिंदी कविता के तेवर भी अब इतने बदल चुके हैं कि इस संग्रह का सही मूल्यांकन करना सिद्ध समीक्षा-शास्त्री के ही बस की बात रह गयी है।

जहां तक मैं जानता हूं, नवीन अभी तक किसी भी विश्वविद्यालय के हिंदी पाठ्यक्रम में समाविष्ट नहीं हैं, और ऐसी दशा में इस अभूतपूर्व काव्य-संग्रह

के दूसरे संस्करण की भी कोई आशा नहीं की जा सकती। यदि इनमें से अनेक रचनाएं तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं और कवि-सम्मेलनीय मंच के माध्यम से प्रचारित न हुई होतीं तो सचमुच जिनको नवीन के वर्चस्व ने प्रभावित किया, हम उन्हीं से नवीन को प्रभावित मानने की भूल कर बैठते।

इतने विभिन्न और विविध कवियों की रचनाओं से मिलती-जुलती रचनाएं कितनी विविध होंगी, यह सहज ही समझा जा सकता है। प्रकाशक ने कवि की इच्छा का आदर कर उन्हें छह पृथक खंडो में विभाजित करके इस वैविध्य को प्रत्यक्ष कर दिया है; यहां तक कि प्रत्येक खंड का एक-एक उपशीर्षक भी दिया गया है जिससे तत्वतः यह संकलन छह पृथक संकलनों का संग्रह बन गया है। यदि हम यह भी स्मरण कर लें कि नवीन ने ब्रजभाषा में भी काव्य-प्रयोग किये थे और 'उर्मिला' नामक महाकाव्य की भी रचना की थी —तो उनकी सर्जना का वैविध्य रेखांकित हो जाता है। वैसे यहां यह भी उल्लेख्य है कि नवीन के कुछ ग़ज़ल-प्रयोग भी इस संकलन में मौजूद हैं।

इस विविधता की चर्चा मैंने यहां जान-बूझकर ही की है क्योंकि एक तो उनकी रचनाओं का अधिकांश अप्रकाशित ही रह जाने के कारण और दूसरे तत्कालीन हिंदी आलोचना की एक विशिष्ट प्रवृत्ति के कारण नवीन के काव्य की यह विविधता अनदेखी रह गयी है। परतंत्र समाज की सहज प्रतिक्रिया के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदी समीक्षक व्यक्ति-कलाकार की उपेक्षा करके समूहगत उपलब्धि पर ज़ोर देता आया है। वह कवियों अथवा रचनाओं का अध्ययन गौण मानता रहा है और काव्य-धारा अथवा काव्य-प्रवृत्ति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण। इसके दो रोचक परिणाम निकले हैं। पहला परिणाम तो यह कि भारतेंदु से लेकर अज्ञेय तक— किसी भी साहित्यकार के संबंध में कोई संतोषजनक पुस्तक उपलब्ध नहीं है, और दूसरा परिणाम यह कि व्यक्तित्व की विविधता से संपन्न कृतिकारों को, किसी एक विशिष्ट धारा में 'फ़िट' न होने के कारण, उपेक्षा का भागी बनना पड़ा है। फिर नवीन जैसे कृतिकार के संबंध में तो पूछना ही क्या, क्योंकि उनके साथ एक और अड़चन यह लगी हुई थी कि उनकी अधिकांश रचनाएं अप्रकाशित थीं।

इसी समीक्षा-स्थिति का यह भी अनुषंग रहा है कि ऐसी रचनाएं अधिक चर्चित और समादृत होती रहीं जिनका विषय समाज या समूह रहा; जिन रचनाओं का केंद्र व्यक्ति-मन था वे अपेक्षया टाली जाती रहीं। यही कारण है कि हम नवीन की चर्चा अधिकतर उस तथाकथित राष्ट्रीय काव्य-धारा की एक लहर के रूप में करते-सुनते आये हैं जिसे मोटे रूप में मैथिलीशरण गुप्त से लेकर सोहनलाल द्विवेदी तक विस्तृत माना गया है। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल रही है कि छायावाद, जो स्पष्टतः व्यक्ति-मन पर केंद्रित था, एक धारा के रूप में ही देखा-परखा गया और 'तार-सप्तक' के बेचारे संपादक कहते ही रह गये कि उसमें संगृहीत सात कवियों के साढ़े सात व्यक्तित्व हैं, आलोचकों ने उसे प्रयोगवादी धारा का रूप देकर ही चैन लिया। मुक्तिबोध ने अचानक

ही इन आलोचकों के लिए कैसी कठिन समस्या खड़ी कर दी है, यह हम प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। पर हम 'हम विषपायी जनम के' की विविधता की अनदेखी नहीं कर सकते। नवीन ने राष्ट्रीय जागरण को अपने काव्य में प्रतिध्वनित किया, इसमें क्या संदेह है। उन्होंने राष्ट्रीय उद्‌बोधन की रचनाएं लिखीं, युवकों को और देशवासियों को ललकारा, ग़रीबी और भुखमरी पर आंसू भी बरसाये और आक्रोश भी प्रकट किया—यह सब सच है। पर यह अंश-सत्य है, मात्र खंड-सत्य है।

कुछ समीक्षात्मक-परिचयात्मक ग्रंथों में यह भी दर्ज मिलता है कि नवीन स्वच्छंद प्रेम और मस्ती के कवि थे। ऐसा अंकित करने पर भी उन्हें राष्ट्रीय काव्य-धारा के ही कटहरे में रखा गया है। पहली स्थिति से यह स्थिति श्रेयस्कर है, इसलिए अभिनंदनीय है। कवि के निधन पर श्रद्धांजलि-स्वरूप पत्र-पत्रिकाओं ने जो विशेषांक प्रकाशित किये उनमें यह भी देखने-पढ़ने को मिला कि नवीन का चिंतन और दर्शन से भी थोड़ा-बहुत लगाव था। यह स्थिति तो और भी आशाजनक है। पर फिर भी जिसने 'हम विषपायी जनम के' पढ़ी है उसे संतोष नहीं मिल सकता।

क्योंकि वैविध्य देख सकना या स्वीकार कर लेना जरूरी तो है पर काफी नहीं है, हमें यदि नवीन को कवि-रूप में समझना और ग्रहण करना है तो इस वैविध्य में उपलब्ध उस एक सूत्र को भी खोजना और पाना पड़ेगा जो उनका व्यक्तित्व है। और तब हम देखेंगे कि यह वैविध्य एक केंद्र में सिमट आया है, और नवीन किसी धारा की लहर न होकर एक जीवंत-स्वतंत्र व्यक्ति बन उठे हैं जैसा कि उन-जैसे 'मर्दाने' को होना चाहिए, जैसे कि निराला और मुक्तिबोध थे।

[2]

वैसे किसी के भी व्यक्तित्व को एक वाक्य में बांधना कठिन होता है पर यदि मैं नवीन के व्यक्तित्व को एक वाक्य में रखना चाहूं तो कहूंगा कि वे असाधारण परिस्थितियों से घिरे एक साधारण मानव थे। इस वाक्य में जो खतरा निहित है उसके प्रति मैं सचेत हूं, और यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि साधारण मानव का अर्थ साधारण कवि नहीं है, पर उनके इस प्रतिनिधि काव्य-संग्रह को आद्योपांत पढ़ते-पढ़ते हर बार मेरे मन में यही भाव उभर-उभर कर आया है कि वे साधारण थे, साधारण बने रहना चाहते थे, और उनकी विकलता का सबसे बड़ा, और कदाचित् एकमात्र स्रोत यह था कि जिन परिस्थितियों में वे जी रहे थे वे बड़े ही विचित्र रूप से असाधारण थीं। साधारण और असाधारण के इस अनिवार्य टकराव ने ही वे संघर्ष पैदा किये जिनसे वे आजीवन जूझे और जिन्होंने उनके मन को उन चरम स्थितियों में विभक्त देखा जो अक्सर परस्पर विरोधी बन जाती हैं, और जब नहीं बनतीं तो मिलकर इतनी भारी हो जाती हैं कि

मन टूटने लगता है। परस्पर विरोधी भावनाओं के पाटों में मन के टूटने की यह स्थिति नवीन की अधिकांश कविताओं का मूल आधार है, यद्यपि वह सर्वत्र एक समान प्रकट नहीं है। उनकी अंतिम कविताएं अवश्य इस स्थिति से कुछ भिन्न आधार पर हैं, पर वह भेद परिस्थिति की विषमता को कम नहीं करता, केवल विरोधी दबावों की अनुपस्थिति ही व्यक्त करता है। जो हो, नवीन का कवि-व्यक्तित्व प्रारंभ से लेकर प्रौढ़ावस्था तक इन्हीं विरोधी परिस्थितियों के झूले में झूलता रहा। और क्योंकि नवीन साधारण कामनाओं के धनी थे इसलिए उन्होंने बड़ी ही ईमानदारी से अपनी प्रतिक्रियाएं अपनी कविताओं में व्यक्त की हैं। यदि वे असाधारण होते तो उनकी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप दूसरा होता, और उनमें से बहुतेरी तो उनकी कविताओं का विषय भी न बनतीं, जैसा कि उनके समकालीन अन्य अनेक कवियों की रचनाएं सिद्ध करती हैं। इस दृष्टि से नवीन स्वच्छंदतावादी-छायावादी अन्य कवियों की अपेक्षा हमें आज के अधिक अपने लगते हैं, उनकी कमज़ोरियां हमें बड़ी स्वाभाविक लगती हैं, और उनका ओज हमें चकाचौंध नहीं करता।

साधारण और असाधारण की यह टकराहट कितने विचित्र रूप धारण करती है, नवीन के काव्य में इसका अध्ययन बड़ा ही रोचक है। साधारण ग्रामीण परिवेश में पला-बढ़ा एक साधारण किशोर जब परिस्थितिवश कानपुर जैसे जनसंकुल नगर में गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे विख्यात व्यक्ति का आश्रय और सख्य पा जाता है तो किशोर मन में भावों की ऐसी घुमड़न मच उठती है कि बस! अपने परिचित परिवेश से उखड़ कर वह प्रवासी तो हो ही गया है, वय:संधि का सहज सम्मोहन उसे प्रणय की गलियों में घुमाता है, और परिस्थिति से प्राप्त देश की पुकार उसे जेल तक पहुंचा देती है। और यह सब होता है उस बेचारे व्यक्ति के साथ जो अनगिनती लोगों की भांति साधारण ढंग से जीवन बिताना चाहता है। नवीन बार-बार इस वैषम्य की चर्चा करते हैं, कभी उसे विवशता बनाकर, कभी चुनोती के रूप में। सब तो नहीं, पर कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेख यहां देख लेना उपयोगी होगा।

डिस्ट्रिक्ट जेल, फैज़ाबाद में सन् 1932 में लिखी गयी एक कविता का यह अंश देखिए :

हम संक्रांति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग
हमें क्या पता क्या होता है स्निग्ध सुखद संयोग?
हम बिछोह के पले, खूब जाने हैं पूर्ण वियोग
घर उजाड़ कर जेल बसाने का है हमका रोग

और यह कविता श्रावणी पर लिखी गयी थी, और राखी के त्यौहार के साधारण सुख की याद में! जेल में ही नहीं, 'गणेश कुटीर' में बैठे भी वे यही कहते हैं :

हम अलख निरंजन के वंशज
निज मनोरथों के हम हंता

अपना सब कुछ देने से ही
है सार्थकता इन प्राणों की

यह संकल्प कितना प्रबल लगता है! पर इसके साथ इस परास्त भाव का मिलान कीजिए :

ढचर-ढचर करती जाती है मेरी टूटी गाड़ी
जर्जर हुई आज मेरी सब नस-नस नाड़ी-नाड़ी
दौड़े चले जा रहे हैं सब अपने-अपने रथ पे
भागाभाग मची है स्पर्धा-मिश्रित जीवन पथ पे
इस जग-मग में आन फँसा हूँ मैं भी एक अनाड़ी

यह 'आन फंसे' का भाव आज के 'आउटसाइडर' भाव का ही पुरखा है। नवीन की काव्य-कृतियों में वह सर्वत्र विद्यमान मिलता है। प्रणय-जगत में भी वे इससे नहीं उबर पाते और कर्म-जगत में भी। दोनों को भी नहीं अपना पाते, दोनों में से एक को भी नहीं, और दोनों को छोड़ते भी नहीं बनता। संक्रांति काल की यह बेचैनी 'तार-सप्तक' में नेमिचंद्र जैन तक की कविताओं में मिलती है। और मुझे लगता है कि यही बेचैनी वह तत्व है जिसे नवीन ने विष की संज्ञा दी है। 'हम विषपायी जनम के सहें अबोल-कुबोल' और 'हम संक्रांति काल के प्राणी बदा नहीं सुख-भोग' दोनों समानार्थक पंक्तियां हैं।

ऊपर जो उद्धरण मैंने दिया है उसकी एक पंक्ति पर मैं फिर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं : 'दौड़े चले जा रहे हैं सब अपने-अपने रथ पे।' यहां 'अपने-अपने रथ पे' पद को मैं रेखांकित करना चाहता हूं। निःसंबल नवीन का मन कितना ही बड़ा महारथी रहा हो, रथ उनके पास न था। यदि अपने सहज परिवेश से उत्पाटित होकर वे 'आन फंसे' न होते तो रथ का अभाव तो होता पर उसकी खटक न होती। पर जिस स्थल पर वे आ पहुंचे थे वहां औरों के रथ देख-देख कर यह खटक न होना ही आश्चर्य की बात होती, और उस अभाव को पी कर पचा जाना असाधारणत्व की अपेक्षा रखती थी। इसलिए नवीन को अभाव भी रहा, उसकी खटक भी रही और वे उसे पचा भी न सके। और यह भी नहीं कि उनका मन किसी एक विशिष्ट रथ के लिए लालायित रहा हो। उनकी रचनाएं प्रमाण हैं कि जब-जब उन्हें कोई सुंदर रथ दिखायी पड़ा, उन्हें अपना अभाव याद आया और घाव हरा हो गया। जीवन की संध्या में जब वे अपना रथ पाने में समर्थ हुए तब भी उन्हें परितोष न प्राप्त हो सका, यह एक और पेंचदार बात है।

नवीन इच्छा ही करते रहे, इच्छा-पूर्ति नहीं कर पाये। इसका कारण ठीक उसी परिस्थिति में निहित था जिसने इस इच्छा को जन्म दिया था। यदि इच्छा में अनन्यता होती तो परिस्थिति विशेष कुछ नहीं कर सकती थी। पर यह हम देख ही चुके हैं कि उसमें अनन्यता नहीं थी। इसीलिए उसके प्रति उनकी लगन निर्द्वंद्व भी न थी। फलतः संशय और द्वंद्व नवीन का आजीवन पीछा करते रहे।

[3]

मैं इस संशय और द्वंद्व को नवीन के काव्य का केंद्र मानता हूं, और इसीलिए उन्हें प्रसाद, पंत या महादेवी, अथवा माखनलाल, सियारामशरण या सुभद्राकुमारी चौहान का आत्मीय न मान कर भगवतीचरण वर्मा, बच्चन और दिनकर का आत्मीय मानता हूँ। (निराला की बात मैंने जान-बूझकर छोड़ दी है)। इस छोटे से निष्कर्ष को फैलाने पर बड़े विचित्र परिणाम हाथ आते हैं। पहला तो यह कि नवीन न द्रष्टा हैं न नेता, वे मध्यमवर्गीय मानव-मन के प्रतिनिधि हैं जो सुख और शांति की खोज कर रहा है, सौंदर्य-लोक की नहीं। दूसरा यह कि समसामयिक काव्य में उपलब्ध भाव-राशि के अनेक पूर्व-संकेत और अधूरे रूप नवीन में मिल जाते हैं। तीसरे यह कि नवीन की कविता कला न होकर उनके जीवन की बड़ी ईमानदारी प्रतिलिपि है। उनकी यह ईमानदारी, जिसे जिन्होंने काव्य का मूल गुण भी माना है, उन्हें कल्पना पर निर्भर रहने वाले समकालीन कवियों से दूर करके आज के अनुभूति-निर्भर कवियों के निकट ले आती है।

अनुभूति का ईमानदार कथन या चित्रण—यही नवीन की सृजन-प्रक्रिया है। फलतः हमें उनकी रचनाओं में, विशेषतः प्रारंभ से मध्य वय तक की रचनाओं में, एक झनझनाते तार की विकलता प्रतिध्वनित मिलती है। यह कसक अभाव का है और यह झनझनाहट परिस्थितियों की चोट है। उनकी एक-एक पंक्ति में हम उनकी नसों का तनाव पढ़ सकते हैं। यों, कुछ रचनाएं ऐसी भी मिल जाती हैं जिनमें यह तनाव नहीं है, समर्पण है या आश्वस्ति है। पर ये रचनाएँ अधिक नहीं हैं। और जिसका समस्त कृतित्व ही विरोधी तत्वों पर आधारित हो, वह इसकी भी चिंता क्यों करे! इस संशय और द्वंद्व को और उससे उत्पन्न तनाव को एक और तथ्य में देखा जा सकता है। नवीन की अधिकांश कविताओं की रचना या तो जेल में हुई है या रेल में। दोनों ही तनाव की स्थितियां हैं। और कुछ ऐसी भी रचनाएं हैं जो या तो रात को दो-ढाई बजे लिखी गयी हैं, या किसी मेहमान के घर खाना खाते-खाते लिखी गयी हैं। यह उनकी ईमानदारी का ही छोटा-मोटा प्रमाण है कि यह सूचना पाठक को अनायास ही मिल जाती है।

यहां नवीन के काव्य में उस तत्व पर भी विचार करना उपयुक्त होगा जिसे हम उनकी मस्ती, उनका फक्कड़पन कहते आये हैं। क्या मस्त व्यक्ति संयम और कर्तव्याकर्तव्य की उधेड़बुन में पड़ता है? क्या फक्कड़ व्यक्ति 'अपने रथ' की ओर 'चिरसंगी' की मांग करता है? नवीन दोनों ही करते हैं। इसीलिए मेरा निवेदन है कि नवीन की मस्ती मस्ती नहीं है, वह तनाव की ही स्थिति है। इसी तरह, वे कितना ही कहते रहें कि हम तो 'रमते जोगी' हैं, 'अनिकेतन' हैं, पर यह भी स्वीकार की नहीं, तनाव की ही स्थिति है। जिन कविताओं में यह मस्ती और अवधूत का-सा फक्कड़पन मिलता है, उनमें भी यह तनाव ध्यान देते ही पकड़ में आ जाता है।

पहले मस्ती को लें। मस्ती का परम प्रमाण है नशा, शराब, बेहोशी। इस चरम प्रतीक को अपनाना ही एक तरह से मस्ती की काट कर देना है, क्योंकि शराब की मस्ती सच्ची मस्ती नहीं होती, तनाव की स्थिति से बच निकलने का प्रयास होता है। नवीन भी अपनी इन मदिर रचनाओं के माध्यम से तनाव की स्थिति से बच निकलता चाहते हैं, पर शराब और कविता का अंतर बना ही रह जाता है। उन्हें उतनी देर भी बचाव नहीं मिलता जितनी देर शायद शराब दे देती है। यदि एक बार वे कहते हैं :

कूज़े दो कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं
बार-बार 'ला-ला' कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं
अरे बहा दे अविरल धारा
मन भर जाय हिया उतरावे
बूँद-बूँद का कौन सहारा?
डूबे जग सारा का सारा
ऐसी गहरी, ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला
साक़ी, अब कैसा विलंब? ढरका दे अंगूरी हाला

स्पष्ट है कि अभाव-ग्रस्त जग को डुबोने के लिए वे गुल्लाला की मांग करते हैं, पर क्योंकि गुल्लाला जग को डुबो नहीं पाती इसलिए वे दूसरी ही सांस में कहते हैं कि 'भर-भर प्याले यौवन-मदिरा के देना अब बंद करो' क्योंकि 'स्वामी, नैतिकता की डोरी जल जायेगी', और इसीलिए 'मेरी सांसें कर लो अपने श्री-चरणों में तुम विजया।' यह लीजिए, मदिरा पियेंगे, सारे जग को डुबोयेंगे, पर नैतिकता की डोरी न जलने देंगे। तनाव से बचने के लिए जो रास्ता अपनाया था, वहां भी तनाव पैदा हो गया। असल में वे 'नयी सृष्टि' करना चाहते हैं, सो भी 'रानी के मधु-प्यालों' से और 'नैतिकता की डोरी' में बंधे रहकर—और इसे हम नवीन की मस्ती बखानते आये हैं! इनसे तो अच्छे बच्चन ही हैं जिन्होंने नवीन-जैसा अग्रज पाकर हालावाद के प्रवर्तन का सेहरा उन्हीं को पहना दिया है।

अब आइए, ज़रा उनका फक्कड़पन देख लिया जाये। जो 'अनिकेतन' है, 'विरथ' है, वह तो जन्मजात फक्कड़ है। उसे उसका ढोल पीटने की भी जरूरत नहीं। ठीक वैसे ही जैसे मस्त आदमी को गुल्लाला की क्या ,ज़रूरत। और उनकी कविताएं इसका भी भेद सहज ही हमारे आगे प्रकट कर देती हैं। वे फक्कड़ हैं, पर फक्कड़ बने रहना नहीं चाहते। बार-बार अपनी निःसंगता को, अपनी 'रमते राम'-ता को छोड़कर संग और 'निकेत' खोजने लगते हैं। पर परिस्थितियों के कारण विवश हैं। प्रमाणस्वरूप कुछ पंक्तियां देखिए :

इस अनादिमय, इस अनंतमय समय-वारि में ओ दयिते
कुछ तो साथ निभा दो, कब से बैठा हूँ हिय-हारा मैं

अथवा

सुकुमार, पधार खिलो टुक तो इस दीन गरीबिन के अँगना
हँस दो, कस दो रस की रसरी, खनका दो अजी कर के कँगना

पर जब उनकी सजनी पास आने लगती है तो नवीन झट पैंतरा बदल लेते हैं :

कुछ ऐसा ही-सा विधान है मेरे इस लघु जीवन का
कि बस नहीं मिलने का मुझको चिरसंगी मेरे मन का
तुम हो! ओ भोली, पगली हो, बंधुर मेरा पंथ बड़ा
बड़ा कठिन है, सजनि, निभाना किसी मस्त प्रेमी जन का

और यह वही सजनि है जिसकी एक झलक पाने को वे अपने जीवन की चरम सफलता मानते हैं। असल में न वे फक्कड़ जोगी हैं, न मस्त प्रेमी। वे संशय-ग्रस्त प्राणी हैं—संक्रांतिकाल के प्राणी जो द्विधा में जीते-जीते कलियुग को भी द्वापर कहना चाहते हैं। और इसीलिए उन्होंने अपनी समस्या का एक निजी हल निकाला है—'होने दो हौले-हौले इस दग्ध हृदय में दाह।'

हां, इस 'हृदय में दाह' को—इस अचिर स्थिति—को ही वे चिरस्थायी बना लेते हैं। वे कहते तो हैं कि 'हम परित्याग के आदी हैं', पर परित्याग करते नहीं। वे यह भी कहते हैं कि 'तन-मन से तुमको प्यार किया' पर मौका आने पर न तन देते हैं न मन—बस हृदय के दाह को ही गले से लगाये रहते हैं।

नवीन की प्रणय-कविताओं में उत्कट लालसा और दूरी का जो सम्मिश्रण मिलता है, वह इसी संशय-ग्रस्त मन की उपज है। उनकी रचनाओं में मिलन के चित्र अत्यंत विरल हैं पर दर्शन और श्रवण के चित्र पग-पग पर मिल जाते हैं। नूपुरों की जितनी झुनझुनाहट नवीन की कविता में है, उतनी बाकी सारे हिंदी साहित्य में नहीं है।

जेल और रेल का जीवन, और हृदय में हौला-हौला दाह—ये दोनों टकरा कर नवीन के लिए एक और समस्या खड़ी कर देते हैं जो नितांत उनकी अपनी है। यह समस्या है पाप और पुण्य की, संयम और असंयम की। प्रेम को भला पाप कब-किसने कहा है? प्रेम में संयम कब-किसने चाहा है? पर नवीन के प्रेम का स्वरूप ही ऐसा है कि ये दोनों ही प्रश्न भूत की तरह उनके सामने आ खड़े होते हैं। कभी तो वे कहते हैं :

जोग-छेम की प्रेय-श्रेय की मुझे नहीं परवाह
इतना जानूँ हूँ कि प्रेम में नहीं पाप नादान

पर दूसरी ही सांस में कह उठते हैं :

कैसे दिखलाऊँ कि पड़े हैं मेरे हिय में भी छाले
तुम्हें चाहता हूँ कितना, यह कैसे जतलाऊँ बाले

किंतु चाह का दाह मात्र ही इस जीवन का लक्ष्य नहीं
कर्तव्याकर्तव्य-तत्व के पड़े हुए हैं · हम पाले!

नवीन के मन का यह संशय, यह द्विधा ही वह तलवार है जिसके कारण उन्हें अपने पथ को 'असिधारा पथ' कहना पड़ा।

[4]

इस 'असिधारा पथ' की तलवार दोधारी तलवार है। उसकी एक धार उनका प्रणय है तो दूसरी धार है उनका स्वदेश-प्रेम। नवीन जैसा सर्वहारा देश-प्रेम का व्रत पाकर निहाल ही हुआ होगा। स्वतंत्रता के उस संग्राम में उन्होंने बड़ी निष्ठा, बड़ी लगन से भाग लिया; और उनके इस व्रत की साक्षी हैं उनकी 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ', 'आज खड्ग की धार कुंठिता औ' खाली तूणीर हुआ' और 'सिरजन की ललकारें' आदि रचनाएं। हिंदी के समीक्षकों ने कवि नवीन के इसी रूप को उजागर किया है, पर इन तथाकथित राष्ट्रीय रचनाओं में भी विद्यमान भावुक नवीन के मानवीय संशय को देखना-दिखाना उन्होंने पसंद नहीं किया। पर उसको अनदेखा करके हम नवीन के सच्चे और संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं कर सकते।

देखिए बलि-पथ पर चलता सैनिक अपने मन से क्या कह रहा है :

निकला था तू जब कि जूझने
धारण कर सैनिक का बाना
जब कि बज उठा था रण-धौंसा
जब गूँजा था युद्ध-हराना
तब क्या तुझसे कहा गया था
कि हैं सुमन ही तेरे मग में
क्या तुझको यह ज्ञात नहीं था
कि हैं शूल अगणित मारग में?
तब क्यों दिखलायी दे तेरे
मुख पर आज त्रास की छाया
भावी दर्शनशील दृगों में
तेरे क्यों नैराश्य समाया?

पर 'क्यों' कोई जादू-मंत्र नहीं है जो उच्चारित करते ही नैराश्य उड़ जायेगा। यह नैराश्य नवीन की परिस्थिति में अवश्यंभावी है। उसका बीज उस महाप्रसिद्ध गीत में ही छिपा था, हमने तब केवल ध्यान नहीं दिया था। कवि ने उथल-पुथल मचाने के साथ-साथ यह भी कहा था—'दिल को मसल-मसल मेहंदी रचवा आया हूं मैं, यह देखो।'

पर दिल को मसल कर मेहंदी रचवाना उनसे हो नहीं सका—साधारण मानव से हो भी नहीं सकता। जब तक वे उत्तेजना में रहते हैं, तनाव की स्थिति में रहते हैं, तब तक तो 'महानाश की भट्टी' से कहते रहते हैं—'जल उठ, जल उठ, अरी भभक उठ', पर जब उत्तेजना के क्षण बीत जाते हैं तब अपनी असफलता का चिंतन करने लगते हैं—'माया मिली न जन-वैभव की, मिले न राम लोकसुख के!' और दुख मानते हैं कि 'यह परवश-तन, यह परवश मन।' इन्हीं क्षणों में वे चिंतन-प्रधान रचनाएं उपजती हैं जो एक ओर समस्त सृष्टि के विकास और इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास करती हैं, और दूसरी ओर वे रचनाएं जिनमें परमतत्व और मृत्यु संबंधी रहस्यों का गायन है। पर इन सबके पीछे मूल स्वर नवीन के उस धड़कते मानवीय मन का ही है जो पीछे की ओर देखता है तो 'कृत को अकृत' करना चाहता है, और आगे की ओर देखता है तो :

अब कहाँ जाऊँ? कुछ तुम्हीं तो बता दो अरे!
जाऊँ कहाँ अब इस तीसरे पहर में!
ऐसा लगता है मानो जीवन कटा है यों ही
गलियों में कूचों में औ' सँकरी डगर में

तीसरे पहर के इस आश्रय में ही नवीन के जीवन की चरम करुणा छिपी हुई है—एक अत्यंत मानवीय स्थिति जो संशय के विष से भी अधिक विषैली हो गयी।

[5]

सन् 1945 में जेल से छूटने के बाद 'हम विषपायी जनम के' के अनुसार नवीन ने आश्चर्यजनक रूप से कम कविताएं लिखीं। इसके कारणों का अगर अनुमान करने बैठें तो मुझे लगता है कि नवीन के काव्य की मूल प्रेरणा—संशय और द्विधा—की परिस्थिति में परिवर्तन ही इसका कारण है। नवीन भीतर से थक गये थे, ऊपर से एक और देश आज़ाद हो रहा था इसलिए जेल जाने का अब प्रश्न न था, और वह व्यक्ति जिसे उन्होंने 'रानी', 'सजनी', 'ठकुरानी', 'मालिक' और 'स्वामी' कहकर संबोधित किया था—उनके जीवन से दूर हो चुका था। फलतः वह तनाव अब अनुपस्थित था जिसमें छोटी-से-छोटी गति भी उनके तार झनझना देती। इसके बाद उनकी जो रचनाएं बड़ी प्रबलता से हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं वे सब सन् 1955 की रचनाएं हैं जो कदाचित् उनकी अंतिम रचनाएं हैं; जो पहली बार इस संग्रह में प्रकाशित हुई हैं, और जो उनके तीसरे पहर के आश्रय से संबंधित हैं।

दो विषम परिस्थितियों से उत्पन्न तनाव के कारण ही नवीन 'यात्री' या

'पथिक' बने थे—न 'जोगी' बन सके, न 'सनिकेत'। जब तनाव समाप्त हुआ तो उनमें से एक बन जायें—उनके पास इतना ही विकल्प था। हम सब साधारण प्राणी हैं, इसलिए इसका सहज समर्थन कर सकते हैं कि वे 'सनिकेत' बने। पर जिसे आश्रय और निकेत माना, जिसे शरण स्थल समझा वह शूल निकला; उनका जीवन '*अहि-आलिंगित*' हो गया। दाद दीजिए नवीन की मर्दानगी और ईमानदारी की जो अपनी यंत्रणा को वे इन शब्दों में रख गये हैं :

ले लिया ईश की कृपा समझ जो कुछ मैंने
वह विषफल और विषोदक ही निकला भाई

और जो नवीन बार-बार पूछते रहे—"क्या मैं कर सकता हूं कृत को अकृत", उन्हें अब पता लग गया है कि यह संभव नहीं है। पर फिर भी उन्होंने जूझना नहीं छोड़ा। जूझना उनका स्वभाव था, वह उन्हें सहज था। इसे हम पराजय का भाव भी समझ सकते हैं, और चाहें तो नवीन के मानवीय मन की आशा-भावना :

यों शूल-युक्त, यों अहि-आलिंगित है जीवन
पर, सुमन, सुधा का है स्वभाव मेरा निश्चय
निश्चय ही होंगे कंटक परिणत सुमनों में
बरसेगा अमृत और होगा अहि-विष का क्षय!

आख़िर इसी आशा पर तो वे आजीवन विष का पान करते रहे थे।

[रचनाकाल 1964, 'माध्यम' जनवरी 1965
में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

मुक्ति-बोध :
जैनेंद्र की उपन्यास-यात्रा का एक नया मोड़

जब समाज की गति व्यक्ति के आदर्शों के विरुद्ध जाती हो, और जब उसका परिवेश घुटन और अवरोध उत्पन्न करता हो, तब व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है? आज से एक युग पहले जैनेंद्र ने यह समस्या साहित्य में उपस्थित की थी और तब से लगातार वह उसे उपस्थित करते आ रहे हैं। 'परख' में उन्होंने समाधान दिया कि उत्सर्ग ही एकमात्र रास्ता है, 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' में उन्होंने बताया कि पलायन ही सच्चा मार्ग है, और 'त्याग-पत्र' और 'कल्याणी' ने बताया कि असत् का अविरोध ही सही पथ है—हम चाहे टूट जायें पर समाज न टूटे, क्योंकि यदि समाज टूट गया, तो हम फिर बनेंगे भी किस में। लेकिन ये सारे उत्तर जैनेंद्र को मुक्ति नहीं दे सके।

इसलिए अब एक युग बाद जैनेंद्र ने अपने नये उपन्यास का नाम रखा है—'मुक्ति-बोध'। क्या यह नाम हिंदी के तरुण कवि की करुण मृत्यु से संबंधित होने का भ्रम उत्पन्न करता है? कम-से-कम उपन्यास में ऐसा कोई आभास कहीं नहीं है। उसमें तो वही प्रश्न है जो जैनेंद्र पहले भी कई रूपों में उठा चुके हैं। पर इस बार समाधान भिन्न है—उत्सर्ग नहीं, पलायन नहीं, स्वीकार नहीं, एकमात्र कर्त्तव्य है अपने आदर्शों के प्रतीति के लिए अनवरत उद्योग, परिवेश को चुनौती। यह समाधान जैनेंद्र के लिए नया भी है, अधिक व्यावहारिक भी और समाज के लिए कल्याणकारी भी। उपन्यास के नाम से जैनेंद्र शायद यही बताना भी चाहते हैं।

शुरू से ही जैनेंद्र अनोखे प्रकार के कथाकार हैं। दैनिक जीवन और जगत से पात्र उठाकर भी वह उन्हें एक हल्की-सी अमूर्त्तता और वायवीयता से मंडित कर देते हैं। इस प्रकार वह सामाजिक व्यक्तित्व से अधिक भावों, विचारों, सिद्धांतों और आदर्शों के प्रतीक-से बन जाते हैं। यहां तक कि कभी-कभी तो यह लगने लगता है कि जीवन का चित्रण जैनेंद्र का लक्ष्य ही नहीं है, वे तो अपने दार्शनिक चिंतन को सुगम और रोचक रूप देने के लिए ही कथा का बाना अपनाते हैं। यह विलक्षणता प्रस्तुत उपन्यास में भी है। प्रत्येक अवयव

और प्रत्येक चित्र अपने-आपमें तर्क एवं संभावना पर टिका होने पर भी पूरे उपन्यास का रूप जीवन-चित्रण का नहीं, समस्या-चिंतन का ही है।

सौभाग्य से उपन्यास में जो समस्या उठाई गयी है, वह वर्तमान भारतीय जीवन की ज्वलंत समस्या है। आदर्शों की बड़ाई और कर्मों की ओछाई, समाज-सेवा के खोल में दुबका निपट निजी स्वार्थ, स्वार्थों की टकराहट और नैतिकता की छीजन और सर्वत्र प्रसरित कपट एवं भ्रष्टाचार का वातावरण—जैनेंद्र ने इन्हें बड़े ठोस और विशेषीकृत रूप में उपस्थित किया है और उन से जूझते अनिश्चय में उलझे विवेक को सहानुभूति दी है। जिन्होंने पिछले साल नयी कविता और नयी कहानी की चर्चा में जैनेंद्र के वक्तव्य सुने थे, उन्हें यह उपन्यास पढ़कर विस्मय भी हो सकता है, क्योंकि अपने वक्तव्यों कें बावजूद जैनेंद्र सामाजिक ह्रास और विघटन की अनदेखी नहीं करते, न उन पर कोई आदर्श की खोल चढ़ाते हैं। और जो हल वह उपस्थित करते हैं, उसे तथाकथित 'नये' चाहें तो सम्मुखीकरण (कन्फ्रंटेशन) का भी नाम दे सकते हैं।

उपन्यास का केंद्रीय-पात्र और वक्ता है सहाय, जो सर्वविदित रास्तों से ही राजनीति में अगुआ बना है और निस्वार्थ सेवा और त्याग में जिया है। वह मंत्रिपद लेने की बजाय गांव में किसानी करके अपनी मुक्ति पाना चाहता है। पर, जिनका वह अगुआ है, परिवार के सदस्य, मित्र और दलगत सहयोगी, वे उसे रोकते हैं। इन दो विकल्पों का ऊहापोह उपन्यास का मूल ताना-बाना है, और अंत में सहाय पहचानता है कि किसानी की इच्छा पलायन है और उसका जन्म समाज-सेवा की सात्त्विक भावना से नहीं, सामने लदी खड़ी कठिनाइयों के डर से हुआ है। अंततः वह मंत्रिपद स्वीकार करता है और पाठक यह मान सकता है कि इस समय वह अपनी बाधाओं से जूझता आगे बढ़ रहा होगा और निकट भविष्य में कभी सिरमौर बनकर देश का उद्धार करेगा। एक प्रकार से उपन्यास में जैनेंद्र ने गीता के निष्काम कर्म को ही समयोचित युगानुरूप विग्रह में उपस्थित किया है।

किसी एक कर्मयोगी व्यक्ति के नेतृत्व में देश और समाज के पुनरुद्धार की बात नायकत्व की-सी बात लगती है और जनतांत्रिक परिकल्पना से मेल नहीं खाती, पर इस अंश पर जैनेंद्र ने अधिक बल नहीं दिया है। अधिक बल उन्होंने सच्चे कर्म की राह में व्यक्ति की मुक्ति पर ही दिया है जो अधिक प्रासंगिक और सही समाधान जान पड़ता है। 'समय और हम' में जैनेंद्र ने जो विचार हमारे सामने रखे थे, प्रस्तुत उपन्यास मानो उन्हीं का दृष्टांत है।

पर, समाधान से भी अधिक प्रभावपूर्ण है सहाय की हिचक, भिन्न-भिन्न दृष्टियों और स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते अत्यंत प्रामाणिक और विश्वसनीय चरित्र, समाज की वर्तमान शोचनीय स्थिति और दृढ़ कर्म की अविलंब अनिवार्य आवश्यकता। इनको नजर के सामने रखकर जैनेंद्र ने 'मुक्ति-बोध' को पहले उपन्यासों से अधिक ठोस यथार्थता दी है, चाहे उसके पीछे यह बाध्यता ही कारण रही हो कि उपन्यास रेडियो से प्रसारित होना था।

सहाय केंद्रीय पात्र भले हो, उपन्यास के सर्वाधिक सुचित्रित पात्रों में हैं—ठाकुर, वीरेश्वर और नीलिमा। सहाय की पत्नी राजेश्वरी जैनेंद्र के पूर्ववर्ती नारी-पात्रों की ही याद दिलाती है, और सबसे कम विश्वसनीय लगती है। इसी प्रकार विदेशी नारी तमारा। पर, सहाय की प्रेयसी नीलिमा नयी नारी है और सबसे अधिक विश्वसनीय है। अन्य अनेक बातों के साथ-साथ हम इस बात के लिए भी जैनेंद्र के कृतज्ञ हो सकते हैं कि नीलिमा में उन्होंने पहली बार आधुनिका का विवेकपूर्ण चित्रण किया है। नहीं तो ('अज्ञेय' को छोड़कर) प्रेमचंद से लेकर आज तक आधुनिका को बनावटी और सहानुभूतिहीन ढंग पर ही प्रस्तुत किया गया है। पुरुष-पात्रों में वीरेश्वर बहुत उभरकर आया है और नयी पीढ़ी का बड़ा सम्यक् प्रतिनिधित्व करता है। नीलिमा ने जो चांटा वीरेश्वर को मारा था, यदि वह चांटा पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को मार सकती, तो हिंदी साहित्य की कुछ सांप्रतिक समस्याएं तुरंत सुलझ जातीं। यह और बात है कि पुरानी पीढ़ी में भानुप्रताप जैसे लोग भी हैं और नयी पीढ़ी में कुंवर जैसे भी। आशा है, अगले उपन्यास में जैनेंद्र इन जैसे व्यक्तियों की समस्याओं का भी समाधान करने की कृपा करेंगे।

[रचनाकाल 1965, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान'
मई 1965 में प्रकाशित।]

बच्चन का 'हलाहल'

'बच्चन' का नाम लेते ही उनकी 'मधुशाला' का ध्यान आ जाता है, और यह सही भी है, क्योंकि 'मधुशाला' कई दृष्टियों से उनकी उत्कृष्ट रचना तो है ही, वह संभवतः हिंदी काव्य की सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक भी है। अब तक 'मधुशाला' की लाखों प्रतियां बिक चुकी हैं और आज भी उसकी उतनी ही मांग है जितनी उसके प्रथम प्रकाशन के समय थी। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं उसके पहले ग्राहकों में था, और यद्यपि तब मैं मात्र नवीं कक्षा का विद्यार्थी था, मैंने 'मधुशाला' इतनी बार पढ़ी थी कि लगभग कंठस्थ हो गयी थी, और उसके बहुत-से छंद मुझे अब भी याद हैं। पर कुछ दिनों बाद जब मैं इंटर की पढ़ाई के लिए चंदौसी के कॉलेज में भर्ती हुआ तभी एक दिन मैंने 'सरस्वती' के पृष्ठों में 'बच्चन' की नवीन कृति 'हलाहल' के कुछ छंद पढ़े और वे मुझे इतने मार्मिक लगे कि मैं बड़ी अधीरता से पुस्तक निकलने की प्रतीक्षा करता रहा। यह प्रतीक्षा बड़ी लंबी निकली क्योंकि 'हलाहल' का पहला संस्करण मेरे हाथ लगभग सन् 1947 में ही लग सका। प्रकाशन में इस अप्रत्याशित देरी का कारण 'बच्चन' ने अपनी भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। जो हो, 'हलाहल' को पुस्तक-रूप में पढ़कर मैं पुनः उसकी गहराई और मार्मिकता में डूब गया, और तब से अब तक मैंने अनेक बार इस पुस्तक का पाठ किया है और हर बार उससे प्रभावित हुआ हूं। यही कारण है कि कवि से जब-तब भेंट होने पर मैं उन्हें बराबर यह कहता रहा हूं कि मुझे उनकी 'हलाहल' उनकी 'मधुशाला' से अधिक पसंद है।और इस बात पर आश्चर्य भी करता हूं कि उसे वह प्रसिद्धि क्यों न मिली जो 'मधुशाला' को मिली थी। इसका कारण यही हो सकता है कि पुस्तक की लोकप्रियता का निर्माण अनेक कारणों से होता है और उनमें प्रकाशन-योग का भी हाथ होता है। 'हलाहल' का प्रकाशन-वर्ष देश में दूरगामी परिवर्तनों का काल था और राजनीतिक जीवन की हलचल में यदि एक साहित्यिक घटना अनदेखी ही रह गयी हो तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं। पर मेरे लेखे 'बच्चन' की 'हलाहल' आज भी 'मधुशाला' से अधिक प्रौढ़ और अधिक सार्थक रचना है।

'बच्चन' को अक्सर मस्ती और मादकता का ही कवि माना जाता है और

इसका आधार है 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि उनकी रचनाएं। पर क्या 'बच्चन' केवल मादकता के ही कवि हैं, और क्या उनके व्यक्तित्व को 'मस्ती' की सीमाओं में ही बांध देना उचित है? इसका स्पष्ट ही उत्तर है : नहीं। इसमें तो संदेह नहीं कि 'बच्चन' ने एक दिन अवश्य मादकता का ही संदेश दिया था, उन्होंने स्वयं कहा है :

लिये मादकता का संदेश
फिरा मैं कब से जग के बीच!

पर वह 'बच्चन' के संपूर्ण व्यक्तित्व का सिर्फ एक पहलू है। अपने नवयौवन-काल की रंगीनियों के प्रभाव से बच्चन ने कल्पना की रंग-बिरंगी हाला का हमें पान अवश्य कराया था, पर यथार्थ जीवन से उन्होंने अपना मुंह कभी नहीं मोड़ा। ऐसा वे कर भी नहीं सकते थे क्योंकि वे समग्र जीवन के कवि हैं और यौवन के उल्लास और मद का गीत गाते समय भी यह नहीं भूलते कि वास्तविक जीवन बड़ा कठोर होता है, और उसमें पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है। सच तो यह है कि इस संघर्ष से थककर ही वे कुछ देर को अपना मन बहलाने के लिए मधु की बात करते हैं :

हो उठा जब भार जीवन
तब लगाया ओठ प्याला

या

था बहाना एक मन-बहलाव का मधुपान मेरा!

पर कल्पना का यह मधु बहुत देर तक उन्हें नहीं बांध पाता और वे शीघ्र ही यथार्थ जीवन के अभाव, दैन्य, नैराश्य और अंधकार का सामना करने के लिए उन्मुख होने लगते हैं। जीवन की यही कठोर वास्तविकता उनकी रचनाओं में 'हलाहल' का रूप धारण करके उतरी है, उनकी पुस्तक 'हलाहल' में जीवन के इसी संघर्ष का रूप प्रकट हुआ है।

जीवन की ये कठोर वास्तविकताएं हम सभी के सामने आती हैं. दैनिक जीवन के इन दुःखों और कष्टों से हम सभी को जूझना पड़ता है। यही कारण है कि 'हलाहल' की कविता हम सभी के जीवन की कविता है और उसकी प्रत्येक पंक्ति हमें मानो हमारे निजी जीवन का ही परिचय कराती-सी जान पड़ती है। 'मधुशाला' में जो मस्ती है वह भी इतनी गहरी और रंगीन है कि पाठक के सिर पर चढ़कर बोलने लग जाती है, पर फिर भी जिन पाठकों में कल्पना का सहारा लेने की इच्छा न हो उन्हें वह उतना संतोष नहीं दे पाती। पर 'हलाहल' में यह बात नहीं है। आपको प्रेम में निराशा हुई हो, आपकी कामनाएं बिखर गयी हों, आपके सपने चकनाचूर हो गये हों, आपको अपने प्रयत्नों में असफलता हाथ आयी हो, आपके मित्र आपको छोड़कर चल

दिये हों और आप अकेले रह गये हों, अथवा आपके सामने समाज के आदर्श मिटते जा रहे हों, कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन का कोई भी निराशाजनक पहलू आपके सामने हो, आप 'हलाहल' में उसकी प्रतिध्वनि पावेंगे और अगर एक बार आप उसे शुरू से आखिर तक बांच जायें तो आपके मन पर कवि का एक दूसरा ही जादू चढ़ जायेगा। यानी 'मधुशाला' से तो आप कुछ देर के लिए 'मस्ती का रंग' ही पाते हैं, पर 'हलाहल' से आपको कर्मठता और आशा का ऐसा उपयोगी संदेश मिलेगा जो सदा आपके साथ रहेगा और दुःख एवं निराशा के क्षणों में आपको उत्साह प्रदान करेगा, मुश्किलों के सामने हार मानने से बचाएगा।

यह पढ़कर शायद आप सोचें कि 'हलाहल' तो उपदेश की पुस्तक है, पुराने कवि जैसे नीति के दोहे लिखते थे कुछ-कुछ वैसी ही। नहीं, आपकी यह धारणा गलत होगी। 'हलाहल' में कवि ने कोई उपदेश देने की कोशिश नहीं की है, उसमें तो कवि ने अपने निजी अनुभवों का ही चित्रण किया है, और इतनी ईमानदारी के साथ कि वह झट से हमारे मन पर छा जाता है। और दुःखों एवं कष्टों की इस चर्चा को कवि अपनी अनुभूति के ही सहारे एक ऐसा मोड़ देता है जो पाठक के मन में धैर्य, साहस और प्रेरणा जगा देता है। उर्दू की रुबाइयों की तरह लिखे गये ये चौपदे चार-चार पंक्तियों में मन के किसी एक गहरे भाव को प्रकट करते हैं और सीधे दिल में उतर जाते हैं। उनमें आशा का जो संदेश छुपा है वह अपने आप हमारे अपने मन से ही प्रकट होने लगता है, कवि को कहना नहीं पड़ता। दुःख यदि 'हलाहल' है, जिससे कोई भी संसारी बच नहीं सकता, 'मधु' यदि कल्पना है जिसके सहारे हम कुछ देर को दुःख भुलाने में समर्थ होते हैं, तो 'अमृत' संघर्ष करते रहने का वह आदर्श है जो हमें सुख की ओर ले जाता है। अपने कष्टों से जूझते रहकर ही कवि को यह अनुभव प्राप्त होता है कि 'मधु' की कामना कोरी कल्पना है, और यदि जीवन के संघर्ष से हार मान लें तो यही 'मधु' 'हलाहल' बन जाता है। पर यदि हम 'संघर्ष' करते रहें तो फिर एक दिन सुख का 'अमृत' हमें अवश्य मिलेगा। यही 'हलाहल' का केंद्रीय भाव है। जीवन में सुख भी है, दुःख भी, जो केवल सुख की कामना करते हैं और दुःखों से दूर रहते हैं वे निराश होने को बाध्य हैं। सच तो यह है कि दुःख आकर रहता है और जब भी आता है तभी यह लगता है मानो कुछ जल्दी ही आ गया :

मधुर ले, कटु को दूँगा छोड़
समझता क्या था मूर्ख गँवार
हलाहल के स्वागत को किन्तु
न था इतनी जल्दी तैयार।

पर आप तैयार हों या नहीं, हलाहल तो आयेगा, यही नहीं, बीच में सुख मिले भी तो वह इतना क्षणिक होगा कि आप कह उठें :

हलाहल के दो युग के बीच
एक मदिरा की कल्पित रेख!

इसलिए 'हलाहल' से हम बच नहीं सकते। कवि की तरह हमें भी उसका स्वागत ही करना चाहिए :

लिया जब पीने का व्रत धार
तुम्हारा भी स्वागत-सत्कार।

जीवन से भागे बिना 'हलाहल' से भागना असंभव है। और जीवन से भागना तो कायरता है! इसलिए डटकर जीवन का पान करें, मधु का भी, हलाहल का भी। सच तो यह है कि मधु का असली स्वाद भी तभी आता है :

मुझे आया है मधु का स्वाद
हलाहल पी लेने के बाद!

यही नहीं, आपने यह दोहा तो पढ़ा ही होगा :

अभिय हलाहल, मद भरे श्वेत-श्याम-रतनार

अर्थात् अमृत, विष और मधु तीनों का अटूट साथ है। तभी तो कवि कहता है :

हलाहल और अमिय, मद एक
एक ही रस के तीनों नाम,
कहीं पर लगता है रतनार,
कहीं पर श्वेत, कहीं पर श्याम;
हमारे पीने में कुछ भेद
कि कोई पड़ता झुक-झुक झूम
किसी का घुटता तन-मन-प्राण,
अमर पद लेता कोई चूम!

दूसरे शब्दों में, यदि हम सही ढंग पर जीवन जियें और दुख अथवा निराशा से जूझते हुए सुख की ओर बढ़ें तो अंत में अमृत की प्राप्ति निश्चित है। कवि कहता है :

सुरा है जीवन का वह स्वप्न
फड़कता देख जिसे संसार,
हलाहल जीवन का कटु सत्य
जिसे छू करता हाहाकार,
अमृत है जीवन का आदर्श

मगर है पाता उसको कौन?
और जो करता भी है प्राप्त
साध वह लेता है व्रत मौन!

यह तत्व की बात है जो वही बता सकता है जिसने जिंदगी के थपेड़ों को कसकर झेला हो, जिसने 'हलाहल' का स्वाद पाया हो। यही नहीं, इस तत्व तक पहुंचने के लिए हलाहल का स्वाद पा लेना ही काफी नहीं है, उसे पीकर पचा लेना भी बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से 'मधुशाला' और 'हलाहल' का अंतर महत्त्वपूर्ण है। 'मधुशाला' का कवि मस्ती में इतना सराबोर है कि उससे उबरने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह खुद तो झूमता ही है, अपने कंठ के राग से औरों को भी झूमने पर मजबूर करता है। दूसरे शब्दों में 'मधुशाला' का कवि एक होते हुए भी अकेला नहीं है, वह मधु के प्रेमियों के समाज का ही अंग है। पर 'हलाहल' तक आते-आते कवि अकेला और निःसंग हो जाता है :

हलाहल पीने में भी साथ
किसी का चाहो तो, अनजान।
अकेलापन है पहला घूँट
हलाहल का, लो इसको जान।

और अकेलेपन एवं निराशा के इस घटाटोप में कवि जगत की विराटता, नश्वरता और निरंतर परिवर्तनशीलता पर विचार करता है, मनुष्य के प्रयत्नों की क्षणिकता, व्यर्थता और निस्सारता पर चिंतन करता है, और पाता है कि :

जगत है चक्की एक विराट
पाट दो जिसके दीर्घाकार—
गगन जिसका ऊपर फैलाव,
अवनि जिसका नीचे विस्तार;
नहीं इसमें पड़ने का खेद,
मुझे तो यह करता हैरान,
कि घिसता है यह यंत्र महान
कि पिसता है यह लघु इंसान!

और इस स्थल पर पहुंचकर 'हलाहल' का काव्य एक चिंतन-काव्य का रूप ले लेता है, वह 'मधुशाला' के मुक्तक-रूप से भिन्न हो जाता है। चिंतन-सूत्र का अनुसरण करके कवि हमें धीरे-धीरे उन सभी स्थितियों से परिचित कराता है जो जगत की नश्वरता और नाश एवं मृत्यु की अनिवार्यता सिद्ध करती हैं। पाठक को लगता है कि शायद कवि उसी अद्वैतवाद की ओर बढ़ रहा है जो

कवि के छायावादी पूर्वजों ने हिंदी काव्य में प्रतिष्ठित किया था। जब हम पढ़ते हैं :

बड़ा भारी कोई षड्यंत्र
रचा है मेरे चारों ओर,
कि मैं हूँ बाहर भी लाचार,
कि मैं हूँ भीतर भी कमज़ोर।

तो हमें लगता है कि कवि अब आत्म-समर्पण करके मृत्यु-गीत गायेगा या निष्काम भक्ति का प्रचार करेगा। पर कुछ ही देर में हमारी यह भ्रांति दूर हो जाती है। कवि अपने चिंतन-पथ पर साहसपूर्वक आगे बढ़ता है और पाता है कि सारी सृष्टि चाहे नश्वर हो, पर मनुष्य का सच्चा कर्म अविनश्वर है, वही अमरत्व का संगत और सार्थक स्वरूप है। निर्माण चाहे विनष्ट हो जाये पर निर्माण की चाह अमर है, वह मनुष्य के व्यक्तित्व को अमरों से भी श्रेयस्कर बना देती है और लौकिक जीवन को सार्थकता प्रदान करती है :

नहीं उठते थे गृह-प्रासाद
किसी का उठता था व्यक्तित्व;
ढहें, बह जायें गृह-प्रासाद,
अछूता उसका है अस्तित्व।
हुआ करती जब कविता पूर्ण,
हुआ करता कवि का निर्माण।
अमर हो जाता कवि का कण्ठ,
गूँज कर मिट जाता है गान।

यही नहीं, छायावादी पूर्वजों के विपरीत, वह इस स्थान पर आकर प्राकृतिक व्यापारों में भी यही संवेदना मूर्तिमान पाता है. वह देखता है कि सूर्य, चंद्र, धरती, वायु, अग्नि, किरण, निर्झर सब अपने-अपने कर्म में लीन हैं, उन्हें सुख-दुःख की कोई चेतना नहीं है, तब कवि को मनुष्य के गौरव का अनुमान होता है, वह मानव की जय बोल उठता है और इस प्रकार छायावाद के निराशाजनक कुहासे को काटकर एक यथार्थपरक आशावाद का संदेश देता है जो निर्भय कर्म पर टिका है। क्या हुआ जो इंसान छोटा-सा जीव है और मृत्यु से घिरा है, उसकी महानता तो यह है कि वह अमर कामनाओं का धनी है, निरंतर कर्म का स्वामी है :

देखने को मुट्ठी भर धूलि
जिसे यदि फूँको तो उड़ जाए,
अगर तूफानों में पड़ जाए

अवनि-अम्बर के चक्कर खाय।
किन्तु दी किसने उसमें डाल
चार साँसों में उसको बाँध,
धरा को ठुकराने की शक्ति,
गगन को दुलराने की साध!

और इस प्रकार कवि अंत में निराशा के चक्र से निकलकर उस समर्थ एवं गौरवपूर्ण स्थिति पर पहुंच जाता है जहां मृत्यु का भय मिट चुका है; जहां सारी सृष्टि उसके सामने झुक चुकी है और जहां मानव के जीवन के आगे स्वयं हलाहल और मृत्यु परास्त हो चुके हैं :

पहुँच तेरे अधरों के पास
हलाहल काँप रहा है, देख,
मृत्यु के मुख के ऊपर दौड़
गई है सहसा भय की रेख!
मरण था भय के अन्दर व्याप्त,
हुआ निर्भय तो विष निस्तत्व,
स्वयं हो जाने को है सिद्ध
हलाहल से तेरा अमरत्व!

मधु-वंचित कवि की हलाहल से अमृत तक की यह गौरवपूर्ण यात्रा 'हलाहल' में इतने मार्मिक और सचित्र रूप में प्रस्तुत हुई है कि उसका आशापरक स्वर हमें सदा आश्वासन देता रहेगा।

[रचनाकाल 1966, बच्चन के काव्य-संग्रह 'हलाहल' की भूमिका, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

कवि-कर्म की जटिलता बनाम कवि-कर्म का स्खलन
(1966 के काव्य-संकलन)

ज्यों-ज्यों जिंदगी जटिल होती जाती है त्यों-त्यों कवि-कर्म कठिन होता जाता है, क्योंकि भावों की उलझन के सामने अभिव्यक्ति के अभ्यास-सिद्ध अस्त्र भोथरे होते जाते हैं। इस कारण जो कवि अपने कर्म के प्रति पूरी निष्ठा बरतने चलता है उसे निरंतर चुनौती का सामना करना पड़ता है। इस चुनौती से शायद ही कोई इंकार करे—पर कभी-कभी कवि स्वयं ही उससे इंकार करने लग जाता है, या उससे आंखें फेर लेने के बहाने खोजने लगता है। कवि-कर्म से इस स्खलन के कई रूप हो सकते हैं—तनाव के दंश को वहन करने में असमर्थ कवि का उस तनाव से बचने या उस दंश को हलका करने के लिए अतिभावुकता में पलायन, अपने चेतना-जगत् को बरबस एक सीमा में बांध लेने का विकल्प, प्रचलित व्यवहार को दुहराते चले जाने की अल्पदृष्टि या अपनी रचना के प्रति अतिरिक्त ममत्व।

नयी कविता के नाम पर जो ढेरों सामग्री रात-दिन प्रकाशित और वितरित होती है उसमें ऐसी रचनाओं की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है जिसमें कवि-कर्म का यह स्खलन लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आखिरी दिनों में मुक्तिबोध ने यह प्रश्न आग्रह से उठाया था कि नयी कविता जो नयी राहों की खोज में विकसित हुई थी वह स्वयं अपने जाल में उलझ गयी है। उसके सांचे पक्के हो गये हैं। और उसके अनेक कवि उन सांचों की पालिश में ही कवि-कर्म की सार्थकता मानने लग गये हैं। काव्य-यात्रा में ऐसा मोड़ आने पर यह जरूरी होता है कि कवि फिर से अपने औजारों का परीक्षण करे और अभिव्यक्ति के नये और अधिक संभावनायुक्त माध्यमों की खोज करे। विकासशील कवियों में तो यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

इस दृष्टि से सन् 1966 में प्रकाशित कविता-संग्रहों का अध्ययन अपने-आपमें रोचक हो जाता है। सात कवियों द्वारा प्रस्तुत ये आठ काव्य-संग्रह यद्यपि मोटे तौर पर सभी नयी कविता के ही हैं, पर उनमें समाविष्ट रचनाएं इस

चुनौती और उसके प्रति कवि-विशेष की प्रतिक्रिया को विभिन्न रूपों और स्तरों पर प्रकट करती हैं।

तो सबसे पहले सर्वेश्वरदयाल सक्सेना। सबसे पहले यों कि इन आठ संग्रहों के सात कवियों में वे ही पुराने कवि हैं, बाकी छहों इस अर्थ में नये हैं कि इस वर्ष उनके अपने-अपने प्रथम काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। सर्वेश्वरदयाल का यह तीसरा काव्य-संग्रह है। 'काठ की घंटियां' बजाते हुए वे जिस 'बांस का पुल' पर आ खड़े हुए थे उससे उतर कर अब वे 'एक सूनी नाव' में आ बैठे हैं। 'बांस का पुल' के समर्पण में उन्होंने अपने बाद आनेवालों से कहा था : 'निर्भय आगे बढ़ो!' उससे यही ध्वनि मिलती थी कि वे स्वयं भी इस अग्रसरण में भाग लेंगे। यह कौन जानता था कि वे अचानक दूसरा रूपक बांध लेंगे। यों, नाव में बैठना सदा मन-बहलाव का ही आयोजन होता हो ऐसा नहीं है, उसे कभी-कभी उस व्यापार का भी सामना करना पड़ जाता है जिसे तूफान कहते हैं। पर यह नाव तो, लगता है, किसी ऐसी नदी में चल रही है जो अगर 'कभी सूखेगी नहीं' तो कभी उमड़ेगी भी नहीं। इस संग्रह की पचास प्रतिशत कविताओं में उस बेकली और विक्षोभ के दर्शन नहीं होते जिनका सहारा लेकर सर्वेश्वर उठे थे। यह ठीक है कि उनका अपना वैशिष्ट्य एक ओजपूर्ण करुण मुद्रा में समाहित था जिसके कारण 'किरण की बांह' या 'बड़े पंख' की उनकी भावुक मांग गिड़गिड़ाहट बनने से बच जाती थी और 'प्लेटफार्म' से उनका तादात्म्य अथवा 'अपनी बेटी के लिए दो कविताएं' आज के मध्यवर्गीय जीवन का विदग्ध रूप उपस्थित करती थीं। पर जैसा कि नये संग्रह का शीर्षक ही बता रहा है, इधर उनकी राह की तलाश ने अधिकाधिक रूपक की तलाश का रूप ले लिया है, और उनके भावों में एकरसता एवं शैली में एक आलंकारिकता आ गयी है। फल यह हुआ है कि इन कविताओं में सर्वेश्वर के मन की सहजता नहीं मिलती और एक नक्काशीदार आत्मतुष्टि सिर उठाने लगी है। इन कविताओं में बनाव-सिंगार अधिक है, बात पर रूपकों का और एक चिकनी भाषा का मुलम्मा चढ़ाकर प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा अधिक है। इस कारण उनकी अनुभूति कभी दुहराव या विस्तार के कारण और कभी-कभी गीत की-सी आत्म-मुग्धकारिता के कारण वह तीखापन खो बैठती है जो सर्वेश्वर का अपना रहा है। इस राज को उन दो कविताओं में आसानी से पकड़ा जा सकता है जो 'तुमसे' मिलने और बिछुड़ने के बारे में हैं। ये दो कविताएं मिलन और विरह की दो विपरीत अनुभूतियों को एक ही रूपक-शैली में व्यक्त करती हैं और उनकी रूप-रचना इस कदर एक है कि यांत्रिक लग उठती हैं और ऐसा आभास होने लगता है कि सर्वेश्वर अपने को व्यक्त नहीं कर रहे हैं, कविता बना रहे हैं।

हो सकता है, इस छोटे-से विश्लेषण में यह बात स्वयं कुछ एकांगी प्रतीत

हो, क्योंकि सर्वेश्वर की कविता की मर्मस्पर्शिता और आत्मीयता असंदिग्ध है, पर यह कहना इसलिए आवश्यक है कि यह एक ऐसे ठहराव का चिह्न है जिसकी चुनौती की उन्हें अनदेखी नहीं करनी चाहिए। उनका 'समर्पण' :

घास की एक पत्ती के सम्मुख
मैं झुक गया
और मैंने पाया कि
मैं आकाश छू रहा हूँ!

अपनी ऊपरी सरलता और संक्षेप के बावजूद एक ऐसे आभिजात्य और अद्वैतवाद को व्यंजित करता है जो सर्वेश्वर का अपना रंग नहीं है और जो हो-न-हो उन्होंने चेष्टापूर्वक प्राप्त किया है। इसके बरक्स उनका 'वसंत-राग' उनका सही अपना है, निजी है :

पेड़ों के साथ-साथ
हिलता है सिर
यह मौसम अब नहीं
आएगा फिर!

और यह कहना भी जरूरी है कि इस संग्रह की शेष पचास प्रतिशत कविताएं ऐसी हैं जो संग्रह के शीर्षक के बावजूद सर्वेश्वर के रंग को और भी साफ और चमकीला बनाती हैं। यद्यपि उनमें पिछली कविताओं का-सा तनाव नहीं है, पर पूर्वोक्त कविताओं की-सी आत्मलीनता भी नहीं है। ये कविताएं एक सहज खुलेपन से युक्त हैं और इनमें रूप-मोह की बजाय व्यंग्य का पुट मिलता है। और यह चेतना :

एक युद्ध हर क्षण
मैं अपने भीतर लड़ता हूँ—
धरती को बड़ा करने के लिए
और दृश्यों को सुन्दर
सौन्दर्य को उदार करने के लिए
और आस्थाओं को समुन्दर

इस भावना से भरकर जब सर्वेश्वर चलने लगते हैं तो तत्काल उनकी कविता अनुरूप प्रकार से सहज-अकृत्रिम और निरलंकार हो जाती है :

अपने को दोहराते-दोहराते
अब मैं थक गया हूँ,
ताश के पत्तों की तरह

कब तक फेंटता रहूँ विश्वास
और मक्खियों की तरह
उड़ाता रहूँ स्मृतियाँ
. . . .
इस ढाल पर उतर रहा हूँ मैं
अतीत को ढेले की तरह
कमर से साधे!

देखा आपने, वह 'सूनी नाव' फौरन ग़ायब हो गयी!

अपने कुशल शिल्प और खरी अनुभूति के कारण सर्वेश्वर तो फिर भी अपनी रूमानियत को संभाल ले जाते हैं, पर हरीश भादानी इसका प्रयत्न भी नहीं करते और इसलिए उनकी आधुनिकता बड़ी ऊपरी रह जाती है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही लगती है कि उन्होंने एक ही वर्ष में अपने दो काव्य-संग्रह प्रकाशित कर एक साथ नये और पुराने बनने का गौरव प्राप्त किया है। उनके दोनों संग्रहों के शीर्षक 'एक उजली नज़र की सुई' और 'सुलगते पिंड' रूमानियत की ही उपज हैं और उनमें बंद रचनाएं बुरी तरह रूमानी गीतों के अवशेष हैं। सच तो यह है कि 'एक उजली नजर की सुई' का उत्तरार्ध तो विशुद्ध गीतों का संग्रह है ही, पूर्वार्ध में भी बहुत-से गीत हैं जिन्हें न जाने किसे बहलाने के लिए तोड़-मरोड़ कर नयी कविता बनाया गया है। दोनों अर्द्धांशों को अलग करते हुए दो उपशीर्षक भी दिये गये हैं : '1960 के बाद' और '1960 के पहले'। इससे पता चलता है कि कवि उन आलोचकों से प्रभावित होकर, जो 1960 को काव्यधारा के मोड़ का वर्ष मानते हैं, जबरदस्ती अपनी रचनाओं पर उसे लागू करना चाहता है, यद्यपि दोनों खंडों की अनुभूति या अभिव्यक्ति में कोई सार्थक भेद नहीं है। इसी तरह जब भादानी 'अपनी ओर से' भूमिका में कहते हैं कि '60 के बाद के परिवर्तित संवेदन-स्तर की स्वाभाविकता को छांदिकता और संगीतात्मकता की चौखटों-बंधी संवेदना स्वीकार नहीं। स्वाभाविक अभिव्यक्ति में घुली-मिली लय के बाद की संगीत-योजना और पंक्तिबद्धता मात्र प्रयास है, एक नक्काशी है और जिनसे अनुभूति का सहज रूप खंडित होता है, तो एक तो वे यह भूल जाते हैं कि 'अभिव्यक्ति में घुली-मिली यह लय सन् '60 से नहीं, दशकों पहले से आ रही है (वे चाहे अभी जागे हों), और दूसरे यह कि उनका यह कथन निरर्थक है क्योंकि उनकी कविता में इस लय का कहीं प्रयोग नहीं। उनकी गीतनुमा रचनाओं में प्यार की प्यास और जीवन की विषमता के कुछ चुटीले कथन हैं, उनमें राजस्थानी परिवेश की रंगत और भोलापन भी है—पर ये सब मिलकर उन्हें एक ऐसी स्वप्नशीलता देते हैं जो आज के जटिल यथार्थ से कोसों दूर है। इस जटिलता को आत्मसात् कर यदि वे रचना करते तो शायद अपना

निजी वैशिष्ट्य पा जाते, पर उन्होंने ऐसा न करके नयी कविता के कुछ प्रचलित अभ्यास ओढ़ लिये हैं और उनकी अनुभूति का उछलापन और उनकी दृष्टि का बिखराव तुरंत पकड़ में आ जाता है।

भादानी से अत्यंत भिन्न संवेदना है शलभ श्रीराम सिंह की जिनके कविता-संग्रह 'कल सुबह होने के पहले' का शीर्षक यद्यपि एक आदर्शवाद में लिपटा है पर उसमें समाविष्ट अधिकांश कविताएं महानगर कलकत्ता के यथार्थ जीवन को समेटने का प्रयास करती हैं। शलभ (भी कदाचित्) गीत से नयी कविता की ओर आये हैं पर उनमें घटित रूपांतर अधिक आंतरिक है। यह ठीक है कि संग्रह की कई उत्कृष्ट रचनाओं में अतीत-मोह ही ध्वनित है, अपने मूल ग्राम-जीवन के सरल-निश्छल परिवेश की कोमल-मधुर याद (दर्पणों के बीच, अपना गांव, सोभा और मन्नू) पर उनमें व्यंजित ललक सच्ची है और नगर की यांत्रिकता के नेपथ्य में मार्मिक बन जाती है। पर कवि ने वर्तमान को इस अतीत-मोह से मंडित करने की कोई कोशिश नहीं की है, वह उसके खोल से निकलकर नगर-जीवन में शामिल हो जाता है और तब मशीन, लोगों की भीड़, अधूरे-असहाय जीवन की छटपटाहट और एक घुटता हुआ विक्षोभ उसके दृष्टिक्रम में सिमट आते हैं। इन रचनाओं में अभिव्यक्ति की वक्रता है जो बेचैनी का प्रमाण है और जिंदगी की सड़ांध को प्रेषणीय बनाने की क्षमता है। यद्यपि कहीं-कहीं अत्युक्ति अभी कच्चापन प्रकट करती है और कहीं-कहीं कवि मनमानी भी करता मिलता है (जैसे, महज नाम-साम्य से राम के संबंध में किया गया विश्लेषण) पर उसकी मूल अनुभूति यथार्थ से जूझने की है :

क्या किसी के मन में
कभी भी यह विचार नहीं आता कि
इस सड़क को एक सिरे से पकड़ कर
हवा में फटक दें
ताकि यह भीड़ और इस पर का सब कुछ
गर्द की तरह झड़ जाय!

शलभ ने रूमानियत का खोखलापन पहचान लिया है, और नगर-जीवन की घृणित वास्तविकता को उघारने का प्रयत्न किया है। वह यह जान गये हैं कि 'आग की खदानों में उतर रही है यह शताब्दी' और इसलिए 'फाड़ कर फेंक दो इतिहास को और आज की बात करो' :

हमारे हाथों को अब किसी तेज़ धार वाले चाकू
और जलती हुई मशाल की ज़रूरत है!

अगर शलभ अपने शब्दों में कुछ किफ़ायत करना शुरू करें तो शायद कलम ही मशाल बन सके!

कलकत्ते के ही परिवेश का एक और स्वर है किरण जैन का जिनका प्रथम काव्य-संग्रह 'स्वर परिवेश के' भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। संग्रह पर प्रसिद्ध कवि गिरिजाकुमार माथुर की भूमिका है जो कुछ असाधारण बात है; क्योंकि आजकल कवि स्वयं ही अपनी भूमिका प्रस्तुत करने में विश्वास करते हैं। बहरहाल, माथुर ने इस भूमिका में जो कहा है वह कविताओं में भी मिल जाता है—जो और भी असाधारण बात है। किरण जैन का परिवेश गृहिणी का परिवेश है, एक भरे-पूरे घर का परिचित परिवेश, और उनकी आकुलता उसी परिवेश की विषमताओं से जूझती है। इसीलिए जब वे उससे बाहर निकल कर कहती हैं :

जनरल स्ट्राइक में बँधा शहर
कि जैसे तेज़ दौड़ती एक लड़की
यकायक ठोकर खाकर गिर पड़ी हो।

तो वे स्ट्राइक जैसी बृहत्तर घटना की गंभीरता व्यंजित नहीं कर पातीं। हां, कवयित्री के मन का घरेलूपन और कोमलता अवश्य व्यंजित होती है। पर यही दृष्टि 'डिप्रेशन' में गहरी हो जाती है :

संझा के सँवलाये आकाश में
पंख हिलाते कौवों के झुण्ड घिर आए घिरे रहे

काश 'संवलाये' की चिकनाहट का मोह कवयित्री ने छोड़ दिया होता! पर जैसा कि माथुर ने ठीक ही कहा है, यद्यपि कवयित्री के पास कहने को कुछ है जो उसका अपना है, जो तीव्रता से स्वयं अनुभूत है, आरोपित नहीं पर अभी यह अनुभूत 'कुछ' अक्सर कविता बनते-बनते रह जाता है। उसका अपनापन कलात्मक स्तर पर अभिव्यक्त नहीं हो पाता। शायद इसका सबसे बड़ा कारण है—कवयित्री की भाषा जो गद्यात्मकता से मुक्त नहीं हो पायी है। एक कारण यह भी हो सकता है कि उसमें जितनी 'स्पष्टता' है उतनी निर्ममता नहीं। इसीलिए उन्हें वहां अधिक सफलता मिली है जहां दैनिक जीवन के घरेलू चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—जैसे 'तनाव', 'क्षणों की मिठास', 'एक और दिन'।

किरण जैन के संदर्भ में 'गृहिणी' विशेषण बराबर याद रखना पड़ता है पर स्नेहमयी चौधरी को उसकी कोई जरूरत नहीं। उनकी रचनाओं में गृहस्थी की झलक तो अनेक स्थलों पर है पर उनका परिवेश गृहस्थी तक सीमित नहीं है। 'एकाकी दोनों' में एक संवेदनशील प्रबुद्ध नारी-मन आज के जीवन में जो कुछ अनुभव करता है उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। धूप, वर्षा, फूल, पेड़, पक्षी—ये सामान्य सत्य इन कविताओं में घटना का-सा रूप ले लेते हैं क्योंकि स्नेहमयी में बारीक से बारीक भाव को ज्यों का त्यों ग्रहण करने की क्षमता

है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में दैनिक जीवन की एकरसता, ऊब और उदासी बिना किसी अतिशयोक्ति या शब्दाडंबर के व्यक्त हो सकी है। और इस ऊब के पीछे एक विडंबना भी झलक मारती रहती है, एक स्वप्नशील प्यार की परिणति की विडंबना जो खजुराहो की मूर्ति के बिंब में बार-बार उभरती है। यही विडंबना आज के वास्तविक जीवन से घुल-मिल कर कभी एक 'नियमित क्रम' को दोहराने का रूप ले लेती है, कभी कविता की एक टूटी-भटकी पंक्ति का जो 'अब किसी से नहीं जुड़ पायेगी', कभी 'मकड़ी के जाले-सी' उदासीनता का, कभी 'पानी के नीचे जमी रेत' का। पर जो तत्व इन कविताओं को गहरा और कवयित्री के व्यक्तित्व को विशिष्ट बनाता है वह है अपने चारों ओर घिरती आनेवाली जड़ता को चीर कर अपनी सार्थकता पाने की छटपटाहट। यह ठीक है कि अक्सर यह प्रयास किसी बीते दृश्य में लौट जाने का रूप धर लेता है, या प्रकृति को बदलते रंगों में रमने का, पर उसका अंत प्रायः एक वीतराग स्वीकार में ही होता है। लेकिन समर्पण नहीं बनता, क्योंकि मन में प्रश्न उठता है :

एक-दूसरे को प्यार के नाम पर
किया नहीं क्या हमने
सिर्फ़ अपने-अपने को प्यार!

और फिर शंका उठती है :

या मैं ही हर बार
असमर्पित रह जाती हूँ!

यह आत्मालोचन स्वभावतः एक प्रतीक्षा को जन्म देता है :

तब तक
मुझे प्रतीक्षा रहेगी
तुम्हारे वापस लौट आने की
जब तक
मुझमें
एक शिशु जीवित है।

विजयदेवनारायण साही और अशोक वाजपेयी के संग्रहों से पहली बात जो मन में आती है वह यही कि कविता के ये रूप नितांत विशिष्ट हैं। साही का संग्रह 'मछलीघर' अपने नाम से ही अपने को विशिष्ट घोषित करने लग जाता है। साधारण पाठक को भ्रम हो सकता है कि यह किसी उपन्यास का नाम है। सचमुच कविता यहां यथार्थ की कड़ी जमीन फोड़ कर निकली है—इसीलिए उसमें फूटने का वेग और शब्द भी है और उसी की-सी छटपटाहट और

उतावली। उसी के अनुरूप साही की भाषा है, जिसमें एक तनाव है, 'प्रत्यंचा से छूटे तीर का-सा'। रचाव या सजाव की साही को कोई फुरसत नहीं है, इसलिए उनके शब्द कहीं भी अतिरिक्त नहीं और सर्वत्र एक आंतरिक भराव से बंधे हैं। अपनी बात कहने के लिए उन्होंने कई प्रकार के माध्यम अपनाये हैं : पौराणिक कथा (लाक्षागृह), परीकथा (कवि मीडास), दिवा-स्वप्न (खोये हुए यात्री की यात्रा), व्यंग्य-कथा (इसी तरह उम्र भर), फैन्टेसी (अंधेरे गोलार्ध की रात)। अनेक कविताओं में संबोधन का स्वर प्रधान है, और यद्यपि भूमिका की इन पंक्तियों से कि "औरों की तरह मैंने भी भीतर चलते हुए उस आंतरिक एकालाप को पकड़ने की कोशिश की है जो आज के इस अनैतिक और विशृंखल युग में बहुत बड़ी जिम्मेदारी की तरह महसूस होता है" यही सिद्ध होता है कि वह संबोधन आत्म-संबोधन ही है, तथापि कुछ तो निश्चित ही अपर-संबोधन हैं, दो तो घोषित रूप में ही मित्र के नाम पत्र हैं। इन संबोधनात्मक रचनाओं की सारी सार्थकता एकबारगी हाथ नहीं आती, कई-कई बार पढ़ने पर वे अपना रहस्य कुछ-कुछ उद्घाटित करती हैं—और शायद उनमें कुछ ऐसे भी संदर्भ हों जो नितांत व्यक्तिगत हैं—फिर भी उनमें एक चिंतनशील आधुनिक मन आत्म-विश्लेषण की प्रक्रिया से गुजरता नजर आता है, जो अपने परिवेश के ओछेपन और जड़ता से जूझ रहा है और थककर भी हार नहीं मानता, और एक प्रश्न तरह-तरह से उसको मथता ही रहता है। 'स्थिति से यह असंतोष क्यों?' की यह निरंतर अनुगूंज साही की कविता को आज के विक्षोभ का प्रतिनिधि बनाती है। कभी-कभी यह मन प्रकृति के दृश्यों में रमता भी दीखता है। (जैसे वसंत, संध्या और दोपहरी के चित्र) पर उनमें भी एक आत्म-सजग भाव मौजूद रहता है जो दृश्यों में सौंदर्य नहीं सार्थकता खोजता है। वसंत में वह मुक्ति का भाव पाना चाहता है :

बावले वसन्त तुम आए कोंपलों के साथ
वही धूल, वही हवा, वही किलकारियाँ!
मैंने यदि यह सब कृतार्थ हो
खुले हुए कक्ष के झरोखों से
गुज़र जाने दिया हो
तो तुम फिर आना,
फिर आना, फिर आना तुम!

पर आत्मचिंतनशील और विक्षुब्ध-व्यग्र यह मन एक निश्छल करुणा का भी धनी है, एक ऐसी करुणा जो दया अथवा आत्म-दया से नितांत शून्य है। यह समुद्र-चित्र :

समुद्र
कुदता हुआ आया
और घरौंदे उठा कर ले गया!

या, 'दीवारें' का यह आखिरी टुकड़ा :

अजब तरह की है यह कारा
जिसमें केवल दीवारें ही
दीवारें हैं
अजब तरह के कारावासी
जिनकी किस्मत सिर्फ तोड़ना
सिर्फ़ तोड़ना!

अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण साही का 'तुम' चाहे एकालाप ही क्यों न हो, वह एक ही साथ संलाप भी बन जाता है। उसका व्यक्तित्व विशिष्ट होते हुए भी एकांत नहीं है, उसमें समानधर्माओं से एक तादात्म्य की भी कोशिश है जो उसके संघर्ष और प्रयत्न को सामाजिक स्तर पर भी सार्थक बनाती है। और तब यह 'तुम' 'हम' का रूप ले लेता है :

तुम हमारा ज़िक्र इतिहासों में
नहीं पाओगे
और न उस कराह का
जो तुमने आज रात सुनी
क्योंकि हमने अपने को
इतिहासों के विरुद्ध दे दिया है
लेकिन जहाँ तुम्हें इतिहासों में
छूटी हुई जगहें दिखें
और दबी हुई चीख़ का एहसास हो
समझना हम वहाँ मौजूद थे।

अशोक वाजपेयी की मनःस्थिति इससे बहुत अलग है। साही की उतावली या छटपटाहट का उसमें अभाव है, शायद इसलिए कि उसमें संदेशवाहकता की कोई भंगिमा नहीं है, उसमें एक प्रबुद्ध मानस का आत्मीय और अतिशय भावाभिव्यंजन है जो अपने परिवेश के प्रति सजग होते हुए भी अपने व्यक्तित्व में नायकत्व का आरोप नहीं करता। वह नव-वय के विस्मय से पार नहीं हुआ है जो रंग-गंध-स्पर्श में फुरफुरी पाता है। इसीलिए समाज उसमें कोई बाहरी और अमूर्त सत्ता के रूप में उपस्थित न होकर मूर्त व्यक्ति-संबंधों के रूप में पहचाना-पाया गया है, यहां तक कि ईश्वर भी। ये व्यक्ति-संबंध अत्यंत संस्कारी

और शालीन छवियों में प्रतिफलित हुए हैं। जिन्हें रूपायित करने के लिए अशोक ने अपनी एक निजी शब्दावली अन्वेषित की है। कभी-कभी उसके कारण शायद कविता के मूलभाव तक पहुंचने के लिए खासा प्रयास भी करना पड़ता है और कभी-कभी यह भी लग उठता है कि कोई अभिव्यक्ति-विशेष नितांत व्यक्तिगत स्तर पर होकर रह गयी है, पर सामान्यतः अशोक की भाषा बड़ी बारीक, अर्थ-गर्भ और मर्मस्पर्शी व्यंजना में खिल उठती है। यह बहुत जरूरी भी था क्योंकि अशोक के संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' में नयी कविता की भी कुछ नयी संभावनाएं प्रकट हुई हैं। प्रणय की ऐसी मुक्त और बेझिझक अभिव्यक्ति इतने सांकेतिक और संयमित रूप में अन्यथा नहीं हो सकती थी, जिस ताजगी और ताप को उसमें ध्वनित किया जा सका है उसके लिए ऐसी ही निजी और आत्मीय भाषा की जरूरत थी जो सूक्ष्म छटाओं को ग्रहण करने में अपनी चमक अथवा विकलता नहीं खोती। 'पहला चुंबन', 'दुःख तेरे होने का' और 'अवधि' ऐसी ही रचनाएं हैं जिनमें प्रणय का प्रगाढ़ और निबिड़ रंग अत्यंत सूक्ष्म शब्दों में आंका गया है। यह प्रणय छिछली रूमानियत अथवा घुटन-भरी ग्रंथियों से सर्वथा मुक्त, स्वस्थ, प्रबुद्ध, युवा मानस का तन्मय व्यापार है, जो अपने उल्लास में भी संयमित है और अपने आवेश में भी, क्योंकि उसमें निवेदन नहीं आत्म-विनिमय है। ऐसा ही संयम मां को संबोधित उन कविताओं में भी है जिनमें कृतज्ञता और करुणा बड़े ही चुपचाप रूप में घुल-मिल गयी है। इस संयम का वास्तविक रहस्य जीवन का प्रौढ़ अनुभव न होकर एक बौद्धिक अनुशासन का परिणाम है और इसलिए अशोक की कविता निर्द्वंद्व रूप से सुशिक्षित, कलानुरागी युवा-वर्ग की कविता है। संगीत, चित्र और कविताओं के रस-ग्रहण की प्रतिक्रिया से उत्पन्न कविताएं इसका प्रमाण हैं। यद्यपि इन कविताओं का परिवेश अभी छोटा ही है पर उसमें जीनेवाला कवि यात्री है। वह निरंतर यात्रा पर, बदलते दृश्यों और वातावरण पर भाव-प्रवण हो उठता है और इसीलिए उनमें दैनिक जीवन की अनेक 'अक्लांत' छवियां हैं। आजकल चारों ओर से फटे पड़ते और जिम्मेदार चीत्कार के विपरीत अशोक की इन रचनाओं में कसी हुई वीणा-सा तनाव है जो ट्रेन, बस, सड़क, शहर, भीड़ के बीच झनझनाता रहता है :

लोग होंगे
चीरती-चिल्लाती अनगिनत आवाजें होंगी
और मेरे ओठों पर जागेगा
एक प्यारा-सा हलका संगीत
और मैं थिर रहूँगा
एक धमनी की तरह :

यह स्थैर्य अभाव, दुःख या विषमता की उपेक्षा से नहीं जनमा है वरन् इनके बीच अपने अस्तित्व के गहरे और निर्मम बोध से उपजा है जो अपनी पहचान और अपने ईश्वर की तलाश में है।

[रचनाकाल 1967, 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित, 'प्रसंगवश' में संकलित।]

अमृत और विष :
समाज का सप्त-आयामी दर्पण

"कालक्रम रुकता नहीं, नया पुराने की जगह आता ही है। व्यक्ति ही नहीं, विचार भी : व्यवहार और दर्शन भी बदलता है। फिर क्यों यह पीढ़ियों के संघर्ष की चिंता, किस युग की नयी पीढ़ी ने नहीं किया? किस सत्य की आंधी में असत्यों की धूल-धक्कड़ उड़कर जमाने के लोगों तक नहीं पहुंची? पीढ़ियों के संघर्ष में अकेले बेचारे साहित्यिक ही को क्यों दोषी ठहराया जाये। साहित्य तो व्यक्ति और समाज का सप्त-आयामी दर्पण है—जो जहां तक देख ले!'— ये उद्‌गार हैं कल्पित उपन्यासकार अरविंद शंकर के जो अमृतलाल नागर के नये उपन्यास 'अमृत और विष' का केंद्रीय चरित्र है। नागर ने इस उपन्यास में एक ऐसा प्रयोग किया है जो और कुछ चाहे हो या न हो, हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में एकदम नया अवश्य है, उन्होंने अपने केंद्रीय पात्र को उपन्यासकार का रूप देकर उसकी जीवन-कथा तो कही ही है, साथ ही बीच-बीच में उस उपन्यासकार द्वारा रचित एक संपूर्ण उपन्यास भी अपनी कृति में अंतर्भुक्त किया है। इस रूप में, पश्चिम के लिए चाहे यह प्रयोग उतना नवीन न भी हो, हिंदी के लिए यह कला-युक्ति नितांत नवीन है, और इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि लेखक अपने युग के यथार्थ की जटिलता के प्रति अत्यंत सजग है, एवं अपने यथार्थ के एकाधिक आयामों को यथावत् ग्रहण करने के लिए उत्सुक एवं प्रयत्नशील है। 'अमृत और विष' का प्रारंभ उपन्यासकार अरविंद शंकर की षष्टि पूर्ति के समारोह से होता है, जिसके वर्णन में लेखक शीघ्र ही हमें उस हर्षोत्सव के तल में लहराती अरविंद शंकर की हताशा और कुंठा से अवगत करा देता है। सभा भवन में तालियों की गड़गड़ाहट और स्तुतिवचनों के कोलाहल में भी अरविंद शंकर का मानस-कमल कुम्हलाया और कांपता-सा है क्योंकि पारिवारिक दायित्व एवं सृजन की अगति उसे त्रस्त कर रही है। यह त्रास ही अरविंद शंकर को दृष्टि देता है, वह अपने समक्ष उद्‌घाटित जीवन के खोखलेपन को ही नहीं, लगभग एक शताब्दी के इतिहास और सामाजिक

विकास को भी प्रश्न-दृष्टि से देखता है और यह प्रश्न-दृष्टि ही उसकी कृति को रूपायित करती है।

एक दृष्टि से यह कला-युक्ति बड़ी कारगर सिद्ध होती है क्योंकि उसके सहारे नागर सहज ही भारत में अंग्रेजी के आगमन से लेकर स्वतंत्र भारत के चौथे चुनाव से पहले तक के समाज की गतिविधि को समेट सकने में सफल हो जाते हैं। पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के आघातपूर्ण साक्षात्कार ने भारतीय समाज की नीवों को जिस तरह हिला दिया था, हमारे परिचित चिर-प्रचलित सत्य जिस प्रकार एकाएक झूठे पड़ गये थे, व्यवसाय-वृत्ति ने लोक-मानस को जिस प्रकार व्यस्त और विक्षुब्ध कर दिया था, दार्शनिक और सामाजिक मान्यतायें जिस प्रकार ओछी, व्यर्थ और अवरोधक सिद्ध हो गयी थीं, उनका एक नख-चित्र देने में नागर को इस कला-युक्ति ने काफी मदद दी है। अपनी जीवन-चर्या की ऊहापोह करते-करते अरविंद शंकर अपने पूर्वजों की कथा कहने लग जाते हैं और भारत-जीवन में मध्ययुग एवं वर्तमान युग की संधिवेला के रंगों को प्रतिबिंबित करते हैं। यह उपन्यास का एक आयाम है। दूसरा आयाम है अरविंद शंकर द्वारा रचित वह उपन्यास जो नागर ने अपने उपन्यास में अंतर्भुक्त किया है और जो वर्तमान समाज की हलचल और उथल-पुथल को वर्तमान के ही स्तर पर अंकित करता है। यह समाज स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत का शहरी समाज है जिसमें व्यक्ति के मन पर से आदर्शों का पानी उतरता जा रहा है, राजनीतिक नारे थोथे होते जा रहे हैं, और आर्थिक कष्ट, अभाव एवं त्रास के कारण जनसाधारण अत्यंत कुंठित और निराश अनुभव करता है। क्षुद्र स्वार्थों एवं भ्रष्ट आचरणों ने इस समाज को इतना विश्रृंखलित और दिशाहीन कर दिया है कि युवा-वर्ग अपने-आपको निस्सहाय और अकेला अनुभव करता है। वह जान चुका है कि हर प्रचारित सिद्धांत धोखे की टट्टी है, हर नेता स्वार्थी और पद-लोलुप है और हर योजना किसी एक ही व्यक्ति अथवा क्षुद्र वर्ग के एकांत लाभ के लिए प्रस्तावित है। इन दो आयामों को साथ-साथ बढ़ाकर नागर ने 'अमृत और विष' द्वारा अपने समाज का अत्यंत विस्तृत और विवरणपूर्ण महाचित्र रचने का प्रयत्न किया है। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक नगर के एक मोहल्ले को अपना केंद्र बनाकर न जाने कितने परिवारों की वंश-गाथा और कितने पात्रों की झांकियां प्रस्तुत की हैं। एक मजदूर-वर्ग को छोड़कर प्रायः सभी वर्गों के प्रतिनिधि चरित्र इस बृहद उपन्यास में आ समाये हैं। नवाबजादे और ताल्लुकेदार, सेठ और उद्योगपति, प्राध्यापक और क्लर्क, दूकानदार और मुनीम, पंडे और पुरोहित, अफसर और पुलिस, डाकू और गुंडे, विद्यार्थी और बच्चे सबको नागर ने अपनी कथा में स्थान दिया है। ऐसा ही वैविध्य नारी-चरित्रों के चित्रण में भी है। रखैल और वेश्याएं, बड़ी-बूढ़ियां और बालिकाएं, ऊंचे घराने की विलासिनियां और आत्मनिर्भर समाज-सेविकाएं, कुलटाएं और प्रेमिकाएं, मुक्तायें और गृहिणियां सब अपने-अपने स्थानों पर उपस्थित मिलती हैं। प्रेमचंद के उपरांत नागर पहले हिंदी उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने समाज के व्यक्तियों को पूरे वैविध्य के साथ अंकित किया है। इसमें संदेह नहीं कि उनके पूर्ववर्ती

उपन्यास 'बूंद और समुद्र' में भी हमें ऐसी ही विविधता के दर्शन हुए थे, पर तुलना करने पर 'अमृत और विष' इस हिसाब से इक्कीस ही बैठता है।

दो कथा-सूत्रों के इस समानांतर विकास की एक विशेषता यह भी है कि हमें कुछ प्रमुख पात्रों के दो-दो प्रतिरूप देखने को मिलते चलते हैं। अरविंद शंकर अपनी आत्मकथा में अपने अतीत और वर्तमान के परिचितों को प्रेक्षेपित करते हैं और फिर यह भी स्पष्ट करते चलते हैं कि कौन-सा पात्र उनके उपन्यास में किस रूप में समाविष्ट होता चलता है। इस प्रकार नागर ने इन दो भिन्न-स्तरीय कथाओं को एक अन्विति प्रदान करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः लेखक का मूल उद्देश्य यही जान पड़ता है कि वह अंतर्भुक्त उपन्यास के माध्यम से अपने केंद्रीय चरित्र अरविंद शंकर की ही भावनाओं एवं अनुभूतियों को निरूपित कर दे और संपूर्ण उपन्यास अपनी समग्रता में अरविंद शंकर के व्यक्तित्व के समस्त पहलुओं के उद्घाटन का रूप ले ले। यदि कृति में ऐसी किसी अन्विति का प्रयत्न न हो तब इन दो कथासूत्रों को समानांतर रूप में विकसित करने का और प्रयोजन नहीं हो सकता। अरविंद शंकर के शब्दों में नागर ने साहित्य में जिन पूर्वोद्धृत सप्त-आयामों का उल्लेख किया है वह भी इस प्रयत्न की ओर संकेत करता है और बीच-बीच में अपनी कृति पर अरविंद शंकर जो टिप्पणी और व्याख्या प्रस्तुत करते चलते हैं उसका भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

तथापि 'अमृत और विष' को पूरा पढ़ चुकने पर पाठक को इस अन्विति का कोई तीखा अथवा वास्तविक बोध नहीं हो पाता, और हमारी दृष्टि में 'अमृत और विष' की यही सबसे बड़ी असफलता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अरविंद शंकर विश्वसनीय पात्र है, नागर ने बड़े परिश्रम से उसके पूर्वज़ों को मूर्त्त किया है और उसके संघर्षरत जीवन एवं उसकी पारिवारिक समस्याओं को भरपूर उभारा है। इसी प्रकार अरविंद शंकर द्वारा रचित उपन्यास जो 'अमृत और विष' में अंतर्भुक्त है और जिसका कोई नामकरण न करके लेखक ने पाठक-आलोचक के लिए एक हलकी-सी असुविधा उत्पन्न कर दी है, अपने समाज का सब मिलाकर बड़ा सटीक और यथार्थ चित्र है। पर अपने-अपने स्तरों पर इनका औचित्य सिद्ध करने के लिए जिस गहरी एवं अनिवार्य अंविति की आवश्यकता थी उसका इस उपन्यास में निर्वाह नहीं हो सका है। नागर ने उसका प्रयत्न तो अवश्य किया है पर उसकी स्थापना केवल शब्द-कथन अथवा आख्यान के ही रूप में हुई है, अंतर्भुक्त उपन्यास कहीं पर भी अरविंद शंकर को प्रतिबिंबित नहीं करता। यह ठीक है कि स्वयं अरविंद शंकर भी उसी प्रकार नागर की ही सृष्टि है। जिस प्रकार उनका तथाकथित अंतर्भुक्त उपन्यास—और दोनों पर नागर की शैली एवं व्यक्तिगत विशेषताओं की अकाट्य छाप है, पर दो भिन्न कथासूत्रों के समानातर समावेश के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह अत्यंत आवश्यक था कि अंतर्भुक्त उपन्यास अरविंद शंकर के किसी अदृष्ट अथवा तलस्थित पहलू का प्रतिबिंब बनकर ही उपन्यास में स्थित होता। यह कि अरविंद शंकर ने एक प्रकाशक को वचन दे रखा है कि वे एक उपन्यास लिखेंगे, कि वे रवींद्रनाथ की भांति निरंतर लिखते रहने में विश्वास

करते हैं, और इसलिए अपने कुछ परिचितों का रूप बदल कर एक उपन्यास की रचना कर देते हैं, इस प्रकार के लेखन-व्यवहार के लिए पर्याप्त तर्क नहीं है। ऐसी व्याख्या उस अंतर्भुक्त उपन्यास की भूमिका तो बन सकती थी, पर उसके साथ समानांतर चलते रहने के लिए उसमें कुछ अधिक गहरी कलात्मक आवश्यकता का तर्क उपस्थित करना लेखक के लिए उचित था। यहां हमें मुक्तिबोध का एक काव्य-प्रयोग याद आता है जिसमें उन्होंने प्रकटनीय एवं अप्रकाशनीय दो स्तरों के भावों को एक साथ परंतु समानांतर रूप से समाविष्ट किया है। पहली पंक्ति में वे उस भाव को व्यक्त करते हैं जिसे कवि का मन प्रकट करने को तैयार है, और दूसरी पंक्ति में कोष्ठकों में वे उस भाव के तल में स्थित उस सत्य को प्रकट करते हैं जिसे व्यक्त करने के लिए कवि का मन तैयार नहीं होता। उनके इस प्रयोग की सार्थकता यही है कि वे उसके माध्यम से बाह्य शब्दाडंबर के नीचे दमित वस्तुस्थिति का अभिज्ञान कराने में समर्थ हो जाते हैं। नागर ने जिस दुहरे कथ्य की कलायुक्ति को अपनाया है वह ऐसे ही किसी उद्देश्य में अपनी सार्थकता पा सकती थी। हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि नागर अरविंद शंकर के चित्रण में उसके बाह्य जीवन का अंकन करते और उसके द्वारा रचित उपन्यास में उसके स्वप्नों, आशा-निराशाओं और अनगूढ़ अनुभूतियों को जिन्हें व्यक्ति अपने एकांत में ही देखता-समझता है, तो यह कलायुक्ति कितनी कारगर हो सकती थी। ऐसे प्रयत्न के अभाव में यह युक्ति-मंत्र एक नूतनता का आभास देकर रह जाता है और ऐसे भी पाठक मिल सकते हैं जिनके लिए वह रसास्वादन में विघ्न बन जाता हो। ऐसी किसी सार्थकता के अभाव में ये दो स्तर एक ही सत्य के दो आयाम नहीं बन पाते, वरन् दो असंबद्ध कथा-सूत्र ही बने रह जाते हैं और उपन्यास में जो अतिरिक्त प्रभाव की संभावना थी वह प्रतिफलित नहीं हो पाती।

जो हो, यदि इन दो कथा-सूत्रों की अन्विति का ध्यान छोड़ दें तो उपन्यास अपने सामान्य सामाजिक रूप में सामने उजागर होता है, और एक बार इस निराशा से उबर जाने पर उसके अनेक गुण हमें प्रबल रूप में आकर्षित करते हैं। अरविंद शंकर का चरित्र स्वतंत्र भारत में निष्ठावान लेखक की विवशता और व्यर्थता को बड़ी करुणा से व्यंजित करता है। जीवन-भर संघर्ष में रत रहने के उपरांत भी लेखक न तो आर्थिक चिंताओं से मुक्त हो पाया है न वह अपने समस्त मनोबल से सृजन-रत रह सका है। प्रतिपल बदलते समाज की जटिलताएं उसका ध्यान भंग करती हैं, पारिवारिक दायित्व उसकी कमर तोड़ते चलते हैं और उसके परिवेश में व्याप्त लोलुपता, स्वाधीनता एवं सिद्धांतहीनता उसे पग-पग पर विचलित करती हैं। नागर ने अत्यंत कुशल एवं सधे हाथों से अरविंद शंकर के निजी जीवन की यह झांकी हमारे सम्मुख उपस्थित की है, और समस्त विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए हम उसे अपने सृजन-कर्म में शरण एवं शांति पाते देखकर उसकी निष्ठा और लगन से गहरे रूप में प्रभावित होते हैं। उसके परिवार के अन्य सदस्यों का, विशेष रूप से

उसकी जीवन-संगिनी और सुख-दुख की साथिन माया का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता से किया गया है। माया ने लेखक-पत्नी के नाते जीवन की कड़वाहट को हंसकर झेला है और कठिन-से-कठिन समय में भी अपने पति को विचलित नहीं होने दिया है। अपनी परिस्थितियों से लड़ते हुए आस्थावान लेखक का यह सशक्त चित्रण 'अमृत और विष' का केंद्रीय आकर्षण है। लेखक के मन में आशा-निराशा के जो तूफान उठते हैं, सांसारिक असफलता के कारण उसका अस्तित्व जिस प्रकार डगमगाने लगता है, समाज में गूंजते दार्शनिक प्रश्न जैसे उसे मथते रहते हैं, वे सब इस पात्र में नागर ने समा दिये हैं। उसी की यह अनुभूति है कि एक बेटे की यशोगाथा के साथ-साथ दूसरे बेटे की कलंक-गाथा अमृत और विष के समान प्राणों में घुलती है, जिस पर नागर ने उपन्यास का नामकरण किया है। यही नहीं, वह स्पष्ट कहता है कि "मेरी किशोरावस्था, सारी नौजवानी और जवानी विद्रोह में ही आस्था रखकर बीती है। मुझे अभी तक अपने सुख-दुख में कभी ईश्वर या भाग्य के सहारे की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।" आगे चलकर घटनाएं अरविंद शंकर के इस संकल्प को डगमगाने लग जाती हैं, पर अंत तक वह इन क्षणिक दुर्बलताओं से जूझता अपने कर्मपथ पर अविराम चलते रहने में ही सार्थकता पाता है : "जड़-चेतनमय, विष-अमृतमय, अंधकार-प्रकाशमय जीवन में न्याय के लिए कर्म करना ही गति है। मुझे जीना ही होगा, कर्म करना ही होगा।"

अरविंद शंकर के लिए कर्म है सृजन और वह अपने कर्म के प्रमाण-स्वरूप इस उपन्यास में एक पूरा उपन्यास रचता चित्रित किया गया है। यह उपन्यास अरविंद शंकर के, और प्रकारांतर से अमृतलाल नागर के प्रस्तुत परिवेश का अत्यंत विस्तृत, बहुरंगी और घटना-बहुल चित्र है जिसमें पग-पग पर नये-नये चरित्र उभरकर समाज की गति और विविधता को रेखांकित करते हैं, वस्तुतः यह एक समग्र चित्र न होकर एक विशाल चित्रावली है, जिसका प्रत्येक चित्र नागर के चिर-परिचित शिल्प-कौशल का प्रतिफल है। अपने आसपास के बहते-उबलते जीवन को उसकी रंग-भरी वास्तविकता में सजीव कर देने में नागर बेजोड़ हैं। 'अमृत और विष' में उनकी यह कला और भी परिपक्व एवं परिमार्जित रूप में प्रकट हुई है। यह सही है कि 'अमृत और विष' में ऐसा कोई चरित्र नहीं उभर पाया है जो 'बूंद और समुद्र' की ताई के समान स्मरणीय हो, परंतु रमेश के पिता, पुत्ती गुरु ताई से कुछ ही छोटे रह ज़ाते हैं। इस तुलना को यदि भुला दें तो पुत्ती गुरु का चरित्र अत्यंत मार्मिक एवं जीवंत सिद्ध होता है। भांग का उनका व्यसन, उनकी भगवद्भक्ति, प्राचीन संस्कारों में उनकी आस्था, नवीन मान्यताओं के प्रति पहले विक्षोभ और फिर विवश होकर उनसे समझौता—नागर ने उनके चरित्र की ये विशेषताएं अत्यंत सहज और स्वाभाविक रूप से अंकित की हैं और पुत्ती गुरु किसी लेखक की कृत्रिम कल्पना न होकर स्वतंत्र और वास्तविक लगने लग जाते हैं। रद्धूसिंह (रानीबाला के पिता) का चित्रण भी सधे हाथ से किया गया है यद्यपि सुमित्रा और उनका गार्हस्थिक व्यवहार कुछ दूर बाद वास्तविक न होकर फार्मूलाबद्ध लगने लगता

है। इनके अतिरिक्त, बाबू सत्यनारायण, हलवाइन दादी, लाला रूपचंद, चोइथराम, सहदेई आदि-आदि न जाने कितने छोटे-बड़े पात्र हैं जो लखनऊ नगर के एक अंचल को हमारी आंखों के सामने जीवित-जागृत कर देते हैं और शहरी समाज के ताने-बाने को समझने में सहायता देते हैं।

अंतर्भुक्त उपन्यास में यों तो अनेक प्रसंग हैं जो समय-समय पर उभरते चलते हैं, पर मुख्य कथा-प्रसंग दो ही हैं—एक रानी-रमेश और दूसरा लच्छो का। हमें यह मान कर अच्छा लगता है कि रमेश और लच्छो इस अंतर्भुक्त उपन्यास में अरविंद शंकर के दो बेटों के ही प्रतिरूप बन कर आए हैं। पर इस मान्यता के लिए उपन्यास में कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है। रमेश और लच्छो की जीवन-चर्या ही एक प्रकार से अंतर्भुक्त उपन्यास को गति देती रहती है। रमेश और लच्छो दोनों मित्र हैं और मुहल्ले के युवा-मंडल के महत्त्वपूर्ण सदस्य। वे अपने सामान्य जीवन में जिस प्रकार रूढ़ियों, विरोधों और विषमताओं से जूझने पर विवश होते और उनकी आवश्यकताएं उन्हें जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पथों पर चलने के लिए विवश कर देती हैं, उसी का अनुसरण उपन्यास की मूल कथावस्तु है। रमेश अपने आदर्शों के लिए कष्ट सहने और संघर्ष करने में विश्वास करता है, अपनी बहन की शादी के अवसर पर वह अपने पड़ोस की विधवा युवती रानी की ओर आकर्षित होता है और अंत में उससे विवाह करने में सफल होता है। इसके लिए वह स्वयं तो अपने परिवार से टक्कर लेता ही है, रानी को भी संघर्ष की प्रेरणा प्रदान करता है और 'इंडिपेंडेंट' पत्र के संपादक खन्ना साहब और उनकी पत्नी 'बहनजी' की सहायता से अपना स्वतंत्र पथ निर्मित करने में सफल होता है। उधर लच्छो घटनाचक्रवश अपनी पढ़ाई बीच से ही छोड़कर खन्ना साहब के मित्र एवं 'इंडिपेंडेंट' पत्र-शृंखला के सर्वेसर्वा डा. आत्माराम का सहायक निजी सचिव बनकर 'सारस लेक' पहुंचता है। डा. आत्माराम उच्च आदर्शवादी एवं स्वप्नशील व्यक्ति हैं, जिनकी प्रतिष्ठा देश-भर में व्याप्त है, पर जो अपने मातहतों से वैसा सहयोग नहीं पाते जिसकी उन्हें आशा है। इसीलिए उनकी सदाशयता एवं महत्वाकांक्षा पूरी तौर पर नहीं फलती और वे अंत तक अपने सपनों को ही देखते रह जाते हैं। आत्माराम के चरित्र में नागर ने स्पष्ट भी भूतपूर्व प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व को व्यंजित करने का प्रयास किया है। इसीलिए वे 'इंडिपेंडेंट' की व्यवस्था को 'गणतंत्र' कहते मिलते हैं, आत्माराम के 'समाजवाद' की व्याख्या करते मिलते हैं, और 'सारस लेक' का वर्णन किसी राष्ट्र के सचिवालय की भांति करते दिखायी देते हैं। यह सांकेतिकता महत्त्वपूर्ण है, इसमें संदेह नहीं, पर वह एक प्रकार से उपन्यास की कथावस्तु को कमजोर भी बनाती है, क्योंकि एक पत्र-शृंखला की व्यवस्था और एक राष्ट्र की व्यवस्था में पर्याप्त अंतर होता है और दोनों में समरूपता की व्यंजना के प्रयत्न से वास्तविकता का पल्ला हलका पड़ जाता है। लच्छो 'सारस लेक' में अविवाहित मुक्त युवक के रूप में पहुंचकर वहां के गलित जीवन और राजनीतिक दांव-पेंच का शिकार होता है और यद्यपि वहां से उसे एक बार सोवियत रूस की यात्रा करने का भी अवसर प्राप्त होता

है, पर वह अनुभव भी उसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं करता। अंततः सारस लेक से निकाला जाकर वह अपनी जीविका के लिए उद्योगपतियों के लिए अवांछनीय और अनुचित कर्म करने को विवश होता है। अंत में खोखा मियां के भीषण षड्यंत्र से घबरा कर वह फिर आत्माराम की शरण में लौट आता है। इस कथासूत्र में नागर ने अपनी अनोखी सूझ-बूझ से अनेक छोटे-बड़े कथा-प्रसंग बुन दिये हैं, जो नगर के तत्कालीन जीवन की हलचल को उसकी अनंतरूपा विविधता में उजागर करते हैं और देश में व्याप्त असंतोष, कुंठा एवं विक्षोभ को स्वर देते हैं।

विशेष रूप से सामूहिक जीवन के चित्र अंकित करने में नागर को अनोखी सिद्धि प्राप्त है, और इस अंतर्भुक्त उपन्यास में कई स्थलों पर ये चित्र इतने मार्मिक और समग्र रूप में उपस्थित हुए हैं कि सदा के लिए मन पर अंकित हो जाते हैं। मन्नो की बारात का वर्णन तो इतना सजीव है कि उसे अविस्मरणीय कहा जा सकता है। बारातियों के आलाप-व्यवहार और दंभ का इतना वास्तविक अंकन आज तक हिंदी उपन्यास में नहीं हुआ। उसके अतिरिक्त कीर्तनिया मधुरजी की गोष्ठी का वर्णन, बारहदरी के लिए छात्रों के संघर्ष का चित्रण, गोमती की बाढ़ का दृश्य और सांप्रदायिक दंगे का प्रसंग—सबमें नागर के सूक्ष्म निरीक्षण और चुटीली शैली का कमाल मिलता है। वस्तुतः नागर मोहल्ले के जीवन के अनुपम विशेषज्ञ हैं और सामान्य पात्रों की छोटी-छोटी विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों उतार देने में उनकी कला सबसे अधिक खिल उठती है। 'अमृत और विष' में नागर की यह विशेषता 'बूंद और समुद्र' की ही भांति अत्यंत उच्च स्तर पर प्रकट हुई है। उसी के सहारे उन्होंने जीवन की वास्तविकता को उसके नाना रूपों में सचाई से ग्रहण किया है। समाज से तिरस्कृत हलवाइन दादी का त्याग लें या शरणार्थी और बेकार पिता की अभावग्रस्त बेटी गोपी के स्वैराचार को लें, बाबू सत्यनारायण की कष्ट कथा को लें या अपने धन के बल पर बारहदरी हड़पने की हौंस रखनेवाले लाला रूपचंद की चालबाजी को लें—सबमें नागर ने यथाथ जीवन को गहराई से पकड़ा है और उनके द्वारा व्यक्त मान्यताओं एवं उद्देश्यों की छानबीन की है। और यद्यपि कष्ट एवं अभाव से ग्रस्त व्यक्ति मात्र को नागर अपनी सहानुभूति देते हैं, तथापि वे इसे स्पष्ट करना कभी नहीं भूलते कि वे शोषण एवं स्वार्थ के विरुद्ध हैं और न्याय एवं समता के पक्ष पर हैं। यही कारण है कि वे छात्रों के संघर्ष में अपनी सहानुभूति स्पष्ट रूप से छात्रों के प्रति व्यक्त करते हैं (यद्यपि सच्चे यथार्थवादी कलाकार की भांति वे उसके हिंसात्मक पहलू का चित्रण करना नहीं भूलते।) और अंतर्जातीय विवाह की सफलता चित्रित कर वे प्रेमचंद से एक कदम आगे आ जाते हैं। इसी प्रकार सांप्रदायिक दंगों में वे पूंजीपतियों का कुचक्र देखते हैं और राजनीतिक नेताओं के क्षुद्र स्वार्थों की पोल खोलते हैं। अपने संघर्षरत और विक्षुब्ध समाज का ऐसा सच्चा और सजीव चित्रण स्वतंत्र भारत में पहली बार देखने को मिला है।

तथापि सामाजिक एवं सामूहिक चित्रण में नागर को जो कौशल प्राप्त है,

वह वैयक्तिक चित्रण में नहीं। इसमें संदेह नहीं कि समाज की विषमता के मूल में आर्थिक कष्ट और अभाव ही प्रमुख हैं, पर व्यक्ति का जीवन मात्र उन्हीं का प्रतिरूप नहीं होता। व्यक्ति-मन की जटिलताएं और भी अनेक रूप धारण करती हैं, और आज हमारे चारों ओर जो विक्षोभ एवं अगति दिखायी पड़ रही है, वह केवल आर्थिक सुरक्षा से ही मिट जानेवाली नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि नागर ने अपने इस उपन्यास में जीवन के इन पहलुओं पर भी दृष्टि डाली है, पर उनके चित्रण में वे वैसी सफलता नहीं पा सके हैं जैसी सामूहिक जीवन के चित्रण में पा सके हैं। उदाहरण के लिए, 'सारस लेक' के वातावरण को उन्होंने जिस सरल काले रंग से रंगा है, उच्च वर्ग का जीवन वैसा सरस नहीं होता। उमा माथुर का स्वार्थवश देह-दान सत्य हो सकता है, पर उसकी प्रक्रिया ऐसी सीधी-सपाट नहीं होती, जैसी नागर ने अंकित की है। इसी प्रकार जो रमेश-रानी अपने परिवेश से विद्रोह करके मिलनसूत्र में बंधे हैं, वे अपने मिलन की पहली रात उस संघर्ष के संबंध में, अथवा अपने सपनों के संबंध अथवा अपने मिलन पर हर्ष का एक शब्द भी व्यक्त नहीं करते। यही नहीं, सामान्यतः 'अमृत और विष' में नागर ने संपन्न और उच्चवर्गीय व्यक्तियों को जिस प्रकार काले रंग से चित्रित किया है, वह पिछले काल के प्रगतिशील लेखन की ही याद दिलाता है। उसकी सदाशयता पर शायद ही किसी को आपत्ति हो, पर यथार्थ को ऐसा इकरंगा रूप देना कलाकार की कमजोरी ही व्यक्त करता है। यह द्रष्टव्य है कि पुत्ती गुरु के निर्धन होने के कारण नागर उनके पुराणपथी विचारों के विरुद्ध होने पर भी उन्हें अपने मन की सहानुभूति दे पाते हैं, पर लाला रूपचंद अथवा खोखा मियां को वैसी सहानुभूति से वंचित रखते हैं। खोखा मियां को तो नागर ने प्रायः राक्षस का ही रूप दे डाला है जो डा. आत्माराम को मटियामेट कर डालने की अपनी योजना अपनी डायरी में नोट करता मिलता है, और किसी युद्धरत सेनापति की भांति एक साथ पांच-छः नगरों में 'इंडिपेंडेंट' के दफ्तरों में आग लगवा देता है। अंतर्भुक्त उपन्यास का यह अंश नितान्त जासूसी 'थ्रिलर' अथवा फिल्मी ढंग से लिखा गया है और अन्य स्थलों पर उपलब्ध यथार्थपरक चित्रण से तनिक भी मेल नहीं खाता। इसी प्रकार, यद्यपि नागर ने यथावसर उपन्यास में युवा पोढ़ी के विद्रोह को भी ध्वनित किया है और अनास्था एवं असुरक्षा के उस वातावरण को भी जो अकेलेपन की चेतना उत्पन्न करता है, पर ये स्थल भी विश्वसनीय नहीं बन सके हैं। वस्तुतः नागर ने अपनी कृति में समाज के बाह्य जीवन को ही गहराई से देखा है, व्यक्ति के अंतर्मन की जटिलता को वे नहीं देख सके हैं। 'अमृत और विष' में कस्बाई जीवन तो भरपूर है, पर उस यंत्र-बद्ध महानागरीय जीवन का कोई लेश नहीं है जिसकी पीठिका पर अकेलेपन की बात संगत लग सके।

अंत में एक बात शैली के संबंध में। नागर में प्रवाहपूर्ण व्यंग्यमयी चुटीली शैली अब अपना उपमान आप ही है। विशेषतः सामान्य जनों की बातचीत और कथोपकथन में प्रयुक्त उनकी लच्छेदार भाषा और बोलचाल की यथार्थ

[illegible] है। 'अमृत और विष' में ऐसे स्थल पग-पग पर मिल जाते हैं जहां उनकी लेखनी का यह प्रवाह हमें अनायास अपने साथ बहा ले जाता है। पर यह कहना भी उचित जान पड़ता है कि अंततः यह शैली कृति को एक रिपोर्ताज की-सी सतही वक्रता तो देती है, पर सूक्ष्म चित्रण एवं गंभीर चिंतन के समय वह उथली लगने लगती है। यह सही है कि नागर ने अरविंद शंकर वाले कथासूत्र में इसीलिए अपेक्षतया सावधानी बरती है, पर अंतर्भुक्त उपन्यास में कई स्थल ऐसे हैं जहां उनकी यह अलमस्त एवं फक्कड़ भाषा-शैली सहानुभूति की धारा को बांध देती है, और वर्णित पात्र के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाती। यही नहीं, उसका समान एक-तार प्रयोग पात्रों की विविधता को भी धुंधला बनाता है और उनके अभिज्ञान में कमी उत्पन्न करता है।

[रचनाकाल 1967, 'आलोचना' अक्टूबर-दिसंबर 1968 में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

खुले हुए आसमान के नीचे

अपने मन की सूक्ष्म अनुभूतियों को सचाई और मार्मिकता से प्रकट करने के लिए कवयित्री कीर्ति चौधरी को पिछले दशक में अपने पाठकों और समीक्षकों से सहज प्रशंसा प्राप्त हो चुकी है और 'तीसरा सप्तक' एवं 'कविताएं' की उनकी रचनाओं में हमें एक ऐसी सादगी और निष्ठा के दर्शन हुए थे जो नितांत प्रीतिकर थी। पर प्रस्तुत संग्रह 'खुले हुए आसमान के नीचे' की कविताएं हमें वैसा कोई तोष नहीं दे पातीं। इसका क्या कारण है? क्या अधिकांश कविताओं में बरबस अपनाये जानेवाला पुरुष-स्वर हमें रस-ग्रहण में बाधा पहुंचाता है? संभव है कि यह भी एक कारण हो क्योंकि जिस प्रकार की आत्माभिव्यक्ति कीर्ति चौधरी का लक्ष्य और स्वभाव है उसमें यह स्वर-परिवर्तन बनावटी लगता है। पर यही एकमात्र अथवा महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है। हम कुछ कष्ट और कुछ निराशा से यह लक्ष्य करते हैं कि कवयित्री अपने इस संग्रह में एक अत्यंत संकुचित और निजी घरेलू जिंदगी के उतार-चढ़ावों को बड़े आत्मलीन और मुग्ध भाव से उजागर करती है जो पाठकों को कोई संगति अथवा सार्थकता नहीं दे पाते। यही कारण है कि इस संग्रह की बहुत-सी कविताएं डायरी-जैसी जान पड़ती हैं यद्यपि उनमें डायरी का-सा खुलापन नहीं है, दूसरे को दिखाने के लिए लिखी गयी डायरी की-सी संवार और सावधानी है। आज की जिंदगी में प्रबुद्ध और भावुक युवा-वर्ग के लिए जो तनाव और जो चुनौतियां कदम-कदम पर मिलती हैं उनकी तो इस संग्रह में कोई झलक है ही नहीं; कवयित्री की आत्मलीनता इस हद तक बढ़ गयी है कि बहुत-सी कविताओं में तो वे लौटकर उस छिछली गीत-विधा की ओर मुड़ गयी है जिसे वे पहले ही छोड़ चुकी थीं। यही नहीं प्राकृतिक दृश्यों और प्रकृति के व्यापारों के प्रति कवयित्री का जो रुख है वह भी बीती हुई कविता के तेवरों की याद दिलाता है। इसमें संदेह नहीं कि इन कविताओं में अपने-आपसे निराशा और अपने जीवन में घिरती अपनी उदासी के प्रति प्रश्नात्मक दृष्टि अवश्य है, पर यह दृष्टि एक विगत युग की वायव्य और अति भावुक दृष्टि है, वर्तमान तनावों से जूझती-उलझती दृष्टि नहीं है। कुछ कविताओं में मसीहाई की लटक भी उसी का अनुषंग है। अपनी समग्रता में ये कविताएं पूरे मन से अथवा उत्कट प्रेरणा से लिखी गयी कविताएं नहीं

लगतीं, घरेलू धंधों से फुरसत पाकर अथवा ऊब कर मन-बहलाव के रूप में लिखी गयी हैं। उनमें कहीं भी हमें आज का बेचैन, संत्रस्त और परिवर्तन का भी मन हाथ नहीं आता। यही कारण है कि इन कविताओं की भाषा छिछली और बोदी पदावलियों से भरी हुई है, घिसे-पिटे प्रतीकों और रूपकों में व्यक्तित्व की विशेषताएं भी दब गयी हैं। जैसा कि स्वयं कवयित्री ने कहा है :

कृपण हो गई है
वृत्ति भावों की
उठते नहीं हैं अब अनायास।

संक्षेप में, प्रस्तुत संग्रह में कवयित्री अपना कोई वैयक्तिक वैशिष्ट्य स्थापित नहीं कर पाई हैं। अपितु वे कुछ दिनों पहले तक प्रचलित 'नयी कविता' की उस सामान्यता को ही दुहराती दिखायी देती हैं जिसे पीछे छोड़कर आज का कवि अपने सामने प्रस्तुत नये तनावों से जूझ रहा है।

[दिसंबर 1969 में
'कादंबिनी' में प्रकाशित।]

एक कविता वर्ष : 1970

एक दिन था जब नयी कविता ने हिंदी कविता की पहचान ही बदल दी थी। उसके उठान से कविता अचानक नये पथों की खोज पर निकल पड़ी थी और पुरानी चाल की रूढ़ियों को एक-एक कर चूर-चूर कर दिया था। अब 1970 तक आते-आते स्थिति यह है कि स्वयं नयी कविता में ही कविता की पहचान मुश्किल हो गयी है क्योंकि उसने भी अपनी अनेक प्रकार की रूढ़ियों को जन्म दे डाला है।

मेरे सामने इस समय 1970 में प्रकाशित नौ कविता-पुस्तकें हैं जिनमें ऐसे मंजे हुए कवि भी हैं जैसे दिनकर और अज्ञेय और ऐसे कवियशः प्रार्थी भी हैं जैसे श्याम विमल और बलदेव वंशी—पर उन्हें देख-पढ़कर मेरा पहला भाव कुछ विमूढ़ता का ही है। हो सकता है, कविता की मेरी अपनी समझ ही ढीली पड़ गयी हो। (अल्प तो वह थी ही), पर अगर ऐसा नहीं है तो मैं कहना चाहूंगा कि नयी हिंदी कविता में कोई जबर्दस्त भटकाव आ गया है और उसके प्रयत्नों और उसकी उपलब्धि में कोई मेल नहीं है। ऐसा नहीं है कि इन पुस्तकों में मुझे कहीं कोई आकर्षक रचना न मिली हो, पर वह एकदम अप्रत्याशित स्थान पर और अप्रत्याशित रूप में मिली है और मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि उससे क्या निष्कर्ष निकालूं।

इन नौ ग्रंथों में से दो अज्ञेय के हैं—(1) क्योंकि मैं उसे जानता हूं, और (2) सागर मुद्रा। अज्ञेय एक ऐसा कवि नाम है जो सर्वथा निर्विवाद है, पर अज्ञेय के ये संग्रह मुझे अजीव तरह से निराश करते हैं। पांचवें और छठे दशक में अज्ञेय की कविता को मैं जिस आतुरता से पढ़ता रहा हूं और एक बार पढ़ लेने पर फिर बार-बार उसे दुहराता और याद करता रहा हूं वैसा मुझे इन दो संग्रहों की किसी भी कविता में नहीं मिला। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि हम पांचवें-छठे दशक की मोहाविष्ट स्थिति से उबर चुके हैं और निर्लिप्त व्यक्ति की मुक्ति की बात खोखली और बेमानी लगती है पर शायद इससे भी बड़ा कारण यह है कि अब मुक्तिबोध का काव्य-जगत हमें अपरिचित नहीं रह गया है, और उनके परिचय के बाद अज्ञेय पर प्रश्न-चिह्न लगाना नितांत स्वाभाविक है। कोई भी संसार यदि एकांत और बंद हो

तो घुटन का अहसास देने को बाध्य है, पर उस एकांत से छूटकर खुले जगत में आने की अज्ञेय की छटपटाहट जो पहले हर मध्यवित्त उत्तर भारतीय युवक के मन में प्रतिध्वनि उठाती थी, अब निरी 'रस्म-अदाई' या 'मुद्रा' ('सागर-मुद्रा' ?) बनकर रह गयी है और उनकी कविता व्यक्ति-परक से भी उतरकर व्यक्तिगत हो गयी है। यही कारण है कि जहां पहले अज्ञेय आत्म-दान की बात कर हमें मुग्ध कर लेते थे, वहां वे अब ऐसे ऊटपटांग दानों की बात करने लग गये हैं जैसे बात-बात में हम किसी को ताजमहल दान कर दें। यही नहीं, इन संग्रहों में कहीं-कहीं अपने अनुवर्तियों की शैली अपनाने का जो प्रयत्न अज्ञेय ने किया है (कभी भवानी, कभी श्रीकांत, कभी रघुवीर सहाय की शैली) वह बड़ी दयनीयता का भाव जगाता है। एक शब्द में, अज्ञेय बिना कुछ पाये ही अपनी खोज समाप्त कर चुके हैं और अब एक ही स्थान पर अचल खड़े कवायद कर रहे हैं।

अज्ञेय से दूसरे छोर पर हैं जगदीश चतुर्वेदी, श्याम विमल और बलदेव वंशी, जो इस वर्ष अपने पहले कविता-संग्रह लेकर काव्य-जगत में प्रविष्ट हुए हैं। इनकी कविता तथाकथित आक्रोश की या प्रतिवाद की कविता है जिस में युवा-वर्ग का उत्तेजन, विक्षोभ और अधैर्य व्यक्त हुआ है। इनकी कविता का संसार एकांत का संसार नहीं, वरन् विषम हलचलों और धमा-चौकड़ी का संसार है। क्योंकि ये कवि इतिहास से लेकर समाज, नारी और सत्ता तक सबको तोड़-मरोड़ कर रख देना चाहते हैं। सातवें दशक में इस प्रकार की रचना के प्रति बहुतेरे युवक आकृष्ट हुए थे, और जगदीश चतुर्वेदी के नेतृत्व में अकविता का जो आंदोलन चला था उसने नयी कविता की जड़ता को भंग करने में यत्किंचित् योगदान भी किया था। पर इस कविता का जादू भी मुक्तिबोध के काव्य ने तोड़ दिया है, और उसमें निहित जो विद्रोह की मुद्रा है उसे उजागर कर दिया है। इन कवियों में शब्दों का ऐसा घटाटोप, ऐसी फिजूलखर्ची है, और बात को इतना बढ़ा-चढ़ाकर और बनाकर कहने की प्रवृत्ति है कि कविता का स्तर कहीं दूर पीछे छूट जाता है। इस कविता में एक गरमाहट अवश्य है, पर वह गरमाहट ज्यादातर बुखार की गर्मी का रूप ले लेती है, और रचना कविता के पाठकों के मतलब की न रहकर मनोचिकित्सक के काम की हो जाती है। खंडन का कुछ श्रेय इस कविता को जरूर दिया जा सकता है, पर उसकी उपलब्धि नगण्य है। अकविता के सबसे संतोषजनक कवि हैं सौमित्र मोहन, पर अभी तक उनका कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।

इसलिए जैसा कि मैं शुरू में ही कह चुका हूं, मुझे संतोषजनक कविता जहां मिली वह जगह कुछ अप्रत्याशित थी। मेरे सामने जो कविता-संग्रह हैं उनमें सबसे अच्छा संग्रह मुझे दिनकर की पुस्तक 'हारे को हरिनाम' जान पड़ती है। यह संग्रह दिनकर की समस्त काव्य-चर्चा से भिन्न ही नहीं वरन् विपरीत भी है, और इसमें एक ऐसी सहजता है जो मन को छू लेती है। कविता अपनी स्थिति को पहचानने का प्रयास ही तो है, और दिनकर इस रचना में अत्यंत धैर्य और साहस से अपने को पहचानने में लिप्त मिलते हैं। लंबे अनुभव की

आग में तपकर निकले कवि के ये अनलंकृत वचन हमें गहरी समझ देते हैं, और जिंदगी को भरपेट जीने की प्रेरणा देते हैं। 'कुरुक्षेत्र' की छटपटाहट और 'उर्वशी' की भड़भड़ाहट के बाद यह संग्रह दिनकर को एक ऐसे समग्र और स्थिर रूप में पेश करता है जो सच्चे आत्मज्ञान से उत्पन्न होता है। अंग्रेजी में जिसे growing old gracefully कहा जाता है वह दिनकर ने चरितार्थ कर दिखाया है। पंत से लेकर बच्चन तक एक पूरी पीढ़ी उससे अपने लिए उपयोगी निष्कर्ष पा सकती है।

अन्य दो कविता-संग्रह जो मुझे अच्छे लगे, वे हैं अजित कुमार का संग्रह 'ये फूल नहीं' और सुरेंद्र तिवारी का संग्रह 'जूझते हुए'। अजित कुमार का संसार तो प्रायः अज्ञेय का ही संसार है पर उसमें कवि कोई नाटकीय मुद्रा के घेरे में नहीं पड़ता, सहज रूप से अपना मन खोलता रहता है। अनुभव पर टिकी होने के कारण यह कविता महान तो नहीं हो सकी है, पर वह सच्ची जरूर है और उसकी सच्चाई हमें अपनापन देती है। उदाहरण के लिए 'Winter Thoughts' नाम की उनकी छोटी-सी कविता हमें नितांत अविस्मरणीय लगती है क्योंकि उसमें कवि द्रष्टा या संदेशवाहक होने के फेर में न पड़कर एक जाड़े के दिन के अपने भावों को बड़े सहज और मार्मिक रूप में प्रकट कर सका है। यही सहजता और मार्मिकता एक और छोर पर हमें सुरेंद्र तिवारी में मिलती है जो नौकरशारी की जकड़ में बेचैन होकर भी अपना आपा नहीं खोते, वरन् व्यंग्य और विनोद के माध्यम से विषम स्थिति का सटीक चित्रण कर देते हैं। गीतों के आत्मलीन और चाशनीदार चक्कर से उभरकर सुरेंद्र तिवारी ने अत्यंत प्रीतिकर और प्रभाव रचना की है।

पर कुल मिलाकर हमें सन् 1970 के कविता-संग्रहों से संतोष नहीं हो पाता क्योंकि उनमें कविता की सच्ची पहचान के लिए मसाला बहुत कम है। मुक्तिबोध के काव्य-महत्त्व को पहचान लेने के बाद हम समझ पाये हैं कि सच्ची कविता निराला और नरेंद्र शर्मा के बाद केदार, शमशेर, त्रिलोचन, भवानी, रघुवीर सहाय, श्रीकांत, धूमिल आदि कवियों में ही अधिक मिलती है और दुर्भाग्य से इस वर्ष इनके कोई संग्रह मुझे देखने को नहीं मिले।

[रचनाकाल 1971,
'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

आज की कविता : एक उभरती पहचान

शायद सन् 1962 की बात है जब मुक्तिबोध ने एक साहित्य-गोष्ठी में भाषण करते हुए कहा था कि 'नयी कविता' ने अपना एक खास तरह का सांचा बना लिया है और अब वह उस सांचे में बंद होकर रह गयी है, उन्होंने इस बात का भी संकेत किया था कि सच्ची कविता को ये सांचे तोड़ने होंगे, तभी वह अपनी पूरी अभिव्यक्ति पा सकेगी। सांचे से मुक्तिबोध का अभिप्राय कविता के बाहरी स्वरूप अथवा उसके शिल्प से ही था, वे उसके स्वर, उसके विषय और अभिव्यक्ति-प्रकार की ओर भी संकेत कर रहे थे। यही नहीं, मुक्तिबोध ने यह बात कहकर ही छुट्टी नहीं पा ली, वरन् वे कुछ पहले से ही 'नयी कविता' के उस स्वीकृत-प्रचलित सांचे को तोड़ने में जुटे हुए थे। यही कारण है कि सन् 1964 में उनकी मृत्यु के समय जब मुक्तिबोध की कविताएं पहली बार पुस्तक-रूप में सामने आयीं तो उन्होंने कवियों और कविता के पाठकों—दोनों को हिला डाला। और जो युवा कवि उस समय रचना के क्षेत्र में उतर रहे थे वे यकायक बड़े वेग से उनकी ओर आकृष्ट हुए। यह बात अब सहज ही देखी जा सकती है कि 62-64 का यह समय हिंदी-कविता का एक डमरूमध्य है और उसके बाद की कविता पूर्ववर्ती कविता से अपने अंदाज और अपने रुख में नितांत भिन्न है। यही नहीं, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों यह बात भी स्पष्ट होती गयी कि नयी कविता का वह रूप और प्रकार जो अज्ञेय की कविता में एक प्रभावकारी उत्कर्ष को प्राप्त हुआ था और जो तब तक नयी कविता का एकमात्र रूप-प्रकार माना जा रहा था (जिसके कारण अज्ञेय नयी कविता के एकमात्र पुरोधा और प्रतिनिधि माने जा रहे थे) वस्तुतः नयी कविता के अनेक रूप-प्रकारों में से एक था। मुक्तिबोध की चर्चा और रचना ने यह स्पष्ट किया कि अज्ञेय नयी कविता के केंद्र में स्थित न थे, वरन् उसके दूसरे और विपरीत छोर पर स्थित थे। बाकी कवियों की स्थिति इन दो ध्रुवों के बीच में ही थी।

आज की कविता पर विचार करते समय मुक्तिबोध का यह उल्लेख इसलिए जरूरी है कि इतिहास के एक विचित्र संयोग से जब मुक्तिबोध ने कविता का सांचा बदलने की बात कही, तब वस्तुगत परिस्थिति और नये कवि की

मनःस्थिति में भी एक निर्णायक मोड़ आ रहा था और छोटे-बड़े बहुतेरे कवि इस विशाल हिंदी-प्रदेश के नाना स्थानों में खड़े नयी कविता के स्थापित सांचे पर प्रहार कर रहे थे। हिंदी जगत में अचानक लघु पत्रिकाओं की जो बाढ़ प्रकट हो गयी थी उसके अनेक कारणों में एक कारण परिवर्तन की यह कामना भी थी और उस सामूहिक प्रयास से कविता का कोई नया सांचा चाहे उभरा हो या न उभरा हो पर प्रचलित सांचा या तो पुराना पड़ गया था या टूट गया। यही कारण है कि इस अवधि में समकालीन हिंदी कविता को भांति-भांति के नाम देने की कोशिश की गयी—अच्छी कविता, ताजी कविता, प्रतिरोध की कविता, विक्षोभ की कविता—जिनमें सबसे विचित्र नाम था अकविता। अकवितावादियों ने अपने समय की मांग को सही पहचाना था और नयी कविता की आत्मलीन मोहग्रस्त संकीर्ण-वैयक्तिक अभिव्यक्ति से कुछ भिन्न कर डालने की उनकी आकांक्षा और चेष्टा की प्रशंसा होनी चाहिए। पर दुर्भाग्य से अकविता सचमुच में अकविता ही बन गयी अर्थात् उसमें संजीदगी, निष्ठा, संयम और अपने माध्यम की उस पकड़ का अभाव रहा जो कविता की ही नहीं, किसी भी कला की बुनियादी शर्तें हैं। फलस्वरूप अकविता के आंदोलन में जो रचना हुई उसका अधिकांश कलात्मक रचना के मूल गुणों से हीन ही रहा आया। उसमें बनावटी मसीहाई का अंदाज, शब्दों का निष्प्रयोजन घटाटोप, साहसिकता के नाम पर भाषा की मनमानी तोड़-मरोड़ और वस्तु जगत् से नितांत असंबद्ध क्रियाकलाप का निरर्थक उल्लेख—सबने मिलकर अकविता को एक ऐसी अराजकता प्रदान कर दी जिसकी तुलना बस तत्कालीन जीवन में उपलब्ध दिशाहीन, निरुद्देश्य और विफल तोड़-फोड़ की घटनाओं में ही मिल सकती है। अकविता का आंदोलन प्रचलित कविता की अपर्याप्तता को तो जरूर रेखांकित कर सका, पर उसका कोई सार्थक विकल्प उसने प्रस्तुत नहीं किया। इसलिए उसमें संवेदना का ऐसा अभाव रहा, और इसलिए वह शब्दों की केवल भीड़ बनकर रह गया। अकवितावादियों की रचना ने अपने मनमानेपन के कारण कविता की पहचान ही मुश्किल बना दी क्योंकि उसमें आदमी का कोई चेहरा ही न दिखायी देता था। उस रचना में अपने पाठकों से संवाद का अनिवार्य गुण तो अनुपस्थित था ही, उसमें समाज या जीवन को मोड़ने-बदलने की बजाय अपने-आपको ही विकृत करके पेश करने का आत्मपीड़क (मैसोकिस्टिक) लटका प्रमुख था। अकविता में काव्य कम पर मनोविश्लेषण का मसाला ज्यादा है।

यह खुशी की बात है कि आज की कविता अकवितावादियों द्वारा उड़ाई गयी अर्थहीन अराजकता की धूल-गर्द से धीरे-धीरे बाहर निकल आयी है और अब उसकी एक सार्थक पहचान उभरने लगी है। वस्तुतः 62-64 तक आते-आते कविता या साहित्य में ही नहीं, भारतीय समाज और जीवन के नाना पक्षों में रूढ़ियों, वादों, संस्कारों और प्रवंचनाओं के घटाटोप में वास्तविक आदमी की पहचान धुंधली पड़ गयी थी। लोहिया ने जब पहली बार संसद में सामान्य भारतीय जन की दैनिक आमदनी का सवाल उठाया था तो उसकी प्रतिक्रिया कुछ इस तरह हुई मानो उन्होंने कोई नितांत अकल्पनीय बात कह डाली हो।

वह प्रतिक्रिया इस बात का प्रमाण है कि भारतीय जनतंत्र में जनगण की पहचान कितनी मैली और धुंधली हो गयी थी और यही कारण है कि आज की कविता मुख्यतः साधारण आदमी की पहचान की, और उस पहचान की तलाश की कविता है। इसलिए वह अज्ञेयादि कवियों की आत्मनिष्ठा और आत्मलीनता की बजाय मुक्तिबोध की विकलता और प्रतिबद्धता को अपने अधिक निकट पाती है। इसी के अनुकूल उसका एक नया सांचा भी उभर रहा है जिसमें विषय, स्वर और अभिव्यक्ति के स्तरों पर एक नयी तलाश और इसीलिए एक नयी तात्कालिकता के चिह्न मिलते हैं। आज की कविता पहली कविता है जो सचमुच जनतंत्र की कविता है जिसमें जनगण के सुख-दुख ही नहीं, आदमी की नियति के प्रति भी एक सीधा सरोकार है। उसे राजनीतिक कविता कहना सही नहीं होगा, पर वह निस्संदेह राजनीतिक आदमी की कविता है, अर्थात् वह यह मानकर चलती है कि अपने युग में आदमी की नियति राजनीतिकता से अटूट रूप में जुड़ी हुई है। प्रतिबद्धता में जो हठ है वह मुक्तिबोध की परिस्थिति में चाहे मूल्यवान् रहा हो, पर आज की कविता में वैसी प्रतिबद्धता कुछ बंधेपन का ही अहसास देती है, इसलिए मुक्तिबोध का रास्ता होते हुए भी आज की कविता का ही अगला अनिवार्य कदम है, ठीक उसी तरह जिस तरह निराला की कविता से भिन्न होते हुए भी नयी कविता निराला के उत्तर-काव्य का ही अगला अनिवार्य कदम था। इसका एक सीधा प्रमाण यह भी है कि जिस तरह नयी कविता के सारे कवि निराला को ही अपना मानते रहे, पंत को नहीं, उसी तरह आज के लगभग सभी कवि मुक्तिबोध को ही अपना मानते हैं, अज्ञेय को नहीं।

आदमी की पहचान की इस आज की कविता की पहचान को उभारने और संभव बनाने में दो नये आलोचकों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। डा. नामवर सिंह ने 'आलोचना' के संपादक के रूप में आज की सही कविता का लगातार चुनाव और प्रकाशन पर कविता के पाठकों को भ्रमित होने से बचाया है। वस्तुतः आज के सबसे समर्थ कवि धूमिल को हिंदी कविता में प्रतिष्ठित करने में उनका योगदान मूल्यवान् रहा है। साथ ही उन्होंने और भी कई कवियों को प्रकाशित कर हिंदी कविता में उजागर किया है। नामवर सिंह के अतिरिक्त युवा कवि और आलोचक अशोक वाजपेयी ने प्रायः अपने एकाकी प्रयास से 'पहचान' सीरीज़ में आज के कवियों के छोटे-छोटे काव्य-संकलन प्रकाशित कर आज की कविता की सही पहचान को उभारने में बड़ी मदद दी है। उन्हीं के प्रयत्न से सन् 1970 में सीधी में जो लेखक-शिविर आयोजित हुआ वह अनेक अर्थों में अभूतपूर्व तो था ही उसमें 'भाषा के अवमूल्यन' पर जो विशद चर्चा हुई उसने कविता की दिशा को पहचानने के लिए उपयोगी औजार भी विकसित किये। इस परिचर्चा में डा. नामवर सिंह और धूमिल भी शामिल थे और विचारों की मुक्त टकराहट के फलस्वरूप सभी को अपनी समझ निखारने में मदद मिली। 'पहचान' सीरीज़ की पहली पुस्तिकाओं में यह पूरी परिचर्चा एक दस्तावेज के रूप में प्रकाशित हो चुकी है और उसमें अकविता का वह

चरित्र अच्छी तरह उघड़ जाता है जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है।

समकालीन लेखन की इस अनियतकालीन सीरीज़ की अब तक दो संख्याएं प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें दस पुस्तिकाएं हैं। इनमें सीधी लेखक-शिविर के दस्तावेज के अलावा क्रमशः विष्णु खरे, जितेंद्र कुमार, ज्ञानेंद्र पति, सौमित्र मोहन और विनोद कुमार शुक्ल की कविताएं भी हैं। उधर हाल ही में धूमिल का पहला कविता-संग्रह 'संसद से सड़क तक' और लीलाधर जगूड़ी का पहला पुष्ट कविता-संग्रह 'नाटक जारी है' भी प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार इन छोटे-बड़े काव्य-संकलनों के सहारे आज की कविता का अच्छा-खासा परिचय मिल जाता है, और पाठक के मन में उसकी एक निर्दिष्ट पहचान उभरने लग जाती है। यह तो कहना ही बेकार है कि ये कवि कोई एक ही प्रकार की रचना नहीं करते, उनके तेवर और अंदाज अपने-अपने हैं, और कविता-विषयक उनकी धारणा भी भिन्न है, पर वे सब के सब आज के संदर्भ में साधारण आदमी की स्थिति और नियति के प्रति सचेत हैं, और कवि-कर्म को मखौल मानने की बजाय उसे अपनी समझ को गहरा बनाने में लगाते हैं। इसीलिए उनकी कविता में एक आविष्कार का भाव है और जहां जूझने का पैंतरा नहीं है वहां भी हम पहचान सकते हैं कि कवि अपने समय के हालात से दो-चार हो रहा है। फलस्वरूप उसमें एक कशमकश और एक बेचैनी है जो किसी एकांत की ओर नहीं, वरन् एक ठोस संघर्ष की ओर ले जाती है। उसमें हम सामान्य जन के हृदय की धड़कनें भी सुन सकते हैं और अपने जीवन की जटिलता से उत्पन्न उलझन की तस्वीर भी पा सकते हैं। इसीलिए उसका सांचा भी भिन्न है, या तो वह लंबी कविता का रूप लेता है, या एक लंबी कविता का टुकड़ा दिखायी पड़ता है, नयी कविता के प्रगीतों से नितांत भिन्न, जो आकार में तो छोटे होते ही थे, अपने आपमें समाप्त भी हो जाते थे। आज की कविता उसके विपरीत एक प्रवहमान कविता है जो वास्तविकता के अनेक पहलुओं को समेटती चलती है और चेतना के नाना स्तरों को छूकर एक ठोस और विश्वसनीय संसार को मूर्त्त करती है। आज की कविता के इन गुणों को धूमिल की दो रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है : 'मोचीराम' और 'पटकथा'। धूमिल की कविता के जो विशेष गुण हैं—तीखी नजर, बेलाग अभिव्यक्ति और वास्तविकता की समग्र पकड़—वे इन रचनाओं में अत्यंत सबल रूप में प्रकट हुए हैं। आज की कविता का एक विशिष्ट गुण उभरकर आया है कि उसकी पंक्तियों को अलग से उद्धृत कर इसका सम्यक् परिचय नहीं दिया जा सकता। अर्थात् कविता में कोई अनावश्यक विस्तार या गीतात्मक दुहराव नहीं होता, उसे जानने-समझने के लिए पूरी-की-पूरी कविता पढ़नी जरूरी है। उसके आंशिक उद्धरणों से काम नहीं चल सकता। इस दृष्टि से आज की कविता की संरचना नये प्रकार का सृजन है। इसलिए आज की कविताओं के टुकड़ों को उद्धृत करने से कुछ सूक्तियां या कुछ बिंब ही हाथ लगते हैं, पूरी कविता नहीं। तथापि इस प्रकार के निबंध में पूरी कविताएं उद्धृत करना भी संभव नहीं है। इसलिए हम केवल कुछ संकेत ही कर सकते हैं। अपने समय की और

अपने देश की हालत की पकड़ धूमिल की रचनाओं में अत्यंत घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रकट हो जाता है :

क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है?
या इसका कोई खास मतलब होता है

(बीस साल बाद)

और मैं सोचने लगता हूँ कि इस देश में
एकता युद्ध की और दया
अकाल की पूँजी है।
क्रान्ति—
यहाँ के असंग लोगों के लिए
किसी अबोध बच्चे के—
हाथों की जूजी है।

(अकाल-दर्शन)

मेरा गुस्सा
जनमत की चढ़ी हुई नदी में
एक सड़ा हुआ काठ है।

(शांति-पाठ)

वर्तमान की बजबजाती हुई सतह पर
हिजड़ों की एक पूरी पीढ़ी लूप और अंधा कूप के मसले पर
बहस कर रही है
आजादी—इस दरिद्र परिवार की बीससाला 'बिटिया'
मासिक धर्म में डूबे हुए क्वाँरिपन की आग से
अंधे अतीत और लँगड़े भविष्य की
चिलम भर रही है।

(राजकमल चौधरी के लिए)

इसीलिए मैं फिर कहता हूँ कि हर हाथ में
गीली मिट्टी की तरह—हाँ, हाँ—मत करो
तनो
अकड़ो
अमरबेलि की तरह मत जिओ,
जड़ पकड़ो

(प्रौढ़-शिक्षा)

जिनके संडास घरों में खाँसी
किवाड़ों का काम करती है **(मकान)**

उस शो-केस के सामने खड़ा है
जिसमें जूते —
पान की गिलौरियों की तरह सजे हैं।

(शहर का व्याकरण)

ऐसे और भी अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे सहज ही समझा जा सकता है कि धूमिल अपने समकालीन जीवन को पूरी समझदारी से पकड़ने की कोशिश करते हैं और उनकी प्रतिक्रिया क्षणिक भड़ास नहीं अपितु विवेकपूर्ण ढंग से अपनी अनुभूति को व्यक्त करती है। इसीलिए उनके वर्ण्य और अवर्ण्य दोनों एक ही स्तर के हैं। वे दैनिक जीवन की ठोस और विविध वास्तविकता को उजागर करते हैं और हमारी समझ को गहरा बनाते हैं। धूमिल की कविता का संसार इसीलिए हमारे सहज परिचित संसार का सावधानी से निर्मित एक सघन और सच्चा प्रति-संसार है, जिसमें हम विस्मृति, पलायन, एकांत या शांति के लिए नहीं वरन् अपने जुझारू संकल्प और अस्त्रों पर धार रखने के लिए जाते हैं। जनसाधारण से तादात्म्य का नारा तो कवि ने न जाने कब से दे रखा है, पर धूमिल की कविता 'मोचीराम' में वह तादात्म्य नारा बनकर नहीं यथार्थ बनकर प्रकट हुआ है। उस कविता की भाषा इसीलिए साधारण बोलचाल की शब्दावली में भी ऐसे अर्थ और स्तर उद्घाटित करती है :

मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है।

जन-साधारण के दैनिक कर्म में से गहराई की ऐसी दो टूक अभिव्यक्ति और:

और बाबूजी! असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेच कर या रण्डियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है।

जैसे बातचीत के टुकड़े हम दैनिक वास्तविकता के निकट ही नहीं पाते, कृत्रिम जीवन के उस मुलम्मे को भी उचाल डालते हैं जो अभिजात्य के लोभ में नयी कविता ने अपना लिया था। 'मोचीराम' कविता में इसीलिए मामूली आदमी के मामूली व्यवहार अपने समय की जिंदगी की बिगड़ी हुई हालत और बेचैनी ध्वनित हो सकी है। इसके बरक्स 'पटकथा' अपने समय की जिंदगी को अधिक समग्रता में और उसके उग्र राजनीतिक रूप में पकड़ने का प्रयास है। उसमें भारतीय जनतंत्र में उपस्थित विषमताओं और जनगण की सच्ची जरूरतों और आकांक्षाओं की उपेक्षा पर सीधी और तीखी चोट है। पर उसमें भी कवि का

यह निविड़ तादात्म्य उसे पत्रकारिता होने से बचा लेता है और 'मैं' एवं 'वे' की दूरी मिट जाने के कारण यह लंबी कविता निरंतर थरथराती रहती है। सत्ता के प्रति वर्तमान उत्कट असंतोष और विरोध के कारगर न हो सकने का एक विश्लेषण :

यद्यपि यह सही है कि मैं
कोई ठण्डा आदमी नहीं हूँ
मुझमें भी आग है
मगर वह
भभक कर बाहर नहीं आती
क्योंकि उसके चारों तरफ़ चक्कर काटता हुआ
एक 'पूँजीवादी' दिमाग है
जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता-आहिस्ता
कुछ इस तरह कि चीज़ों की शालीनता
बनी रहे।
कुछ इस तरह कि काँख भी ढँकी रहे
और विरोध में उठे हुए हाथ की
मुट्ठी भी तनी रहे...।
और यही वजह है कि बात
फैसले की हद तक
आते-आते रुक जाती है
क्योंकि हर बार
चन्द टुच्ची सुविधाओं की लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है।

धूमिल के विपरीत लीलाधर जगूड़ी और सौमित्र मोहन के नाम ऐसे हैं जिनका यदा-कदा अकविता के संदर्भ में उल्लेख किया जाता है पर 'नाटक जारी है' के लीलाधर जगूड़ी धूमिल के निकट आते जान पड़ते हैं और सौमित्र मोहन की लंबी और प्रसिद्ध कविता 'लुकमानअली' में यद्यपि अकवितावादी स्फीति और सचाई की तोड़मरोड़ भी है तथापि उसमें अपने समय की परिस्थिति को समझने का संजीदा प्रयास भी है। प्रस्तुत संकलन में सौमित्र मोहन ने 'लुकमानअली' शामिल नहीं की है, इसमें उनकी छोटी-छोटी कविताएं ही दी गयी हैं, जिनमें से अनेक में अकविता की रूढ़ियों के रूप में औरत, संभोग, मैथुन और असंबद्ध क्रियाकलापों की भरती है, पर फिर भी इन कविताओं में अपनी जिंदगी की व्यर्थता और उसको उभारने में सौमित्र सफल हुए हैं। उनमें जनजीवन का वह सीधा सरोकार तो नहीं मिलता जो धूमिल की विशेषता है, पर मशीनी जिंदगी की छटपटाहट और विशृंखलता तीखे स्वरों में उभरी है। साथ ही

उसमें आधुनिक युग का परायापन और उसकी अन्यमनस्कता का भी बेलाग चित्रण मिलता है जिसमें कभी-कभी राजनीतिक घटनाएं हलचल और असुरक्षा का भाव भी उत्पन्न कर देती हैं :

अचानक एक आवाज होती है छपाक! और संसद के
ठीक सामने एक ह्वेल मछली आ गिरती है पटरी पर!
मेरे लिए सुरक्षा का केवल एक रास्ता था और ह्वेल के
पेट में घुस कर सुनने लगा था गोलियों की आवाज,
लोकसभा में हंगामा और रेडियो-कर्मचारियों के
आन्दोलन में एक छोटे से वक्ता का भाषण।

(आतंक)

सचाई को गहरा रंग देने के लिए ऐसी काल्पनिकता का सहारा जगूड़ी भी लेते हैं और उनका संकलन 'नाटक जारी है' अपने समय की समग्र परिस्थिति को समेट लेने की कोशिश करता है। पर जिंदगी को नाटक के रूप में देखने से जहां कृत्रिमता की विषमता व्यंजित होती है वहीं गहराई कुछ घट जाती है। उसकी कमी को पूरा करने के लिए जगूड़ी एक तीखेपन का पैंतरा अख्तियार करते हैं जिससे उनकी कविता में जगह-जगह चमक तो पैदा हो जाती है, पर समग्र की समझ की विश्वसनीयता नहीं बढ़ती :

तुम्हारे पास बन्दूक नहीं है?
तो एक शब्द है—समन्वय—इसे दागो

(टेलीफोन पर)

यहाँ अगर विनम्रता को चाल बना सकते हो
तो तुम अपनी दाल किसी के भी बर्तन में गला सकते हो
मुख पर दिन अपनी शुरुआत थप्पड़ की तरह जड़ता है
इस देश की हर सड़क तिजोरी तक जाती है

(इस व्यवस्था में)

वस्तुतः जगूड़ी की इन कविताओं में व्यंग्य का ऐसा अपच है जो रचना को धूमिल की-सी गहराई तक जाने से रोकता है।

विष्णु खरे इस प्रकार की काल्पनिक युक्ति का प्रायः कोई उपयोग नहीं करते। यद्यपि प्रस्तुत संकलन में उनकी रचना 'टेबिल' नहीं दी गयी है जो 'आलोचना' में प्रकाशित हुई थी और जो हमारे खयाल से खरे की सर्वोत्कृष्ट रचना है क्योंकि वह जिंदगी को प्रकट में तटस्थता से पर वास्तव में अत्यंत गहरे में पकड़ने का प्रयास है जिसकी निस्संगता एक पैने अस्त्र का काम करती है, तथापि उनकी रचना 'दोस्त' भी लगभग इसी प्रकार से बनी है और उसमें भी निहायत मामूली ढंग से एक बड़ी विषमता को प्रस्तुत कर दिया गया है।

आज का प्रतिष्ठान किस तरह धीरे-धीरे व्यक्ति को अपनी मशीन का कारगर पुरजा बना लेता है, उसका बड़ा मार्मिक पहलू इस कविता में उभरता है। बिल्कुल दूसरे ही प्रकार की कविता है 'कोशिश' जो बड़े ही बारीक ढंग से जिंदगी और मृत्यु के संबंध की तलाश बन जाती है।

इन सबसे अलग हैं ज्ञानेंद्र पति की रचनाएं जो आज की कविता के एक कम विकसित पक्ष का परिचय देती हैं। कथ्य या अंदाज से भी अधिक इन रचनाओं की उपलब्धि है एक ऐसी भाषा जिसमें गांव की मिट्टी का संस्कार है, पर जो लोक-गीतों या रोमांटिक प्रसंगों को ध्वनित नहीं करती, वरन् कस्बे के आदमी की समझ और जिंदगी को चरितार्थ करतीं हैं। केवल दृश्य और उपकरण ही नहीं, इन रचनाओं का स्वर तक हममें गांव से एक नया तादात्म्य जगाता है और आज की राजनीति का सतहीपन नये रूप में आविष्कृत होता है। ज्ञानेंद्र की यह छोटी-सी कविता ही इसका प्रमाण है :

सुनिए बस एक
बात बता दीजिए : यही न है
भाग् रेखा मुट्ठी बाँधने पर
यही न गड़ती है

का कहते हैं? अरे आप तो बिगड़ गए
हमका जोतसी हैं? न भाई
हम कहाँ कहते हैं पर हम समझ गए
आपकी भाग् रेखा नहीं गड़ती

जाने दीजिए
इन सबमें का रखा है कुछ नहीं
हम तो भाई आपका उपकार मानते हैं
आप इस बस्ती में आए आपकी
कमीज करिया गई जूता उधड़ गया
और यहाँ
का कहें न पालिश मिला
न अरजण्ट धोबी

(साफ बात : चार गंवई कविताएं : चार)

[रचनाकाल 1972, 'साहित्यालोचन' जनवरी 1973 में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

निर्णायक का प्रतिवेदन

पुरस्कार के लिए विचारार्थ मेरे पास 19 उपन्यासों की प्रतियां भेजी गयी हैं। ये सभी उपन्यास पिछले दो-तीन वर्षों में पहली बार प्रकाशित हुए हैं। समग्र रूप से इन पर नज़र डालते ही यह समझा जा सकता है कि ये कुल मिलाकर सांप्रतिक हिंदी उपन्यास का अच्छा-खासा प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही वे उस विविधता के भी दर्शन कराते हैं जो उपन्यास के क्षेत्र में फिलहाल दृष्टिगोचर होती है। यदि एक ओर इनमें ऐसे लेखकों की कृतियां हैं जो यशः प्रार्थी के रूप में उपन्यास-लेखन में प्रवृत्त हुए हैं (जैसे, गोपीकुमार कौशल और नूतन कुमार तैलंग) तो दूसरी ओर वे लेखक भी हैं जो हिंदी उपन्यास के इतिहास में अपना स्थायी स्थान बना चुके हैं (जैसे जैनेंद्र कुमार और भगवतीचरण वर्मा)। अगर इनमें एक ओर अत्यंत लोकप्रिय लेखकों की कृतियां हैं (जैसे शिवानी और रामकुमार भ्रमर) तो दूसरी ओर ऐसे लेखक भी हैं जो उपन्यास को कविता की भांति दीक्षागम्य रचना बनाते हैं (जैसे गंगाप्रसाद विमल)। विषय के चुनाव और शिल्प-दृष्टि के लिहाज से भी इनकी विविधता प्रभावपूर्ण है क्योंकि इनमें 'सूर्यरथ' और 'एकदा नैमिषारण्ये' जैसे ऐतिहासिक उपन्यास भी हैं, 'अनंतर' और 'त्रिनयना' जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी हैं और 'आतंक' एवं 'कहीं कुछ और' जैसे सामाजिक उपन्यास भी। इसी प्रकार यदि 'पक्षधर' राजनीतिक उपन्यासों का प्रतिनिधि है तो 'टैराकोटा' प्रयोगवादी उपन्यासों का और 'धरती धन न अपना' आंचलिक उपन्यासों का (यदि 'मानस का हंस' को जीवनी-परक उपन्यास मान लिया जाये) तो प्रायः सभी प्रकारों का प्रतिनिधित्व हो गया है।

ऐसी विविध कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनमें से सर्वश्रेष्ठ कृति का निर्णय आसान काम नहीं है। साथ ही उसमें यह खतरा भी है कि मेरा निर्णय नितांत व्यक्तिगत होकर रह जाये, अन्य विद्वानों को वह भ्रांत लगे। पर ऐसा कोई चुनाव अंततः व्यक्ति-रुचि पर ही निर्भर करता है, इसलिए जब मैंने यह काम करना मंजूर कर लिया है तो अब उससे कोई निस्तार नहीं। 19 में से 10 उपन्यासों को तो हम पहली ही नज़र में अपने रास्ते से हटा सकते हैं। 'अड़तीस रुपये में दिल्ली' (ले. गोपीकुमार 'कौशल') सन् 1857 के विद्रोह से संबंधित घटनाओं और किंवदंतियों का प्रभावहीन सिलसिला है, जिसमें

उपन्यास का कोई भी गुण नहीं है। लेखक का दूसरा उपन्यास 'दीपकराग' प्रसिद्ध गायक तानसेन के जीवन का चित्रण करता है। पर इसमें भी किंवदंतियों को यथार्थ मानकर चलने के कारण कोई ऐतिहासिकता नहीं आ पायी है। लेखक का संगीत-ज्ञान नहीं के बराबर है। अतः संगीत-विषयक वर्णन अत्यंत अविश्वसनीय है। 'पड़ोसी' (सं. नूतन कुमार तैलंग) बालोपयोगी रचना प्रतीत होती है जिससे राष्ट्रीयता और समाज-सुधार के नारों को बड़े बनावटी और सतही ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'श्मशान चम्पा' (ले. शिवानी) लोकप्रिय ढंग की रोचक कहानी है—घटना-बहुल और संयोग-प्रधान चित्रण अतिरंजित ही नहीं, अयथार्थ भी है और बनावटी भी। इसमें वे सभी दोष हैं जो बंबइया फिल्मों में होते हैं। इसी प्रकार 'अभिशप्त' (ले. रामकुमार भ्रमर) स्वार्थ, छल-कपट और व्यवसायी दुनिया में एक अबोध लड़की के उलझ जाने और अंततः उसी में रम जाने की कहानी है। पाठकों की रोचकता पर अतिरिक्त बल देने के कारण लेखक ने जीवन के यथार्थ का एक सीमित और सरलीकृत रूप ही प्रस्तुत किया है जिससे कृति बड़ी सतही और प्रभावहीन हो गयी है। 'पुनरारंभ' (ले. नरेंद्र कोहली) में परिस्थितियों से विवश होकर एक पुरुष के अनैतिक आचरण से उत्पन्न गृह-जीवन की विषमताओं की कथा है जो लेखक के अधकचरे दृष्टिकोण के कारण किसी गहराई तक नहीं पहुंच पाती। 'त्रिनयना' (लेखक : र. श. केलकर) शैली और चित्रण की दृष्टि से साफ-सुथरी कृति होने के बावजूद कोई गहरा प्रभाव नहीं रच पाती क्योंकि उसका कथ्य बहुत सीमित है, और पति-पत्नी के बीच जिस संदेह का उसमें चित्रण है वह काफी घिसा-पिटा है। 'सूखता हुआ तालाब' (ले. रामदरश मिश्र) लघु आंचलिक कथा है जिसमें ग्राम-जीवन में फैले छल, कपट, झूठ, भ्रष्टाचार और अंधविश्वास एवं वैमनस्य का सफल अंकन है। पर कलेवर और कथ्य में छोटे होने के कारण उपन्यास कोई विशिष्टता नहीं प्राप्त कर पाता। 'प्रेम अपवित्र नदी' (ले. लक्ष्मीनारायण लाल) राजधानी दिल्ली के पिछले एक शताब्दी के सामाजिक इतिहास और जीवन को समेटने का प्रयास करता है पर फिल्मी ढंग की सतही बुनावट के कारण और खोखली नारेबाजी के दर्शन के कारण टूट कर बिखर जाता है। 'सूर्यरथ' (ले. उमाशंकर) कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्य-मंदिर की परिकल्पना और निर्माण के कथानक पर आधारित एक ऐतिहासिक उपन्यास है। यद्यपि लेखक ने तत्संबंधित तथ्यों और किंवदंतियों का बड़े श्रम से आकलन किया है, और उड़ीसा की जनजातियों के चित्रण में काफी वस्तून्मुखता से काम लिया है तथापि रचना जीवंत नहीं बन सकी है क्योंकि वह कृति को उपयुक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य नहीं दे सका है। विशेषतः प्रमुख पात्रों की मानसिकता युगबोध के प्रतिकूल आधुनिक और आरोपित लगती है।

'पक्षधर' (ले. विश्वंभरनाथ उपाध्याय) और 'टैराकोटा' (ले. लक्ष्मीकांत वर्मा) प्रयोगशील ढंग के उपन्यास हैं और यद्यपि दोनों लेखकों ने अपने समय के यथार्थ को प्रस्तुत करने का गंभीर प्रयास किया है लेकिन उनकी प्रयोगशील युक्तियां अंत तक उनके कथ्य को खंडित कर देती हैं, और उनकी कृति समग्रता

में कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पातीं। 'पक्षधर' एक राजनीतिक उपन्यास है जिसमें वर्तमान समाज में व्याप्त स्वार्थ, भ्रष्टाचार और शोषण के विरुद्ध सशस्त्र और हिंसात्मक संघर्ष का समर्थन किया गया है। उसका कथ्य छात्र-असंतोष, नक्सलवादी विद्रोह और बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम का एक मिला-जुला और गड्डमगड्ड रूप है जिसे लेखक ने फंतासी, अतिशयोक्ति, विसंगति और व्यंग्य-शक्ति के ताने-बाने से बुना है। अस्तित्ववादी अथवा 'एब्सर्ड' उपन्यासों की-सी ये युक्तियां जगह-जगह पर तीखा आघात करने में तो सफल हैं, पर अंत तक वे अनावश्यक और बेमेल जान पड़ने लगती हैं और पूरा उपन्यास सत्यापन के अभाव में कृत्रिम और असंगठित लगने लगता है। लगभग यही हाल 'टेराकोटा' का है। उत्खनन में प्राप्त कुछ मृण्मूर्तियों के सहारे महाभारत कालीन समाज और वर्तमान समाज की परिस्थितियों का तुलनात्मक आख्यान प्रस्तुत करने की कोशिश में लेखक कथा को बार-बार तोड़ता है, आवश्यक-अनावश्यक व्याख्याएं करता चलता है और दोनों में से किसी भी युग पर गंभीर या समग्र दृष्टि नहीं डाल पाता। रचना में प्रयोग का चमत्कार तो आ जाता है, पर यह चमत्कार का प्रयोग न तो अनिवार्य लगता है, न वह किसी स्थायी उपलब्धि का साधन बन पाता है।

इन कृतियों के बरक्स उन तीन उपन्यासकारों की नयी रचनाएं हैं जो हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में अपना स्थायी महत्त्व स्थापित कर चुके हैं। जैनेंद्र कुमार का 'अनन्तर' उनकी अपनी शैली और वस्तु को उसी परिचित और प्रीतिकर रूप में प्रस्तुत करता है जो उनके पिछले उपन्यासों में भी समाविष्ट है। और यद्यपि उसमें चित्रित समस्याएं और समाज समसामयिक हैं तथापि जैनेंद्र का दृष्टिकोण पूर्ववत् गांधी-दर्शन से ओतप्रोत है। स्वार्थ और सफलता की व्यावसायिक भागदौड़, पति-पत्नी के बीच दूरी और तनाव तथा समाज-सेवा और लोकहित की समस्याओं को जैनेंद्र ने अपराजिता नामक परित्यक्ता पत्नी के सूत्र से उजागर करने की कोशिश की है। लेकिन 'अनंतर' उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'त्यागपत्र' या 'कल्याणी' की-सी गहराई या बेधकता प्राप्त करने में असफल हो जाता है। प्रस्तुत यथार्थ के प्रति निर्मम दृष्टि से उत्पन्न करुणा की अनिवार्यता इस रचना में नहीं है। शायद इसका कारण यह हो कि इस कृति में जैनेंद्र कुछ आत्मकथात्मक हो उठे हैं। तटस्थ विश्लेषण और दार्शनिक ऊहापोह के पीछे कहीं आत्ममोह का कोई तार बचा रह जाता है जो घटनाओं और परिस्थितियों को कुछ सतही बना देता है। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'प्रश्न और मरीचिका' 1947 से 1962 तक की सामाजिक, राजनीतिक हलचलों को समेटने का प्रयास करता है और इस प्रकार 'भूले बिसरे चित्र', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'सीधी-सच्ची बात' की ही एक कड़ी सिद्ध होता है। पर उपन्यास में विस्तार के अनुरूप गहराई नहीं है, सभी पात्र घटनाओं में बहते चले जाते हैं, और केंद्रीय चरित्र में आवश्यक शक्ति और सामर्थ्य का अभाव है। इस प्रकार यह उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण युग की हलचलों का दस्तावेज तो बन जाता है पर उसमें उस युग की पीड़ा और चिंता नाटकीय रूप नहीं

ले पाती। वर्माजी का अंदाज एक किस्सागो का अंदाज है, गहरे सत्य का अन्वेषण करनेवाले कलाकार का नहीं। यही कारण है इतने रोचक और लंबे उपन्यास में एक भी स्मरणीय पात्र या प्रसंग नहीं है।

'बूंद और समुद्र' के यशस्वी लेखक अमृतलाल नागर की दो औपन्यासिक कृतियां इस सूची में हैं : 'एकदा नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस'। दोनों ही कृतियां भारतीय इतिहास से संबद्ध हैं, यद्यपि दोनों में दृष्टि का अंतर है। यदि 'एकदा नैमिषारण्ये' चौथी शताब्दी में भारतीय संस्कृति की शक्ति और सफलता की स्थापना का प्रयत्न है जो तत्कालीन जीवन और संस्कृति की शोध पर आधारित है तो 'मानस का हंस' महाकवि तुलसीदास की जीवनी की काल्पनिक पुनर्रचना का प्रयास है। नागरजी ने इन दोनों की रचना के लिए निस्संदेह बड़े श्रम और स्वाध्याय का नियोजन किया है और अपने पात्रों एवं प्रसंगों के लिए प्रामाणिकता जुटाने में कोई कसर नहीं रखी है। लेकिन दोनों ही कृतियां लेखक के अतिरिक्त आग्रह के कारण असफल हो जाती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में जो खतरा निहित है वह यहां स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः वह नागरजी का प्रकृत क्षेत्र भी नहीं है। उदाहरण के लिए 'एकदा नैमिषारण्ये' में गणपति को मोदक-प्रिय सिद्ध करने के लिए जिस प्रकार नागरजी उन्हें पान की तरह मोदक चबाते दिखाते हैं वह हास्यास्पद लगने लगता है। जहां परिणाम पूर्व-निर्धारित और पूर्व-ज्ञात हो वहां औपन्यासिक गहराई के लिए लेखक को संबद्ध पात्रों के भीतर बैठकर उनकी विशेषताओं को विश्लेषित करना पड़ता है, ऊपरी साम्य का आख्यान-भर उसे विश्वसनीयता नहीं दे सकता। नागरजी 'एकदा नैमिषारण्ये' में वह सफलता नहीं प्राप्त कर पाते जो हजारीप्रसाद द्विवेदी को इसी प्रकार के उपन्यासों में मिली है। लेखक का ऐसा ही अतिरिक्त आग्रह 'मानस का हंस' को वांछित ऊंचाई तक नहीं उठने देता। निस्संदेह नागरजी ने तुलसीदास की कृतियों का अच्छा अध्ययन किया है और उनकी जीवनी के संबंध में उपलब्ध सामग्री और किंवदंतियों को जुटाने में भी भरपूर परिश्रम किया है, पर कदम-कदम पर प्रमाण देते चलने पर भी उनके तुलसीदास समर्थ और स्वतंत्र व्यक्ति की भांति चलते-फिरते नहीं लगते। पश्चादवलोकन की युक्ति और वर्णन को बीच-बीच में तोड़कर प्रस्तुत करने की रेडियाई रीति तुलसी को कठपुतली ही बना देती है। इसके अतिरिक्त नागरजी का यह आग्रह कि तुलसी या रत्नावली कोई भी पाठक की दृष्टि में करुणा का पात्र न बन जाये, प्रशंसा का ही पात्र बना रहे, उनके संबंधों में प्रेम-वितृष्णामिश्रित द्वंद्व को बहुत ही साधारण और सतही रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः तुलसी का जीवन और चरित्र विरोधों के तनाव पर टिका हुआ है, इस तनाव को नागरजी कुछ सरलीकृत और उथले रूपों में ही प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास के अंत में हमें तुलसी की महानता का विश्वास, इसीलिए नहीं हो पाता क्योंकि वह महानता लेखक थोपता तो चलता है, पात्र के भीतर से नहीं निकलती। तुलसी जैसे संघर्षमय और विद्रोही जीवन की छानबीन के लिए पश्चादवलोकन की युक्ति अत्यंत हानिकारक और असफल सिद्ध होती है। कृति का कुछ नुकसान इस

कारण भी हुआ है कि लेखक उसे लगातार फिल्म की संभावना की दृष्टि से भी देखता जाता है। तुलसी से संबंधित चमत्कारों की कहानियों को संगत बनाने की कोशिश भी कृति में एक झूठा तार जोड़ देती है। वस्तुतः आवश्यक संकलन के अभाव में 'मानस का हंस' अन्विति प्राप्त करने से रह जाता है।

स्थापित उपन्यासकारों के विपरीत तीन नये उपन्यासकारों की जो कृतियां इस सूची में हैं वे मेरी दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय हैं। ये तीनों कृतियां समकालीन जीवन को नये संदर्भों में पकड़ने की कोशिश करती हैं और यथार्थ की ज्यादा सही और गहरी पकड़ का प्रमाण हैं। 'कहीं कुछ और' (ले. गंगाप्रसाद विमल) एक छोटे से पहाड़ी परिवार के दुर्दिन की कथा है जिसमें लेखक अत्यंत सूक्ष्मस्पर्शी रीति से हमें परिवार के सदस्यों के मर्म तक ले जाता है और उनके गहरे से गहरे भावों से तादात्म्य कराने में सफल होता है। ऊपर से छोटी-छोटी लगनेवाली घटनाओं के इस अंतरंग चित्रण से धीरे-धीरे हमारे मन में एक ऐसा अनुभव-जगत उद्‌घाटित हो जाता है जो अत्यंत विशिष्ट है और जो अभाव, लोक-लाज और रूढ़ियों से संघर्ष करते इस परिवार की करुण कहानी बन जाता है। लेखक ने ऐसी ताजी और सहज भाषा का प्रयोग किया है जो मार्मिक क्षणों में अत्यंत पारदर्शी काव्यात्मकता से उद्दीप्त हो उठती है। यदि उपन्यास का अंत कुछ भिन्न होता जो कथा को एक सही उत्कर्ष प्रदान कर सकता तो मैं निस्संकोच इस उपन्यास को प्रथम स्थान देता। पर अंत में कथा एक समतल स्तर पर प्रभावहीन ढंग से लटकी रह जाती है और पाठक के मन में जो अपेक्षाएं बन चुकी होती हैं उनके कारण अंत में उसे एक निराशा हाथ लगती है, मानो लेखक ने उसके साथ कोई छल कर डाला हो। इसलिए मैं इसे तीसरे स्थान का अधिकारी मानता हूं।

'आतंक' (ले. नरेंद्र कोहली) में ऐसी कोई काव्यात्मकता नहीं है। पर वह राजधानी दिल्ली के वर्तमान यथार्थ का बड़ा ही सही और सटीक चित्रण है जहां नाना सूत्रों से आये लोग इकट्ठे हो गये हैं और भौतिक असुविधाएं एवं मानसिक त्रास भोगते-भोगते असुरक्षा का तीखा और दहला देनेवाला जीवन जीते हैं। लेखक ने राजनीतिक नेता, पुलिस अफसर, छोटा व्यापारी, शिक्षक, विद्यार्थी, स्कूटर चलानेवाला, पनवाड़ी आदि प्रायः सभी वर्ग के पात्रों का समावेश किया है और उनकी मनोवृत्ति, स्वार्थ-चर्या और दृष्टिहीनता का सही अंकन किया है। नारी-पात्र भी सही रूप और अनुपात में रखे गये हैं। यदि लेखक समकालीन जिंदगी में और भी गहरे पैठ कर उन मूलभूत कारणों तक पहुंचता जो राजधानी के वर्तमान जीवन को ऐसा भयप्रद और दिशाहीन बनाते हैं तो कृति में वैसा विस्तार और गहराई आ सकती थी जो उसके 'आतंक' नाम को सार्थक करती। लेखक ने ऐसा न कर अपनी कृति को ऊपरी घटनाओं और तथ्यों तक ही सीमित रखा है जिसके कारण उपन्यास का नाम कुछ बड़बोला लगने लगता है। तथापि बहती हुई जिंदगी को पकड़ने का यह प्रयास यथार्थ के आग्रह के कारण प्रभावशाली है और हमें सोचने पर विवश करता है। जिस मामूली आदमी का नारा आज साहित्य में लगाया जा रहा है, वह इस उपन्यास

में पहली बार अपने मूर्त्त रूप में प्रकट हुआ है। इसलिए मैं इस उपन्यास को दूसरे स्थान पर रखता हूं।

'धरती धन न अपना' (ले. जगदीश चंद्र) मेरी दृष्टि में प्रथम स्थान का अधिकारी है। एक नये लेखक की दूसरी औपन्यासिक कृति होने के कारण इस उपन्यास ने समीक्षकों का समुचित ध्यान आकर्षित नहीं किया है, परंतु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में रचे गये हिंदी उपन्यासों में इस कृति को स्थायी महत्त्व का स्थान प्राप्त होगा। निम्नवर्गीय परिवार के एक नौजवान को केंद्र बनाकर लेखक ने इस उपन्यास में हमारे आज के ग्राम-जीवन में समाई हुई जड़ता और विषमता का बड़ा ही यथार्थ और सांगोपांग चित्रण किया है, ग्रामीण परिवेश में शूद्रजनों को जिस अमानुषिकता और अवमानना और वर्ग-घृणा का सामना करना पड़ता है उसका गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है, और उससे जूझने और उबरने के लिए बेचैन जन की संघर्षशीलता का मार्मिक अंकन किया है। जिसके कारण उपन्यास में वर्णित जीवन हमारी आंखों के सामने मूर्त्त रूप ले उठता है। हमारे समकालीन सामाजिक जीवन के इस उपेक्षित पक्ष को उजागर करके लेखक ने एक अत्यंत प्रामाणिक और सशक्त कृति प्रस्तुत की है जो विवरण की सटीकता, चित्रण की गहराई, पात्रों की विविधता और प्रभाव की अन्विति—सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम ठहरती है। मैं 'धरती-धन न अपना' को निस्संकोच प्रथम स्थान देता हूं।

[रचनाकाल 1973, अप्रकाशित।]

एक ऐतिहासिक विभीषिका का 'क्लोज़-अप' : 'तमस'

1947 में भारत की आजादी के साथ भारत के विभाजन की विभीषिका ऐसे अटूट रूप में जुड़ी हुई है कि एक के हर्षोल्लास का स्मरण करते ही दूसरे के करुण और भयंकर दृश्य बरबस याद आ जाते हैं। उन दिनों की स्मृति की इस जटिलता के ही कारण शायद हमारे साहित्य में अभी तक उसका कोई विशद चित्रण नहीं हुआ है। इस दिशा में एकमात्र स्मरणीय प्रयत्न है यशपाल का 'झूठा सच' जिसके विस्तृत फलक पर उन दिनों की उथल-पुथल और दहशत को लेखक ने बड़ी ही यथार्थ निष्ठा से अंकित किया है। पर शायद इस विस्तार के ही कारण 'झूठा सच' में, कुछ स्थलों और प्रसंगों को छोड़कर, वह गहराई नहीं आ पायी जो हमें इतिहास की उस विभीषिका में बंद मानव-नियति की जड़ों तक ले जाती। वस्तुतः वह विभीषिका अपनी समग्रता में इतनी दूरव्यापी और परिवर्तनकारी थी कि साहित्य में उसका विशद और सम्यक् चित्रण अभी और कुछ समय बाद ही हो सकेगा। समकालीन साहित्य में तो हम अभी तक उसके प्रति एक 'मौन का पैंतरा' ही ज्यादा पाते हैं, मानो किसी असाध्य रोग को भुलाने की कोशिश की जा रही हो। जहां एक ओर यह सच है कि हमारे समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को रचने में उस विभीषिका का बहुत बड़ा हाथ है, वहीं दूसरी ओर यह भी सच है कि उस विभीषिका की छानबीन और जांच-पड़ताल करने से हम कतराते रहे हैं, मानो अपने भोलेपन में हम यह मानते रहे हों कि दर्द को भुलाकर ही दर्द को दूर किया जा सकता है।

इसलिए भीष्म साहनी हम सबकी बधाई और कृतज्ञता के पात्र हैं कि उन्होंने बड़े साहस और संयम के साथ उस विभीषिका के निकट जाने का प्रयत्न किया है और उसे अपने नये उपन्यास में उतारकर एक बार फिर हमारा ध्यान उस ऐतिहासिक कांड की ओर आकर्षित किया है। यही नहीं, उन्होंने इस आवेशपूर्ण और उत्तेजक अध्याय को कलाकारोचित तटस्थता से प्रस्तुत किया

है, और यथार्थ का चित्रण [illegible] निष्पक्षता से [illegible] है।
इसमें कोई संदेह नहीं कि समय की दूरी ने उन्हें [illegible] सुविधा भी प्रदान की है।

तथापि भीष्म साहनी ने 'तमस' में उस पूरी विभीषिका को समेटने की कोशिश नहीं की है। इस दृष्टि से वह 'झूठा सच' से प्रकट रूप में ही भिन्न है जो 1942 से लेकर *1957 तक की घटनाओं का चित्रण करता है।* जैसा कि 'तमस' के परिचय-पत्र में ही कहा गया है, वह 'केवल पांच दिनों की कहानी' है। ये पांच दिन 1946 में अंतरिम सरकार की स्थापना से लेकर अगस्त 1947 में देश के विभाजन के बीच के वर्ष के पांच दिन हैं। उपन्यास के प्रारंभ में ही डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड कहता है : "आपको तो पंडित नेहरू या डिफेंस मिनिस्टर सरदार बलदेवसिंह के पास जाना चाहिए था। सरकार की बागडोर तो उनके हाथ में है।" (पृष्ठ 83)। और उपन्यास के अंत में लेखक ने स्पष्ट लिखा है : "मुस्लिम लीग के प्रधान के साथ बैठे हुए बख्शीजी सामने की ओर देखे जा रहे थे पर गहरी उदासी में डूबे हुए थे। 'चीलें उड़ेंगी, अभी और उड़ेंगी', उन्होंने मन-ही-मन कहा।" (पृष्ठ 283)। इस प्रकार भीष्म साहनी ने अपनी कथावस्तु को विभीषिका की भूमिका तक ही सीमित रखा है जिसमें सांप्रदायिक तनाव के वातावरण में एक छोटी-सी घटना से दंगों, अग्निकांड और रक्तपात का तांता लग जाता है, और फिर प्रशासनिक शक्ति के प्रदर्शन के फलस्वरूप तात्कालिक शांति हो जाती है, भविष्य में और भी भयंकर रूप से फूटने के लिए। इस चुनाव से यह माना जा सकता है कि लेखक उस विभीषिका का चित्रण नहीं करना चाहता, वरन् उन बद्धमूल कारणों की तलाश करना चाहता है जो आगे चलकर उस विभीषिका के रूप में प्रकट हुए।

काल की तरह देश के विचार से भी 'तमस' की कथा-वस्तु सीमित है। 'झूठा सच' से नितांत भिन्न 'तमस' में केवल एक नामहीन शहर और उसके अंचल में बसे तीन-चार गांवों की कहानी है। यह शहर स्पष्ट ही पश्चिमी पंजाब का शहर है क्योंकि रिचर्ड अपनी प्रेमिका-पत्नी को बताता हैं : "उस पहाड़ के पीछे करीब सतरह मील की दूरी पर टैक्सिला के खंडहर हैं।" (पृष्ठ 38)। और आगे चलकर यह भी बताया गया है कि "मुसलमानों का शहर है" (पृष्ठ 130)। और कि "यह शहर ही इस बेढब्बे से बना है कि हर मुहल्ले में हिंदू भी रहते हैं और मुसलमान भी रहते हैं।" (पृष्ठ 69)। और शहर के ही अंचल में बसे सैदपुर में सिक्खों की बहुत बड़ी संगत है। इस तरह भीष्म साहनी ने घटना-स्थल का चुनाव भी बड़ी सावधानी से किया है ताकि भारतीय जन के तीनों महत्त्वपूर्ण संप्रदायों के व्यवहार का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। यही नहीं, शहर में आर्य समाज भी है, हिंदू सभा भी है, गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी भी है, कांग्रेस और मुस्लिम लीग भी है, और कम्यूनिस्ट संगठन भी है। इसलिए तत्कालीन राजनीति के प्रमुख अंगों को भी

भरपूर स्थान मिला है। इनके साथ कालू ईसाई और अमरीकी पादरी, अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर और उसकी टूरिस्ट पत्नी-प्रेमिका को जोड़ लेने पर देश की विविधता का पूरा प्रतिनिधित्व हो जाता है।

इस प्रकार के भूमि-खंड को एक काल-खंड की सीमा में बांधकर उपन्यासकार एक सांप्रदायिक संघर्ष की स्थिति का अध्ययन करता है जो राजनीतिज्ञों के दांव-पेच और अंधस्वार्थ का कारण बनता है और 'निर्दोष' लोगों की तबाही का जो 'न हिंदू हैं, न मुसलमान बल्कि सिर्फ इंसान हैं और हैं भारतीय नागरिक'। लेखक निश्चय ही इस बात पर बहुत बल देता प्रतीत होता है क्योंकि जिन्हें इस उथल-पुथल में अपनी जान गंवानी पड़ती है या बेघर होना पड़ता है वे सब साधारण लोग हैं; और जो इस गड़बड़ी की सृष्टि करते हैं, या उसको बढ़ावा देते हैं; वे सब अपनी जगह पर ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं, उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचती। जो मारे जाते हैं या कष्ट भोगते हैं वे धर्मों-संप्रदायों के लोग हैं—उनमें वह नत्थू चमार भी है जिसके सूअर को मारने से उपन्यास और दंगे की शुरुआत होती है, वह निरीह इत्रफरोश भी है जो आना-दो आने कमाने के लिए दंगे के दिन भी अपनी फेरी पर निकलता है, सरदार हरनामसिंह भी है जो गांव के बाहर बस के अड्डे पर चाय की दुकान चलाता था और कश्मीरी हतो भी है 'जो फतहचंद के टाल पर काम करता था, कोयला और लकड़ियां घर-घर पहुंचानेवाला' (पृष्ठ 152)। इन साधारण लोगों की निरीहता (और प्रकारांतर से सांप्रदायिक भाव से शून्य उनकी भारतीयता) को उजागर करने में लेखक ने कोई कसर नहीं छोड़ी है—यहां तक कि उनकी निरीहता और भोलापन संदिग्ध और आरोपित लगने लगता है। सांप्रदायिक विष विदेशी शासकों की कूटनीति का परिणाम था जिसके जाल में भारत के राजनीतिज्ञ उलझ गये थे और अपनी-अपनी हठधर्मिता के कारण उन्होंने इस भीषण घटना का आवाहन किया था—विचार के स्तर पर यह विश्लेषण सही हो सकता है, पर कलाकृति में इसको फलीभूत करने के लिए लेखक ने जिन युक्तियों से काम लिया है वे सरलीकृत और सतही लगती हैं और यथार्थ की गहराई तक नहीं पहुंच पातीं। उपन्यास के पहले अध्याय में नत्थू चमार और सूअर की जो कशमकश इतनी कुशलता और वर्णन-क्षमता से चित्रित की गयी है वह क्या इसी बात को ढंकने का प्रयास नहीं है कि एक मुसलमान के कहने पर एक हिंदू द्वारा एक सूअर की हत्या लगभग असंभव-सी घटना है! इन पंक्तियों का लेखक यह मानने में असमर्थ है कि सारी रात सूअर से जूझते हुए नत्थू के मन में दुनिया-भर के विचार आते हैं (जिंहें लेखक असाधारण मनोवैज्ञानिक क्षमता से अंकित करता है), केवल यही विचार नहीं आता कि कहीं इससे सांप्रदायिक दंगा न हो जाये। सन् 1946 के उत्तेजनापूर्ण वातावरण में एक शहरी जन का ऐसा अबोध कर्म नितांत कृत्रिम लगता है। अपितु लेखक स्थान-स्थान पर यह बताता चलता है कि "इन दिनों हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनाव

पाया जाता है। दंगा-फसाद का डर है।" (पृष्ठ 41)। तिस पर नत्थू ने पहले कभी कोई सूअर मारा भी नहीं है। ऐसा व्यक्ति ऐसे तनावपूर्ण वातावरण में सिर्फ पांच रुपये के लालच में सूअर मारने के लिए तैयार हो जायेगा, यह बात विश्वसनीय नहीं जान पड़ती है। लेखक ने नाना युक्तियों से पाठकों को इसका विश्वास दिलाना चाहा है, पर वह जितना ही इस पर जोर देता है, उतना ही उसका मुलम्मा छूटता जाता है। इसी तरह जब सारे शहर में खून और फसाद की अफवाहें उड़ रही हों, और बाजार में सन्नाटा छाया हो, तब एक मुसलमान इत्रफरोश का हिंदू मुहल्ले में फेरी के लिए निकलना भी उतना ही अविश्वसनीय लगता है। लेखक ने इत्रफरोश के मुंह से मानो पाठक की शंका दूर करने के लिए यह कहलाया भी है : "मुझे भी आज फेरी पर नहीं निकलना चाहिए था। आज भी कोई दिन है फेरी का? सारे शहर में सूखा पड़ा है। पर मैंने सोचा, घर पर बैठकर क्या करूंगा, दो-चार आने का जुगाड़ हो जाये तो क्या बुरा है?" (पृष्ठ 165)। पर यह व्याख्या उस अविश्वास को ही रेखांकित करने लगती है। इसमें संदेह नहीं कि '46-47 के दंगों में इनसे भी कहीं अधिक विचित्र और असंभाव्य घटनाएं घटी थीं—पर तथ्य को कलात्मक सत्य बनाये बिना प्रस्तुत करना तथ्य को कमजोर करता है।

कुछ ऐसा ही सतहीपन और सरलीकरण शासकों के चित्रण में बरता गया है। शहर का डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड अंग्रेज है जो भारत के इतिहास में बड़ी गहरी दिलचस्पी लेता है और इसलिए उसने अपना घर एक तरह से संग्रहालय ही बना डाला है। वह यह भी जानता है कि भारत के लोग एक ही नस्ल के लोग हैं—"जो लोग मध्य एशिया से सबसे पहले यहां आये, शताब्दियों के बाद उन्हीं के नाती-पोते अन्य देशों से इधर आये। नस्ल सबकी एक ही थी। वे लोग जो आर्य कहलाते थे, और हजारों वर्ष पहले यहां पर आये और वे भी जो मुसलमान कहलाते थे और लगभग एक हजार वर्ष पहले यहां पर आये—एक ही नस्ल के लोग थे। सभी एक ही मूल जाति के लोग थे।" (पृष्ठ 40)। उसके इस ज्ञान से प्रभावित होकर उसकी प्रेमिका-पत्नी लीजा यहां तक कह बैठती है कि "तुम तो रिचर्ड, यों बातें कर रहे हो जैसे यह तुम्हारा अपना देश हो।" (पृष्ठ 38)। पर भारतीय इतिहास में इतनी गहरी पैठ वाला यह शासक सरकारी काम-काज में तटस्थ ही नहीं, निष्क्रिय भी दिखाया गया है। और जब लीजा उससे पूछती है कि "तुम्हारे रहते फसाद हो गया है रिचर्ड?" तो वह कहता है : "हम इनके धार्मिक मामलों में दखल नहीं देते।" (पृष्ठ 122)। जैसे शहर में दंगा कानून और व्यवस्था का नहीं, धर्म का मामला हो। जिलाधीश का ऐसा चित्रण प्रचारीय स्तर का लगता है। लेखक ने जिस प्रकार नत्थू के अंतर्मन में प्रवेश कर उसका सारा ऊहापोह पाठक के सामने प्रस्तुत किया था, क्या ठीक वही व्यवहार रिचर्ड के साथ नहीं होना चाहिए था? लीजा का चित्रण भी ऐसे ही प्रचारीय स्तर पर किया गया है। आसपास के लोगों की सांप्रदायिक पहचान की उसकी थोड़ी कोशिश ऐसी अबोध है कि हास्यास्पद बन जाती है।

उपन्यास में सतहीपन का तीसरा तार है शहर कांग्रेस कमेटी के लोगों का 'तामीरी काम' के नाम पर मुस्लिम बस्ती में जाकर नालियों की सफाई करने का दृश्य। सन् '46 के उन उत्तेजना-भरे दिनों में 'तामीरी काम' (रचनात्मक कार्यक्रम) का नारा बासी ही नहीं, विस्मृत भी हो गया था। इसमें संदेह नहीं कि लेखक ने उसका समावेश दंगे के पूर्व की शांतिपूर्ण स्थिति को रेखांकित करने के उद्देश्य से किया है, पर वह उपन्यास की रचना में एक झूठा स्वर लगाने के बराबर प्रतीत होता है। देश-काल की जिन सीमाओं को लेखक ने स्वीकार किया था उसमें यह आवश्यक था कि वह एक विभीषिका की क्रमिक गति को चित्रित करने में प्रवृत होता। उपन्यास का उठान तनाव में ही किया जाता और उसकी परिणति एक तीव्रतर तनाव में होती। तभी वह अपने देश-काल के प्रति सच्चा सिद्ध होता। पर 'तमस' का उठान उस निरंतरता का आभास नहीं देता, और उसकी परिणति भी एक विश्राम में होती है, तीव्रतर तनाव में नहीं। मानो सांप्रदायिक विद्वेष पांच दिन पहले अचानक फूटा हो, और पांच दिन बाद शासन के प्रयत्न से सुलझ गया हो। उपन्यास की बुनावट की यह कमजोरी सारे उपन्यास को शक्तिहीन बना देती है और बीच की कथावस्तु की उत्कृष्टता भी उसको सही आयाम नहीं दे पाती।

वस्तुतः लेखक इस भीषण समस्या का जैसा तटस्थ और संतुलित विश्लेषण करना चाहता था, वैसा कर नहीं सका है। सांप्रदायिक समस्या उत्तर भारत के सामाजिक जीवन की एक अत्यंत दीर्घकालीन समस्या है। ब्रिटिश शासकों ने उसको तूल जरूर दिया, पर वे उसके जन्मदाता नहीं थे। अपने स्वार्थ के लिए उन्होंने संप्रदायों में विद्यमान भेदभाव को क्रमशः विच्छेद और विभाजन की सीमा तक पहुंचा दिया। और जब देश का विभाजन एक ठोस और व्यावहारिक रूप लेने लगा तब देश की जनता के साथ देश के शासक भी उसके असहाय दर्शक बन गये थे। उस बिंदु पर पहुंचकर इतिहास की शक्तियां ऐसे मोड़ पर पहुंच चुकी थीं जहां देश का विभाजन अनिवार्य बन गया था। लेकिन 'तमस' का लेखक इस अनिवार्यता को पहचानता प्रतीत नहीं होता। और इसीलिए वह उस विभीषिका के सच्चे और कारुणिक रूप को नहीं पहचान पाता, क्योंकि उसकी करुणा का मूल उस अनिवार्यता में ही निहित है। (वैसे भी अतीत विकल्प का विषय नहीं होता)। फलस्वरूप लेखक को एक सतही स्तर पर ही रुक जाना पड़ता है जिसमें शासक षड्यंत्र करते हैं, जन-नेता अंधे या स्वार्थी हैं, और जनसाधारण भोले और असहाय हैं। ऐसी परिस्थिति में दृष्टि अगर किसी के पास है तो वे हैं कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ता जिनकी कोई सुनता नहीं और इसलिए सब दुःख भोगते हैं। पर वास्तव में इतना सरल नहीं था—उसके अनेक सूत्र जटिल ग्रंथि के रूप में जुड़े हुए थे, जिनकी पहचान के लिए और गहरे उतरने की जरूरत थी। लेखक ने बीच-बीच में उस गहराई का परिचय दिया है, निस्संदेह, उदाहरण के लिए हम दूसरे खंड में हरनामसिंह और उसकी पत्नी बंतो के चित्रण का उल्लेख करना चाहेंगे। यह चित्रण 'तमस' का शायद सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है जो पति-पत्नी की सरलता, बेबसी और संत्रास को

अत्यंत यथार्थ और गहरे रूप में प्रस्तुत करता है। नत्थू के चित्रण और इस दंपति के चित्रण को आमने-सामने रखकर हम सहज ही दोनों का अंतर पहचान सकते हैं पर उपन्यास की बुनावट में उसका प्रयोग नहीं किया है। इसलिए उन मार्मिक अंशों के बावजूद उपन्यास का समग्र स्तर सामान्य ही बना रह जाता है, और वह एक आविष्कार का रूप नहीं ले पाता, जो ऐसे उपन्यास की शर्त है। यही नहीं, उसमें उस विभीषिका की भयावहता और करुणा भी टूट-टूट जाती है।

गहराई के मुआवजे के रूप में हमें लेखक ने विवरण-कौशल और यत्न से संतोष देना चाहा है, और यह निर्विवाद है कि 'तमस' के अनेक प्रसंग इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। इसी तरह कुछ पात्र भी इतने अनायास और जीवंत रूप में चित्रित हुए हैं कि भुलाये नहीं भूलते। इनमें सबसे पहले आता है जरनैल जो 1930 से कांग्रेस का कार्यकर्त्ता है, और अब सनक गया है। वह चाहे जहां, चाहे जब अपना रटा-रटाया भाषण देने लगता है, और अंत में दंगे में मारा जाता है। मानो उसके मन में एक पूरा संसार बसा हुआ है जिसमें वह जीता और रहता है, वास्तविक संसार जैसे उसके लिए थम गया है। दूसरा पात्र है शाहनवाज़ जो पढ़ा-लिखा मुसलमान है, संपन्न घराने का है, अफसरों तक उसकी रब्त-जब्त है, और अगर उसकी कार रात के अंधेरे में दंगे के लिए हथियार मुहय्या करती है तो दिन में अपनी हिंदू दोस्त को सुरक्षित स्थान में पहुंचाती है। उसके चरित्र की जटिलता की ओर भी लेखक ने संकेत किया है, और जब अपनी हिंदू भाभी के गहने बचाने के लिए वह बेधड़क उनके पुराने घर में जाता है तो लौटते समय घर के हिंदू नौकर पर अचानक प्रहार कर बैठता है। इस तरह के स्वाभाविक पुट लेखक ने अनेक पात्रों के चित्रण में प्रयुक्त किये हैं। खोई हुई कुल्हाड़ी के लिए लक्ष्मीनारायण की परेशानी, दीक्षा पाने के लिए मुर्गी काटते समय रणवीर की हिचक और बदहवासी, हरनामसिंह की 'वाहे गुरु' में आस्था, राजो का अपने घर में विधर्मियों को शरण देना, और प्रकाशो और अल्लारक्खा के प्रकरणों में चित्रण की यह बारीकी हमें प्रभावित भी करती है और स्थिति की जटिलता की झलक भी प्रदान करती है। इसी तरह उपन्यास के अंत की ओर चपरासी के संबंधी पंडित और उसकी ब्राह्मणी के ये वचन "अब हमारे पास आकर क्या करेगी, जी, बुरी वस्तु तो उसके मुंह में उन्होंने पहले से ही डाल दी होगी" (पृष्ठ 267)। समस्या के उस पक्ष की ओर इशारा करते हैं जिसका ब्रिटिश शासकों से कोई सीधा संबंध नहीं है।

ऐसा ही विवरण-कौशल हमें शहर की रोजमर्रा की मिली-जुली जिंदगी के चित्रण में, और फिर संप्रदायों के बीच क्रमशः बढ़ते तनाव के चित्रण में मिलता है। लेखक सभी वर्गों और स्तर के लोगों की झलकियां प्रस्तुत करके एक व्यापक स्थिति की गंभीरता को संप्रेषित करने में सफल हो जाता है। इनमें से कोई भी वर्णन या कोई भी झलक असाधारण अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, पर कुल मिलाकर वे हमें उस दहशत से परिचित करा देते हैं जो सांप्रदायिक संघर्ष के कारण नगर-जीवन में मंडराने लग जाती है। गड़बड़ की पहली झलक

हमें तब मिलती है जब 'तमीरा काम' में लगे कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं पर अचानक कंकड़-पत्थर बरसने लगते हैं और बस्ती के लोग उनसे दूरी और परायापन बरतने लगते हैं। तभी उन्हें सूचना मिलती है कि 'केलों की मस्जिद' की सीढ़ियों पर "कोई आदमी सूअर मारकर फेंक गया है" (पृष्ठ 60)। वे बड़े साहस से जाकर सूअर को वहां से हटा लेते हैं पर "तभी कुएं की ओर से किसी के भागते कदमों की आवाज आयी। तीनों ने घूमकर देखा, एक गाय भागती आ रही थी। उसके पीछे-पीछे एक आदमी सिर पर मुंडासा बांधे और हाथ में डंडा लिये भागता हुआ उसे हांके ले जा रहा था। उसकी छाती खुली थी और गले में तावीज झूल रहा था। चिकनी खालवाली, बादामी रंग की गाय थी, मोटी-मोटी चकित-सी आंखें। डर के मारे उसकी पूंछ उठी हुई थी। लगता जैसे रास्ता भटक गयी हो। तीनों ठिठक गये। मुंडासेवाले आदमी ने मुंह लपेट रखा था। गाय को हांकता हुआ वह सड़क पर से गुजरा और फिर उसे दायें हाथ एक गली की ओर ले गया।" (पृष्ठ 63)। ध्यान देने की बात यह है कि कांग्रेस के ये तीन कार्यकर्त्ता जो मुस्लिम भावना को चोट पहुंचाने के ख्याल से हिम्मत बांधकर मस्जिद की सीढ़ी से मरा हुआ सूअर हटा देते हैं, वे गाय का इस तरह पीछा होते देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ ही चित्रित किये गये हैं : "बख्शीजी देर तक ठिठके रहे। फिर धीरे-से बोले : लगता है शहर पर चीलें उड़ेंगी। आसार बहुत बुरे हैं। और उनका चेहरा पहले से भी ज्यादा पीला और गंभीर लगने लगा।" (पृष्ठ 63)। तनाव का यह आभास देने के बाद लेखक हमें 'शिवाले के बाजार' में ले जाता है। वहां की दैनिक शांतिपूर्ण जिंदगी का वर्णन भी उसने इसी कौशल से किया है : "नगर का कार्यकलाप फिर से जैसे किसी संगीत की लय पर चलने लगा हो।" (पृष्ठ 98)। और फिर दर्जी खुदाबख्श पर अपने कैमरे को कुछ देर टिकाकर लेखक फिर से एक छोटे-से इशारे से तनाव के दूसरे पक्ष की ओर इशारा कर देता है : "घड़ियाल की हलकी-सी टुन-टुन सुनायी दी। खुदाबख्श की नजर फिर दीवार पर गयी। गोरखा घड़ियाल के साथ नयी रस्सी बांध रहा था। घड़ियाल इसी कारण हिल गया था और टुन-टुन की आवाज आयी थी। गोरखे ने बारारियों में तेल लगा दिया था, और घड़ियाल चमचमा रहा था।"..."इस घड़ियाल की आवाज सुनकर रूह कांप जाती है," खुदाबख्श ने कहा, "पहले फसाद में जब बजा था तो मंडी में आग लग गयी थी और शोले आधे आसमान को ढके हुए थे।" (पृष्ठ 101)। और उस दिन रात को यही घड़ियाल बजने लगता है जिसे नत्थू चमार भी सुनता है और रिचर्ड के बंगले में उसकी पत्नी लीजा भी। और फिर रात-भर 'अल्ला-हो अकबर' और 'हर-हर महादेव' के नारे गूंजते हैं। लाला लक्ष्मीनारायण अपने आर्यवीर बेटे रणवीर की चिंता में अपनी छत पर चहलकदमी करते हैं तो उन्हें गली में 'भागते कदमों की आवाज' सुनायी देती है। उस रात गली में चलते कदमों की हर आवाज ऊंची हो गयी थी और कानों के साथ-साथ सीधा दिल पर बजती थी।" (पृष्ठ 133)। अगले दिन : "मुहल्लों के बीच लीकें खिंच गयी थीं, हिंदुओं के मुहल्ले में मुसलमान की जाने

की अब हिम्मत नहीं थी। और मुसलमानों की मुहल्ले में हिंदू-सिख अब नहीं आ-जा सकते थे। आंखों में संशय और भय उतर आये थे। गलियों के सिरों पर और सड़कों के नाकों पर जगह-जगह कुछ लोग हाथों में लाठियां और भाले लिये और मुश्कें बांधे छिपे बैठे थे।" (पृष्ठ 135)। और आगे : "स्थिति में पहले से कहीं अधिक उग्रता आ गयी थी।बाजारों की सड़कें सूनी पड़ी थीं, न कोई दुकान खुली थी, न कहीं कोई टांगा-मोटर चल रही थी। अगर किसी दूकान के किवाड़ खुले हों तो समझ लो लूट ली गयी है। अगर लाठियां लिये कुछ लोग खड़े हों तो समझ लो उन्हीं के संप्रदाय के लोगों का मुहल्ला शुरू होता है।" (पृष्ठ 151)। और जब पांचवें दिन शहर में इस उथल-पुथल के बाद फिर एक सहमी-सी शांति स्थापित हो जाती है तो उसका वर्णन भी इसी विवरण-कौशल का प्रमाण है।

उपन्यास का सबसे सबल पक्ष है संप्रदायों की मनोवृत्ति और संघर्ष के लिए उनके उन्माद और उनकी तैयारी का सूक्ष्म और बहुरंगी चित्रण। इस चित्रण में उस गहराई के भी दर्शन होते हैं जिसका जिक्र हम पहले कर आये हैं। मंदिर में साप्ताहिक सत्संग की समाप्ति पर वानप्रस्थीजी का भाषण जिसका अंत इस आर्यसमाजी लटके से होता है : "फैलाये घोर पाप यहां मुसलमीन ने। नेअमत फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने॥" (पृष्ठ 65)। और फिर अंतरंग सभा की बैठक जहां सूचना दी जाती है कि "जामा मस्जिद में लाठियां, भाले और तरह-तरह का असला बहुत दिनों से इकट्ठा किया जा रहा है।" (पृष्ठ 66)। और एक बुजुर्ग का बार-बार आग्रह : "ओ भरावो, डिप्टी कमिश्नर से मिल।" अंत में तैयारियों की एक लंबी फेहरिस्त (पृष्ठ 70)। इसी के साथ-साथ लेखक हमें नवयुवक रणवीर का परिचय देता है और उसकी मानसिक गठन में समस्या के एक पक्ष की बड़ी गहरी झलक मिल जाती है : "रणवीर, जब इससे भी छोटा था तो मंत्रमुग्ध-सा मास्टरजी के मुंह से वीरों की कहानियां सुना करता था—शहर के आसपास के पहाड़ों को देखता तो उन पर उसे कभी चेटक घोड़ा दौड़ता नजर आता, कभी किसी चट्टान पर घोड़े की पीठ पर बैठे शिवाजी नजर आते, दूर तुर्कों के लश्करों की ओर देखते हुए—मास्टरजी ने ही रस्सी में तरह-तरह की गांठें लगाना सिखाया था। मकान की दीवार फांदकर, ऊपर चढ़ना, अग्निबाण और मेघबाण के गुण बताए थे।" (पृष्ठ 71)। इसी मनोवृत्ति का फल है कि रणवीर और उसके साथी 'दीक्षा' लेते हैं, 'शस्त्रागार' बनाते हैं, तेल गरम करने के लिए कढ़ाही न देने पर अपने ही धर्म-भाई हलवाई पर प्रहार करते हैं, छुरा चलाने का अभ्यास करते हैं, और अंत में निरीह इत्रफरोश की बलि ले लेते हैं। पूरा का पूरा प्रसंग यथार्थ की पकड़ और अंतरंग चित्रण की गहराई के लिए अविस्मरणीय बन जाता है।

ऐसा ही अविस्मरणीय प्रसंग है दूसरे खंड में गुरुद्वारे में जुटी सिक्ख संगत का। सिक्ख सरदारों की पोशाक, उनके तेवर, उनकी धर्म-परायणता और वर्तमान को अतीत की शर्तों पर जीने की उनकी चाह : "इस विलक्षण क्षण में उनकी आत्मा अपने पुरखों की आत्मा से जा मिली थी, वे फिर से जैसे अतीत में

जा पहुंचे थे। तुर्कों के साथ लोहा लेने का फिर से समय आ गया था--उनकी चेतना फिर से शताब्दियों पहले के वायुमंडल में सांस लेने लगी थी।" (पृष्ठ 190)। अगले पृष्ठों पर पूरी संगत का और विशेष रूप से सरदार तेजसिंह का जो अंकन हुआ है वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी और प्रभावकारी है। उसका चरम-बिंदु तब आता है जब संकट से बचने का और कोई उपाय न देखकर गुरुद्वारे का पूरा नारी-समाज 'कुरबानी' के लिए चल देता है : "उसी वक्त गुरुद्वारे में से उजले कपड़ों में मलबूस स्त्रियों की एक डारसी निकली। आगे-आगे जसबीर कौर थी, अधमुंदी आंखें, तमतमाता चेहरा। लगभग सभी औरतों ने अपने दुपट्टे सिर पर से उतारकर गले में डाल लिये थे : सभी के पैर नंगे थे।...स्त्रियों का झुंड उस पक्के कुएं की ओर बढ़ता जा रहा था, जो ढलान के नीचे दायें हाथ बना था--मंत्रमुग्ध-सी सभी उस ओर बढ़ी चली जा रही थीं।...सबसे पहले जसवीर कौर कुएं में कूद गयी।" (पृष्ठ 238-239)। और हालांकि लेखक ने मुस्लिम संप्रदाय की प्रतिक्रिया और तैयारी का ऐसा जमा हुआ वर्णन कोई नहीं किया है, फिर भी यथाप्रसंग उसका छिटपुट चित्रण अवश्य हुआ है जिसे जोड़कर इन प्रसंगों के समकक्ष बनाया जा सकता है।

तो फिर गड़बड़ कहां है? जब इतनी विविधता और निपुणता से बहर और उसके गांवों का चित्रण हुआ है, फिर 'तमस' अपनी समग्रता में कोई स्थायी और गहरा प्रभाव क्यों नहीं छोड़ता? हमारे मत से इसके तीन कारण हैं। पहले कारण की ओर तो पहले ही इशारा किया जा चुका है। कथा-वस्तु में दो-तीन तार ऐसे होते हैं जो सतही, सरलीकृत और इसीलिए कृत्रिम लगते हैं। दूसरा कारण है पूरी स्थिति की अविशेषता। कुछ गौण पात्रों के अतिरिक्त पूरे उपन्यास में थोक स्थितियां और थोक पात्र ही अंकित हुए हैं, जो हमारे मन में विशिष्ट नहीं बन पाते, और इसलिए हमें कोई नया अनुभव नहीं दे पाते। लेखक ने आतंक का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है : "भयाकुल, भागते हुए लोग सभी एक जैसी ही आवाज में पुकारते हैं।" (पृष्ठ 133)। यह वर्णन बड़ा ही सटीक है, पर इसको जरा-सा बदलकर यह भी कहा जा सकता है कि सभी सांप्रदायिक संघर्ष एक-जैसे ही होते हैं। इस अविशेष स्थिति के गहरे में जाकर उसे एक ठोस और विशिष्ट अनुभूति बनाना जरूरी है, तभी वह हम तक उस ताप का संप्रेषण कर सकती है जो कलाकार का अभीष्ट होता है। विशेषत्व के इस अभाव में लेखक का सारा श्रम, सारा यत्न और सारा कौशल पच्चीकारी या मंडन-भर बनकर रह जाता है, कृति में कोई गुणात्मक आयाम नहीं जोड़ पाता। तीसरा और सबसे बड़ा कारण है 'तमस' के रूपबंध या उसकी बुनावट का बिखराव। 300 से भी कम पृष्ठों के इस उपन्यास के दो खंड हैं। पहला खंड पूरी तरह बहर की कहानी कहता है और नत्थू का पात्र उसमें बीच-बीच में प्रकट होता रहता है। तिस पर इस खंड में भी कथा-सूत्र लगातार आगे-पीछे होता रहता है और किसी क्रमबद्धता की सृष्टि नहीं हो पाती। दूसरा खंड शहर के आसपास के गांवों की कथा उठाता है जिसमें कुछ नये पात्र समाविष्ट होते हैं और जिसके अंत में कहानी फिर शहर पर आकर

*ठहरती है। यही नहीं, नत्थू और हरनाम सिंह के वर्णन में लेखक नाटकीय उपन्यासों के-से शिल्प का सहारा लेकर, संप्रदायों के चित्रण में आंचलिक उपन्यासों का-सा शिल्प अपनाता है और रिचर्ड एवं लीजा के चित्रण में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का-सा । फलस्वरूप विविधता तो सिद्ध हो जाती है; पर एकसूत्रता नष्ट हो जाती है। शुरू से आखिर तक हम यही नहीं समझ पाते कि लेखक कहां खड़ा है, वह अपनी दृष्टि का कोण निरंतर बदलता रहता है, और कभी एक पैंतरे से और कभी दूसरे पैंतरे से कथा को आगे बढ़ाता है। इसीलिए कहानी बार-बार टूट जाती है, और बार-बार नये सिरे से उठानी पड़ती है। उपन्यास के समग्र प्रभाव के लिए यह सहायक नहीं बनती और पाठक को ऐसा लगने लगता है कि इस विभीषिका का 'क्लोज-अप' लेने की कोशिश में लेखक का कैमरा बार-बार हिल जाता है और तस्वीरें गड़बड़ा जाती हैं। आज के 'साइकेडेलिक' युग में इस प्रकार के 'क्लोज-अप' की भी अच्छी संभावनाएं हैं, पर उसके लिए यह कुछ और कलात्मक निष्ठा की मांग करता है।

इसलिए 'तमस' उस विभीषिका की भयावहता और संत्रास का पूरा संप्रेषण नहीं कर पाता और थोड़ी देर उठाने के बाद एक मद्धम स्वर पर बजता हुआ सम पर आ जाता है। तथापि पूरे उपन्यास में नगर-जीवन और ग्राम-जीवन के जो निविड़ और कसे हुए लघुचित्र हैं वे अपने कवित्व से हमें जरूर मुग्ध कर लेते हैं। शहर-जीवन के संगीत की लय का चित्र, चांदनी रात और लुकाटों की महक के चित्र और धीरे-धीरे पौ फूटने के चित्र बहुत देर तक याद रहते हैं।

[रचनाकाल 1973, 'आलोचना' अप्रैल-जून 1973 में प्रकाशित, 'कवि की दृष्टि' में संकलित।]

हिंदी साहित्य के पच्चीस वर्ष

पिछले पच्चीस वर्ष के दौरान हिंदी साहित्य के क्षेत्र में चर्चाओं और आंदोलनों की धूम रही, जैसा कि स्वतंत्रता के वातावरण में स्वाभाविक ही था। यही नहीं, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के चलन की दृष्टि से भी यह युग समृद्ध ही कहलायेगा, हालांकि धीरे-धीरे स्थायी पत्रिकाओं की कमी होती गयी है और लघु-पत्रिकाओं का रिवाज बढ़ता गया है जो कलेवर में तो लघु हैं ही, जिनका जीवन-काल भी लघु है। पर ऐसी जोरदार और निरंतर साहित्य-चर्चा के बीच जो स्थायी महत्त्व की कृतियां हमें प्राप्त हुई हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है। जाहिर है कि चर्चाओं में बहुत कुछ अंश केवल मत-मतांतर और सामयिक ले-दे का ही रहा है।

इस काल की जिन कृतियों का महत्त्व आसानी से पहचाना जा सकता है, वे हैं : मैला आंचल (1954), अंधायुग (1955), झूठा सच (1958-60), चांद का मुंह टेढ़ा है (1964), आधा गांव (1967), आधे अधूरे (1969) और आपका बंटी (1971)। इस दृष्टि से हम इसे उपन्यास और नाटकों का युग मान सकते हैं, यद्यपि इस अवधि में सबसे अधिक चर्चा नयी कविता को ही लेकर हुई। वैसे कविता के क्षेत्र में सृजनशीलता भी अधिक सक्रिय दिखायी पड़ी, पर नयी कविता का बल अधिकांश में छोटी कविता पर रहा और इसलिए जब तक इन कविताओं का कोई सच्चा प्रतिनिधि संकलन तैयार नहीं किया जाता, तब तक उसका सच्चा मूल्यांकन कठिन है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि यद्यपि इस दौर के सर्वप्रमुख कवि अज्ञेय ही रहे, तथापि पश्चादवलोकन से यह सिद्ध होता है कि अज्ञेय नयी कविता के जिस पक्ष का प्रतिनिधित्व करते रहे वह उसका रूमानी और व्यक्ति-धर्मी पक्ष था। उनके बरक्स मुक्तिबोध नयी कविता के यथार्थपरक समाजवादी पक्ष के प्रतिनिधि हैं जिसका महत्त्व अधिक स्थायी है और जिसमें अपने युग के योग्य क्रांतिकारी अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि आज का कवि मुक्तिबोध को अपना अग्रज मानता है, अज्ञेय को नहीं। पिछले दशक के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि धूमिल की रचनाएं मुक्तिबोध के अधिक निकट लगती हैं, अज्ञेय के नहीं।

'मैला आंचल', 'झूठा सच' और 'आधा गांव' पिछले पच्चीस वर्षों के उपन्यासों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'मैला आंचल' से तो आंचलिक उपन्यासों का एक नया दौर शुरू हो गया जिसकी परिणति 'राग-दरबारी' में हुई जो एक प्रकार से उस विधा पर भी व्यंग्य है। पर इस काल के सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में जो बात दर्शनीय है वह यह है कि लेखक शहरी जीवन की संकीर्णता को छोड़कर किसी संपूर्ण जनपद अथवा जन के जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। ऊपर से देखने पर यशपाल के 'झूठा सच' में आंचलिक उपन्यास की सामान्य विशेषताओं का अभाव है, पर अंततः वह भी एक संपूर्ण जन को आक्रांत कर लेनेवाली विभीषिका का आलेख है। हाल ही में प्रकाशित भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' उसी कथानक का अधिक आंचलिक निर्वहन है। भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र' और अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' भी ऐतिहासिक अथवा सामाजिक संदर्भों में जन-जीवन का ही अध्ययन है। इसी प्रकार राही मासूम रजा के उपन्यास जौनपुर के मुस्लिम समाज का मार्मिक और गहरा अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्र भारत का उपन्यासकार अपने जनों से सुख-दुख से बड़ा गहरा लगाव अनुभव करता है।

लेकिन पिछले पच्चीस वर्षों में हिंदी साहित्य के जिन क्षेत्रों में अत्यंत उल्लेखनीय और प्रीतिकर विकास हुआ है वे हैं : नाटक, जीवनी और व्यंग्य-रचना। आज़ादी के पहले हिंदी नाटक और हिंदी रंगमंच में कोई घनिष्ठ संबंध न था। प्रसाद के नाटक मंच पर नहीं लाये जा सके। इसलिए स्वातंत्र्योत्तर युग की बहुत बड़ी घटना है हिंदी नाटक और हिंदी रंगमंच में दुबारा सक्रिय और घनिष्ठ संबंध की स्थापना। इस काम की शुरुआत 'अंधायुग' से हुई। हालांकि 'अंधायुग' की रचना मूलतः एक रेडियो नाटक के रूप में हुई थी, पर उसका कथ्य इतना मार्मिक था, और उसमें नाटकीय दृष्टि का इतना अच्छा निर्वाह था कि अलकाजी जैसे निष्ठावान निर्देशक के हाथों उसने मंच पर अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। 'अंधायुग' से 'आधे-अधूरे' तक हिंदी नाटक की कहानी निरंतर विकास की कहानी है। इस विकास में मोहन राकेश का अविस्मरणीय योगदान रहा है। वस्तुतः पिछले पच्चीस वर्षों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेखक असमय ही हमारे बीच से चले गये (मुक्तिबोध और राकेश), यह हिंदी साहित्य के लिए बड़े कष्ट की बात है।

जीवनी के क्षेत्र में अमृतराय ने अपने पिता विख्यात हिंदी कथाकार प्रेमचंद पर 'कलम का सिपाही' नामक ग्रंथ की रचना कर इस उपेक्षित विधा को अचानक जीवित-जागृत कर दिया। प्रेमचंद की रचनाओं, पत्रों और संस्मरणों की यह त्रिवेणी अपनी प्रभावोत्पादकता में अत्यंत मार्मिक कृति है। कुछ वर्ष बाद प्रकाशित रामविलास शर्मा की कृति 'निराला की साहित्य साधना' आधुनिक युग में सर्वश्रेष्ठ कवि-व्यक्तित्व का विशद चित्रण है। यद्यपि दोनों ही कृतियों में उस तटस्थ दृष्टि का अभाव है जो आदर्श जीवनी के लिए महत्त्वपूर्ण मानी गयी है, तथापि दोनों ही अपने विषय का बड़ा ही मर्मस्पर्शी रूप खड़ा कर देती हैं, और दोनों

को साहित्य अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। इस प्रसंग में यशपाल के आत्मपरक संस्मरण 'सिंहावलोकन' का और बच्चन की तथाकथित आत्मकथा के दो खंडों का भी उल्लेख किया जा सकता है, पर तटस्थता की कमी जीवनी में चाहे उतनी न खटके, आत्मकथा के लिए तो वह मारक होती है।

नाटक और जीवनी के नवोन्मेष के ही समांतर इस काल में हिंदी व्यंग्य-रचना ने एक नया धरातल प्राप्त किया। इस क्षेत्र के प्रमुख पुरुष हैं हरिशंकर परसाई जिन्होंने तात्कालिक सामाजिक-राजनीतिक विघटन और मूल्य-क्षति को अपनी पैनी प्रतिभा का लक्ष्य बनाया है। हाल ही में प्राप्त यह समाचार कि उन्हें उनकी रचनाओं के लिए गुंडों से मार खानी पड़ी है और उन्हें जान से मार डालने की भी धमकी दी गयी है, इस बात का प्रमाण है कि उनका लेखन कितना दूरव्यापी और असरदार है। परसाई के साथ-साथ इस क्षेत्र में शरद जोशी और रवींद्रनाथ त्यागी ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

[रचनाकाल 1973, 'लोकराज'
अगस्त 1973 में प्रकाशित।]

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का रूपबंध और शिल्प

रचना का उद्देश्य अच्छा हो सकता है, कथानक रोचक हो सकता है, और चरित्र-चित्रण प्रभावोत्पादक, फिर भी अगर उसका रूपबंध उपयुक्त न हो अथवा शिथिल हो, तो रचना असफल और प्रभावहीन हो सकती है; क्योंकि रूपबंध रचना का वह आधारभूत सांचा है जिसमें उसके विभिन्न अवयव एक समग्रता प्राप्त करते हैं। यदि यह समग्रता ही प्रभावहीन हो तो अवयवों का सौंदर्य उसे सुंदर या प्रभावकारी नहीं बना सकता। इसीलिए रूपबंध का अध्ययन आवश्यक होता है। रूपबंध के अध्ययन से ही यह पता चल सकता है कि उपन्यास में कथानक और पात्रों का विकास उसके उद्देश्य के अनुकूल हुआ है या नहीं और उनका परस्पर संबंध सानुपातिक है या नहीं।

विद्वानों ने मोटे रूप में उपन्यास के कुछ कला-गत वर्ग बना रक्खे हैं जैसे, घटना-प्रधान उपन्यास, चरित्र-प्रधान उपन्यास, नाटकीय उपन्यास, युगीन उपन्यास और आत्मकथात्मक उपन्यास। लेकिन ये वर्ग बहुत स्पष्ट नहीं हैं क्योंकि इनमें उपन्यास के किसी एक तत्त्व पर ही बल दिया गया है। इस प्रकार के विभाजन से उपन्यास की कुछ विशेषताएं तो पकड़ में आ जाती हैं, पर कला-कृति का संपूर्ण वैशिष्ट्य उजागर नहीं हो पाता। यह काम उपन्यास के रूपबंध की परख करके ही किया जा सकता है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में घटनाएं इतनी अधिक हैं और वे इतनी तेजी से घटती रहती हैं कि पहली नजर में पाठक उसे घटना-प्रधान उपन्यास भी कह सकता है। पर वह सचमुच में घटना-प्रधान उपन्यास नहीं है। घटना-प्रधान उपन्यास की दो स्पष्ट विशेषताएं मानी गयी हैं। पहली तो यह कि उसका पाठक घटनाओं में इतना लीन हो जाये कि उसका कौतूहल निरंतर जाग्रत रहे और कदम-कदम पर उसके मन में प्रश्न उठता रहे कि 'फिर क्या हुआ?' स्पष्ट है कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' इस ढंग का उपन्यास नहीं है, क्योंकि तब उन तर्क-गोष्ठियों और वाद-विवादों की क्या सार्थकता हो सकती है जो सारे उपन्यास में भरे पड़े हैं और जो कदम-कदम पर घटनाओं के प्रवाह में रोड़े अटकाते हैं? घटना-प्रधान उपन्यास की दूसरी विशेषता यह मानी गयी है कि उसमें घटनाएं ही मुख्य

होती हैं, पात्र तो कथा-प्रवाह में तिनकों या पत्तों की तरह बहते चले जाते हैं, उनकी विशेषताएं नहीं निखर पातीं और घटनाओं पर उनका कोई वश नहीं होता। इस दृष्टि से भी 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को घटना-प्रधान उपन्यास नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें लेखक ने विभिन्न पात्रों की विशेषताएं उजागर करने में काफी श्रम किया है, और वे घटनाओं से प्रभावित कम होते हैं, घटनाओं को प्रभावित अधिक करते हैं। यदि रामनाथ अहम्मन्य जमींदार न होते तो कथा का रूप ही कुछ भिन्न होता, अथवा यदि वीणा सच्ची आतंकवादी न होती तो प्रभानाथ को और स्वयं को भी मृत्यु के पथ पर न ले जाती। इस प्रकार यह सिद्ध है कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' घटना-प्रधान उपन्यास नहीं है।

तो क्या हम 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को चरित्र-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं? सामान्यतः, चरित्र-प्रधान उपन्यास में लेखक वर्णनात्मक ढंग से कुछ पात्रों को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है और जीवन के नाना मोड़ों और नाना परिस्थितियों के बीच उनका विकास चित्रित करके हमें जीवन की विविधता के दर्शन कराता है। इस उद्देश्य से वह उन प्रभावों और परिस्थितियों का अंकन करता है जो पात्र-विशेष के जन्म से अथवा जन्म-पूर्व से लेकर एक विशेष अवधि तक उसके व्यक्तित्व के निर्माण में योग देती हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यास में लेखक अपने रचे पात्रों की गतिविधि का अनुगमन करता है, उनकी छोटी-से-छोटी विशेषताओं का भी विवरण देना नहीं भूलता, और यदि कथानक पात्र-विशेष की प्रौढ़ावस्था से भी शुरू होता हो, तो कहीं-न-कहीं अवसर निकालकर वह उसके जन्म और बाल्य-काल का परिचय देना जरूरी मानता है। एक शब्द में, चरित्र-प्रधान उपन्यास में लेखक की दृष्टि अपने पात्रों पर टिकी रहती है, वे ही उसकी कथा के केंद्र होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' चरित्र-प्रधान उपन्यास भी सिद्ध नहीं होता। यह तो सही है कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में रामनाथ और उसके तीन बेटों के अलावा भी और बहुत से पात्र हैं जो काफी सशक्त ढंग से चित्रित हुए हैं और जो सब मिलकर हमें जीवन की विविधता के दर्शन करा देते हैं। पर रामनाथ के अतिरिक्त और किसी भी पात्र पर लेखक की नज़र देर तक टिकी नहीं रहती, वह बारी-बारी से कभी इस या कभी उस पात्र की गतिविधियों का अनुगमन करने लगता है और जहां उसका पूर्व-निश्चित प्रयोजन पूरा हो जाता है, वहीं उस पात्र-विशेष को छोड़कर दूसरे पर ध्यान देने लग जाता है। साथ ही, वह रामनाथ या और किसी भी पात्र के जन्म अथवा बचपन का उल्लेख नहीं करता और न उन परिस्थितियों या परिवेश पर ध्यान देता है जिन्होंने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया है। यदि लेखक का वास्तविक उद्देश्य चरित्र-प्रधान उपन्यास रचना होता, तो वह रामनाथ को जमींदार बनाकर ही छुट्टी नहीं पाता, उसकी अहम्मन्यता और संस्कारबद्ध रुचि के कारणों की भी खोज करता, क्योंकि रामनाथ के ही समकालीन ऐसे अनेक ज़मींदार थे जो दयालु और स्वदेशभक्त थे, और जिन्होंने आगे बढ़कर देश की राजनीतिक हलचलों में हिस्सा लिया था। रामनाथ

ऐसे क्यों न हो सके, यह लेखक नहीं बताता। इसी प्रकार दयानाथ किस प्रकार कांग्रेस की ओर झुके, या वीणा क्यों आतंकवादी बनी, इनका कोई कारण लेखक उपस्थित नहीं करता। वे जैसे हैं उन्हें वैसा ही हम मानकर चलें, लेखक यही कहता प्रतीत होता है। अर्थात् 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्र विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी नहीं हैं, वे कुछ वर्गों या प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं, जिनका अध्ययन करना लेखक का इष्ट जान पड़ता है। लेखक की नज़र अपने पात्रों पर नहीं है, वर्गों और प्रवृत्तियों के अध्ययन पर है। यही कारण है कि यद्यपि उमानाथ औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करके जर्मनी से स्वदेश लौट रहा है, पर वह बंबई न आकर कलकत्ता आता है। सामान्यतः उसे जहाज से बंबई उतरकर रेल से अपने शहर तक आना चाहिए था, पर यदि लेखक ऐसा दिखाता तो उसे प्रभानाथ को कलकत्ते ले जाने का कोई अवसर न मिलता। और कलकत्ता गये बिना प्रभानाथ का संपर्क आतंकवादियों से न हो पाता। अर्थात् उपन्यास में आतंकवाद की भूमिका का समावेश करने के लिए ही लेखक ने प्रभानाथ को कलकत्ता पहुंचाया है। कथानक और पात्रों के साथ ऐसी मनमानी करके लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह न तो घटना-प्रधान उपन्यास लिख रहा है, न चरित्र-प्रधान। जो आलोचक 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को चरित्र-प्रधान उपन्यास मानते हैं वे अपने सारे तर्क रामनाथ के चरित्र-चित्रण पर ही टिकाते हैं, क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि रामनाथ का चरित्र-चित्रण लेखक ने काफी विस्तार से किया है और बहुत हद तक उपन्यास की कथा उन्हीं के चारों ओर घूमती रहती है। पर इसका कारण यह नहीं है कि लेखक रामनाथ की जीवन-कथा सुनाना चाहता है, वरन् वह तो रामनाथ को पूरी कथा के सूत्र के रूप में प्रस्तुत करता है। उसका वास्तविक उद्देश्य तो समकालीन राजनीतिक जीवन के विविध पक्षों का विश्लेषण और अध्ययन करना है। उपन्यास का प्रारंभ और अंत रामनाथ से ही होता है जो उपन्यास को एक कलाकृति की संपूर्णता प्रदान करता है, और अंत में रामनाथ के व्यक्तित्व में जो नाटकीय मोड़ आता है (रामनाथ अपनी सारी अकड़ भूलकर अपने वंशधरों का सहारा ले लेता है) वह रामनाथ को प्रतिनिधि-पात्र के स्तर से उठाकर उसे विशिष्ट व्यक्तित्व से भी मंडित कर देता है, पर फिर भी वह उपन्यास को अपने मूल उद्देश्य से अलग नहीं करता।

यहीं पर हम जरा रुककर इस बात पर भी विचार कर लें कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' कहीं जीवन-चरितात्मक उपन्यास तो नहीं है। जीवन-चरितात्मक उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास का ही एक प्रकार होता है जिसमें बहुत-से पात्रों की बजाय उपन्यास के प्रधान पात्र की ही जीवनी का चित्रण होता है। पर 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में रामनाथ प्रधान पात्र होते हुए भी उसकी जीवनी का कोई अंकन नहीं है, उसके व्यक्तित्व के बहुत-से पहलुओं के बारे में हम अनजान रह जाते हैं। (उदाहरण के लिए उसकी पत्नी अर्थात् दयानाथ, प्रभानाथ और उमानाथ की मां का हमें कोई परिचय नहीं मिलता) और उसके बहुत-से कार्यों की व्याख्या हमारे लिए कठिन रह जाती है। स्पष्ट ही लेखक रामनाथ का जीवनीकार नहीं

है। वह रामनाथ के माध्यम से ऐसे अनेक पात्रों को हमारे सामने पेश करता है जो तत्कालीन राजनीति के नाटक में अपनी-अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। तब हो-न-हो, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को नाटकीय उपन्यास के रूप में जांचना भी जरूरी है।

नाटकीय उपन्यास का मूलाधार नाटक की ही तरह सामाजिक अथवा नैतिक द्वंद्व होता है। प्रमुख पात्रों की टकराहट—चाहे वह टक्कर प्रकृति की शक्ति से हो, सामाजिक तत्त्वों से हो, अथवा निजी और वैयक्तिक हो—धीरे-धीरे अपने चरम बिंदु पर पहुंचती है, और उपन्यास को नाटक की भांति गतिशील, प्रत्यक्ष और गहरा बना देती है। नाटकीय उपन्यास में लेखक स्वयं कभी सामने नहीं आता, वह तो कुछ चरित्रों को एक-दूसरे के सामने खड़ा कर देता है जो अपने विरोधी व्यवहार के कारण उपन्यास को गति और रोचकता प्रदान करते हैं। कथानक के विकास के साथ-साथ पात्रों की टकराहट भी गहरी होती जाती है और जीवन की विरोधी शक्तियों का गहरा अनुभव प्रस्तुत हो जाता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में इस प्रकार की कोई नाटकीयता नहीं है। लेखक ने कुछ पात्र तो जरूर उपस्थित किये हैं, पर उनमें से कुछ विरोधी शक्तियों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं, पर समग्र उपन्यास उनकी टकराहट पर आधारित नहीं है। लेखक बीच-बीच में स्वयं प्रकट होकर पात्रों को मनमाना मोड़ देता जाता है, उन्हें स्वतंत्र रूप से अपना विरोध विकसित करने नहीं देता। उदाहरण के लिए, शुरू में ही लेखक ने रामनाथ और डिप्टी कमिश्नर मिस्टर डाबसन की मुठभेड़ करायी है, जिससे यह आशा बंधती है कि आगे चलकर रामनाथ शायद अंग्रेजी शासन का विरोध करेंगे, पर वह प्रसंग वहीं समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार, बाद के प्रसंगों में भी लेखक पात्रों के विरोध को स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं होने देता, और उन्हें क्रिया-व्यापार से हटाकर तर्क-वितर्क में लगा देता है।

नाटकीय उपन्यास की दूसरी पहचान यह है कि उसमें घटनायें और चरित्र निरंतर एक-दूसरे को निरूपित और प्रभावित करते रहते हैं। प्रत्येक पात्र अपने व्यक्तित्व के कारण घटना का स्रष्टा बन जाता है, और प्रत्येक घटना अपने प्रभाव से पात्र के व्यक्तित्व में परिवर्तन ला देती है। इसी घात-प्रतिघात के माध्यम से उपन्यास में वह गहराई आती है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। पर 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में घटनाओं और पात्रों का ऐसा कोई घनिष्ठ और अनिवार्य संबंध अंकित नहीं हुआ है। इस दृष्टि से केवल रामनाथ ही ऐसा पात्र है जो घटनाओं की सृष्टि भी करता है (वह दयानाथ को घर से निकाल देता है, प्रभानाथ को बचाने की चेष्टा करता है। अपनी प्रजा के लोगों से टक्कर लेता है) और जिसे घटनायें प्रभावित भी करती हैं, यहां तक कि अंत में, वह अपने अक्खड़-स्वभाव को त्यागकर दयनीय बन जाता है। अतः रामनाथ से संबंधित अंश नाटकीय अवश्य है, पर समग्र उपन्यास में ऐसे अनेक अंश हैं जिनमें घटनाओं और पात्रों का ऐसा नाटकीय योग नहीं है। इसलिए समग्र

उपन्यास को नाटकीय नहीं माना जा सकता। विरोधी शक्तियों की टकराहट की झलक देने पर भी लेखक उस टकराहट को विकसित और फलीभूत नहीं करता, वरन् उनके सहारे भारतीय इतिहास के एक युग की समस्याओं पर विचार करने की सामग्री प्राप्त करता है।

तो क्या हम 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को ऐतिहासिक उपन्यास मान लें? शायद इस प्रश्न का तुरंत ही उत्तर दिया जा सकता है : नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास में सामान्यतः पात्र और घटनायें ऐतिहासिक होती हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में सत्याग्रह-आंदोलन जैसी कुछ घटनायें ऐतिहासिक अवश्य हैं, पर पात्र कोई भी ऐतिहासिक नहीं है। तिस पर इन दो-चार घटनाओं के बावजूद हमें उपन्यास में लेखक इतिहास के किसी भी विवरण की ओर ध्यान देता नहीं मिलता, न उससे सामान्य पाठक तात्कालिक इतिहास का कोई सम्यक् ज्ञान ही पा सकता है।

ऐतिहासिक उपन्यास का ही एक विशेष प्रकार होता है जिसे विद्वान् युगीन उपन्यास की संज्ञा देते हैं। युगीन उपन्यास में ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच किसी युग-विशेष में समाज और जनों के जीवन का समग्र चित्र उपस्थित किया जाता है ताकि पाठक के मन में वह बीता हुआ युग फिर जीवंत हो जाये। यशपाल का 'झूठा सच' या स्वयं भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र' ऐसे ही युगीन उपन्यास हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में चित्रित समय में प्रचलित रीति-रिवाजों और लोक-व्यवहारों का विशद् अंकन होता है क्योंकि उसके बिना युग-विशेष को जीवित-जाग्रत नहीं किया जा सकता। 'भूले बिसरे चित्र' में जिस युग की कहानी है वही युग प्रेमचंद के उपन्यास 'कर्मभूमि' में भी चित्रित किया गया है। पर 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में उस युग के सामाजिक और लोक-जीवन की उतनी भी झांकी नहीं मिलती जितनी 'कर्मभूमि' में मिलती है। बल्कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वाद-विवाद और तर्क-वितर्क ही प्रमुख हो जाते हैं। सत्याग्रह के युग में ऐसा और भी बहुत-कुछ था जो महत्त्वपूर्ण था और जिसने पूरे देश की काया-पलट की थी। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में उसकी कोई तस्वीर नहीं मिलती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपन्यासों के स्वीकृत प्रकारों में से किसी भी प्रकार के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाता। यद्यपि उसमें सभी प्रकारों का व्यत्किंचित समावेश मिलता है (घटनाओं के घटाटोप के कारण यदि वह घटना-प्रधान उपन्यास प्रतीत होता है तो पात्रों की भीड़ के कारण वह चरित्र-प्रधान उपन्यास लगने लगता है, रामनाथ के नाटकीय चित्रण के कारण वह अगर नाटकीय उपन्यास होने का भ्रम उत्पन्न करता है तो एक युग-विशेष का चित्र होने के कारण वह युगीन उपन्यास का रूप लेता जान पड़ता है) तथापि वह किसी भी प्रकार-विशेष की सीमाओं में नहीं बंध पाता—उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह एक विशेष प्रकार का उपन्यास है और उसके महत्त्व को तभी समझा जा सकता है जब हम उसकी इस विशेषता का अध्ययन करें।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वर्माजी ने कथानक, घटनाओं और पात्रों को जिस प्रकार संयोजित किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी उस समय की भारतीय राजनीति में स्वतंत्रता, विकास या उन्नति के जो मार्ग प्रचलित थे उन सबों की परख करना चाहते हैं, और यह देखना चाहते हैं कि उनमें से सही और उत्तम मार्ग कौन-सा है। इसी कारण उन्होंने एक ऐसे विचित्र परिवार की कल्पना की है जिसमें अगर पिता संस्कार और रूढ़ियों से घिरा हुआ सनातन-पंथी है तो तीनों बेटों में से प्रत्येक एक-एक सुनिश्चित राजनीतिक दल का सदस्य है। यह तथ्य हमें सामान्यतया आसानी से स्वीकार न होता, पर वर्माजी ने घटनाओं और विवरणों के चुनाव में इतनी सावधानी बरती है कि हमारा ध्यान उस विचित्रता की ओर आसानी से आकर्षित नहीं होता और हम सहज ही लेखक की बात मान लेते हैं। यही नहीं क्योंकि वर्माजी के साथ-साथ हमें भी यह 'रास्तों की परख' रुचिकर और उपयोगी लगने लगती है, इसलिए थोड़ी देर बाद हम वर्माजी के इस कौशल की भी प्रशंसा कर उठते हैं।

अब सवाल उठता है कि इन रास्तों की परख की ऐसी आवश्यकता क्या थी? इसका उत्तर हमें वर्माजी के व्यक्तित्व में भी मिलता है, और उपन्यास-रचना के समय की परिस्थितियों में भी। उच्चशिक्षित मध्यवर्ग के सदस्य के रूप में वर्माजी का बचपन और कैशोर्य एक विचित्र संघर्ष में गुजरा जिसमें आर्थिक संघर्ष भी शामिल था। फिर नवयुवक के रूप में जब वर्माजी विश्वविद्यालय में पहुंचे तो देश की दुर्दशा और राजनीतिक दुरवस्था का सवाल भी उनके मन में लगातार उठने लगा। विश्वविद्यालय के वातावरण में जीवन और जगत् के नाना प्रश्नों पर मंथन करते रहना वर्माजी का स्वभाव ही बन गया। यहां यह बात दृष्टव्य है कि वर्माजी के अग्रज समकालीन उपन्यासकार प्रेमचंद का व्यक्तित्व भिन्न था, और इसलिए प्रेमचन्द के उपन्यास भी भिन्न प्रकार के हैं। प्रेमचंद के उपन्यास में ऐसे तर्क-वितर्क या तात्त्विक मंथन का कोई निशान नहीं है जो शिक्षित मध्यवर्ग की ही विशेषता है। पर वर्माजी शुरू से ही इन प्रश्नों में रुचि लेते रहे हैं। यदि उनके पहले उपन्यास 'पतन' की बात छोड़ दें (जो प्रारंभिक रचना होने के कारण कोई निश्चित रूप ग्रहण न कर सकी) तो उनका दूसरा उपन्यास 'चित्रलेखा' भी ऐसे ही प्रश्नों से जूझने का बड़ा सफल और मार्मिक प्रयत्न है। यद्यपि आलोचकों ने 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य की समस्या के दर्शन किये हैं, पर वस्तुतः उस उपन्यास में भोग या योग, अथवा मोह और त्याग की ही समस्या प्रधान है जो उन दिनों के युवा मन को बुरी तरह जकड़े हुई थी क्योंकि अगर उसका मन एक ओर भोग-विलास के संपन्न जीवन की ओर आकर्षित होता था तो दूसरी ओर अपने चारों ओर बिखरी दरिद्रता से विकल हो जाता था। इसी कारण 'चित्रलेखा' में अंततः त्यागपूर्ण प्रेम की विजय सिद्ध की गयी है, और यही कारण है कि 'चित्रलेखा' विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को निरंतर आकर्षित करती रही है।

'चित्रलेखा' की रचना लगभग 1934 में हुई थी, और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का प्रकाशन 1946 में हुआ। इस प्रकार दोनों उपन्यासों के बीच में लगभग एक दशाब्द यानी दस वर्षों का अंतर है। इन दस वर्षों में वर्माजी ने जीवन के कई अनुभव प्राप्त किये। वकालत का काम छोड़कर वे कलकत्ता चले गये जहां वे पत्र का संपादन करते रहे, और फिर दूसरे महायुद्ध के समय वे कलकत्ता से बंबई जा पहुंचे जहां उन्होंने फिल्म-जगत में काम किया। इस प्रकार इन दस वर्षों में वर्माजी ने पूरे उत्तर भारत के जीवन का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया और उन दिनों जीवन में जो प्रश्न उभरकर आ रहे थे, उन पर गहराई से विचार किया।

वर्माजी की इन वैयक्तिक विशेषताओं में तात्कालिक परिस्थितियां आ जुड़ीं। उन दिनों देश की राजनीति एक चौराहे पर आकर खड़ी थी। गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस का अंहिसात्मक सत्याग्रह-आंदोलन अपने पूरे उभार पर पहुंचने के बाद लोगों में संदेह और शंका उत्पन्न कर रहा था। भगतसिंह और चंद्रशेखर आज़ाद आदि क्रांतिकारियों के नेतृत्व में आतंकवादी संघर्ष भी तीव्र होकर विफल हो चुका था, सोवियत संघ की स्थापना के बाद साम्यवादी विचारधारा पूर्व के देशों में बड़ी तेजी से प्रसारित हो रही थी। भारत में भी साम्यवादी दल का गठन हो चुका था, और नेहरू के विचारों के सहारे देश में समाजवादी सिद्धांत भी उग्र चर्चा का विषय बन चुका था। इस प्रकार पहले की राष्ट्रीय राजनीति अब विभक्त होकर कई पंथों का अनुसरण करने लगी थी, और नवयुवकों के मन में सहज ही यह प्रश्न उठता था कि अब कौन-सा रास्ता अपनायें? वस्तुतः, यह एक मंथनकाल था जिसमें तरह-तरह के तर्कों के सहारे, तरह-तरह के सिद्धांत और आदर्श सामने आ रहे थे। इस वातावरण ने हिंदी साहित्य की सभी विधाओं को बड़ी तेजी से प्रभावित किया और साहित्य नये पथों का अन्वेषण करने लग गया था। यही वह काल है जब 'तार सप्तक' के कवियों ने प्रश्न किया था : कौन-सा पथ है? इसी कारण उसे प्रयोगवादी काव्य की संज्ञा मिली थी। कविता की भांति उपन्यास में भी इन प्रश्नों पर विचार किया जा रहा था। जैनेंद्र अगर अपने उपन्यासों में गांधी नीति का मंथन कर रहे थे तो यशपाल 'दादा कामरेड' के माध्यम से साम्यवादियों की नीति का।

विशिष्ट व्यक्तित्व और विशेष परिस्थितियों के मेल से ही वर्माजी के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को अपना स्वरूप प्राप्त हुआ है, प्रश्नों से जूझने के अभ्यस्त वर्माजी भी देश में प्रचलित राजनीतिक पथों का चित्रण करने लग पड़े। फलस्वरूप 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की रचना हुई जिसमें एक-एक प्रमुख पात्रों की कथा के माध्यम से एक-एक राजनीतिक पथ का अध्ययन किया गया है। पात्रों का चरित्र और कथानक की घटनाएं—सबको लेखक ने इस प्रकार संयोजित किया है कि तीनों-चारों राजनीतिक विचारधाराएं साकार हो जाएं : रामनाथ के माध्यम से परंपरागत यथास्थितिवादी या कहिए सहयोगवादी राजनीति, दयानाथ के माध्यम से अहिंसा असहयोगवादी राजनीति, प्रभानाथ और वीणा के माध्यम

से आतंकवादी राजनीति, और उमानाथ एवं मारीसन के माध्यम से साम्यवादी राजनीति। और इन सभी विचारधाराओं की परख करना लेखक का उद्देश्य है। तभी तो उसने उपन्यास के नामकरण में बहुवचन का प्रयोग किया है : 'टेढ़े मेढ़े रास्ते'।

अब सवाल उठता है कि यदि लेखक का यही उद्देश्य था तो उसने प्रत्येक विचारधारा की परख के लिए एक-एक पृथक् उपन्यास क्यों नहीं रचा, एक ही उपन्यास में चारों को एकत्र क्यों किया? इस प्रश्न के उत्तर में हमें लेखक की एक अन्य विशेषता का पता चल जाता है। वस्तुतः, लेखक के मन में इनमें से किसी भी विचारधारा के प्रति कोई आस्था नहीं है। लेखक यह नहीं मानता कि वह इन विचारधाराओं या सिद्धांतों को पूरी तरह नहीं जानता और उसे उनका पूरा परिचय खोजना चाहिए। यदि वह ऐसा मानता तो निश्चय ही वह इन विचारधाराओं में और भी गहराई से पैठता, और उनके कार्यकर्त्ताओं के जीवन को और भी भीतर से जांचता। पर हम देखते हैं कि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में ऐसी गहराई का कोई प्रयत्न नहीं है। घटनाएं जिस प्रकार ऊपरी और सतही हैं, उसी प्रकार सिद्धांत-चर्चा भी ड्राइंगरूम-वार्तालाप के ही रूप में है। क्योंकि लेखक उपन्यास के माध्यम से कोई आविष्कार या खोज करना नहीं चाहता है। हम जानते हैं कि इन्हीं दिनों जैनेंद्र कुमार ने 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' उपन्यासों की रचना की थी। 'सुनीता' में उन्होंने आतंकवादी क्रांतिकारी के सिद्धांत और व्यवहार की खोज की तो 'त्यागपत्र' में अहिंसा के सिद्धांत की। इसी प्रकार 'दादा कामरेड' में यशपाल ने साम्यवादी क्रांतिकारी दल का विश्लेषण किया। और क्योंकि ये दोनों लेखक इन सिद्धांतों की भीतर तक परख करना चाहते थे, इसीलिए ये उपन्यास इतने आंतरिक बन सके। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में अगर ऐसी कोई आंतरिकता नहीं है तो उसका कारण यही है कि लेखक वास्तव में किसी भीतरी खोज में नहीं लगा है। जिन राजनीतिक प्रश्नों को वह प्रस्तुत कर रहा है उनमें से किसी के प्रति उसका कोई आग्रह नहीं है। वह बड़ी आसानी से एक को छोड़कर दूसरे की ओर चल देता है। उसका उद्देश्य तो यही सिद्ध करना है कि वे सब-के-सब असफल रास्ते हैं। यह असफलता उस युग का ऊपरी यथार्थ अवश्य था और वही लेखक ने चित्रित किया है। इसीलिए वह चार उपन्यास न लिखकर एक ही उपन्यास लिखता है ताकि समस्या के सतही चित्रण का मौक़ा तो मिल जाये, पर उसके बहुत भीतर न जाना पड़े। और इसीलिए चारों रास्तों की असफलता सिद्ध कर उपन्यास प्रकट कर देता है कि ये सभी रास्ते 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हैं। अगर रांगेय राघव ने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के जवाब में 'सीधा-सादा रास्ता' लिखा तो उसका कारण भी यही था कि राघव साम्यवादी रास्ते को असफल मानने के लिए तैयार न थे।

इस प्रकार 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की बनावट में वर्मा का विशेष व्यक्तित्व पूरी तरह समाया हुआ है। वस्तुतः, वर्मा अपने समय की राजनीतिक उथल-पुथल

[illegible] जीवन की अनावश्यकता और अस्थिरता से इतने चिंतित हो गए थे कि उन्हें सभी राजनीतिक रास्ते व्यर्थ-से लगने लगे। इसी व्यर्थता की भावना को उपन्यास के केंद्र में रखने के लिए रामनाथ के रूप में केंद्रीय चरित्र का समावेश हुआ है जिसकी किसी राजनीति से कोई सहानुभूति नहीं है, जो कुल की मर्यादा और समाज की परंपरा से इतना जुड़ा हुआ है कि हरेक परिवर्तन पर भड़क उठता है और जो यह मानता है कि अन्याय भी शाश्वत है, और भेद भी। अंत में जब समय की मार के आगे उसे भी घुटने टेकने पड़ते हैं तो व्यर्थता की यह भावना अपने चरम पर पहुंचकर मार्मिक बन जाती है।

उपन्यास के इसी स्वरूप के कारण वर्माजी का शिल्प भी विशेष प्रकार का है। उनकी भाषा सीधी और सरल है जो सतही चित्रण के लिए एकदम उपयुक्त है। पात्रों के अनुरूप उसमें उर्दू-अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है और अवधी का भी, पर उसमें आंतरिकता का कोई प्रयत्न नहीं है। यदि वर्मा का दृष्टिकोण जैनेंद्र की भांति अन्वेषक का दृष्टिकोण होता तो उनकी भाषा में आंतरिकता का समावेश जरूरी हो जाता और कथानक के संयोजन एवं चरित्रों के चित्रण में मनोविश्लेषण की नाना युक्तियों का सहारा लेना पड़ता (जैसे, स्वगत-कथन, स्वप्न, पत्र, डायरी आदि) और बाहरी घटनाओं के स्थान पर आंतरिक प्रक्रियाओं पर बल देना पड़ता। पर वर्माजी का उद्देश्य यह नहीं था। वे एक प्रश्नात्मक उपन्यास के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक विचारधाराओं की असफलता का चित्रण करना चाहते थे, और इसमें वे पूर्ण सफल हुए हैं।

[रचनाकाल 1974, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते की पहचान' 1974 में संकलित।]

प्रसंग

राजनैतिक निबंध

प्रजातंत्र के लिए संक्रांति काल

जार्ज बर्नार्डशा ने अपने नाटक 'दी एपल कार्ट' में बहुत दिनों पहले ही प्रजातंत्र के लिए संकट-काल की सूचना दे दी थी। विगत महायुद्ध में प्रजातंत्र को एक अत्यंत भयंकर संकट का सामना करना पड़ा था, किंतु वह उसको सफलता से टाल सका। इस बार, मात्र दो दशाब्दों के बाद ही, एक अधिक भीषणकाय संकट प्रजातंत्र के सामने आ खड़ा हुआ है। इसलिए इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि प्रजातंत्र में ऐसे कौन से आंतरिक दोष हैं जिनके कारण उसके सामने निरंतर संकट उपस्थित हो जाते हैं। यह भी प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उस अधिनायकत्व की तुलना में, जिससे उसे आज जीवन-मरण का संघर्ष करना पड़ रहा है, उसमें कौन-सी अच्छाइयां हैं और कौन-सी बुराइयां हैं? और अंत में यह प्रश्न भी हमारे सामने आता है कि यदि प्रजातंत्र को समस्त पवित्रता और महानता के साथ जीवित रहना है तो उसको अपना पुनर्निर्माण किस प्रकार करना चाहिए। ये वे प्रश्न हैं जो हम से उत्तर की मांग करते हैं।

यह सर्वविदित है कि आज का प्रजातंत्र पूंजीवाद के आर्थिक आधार पर खड़ा हुआ है, जो यूरोप में औद्योगिक क्रांति और आर्थिक-स्वतंत्रता के फलस्वरूप उदित हुआ था। पूंजीवाद ने सामंतशाही का नाश किया और उसके बाद 19वीं शताब्दी में समस्त यूरोप में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। तब अपनी नवीनता की चमक में वह सबको बहा ले गया। लेकिन आर्थिक-स्वतंत्रता के नारे के कारण राष्ट्र की संपत्ति को कुछ व्यक्तियों के हाथ में केंद्रित करके उसने एक वर्ग और खड़ा करके उसको तीक्ष्ण कर दिया और इस प्रकार वर्तमान प्रजातंत्र का उदय हुआ, जो वास्तव में एक प्रकार की उच्चवर्गीय शासन-प्रणाली है। केंद्रित पूंजी स्वभावतः ही अपने लिए बाजार की मांग करती है, और इसीलिए इस शासन प्रणाली का यह स्वाभाविक परिणाम था कि उसने साम्राज्यवाद के दैत्य को जन्म दिया। अतएव इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि वर्तमान समय में जिसे हम प्रजातंत्र कहते हैं वह एक उच्चवर्ग द्वारा शासन है और उसमें प्रजा एवं जनता का कोई विशेष हाथ नहीं है।

वर्तमान प्रजातंत्र की यह मोटी भूल उन विचारकों से भी नहीं छिपी रह

सकी जो प्रजातंत्र के स्वर्णकाल (विक्टोरिया का समय) में सांसें ले रहे थे। जान स्टूबर्ट मिल, ग्रीन इत्यादि विचारकों ने इस बात की बुलंद आवाज उठायी थी कि व्यक्ति द्वारा समाज का यह शोषण ठीक नहीं है और प्रजातंत्र को सामाजिक बनना चाहिए। यूरोपीय-महाद्वीप के देशों में 'समाजवादी प्रजातंत्र पार्टी' का उद्‌भव भी इन्हीं कारणों से हुआ। यह कहना पूर्ण सत्य नहीं होगा कि असंतोष की इन आवाजों का कोई भी फल नहीं निकला। लेकिन प्रजातंत्र अपने स्वरूप को नहीं बदल सका और अपने विषय के दंभ में इसको लक्ष्य न कर आगे बढ़ता ही गया।

किंतु वह पुरानी बात है। वर्तमान अधिनायकत्व की तुलना में, जिससे कि आज प्रजातंत्र एक घातक संग्राम में डटा हुआ है, प्रजातंत्र के गुण और अवगुण अत्यंत स्पष्ट हैं। प्रजातंत्र और अधिनायकत्व दोनों ही साम्राज्यवादी हैं, लेकिन दोनों में अंतर भी है। वह अंतर यह है कि जबकि अधिनायकत्व साम्राज्य पाने का इच्छुक है तब प्रजातंत्र पहले से ही अपना साम्राज्य बनाये हुए है, जिसका यह परिणाम है कि वह एतादृशत्व (Status Quo) की आवाज उठाता है। दूसरी ओर प्रजातंत्र में जनता का पूंजीवादी वर्ग के शासन में होने पर भी वहां जनता को कुछ ऐसे अमूल्य अधिकार प्राप्त हैं (उदाहरण के लिए, भाषण-स्वातंत्र्य, जीवन-स्वातंत्र्य) जिनके कारण अधिनायकत्व की तुलना में प्रजातंत्र के भीतर रहनेवाले लोगों के जीवन को एक वरदान और आशीर्वाद माना जा सकता है, क्योंकि अधिनायकत्व के सिद्धांत को माननेवाले देशों में जीवन और विचार पर ऐसा कठोर नियंत्रण और प्रतिबंध लगाया जाता है कि जीवन विष हो उठता है, यद्यपि यह सच है कि कुछ समय के लिए अधिनायक वर्ग जनता को जातीय उन्नति और राष्ट्रीय विजय के झूठे नारों से फुसलाये रहता है। लेकिन अधिनायकत्व में एक विशेषता है, जो स्पष्टतः ही प्रजातंत्र की व्यवस्था से कहीं अधिक अच्छी है, कि उसकी प्रणाली में समस्त राष्ट्र एक इकाई बनकर रहता है, जबकि प्रजातंत्र की व्यवस्था बड़ी गड़बड़ में रहती है, जिसके कारण प्रजा, जो कि वास्तविक राज्य करनेवाली कही जाती है, कुछ धनी और सम्मानित व्यक्तियों के इशारों पर नाचती है। प्रजातंत्र के स्वरूप में इसी खराबी का दर्शन बर्नार्डशा जैसे लोगों को उसमें सुधार की आवश्यकता पर ध्यान देने की प्रेरणा दे सका।

वर्तमान प्रजातंत्र के इस स्वरूपगत विरोध के कारण ही श्री चैम्बरलेन, जो कि संसार के प्रबल प्रजातंत्र राष्ट्रों में से एक के प्रधानमंत्री थे, यह चाहते थे कि अधिनायकत्व से जो प्रजातंत्र का कट्टर शत्रु है समझौता कर शांति की रक्षा की जो आवाज उन्होंने उठायी थी वह इस विरोध को छिपाने का एक सफल प्रयत्न था। इसी विरोध का यह फल है कि ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध के उद्देश्यों को घोषित नहीं कर पाती और न स्वतंत्रता तथा प्रजातंत्र के सिद्धांतों को अपने अधिकृत देशों पर लागू कर पाती है। हो सकता है कि यहां कुछ लोग यह आपत्ति करें कि यह झूठ है और अटलांटिक चार्टर द्वारा संसार के दो सर्वप्रमुख प्रजातंत्र राष्ट्र, ब्रिटेन और अमेरिका के अधिकारियों ने

मानवता की मुक्ति का सच्चा संदेश दे रखा है। लेकिन हमारा विश्वास है कि उस चार्टर की वाक्यों की श्री चर्चिल द्वारा जो व्याख्या की गयी है उसको जान लेने पर किसी के मन में यह भ्रम नहीं रह जायेगा कि स्वतंत्रता की यह बात भुलावा ही है। ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के एक प्रभावशाली सदस्य श्री एटली ने एटलांटिक चार्टर की सच्ची व्याख्या देने की चेष्टा की थी लेकिन उस पर श्री चर्चिल द्वारा उन्हें जो प्रतिवाद सुनना पड़ा वह सभी जानते हैं। और इसमें कोई संदेह नहीं है कि एटली साहब की भावनाएं ब्रिटेन की जनता की ही भावनाएं हैं। लेकिन दुख तो यह है कि आज भी ब्रिटेन में एक मुट्ठी भर उच्चवर्ग के व्यक्तियों का प्रभुत्व है और वे यथा-संभव शक्ति को अपने हाथ से जाने देना नहीं चाहते।

वर्तमान प्रजातंत्र के इस आंतरिक विरोध को और भी स्पष्ट करने के लिए हम विगत महायुद्ध पर दृष्टि डाल सकते हैं। जब पिछली लडाई छिड़ी थी तब ठीक इसी प्रकार यह घोषणा की गयी थी कि ब्रिटेन आदि मित्र-राष्ट्र स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के पावन उद्देश्यों के लिए लड़ रहे थे। और मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई। लेकिन विजय के उपरांत वे सब घोषणायें भुला दी गयीं और स्वतंत्रता के सिद्धांतों के अनुसार राष्ट्रों के पुनर्निर्माण की बात तो दूर, ब्रिटेन और फ्रांस ने वस्तुतः अपने साम्राज्यों को बहाल तो रखा ही कुछ नये हिस्सों को भी अधिकृत किया। यह दूसरी बात है कि इन हिस्सों को पंचायती देश कहकर एक आड़ बना ली गयी। शायद विलसन साहब का दिल साफ था और वे हृदय से प्रजातन्त्र की स्थापना चाहते थे लेकिन लायड जार्ज आदि राजनीतिज्ञों ने उनको चारों खाने चित कर दिया। प्रजातंत्र की प्रेरणा पर जो अंतर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किया गया था वह अपने साम्राज्य को बनाये रखने के लिए एक प्रकार की आड़ थी और इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय-संघ पूर्ण अशक्त रहा, और ज्यों ही अन्य देशों की शक्ति बढ़ी उन्होंने उससे अपना संबंध-विच्छेद कर लिया।

अस्तु, आज प्रजातंत्र के सामने अत्यंत ही संकट का काल उपस्थित है जबकि वह फासिस्ट अधिनायकत्व के विरुद्ध महासमर में व्यस्त है। लेकिन यह संकट तो नया नहीं है। जबसे उत्पादन के साधनों में वृद्धि हुई है तभी से यह संकट अंदर ही अंदर उपस्थित होता रहा है और वर्गभेद तीव्रतर होता रहा है। क्योंकि यदि देखा जाये तो जर्मन और इटैलियन अधिनायकत्व वस्तुतः उच्च और मध्य वर्ग द्वारा शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न ही तो हैं। दूसरी ओर सोवियत रूस और कुछ नहीं निम्नवर्ग द्वारा शासन प्राप्त करने का प्रयत्न है। जबकि इन देशों में वर्ग-विभेद और वर्ग-संघर्ष स्पष्ट रूप ले चुका है, जिसके परिणाणस्वरूप वहां इस या उस वर्ग की प्रधानता स्पष्ट हो गयी है, तब तथाकथित प्रजातंत्र देशों में यह वर्ग-व्यवस्था एक अजीब गड़बड़ी में पड़ी हुई है। प्राचीन प्रजातंत्र में इस प्रकार की कोई गड़बड़ी नहीं थी।

यद्यपि यह एक प्रकार का विरोधाभास प्रतीत होता है, पर यदि प्रजातंत्र को जीवित रहना है, तो उसे यह उपाय करना होगा कि वह आत्म-प्रकाश और आत्म-विकास को बिना रोट-टोक प्राप्त कर सके। इस संबंध में यह स्मरण

किया जा सकता है कि लेनिन ने बहुत दिनों पहले ही घोषित कर दिया था। सोवियत अधिनायकत्व का अंतिम उद्देश्य जन-स्वातंत्र्य की स्थापना करना है। रूस में जो अधिनायकत्व है उसका सीधा और सच्चा लक्ष्य है कि दलित और पीड़ित वर्ग को स्वतंत्र करके, उन्हें जीवन के विकास के समस्त साधन सुलभ कर, मानवता की संस्कृति के निर्माण में सहयोग दिया जाये। हो सकता है कि भविष्य में सोवियत रूस में जो इस समय नियंत्रण है और आज्ञा-पालन की जो कड़ाई है, वह ढीली कर देनी पड़े। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि रूस ने जो संदेश विश्व को दिया है और श्रमिकों के शासन का प्रयोग करने का जो दिग्दर्शन किया है वह इतिहास में अमूल्य महत्त्व रखता है। रूस में मताधिकार और शासन व्यवस्था जिस प्रकार की है वह वास्तव में ध्यान देने योग्य है। इसे पार्लमेंटरी प्रजातंत्र के नियम के विरुद्ध तो कहा जा सकता है, पर उसके द्वारा शक्ति का उपयोग वे ही करते हैं जिन्हें वास्तव में उसका अधिकार है। 'एक व्यक्ति एक मत' की आवाज रूस में भ्रमपूर्ण मानी जाती है। वहां तो 'एक श्रमिक एक मत' की आवाज है। यह तो माना जा सकता है कि इस व्यवस्था को प्राप्त करने में शांतिपूर्ण प्रयत्नों को काम में लाया जा सकता है, जैसा कि हमारे देश में कांग्रेस ने कहा है, लेकिन यह निश्चय है कि यदि हम विश्व के इस आर्थिक संघर्ष को दूर करना चाहेंगे तो ऐसी ही किसी व्यवस्था को अपनाना होगा।

[रचनाकाल 1942, 'समाज सेवक'
1942 में प्रकाशित।]

क्या भारत की समस्या सुलझेगी?

रूजवेल्ट की चिंता : गांधीजी का सत्याग्रह, ब्रिटिश मजदूर-दल का प्रस्ताव

सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने असफल होकर लौटते समय करांची में दिये गये अपने वक्तव्य में कहा कि 'ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के प्रस्ताव वापस लिए जाते हैं। भविष्य में भारतीय समस्या का हल भारत की ओर से आना चाहिए।'

हो सकता है कि क्रिप्स साहब ने ये शब्द नाउम्मेदी से खिसियाकर कहे हों, हो सकता है कि उन्होंने इन वाक्यों द्वारा हिंदुस्तान को धमकी देने की कोशिश की हो, लेकिन क्रिप्स-योजना के नामंजूर कर देने पर भी भारत की समस्या ब्रिटेन के लिए चिंता का विषय बनी हुई है, और सर स्टैफर्ड के शब्दों में जो उपेक्षा और अलगाव का भाव था, वह ब्रिटेन में नहीं पाया जा रहा है। क्रिप्स के लौटने पर पार्लियामेंट में भारत-संबंधी जो वाद-विवाद हुआ, उसमें भी वक्ताओं ने इस बात पर जोर दिया कि क्रिप्स साहब की असफलता पर ब्रिटेन को चुप्पी लगाकर हाथ पर हाथ नहीं रखना चाहिए वरन् इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शीघ्र ही किसी समझौते के दर्शन हों। इसमें संदेह नहीं कि युद्ध के कारण और जर्मनी को परास्त करने की लगन के कारण ब्रिटिश जनता ने भारत के प्रति अपनी बेरुखी छोड़ दी है, और अब भारतवर्ष की समस्या में उसकी रुचि बढ़ती जा रही है। समय-समय पर सभाओं में यह आवाज उठायी गयी है कि शीघ्र ही भारतवर्ष को अपनी ओर मिलाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए।

इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण हाल ही में होनेवाले ब्रिटिश मजदूर-दल के वार्षिक अधिवेशन में मिला। लेबर-पार्टी ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें इंग्लैंड के नेताओं से कहा गया कि वे शीघ्र से शीघ्र भारत से समझौता करके उसे मित्र राष्ट्रों में उचित स्थान दिलाएं। इस प्रस्ताव में क्रिप्स भ्रमण के बाद की अकर्मण्यता को बुरा समझा गया, और भारतवर्ष के स्वनिर्णय के अधिकार को माना गया है। इसी तरह का एक प्रस्ताव ब्रिटेन के कम्युनिस्टों ने भी पास किया है। लेबर पार्टी के अधिवेशन में भारत के नेता पं. जवाहरलाल नेहरू के चित्र को अन्य देश के सर्वेसर्वाओं के चित्र के साथ ही टांगा गया था।

इन सब घटनाओं से यह जाना जा सकता है कि भारतवर्ष के विषय में ब्रिटेन की जनता धीरे-धीरे अपना रुख बदलती जा रही है। भारतवर्ष में आयी हुई ब्रिटिश सेनाओं ने भी यहां के सब हालात जानने में काफी दिलचस्पी ली है, और इन सबका प्रभाव समय पर अवश्य ही पड़ेगा। ज्यों-ज्यों युद्ध के कारण भारतवर्ष का सहयोग आवश्यक होता जा रहा है, त्यों-त्यों पश्चिम में भारत का मान और मूल्य बढ़ता ही जायेगा।

अमेरिका भारतवर्ष को ब्रिटेन की नीति की कसौटी मानता है। ब्रिटिश प्रजातंत्र पर पूरा विश्वास उसे तभी हो सकता है, जब यह मालूम हो जाये कि भारत और ब्रिटेन के संबंध पूर्णतया सद्भावपूर्ण हैं। अमेरिका की जनता ब्रिटेन के अधिकारियों से भारत संबंधी विवरणों की मांग करती रही है। युद्ध के आरंभ में तो आमेरी साहब उन्हें भुलावा देते रहे, पर गांधीजी के सत्याग्रह छेड़ देने पर वह धोखे की टट्टी टूट गयी। फिर कुछ दिनों तक इस बात की कोशिश की गयी कि अमेरिका में भारतवर्ष की विशेष खबरें न पहुंच सकें। पर जापान के लड़ाई में आने पर अमेरिका की मदद की और भी जरूरत पड़ी, और सर स्टेफर्ड क्रिप्स को दूतत्व के लिए भेजा गया।

मेरी यह पक्की धारणा है कि सर स्टेफर्ड क्रिप्स यहां भारत की समस्या हल करने की बात लेकर नहीं आये थे, वे केवल अमेरिकनों को संतुष्ट करना चाहते थे। अमेरिका को यह बात असंगत लगती थी कि भारतवर्ष को उसके अधिकारों से वंचित रखा जाये, और इसलिए वह बार-बार इस बात पर नाक-भौं सिकोड़ता था। युद्ध में अपनी विजय के लिए यह आवश्यक था कि ब्रिटेन अमेरिका की पूरी मदद पाता रहे, इसलिए यह समझौते का कदम उठाया गया।

साथ ही जापान द्वारा पूर्व में संघर्ष की आग फैल जाने के कारण भारत की जनता को भी अपनी ओर करना ब्रिटेन के लिए जरूरी हो गया था क्योंकि केवल उसी दशा में जापान का प्रतिकार संभव था। लेकिन ब्रिटेन शक्ति का त्याग करने के लिए तैयार न था अन्यथा ऐसी हालत में जबकि कांग्रेस युद्ध में भाग लेने के लिए उत्सुक थी, समझौता करना मुश्किल न था। जो प्रस्ताव सर स्टेफर्ड द्वारा पेश किये गये, वे अनेक दोषों से भरे थे और उनमें जो कुछ भी था वह युद्ध के बाद ही मिलनेवाला था। गांधीजी ने प्रस्तावों के लिए एक वाक्य कहा था, वह बड़ा ही मार्मिक यथार्थ था। उन्होंने प्रस्तावों को एक डूबती बैंक के नाम अग्रिम चैक कहा था। ऐसी दशा में प्रस्तावों को मंजूर कर लेना ही आश्चर्य की बात होती।

कांग्रेस और क्रिप्स के बीच की वार्ता किस बात को लेकर भंग हुई, यह स्पष्ट नहीं जाना जा सका है। इतना तय है कि रक्षा-विभाग को भारतीय के हाथ में देने पर किसी प्रकार का समझौता कर लिया गया था। बात शासन-संस्था के नामकरण पर खत्म हो गयी। कांग्रेस उसका नाम 'राष्ट्रीय सरकार' रखना चाहती थी, और क्रिप्स साहब उसे 'वायसराय की काउंसिल' के रूप में ही देखना चाहते थे। पर नाम तो अमहत्व चीज होती है। सच तो यह है कि जो शक्ति कांग्रेस चाहती थी, वह उसे नहीं मिली।

इस संबंध में यह भी कहा जाता है कि आखिरी मौके पर अचानक क्रिप्स साहब के स्वर में कड़ाई आ गयी थी जिसका कारण हो सकता है लंदन से प्राप्त कोई केबिल रहा हो। उसका परिणाम्म यह हुआ कि संभवतः जो कुछ फल होना था वह भी नहीं हुआ। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि क्रिप्स साहब ने यहां आकर और समझौते के लिए कोशिश कर, सारी दुनिया के मत पर अच्छा प्रभाव डाला, और कुछ दिनों तक पत्रों ने भी ब्रिटेन की न्यायप्रियता की सराहना की।

लेकिन ज्यादा दिनों तक वह टिका न रह सका। क्रिप्स-प्रयत्न की जो आलोचना हिंदुस्तान में हुई और जो ब्रिटेन में हुई वह इतनी भिन्न थी कि यह स्पष्ट ही जाना जा सकता था कि ब्रिटेन और भारत एक-दूसरे को बिल्कुल नहीं समझ पाये हैं। क्रिप्स की असफलता में ब्रिटेन की जो प्रवंचना भरी थी उस पर पत्रों और भाषणों द्वारा लीपा-पोती करने की चेष्टा की गयी, उससे यह और भी संदेह बढ़ गया कि हो न हो, भारतवासियों के मन की बात विश्व के सामने ठीक रूप में नहीं रखी जा रही है। इस बात ने प्रेसीडेंट रूजवेल्ट को चिंतित कर दिया और उन्होंने अपने प्राइवेट प्रतिनिधि कर्नल जानसन को सब बातें जानने के लिए अपने पास बुला भेजा।

इसी सप्ताह अखबारों में एक खबर निकली कि रूजवेल्ट ने नेहरूजी को भारत की समस्या पर मध्यस्थता करने के लिए जोर दिया गया है, और हाल ही में इंदौर के महाराजा ने भी इसी प्रकार की एक अपील निकाली है। गांधीजी हमेशा यह कहते आये हैं कि वे इस विषय में अंतर्राष्ट्रीय पंचायत का फैसला मानने को हमेशा तैयार हैं। अमेरिकन प्रजातंत्र के प्रधान होने के कारण उनसे उचित न्याय की आशा करना भी ठीक है। जुलाई मास में जब कर्नल जानसन लौटकर हिंदुस्तान आयेंगे, तब हो सकता है कि कुछ नये गुल खिलें।

लेकिन इस समय कांग्रेस तो कुछ और ही करवट लेती दिखायी देती है। जापान के भारत पर आक्रमण की संभावना ने कांग्रेस को कुछ-न-कुछ तय कर लेने पर बाध्य किया है।

ऐसे समय में गांधीजी ने जो कदम उठाया है, वह एकदम आश्चर्यजनक है। यह ठीक है कि गांधीजी के कार्य हमेशा चमत्कार से भरे रहते हैं और धीरे-धीरे ही साधारण लोगों की समझ में आते हैं। पर विदेशी मित्र-सेनाओं से हिंदुस्तान को भगवान के भरोसे छोड़कर चले जाने की मांग करना केवल गांधीजी के ही जीवट का काम है। एक अहिंसा के पुजारी के लिए यह मांग काफी स्वाभाविक है। और गांधीजी के पास इस कदम के लिए अकाट्य दलीलें भी हैं। पर मुझे तो लगता है कि गांधीजी के इस कदम में ऊंचे दर्जे की राजनीति भरी है, और क्रिप्स-प्रयत्न से जो नहीं हुआ, उसे वे कर छोड़ेंगे। आनेवाले दिनों में भारतवर्ष में महत्त्वपूर्ण घटनाएं होती दिखायी पड़ती हैं।

[रचनाकाल 1942, 'गिद्धराज' उपनाम स
'समाज सेवक', 8 जून, 1942 में प्रकाशित।]

नील नदी का वरद पुत्र : मिस्र देश

तोब्रुक के पतन के बाद अब जर्मन सेना के कुटिल चरण मित्र देश की भूमि पर पड़े हैं, और इस समय सारे संसार की आंखें इसके भाग्य की ओर लगी हैं।

एक दिन था जब मिस्र की सभ्यता के आगे सारा यूरोप सिर झुकाता था। मिस्र की सभ्यता यूनान की सभ्यता से भी अधिक प्राचीन है, जब इंग्लैंड और जर्मनी में जंगली लोग निवास करते थे। आज मानो उसी इतिहास का मखौल उड़ाने के उद्देश्य से बर्बर जर्मनी मिस्र को पददलित करने अग्रसर हुआ है। पर क्या यह संभव है?

पश्चिम में सहारा का विशाल रेतीला प्रसार, उत्तर में भूमध्यसागर, पूर्व में लालसागर और अरब—मिस्र अपनी तीन सीमाओं में पूर्णतः बंदी है। लेकिन दक्षिण में कोई प्राकृतिक विशेषता उसकी सीमा का निर्धारण नहीं करती और इसीलिए समय-समय पर दक्षिणी सीमा बदलती रही है, और उसके लिए मिस्र के शासकों को अनेक बार युद्ध भी लड़ने पड़े हैं।

मिस्र कई बातों में भारतवर्ष से मिलता है। भारतवर्ष की ही भांति वह अत्यंत प्राचीन देश है और सभ्यता का सूर्य भारतवर्ष से उठकर मिस्र में ही पहुंचा था। एक पुरातत्व वेत्ता ने यह भी खोज की थी कि राजा दशरथ ने मिस्र के राजा से पत्र-व्यवहार किया था। इससे दोनों देशों में अतीत काल में निकट संबंध भी रहा ही होगा।

भारतवर्ष की ही भांति मिस्र की सभ्यता का आधार कृषि है। जिस प्रकार गंगा और सिंधु नदियों को भारतीय जीवन की जननी कह सकते हैं, उसी प्रकार मिस्र देश नील नदी का वरद पुत्र है। यदि यह नदी न होती तो मिस्र भी सहारा की ही भांति एक रेगिस्तान होता।

प्राचीन काल में मिस्र के कृषि-जीवन की व्यवस्था शांतिपूर्ण थी। वहां कला और विज्ञान की भी यथेष्ट उन्नति हुई थी और मिस्र में बहुत ही प्रसिद्ध गणितज्ञ हुए हैं। मिस्र के पिरामिड (राजाओं की मृत देहों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से बनाये गये स्तूप) अपनी महान ऊंचाई के लिए स्थापत्य संसार के लिए आज

भी आश्चर्य है। ये पिरामिड एक त्रिभुज के आकार के बने हैं। भूमि को यदि उसकी एक भुजा माना जाये, तो अपर भुजा तो समकोण पर बनी है, और उसकी आधार रेखा दोनों को मिलाती है। इन पिरामिड को किस प्रकार बनाया गया होगा, यह आज के बड़े से बड़े इंजीनियर नहीं सोच पाये हैं। बिना किसी मिट्टी या चूने के एक पर एक ईंटें (जो आकार में पत्थरों से भी बड़ी हैं) रखी हैं, जो युगों से इसी प्रकार रखी रही हैं। इनमें रखी हुई राजाओं की मृत देह न जाने किस प्रकार के लेप में रखी हैं कि आज तक उनमें दुर्गंध नहीं हुई। इस लेप का रहस्य जानने में आज का दंभी रसायन-शास्त्र हार मान गया है।

नील नदी की घाटी बड़ी उपजाऊ है, और इसका यह भाग रुई की पैदावार के लिए आदर्श भूमि है। संसार-भर में सबसे अच्छी रुई मिस्र ही देता है। पूंजीवाद के विकास-काल में लोलुप व्यापारियों की दृष्टि मिस्र पर पड़ी और उन्होंने अपने उसी व्यापार की आड़ में मिस्र को अपने अधिकार में कर, उसकी आर्थिक व्यवस्था में क्रांति उत्पन्न कर उसे विदेशों पर अधीन बना दिया। आज यद्यपि मिस्र स्वाधीन है, पर अपनी रुई की खपत के लिए उसे विदेशों का मुंह ताकना पड़ता है, और बैंक, उद्योग आदि व्यवसाय विदेशियों के ही हाथ में हैं।

[रचनाकाल 1942, 'गिद्धराज' उपनाम से
'समाज सेवक', 6 जुलाई, 1942 में प्रकाशित।]

अपराजित चीन : प्रतिकार के पांच वर्ष

7 जुलाई, 1942 को चीन-जापान युद्ध के पांच वर्ष समाप्त हो गये। 7 जुलाई, 1937 को जापान की सेना ने वांगचिन्ग में प्रवेश करने की अनुमति मांग कर इस युद्ध का आरंभ किया था। तब यह अनुमान किया जाता था कि जापान की पाश्चात्य-प्रणाली पर व्यवस्थित सैनिक शक्ति के आगे चीन की अस्त-व्यस्त जनता अधिक दिनों तक नहीं लड़ सकेगी। पर आज महाचीन ने अपने अटूट साहस और पराक्रम से समस्त संसार को चकित कर दिया है। यद्यपि जब जर्मनी ने सोवियत रूस पर आक्रमण किया था तब भी लोगों का यही ख्याल था कि रूस टिक नहीं सकेगा, और इसमें संदेह नहीं कि रूस ने जर्मनों के प्रतिकार द्वारा विश्व को आश्चर्य में डाल दिया है, लेकिन रूस बीस वर्षों से व्यवस्थित था, वह गुप-चुप तौर पर अपनी शक्ति संचित कर रहा था। इसलिए रूस के विषय में जो लोग जानकारी रखते थे, उनके लिए यह तनिक भी अप्रत्याशित बात नहीं थी। पर चीन की वीरता और दृढ़ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। चीन ने अपने अद्वितीय उदाहरण से जनता की शक्ति का अभूतपूर्व परिचय दिया है। टैंक, विमान, जंगी तोपें, यहां तक कि टामी-बंदूकों का भी पर्याप्त संग्रह जिसके पास नहीं था, उस चीन ने जापान की लाखों मशीन-युक्त सेनाओं को विफल कर दिया। यह सच है कि उसे अपने सभी बड़े-बड़े नगरों को छोड़ देना पड़ा है, उसका काफी भू-भाग शत्रु के अधिकार में है, पर आज भी महाचीन की जनता उतनी ही शक्ति और उतने ही विश्वास से लड़ती जा रही है। चीन के पराक्रम की यह घटना अलौकिक है। किसे गुमान था कि अफीम के नशे में मस्त आलसी चीनी और लोहे के जूतों में जकड़ी गति-हीना चीनी बाला हिंसा की भयंकर से भयंकर चोट को सहकर भी अपराजित रह पायेंगे? चीन देश आज संसार-भर के स्वतंत्र राष्ट्रों के अभिवादन का पात्र है। उसके लिए विगत 7 जुलाई को कलकत्ते में छात्र संघ द्वारा चीन-प्रतिकार की वार्षिकी पर गाये गये गीत की निम्न पंक्तियां अत्यंत ही उपयुक्त हैं :

शाबाशे चीना भाई
तौमार देशेर माटी राखार लड़ाई तुलना तार नाई'

यदि सचमुच [illegible]

द्वारा चीन के उत्तरी प्रांत में मंचूरिया (या मंचूको) पर दखल से ही आरंभ हुआ। पाश्चात्य पूंजीवाद की ओट लेनेवाला जापान तब अपना अधिकार पसारना चाह रहा था, और चीन का विशृंखलित, सैनिक-शक्ति-विहीन शांति-प्रिय देश सहज ही उसका लक्ष्य बन गया। भारतवर्षीय ग्राम-स्वावलंबन-पद्धति पर जीवन-निर्वाह करने के कारण चीन में किसी भी व्यापार का केंद्रीयकरण न हुआ था। एक ओर तो जनता लक्ष-लक्ष गांवों में अपना सादा और उद्यमी जीवन बिताती थी, और दूसरी ओर लोभी, रक्त के प्यासे शासक टैक्स पर टैक्स वसूल करते थे। ब्रिटेन के यहां आने से पहले हमारे देश की जो हालत थी, चीन की भी बहुत कुछ ऐसी ही दशा थी, पर विदेशियों ने चीन में घुसकर व्यापार करना आरंभ कर वहां के युवकों को भड़का दिया और सन् 1927 के राष्ट्रीय आंदोलन ने विदेशी प्रभुत्व को उतारने की सफल चेष्टा की।

इसीलिए जब सन् 1931 मे जापान ने असंगठित चीन पर आक्रमण किया, तो सभी प्रधान विदेशी शक्तियां मन-ही-मन तो प्रसन्न हुईं, पर ऊपर से तटस्थता का भाव दिखाती रहीं, क्योंकि इस प्रकार उनकी आशा थी कि राष्ट्रीय आंदोलन मर जायेगा। चीन के गिड़गिड़ाने पर भी लीग ऑफ नेशंस ने जापान के विरुद्ध कोई कड़ा रुख नहीं लिया और चीन को अपना अपमान पी लेना पड़ा।

1932 से 1937 तक के पांच वर्ष चीन के इतिहास में मार्के के हैं। जापान ने मंचूरिया लेकर वहां अपना पूंजीवादी जाल बिछा दिया था, और बड़े-बड़े प्रलोभन देकर वह चीन के शासकों को अपने पक्ष में करना चाहता था। चीन में इन दिनों आंतरिक कलह और वैषम्य इतना था कि जापान को कोई रुकावट की आशंका तक न थी। चीन की केंद्रीय सरकार अशक्त थी, उत्तर में कम्युनिस्टों ने राष्ट्रीय दल के साथ लड़ाई बांध रखी थी, और राष्ट्रीय दल जापान के साथ सहयोग की नीति बरत रहा था। जापान ने सोचा कि यह सुंदर मौका है।

पर पूंजीवादी शोषण और अभिशापों से चीन की जनता तब तक पूर्ण परिचित हो चुकी थी। जब जापान ने अपनी लिप्सा और भी बढ़ानी चाही, तो राष्ट्रीय दल और कम्युनिस्ट दल ने तड़ित गति से संधि कर ली, सारी बिखरी शक्तियां एकत्रित कर लीं और रातोरात चीन का संगठित मोर्चा तैयार हो गया। इस प्रकार शत्रु ने चीन को कमजोर करने के बजाय और अधिक शक्तिशाली बना दिया। भारतवर्ष इस घटना मे शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

लेकिन इन पांच वर्षों में चीन ने जो अत्याचार और कष्ट सहे हैं, वे वर्णनातीत हैं। यह ठीक है कि चीन ने अब तक जापान की करीब 25 लाख सेना मौत के घाट उतार दी है, और जापान को उसके अंत के समीप ला छोड़ा है, पर इसके लिए उसे भारी कीमत चुकानी पड़ी है। युद्ध की विभीषिकाओं से दूर बैठे हुए हम भारतवासी उन लोमहर्षक कांड और अत्याचारों की कल्पना भी नहीं कर सकते जो जापानियों ने चीन को दबाने के लिए वहां के निवासियों

पर किये। नानकिंग में आम बलात्कार और चुंगकिंग पर समस्त बम-वर्षा इतिहास के लिए स्मरणीय घटनाएं हो चुकी हैं। पर चुंगकिंग अब भी अटल खड़ा है: ठीक मास्को की तरह। और उसकी वीर जनता अब भी वही शक्ति और वही उत्साह रखती है।

'ध्वंस नीति' के विषय में अब हम काफी चर्चा सुन चुके हैं। इसका आरंभ चीन ने किया। आधुनिक साधनों के अभाव में चीन को विवश होकर अपने नगरों और संपन्न भू-भागों को छोड़कर देश के भीतरी प्रांतों में जाना पड़ा, पर ऐसा करते समय उन्होंने प्रत्येक मूल्यवान वस्तु को नष्ट कर दिया ताकि शत्रु उसका उपयोग न कर सके। घर, खेत, मिल, दुकानें, सड़क, गाड़ियां—सब भूमिसात् कर दी गयीं। अनेक बार तो ऐसा हुआ कि महीनों परिश्रम कर कमाई हुई फसल शत्रु के आ जाने के कारण जला देनी पड़ी, और कृषकों को भूखों दिन बिताने पड़े।

पर जनता ने उफ भी नहीं की। वह स्वतंत्रता का मूल्य और महत्त्व पहचानती है। वह जानती है कि परतंत्र होने पर शोषण और अत्याचार उसके लिए सदियों तक अभिशाप बने रहेंगे। आज की दुनिया में बिना बलिदान के स्वतंत्रता न तो प्राप्त हो सकती है, न रक्षित रह सकती है, और चीन अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए भी कटिबद्ध है। उसकी दृष्टि अपने भविष्य पर है। वह जानता है कि युद्ध-काल में यह जो एकता उसे मिली है यह वरदान है। जापान ने एक प्रकार से चीन को लाभ भी पहुंचाया है। आज चीन नाश के महा-तांडव में भी नव-निर्माण के प्रति सजग प्रयत्न कर रहा है। चीन का सहायक-समिति आंदोलन आज अत्यंत व्यापक रूप ले चुका है। नव-जीवन आंदोलन शिक्षा और संस्कृति का नये सिरे से निर्माण कर रहा है।

[रचनाकाल 1942, 'गिद्धराज' उपनाम से
'समाज सेवक', 13 जुलाई, 1942 में प्रकाशित।]

अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह के साथ भारतजी (1971)

यूरोप मे भारतजी (1974)

रघुवीर सहाय और भारत भूषण अग्रवाल

साहित्य अकादमी मे भारतजी, (1970 के आसपास—फोटो : विष्णु खरे)

देहावसान के पद्रह दिन पूर्व बेटा और पत्नी के साथ भारतजी,
शिमला (जून 1975)

देहावसान के दो घंटे पूर्व (23 जून 1975)
कृष्णा कृपलानी के साथ भारतजी, शिमला इस्टीट्यूट के सामने

प्रसंग

स्फुट निबंध, टिप्पणी आदि

पंचराज की डाक

मां-बाप का कर्त्तव्य

श्रीमान् संपादकजी,

आपके प्रसिद्ध पत्र द्वारा मैं जनता तक अपने कुछ विचार पहुंचाना चाहता हूं। आशा है, आप इन्हें प्रकाशित करने का कष्ट स्वीकार करेंगे।

हम अक्सर देखते हैं कि प्रत्येक नागरिक और गृहस्थ अपने बाल-बच्चों के लिए आमोद-प्रमोद की एवं मनोरंजन की सामग्री जुटाने की ओर विशेष प्रयत्नशील और उद्यत रहते हैं। अपनी संतान के प्रति सहृदय होना स्वाभाविक ही है, और उसमें मन बहलाव के लिए अनेक साधनों का आविष्कार होता रहता है। कुम्हार के मिट्टी के धेले के घड़े से लेकर जर्मनी की 6/- की पिस्तौल सब इसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं।

देशोत्थान और देश के निर्माण में भावी नागरिकों अर्थात् बालकों का पूरा-पूरा हाथ है। बालकों के आचार-विचार, स्वभाव और शिक्षा पर ध्यान न दिया जायेगा तो हमारा देश उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए बालकों की अवस्था और उन्नति के प्रति हम उपेक्षा नहीं कर सकते। एक नागरिक की हैसियत से प्रत्येक पिता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने बच्चों को स्वस्थ और शिक्षित बनाये जिससे भावी भारत पूर्णोन्नति कर सके। माताओं को भी इस ओर ध्यान रखना चाहिए।

बालकों को उचित शिक्षा देने में बालोपयोगी पुस्तकों की उपयोगिता निर्विवाद है। आए दिन हिंदी साहित्य में ऐसी अनेकानेक पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं, हो रही हैं और होंगी जो बहुत ही मनोरंजक और आकर्षक ढंग से अनेक बालोपयोगी बातों का काम कराती हैं। कहानी, चुटकले, आविष्कार गाथाएं आदि अनेक ऐसी ही विषय की बड़ी-बड़ी सुंदर पुस्तकें हिंदी में हैं जिन्हें बालकगण बड़े उत्साह और चाव से पढ़ते हैं, प्रसन्न होते हैं, और शिक्षा ग्रहण करते हैं।

अतएव, मैं जनता का ध्यान उस ओर आकर्षित करना चाहता हूं कि जहां

प्रत्येक पिता अपने बच्चों के लिए खिलौने और मिठाइयां खरीदता है वहीं उसे बच्चों के लायक सुंदर-सुंदर मनोरंजनकारी पुस्तकें भी खरीदनी चाहिए। मैं यह नहीं चाहता कि मिठाई व खिलौना खरीदना बुरा है या उसे न खरीदना चाहिए। मेरा मतलब तो सिर्फ यह है कि मनोरंजन यदि उपयोगी हो तो अधिक अच्छा है और उसके लिए बालोपयोगी पुस्तकें सुंदर साधन हैं।

भवदीय
एक बाल-हितैषी

['एक बाल-हितैषी' उपनाम से 'आगरा पंच' 1937 में प्रकाशित।]

अनुवाद-कला

साहित्य की उन्नति और विकास भारतीय राष्ट्रीय एकता के मूल आधारों में एक है। यद्यपि जहां तक भाषा से संबंध है, भाषा के आधार पर देश विभिन्न प्रादेशिक इकाइयों में बंटा था। लेकिन समस्त साहित्य के इतिहास को जांचा जाये तो यह पता चलेगा कि उनकी प्रेरणा का स्रोत एक ही है। आधुनिक काल में भी साहित्य ने पाश्चात्य विचारों और वैज्ञानिक उन्नति के प्रभाव को समाहित किया है, और विभिन्न प्रदेशों में मनुष्य की राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं का निकटता से अनुगमन किया है। वह सन् 1947 का समय थी जब हम सभी ने कम या अधिक लगभग एक-सी स्थिति का सामना किया था और उस समय भारतीय साहित्य मूलरूप से एक था—चाहे उसने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में अपने-आपको व्यक्त किया हो। भाषा और लिपि के अजेय व्यवधान के कारण एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश के लेखक और उनके कृतित्व के बारे में एक तरह से अज्ञान ही थे। यह सच है कि अंग्रेजी भाषा का प्रयोग इस समस्या का आंशिक हल प्रस्तुत करता था। और जो लोग एक साथ ही पूरे देश से कुछ कहने को इच्छुक थे, उन्हें यह कार्य या तो अंग्रेजी में लिखकर या अपने कृतित्व को अंग्रेजी में अनुवाद करके किया था। लेकिन यह कार्य न तो संतोषजनक था और न हमेशा संभव। ऐसे भी कुछ उदाहरण थे जब एक प्रदेश के कृतित्व को दूसरे प्रदेश के लोगों ने बिना अंग्रेजी की मदद से जाना था। लेकिन दैनिक जीवन में सभी प्रदेशों के साथ संपर्क करना अभी भी अपूर्ण स्वप्न ही बना हुआ है। अंग्रेजी पर भरोसा करना अपने जागरण की अवस्था में ही एक दूसरी विसंगति को लाना था। भारतवर्ष के पाठक खास तौर से अंग्रेजी के कारण पाश्चात्य लेखक और उनके लेखन से अधिक परिचित थे—बजाय उन पूर्वी और एशिया के देशों से जहां भारत को अपने से इतनी समानताएं मिलती थीं। 'अपने पड़ौसी को जानो'—यह बेहद महत्त्वपूर्ण नारा है जो बड़ी आसानी से अपने घर और विदेश के लोगों के लिए लगाया जा सकता है।

इसीलिए यह स्वाभाविक था कि साहित्य अकादमी या साहित्य की राष्ट्रीय अकादमी की सन् 1954 में स्थापना हुई। उसने तुरंत विभिन्न प्रदेशों के लेखकों

और उनके कृतित्व को निकट लाने का कार्य किया और इस प्रकार सांस्कृतिक स्तर पर राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया शुरू हुई। इस उद्देश्य के लिए उसने दूसरे प्रदेश की भाषा में प्रत्येक प्रदेश की महत्त्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद का काम बड़े पैमाने पर प्रतिपादित किया। इसके अतिरिक्त अकादमी ने अनुवाद के अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम को राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में सूत्रबद्ध करने के लिए विदेशी भाषा की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद भारतीय प्रधान भाषाओं में किये; और भारतीय श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद विदेशी भाषा में। इस अकेली राष्ट्रीय योजना में ही विभिन्न प्रांतीय भाषाओं की 150 कृतियां सम्मिलित हैं जिनका दूसरी समस्त भाषाओं मे धीरे-धीरे अनुवाद किया जायेगा। क्योंकि साहित्य अकादमी द्वारा अनुवाद-कार्य के लिए 14 प्रधान भाषाएं मान्यता प्राप्त हैं। इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारंभ में 2100 पुस्तकें अनुवादित होंगी।

इतने महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम को क्रियान्वित करना अपने-आपमें एक कठिन कार्य है। लेकिन क्लासिक साहित्य के सफल अनुवाद में विशेष प्रकार की कठिनाइयां हैं। मुझे अक्सर ऐसे लोग मिले हैं जो अनुवाद-कार्य को हीन साहित्य-कार्य मानते हैं। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो सृजनात्मक लेखक के समान अनुवादक को स्थान देने से इन्कार करते हैं। पर स्थिति की यथार्थता स्पष्ट रूप से इससे भिन्न है। एक सृजनात्मक लेखक को केवल अपनी भाषा के अच्छे ज्ञान की आवश्यकता है। उससे उन विचारों और भावों की अभिव्यक्ति की आशा की जाती है जो नितांत रूप से उसके अपने हैं—इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति भी आसान है। पर दूसरी ओर अनुवादक को कम-से-कम दो भाषाओं को अच्छी तरह जानना चाहिए—एक वह जिससे वह अनुवाद कर रहा है और दूसरी वह जिसमें अनुवाद करना है। उससे यह आशा की जाती है कि वह अपने भावों की नहीं बल्कि मौलिक लेखक के भावों और विचारों को उपयुक्त अभिव्यक्ति दे। यदि हम मौलिक रचना की शैली और ढंग के प्रतिबिंबन का कठिन कार्य कर सकें, जो एक सफल अनुवादक के लिए बहुत जरूरी है तो हम बड़ी सरलता से अनुवाद के महत्त्व का मूल्यांकन कर सकेंगे। वास्तविकता तो यह है कि अनुवाद मौलिक रचना से भी कठिन कार्य है। और एक सफल अनुवाद उतना ही आत्मसंतोष प्रदान करता है जितना कि सच्चे साहित्यकार को अपनी रचना करने पर होता है।

अनुवाद-कार्य सृजनात्मक लेखक के साहित्यिक व्यक्तित्व को भी संपन्न बनाता है। एक लेखक स्वाभाविक रूप से विभिन्न भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों को जानना चाहता है और उनसे प्रेरणा ग्रहण करने को उत्सुक होता है। इस प्रकार अनुवाद-कार्य सबसे अच्छा संभव उपाय है किसी को जानने और स्वस्थ प्रभाव ग्रहण करने का। यही कारण है कि श्रेष्ठ सृजनात्मक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अनुवाद करना पसंद करते हैं। कोई भी लेखक हर समय नहीं लिखता रहता। सृजनात्मक काल के बीच-बीच में अंतराल होते हैं। जब वह नये अनुभवों के समीकरण में लगा होता है और उन्हें देख और पढ़कर ताजी प्रेरणा ग्रहण कर रहा होता है तब ऐसे लाभकारी निष्फल समय

में उत्कृष्ट साहित्यकारों की कृतियों के अनुवाद करना बहुधा उसे नयी दृष्टि देने और नये रास्ते पर चलने में मदद देते हैं। साहित्य अकादमी में विभिन्न भारतीय भाषाओं के लब्ध प्रतिष्ठित लेखक इसकी सलाहकार समिति (Advisory Board) में हैं। इनके सक्रिय निर्देशन के द्वारा अकादमी अपने कार्य की योजना के अंतर्गत ऐसे अनुभवी और सक्षम अनुवादकों की मदद लेने में सफल होती है। बहुत बार तो ये सलाहकार स्वयं ही अनुवाद करने के लिए राजी हो जाते हैं और इस प्रकार उच्च स्तर बनाये रखने में सहयोग देते हैं और इस कार्य के सम्मान को भी बढ़ाते हैं। अकादमी के संपूर्ण प्रोजेक्ट में अनुवाद की 2100 कृतियों में से पांच वर्ष की छोटी-सी अवधि में 100 कृतियां प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

जहां तक इन अनुवादों की गुणवत्ता का संबंध है साधारणतः इनका स्तर अच्छा संतोषजनक है, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि इनमें और उन्नति होने की गुंजाइश है। यह इसलिए है क्योंकि अनुवाद-कार्य अनेक कठिनाइयों और खतरों से ग्रसित है। जैसा कि पहले कहा गया है अनुवाद-कार्य में दो बातों की आवश्यकता है। पहली यह कि अनुवादक को मौलिक कृतियों की गहरी समझ और उनका अंतरंग ज्ञान होना अनिवार्य है। इस तरह की समझ के लिए भाषा की कामचलाऊ पहचान काफी नहीं है।

दूसरे, उसे अनुवाद की भाषा पर भी बहुत अच्छा अधिकार अवश्य होना चाहिए, और उसे अपनी भाषा में सृजनात्मक लेखक भी होना चाहिए। यदि एक अनुवादक-सृजनात्मक लेखक नहीं है तो फिर वह अपनी भाषा में मौलिक कृति का दुबारा सृजन करने में एक तरह से अवश्य ही असफल हो जायेगा— ज्यादा से ज्यादा वह केवल शाब्दिक प्रस्तुतीकरण कर पाएगा। ऐसे अनुवादक मौलिक कृति का साहित्यिक सौंदर्य और उसकी मूलभूत विशिष्टता नहीं देख पाएगा। अनुवादक के लिए दो स्तरों पर जानकारी आवश्यक होने के कारण इस अनुवाद-कार्य को बहुत जटिल और यातनापूर्ण बना दिया है। जहां अनुवादक मौलिक कृतियों के प्रति ईमानदार है, वहां यह भी अपेक्षित है कि वह स्वयं अपनी स्वतंत्रता लेने से भी दूर रहे। उसको स्वयं इस बात से संतुष्ट होना चाहिए कि सृजनात्मक लेखक का जो अनुभव और प्रशिक्षण उसके पास है, उसके द्वारा वह दूसरी भाषाओं में मौलिकता का सौंदर्य ला सका है।

'मौलिक रचनाओं में ईमानदारी' यद्यपि यह उक्ति पसंद करने लायक नहीं हैं क्योंकि इसका अर्थ विभिन्न लोगों द्वारा विभिन्न ढंग से व्याख्यातित हुआ है। निस्संदेह ईमानदारी और शाब्दिक अनुवाद के बीच बहुत पतली-सी रेखा है। लेकिन किसी को उसका अंतर नहीं भूलना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि शब्दों की तह में छिपे आंतरिक अर्थों को हृदयंगम करें और उन्हें दूसरी भाषा में सफलतापूर्वक पाठकों तक पहुंचाएं। अनुवाद के संदर्भ में एक भारतीय भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते समय शाब्दिक अर्थ के विपरीत ईमानदारी पर बल देना नितांत आवश्यक है।अधिकांश भारतीय भाषाओं में अन्य भाषाओं के समान अनेक शब्द और अभिव्यक्तियां समान हैं, पर फिर भी उनके वास्तविक

अर्थों में बहुत अंतर है। यही नहीं, विशिष्ट प्रतिभा संपन्न व्यक्ति और प्रत्येक भाषा के ऐतिहासिक विकास के द्वारा उसकी विशिष्टता भी निर्धारित होती है। साधारण अनुवादक जब अनुवाद करता है तो इस अंतर को समझ नहीं पाता और जैसे वे हैं वैसे ही उन्हें रहने देने की उसकी सहज प्रवृत्ति होती है। यदि अनुवाद ईमानदारी से करना है तो इस प्रवृत्ति से बचना चाहिए। असल बात यह है कि अच्छा अनुवादक कभी भी एक शब्द, एक वाक्य, यहां तक कि पैराग्राफ के अनुवाद करने की चेष्टा नहीं करता है, उसकी एकमात्र यही कोशिश होती है कि वह मौलिकता की गहराई और उसके सौंदर्य को अक्षुण्ण रखते हुए संपूर्णता में अनुवाद करे।

दूसरे छोर पर वे अनुवादक हैं जो अपने अनुवाद को इतना देशज और सुविदित बना देते हैं कि पाठक व्यर्थ में मौलिक कृति की विशेषता को ढूंढता है। इस प्रकार कुछ ऐसे अनुवादक हैं जो यूनानी त्रासदी का अनुवाद करते समय भारतीय पौराणिक देवताओं को यूनानी देवताओं के स्थान पर रख देते हैं। यह सत्य है कि कुछ भारतीय देवता यूनानी देवताओं के समान हैं, और उनके लक्षण भी समान हैं। तथापि उनमें से प्रत्येक देवता अपनी अलग पहचान रखता है। और एक सतही समानता के कारण इस प्रकार स्थापन्न नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार मौलिक कृतियों के चरित्रों की प्रवृत्तियों और उनके व्यवहार की विशेषताएं अनुवाद में ज्यों-की-त्यों अनिवार्य रूप से रहनी चाहिए। जहां जरूरत हो वर्णन या पारिभाषिक शब्द के अपरिचित होने पर फुटनोट में व्याख्या दी जा सकती है। लेकिन अनुवाद करते समय लोगों के जीवन में वह समानता खोज निकालने के लालच से दूर रहना चाहिए जो उनके जीवन में मिलती ही नहीं है।

हर जगह अनुवाद-कार्य में इन कुछ परेशानियों और खतरे की सामान्य बातों के अतिरिक्त भारतीय परिस्थिति में कुछ विशेष प्रकार की कठिनाइयां भी हैं। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने के लिए सक्षम अनुवादकों की अल्प संख्या सबसे बड़ी कठिनाई है। इस लेख के प्रारंभ में ही इस असामान्य स्थिति के लिए एक दूसरी असामान्य स्थिति के बारे में संकेत किया गया है कि हर भारतीय भाषा के पास अच्छी अंग्रेजी जाननेवाले और अंग्रेजी से अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद करने में बहुत-से सक्षम लेखक हैं—जबकि ऐसे बहुत कम संख्या में लेखक हैं जो भारतीय भाषाओं से उतनी ही अच्छी तरह अनुवाद कर सकें। जहां तक निकटवर्ती क्षेत्रों का सवाल है वहां यह समस्या इतनी विकट नहीं भी हो सकती, पर अधिकांश क्षेत्रों के लिए यह सच बनी हुई है। हिंदी में ऐसे लेखकों को ढूंढ निकालना बहुत आसान है जो बंगाली या पंजाबी से अनुवाद कर सकते हैं। पर ऐसे लेखकों को ढूंढ निकालने की बहुत कम संभावना है जो कश्मीरी से असमिया में या सिंधी से मलयालम में अनुवाद कर सकें। यह स्थिति है जिस पर हर भाषा के लेखकों के सहयोग देने, ध्यान देने और संशोधित करने की जरूरत है। ऐसे कार्यकर्त्ताओं के अभाव के कारण अकादमी और उसके सलाहकारों को केवल भाषा की शर्त पूरी करने

वाले लोगों को, चाहे वे सृजनात्मक लेखक नहीं भी हैं विशिष्ट अनुवाद-कार्य सौंपने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए यद्यपि अकादमी ने कुछ समय से एक कार्यप्रणाली तैयार की है। जिस भाषा की विशिष्ट कृति का अनुवाद करना होता है, उस भाषा की सलाहकार समिति से सक्षम व्यक्ति का नाम सिफारिश करने के लिए कहा जाता है। नाम चुन लेने और समिति की स्वीकृति के बाद उस विशिष्ट कृति के कुछ पृष्ठों को नमूने के लिए अनुवाद करके भेजने के लिए अनुरोध किया जाता है। जब समिति द्वारा नमूने का अनुवाद स्वीकृत हो जाता है तब वह कृति उसे सौंप दी जाती है। अनुवाद की पांडुलिपि सलाहकार समिति के किसी एक सदस्य को मूल्यांकन के लिए भेजी जाती है। उसका अभिमत-पत्र सलाहकार समिति के सम्मुख रख दिया जाता है। केवल सलाहकार समिति की स्वीकृति के आधार पर अकादमी उस कृति के प्रकाशन के लिए तैयार होती है। यह एक बोझिल प्रक्रिया है जो निस्संदेह बहुत समय लेती है। लेकिन जब तक कि ऐसे सक्षम और अनुभवी लेखक नहीं मिलते हैं जो स्वयं ही कृतियों के अनुवाद करने के लिए इच्छुक हों—ऐसा लगता है यही एक रास्ता है। यह आशा की जाती है कि बहुत जल्दी ही अकादमी अनुवादकों की एक अच्छी टीम बनाने में सक्षम होगी और अपने अनुवाद की योजना की रफतार तेज करेगी।

[अंग्रेजी से अनुवाद, अनुवादिका बिन्दु अग्रवाल, 'कल्चरल फॉरम' अंग्रेजी पत्रिका 1961 में प्रकाशित, 'द आर्ट ऑफ ट्रांसलेशन' नामक पुस्तक में संकलित।]

बाल-साहित्य लेखन के खतरे

मुझे एक सरलीकृत रूप में प्रारंभ करने की अनुमति हो तो मैं यह कहना चाहूंगा कि बच्चों के लिए लेखन में सबसे बड़ा दोष यह है कि बच्चों के लिए लिखनेवाले स्वयं बच्चे नहीं हैं। यदि ये लोग स्वयं बच्चे होते तो बच्चों के लिए अच्छी किताबें लिखने की समस्यायें अधिकतर अच्छे लेखन की समस्यायें होतीं। क्योंकि ये समस्यायें सब जानते हैं—कम-से-कम इस गोष्ठी में सम्मिलित हुए लोग तो सोचते ही हैं कि वे जानते हैं—मैं केवल उन समस्याओं पर अपनी बात को सीमित रखूंगा जिनसे साधारणतः बच्चों के लिए लिखनेवाले अच्छे और स्वीकृत वयस्क लेखक को सामना करना पड़ता है।

मैं सोचता हूं कि मुझे यहां रुककर यह बता देना चाहिए कि मैं बच्चों की किताबें नहीं लिखता—इसलिए मुझे यह बताने का हक तो नहीं है कि अच्छा बाल-साहित्य कैसे रचा जाना चाहिए, परंतु इससे मेरे विषय को शीर्षक जरूर मिल जाता है कि बाल-साहित्य लेखन के खतरे क्या हैं, क्योंकि इस अहसास की वजह से ही मैं बच्चों के लिए बहुत कम लिखता हूं।

अपनी बात को फिर से दोहराते हुए मैं कहना चाहता हूं कि क्योंकि बच्चे अपने लिए नहीं लिख सकते, ये वयस्क लोग ही हैं जिन्हें उनके लिए यह काम करना पड़ता है। और इनसे ही सबसे बड़ा खतरा है—क्योंकि वयस्क लोग जितना भी चाहें बच्चों की तरह सोच नहीं सकते। यह सच है कि वे स्वयं कभी बच्चा थे और थोड़े-से प्रयत्न से याद कर सकते हैं कि जब वे बच्चा थे तो वे कैसा सोचते थे और उनकी क्या भावनाएं थीं। लेकिन मुश्किल यह है कि इसको व्यतीत हुए तो वर्षों गुजर चुके होते हैं। इस बीच उसने बहुत-सा ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लिया होता है जो उसके लेखन में दिखायी भी देता है। दूसरी ओर दुनिया और समाज निरंतर बदलते रहते हैं। और हम चाहे न पहचानें लेकिन आज का बच्चा कल के बच्चे से बहुत अलग है। बच्चों के लिए लिखने से पहले दो काम जरूरी हो जाते हैं—एक तो वयस्क-अनुभव को भुलाना होगा, और फिर कोशिश करके आज के बच्चों के भाव और प्रतिक्रियाओं को समझना होगा। यह होने पर भी वह बच्चों के मन के तारों को छू पाएगा। मैं समझता हूं कि इसके बारे में विस्तार से बात

करनी होगी। कुछ दिन पहले, एक सड़क से गुजरते हुए एक दुकान पर बच्चों की कुछ पुस्तकें बिकती मिलीं। नजर दौड़ाने पर देखा कि वहां हवाई जहाज पर लिखी गयी एक किताब पड़ी है। क्योंकि वह सुंदर और सचित्र थी और मेरे बेटे को हवाई जहाज के बारे में सब कुछ जानने में बहुत रुचि है, मैंने किताब खरीद ली और अपने बेटे को भेंट दे दी। वह बहुत खुश हुआ और उसने एक ही बार में बैठकर पूरी पढ़ डाली। मैंने पूछा, "कैसी लगी?" तो चुप हो गया। फिर बोला, "ज्यादा अच्छी नहीं थी।" कारण यह था कि उसमें जहाज की बनावट के बारे में बहुत कम बताया गया था और न यह बताया गया था कि वह उड़ता कैसे है। मैंने भी किताब पढ़ी और मेरी यह समझ में आ गया कि मेरे बेटे को वह किताब पसंद क्यों नहीं आयी। आसान और सरल भाषा में यह बताया गया था कि मनुष्य ने उड़ान के सपने कब देखने शुरू किये और कैसे समय के साथ गुब्बारे से खोज करके राइट बंधुओं और अन्य दूसरे लोगों ने उसे सरल और कारगर आधुनिक जहाज बनाया। किताब काफी सूचनात्मक थी और थोड़े बड़े बच्चों के लिए रोचक हो सकती थी, पर मेरे बेटे को पसंद नहीं आयी थी। क्यों? इसलिए कि उसमें बहुत कुछ ऐसा था जो वह जानना नहीं चाहता था, और बहुत कम ऐसा था जो उसे वह जानना चाहता था।

बस, असली बात यही है। बच्चों के लेखक को सिखाना नहीं चाहिए। बाल-पाठक को नासमझ छात्र के स्तर पर नहीं गिरा देना चाहिए। उसे बड़ों की दुनिया की वह झलक नहीं दिखानी चाहिए जिसमें उसकी कोई रुचि नहीं है। लेखक को भी जोर इस बात पर नहीं देना चाहिए कि अभी उसे बहुत कुछ सीखना है। यह सच जरूर होगा पर बच्चों को इससे कोई मतलब नहीं है। इससे और भी कई चीजें ध्यान में आती हैं। बच्चों को बताना नहीं, बच्चों से बात यानी गप्पें करनी चाहिए। उसे दुनिया और चीजों के बारे में जैसा हम देखते हैं वैसा नहीं बल्कि जैसा वह देखता है यानी उसी के दृष्टिकोण से बताना चाहिए। बच्चों की दुनिया भले ही छोटी हो लेकिन है तो पूरी, वह वयस्क-दुनिया का संक्षेपण नहीं। लेखक को बाल-पाठकों के पास पहुंचने से पहले उसे अपनी दुनिया त्यागनी होगी और उसके जीवन में प्रवेश करके रहना होगा। बच्चे को इससे बुरा कुछ नहीं लगता कि कोई उसे यह बताये कि उसका वर्तमान भविष्य के लिए तैयारी है, और वह आज जिस रूप में है, वह असली जिंदगी से कुछ कम है। असल में वह एक खास ढंग से अपने आसपास के जीवन के विषय में अत्यधिक सचेत है। लेखक को उनकी डगर अपनानी होगी और जीवन को फिर से देखना होगा—संतुलित और संपूर्ण ढंग से। बच्चा जीवन के अधूरे, फीके चित्रण से कभी खुश नहीं होता। जो भी हम उसे दें वह संपूर्ण और तेजस्वी हो।

अब दूसरा प्रश्न उठता है—बच्चे को किसमें रुचि है? जो भी हमने पहले

से सोच रखा है, वह ज्यादातर गलत है। हम यह मान लेते हैं कि बच्चा गंभीर नहीं हो सकता है और सब कुछ हल्के-फुल्के ढंग से देखता है। लेकिन यह फिर सच से बहुत दूर है। बच्चा वयस्क से अधिक नहीं तो उसके जितना ही गंभीर होता है। उसकी चीजों की प्रकृति और उसकी प्रतिक्रिया अलग हो सकती है, लेकिन यह कहना कि वह गंभीर नहीं होता है, सरासर गलत होगा। हाल ही की बात है कि मैं पड़ौस के छोटे-छोटे बच्चों की बातें सुन रहा था। एक ने दूसरे से कहा, "तूने झूठ बोला है, यह पाप है।" दूसरे बच्चे ने जोड़ा, "भगवान तुझे सजा देगा।" बेचारे ने डर से सहमकर पूछा, "क्या वे मुझे मार डालेंगे?" पहलेवाले ने उत्तर दिया, "हां, जरूर" और बेचारा बच्चा बेहद डरकर घर भाग गया। यह उदाहरण शायद चरमसीमा का है, लेकिन जो मैं कहना चाहता हूं, वह इस उदाहरण से अच्छी तरह साबित हो जाता है। जो बच्चा यह मान लेता है कि उसकी गुड़िया को तेज बुखार है और वह उसे इंजेक्शन देने लगे, उस बच्चे के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह गंभीर नहीं है।

इतनी ही बड़ी दूसरी गलतफहमी यह है कि बच्चे को बच्चों में ही रुचि होती है। इससे अधिक गलत बात और कोई नहीं हो सकती। बच्चे खुशी से चोर, भूत, परी या सिर्फ मम्मी-डैडी की भूमिका अपना लेते हैं—यह कभी नहीं होता कि वे केवल बच्चों की भूमिका अपनाएं। जो लेखक यह बात भूल जाता है और अपनी किताबों में आम रोजमर्रा के बहुत-से नन्हे बच्चे चित्रित करता है, कभी सफल नहीं हो सकता। दुनिया बहुत नीरस हो जाये यदि उसमें सिर्फ बच्चे ही हों तो। यदि आप उसे यह दिखाना चाहते हैं कि खाने की मेज पर कैसे बैठा जाता है तो खरगोशों के कुटुंब को खाना खाते दिखाएं तो अच्छा होगा, ऐसा करने पर बाल-पाठक आपकी कुछ कमियों की आलोचना भी कर पाएगा। पर यदि बच्चों को खाता हुआ दिखायेंगे तो हम उन्हें उबा देंगे।

यदि हम इन खतरों से दूर रहें तो शायद हम बच्चे के सही चिंतन तक पहुंच सकें। सफलता के लिए एक और खतरे से बचना होगा। वह कहानी के अंत के बारे में है। बाल-साहित्य के लेखक की एक भारी गलती यह भी है कि वह कहानी में सीख जरूर देता है। एक प्यारी रोचक कहानी के लिए इससे बड़ी दुर्घटना कोई नहीं हो सकती। कहानी के साथ सीख जोड़ने का मतलब है उसका मजा किरकिरा कर देना। कहानी सुनते-सुनते बच्चे को जो आनंद आ रहा था, सब चकनाचूर हो जाता है। उसे ऐसा लगता है जैसे वह ठगा गया हो। जिस प्रकार हम वयस्क पाठकों को सीधी शिक्षा नहीं देते, उसी प्रकार हमें बच्चों को भी सीधी शिक्षा देने से बचना चाहिए। अच्छा लेखन बिन कहे सीख देता है। बच्चों के लेखक को बच्चों को अपना छात्र या शिष्य नहीं समझना चाहिए। बल्कि उन्हें अपने नन्हे दोस्त समझना चाहिए जिनके

साथ वे एक अपूर्व अनुभव में बंध जाएं। उन्हें ऐसा नहीं लगना चाहिए कि हम उसका मार्गदर्शन कर रहे हैं, बल्कि ऐसा लगना चाहिए कि हम उनसे मार्गदर्शन ले रहे हैं। वयस्क उनसे बहुत अधिक जानते होंगे, लेकिन अपने लेखन में अपने बाल-पाठकों के साथ एक नये रोमांचक अनुभव में शामिल हो जायें।

अंत में मैं यह कहूंगा, बच्चों के लिए लिखना एक कठिन काम है। यह एक कला है और जितने इसके अंदर गहरे उतरेंगे उतनी ही परिश्रम की आवश्यकता होगी—यह बात अक्सर हम भूल जाते हैं। क्या हम हर दूसरे दिन ऐसे लेखक से नहीं मिलते जिसने अपनी ज्यादा महत्त्ववाली पुस्तकों के साथ बच्चों के लिए भी किताबें लिखी हों। आज के बाल-साहित्य की अधिकांश कमियां इसी रवैये से पैदा होती हैं। नहीं, बाल-साहित्य को दूसरा दर्जा न दिया जा सकता है और न देना चाहिए। बच्चा बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की तरह नहीं केवल एक संलग्न वस्तु की तरह अपने प्रति व्यवहार होते देखकर थक गया है। कम-से-कम साहित्य में तो हमें उसे उसका प्राप्य देना चाहिए। इसलिए बच्चों के लिए लिखने में लापरवाही स्वीकार नहीं है। जब हम बच्चों के लिए लिखते हैं तो हम ऐसी दुनिया में प्रवेश करतें हैं जहां बच्चा सबसे महान है। उसकी पसंद-नापसंद ही नियंत्रण करनेवाला मुख्य घटक है। और हर दृष्टि से किताब उसी की दृष्टि से लिखी जानी चाहिए। ऐसा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जिससे उसकी छोटी-सी दुनिया जीवित हो उठे। अपना काम गंभीरता से लेते हुए कथ्य और शिल्प का ध्यान रखते हुए लेखक नम्र भाव से अपना सारा ज्ञान भूल जाये। कहने का मतलब यह है कि किताब बच्चे के लिए खिलौना बना दे।

[अंग्रेजी से अनुवाद, अनुवादिका मीनाक्षी भारत, बाल भवन और नेशनल म्यूजियम, नयी दिल्ली द्वारा आयोजित एक सेमिनार में पढ़ा गया लेख, 'राइटिंग फॉर चिल्ड्रेन टु डे, व्हाइ, वाट एंड हाउ!' नामक अंग्रेजी पुस्तक 1963 में संकलित।]

साहित्यकार राजपुरुष से छोटा हो गया है

स्वतंत्रता के बाद हिंदी साहित्य में क्या कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है : एक परिचर्चा

स्वतंत्रता ने साहित्य को कोई नया मोड़ नहीं दिया। साहित्य भारत के स्वतंत्र होने से पहले ही स्वतंत्र हो चुका था। 'गोदान' तथा 'कामायनी' के प्रकाशन, प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना और 1936 में विभिन्न प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन ने हिंदी साहित्य को पहला और स्वाभाविक मोड़ दिया था। दूसरा मोड़ सन् 1951 में आया। गांधीजी की हत्या, शरणार्थी समस्या, भूदान आदि विषयों पर बहुत कविताएं लिखी गयीं। इन कविताओं में काव्य-तत्व कम और राजनीतिक झलक अधिक थी। कविता के क्षेत्र में क्रांति सन् 1936 में हुई जब निराला ने मुक्त छंद का पथ अपनाया था। उपन्यास के क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद काफी काम हुआ है। 'मैला आंचल' के साथ आंचलिक उपन्यासों की नयी धारा चल पड़ी है। साहित्यकार जन-जीवन में घुल-मिलकर उत्कृष्ट साहित्य की रचना कर रहा है। पिछले 15 वर्षों में भीलों, मछुआरों और समाज के अन्य उपेक्षित एवं पिछड़े हुए लोगों के जीवन का मार्मिक चित्रण हुआ है। आज का लेखक जनतंत्रीय परिवेश में आगे बढ़ रहा है। स्वतंत्रता के बाद हिंदी साहित्य का संख्यात्मक विस्तार अधिक हुआ है, गुणात्मक नहीं। आज साहित्यकार राजपुरुष से छोटा हो गया है और इससे हमारी सृजनात्मक गति पर प्रभाव पड़ा है।

[रचनाकाल 1964, 'धर्मयुग' जनवरी 1964 में प्रकाशित, इस परिचर्चा मे भाग लिया था—विजयेंद्र स्नातक, भारतभूषण अग्रवाल, नरेंद्र शर्मा, बच्चन, जैनेंद्र कुमार और डा. नगेंद्र ने।]

लेखक और लक्ष्मी

मैं काफी छोटा था तभी सुन लिया था कि लक्ष्मी और सरस्वती में बैर है। यह भी सुना था कि जो लोग सरस्वती की आराधना करते हैं, लक्ष्मी उनसे प्रसन्न नहीं रहती। तब इसके प्रमाण भी चारों ओर बिखरे पड़े थे। मैं देखता था कि जो पढ़ते-पढ़ाते या लिखते-लिखाते हैं वे धनी नहीं हैं और जो धनी हैं, वे लक्ष्मी की पूजा में इतने डूबे रहते हैं कि पढ़ने-लिखने से उन्हें कोई वास्ता नहीं है। पर यह बात क्या वास्तव में सच है? अगर सच है ही, तो लेखक जो अपनी रचनाओं द्वारा हमें अपनी विद्वता से परिचित कराता है, इस बात में इतना मूर्ख क्यों है कि जान-बूझकर गरीबी का रास्ता चुनता है।

मैं सोचता हूं कि यह सवाल हममें से बहुतेरे लोगों के मन में कभी-न-कभी उठने लगता है। वैसे, ऐसे भी लेखक होते हैं जिन पर लक्ष्मी की कृपा रहती है। उनमें से कुछ तो लक्ष्मी की गोद में ही पैदा होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्होंने सरस्वती की साधना के साथ-साथ लक्ष्मी का वरदान भी पाया है। पर यह देखने की बात है कि संसार के प्रसिद्ध लेखकों में पांच-दस भी ऐसे नहीं निकलेंगे जिनका जीवन आर्थिक रूप से संपन्न माना जा सके। इसलिए अपवादों को अगर छोड़ दें तो यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि सरस्वती की साधना हमें लक्ष्मी के वरदान से वंचित क्यों कर देती है।

प्रेमचंद का उदाहरण हमारे सामने है। हम सब जानते हैं कि आज उनकी रचनाओं की रॉयल्टी उनके उत्तराधिकारियों को काफी मिल रही है। जब प्रेमचंद जीवित थे तो इन्हीं रचनाओं के लिए हम उन्हें इतना भी न दे पाये कि वे साधारण जीवन भी बिता सकते। शायद इसका उत्तर यह दिया जाये कि उन दिनों देश खुद ही गरीब था और अपने मूर्धन्य लेखक की भी आजीविका न जुटा सकता था। बात मानने लायक लगती है। पर आज भी जो लेखक सच्चे रूप में एकाग्र रूप से सरस्वती की साधना में लगे हुए हैं, वे अर्थाभाव से पीड़ित हैं। रांगेय राघव का नाम पाठकों के लिए अपरिचित नहीं है। 39 वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उनकी इतनी शीघ्र विदाई में अर्थ-संकट का बहुत बड़ा हाथ था। कॉलेज के दिनों

[illegible] पर ल[illegible] दिया हो और जो निरंतर जीवन की और सब उलझनों से ऊपर उठकर साहित्य रचना में पल-पल लगा रहा, वह अपने इलाज के लिए दवा नहीं जुटा पाया। रांगेय राघव ने साहित्य का शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिस पर न लिखा हो। उपन्यासों से लेकर अनुवाद तक उनकी रचनाओं में शामिल हैं। 39 वर्ष की आयु में 150 ग्रंथों की रचना अपने-आपमें चमत्कार है। फिर भी लक्ष्मी ने कृपा नहीं की।

धन के अभाव से बचने का जो दूसरा रास्ता लेखकों ने निकाला है, वह है अपनी आवश्यकताओं में कमी कर देना। छायावादी युग में यह रास्ता विशेष रूप से प्रचलित था, यद्यपि बहुत-से लेखक आज भी इसे अपनाते हैं। इस रास्ते पर चलनेवाला लेखक सबसे पहला गृहस्थी बसाने से इनकार कर देता है। वह आजीवन अविवाहित रहता है। इस तरह वह अपनी आवश्यकताओं को बहुत घटा लेता है। उसे पत्नी अथवा बच्चों के निर्वाह की और विकास की चिंता नहीं होती। किसी तरह अपना पेट भर जाये तो काम चल सकता है। पर इस तरह लेखक धन के अभाव से थोड़ी-बहुत रक्षा भले ही पा जाता हो, उसके लेखन में एक गहरी कमी आ जाती है। बात दरअसल यह है कि हम गृहस्थी के माध्यम से ही समाज, राष्ट्र और विश्व से संबंध बना पाते हैं। गृहस्थी को छोड़कर जब लेखक अकेला एक एकाई बना फिरता है तो उसके व्यक्तित्व में उन सूत्रों का अभाव हो जाता है जो उसको समाज से और उसके जीवन को यथार्थ से बांधता है। धीरे-धीरे वह जीवन की यथार्थता से इतना दूर हो जाता है कि एक ओर उसका व्यक्तित्व अपने-आपमें बंद घुटन का अनुभव करने लगता है। दूसरी ओर, जीवन की वास्तविक समस्याएं उसे सही रूप में दिखायी ही नहीं देतीं। गृहस्थी को त्याग कर संन्यासी तो बना जा सकता है क्योंकि संन्यासी को सबकी मुक्ति की चिंता नहीं होती, केवल अपनी मुक्ति की ही चिंता होती है। पर संन्यास लेकर साहित्य-रचना ठीक ढंग से नहीं की जा सकती क्योंकि साहित्य अपनी मुक्ति के लिए नहीं, सबकी मुक्ति के लिए रचा जाता है और ऐसे संगहीन एकाकी लेखक का साहित्य सबकी समस्याओं से कटकर अधूरा और एकांगी हो जाता है।

ऐसे उदाहरण अनेक हैं पर उनकी चर्चा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह मान लेने में किसी को कठिनाई नहीं होगी कि लेखक किसी-न-किसी कारण से सदैव ही धन के अभाव में त्रस्त रहता है। यह त्रास कितना भयंकर होता है, इसका कुछ अंदाज हम इस बात से कर सकते हैं कि जितने लोग कॉलेज के दिनों में साहित्य-रचना की ओर झुकते हैं, उनमें से शायद पांच या दस प्रतिशत ही आगे चलकर साहित्य की रचना करते हैं। बाकी लोग उस रास्ते को कांटे की राह समझकर छोड़ देते हैं।

ऐसे लेखकों की भी कमी नहीं है जो एक आंख साहित्य-रचना पर रखते हैं और दूसरी आर्थिक लाभ पर। ऐसे लेखकों की रचना में एक गिरावट आ

जाती है। वे रोचक और लोकप्रिय तो होतीं हैं, पर सच्चे अर्थों में साहित्य नहीं बन पातीं। आज के व्यावसायिक समाज में ऐसी रचनाओं की धूम है। ऐसा साहित्य हमारे हीन भावों को और हमारी वासनाओं को कुछ देर के लिए सहलाता है, बाद में कूड़े में फेंक दिया जाता है।

अर्थ के अभाव से बचने के लिए आज के लेखक ने एक-दो रास्ते भी अपनाए हैं। अक्सर वह साहित्य-रचना के साथ-साथ अपने जीवन में कुछ ऐसा काम भी करता चलता है जो उसे आर्थिक संकट से चाहे मुक्ति न भी दे. पर राहत तो दे ही दे। आज के जमाने में यह काम ज्यादातर नौकरी ही होता है। हिंदी के लगभग 90 प्रतिशत लेखक किसी-न-किसी प्रकार की नौकरी करते हैं। इनमें सरकारी कर्मचारी, पत्र-पत्रिकाओं में काम करनेवाले व्यावसायिक फर्मों के नौकर, फिल्म और रेडियो के कलाकार आदि हैं। पर यह बड़े मार्के की बात है कि इनमें से 90 प्रतिशत लेखकों की रचनाओं में वह गरिमा और उदात्तता नहीं मिलती जो सच्चे और महान् लेखक में होती है। इस बारे में कभी विचार नहीं किया गया है, पर यह बात गलत नहीं लगती कि उनकी रचना का घटियापन किसी-न-किसी रूप में उनकी जीविका की प्रक्रिया से संबंधित होता है। यों भी यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि जब मन एक साथ दो नावों पर पैर रखकर चलने की कोशिश करता है तब उसका डगमगाना स्वाभाविक ही है। इसलिए जो लेखक अर्थ के संकट से बचने के लिए अपने जीवन के कुछ क्षण लक्ष्मी के चरणों में अर्पित करने का निश्चय करते हैं, उनकी हालत भी अच्छी नहीं दिखायी पड़ती।

सोवियत संघ में लेखक को उसके जीवनकाल में ही यथासंभव सारी सुविधाएं और सम्मान प्रदान किये जाते हैं। यहां तक कि उनके निवास और स्वास्थ्य पर वैसा ही ध्यान दिया जाता है जैसा हमारे देश में केवल राजपुरुषों को प्राप्त है। पर कष्ट और अभावों से ऐसी विलक्षण मुक्ति पाकर भी सोवियत संघ के लेखकों ने पिछले 30-40 वर्ष में कोई मार्के की रचना हमें नहीं दी है। क्रांति के पहले के रूस के अनेक लेखक विश्वकोटि के लेखक हैं। पुशकिन, टाल्सटाय, दोस्तोवस्की के नाम विश्व-साहित्य में अमर हैं पर क्रांति के बाद के संपन्न लेखकों में एक भी ऐसा नहीं है जो इन लेखकों की प्रतिभा अथवा कीर्ति को छू सके।

यहां भी ऐसी ही एक घटना इस बात की पुष्टि कर चुकी है। लगभग दस वर्ष हुए, ऑल इंडिया रेडियो ने एक साथ प्रायः सभी भाषाओं के चोटी के लेखकों को अपने यहां सम्मान के पद देकर अर्थ-चिंता से मुक्त कर दिया था। और अब ऐसा लगता है कि इस अभाव से छुटकारा पाते ही वे मानो रचना से भी मुक्ति पा गये।

यही कारण है कि जो सच्चा लेखक है, वह अपने जीवन में धन तो क्या कभी-कभी सही यश से भी वंचित रह जाता है। हां, यदि उसका हृदय इतना सजग और विशाल हो कि वह आर्थिक सुविधा पाकर भी या सरकारी अथवा

व्यवसाय के माध्यम से सामाजिक आश्रय पाकर भी अपने विद्रोही स्वर को कुंठित न होने दे तो यह संभव है कि वह अर्थाभाव सें मुक्त होकर भी सच्चे साहित्य की रचना करता रहे। शेक्सपियर ने अपने नाटक एक कंपनी के लिए लिखे थे और उनके द्वारा उन्होंने अपनी जीविका भी चलाई थी, पर उस कारण उन्होंने अपनी दृष्टि को धुंधला नहीं होने दिया। हमारे हिंदी साहित्य में भी ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। सरस्वती की साधना और लक्ष्मी की पूजा दोनों एक साथ हो तो सकती हैं पर उसके लिए साहित्य के प्रति पूरी ईमानदारी बरतने की आवश्यकता है।

[रचनाकाल 1964, 'सरिता' में प्रकाशित,
'लीक-अलीक' में संकलित।]

हम मान क्यों न लें कि हमारी भाषा हिंदी है?

ज्यों-ज्यों 1965 पास आता जा रहा है, और हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर बैठाने में तरह-तरह की ढील दिखायी पड़ रही है, त्यों-त्यों हिंदीवालों का विक्षोभ बढ़ता जा रहा है। पिछले एक वर्ष से तो यह विक्षोभ इतना प्रबल हो गया है कि शायद ही किसी पत्र में इस विषय की चर्चा होने से छूटी हो। यदा-कदा सभाओं और सम्मेलनों में भी गरमागरम भाषण होते रहे हैं। सरकार पर तरह-तरह के दबाव भी डाले जा रहे हैं। पर बात बनती नज़र नहीं आती।

पहली बात तो यह है कि हिंदी के पत्रों में या हिंदी की सभाओं में हिंदी के पक्ष की पुष्टि करना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। हिंदी के लोगों को यह समझाना कि हिंदी ही देश की भाषा हो सकती है, काफी हास्यास्पद बात है। यदि समझाना ही है तो अहिंदी-भाषियों को समझाना है, और उसके लिए हिंदी के पक्ष की पुष्टि अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से करना अधिक कारगर होगा। संभव है, यह काम इसलिए न किया गया हो कि हिंदी के भाषा-भाषियों में अन्य भारतीय भाषाओं मे लिख सकने योग्य विद्वानों की कमी हो। यदि ऐसा है तो यह कमी जल्दी से जल्दी दूर की जानी चाहिए। पर इस अभाव में, हिंदी-मंच से ही हिंदी-पक्ष की पुष्टि करना उस दर्जी की याद दिलाता है जो घर में रोशनी न होने के कारण खोई हुई सुई सड़क पर खोज रहा था। फिर इस हो-हल्ला से अन्य-भाषी लोग बहुत-सी गलतफहमी के शिकार हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि सचमुच हमारे साथ ज्यादती करने की तैयारी हो रही है। जिसे हम जनमत तैयार करना समझते हैं, उसे वे मोर्चाबंदी समझते हैं।

दूसरी बात यह है (जो पहले भी कई विद्वान कह चुके हैं) कि हिंदी का पूर्ण रूप से सरकारी प्रयोग कब से चालू हो, यह सवाल हम हिंदीवालों को अहिंदीवालों पर छोड़ देना चाहिए। जनतंत्र का सिद्धांत यही कहता है। हिंदी की स्वीकृति देश-हित में है, वह राष्ट्रीय एकता और स्वास्थ्य के लिए उपयोगी

है, यह हम अच्छी प्रकार कह चुके हैं। अब उसे मानना या न मानना, और मानना तो कब से मानना—यह दुसरों पर छोड़ देना चाहिए। आखिर देश की एकता की जरूरत सिर्फ हमी को नहीं, उन्हें भी तो है। अपनी बहुसंख्या का शोर मचाकर हम उनमें अनेकता की ही प्रवृत्ति भड़काते हैं।

तीसरी बात यह है कि हम एक स्वस्थ जनतंत्र के सदस्य हैं, और जनतंत्र में सारा काम सरकार ही नहीं करती, जनता भी करती है। व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और जनमत का नहीं तो क्या अर्थ है? हिंदी को अपनी भाषा मानने के लिए हम किसी सरकारी फतवे की बाट क्यों देखें? जनता में आंदोलन खड़ा करके प्रस्तावों की झड़ी लगाना ताकि सरकार झुककर हमारी बात मान ले, पर जब तक न माने तब तक हम क्या कर सकते हैं—यह रुख जनतंत्रीय नहीं है। हमारी भाषा हिंदी है तो आइए, आज ही से उसका उपयोग शुरू करें। उपयोग सफल हुआ तो अन्य लोग भी उसमें शामिल होंगे, और एक दिन सरकार भी। अभी तो हाल यह है कि एक ओर तो हम ऊंची-ऊंची आवाजों में हिंदी की मांग करते हैं, दूसरी ओर अपने व्यावहारिक जीवन में हिंदी का प्रवेश नहीं करने देते। हमारी इस विरोध-भरी प्रणाली पर अहिंदी-भाषी कौतुक-भरी हंसी हंसते हैं, इसमें संदेह नहीं। मैं निजी जानकारी से यह जानता हूं कि आज केंद्रीय सरकार के प्रायः प्रत्येक दफ्तर में इस बात की व्यवस्था है कि हिंदी में प्राप्त पत्रों का हिंदी में ही उत्तर दिया जाये, पर हिंदी का स्टैनो बेचारा प्रायः बेकार ही बैठा रहता है क्योंकि हिंदी क्षेत्र के हिंदी-भाषी भी सरकार से पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में ही करना पसंद करते हैं, हिंदी-क्षेत्र की प्रादेशिक सरकारें भी, और विश्वविद्यालय भी। तिस पर अंग्रेजी हटाने के नारे बुलंद किये जा रहे हैं।

अगर सचमुच अंग्रेजी हटानी है तो आइए, कुछ काम हिंदी में भी कर डालें। हम मान लें कि हमारी भाषा हिंदी है, और यथासंभव उसका उपयोग करें, हिंदी का पक्ष हिंदी पत्रों में नहीं, वरन् अहिंदी पत्रों में पुष्ट करें और अपने दैनिक जीवन में हिंदी को उतरने दें। जिन अंग्रेजी शब्दों के बिना हमारा काम न चलता हो उन्हें धड़ल्ले से हिंदी में आने दें, और हिंदी की सेवा के लिए दूसरे की या सरकार की कृपा की बाट न देखें।

हम हिंदी को अपनी भाषा मानते हैं या नहीं, इसका उत्तर अपनी भावना से नहीं, अपनी दैनिकचर्या से देना उचित होगा। इस दृष्टि से नीचे लिखी प्रश्नावली बड़े काम की सिद्ध होगी :

1. क्या आप हिंदी का दैनिक अखबार खरीदते हैं?
2. क्या आप अपने हस्ताक्षर हिंदी में करते हैं?
3. क्या आप हिंदी जाननेवालों से हिंदी में बात करते हैं?
4. क्या आपके बच्चे हिंदी माध्यमवाले स्कूलों मे पढ़ते हैं? (जहां स्कूल में हिंदी माध्यम न हो, वहां मजबूरी है)

5. क्या आप चिट्ठियों पर पता हिंदी में लिखते हैं? तार मनिऑर्डर, बैंक आदि के काम में हिंदी सुविधा का पूरा-पूरा उपयोग करते हैं?
6. क्या आपके लैटर-पैड, नेमप्लेट, कैश मेमो, बिल, साइन-बोर्ड आदि-आदि में हिंदी का उपयोग होता है?
8. क्या आप पर्व-त्योहार के ग्रीटिंग कार्ड और विवाह-उत्सव आदि के निमंत्रण पत्र हिंदी में छपाते हैं?

यानी अंग्रेजी हटाओ आंदोलन की बजाय हिंदी अपनाओ का व्यवहार, मेरी दृष्टि में अधिक फलप्रद होगा। खासतौर से हिंदीवालों के लिए जो एक ओर हिंदी का नारा देते हैं, और दूसरी ओर अपने दैनिक जीवन में अंग्रेजी को बरकरार रखे हैं, और अपनी संतान को अंग्रेजी में ढाले चले जा रहे हैं।

[रचनाकाल 1964, अप्रकाशित।]

भाषा-विवाद

भाषा-विवाद संबंधी समस्या का महत्त्व और अनिश्चय की गहराई देखते हुए मैं तो सोचता हूं कि 'दिनमान' को अपने साधारण अंकों से पृथक एवं अतिरिक्त एक भाषा परिसंवाद-विशेषांक निकालना चाहिए ताकि जो सचमुच सो रहे हैं उनकी आंखें खुलें—जो जान-बूझकर आंखें बंद किये पड़े हैं उनकी बात अलग है।

पिछले कुछ दिनों, और बहुतेरों की तरह मैं भी बड़ा उत्तेजित रहा हूं। एक प्रकार से मैं इस प्रश्न के सभी पहलुओं पर प्रश्न-चिह्न लगाता गया हूं और चिंता करता गया हूं। उस मंथन में से मेरे हाथ कुछ ऐसे निष्कर्ष लगे हैं कि मैं स्वयं चौंक गया हूं।

जब सन् 1950 में यह निर्णय लिया गया कि भारत की राजभाषा देवनागरी में लिखी हिंदी होगी, उसका विकास आठवीं अनुसूची में परिगणित भाषाओं के सहयोग से किया जायेगा, और इस तैयारी के लिए पंद्रह वर्ष का समय लगाया जायेगा—तब इस निर्णय में क्या भूल थी? कुछ सदाशयी और भोले सज्जन यह कहते रहे हैं कि पंद्रह वर्ष के लिए टालने की बजाय हिंदी को तभी लागू कर दिया जाना चाहिए था—उस समय लोगों में जोश था—राष्ट्रीयता की चादर इतनी पतली न थी; और कि यह एक ऐतिहासिक भूल थी जिसके दुष्परिणाम हम अब सर्वदा भोगते रहेंगे।

मैं इससे भिन्न निर्णय पर पहुंचा हूं। इस निश्चय में भूल तो थी, पर अन्य प्रकार की। कहूं, यह सदिच्छापूर्ण भूल न होकर एक पलायन का मार्ग था। भाषागत पलायन तभी से हमारे राज-चिंतन में रमता आया है। और यह पलायन इतना विकट था कि आज ही उसकी गहराई का पता चल सका है।

इस पलायन के दो पहलू थे :

(1) भारतीय राष्ट्र के संघीय रूप की अनदेखी।

(2) प्रादेशिक भाषाओं की उपेक्षा।

ये दोनों पहलू उक्त निश्चय में खुदे हुए हैं और परस्पर आबद्ध हैं। आखिर केंद्रीय राजभाषा के निश्चय को पंद्रह वर्ष के लिए स्थगित करते हुए भी प्रादेशिक स्तर की भाषाओं के संबंध में मौन क्यों रहा गया? क्या यह संकल्प करना अव्यावहारिक, असंभव अथवा अराष्ट्रीय होता कि केंद्र में हिंदी का व्यवहार तो पंद्रह वर्ष उपरांत होगा, पर प्रदेशों में मातृभाषा का व्यवहार तुरंत लागू कर दिया जाये। यह निश्चय क्यों नहीं किया गया? क्योंकि यदि यह निश्चय

लागू कर दिया गया होता तो एक बहुत बड़े प्रदेश की भाषा होने के कारण हिंदी को अपने स्वाभाविक (मातृभाषा रूप में) विकास करने का समुचित अवसर मिल जाता और फिर उसके विकास के लिए अलग से माथापच्ची न करनी पड़ती।

यदि पंद्रह वर्ष की मांग सदाशयतापूर्ण थी—जैसा कि सामान्यतः माना जाता है—तो भी यह जरूरी था कि हिंदी क्षेत्र की प्राथमिक शिक्षा में हिंदी को तुरंत अनिवार्य कर दिया जाता। विद्यार्थी का शिक्षा-काल लगभग 13-14 वर्ष का होता है और प्राथमिक कक्षा में तुरंत व्यवहार के बिना पंद्रह वर्ष बाद भी हिंदी के व्यवहार को झुठलाता दीखता है।

और ये दोनों भूलें उस बड़ी भूल का परिणाम हैं जिसने संघीय स्वरूप की उपेक्षा की। स्वातंत्र्य संग्राम की प्रतिज्ञा थी कि हिंदुस्तानी राष्ट्र की भाषा होगी—पर उतने ही जोर से यह बात नहीं कही गयी कि प्रदेशों में मातृभाषाओं में काम होगा। स्वराज्य प्राप्त होने पर हिंदुस्तानी की जगह हिंदी पर जोर दिया गया—मातृभाषाओं के बारे में फिर भी मौन धारण कर लिया गया।

क्या सचमुच मौन धारण किया गया? मैं ऐसा नहीं मानता। क्योंकि मातृभाषाओं का उल्लेख तो है, आठवीं अनुसूची में, पर प्रकारांतर से है। मातृभाषाएं वे नदियां हैं जो राजभाषा के समुद्र को भरेंगी। अर्थात् राजभाषा हिंदी क्षेत्रीय हिंदी से भिन्न होगी क्योंकि उसमें समस्त मातृभाषाओं का अनुदान रहेगा। मुझे याद है कि इस प्रकार की चर्चा '50-60 के बीच बड़े जोर से होती थी।

प्रदेशों में भाषा-व्यवहार पर कोई निर्णय न लेना, मातृभाषाओं के विकास पर चुप्पी लगा जाना और समस्त मातृभाषाओं के योगदान से राजभाषा हिंदी के विकास की बात करना यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन चिंतन राष्ट्र के संघीय रूप और चरित्र की अनदेखी कर रहा था और उसका सपना यह था कि भारत कालांतर में एकभाषीय, एकजातीय राष्ट्र होगा, जिसकी भाषा हिंदी होगी। यही कारण है कि अहिंदी अंचलों में हिंदी साम्राज्यवाद का नारा बुलंद हुआ था। हम लोग कहते आये हैं कि वह नारा खोखला और निराधार था। पर आज मुझे ऐसा नहीं लगता। उसे निराधार तभी कहा जा सकता था जब देश के संघीय रूप पर बल देकर मातृभाषाओं के अन्यतम क्षेत्र रेखांकित कर दिये जाते और केंद्रीय राजभाषा के व्यवहार की सीमाएं निर्धारित की जातीं। पर ऐसा नहीं किया गया। उल्टे मातृभाषाओं को दूसरी कोटि में रखा गया—सहायक (Tributary) नदियों की कोटि में।

एकजातीय, एकभाषीय राष्ट्र की यह परिकल्पना बड़ी पुरानी है। मुझे याद है जब सन् 1937 में प्रांतीय स्वराज्य का कानून अमल में लाया गया था तब देशभक्तों ने उसका स्वागत नहीं किया था वरन् यही कहा था कि यह देश के टुकड़े-टुकड़े करने की चाल है। वह भावना कांग्रेस-जन में निरंतर बसी रही है। संघीय राष्ट्र के घटक-पक्ष की सदा से ही उपेक्षा की जाती रही है।

अपनी राष्ट्रीयता के उत्साह में हम कितने ही स्वप्नशील क्यों न हो उठें, कर्म व्यावहारिक नियमों से ही चलता है। केंद्रीय भाषा हिंदी हो, इसके पहले यह नितांत आवश्यक है कि प्रदेशों में मातृभाषाएं प्रतिष्ठित हों। यही नहीं, यह भी आवश्यक है कि संघीय विधान के अनुरूप केंद्रीय कार्य की सीमा निश्चित

हो और अवशिष्ट अधिकार प्रदेशों में न्यस्त किये जायें। तभी हमारी राष्ट्रीयता दृढ़ और व्यावहारिक होगी, क्योंकि तब हम यह पहचान सकेंगे कि हमारा राष्ट्र बहुजातीय, बहुभाषीय है और वह संघीय स्वरूप का है।

इसके लिए यह जरूरी है कि प्रदेशों में सारा कार्य मातृभाषाओं में हो, और केंद्र में अंग्रेजी चलती रहे। यदि सन् '50 में मातृभाषाएं लागू हो जातीं तो आज केंद्र में किसी भारतीय भाषा को स्थापित करना व्यावहारिक हो सकता था—पर वैसा नहीं किया गया। बिना गड़बड़ी या उलट-पुलट के भाषा-परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि तैयारी पहले प्रदेशों में हो। जब उच्चतम शिक्षा और प्रादेशिक राजकाज में मातृभाषाएं प्रतिष्ठित हो जायेंगी तभी केंद्रीय परिवर्तन संभव हो सकेगा—और हिंदी क्षेत्र में हिंदी के व्यवहार से उसका आवश्यक विकास भी हो चुका होगा।

अर्थात् एक ऐसा संक्रांति काल अनिवार्य है जब केंद्र का व्यवहार यथावत् रहे पर प्रदेशों में मातृभाषाएं विकसित और प्रतिष्ठित हों। इस व्यावहारिक पक्ष की बहुत अनदेखी हो गयी है। जब तक यह अनदेखी चलती रहेगी तब तक इस समस्या के समाधान की ओर हम उन्मुख न हो सकेंगे। केंद्र से प्रदेश की ओर भाषा-संक्रमण संघीय चरित्र नहीं है, साम्राज्यवादी चरित्र है। प्रदेश से केंद्र की ओर संचरण संघीय भी है और गणतंत्रीय भी।

अतएव, हिंदी के उत्साहियों का तात्कालिक कर्त्तव्य यह नहीं है कि वे केंद्र में हिंदी के अनिवार्य अथवा वैकल्पिक व्यवहार पर भी बल दें। उनका कर्त्तव्य है कि वे मातृभाषाओं से मिलकर प्रत्येक प्रदेशों में उनकी सच्ची प्रतिष्ठा कराने में योग दें। अहिंदी प्रांतों में वे हिंदी सीखने पर बल न दें, बल्कि मातृभाषा के व्यवहार पर बल दें। हिंदी प्रांतों में वे केंद्रीय कार्यालयों में हिंदी व्यवहार पर बल न दें, वरन् प्रादेशिक राजकाज में हिंदी के अनिवार्य व्यवहार को वास्तविक बनायें। सौभाग्य से वर्तमान राजनीतिक मानचित्र इसके लिए अत्यंत अनुकूल है। प्रदेशों का महत्त्व पहचाना जा रहा है और केंद्र की सीमा भी। इस समय प्रदेशों में मातृभाषाओं का व्यवहार सहज संभव हो गया है। असली मोर्चा, राष्ट्रीय नहीं प्रादेशिक है। हिंदी को लागू करने के लिए बंबई या मद्रास की दौड़ बेकार है। पहले हिंदी क्षेत्र में ही उस पर बल देना होगा—खास तौर से शिक्षा के माध्यम के रूप में प्राथमिक शालाओं से अंग्रेजी को तुरंत निकाल बाहर करना होगा, चाहे वे कांवैन्ट या पब्लिक स्कूल ही क्यों न हों और फिर उच्चतर शिक्षा में क्रमशः वार्षिक योजनाएं बनाकर हिंदी को उच्चतम शिक्षा में अनिवार्य माध्यम बनाना होगा। अंग्रेजी एक स्वतंत्र और पृथक भाषा के रूप में उच्च माध्यमिक स्तर पर पढ़ाई जाये ताकि जो विद्यार्थी केंद्रीय कार्य में भाग लेने के इच्छुक हों उन्हें कठिनाई न हो। ठीक ऐसा ही काम प्रत्येक प्रदेश में संबद्ध भाषा में होना चाहिए। तब हम पंद्रह वर्ष बाद पायेंगे कि समस्त भारतवासी मातृभाषा में शिक्षित हो चुके हैं, और सभी मातृभाषाओं का समुचित विकास हो चुका है। वही उपयुक्त समय होगा, केंद्र में भाषा-परिवर्तन की बात करने का। अन्यथा, वह औपचारिक रहने को बाध्य है, जैसी कि आज की स्थिति है।

[रचनाकाल 1965, वात्स्यायनजी को लिखे पर न भेजे गये पत्र का मुख्य अंश, अप्रकाशित।]

पत्नी और प्रेयसी

मन तो करता है कि जैनेंद्रजी की बात मान ली जाये क्योंकि उन्होंने जो रास्ता सुझाया है उसमें सारी व्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी रह सकती है और फिर भी सब जिंदगी का मज़ा ले सकते हैं। यानी एक तरह से हम जिसे 'दोनों हाथ लड्डू' कहते हैं। पर मुश्किल यह है कि सुविधा का रास्ता अक्सर पराजय और समझौते का रास्ता होता है, जो आराम भले ही दे, परिपूर्णता नहीं देता, तिस पर उन आदर्शों और विश्वासों का क्या होगा जिनको लेकर हम जिंदगी-भर जूझते आये हैं, मुझे याद है कि जब देश में पहले-पहल मार्क्सवाद की लहर फैली थी तो रूढ़िपंथियों की ओर से एक भ्रम यह फैलाया गया था कि मार्क्सवादी लोग विवाह व्यवस्था नहीं मानते, और वे स्त्री-पुरुष के संबंधों में एक ऐसी आज़ादी को सही मानते हैं जिसे उस समय ग्लास वाटर थ्योरी कहा गया था। जैनेंद्रजी ने भविष्य की जो तस्वीर देखी है वह कुछ-कुछ उस ग्लास वाटर थ्योरी के पास पहुंच जाती है। पर जैसे तब वैसे अब, यह सिद्धांत भ्रामक ही नहीं, गड्ढे में ले जानेवाला भी है। मुझे तो लगता है कि भविष्य का सब्जबाग दिखाकर जैनेंद्रजी एक तरह से आज की विषम परिस्थितियों को ही स्थायी बना देना चाहते हैं। आखिर जो उन्होंने पेश किया है वह हमारे सामंतीय समाज के हल से किस प्रकार भिन्न है? घर में पत्नी पड़ी सोती रहे और पुरुष पर-स्त्री के साथ आनंद लूटता रहे—यह सिद्धांत तो विशुद्ध सामंतीय है। हमारे जमींदार और हमारे सेठ प्रबंधित विवाह से असंतुष्ट होकर यही करते आये हैं। किसी जमाने में तो वेश्या-गमन या रखैल रखना प्रतिष्ठा की बात थी। क्या जैनेंद्रजी हमारे समाज को फिर से उधर ले जाना चाहते हैं?

पर नहीं शायद ऐसा नहीं है। कितने ही मरे हुए ढंग से सही, उन्होंने अपने समाधान में एक नया तत्व यह जोड़ा है कि पत्नी भी विवाहेतर प्रेम-संबंध कर सकती है। पर मैं इसे जान-बूझकर अपनाया गया दिग्भ्रम समझता हूं। क्योंकि समस्या सीधी-सीधी प्रेम और विवाह की है। जैनेंद्रजी यह मानकर चलते हैं कि पति को पत्नी से संतोष नहीं होता अर्थात् वे प्रबंधित विवाह पर ही विचार कर रहे हैं। जहां विवाह के लिए नर-नारी के प्रेम की स्थिति की कोई गुजर नहीं है। पर हमने प्रबंधित विवाह को रूढ़ि मान कर त्याग दिया है

और प्रेम के आधार पर ही विवाह को मान्यता दी है। प्रेम पर आधारित विवाह भी असफल हो सकता है इसमें कोई संदेह नहीं—पर उसका सही इलाज या रूप यह है कि पति या पत्नी परस्पर छल-कपट का सहारा लेकर बाहर कहीं अपना परितोष ढूंढे? यह तो समस्या से बचना जान पड़ता है। उसका सही इलाज तो यही है कि जब पति-पत्नी इस निर्णय पर पहुंचे कि उनके बीच प्रेम का संबंध मर चुका है तब वे स्वेच्छा से विवाह बंधन को समाप्त करें और फिर दुबारा किसी और का साथ खोजें। जैनेंद्रजी का रास्ता तो कायरता का रास्ता है। वह रूढ़ियों को कायम रखता है और समाज में तेजी से हो रहे परिवर्तनों का विरोध करता है। समान और मुक्त भाव से प्रेम-विवाह ही नर-नारी के यौन-आकर्षण का सही और संतोषकारी समाधान है। कम-से-कम मैं इसके अलावा और कोई हल नहीं जानता।

जिस तरह जैनेंद्रजी ने विवाह की एक रूढ़िसम्मत परिभाषा ग्रहण की है, उसी तरह प्रेम की परिभाषा भी। प्रेम कोई बंगाली मार्केट में खाई जाने वाली चाट नहीं कि बीच-बीच में उसका रस ले लिया और बात खत्म हो गयी। जिस तरह जैनेंद्रजी ने प्रेम को देखा है वह छायावाद से भी पहले की रोमांटिक ललक का रूप है। मेरी दृष्टि में प्रेम इससे कहीं अधिक गहरी व्यापक और स्थायी चीज़ है। यही नहीं, प्रेम को मैं फुर्सत का शग़ल या व्यक्तित्व का अलंकरण मात्र नहीं मानता। न मैं उसे केवल तन की भूख का पर्याय समझता हूं। वह तो दो व्यक्तित्वों की समरसता का नाम है। बौद्धिक प्राणी होने के नाते मैं प्रेम को जीवनी-शक्ति के समकक्ष समझता हूं जिसके बिना नर-नारी के किसी भी संबंध को मैं गलत मानता हूं। ऐसा प्रेम आंशिक प्राप्ति से संतुष्ट नहीं होता, नहीं हो सकता। प्रेम संपूर्ण ग्रहण और संपूर्ण समर्पण मांगता है—उससे कम नहीं। और तभी वह जीवन की शक्ति और जीवन की परितृप्ति बनता है। दूर जाने की क्या जरूरत है, 'धर्मयुग' के हाल के ही अंक में श्रीकांत वर्मा ने जिस प्रेम-हत्या-कांड की रपट लिखी है उसी से सिद्ध है कि पत्नी और प्रेयसी दोनों के साथ एक साथ निबाह कष्टकर ही नहीं असंभव भी है। वस्तुतः जैनेंद्रजी के चिंतन में नारी का पद नर से घटिया है जिसे मैं सामंतवाद का अवशेष मानता हूं। आज की नारी पुरुष को ऐसा कोई विशेषाधिकार नहीं दे सकती जैसा जैनेंद्रजी ने परिकल्पित किया है। और जहां तक पुरुष का संबंध है, उसने तो ऐसी स्थिति न कभी सहन की है और न शायद कभी भविष्य में सहन कर पायेगा। अपने प्रेम का एक उदाहरण देते हुए जैनेंद्रजी ने अपनी एक कहानी 'वह चेहरा' का जिक्र किया है। एक क्षण के रूप-दर्शन पर आधारित वह कहानी कितनी उत्कृष्ट है मैं नहीं जानता, क्योंकि इस समय वह मुझे याद नहीं आ रही है। जैनेंद्रजी की उत्कृष्ट कहानियों की सूची में भी वह कहानी कभी मुझे देखने को नहीं मिली। पर जैनेंद्रजी की ही एक अत्यंत मार्मिक और विख्यात रचना है। 'त्यागपत्र' जिसमें मृणाल का कष्ट ही यह है कि उसका प्रेमी कोई और है और पति कोई और। और यदि पाठक मृणाल के कष्ट से विगलित हो जाता है तो इसीलिए कि हम

आज प्रबंधित विवाह को गलत मानते हैं। वस्तुतः जैनेंद्रजी का समाधान इस बात पर आधारित है कि समाज में नारी अशिक्षित रहे, पुरुष की वश-वर्तिनी रहे और पुरुष की इच्छा पर अपने को न्योछावर करती रहे। जनतंत्र और समानता के इस युग में इस समाधान का कोई मूल्य नहीं है।

अंत में एक बात और। जैनेंद्रजी ने लेखक या कवि पर जो विशेष कृपा की है वह समझ में नहीं आयी। प्राणीमात्र जीता है और इसीलिए जीने की प्रेरणा पाने का हर प्राणी का अधिकार है। भावुकता के नाम पर कवि या कलाकार को समाज में कोई विशेषाधिकार देना मैं छलावा मानता हूं। प्रेम अगर प्रेरणा देता है तो उसकी जरूरत केवल कवि को ही क्यों है? बढ़ई या अध्यापक को क्यों नहीं? और फिर प्रेम की प्रेरणा का स्वरूप क्या है? अगर साहचर्य और सहयोग प्रेम का नाम नहीं है तो क्या खिड़की से ताक-झांक करना प्रेम का नाम है? इस तरह की प्रेरणा से हमारे हृदयवादी कवियों ने कुछ कविताएं जरूर लिखी हैं, पर उन्हें प्रेम की कविता कौन कहता है, वे तो प्रेम के अभाव की कविताएं हैं। असल में जैनेंद्रजी की निगाह सुंदर स्त्री को देख या जान कर उसके क्षणिक स्पर्श पर टिकी हुई लगती है। प्रेम से उसका विशेष लेना-देना नहीं जान पड़ता।

[रचनाकाल संभवतः 1965,
'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित।]

कवि-सम्मेलन के आयोजन

इसमें संदेह नहीं कि आज कवि-सम्मेलन जिस रूप में आयोजित होते हैं, और फिर उनका जो परिणाम निकलता है, उन्होंने प्रायः सभी साहित्यवेत्ताओं को कवि-सम्मेलन की पद्धति पर विचार करने को बाध्य कर दिया है। बरसों से नये-पुराने सभी लोग कवि-सम्मेलन को कुछ संदिग्ध दृष्टि से देखते रहे हैं, और उसके निरंतर बिगड़ते जाते रूप से और उतरते जाते स्तर से खिन्न और क्षुब्ध होते रहे हैं। एक ओर कवि-सम्मेलन का प्रचलन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी लगता रहा है, तो दूसरी ओर कवि-सम्मेलन का हर आयोजन आयोजकों, कवियों और श्रोताओं—तीनों को निराशा और व्यर्थता का मान देता रहा है।

बचपन में जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था तो जो कवि-सम्मेलन मैंने श्रोता के रूप में देखे उनमें समस्या-पूर्ति प्रधान होती थी और पूर्ति का कौतूहल एवं चमत्कार ही श्रोताओं को मुग्ध करता था। भाग लेनेवाले कवि खड़ी बोली और ब्रज अवधी दोनों के ही होते थे एवं विषय देश की दुरावस्था, स्वतंत्रता का संघर्ष और नयी चाल पर व्यंग्य-विनोद। अक्सर समस्याओं की घोषणा पहले से ही कर दी जाती थी और श्रोताओं को पहले से ही पता रहता था कि उन्हें क्या मिलनेवाला है। कविता करना उस समय एक शौक ही था, एक ऐसा शौक जिसमें अर्थ-प्राप्ति की कोई संभावना न थी, इसलिए कोई लालसा भी न थी। श्रोताओं के लिए वह एक निःशुल्क और स्वस्थ मनोविनोद था। मन-भाते विषय और पद्य के चमत्कार उन्हें बांधे रखते थे।

बाद में देश का मुक्ति-संघर्ष ज्यों-ज्यों सघन होता गया, त्यों-त्यों कवि-सम्मेलन में राष्ट्रीयतापरक काव्य प्रधान होता गया। कवित्त-सवैयों का स्थान उद्‌बोधनात्मक छंदों ने ले लिया, और ओज गुण का मूल्य बढ़ा। पर उन दिनों भी ऐसे अनेक प्रख्यात कवि थे जो कवि-सम्मेलन से प्रायः दूर ही रहते। पूज्य दद्दा श्री मैथिलीशरण गुप्त और छायावाद के अग्रणी कविवर श्री सुमित्रानंदन पंत यदा-कदा ही कवि-सम्मेलनों में भाग लेने को राजी होते थे। इनकी अपेक्षा हरिऔध, निराला और नवीन अधिक कवि-सम्मेलनी थे। श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की भांति महादेवी वर्मा शुरू में काफी आती-जाती थीं, पर बाद में उन्होंने भी यही रुख अपनाया। जिन दिनों कवि-सम्मेलनों

में डा. रामकुमार वर्मा और डा. बच्चन की धूम थी, उन दिनों भी श्रोता-समुदाय गुप्त, प्रसाद, पंत आदि के प्रसाद से वंचित ही रहता था।

कवि-सम्मेलन के विकास में बच्चनजी का योग ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। बच्चनजी ने अपनी 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि रचनाओं के विषयों में एक नया परिवर्तन किया और गीत को मंच पर स्थापित किया। जैसे मुद्रित साहित्य में, वैसे ही श्रोता-समुदाय में, बच्चन छायावादोत्तर रोमांटिक आत्माभिव्यक्ति और मध्यवर्गीय करुण भावनाओं के जन-वाहक थे।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत इस स्थिति में बड़ा भारी अंतर आ गया। कवि-सम्मेलन में अर्थ-प्राप्ति का योग आ जुटा, कवि-सम्मेलन का आयोजन साहित्य-विनोद के स्थान पर आनुष्ठानिक-औपचारिक रूप ले उठा। उसके माध्यम से नेतृत्व पद पर पहुंचने का भी उपाय संभव होने लगा। आयोजकों को भी उसमें कुछ ख्याति-महत्त्व और अर्थ-लाभ मिलने लगा। उधर कविता के क्षेत्र में नयी धारा नये प्रश्नों से जूझने में इतनी उलझ गयी कि लोकप्रिय अभिव्यक्ति की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही न मिला। अज्ञेय ने तो जैसे सभा-भीरुता पर मुहर ही लगा दी। इधर बच्चन द्वारा प्रतिपादित गीत-पथ ने फिल्मी गीत से हाथ मिलाने की तैयारी कर ली। फलस्वरूप वह असफलता और अव्यवस्था हाथ आयी जो आज का कवि-सम्मेलन है।

यह मात्र एक रूपरेखा है कवि-सम्मेलन के इतिहास की। इसका अंकन मैंने केवल इसलिए किया है कि जो निष्कर्ष में नीचे दे रहा हूं उन्हें पीठिका मिल सके; मेरे मत में :

1. कवि-सम्मेलन एक अत्यंत वांछनीय और उपयोगी प्रथा है। उसे छोड़ना या तुच्छ मानना भारी भूल होगी। हां, और इसीलिए उसके स्वरूप और सिद्धांत निर्धारित और पालित करना जरूरी है।
2. ऐसे अच्छे-बुरे कवि सदा होते आये हैं और होते रहेंगे जो कवि-सम्मेलन के मंच के लिए उपयुक्त न हों, या अपने को उसके उपयुक्त न मानें। उन्हें बरबस मंच पर लाना घातक है।
3. कवि-सम्मेलन काव्य का एकमात्र आस्वाद-क्षेत्र नहीं है, वह एक सीमित क्षेत्र-भर है। कवियों के चुनाव में, और कवियों द्वारा रचना के चुनाव में इसका बराबर ध्यान रखना चाहिए। कवि और कविता में श्रोता को मुग्ध करने की थोड़ी-बहुत संभावना अवश्य होनी चाहिए।
4. श्रोता को प्रभावित करने में कवि का समग्र व्यक्तित्व सक्रिय होता है—मात्र गलेबाजी नहीं। दिनकर, शिवमंगल सिंह 'सुमन' और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना बिना गाए ही श्रोताओं को संतुष्ट कर लेते हैं। इसलिए गलेबाजी को कसौटी मानना भूल है।
5. जहां तक संभव हो, कवि-सम्मेलन से अर्थ-प्रेरणा दूर ही रखनी चाहिए। त्याग और सेवा की भावना साहित्य में आज भी वांछनीय और उपकारी है। देश के मुक्त और संपन्न हो जाने से उनका महत्त्व घट नहीं जाता।
6. कवि-सम्मेलन के आयोजकों का चुनाव कवियों के चुनाव की अपेक्षा

[illegible] किसी कवि पर न हो। आज हिंदी में कई स्तर और प्रकार की काव्य-रचना हो रही हैं, कवि-आयोजक विशिष्ट स्तर और प्रकार के हुए तो उनसे जाने-अनजाने पूर्वाग्रह और पक्षपात हो ही जायेगा। साथ ही, आयोजक ऐसे भी न हों जिनका साहित्य से दूर-दूर तक सरोकार न हो। नेता, अधिकारी, समाज-सुधारक, व्यापारी—ये सब कवि-सम्मेलन के आयोजक होने के अनुपयुक्त हैं। आयोजक का साहित्य-रसिक होना ही नहीं सम-सामयिक साहित्य का अच्छा जानकार होना भी जरूरी है।

7. कवि-सम्मेलन के लिए आयोजकों के अतिरिक्त अन्य किसी पदाधिकारी अथवा बड़े आदमी (वी. आई. पी.) की आवश्यकता नहीं है। अध्यक्ष अथवा उद्‌घाटनकर्ता के भाषणों से ही अक्सर श्रोता-समुदाय ऊबकर अरसिक बन बैठता है। ऐसे अरसिक और अन्यत्र व्यस्त जनों के बीच में उठ जाने से, मंच पर निरर्थक कानाफूसी करने से, और अपनी असाहित्यिकता के प्रदर्शन से श्रोताओं पर बड़ा ही अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। कवि- सम्मेलन में जनता और कविता के बीच में जो भी आता है वह रंग में भंग ही करता है।
8. कवि-सम्मेलनों से नितांत भिन्न कवि-गोष्ठी पद्धति को अधिकाधिक अपनाना चाहिए। गोष्ठी में श्रोताओं की संख्या सीमित रखी जा सकती है और नयी काव्य-धारा के अनुरूप अधिक बौद्धिक वातावरण रचा जा सकता है।
9. सार्वजनिक कवि-सम्मेलनों में कवियों का चुनाव और उनकी रचनाओं का चुनाव मुद्रित साहित्य के महत्त्व की दृष्टि से करना उचित नहीं है। कवि-सम्मेलन को एक स्वतःपूर्ण स्वतंत्र माध्यम मानकर चलना चाहिए, और कवि-सम्मेलन में कवियों की उपस्थिति-अनुपस्थिति से उनकी योग्यता-अयोग्यता के संबंध में कोई मंतव्य नहीं ग्रहण करने चाहिए। जिस प्रकार श्रेष्ठ कवि के लिए फिल्मी गीत लिखना न आवश्यक है न बाधक, उसी प्रकार कवि-सम्मेलन में भाग लेना भी उसके लिए न आवश्यक है न बाधक।
10. कवि-सम्मेलन के इस बदले हुए स्वरूप की चेतना श्रोताओं तक पहुंचाने के लिए काव्य-पाठ के आयोजन भी होने चाहिए जिनमें चुनी हुई कविताओं का पाठ चुने हुए स्वरों में कराना चाहिए—मूल कवियों से नहीं।
11. कुछ कवि-सम्मेलन कवि-विशेष के लिए भी आयोजित होने चाहिए। उन्हें सम्मेलन कहना शायद उचित न हो पर उनका स्वरूप वही रहे। इनमें किसी एक ही लोकप्रिय कवि से उनकी अनेक रचनाओं का पाठ कराना चाहिए। बच्चन, सुमन, नीरज ऐसे ही कवि हैं। साधारण कवि-सम्मेलनों में जहां ऐसे कवियों को बुलाना गलत है जिन्हें जनता सुनने को तैयार नहीं, वहीं ऐसे कवियों को भी बुलाना गलत है जिनकी

उपस्थिति के कारण जनता अन्य सारे उपस्थित कवियों को सुनने से इंकार कर दे। ऐसे अति लोकप्रिय कवियों के लिए एकल आयोजन होने चाहिए। कवि-सम्मेलन के लिए आमंत्रित कवि विभिन्न स्तर और प्रकार के होते हुए भी एक संयुक्त दल के रूप में चल सकें, यह आवश्यक है।

इन या इनमें से कुछ सुझावों पर भी अमल किया जाये तो स्थिति में कुछ सुधार हो सकता है। जनता कविता में रुचि लेती है, और यह कविता का श्रेय और सौभाग्य है। पर जनता की रुचि का, उसके साहित्यगत संस्कार का एक निश्चित स्तर है। उसमें सुधार होते-होते ही होगा। इधर के आयोजन तो उस स्तर को और गिराते ही रहे हैं। स्तर के सुधार के लिए यह आवश्यक है कि आयोजन की अवधि सीमित हो, कवि-संख्या सीमित हो, कविताओं का चुनाव पूर्व-निश्चित हो (ताकि स्तर गिरानेवाली रचनाओं को बीच में बंद कराने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति न आये)। कवियों के चुनाव में जनता को मुग्ध कर सकने की योग्यता पहली शर्त हो, ख्याति अथवा पक्षपात नहीं। और, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, ऐसे आयोजन समय-समय पर निरंतर होते रहें। एक बरस में एक कवि-सम्मेलन करके अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मान लेनेवाले आयोजक न कविता का उपकार करते हैं न जनता का। भूखे को बरस-भर में सिर्फ एक बार अंधाधुंध पकवान खिलाने से अजीर्ण ही हाथ आयेगा। जनता और कविता के बीच एक सजीव-सक्रिय और अविरल संबंध-सूत्र स्थापित होना चाहिए। कवि-सम्मेलन एक लोक-समारोह है और उसकी अपनी विशिष्ट सार्थकता है, विशिष्ट सीमा भी। इन दोनों को ध्यान में रखकर आयोजन करना आवश्यक है। इनकी अनदेखी करके आयोजन सफल नहीं बनाये जा सकते। जहां बीसियों कवि दूर-दूर से आकर उपस्थित होते हों और हजारों श्रोता अपना समय देकर काव्य-रस लेने आते हों, उस आयोजन को बिना किसी उपयुक्त व्यवस्था-विचार के भगवान भरोसे छोड़ना उचित नहीं है। पूर्व-निश्चित व्यवस्था के अभाव में वैसी ही दुर्घटनाएं होनी निश्चित हैं, जैसी सड़क के नियमों की अवहेलना से आये दिन होती रहती हैं।

[रचनाकाल 1966, 'संस्कृति' में प्रकाशित।]

हिंदी-शिक्षा

आधुनिक आवश्यकताओं और विद्वानों की योग्यता बढ़ाने के लिए हायर सैकंड्री स्तर की हिंदी शिक्षा की पूर्ण जांच और नये सिरे से व्यवस्थित करने की जरूरत है। यद्यपि इसको मद्देनजर रखते हुए शिक्षा-पद्धति मे काफी परिवर्तन हुए हैं, तथापि कुछ मूल आवश्यकताओं की ओर अब भी ध्यान नहीं गया है। इसके फलस्वरूप एक पूरी पीढ़ी हिंदी के पर्याप्त ज्ञान से वंचित है और छात्रों के मन में हिंदी भाषा के प्रति एक उदासीनता का भाव आ गया है। साधारणतः तब तक छात्र हिंदी की ओर आकर्षित नहीं होंगे, जब तक हिंदी उनके दैनिक जीवन में अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन जाती। इसके लिए जरूरी है कि हिंदी शिक्षा आधुनिक जीवन एवं वैज्ञानिक सोच की पूर्ति करे। इसलिए इसके ढांचे में जरूरी और तुरंत निम्नलिखित परिवर्तनों की आवश्यकता है :

1. भाषा के रूप में हिंदी की शिक्षा, हिंदी साहित्य की शिक्षा से एकदम अलग होनी चाहिए। अभी लगभग हर जगह शिक्षा की उस सामग्री पर व्यर्थ और अनावश्यक बल दिया जाता है जिसका विशेष रूप से साहित्यिक महत्त्व है। यही कारण है कि हिंदी का छात्र अपनी जिंदगी के विभिन्न स्तरों पर हिंदी माध्यम के रूप में हिंदी के प्रयोग को सही रूप से लागू नहीं कर पाता है। हमारे रोजमर्रा के जीवन के विभिन्न स्तरों के लिए अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कुछ सार्थक संशोधन के साथ पाठ्यक्रम बनाना चाहिए। इसके साथ ही साथ भाषा-शिक्षा के समय वाक्य के ढांचे और आधुनिक बोलने के तरीकों को अपनाने के लिए शिक्षा-पद्धति में भी परिवर्तन लागू करना चाहिए। वे सब विषय जो हमारी दैनिक जिंदगी का सामना करने के लिए आवश्यक हैं उनमें रुचि और ज्ञान-वृद्धि के लिए हायर सैकंड्री स्तर तक की भाषा की पाठ्य-पुस्तकें एकदम नये सिरे से संकलित करनी चाहिए और लिखी जानी चाहिए। विशिष्ट साहित्य तो उसके एक अंश के रूप में ही होना चाहिए।
2. यह सब जानते हैं कि अनेक स्तरों पर विभिन्न भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों (जैसे संस्कृत, अरबी, फारसी, ब्रजभाषा, अवधी, उर्दू आदि) ने समकालीन हिंदी को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। पर इसका यह

अर्थ नहीं कि आज के हिंदी छात्र को प्रारंभिक अवस्था में ही इन योग देनेवाली भाषाओं के बोझ से लाद दिया जाये। स्कूल स्तर के छात्रों को केवल वह खड़ी बोली हिंदी सीखनी चाहिए जो समसामयिक जीवन में लोकप्रिय है। बी. ए. और बी. ए. के बाद के स्तर के छात्र जो विशेष कोर्स करना चाहते हैं या इसमें रुचि रखते हैं उन्हें ही आदिकाल की रचनाओं को, सहायक भाषाओं और योग देनेवाली बोलियों को सीखने की आवश्यकता है। आजकल स्कूल जानेवाले छात्रों को (केवल वे ही छात्र नहीं जो अहिंदी-भाषी हैं, बल्कि वे भी जो हिंदी-भाषी हैं) हिंदी भाषा के नाम पर ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि के साहित्यिक अंशों की शिक्षा घबड़ाहट पैदा करती है और उन्हें उदासीन बना देती हैं। उन्हें इस हिंदी और उस हिंदी में जो क्लास-रूम के बाहर या दैनिक जीवन और साप्ताहिक अखबारों में वे पढ़ते-सुनते हैं एक संबंध स्थापित करनें में बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है। इसका फल यह होता है कि अपने पाठ्यक्रम में उनकी सब रुचि समाप्त हो जाती है और पहला संभावित मौका मिलते ही हिंदी की शिक्षा लेना बंद कर देते हैं।

3. ऊपर बताई दो बातों के अतिरिक्त हिंदी-शिक्षा में एक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाने की भी तुरंत आवश्यकता है। साहित्य की शिक्षा पर अधिक बल (जो मुख्यतः धार्मिक है सिवाय कुछ नयी रचनाओं के) और मध्यकालीन साहित्य के ज्यादा समावेश के कारण (जो धार्मिक महत्त्व के लिए ही चुना जाता है) हिंदी के सामान्य छात्र मध्यकालीन चरित्र के दृष्टिकोण को ही ग्रहण करते हैं, जो उन्हें अंततः तर्कसंगत विचार और वैज्ञानिक खोज से दूर ले जाता है। यही कारण है कि जो छात्र आगे बढ़ना चाहते हैं और आधुनिक दुनिया में कुछ कर जाना चाहते हैं, हिंदी-शिक्षा की ओर आकर्षित नहीं होते हैं। छात्र-समाज में दोष ढूंढ़ने के बजाय अपनी शिक्षा-पद्धति की पुनः परीक्षा करनी चाहिए और उसे आधुनिक समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना चाहिए। इसलिए छात्रों को पढ़ाई जानेवाली सामग्री से मध्यकालीन और दुनिया से संबंध न रखनेवाली सामग्री को निकाल देना चाहिए। आधुनिक धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को उजागर करने के लिए हिंदी पाठ्य-पुस्तकों में नयी सामग्री संकलित करनी चाहिए। इससे ही हिंदी हमारे रोजमर्रा के जीवन में माध्यम बन सकती है और मेधावी और उत्सुक छात्रों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है।

[रचनाकाल संभवतः 1967, अंग्रेजी से अनुवादित, अनुवादिका : बिंदु अग्रवाल, एक सेमिनार में पढ़ा गया लेख, अप्रकाशित।]

संवाद : रोमांटिक बनाम आधुनिक

शर्माजी के वक्तव्य पर जो प्रतिक्रियाएं मैंने सुनी हैं, उनसे बात कुछ बिखर गयी-सी लगती है। मैं शर्माजी के मूल विषय पर लौट आना चाहता हूं। मैं जो कुछ कह रहा हूं वह नयी पीढ़ी की ओर से तो हो नहीं सकता क्योंकि मुद्राराक्षसजी ने मुझे पुरानी पीढ़ी में ही गिना है। न मैं पुरानी अथवा अपनी पीढ़ी की ही ओर से कुछ कह सकता हूं, क्योंकि मैं अपनी पीढ़ी में भी कुछ खास फिट नहीं हो पाता। इसलिए मैं सिर्फ अपनी ही ओर से कुछ कह सकता हूं।

लगभग बीस वर्ष पहले की उस गोष्ठी में मैं उपस्थित तो न था जो प्रयाग में हुई थी और जिसमें डा. रामविलास शर्मा ने पंतजी के काव्य के संबंध में अपना विख्यात निबंध पढ़ा था। उस निबंध में शर्माजी ने छायावाद के प्रतिनिधि कवि पंतजी के कुछ दोषों की बड़ी प्रबल निंदा की थी—विशेष रूप से उनके शब्द-मोह की, जिसका प्रतीक उन्होंने पंतजी द्वारा 'चिर' के प्रयोग को बनाया था और पंत के भक्तिभाव की जिसके अनुसार पंत ने जीवन के सब दुःखों का राम-बाण इलाज बताया था—'आओ प्रभु के द्वार!' उन्हीं डॉ. रामविलास शर्मा को आज छायावाद का पक्ष-समर्थन करते पाकर मैं थोड़ा चकित हुआ हूं। जहां तक विषय का संबंध है, डा. शर्मा ने छायावाद को रोमांटिक तत्व का पर्याय माना है जो मेरी दृष्टि में सही नहीं है। प्रत्येक काव्य-आंदोलन की भांति छायावाद में भी अनेक तत्व और रुझान प्रकट हुए थे, रोमांटिक तत्व उनमें से केवल एक ही था। पर साथ ही उनमें से कई ऐसे तत्व भी थे जो आज के कवि के काम के नहीं थे। उन्हीं के कारण छायावाद अपनी परिणति और परिसमाप्ति पर पहुंचा। ऐसा न होता तो डा. देवराज जैसे सुधी आलोचक को 'छायावाद का पतन' जैसी पुस्तक न लिखनी पड़ती। जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने समय में छायावाद ने अपने युग का साथ दिया था, उसने हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के काल में हमारी छटपटाहट और विद्रोह-भावना को वाणी दी थी और इसीलिए वह स्वीकृत एवं समादृत हुआ था। लेकिन यह तो बीती बात है। आज छायावाद दूर की अनुगूंज बनकर रह गया है। इसलिए उसके विरोध का कोई प्रश्न ही नही उठता, वह तो

है ही नहीं! मैं नहीं मानता कि आज का कवि छायावाद का विरोध करता है। इसीलिए मैं इस विषय को कारगार और प्रासंगिक विषय नहीं मान पाता। वह मुझे कृत्रिम लगता है। यही नहीं, उसके अनेक तत्व आज की कविता में बदस्तूर मौजूद हैं, उसकी स्वप्नशीलता, उसकी आंतरिकता,उसकी वैयक्तिकता और उसकी विद्रोह-भावना। हां. उसके अन्य ह्रासोन्मुख तत्व जरूर आज के कवि ने त्याग दिये हैं।

जहां तक रोमांटिकता की बात है, डॉ. शर्मा ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि हिंदी में इस शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं ग्रहण किया गया है जो अंग्रेजी या यूरोपीय साहित्य में माना जाता रहा है। हिंदी में रोमांटिक को यथार्थ के विलोम के रूप में भी देखा-जाना गया है। आज का कवि यदि ऐंटी-रोमांटिक है, या रोमांटिकता विरोधी है तो इसी अर्थ में। उसने विद्रोह का अथवा स्वप्नशीलता का त्याग नहीं किया है, पर छायावाद में जो पलायन की प्रवृत्ति थी, अपने-आपमें बंद होकर प्रणय-लोक रचने का जो आग्रह था (जैसे अंचल के काव्य में) उससे अवश्य आज के कवि ने किनारा कर लिया है। आज की कविता में स्वप्न भी है, प्रतीक भी है, वैदग्ध भी है, पर उसमें छायावाद की अमूर्त्त भावुकता नहीं है क्योंकि वह यथार्थ पर टिकी है। छायावाद का अमृत-कुंड था एक अवैज्ञानिक अद्वैतवाद जिसके कारण बुद्धि की पराजय और श्रद्धा की विजय दिखाना कवि का आग्रह बन जाता था। आज का कवि वैज्ञानिक यथार्थ दृष्टि का सहारा लेता है और अपनी जिंदगी को प्रामाणिकता से उपस्थित करने में विश्वास रखता है। यही कारण है कि वह छायावाद का अनुसरण नहीं करता। वह अपने समय के यथार्थ को अपनी अनुभूति में संजोता है। इसीलिए वह उन कवियों को आज भी श्रद्धा देता है जिन्होंने विद्रोह को पोसा था, जैसे—निराला। पर कोरे उपदेश और थोथे आदर्शों के उस जाल से उसे कोई सहानुभूति नहीं है जिसका एक अत्यंत महाकाय और ज्वलंत उदाहरण है पंत का 'लोकायतन'।

['आलोचना' अक्टूबर-दिसंबर 1967 में प्रकाशित। इस संवाद में भाग लिया था · रामविलास शर्मा, मुद्राराक्षस, श्रीकांत, प्रेमप्रकाश डोभाल, भारतभूषण अग्रवाल, अजित कुमार, मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, नरेश सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, नामवर सिंह ने।]

कांग्रेस का विभाजन : टूटती हुई जड़ता!

समकालीन संकट और बुद्धिजीवी : एक प्रतिक्रिया

नयी कविता के कवि और कथाकार भारतभूषण अग्रवाल से प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने कहा : "मैं राजनीति-कर्मी तो कभी नहीं रहा, लेकिन राजनीति में शुरू से ही मेरा लगाव रहा है। आज़ादी के बाद देश को तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ना चाहिए था। वह दुर्भाग्य से संभव नहीं हो सका। इसके मूल में अपरिवर्तनशील नौकरशाही और कांग्रेस की धुंधली, अस्पष्ट नीतियां काम करती रही हैं। अब अगर कांग्रेस के विभाजन से इन दो स्थितियों में कुछ सुधार नज़र आता है, इतने दिनों की जड़ता टूटती लग रही है, तो निश्चय ही यह एक अच्छी शुरुआत है।

दायित्व का प्रश्न आपको किसी नेता से करना चाहिए था। मैं तो सिर्फ अपनी बात कह सकता हूं। पिछले कुछ दिनों से हमारे साहित्यिक और वैचारिक वातावरण में आक्रोश और अस्वीकार का धुआं घुटता रहा है—खास तौर पर युवा-पीढ़ी के लेखन में। इसका कारण मैं सोचता हूं यही है कि हम धीरे-धीरे जड़ता की स्थिति में आ गये थे। जाहिर है ऐसी स्थिति में लेखक का दायित्व आक्रोश और विस्फोट का ही रूप ले सकता था। अब अगर इस यथास्थिति में फेर-बदल होगा, हम आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे, तो बहुत-सा धुआं छंट जायेगा, पैंतरेबाजी से भरे खोखले साहित्य को हम पहचान सकेंगे। ऐसी रचनाओं की तादाद बढ़ेगी, जिनमें मानव-नियति से साक्षात्कार के सीधे प्रयत्न होंगे। मैं कोई भविष्यवाणी नहीं कर रहा हूं, पर चीजों की शक्ल जैसी बन रही है, उससे मुझे ऐसी ही संभावनाएं हैं।"

[रचनाकाल 1969, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' नवंबर 1968 में प्रकाशित। इस परिचर्चा में भाग लिया था—सज्जाद जहीर, जैनेंद्र कुमार, अमृता प्रीतम, विष्णु प्रभाकर, भारतभूषण अग्रवाल और प्रभाकर माचवे ने।]

गुरु नानक और मिश्रित संस्कृति

गुरु नानक ने मिश्रित संस्कृति का उपदेश दिया हो या न दिया हो परंतु यह निर्विवाद सत्य है कि केवल एक मिश्रित संस्कृति ही उन्हें पूरी तरह अपना कह सकती है। मानव-इतिहास के अन्य उपदेशकों की भांति, आगे चलकर गुरु नानक को किंचित प्रतिवाद सहित स्वीकार किया गया और तत्परिणाम हमारी संस्कृति का मिश्रित स्वरूप धूमिल होता चला गया। वस्तुतः गुरु नानक एक महान् दृष्टा थे जो पिटी-पिटाई लीक पर नहीं चले। उनके जिन अनुयायियों और भक्तों ने उनके अनुभवों और वाणी से एक पंथ विकसित करने का सफल अथवा असफल प्रयास किया वे उनके मूल संदेश को अनदेखा करने के भागी बने।

गुरु नानक की पांचवीं जन्म-शताब्दी वर्ष में उनके युग की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों की बहुत विस्तार से चर्चा हो रही है। निस्संदेह इन प्रयासों से उन परिस्थितियों का अनुमान होता है जिनमें वे रहे और जिनको उन्होंने अपने अनुरूप बदला। परंतु इस प्रकार का अध्ययन उनके व्यक्तित्व के अनोखेपन को अव्याख्यायित छोड़ देता है। मेरे विचार में गुरु नानक एक महान व्यक्ति थे जिन्होंने समाज से लोहा लिया तथा स्वयं उसके सांचे में ढलने के स्थान पर उसे ढालने में अंततः सफल हुए। मैं समझता हूं कि उनकी महानता यही थी।

एक ऐसे युग में जबकि विभिन्न धर्म, पंथ, संप्रदाय और विचारधाराओं का बोलबाला था, गुरु नानक ने भय अथवा घृणा से मुक्त रहकर अपने रास्ते पर अकेले चलने का साहस किया। उनके सामाजिक परिवेश में ऐसा कर पाना साधारण बात नहीं थी। उस युग में केवल एक ही गुरु नानक हुए, यह उनके विलक्षण व्यक्तित्व का परिचायक है। उस युग में साधू, संत, महंतों की तो भरमार थी परंतु उनमें से कोई भी उस शिखर तक नहीं पहुंच सका—एक महान् आत्मा जिसने संपूर्ण मानवता को आत्मसात् कर लिया, उसके क्षुद्र और संकीर्ण भेद विलीन हो गये। एक विशाल हृदय जिसने सबसे प्रेम किया, उनसे जो दुःखी थे, जो भटक रहे थे, एक महान मनीषी जिसने कृत्रिम सीमाओं से उपराम होकर सभी प्राणियों को समान समझा। हिंसा और घृणा, रक्तपात और

अभाव, असुरक्षा और अविश्वास के मध्य उन्होंने सत्य और प्रेम के चिंतन मूल्यों पर बल दिया। यही उनका वास्तविक चमत्कार है जो कि कहीं बड़ा है उन चमत्कारों से जिनका उल्लेख करके क्षुद्र इतिवृत्तकार अपनी ओर से उनका महत्त्व बढ़ाने का प्रयास किया करते हैं।

गुरु नानक ने यह चमत्कार निजी प्रयासों से पैदा किया था। इसी कारण मैं उनके व्यक्तित्व की इस अनोखी विशेषता पर बल देना चाहता हूं। एक सामान्य परिवार में जन्मे, पले-बढ़े गुरु नानक ने आम घटनाओं को अपने प्रकृत स्वभाव के आलोक में समझा और धीरे-धीरे अपने परिवेश से असंपृक्त होकर तथा विस्तृत अध्ययन, चिंतनमनन करके अंततः ऐसा संतुलन और समरसता प्राप्त की जिसके सहारे उन्होंने यथार्थ को एक नवीन तथा आत्मीय परिप्रेक्ष्य में देखा। किसी भी स्थापित जीवन-पद्धति से विलग होकर उन्होंने सभी धर्मों और विचारधाराओं का अध्ययन और विश्लेषण किया। उसमें से उन्हें जो कुछ भी ग्रहणीय एवं वांछनीय लगा उसे उन्होंने मुक्त भाव से चुन लिया। इन प्रक्रियाओं में उन्होंने अपना सब कुछ त्याग दिया, पूरी तरह असफल होने का जोखिम उठाया और अंततः अपरिमित परमानंद का वरदान प्राप्त किया।

यह इतिहास की विचित्र विडंबना है कि जब गुरु नानक ने एकता का दिव्य दर्शन किया तभी पश्चिम के अन्वेषक और सत्यान्वेषी अपने उन ऐतिहासिक अभियानों को छेड़े हुए थे जिनसे आगे चलकर विश्व टुकड़ों में बंटा और मानव जीवन जटिल हो गया। आधुनिक विज्ञान की प्रगति और प्रकृति पर मानव की विजय ने मनुष्य के सोच और व्यवहार का संसार ही बदल दिया है अन्यथा गुरु नानक की वाणी आज भी उतनी ही प्रासंगिक होती। वस्तुतः हमारा वर्तमान जीवन ऐसी समस्याओं और प्रश्नों से घिरा हुआ है जिनकी पूर्व कल्पना कोई नहीं कर सकता। उसके लिए नये और अभूतपूर्व समाधान अपेक्षित हैं। परंतु संभवतः हम उन समाधानों तक काफी हद तक पहुंच सकते हैं।

यदि हम पिटी हुइ लकीर को छोड़ने का साहस करके अपने को व्यथा और निराशा से मुक्त कर सकें। मानवता व्यक्तियों का समुच्चय है और इसलिए मानव संस्कृति के अपार वैविध्य की संभावनाओं को स्वीकार करना चाहिए। यदि सब मार्ग असफल हो गये हैं जिसका वर्तमान समाज साक्षी है, तो नयी लीक खोजने में अब भी संभावना शेष है। मेरे अनुसार गुरु नानक का यही संदेश है।

[रचनाकाल 6 मार्च, 1970, नयी दिल्ली, एक सेमिनार में पढ़ा गया अंग्रेजी में लिखा लेख, अनुवादिका डा. सुषमा भटनागर, अप्रकाशित।]

रघुवीर सहाय की कविता : एक उद्‌गार

फूल की पंखुरी, लहर की कलकल, गुनगुने पानी की बूंद—रघुवीर सहाय की कविता ऐसी सूक्ष्म, प्रिय और अनुद्धत सत्ताओं की सहेली है। उसमें किसी चट्टान की-सी उत्तुंग हठवादिता या किसी निर्झर का-सा वेग अथवा किसी तूफान की-सी अंध गति नहीं मिलती। पर शायद इसी कारण वह मन को एक ऐसे सहजपन से छू जाती है जो निरंतर विरल और दुर्लभ होता जा रहा है, और जिसकी सृष्टि कठिन से कठिनतर। आधुनिक जीवन के जटिल संदर्भ में इस सहजता और आत्मीयता को प्रेषित कर सकना कितनी साधना और निर्ममता की मांग करता है—यह कवि ही समझ सकता है, क्योंकि आलोचक तो समझना ही नहीं चाहता।

भीड़ में घिरा एक व्यक्ति—जो भीड़ बनने से इन्कार करता है, और इससे भाग जाने को गलत समझता है—रघुवीर सहाय का साहित्यिक व्यक्तित्व है। यदि एक पीढ़ी पहले जनमे होते तो रघुवीर सहाय इस स्थिति में भीड़ का नेतृत्व करने की असाहित्यिक चेष्टा कर सकते थे, और एक पीढ़ी बाद तो उसकी अनदेखी। पर रघुवीर सहाय इन दोनों अतियों से बचते हैं—और यह कितना कठिन काम है, यह इसी से जाना जा सकता है कि ऐसे कवि बहुत नहीं हैं—शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, कुंअर नारायण—और बस।

रघुवीर सहाय की अनेकों रचनाएं आधुनिक कविता की स्थायी विभूति बन चुकी हैं। उनके नागर मन की भाव-प्रवणता, सूक्ष्मदर्शिता और तटस्थ निर्ममता अब नये परिचय की मोहताज नहीं। पर अभी यह पहचाना जाना शेष है कि सहज सौंदर्य और सूक्ष्म अनुभूति से निर्मित रघुवीर सहाय का काव्य-संसार जितना निजी है उतना ही हम सबका है एक गहरे और अराजनैतिक अर्थ में जनवादी।

एक दृष्टि

कवि की ट्रेजेडी यह है कि वह जिंदगी को कविता के पैमाने से समझना चाहता है और नाकामयाब होता है। आलोचक की ट्रेजेडी यह है कि वह कविता को जिंदगी के पैमाने से समझना चाहता है और नाकामयाब होता है। ये दो अलग-अलग संसार हैं, और हालांकि कविता में दोनों उपस्थित होते हैं, पर दोनों का संबंध प्रत्येक रचना में अलग होता है। उस संबंध को खोज कर उसकी व्यवस्था करने पर ही कविता और जिंदगी दोनों को कोई सार्थकता मिल सकती है।

प्रसंग

ललित निबंध

एक तुलसी-जयंती

अभी हाल में मुझे एक तुलसी-जयंती में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सौभाग्य ही कहिए, क्योंकि मैं वहां किसी और ही काम से गया था। उत्सव की मुझे कोई सूचना नहीं थी। उसका आनंद प्राप्त होना विभु का वरदान ही समझिए।

तुलसी-जयंतियां प्रति वर्ष होती हैं। भारत के कोने-कोने में साहित्यिक संस्थाएं इस दिन गोस्वामी की स्मृति का दीपक संजोती हैं। उन्हें आपने भी कभी-न-कभी अवश्य ही देखा होगा। सो, उसमें कोई नवीनता नहीं बची है। फिर यह बताना कि मैंने क्या देखा, आपके समय का कम मूल्य आंकना होगा। मुझसे ऐसी अनधिकार चेष्टा की आशा या आशंका आप न करें।

पर यह जयंती अन्य जयंतियों से कुछ भिन्न प्रकार की थी। इसमें कुछ था जो अन्य अनेक स्थानों पर होनेवाली तुलसी-जयंतियों में मैंने नहीं पाया है। यह सुनकर आप बड़ी-बड़ी आशाएं न बांधने लगिए। यदि आप सोचें कि इसमें श्रोतागण शांत बैठे दत्तचित्त से उत्सव की शोभा बढ़ा रहे थे, या कि बाबा तुलसीदास की तस्वीर को चंदन-माला से विभूषित नहीं किया था, अथवा कि वक्ताओं में से अधिकांश व्यक्तियों ने तुलसी ने अपनी अर्द्धांगिनी से किस प्रकार भर्त्सना प्राप्त की इसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी थी, तो मुझे क्षमा करें कि मैं आपको निराश ही करूंगा। ये सब बातें उसमें पूर्ववत् थीं। तुलसी-जयंती के इन साधारण लक्षणों में वह जयंती भी अन्य किसी जयंती से कम न थी।

लेकिन फिर भी उसमें नवीनता थी। मेरा अनुमान है कि यह बात कि वह नवीनता तुलसीदास को लेकर नहीं थी, अधिक खेद या दुख की बात आपको नहीं लगनी चाहिए। नवीनता, फिर चाहे वह किसी भी रूप में और किसी भी संबंध में हमें क्यों न प्राप्त हो, वांछनीय है। वह अभिनंदनीय भी है। वह हमारे जीवन का चिह्न है। वह सिद्ध करती है कि हम मरे नहीं हैं, और स्वतंत्र-बुद्धि रखते हैं। इसलिए, मैं आपसे आग्रह करूंगा, कि आप यह सोचने का व्यर्थ कष्ट न उठायें कि उक्तोत्सव में वह नवीनता किस संधि से आ बैठी थी, कौन दिग्द्वार से उसने प्रवेश किया था कि वह नवीनता थी, यही पर्याप्त है। नवीनता में गति है। और गति ही जीवन का सार है।

एक-सा ही भोजन करते-करते हम लोग बहुधा ऊब जाते हैं। तब खाद्य में नवीनता जुटाने के प्रयत्न में अनेक मीठी और तीखी वस्तुओं का जमघट किया जाता है। कभी-कभी उपवास भी किया जाता है। उस समय दृष्टि एक-रसता से पलायन पर ही होती है, स्वास्थ्य-वृद्धि या देह-पुष्टि पर नहीं।

फिर, इस तुलसी-जयंती में तो उपवास न था, केवल साधारण भोजन में कुछ मिष्ट, कुछ तिक्त पदार्थों का संयोग मात्र था। उससे मनोरंजन ही अधिक हुआ होगा। वहां बैठे व्यक्तियों में से भी किसी की मुखाकृति ने यह प्रकट नहीं किया कि उसे वह पसंद न थी। सबने उसको उतने ही आदर और गौरव से ग्रहण किया जितने से सामान्यतः तुलसी-जयंतियां की जाती हैं।

शायद आप व्यग्र हो उठे हों कि वह चुहिया अभी तक नहीं निकली। सचमुच ही मैंने नवीनता को लेकर एक पहाड़ ही खोद डाला समझिए। पर, मैं आपको और नहीं अटकाऊंगा। लेकिन एक बात और कह लेने दीजिए। इसमें यह मत समझिए कि वहां के कार्यकर्त्ताओं का कोई दोष मैं उद्घाटन कर रहा हूं। वे बेचारे निरपराधी हैं। यदि तुलसी-जयंती अगस्त में ही आती हो, जो कॉलेजों के पुनरोद्घाटन का और कालेजाचार्यों के स्थान-परिवर्तन का चिरनिश्चित काल है, तो इसमें उन निस्सहाय कार्यकर्त्ताओं को कुछ नहीं कहा जा सकता। वे तो इस विधि-विधान से जकड़े हैं।

इसलिए यह उनकी विवशता ही समझिए कि उन बेचारों को ठीक तुलसी-जयंती में ही अपने नगर के एक साहित्यिक कॉलेजाचार्यों को विदा देने का भी शोक-भरा कार्य संपादन करना पड़ा। उस दिन न करते तो वे आचार्यजी विदा लेने के लिए वहां ठहरे रहते—यह मैं नहीं जानता। विदा का समय आने पर जानेवाला तो चल ही देता है, वह 'विदा' कहने के लिए भी मुख फेर कर नहीं देख सकता। यह तो विदा देनेवालों पर निर्भर करता है कि वे काल को वंचित कर उससे दो-चार क्षण अपने उद्गार प्रकट करने को छीन लें। इसमें उनकी सद्भावना और अनुरक्ति ही प्रकाश पाती है।

इसलिए तुलसी-जयंती में उन आचार्यजी को विदा-पत्र भी देना ही पड़ा। भाव के भूखे लोगों को आप शिष्टाचार की बाह्य कथाओं से भ्रमित नहीं कर सकते। तुलसीदासजी की स्मृति को उन आचार्यजी से कोई चिढ़ हो—ऐसा भी नहीं था। फिर दो उत्सव करने का अपव्यय भी बच गया। इस तरह उस विवशता के पीछे सद्भाव ही कार्य कर रहा था—यही मैं कह सकता हूं। और यों यदि तुलसी-जयंती में स्फूर्ति और नवीनता आ गयी तो अच्छा नहीं हुआ यह कहने का दुस्साहस किसमें है?

आप मुझे गलत मत समझिए। मुझे आचार्यजी से कोई पुरातन वैर नहीं है। उन्हें विदा-पत्र से सम्मानित किया गया—यह अवश्य ही योग्य हुआ। मैंने भी अपने-आपको धन्य माना कि उस उत्सव का एक अंश मैं भी था। और न तुलसी में ही मुझे कोई ऐसी हठधर्मी दीखती है कि वे उस दिन विदा के आयोजन में अपना अपमान खोजें। उनके आदर्श तो राम हैं जिनके राजतंत्र के आगे आज का समाज-तंत्र भी फीका पड़ जाता है। उन आचार्यजी के हृदय

में शिवशंकर के प्रति कोई मालिन्य हो—इसकी भी कोई सूचना मेरे पास नहीं आयी है। इसलिए तुलसी-प्रभु का भी उनसे कोई विरोध नहीं स्थापित किया जा सकता। सब प्रकार से यह नवीनता निश्चल थी। और यदि कोई असंगति उसमें रही भी हो तो वह परिस्थिति-जन्य ही मानिए।

मुझे ज्ञान है कि आप रुष्ट हो चले हैं। कदाचित् आप अपने-आपमें यह धारणा भी बना चले हैं कि मैं धृष्ट हूं, और यह सब बातें ब्याज में कह रहा हूं और मेरा उद्देश्य उक्त ज्ञान धन-संपन्न पूज्य आचार्य पर कीचड़ उछालना ही है। पर आप मेरा विश्वास करें। मैं सब कुछ सद्भाव से ही कह रहा हूं' कोई व्यंग्य मुझे अपेक्षित नहीं है। आचार्यजी का नाम मैंने दूर-दूर तक सुना है। उनकी प्रतिष्ठा है, वे यशस्वी भी हैं। और उसका आधार उनकी वास्तविक योग्यता और प्रतिभा ही है—यह भी मैं भली-भांति जानता हूं। नहीं, मुझे प्रमाण की आवश्यकता नहीं। मैं भूल नहीं गया हूं कि जिस स्थान पर उन्हें अब नियुक्त किया गया है, वह उनके पिछले स्थान से अधिक सम्मान्य है। यह उनकी विद्या का प्रमाण-पत्र ही तो है।

आचार्यजी की विशेषता पर संदेह करना मेरा लक्ष्य नहीं, वे मेरे गुरुजन हैं। उन पर संदेह कर मैं अपने लिए रौरव के द्वार की चटखनी खोलना नहीं चाहता। मेरा असंतोष कहीं और ही है। वह विदा न होकर विदा-पत्र में है। आचार्यजी में न होकर उनमें है जिनके बीच आचार्यजी रहे हैं और जिनसे वे विदा ले रहे हैं।

लगता है कि मैं अक्षम्य अपराध करने जा रहा हूं। आप सच मानें, मेरी यह इच्छा नहीं थी कि ऐसा करूं। आप जानिए कि मैं लोकाचरण की रीति-नीति से परिचित हूं। तुलसी-जयंती से आकर मैंने निश्चय कर लिया कि मैं इस बार मौन ही ग्रहण करूंगा पर यह लेखनी नहीं रुकी।

विदा-पत्र की छपाई या पत्र की उत्तमता की ओर मेरा कोई संकेत मत समझिए, उसमें किसी कृपण का धन व्यय हुआ था—ऐसा नहीं लगा। प्रेस-मालिक मेरे कोई निकट संबंधी हैं। फिर प्रकाशन के विषय में कहना ही व्यर्थ है। इन दृष्टियों से वह निश्चय ही सुंदर था। उसमें खटकनेवाली बात थी, इसे जानकर इन्हीं पर क्यों ध्यान जाना चाहिए—यह मैं नहीं समझ सकता। जो असुंदर और अप्रीतिकर था वह तो और ही कहीं था। मुझे विदा-पत्र के आकार-प्रकार से प्रसन्नता नहीं हुई—यह मैं नहीं कहता।

आप घबड़ाएं नहीं। विदा-पत्र की आद्यंत पुनरावृत्ति मैं अब करने ही वाला हूं ऐसी आशंका आप न करें। मैं जानता हूं कि आपकी कृपा का मूल्य है। इस प्रलंब शब्द वारि-वर्षा से मैं आपको अभिभूत करने का कोई विचार नहीं रखता। विदा-पत्र की एक प्रति मेरे नेत्रों के सम्मुख है। आप चाहें तो उसके दर्शन कर सकते हैं। पर—जी हां, मैं जानता हूं कि विदा-पत्र से आपके घर में अग्नि नहीं जल सकेगी।

इसलिए सारांश। एक शब्द में विदा-पत्र का अतिशयोक्ति अलंकार अत्युक्ति की सीमा पर पहुंच गया था। यहां एक बार मुझे फिर कहने दीजिए कि मैं

आचार्यजी की योग्यता अकथनीय ही मानता हूं। उसको नापने की शक्ति भी मुझमें नहीं है। उस विद्या-वारिधि के आगे मैं केवल आश्चर्य से आंखें ही फाड़ सकता हूं। पर फिर भी वह विदा-पत्र मुझे अच्छा नहीं लगा। आचार्यजी एक दिन हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न नहीं होंगे—यह कोई ज्योतिषी भी नहीं कह सकता। मेरी प्रभु से प्रार्थना है कि वे हों। लेकिन मेरी यह भी प्रार्थना है कि वे पहले हों, बाद में ही उसका ढिंढोरा पिटे। और यह भी, कि वे किसी अन्य का अधिकार छीन कर न हों, हों तो इसलिए कि वे उसके योग्य हैं।

पर विदा-पत्र में इसका ध्यान नहीं रखा गया था। उसमें उन अनुरक्त व्यक्तियों की श्रद्धा ही प्रकाश पर थी यह मैं जानता हूं। पर श्रद्धा चुप रहना भी जानती है। घड़ा ही छलकता है, समुद्र नहीं। और यदि वह छलकता है तो फिर विदा-पत्र में नहीं समा सकता। इसलिए, उस मुखर श्रद्धा पर तत्क्षण ही अविश्वास होना स्वाभाविक था। वाचालता गंभीर नहीं होती। वह हमें स्वतः अविश्वास की ओर प्रकृत करती है। जितनी देर वह विदा-पत्र पढ़ा गया, उतनी ही देर उन शब्दावलियों को सुनकर मैं यही सोचता रहा कि उनमें क्या कोई श्वास-प्रश्वास क्रम था। मुझे नहीं लगा कि वे जी रही थीं।

मुझे अपनी स्कूली कक्षा में ही पढ़ी एक अंग्रेजी की कविता का ध्यान आ रहा है। मृत सैनिक की नारी अपने पति के शव को देख मौन रह जाती है। उसके बोल नहीं खुलते। उसकी सखियां उसके दुख की गहराई से आशंकित हो उठती हैं।

कविता आगे भी है—पर उसे जाने दीजिए। गहराई में मौन ही भाषा बन उठती है। ऐसा न हो, तो गहराई पर विश्वास मत कीजिए। उस विदा-पत्र को पढ़कर और सुनकर भी मैं यही कह सकता हूं।

मुझे अपने-आपको स्पष्ट कर लेने दीजिए। जिन्होंने वह लिखा है उनकी साहित्यिक योग्यता के विषय में मैं आश्वस्त हूं। मुझे आश्चर्य है कि बिना शब्दकोष की सहायता लिये वे ऐसे शब्दों का सार्थक और उचित प्रयोग कर सकते हैं। वे अवश्य ही साहित्य रत्न होंगे। पर आचार्यजी पर उन्होंने अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने का अवसर उपयुक्त नहीं छांटा। विषाद के समय हम चेतना खो बैठते हैं। प्रदर्शन की जहां भावना है, वहां दर्शन नहीं है। यदि विदा-कारों के हृदय में घाव बह रहा होता तो अपनी आहों को आलंकारिक रूप देने का अवकाश उन्हें न मिला होता। सचाई पर पालिश न चढ़ती है, न चढ़ाई जा सकती है।

भाषा के प्रयोग की बात नहीं है। आपके पास जो है, उसको व्यय करने का आपको पूरा अधिकार है। एक बार यदि आप उसका अपव्यय भी करेंगे तो बोलनेवाले हम कौन होते हैं? वह निरा आपका संबंध है। पर बात है भाव के अभाव की। भाषा के अपव्यय की तह में भावों की कृपणता है। जिसमें गुण नहीं होते, प्रभुता के लिए धन का सहारा नहीं लिया करता है। जो कहना चाहता है, वह अधिकतर बातें अनकही छोड़ देता है—तब श्रोताओं का मन

उन्हें खोजता फिरता है। पर अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए बनवायी गयी इमारतों की ऊंचाई से बहुधा जनता की टोपियां गिर जाती हैं। वह वैभववान के पति हृदय में एक अमर्ष-मिश्रित वितृष्णा को ही जन्म देता है।

आचार्यजी को विदा-पत्र में उल्लिखित महत्त्वाकांक्षाओं से प्रोत्साहन मिला होगा, यह हम नहीं कह सकते। वे दृष्टा हैं। यह असंभव है कि उन्होंने चटक-मटक के शब्दों के पीछे भावों की दरिद्रता न देख पायी हो। उन्हें उससे प्रसन्नता मिली—ऐसा भी नहीं विदित हुआ।

आडंबर एक प्रकार का असत्य भाषण है। वह बचपन है। जीवन की गहनता में जो उतर चुका है, उसके लिए उसमें कोई आकर्षण शेष नहीं रहता। शेक्सपियर के प्रारंभिक अपरिपक्व नाटकों में जो रंगीन भाषा है उसकी अंतिम रचनाओं में वह नहीं मिलती। जब हम दिल को टटोलना प्रारंभ करते हैं तब शब्दकोष को बंद कर देते हैं।

तुलसी-जयंती मनाने का मैं विरोधी नहीं हू। उसमें किसी कार्यवश यदि किसी की विदा का आयोजन भी करना पड़े तो भी कोई आपत्ति नहीं है। पर वह विदा-पत्र हमें बता रहा था कि आचार्यजी के प्रति अभावात्मकता तो थी ही तुलसी के प्रति भी उन उत्सवकारों में कदाचित् कोई सच्चा भाव नहीं था।

[रचनाकाल 1937, संभवतः अप्रकाशित।]

झरना

एक चीज होती है जिसे कहते हैं, झरना। कवि उसे जरा चिकना करके कहता है—निर्झर। उसका काम है कि वह झरे। पानी की छोटी-छोटी बूंदें—जो अकेली हों तो एक मिनट भी तेज धूप में अपना अस्तित्व न बनाये रख सकें। मिल-मिल कर इकट्ठी होकर जब किसी शैल से फूट-फूटकर झर पड़ती हैं—तो पर्वत का भी हृदय हिल उठता है। तब लोग उन्हें एक संज्ञा देते हैं, झरना।

बादलों की कृपा कहिए कि पहाड़ में भी पानी है। पत्थर भी द्रवित हो जाते हैं। बूंद-बूंद पानी पहाड़ में इकट्ठा हुआ कि वह मचला। निरंतर वह उसके भीतर कुलबुलाया करता है—और किसी-न-किसी दिन किसी कमजोर कोने को युद्ध में हरा कर बाहर निकलकर ही रहता है।

पहाड़ में जो बातें हैं। पहली पार्थिव—पत्थर । दूसरी भाववाचक—यानी ऊंचाई। झरने को इसीलिए पहाड़ से दो चीज़ें मिलती हैं—पहली पार्थिव यानी रोड़े। दूसरी भाववाचक यानी झरने की शक्ति।

झरने में शक्ति है कि वह अटल पहाड़ों को भी तोड़-फोड़ डालता है। काट-काट पत्थरों को बहा जाता है। शक्ति है कि पत्थरों को रेत बना देता है। उनसे वह निरंतर लड़ता है—और ज्यों-ज्यों लड़ता है त्यों-त्यों शक्तिवान होता जाता है। अपना मार्ग वह आप ही निर्धारित करता है। बाधा आयी तो उससे भिड़कर उसे पानी-पानी कर देगा। ऐसी शक्ति है उसमें।

पानी है कि हरियाली होना आवश्यक ही है। और ऊंचाई से गिरा पत्थरों और चट्टानों पर तो आवाज हुई खूब जोरों की। कवि ने पाया कि वह निरंतर गाता है।

और एक स्थल बन गया—स्वर्ग-सा मोहक। प्राकृतिक सुषमा से रंगा हुआ। दार्शनिक आया—वहां उसे आध्यात्मिक शांति मिली। कवि आया—उसे अनंत सौंदर्य की अनुभूति मिली। एक पहाड़ी ग्रामीण आया—वह वहां सरल जीवन की सुविधाओं पर मग्न हो गया। वह मस्त होकर गा उठा।

मनुष्य में एक ऐब है—जिज्ञासा। प्रश्न हुआ—झरना इतनी ऊंचाई से क्यों गिरता है?

ईश्वर की लीला है।

कैसा सुंदर है?

बे-बात की बात।

पर मनुष्य को ये उत्तर थोथे लगे। उसके प्रश्न को आप टालिए मत। नहीं आता तो मना कीजिए पर उसे चक्कर में मत डालिए। अपनी कमजोरी को आज छिपाने की चेष्टा कर हमें भटकाते क्यों हैं?

थोथेपन को मनुष्य मिटा देगा बात की बात में। दूसरे दिन ही झरने के किनारे लोहा-पत्थर, ईंट-चूना इकट्ठे होने लगे। एक विचित्र कौतूहल उपजाने वाले ढंग से वहां एक फैक्टरी आयी। मशीनें आयीं और बिजली बनायी गयी। पानी की बिजली मनुष्य को सस्ती पड़ी।

और कलें चलने लगीं—कारखाने खुलने लगे। सुनसान, वियावान में अदेखे मिट जानेवाले झरने की शक्ति लक्ष्मी इंश्योरेंस कपनी को आलोकित कर उठी। अब कोई प्रश्न उठाये तो कि झरना इतनी ऊंचाई से क्यों गिरता है? आपने प्रश्न किया और मनुष्य ने कसकर उत्तर दिया—टका-सा।

पर मनुष्य सभी तरह के होते हैं। एकाध को संतोष तब भी नहीं हुआ। कल-कारखाने—और प्रकाश के लिए अनेक अन्य साधन हैं--निर्झर की शोभा क्यों नष्ट की गयी?

दार्शनिक को सहारा मिला—बोल पड़ा—जो चीज़ भगवान की याद दिलाती थी—उसको माया-जाल का आश्रय बना डाला—राम-राम।

कवि आकाश की ओर देख रहा था। भनक पड़ी तो चिल्ला उठा—रे मानव! प्राकृतिक सौंदर्य में जो कल्पना और कौतूहल है वह इस कृत्रिमता में कहां। चल रे! निर्झर के तट पर।

पहाड़ी घास काट रहा था। उसकी स्त्री पास में खुली हुई बिजली की फैक्टरी के बारे में बात कर रही थी। किसी के उत्तर में उसने कहा—पर मुझे तो बिजली की चकाचौंध बुरी लगती है।

मनुष्य सत्य की अवहेलना पर झल्ला उठता है। मूढ़ो! अभी तुम क्या जानो। अंधकार को दूर करेगी—बिजली ही। कारखाने चलावेगी बिजली ही। रेलें चलेंगी बिजली से ही। बिना बिजली के अंधेरी रात में प्रकाश भगवान कहां से देगा।

दुनिया-भर में प्रकाश फैलानेवाले ज़रा भीतर भी तो देख। वहां का अधकार कैसे भगेगा?

वस्त्रों में वह सौंदर्य कहां जो बर्फ़ की इन झरनों से ढंकी हुई शिलाओं में।

रेलों की जरूरत क्या है?

एक क्षण को मनुष्य चाहे चुप हो जाये पर बात ठीक उसी की है। वह जब कहता है तब पक्की ही कहता है। जरा भूख लगने दो उन्हें—जरा जाड़े पड़ने दो। तब सुनेंगे इनके जवाब।

पर बहस है कि अंत नहीं होगी। बढ़ाइए तो बढ़ेगी ही। घटाने का उपाय तो यह है कि उसे काट दीजिए। वह नहीं चुप होता तो आप ही गम खाइए।

वह तो मूरख है—आपकी ऊंची बात क्या कभी उसकी समझ में बैठेगी। आप व्यर्थ उससे माथा-पच्ची कर रहे हैं। वे भूलते हैं—भूलने दीजिए। आप चलिए देखिए यह भगवान की लीला, प्रकृति का यह सौंदर्य, यह सरल जीवन।

तर्क में क्या धरा है? वह शब्द-जाल है। उसे पकड़ा कि तथ्य से हाथ धोया। सो तर्क छोड़िए—तथ्य की ओर प्रवृत्त होइए।

पर, एक बात सुनते जाइए। बहुत छोटी-सी है—घबड़ाइए नहीं। यहां पास में एक आधी-कच्ची, आधी-पक्की झोंपड़ीनुमा मकान है। यह झरना, जी हां निर्झर, उसे छूता हुआ बहता है। उसमें एक भद्र परिवार रहता है। एक कोठरी है—यह झरना उसकी पीठ थपथपाता जाता है। कोठरी में एक छेद है। बड़ा-सा है। मन चाहे जब खोलो—मन चाहे तब बंद करो। खोलिए तो भीतर घड़ड़-घड़ड़ कर एक चक्की चल पड़ती है। आनन-फानन में आटा पिस जाता है।

कल वहां गया तो एक बुड्ढा वहां बैठा था। मैंने पूछा बाबा! पिसा-पिसाया आटा क्यों नहीं लाते—खुद क्यों पीसते हो?

सस्ता पड़ता है।

हाथ से क्यों नहीं पीसते?

कौन मेहनत करे।

पर, जी हां···आपको जाना है। हां, हां, जरूर।

हां, एक बात और याद आयी। सुंदरता नष्ट हुई तब कहीं वह बिजली बनी। वह बुरा है। जी हां—मैं मानता हूं। पर यह जो आटा पिस गया—बिना कुछ हुए—यह क्या?

पर आपको शायद देर हो रही है। तो जाने दीजिए।

जी···और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसी की स्वतंत्रता आप क्यों छीनते हैं? किसी को बांधते आप क्यों हैं? झरना है—उसे बहने दीजिए। अपना रास्ता वह आप बना लेगा। उसमें इसकी अपूर्व क्षमता है।

[रचनाकाल 1938, सहस्रधारा]

हम क्यों लिखें?

खाना खा-पीकर मैं अब लिखने बैठा हूं। लिखना है—इसीलिए बैठा हूं। यों तो मैं लिखता ही रहता हूं। दो-एक अखबारों के पास जब और कुछ मसाला नहीं रहता है तब मेरी चीजें छाप कर वे ग्राम-सुधार के प्रेमी पाठकों को यह बताते रहते हैं कि मैं भी एक रोमांटिक लेखक हूं। और इसी विज्ञान (एडवरटाइजमेंट) के कारण दो-एक जगह मेरी पूछ भी होने लगी है। जो मुझे जानते हैं, वे सभी समझते हैं कि मैं लिखता हूं—और खूब लिखता हूं।

पर आज पता लगता है कि कलई खुलने का दिन आ गया। शाम को साढ़े छः बजे मुझे अपना लेख पढ़कर सुनाना है और इस समय बारह बजे हैं। 2 बजे धोबी आयेगा, 3 बजे मुझे पढ़ाने जाना है, और 5 पर मेरे एक मित्र मुझ पर इनायत फरमाने को हैं। इस तरह मेरे पास सिर्फ दो घंटे हैं—जिनमें जैसे भी बने वैसे मुझे 15-20 पन्ने काले कर ही डालने हैं। नहीं तो आज मीटिंग में नकार-सूचक हिलाते ही जिन पैनी आंखों का मुझे सामना करना पड़ जायेगा—उन्हें मैं इस समय भी साफ देख रहा हूं। और लेखक की पदवी छिन जायेगी सो अलग।

सोचता हूं—अच्छा है आज कुछ लिखा ही न जाये। हां तो—यह तो हुआ नहीं कि 15 दिन की छुट्टियों में कुछ लिख डालते। तब तो डिटेक्टिव नॉविल पढ़ते रहे। अब जब ठीक सर पर समय आ गया है—तो लिखना सूझा है। अब मजे में रहोगे। आलस्य और मस्ती का जब तक नतीजा न मिलेगा तब तक क्या तुम्हारी आंखें खुलेंगी?

सोचता हूं—कि मैं क्या लिखूं। कहानी के लिए प्लाट नहीं, और कविता को मीटिंग में समझेगा कौन? बस, वही लेख-राम रह गये। सो लेख लिखना कोई दो घंटे का काम तो है नहीं। उसके लिए बड़ी-सी अक्ल चाहिए और भाषा पर कमांड होना चाहिए। नहीं जी, आज मुझसे कुछ नहीं लिखा जायेगा।

पर मैं यह सब बेकार सोच रहा हूं। लिखना मुझे ही है—लिखना पड़ेगा ही। जिनका मैं मजाक उड़ा चुका हूं—उन्हें हंसने का मौका न दूं, और घर के एक सौ एक काम छोड़कर आनेवाले टंडन साहब, केशव के-से बालवाले बाबू गुलाबराय, और दर्दे दिल को दिल में ही दबाये जो हंसते हैं तो भी हंसते

नहीं हैं उन गुप्ता साहब को निराश न करूं—इसके लिए मुझे लिखना ही होगा। *इसीलिए मैं नयी निब घिस कर—जो इस समय चलने में और भी नखरे कर रही है—और दावात में स्याही डालकर—तन कर बैठा हूं कि मैं भी देखूं कैसे मुझसे नहीं लिखा जाता है।*

पर तन कर बैठने से और नयी निब लगा लेने से ही दिमाग भी चल पड़ेगा—ऐसा कोई नियम नहीं है। आप कलम को स्याही में डुबाकर चलाइए—तो चल तो वह जरूर देगी—पर वह दिमाग के चले बिना कहीं पहुंच भी सकेगी—इसमें संदेह है। यों केवल पन्ने भरने की बात होती तो अपने दस्तखत करके ही भर देता—पर मुश्किल तो यह है कि लिखना कुछ ऐसा होना चाहिए जिसे मैं 15 मिनट तक पढ़ता रहूं और सुननेवालों को घर पर ठंडा होनेवाले आलू के साग की याद न आये। तब जरूर बिना दिमाग के चेते यह काम केवल कलम और स्याही से नहीं होगा। लेकिन यह दिमाग भी पठ्ठा एक ही है कि वैसे तो बात की बात में ईश्वर की चुटिया तक पहुंच जाता है—पर इस समय मथुरा के चौबों की तरह भांग पी कर ऐसा चित्त पड़ा है कि अंकुश खाकर भी कुलबुलाता तक नहीं है। अब मैं क्या करूं?

आज मेरे मन में क्लब के दो-तीन मेम्बरान के प्रति बड़ी हमदर्दी जाग रही है। हमदर्दी का कारण यह है कि आज मैं बखूबी समझ रहा हूं कि क्यों उन्होंने दो साल से क्लब में कोई लेख नहीं पढ़ पाया है। जब मेरे जैसे लेखक की इस समय यह सांप-छछूंदर की-सी हालत हो रही है तो फिर उनकी तो कैसी-क्या न हो गयी होगी? सचमुच उनको लिखना इम्तहान पास करने से भी कड़ा काम लगता होगा। और मज़ा तो यह है कि मैंने तब इस बात का जरा भी ख्याल न करके उन्हें चाहे जैसा कहा। अब उसे सोचकर ही मैं सूखा जा रहा हूं। क्योंकि इसमें तो शक की गुंजाइश ही नहीं कि वे अपना मौका चूकनेवालों में नहीं हैं।

इसलिए लिखना बेहद जरूरी है। पर सवाल यह है कि लिखूं क्या?—अगर और कभी यह सवाल उठा होता तो सोच-विचार कर तय कर लेता—पर यह जो सामने रखी हुई घड़ी चलती-चलती मुझे समय बीतना बता रही है वह कहती है कि अब या तो लेख ही लिख लो या इस सवाल को ही भुगत लो। अपनी टिक-टिक से वह मेरे दिमागी घोड़े को कितना तंग कर रही है—यह मैं ही जानता हूं पर ये हजूर भी पक्के अड़ियल हैं।

सोच रहा हूं कि क्या किसी भी तरह लिखना मुल्तबी नहीं हो सकता। प्रलय होने के अतिरिक्त सिर्फ एक बात से यह और हो सकता है। यदि ऐन साढ़े 6 से शुरू होकर दस बजे तक मेह बरसता रहे तो तय है कि आज मीटिंग नहीं होगी। भला ऐसा हमारी क्लब में कौन मेम्बर है जो छाता लगाकर असभ्य कहलाए। पर मैं जानता हूं कि ईश्वर ने मुझे अपना कृपापात्र कभी नहीं बनाया है—और मेह के नाम पर एक बादल का बच्चा भी आसमान में नजर नहीं आयेगा। इसकी तो आशा करना भी फजूल है।

तो फिर लिखना तय रहा पर लिखा क्या मुझसे खाक जायेगा। पंद्रह मिनट

रीढ़ की हड्डी को फन फैलाए सांप की तरह सतर रखने पर भी मैं एक भी सतर नहीं लिख पाया हूं। यही हाल रहा तो धोबी भी आ ही जायेगा और फिर कल सुबह से पहले उंगलियों को इस कलम की दोस्ती नसीब नहीं होगी।

पर मैंने कुछ भी न लिख पाया हो, यह बात नहीं है—बिना याद हुए भी जब मैं इम्तहान में निब को मोटा करके ही छोड़ता हूं—तब वह कला यहां भी कुछ-न-कुछ अपना रंग दिखा ही रही है। इसलिए मैंने लिखा है—एक जुमला लिखा है। लिखा है—'मैं क्या लिखूं?' और अब न जाने मेरे दिमाग में क्या बात आ गयी है कि मैंने 'क्या' पर एक मात्रा को बिंदी-युक्त करके उसे 'क्यों' बना दिया है। अब अगर आप देखें तो मैं पढ़ रहा हूं—'मैं क्यों लिखूं?'

वाकई बात पते की है। भला ऐसा क्या कम्पलशन है कि मुझे लिखना ही होगा? मैं क्यों लिखूं? बला से दो-एक साहबान कुछ भुनभना लेंगे—पर इतनी जरा-सी बात के लिए ही मैं अपना सारा वक्त और यह ठीक सात दिन बाद आने वाली छुट्टी के मज़े को मिट्टी कर डालूं यह जरा भी बुद्धिमानी नहीं है। नहीं जी—मुझे लिखने की कोई जरूरत नहीं है। इस तरह से क्या कभी भी किसी बड़े आदमी ने लिखा है। इस लिखने के कुछ माने नहीं हैं। 'गीतांजलि' किसी क्लब में सुनाने के लिए दो घंटे में लिख डाली गयी हो—ऐसी अभी तक हमारे पास कोई खबर नहीं आयी है। जबरदस्ती हम कभी कुछ नहीं लिख सकते। हमारा मन कहे तब हम लिखें—इस तरह बाहर के दबाव से हमको क्यों लिखना चाहिए। मैंने अनेक बार पढ़ा है और सुना है कि तभी लिखो जब भीतर से मन करे—किसी के लिए या किसी के कहने से लिखना कोई लिखने में लिखना है।

और बात दरअसल में यही सच्ची है। लिखना बढ़ईगीरी नहीं है। बढ़ई को पैसे देकर आप जो चाहें, जब चाहें बनवा लीजिए—वह खुशी-खुशी बना देगा—पर इस तरह यदि लेखक लिखने लग जाये तो बढ़ई का पेशा कौन करेगा—यह समझ में नहीं आता। और सब कामों से अलग लिखने की खासियत इसी में है कि आप इसे अपना पेशा नहीं बना सकते। किताब में से टीप तो आप चाहे जब सकते हैं—पर इस मनमौजी दिमाग में से चाहे जब निकाल पाने की उम्मीद आपको छोड़ ही देनी होगी। अगर लिखना चाहेंगे तो कलम से भी ज्यादा आपको अपने दिमाग पर जोर देना होगा। कलम बिना दिमाग का काम स्पीच से चल जायेगा—पर दिमाग बिना कलम से नकल भी नहीं होगी। इसलिए लिखना दिमाग से ही हो सकता है। और इस समय मेरा दिमाग यहां पहाड़ों की हवा खाने लायक तो चाहे न भी हुआ हो—पर वह लिखने के लिए तैयार नहीं है, यह मैं खूब जानता हूं।

इसलिए मैं लिखूंगा ही नहीं—लिख सकता ही नहीं। चार आदमियों के डर से मैं अनुचित काम नहीं करूंगा। जब मेरा मन नहीं है तो फिर मैं नहीं लिखूंगा। नाराज़ होंगे टंडन साहब तो उन्हें मना लिया जायेगा पर मैं अपना धर्म नहीं छोड़ूंगा। जितने भी बड़े लेखकों ने लिखा है—साध-साध कर लिखा

है—बेकार कुछ नहीं लिखा है। इसीलिए उन्होंने जो लिखा है अव्वल दर्जे का है। और मैं भी बड़ा लेखक नहीं होऊंगा—यह सिवाय संपादकों के और कौन कह सकता है। इसलिए आज मैं नहीं लिखूंगा।

मेरी बातों से आपके मुंह का रंग बदलता जा रहा है—यह मैं खूब समझ रहा हूं। आज मैं कुछ नहीं सुनाऊंगा—यह सचमुच कोई अच्छी खबर नहीं है। अच्छे की बात छोड़िए—यह बुरा ही है। यह बताता है कि मैं दिवालिया हूं। मेरे पास कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे आप जैसे चार आदमियों में सुनाकर अपने-अपने फेवर में कर लूं। पर मैं करूं क्या? आप जानिए कि मैं जो लिखता हूं—वह सभी छप जाता है—इसलिए यहां के अन्य मेम्बरान की तरह संपादकों द्वारा लौटायी गयी मेरे पास कोई चीज़ नहीं है। और नहीं तो आप जानते हैं कि आज मेरे पास मूड ही नहीं है। कुछ कविताएं जरूर मेरे पास हैं—पर गुस्ताखी माफ करें तो मैं कहूं कि उनका स्टैंडर्ड जरा नीचा है। उन्हें सुनकर आप क्या कीजिएगा?

इसलिए आज मुझे आप माफ कीजिए। जब मैं कुछ लिख पा लूंगा तो अपने आप सुना दूंगा। पर आज आपकी उम्मीद में एक 'ना' जोड़ देना मुझे जरूरी दीख रहा है। मैं जानता हूं कि आपको दुख होता है—पर आप सच जानिए कि दुख मुझे भी होता है।

लेकिन आप नाराज न हों। आप मेरा ख्याल करें। सोचिए तो इस तरह से जबरदस्ती क्या कुछ लिखा जा सकता है। इस तरह से भला कब किसने लिखा है। आप ख्याल करें कि लिखने का मतलब लिखना नहीं है। लिखने का मतलब कहना है—और इस वक्त मेरे पास कहने को भी कुछ नहीं है। आप मेरी बेबसी को समझें। मन में जब कुछ घुमड़-घुमड़ कर इकट्ठा हो जाता है—जो बाहर होने को मचल उठता है—तभी कुछ लिखा जा सकता है। जीवन में जीते-जीते जब हमें कुछ मिल जाता है—तभी हम उसे बाटने के लिए लिखने बैठते हैं—पर आप जानें कि इस वक्त मेरे पास कुछ नहीं है।

इसलिए आप गुस्सा न करें। लिखने से भी अधिक इंपोर्टेंट जीना है—यदि मेरा जीना कामयाब है तो मैं कामयाब लेखक से भी बड़ा हूं। लिखा इसीलिए जाता है कि वह हमें जीने में मदद करे—और लेखक इसीलिए उसे लिखता है कि बिना लिखे वह जी नहीं सकता। पर यह सच है कि आज मेरे मन में ऐसा कोई जीवन का पहलू नहीं है जिसे अगर मैं न लिखूंगा तो कल आपके दर्शन नहीं कर पाऊंगा। इसलिए लिखने के लिए जो जरूरी उमंग है वह मुझमें नहीं है। तब मेरे लिखने के कोई माने ही नहीं होते। आप अक्लमंद हैं—और यह समझते हैं। इसलिए मुझे माफ कीजिए और सोचिए कि बिना मन में आये—हम क्यों लिखें?

[रचनाकाल रविवार 16 अक्टूबर, 1938; कॉलेज की साहित्य-गोष्ठी में पढ़ा लेख, संभवतः अप्रकाशित।]

विजयदशमी : कुछ भावनाएं

[1]

अतीत के किन गुहा-द्वारों से निकलकर यह स्मृति आ जाती है हमें अपने वीर पुरुषों की याद दिलाने? उन पुरुषों की, जिन्होंने अपनी सभ्यता और संस्कृति के मार्ग की रुकावटों को अपनी भुजाओं के बल से नष्ट कर दिया, जिन्होंने शांति और धर्म के अनुशीलन के उपयुक्त वातावरण बनाया, उसमें से दूषित और विषाक्त आसुरी प्रभावों को होम की पावन सुगंधि से दूर कर दिया। वह भी एक दिन था, जब भारतवर्ष के सारे सभ्य व्यक्तियों के योग से, राम ने वनवासियों के अटूट संगठन से हिंसक और शोणित-पिपासी वृत्तियों से अनवरत संग्राम करके उनका मूलच्छेदन कर दिया था। इसी भूमि पर, अपनी इसी शस्य-श्यामल पृथ्वी पर, उन्होंने शांति का अखंड राज्य स्थापित कर, अत्याचार, बलात्कार और शक्ति-प्रयोग के विरुद्ध, सदाचार, सर्वसम्मति और न्याय की विजय करायी थी, जब उन्होंने रावण की बढ़ती हुई दुर्वृत्त हिंसा का अंत किया था, सीता-हरण तो एक बहाना मात्र था। अतीत काल के स्निग्ध-सुगंधित तपोवन-तुल्य-पुनीत कांतार-प्रांत से मलय का एक झोंका इस सौरभ को सर्वत्र बिखेर जाता है।

[2]

राम-राज्य?—वह आज हमारे लिए स्वप्न है। अच्छे से अच्छे राष्ट्र का भी वह आदर्श है, आदर्श—यानी जो अभी प्राप्त नहीं हो सका। आज भी सिंधु और गंगा उसी भांति अपने जल को हिमाचल की गहरी छाती से निकाल कर चिर-प्यासे समुद्र के नीलम-पात्र में उंडेलती रहती हैं—पर आज उस राम-राज्य के चिह्न भी शेष नहीं हैं। कुछ हैं तो उसकी स्मृति-मात्र, सो भी अपार हलचल से भरे इस बीसवीं सदी के जीवन में मशीन के एक पुर्जे की भांति चलते-फिरते कभी अवकाश मिल गया तो। नहीं तो अपने अतीत-गौरव के लिए हमने ये जो दो-चार दिन नियत कर रखे हैं—इन्हीं में उनका ध्यान

आता है। और तब भी इतना समय हमारे पास नहीं होता कि तनिक रुक कर हम अपने इन कुछ युगों की प्रगति का एक सिंहावलोकन कर अपनी आलोचना कर सकें, विवेक द्वारा अपने मार्ग और रीति-नीति में संशोधन कर सकें। हम तो बस उनकी याद कर लेते हैं—इस प्रकार मानो इस अर्थ-मूल्य पर निर्मित समाज में इस प्रकार की स्मृति हमें अर्थोपार्जन में तो कोई सहायता दे ही नहीं सकती। कोई कहे—राम-राज्य...। हम तुरंत उसे रोककर कहेंगे—हमारा समय नष्ट मत करो, हमें और भी अनेक काम हैं।

[3]

ज़रा सुनें तो आपका क्या काम है?—अरे! भाई लड़ाई की खबरें पढ़नी हैं—बाज़ार का हाल न जाने क्या हुआ, —अरे! मुझे तो अभी रात-भर बैठकर मुकदमे के नोट्स बनाने हैं—मुझे बाजार जाकर अपनी इंटरव्यू के लिए अमुक चीजें लानी हैं—मुझे एसेंबली के लिए अपनी स्पीचें तैयार करनी हैं, मुझे मिल का इंतजाम देखना है, सरकार ने इतने गज कपड़े का ऑर्डर दिया है।

ये हैं जिन कारणों से आपको राम-राज्य की बात कहने-सुनने का अवकाश नहीं है। इसे अपना बुद्धिभ्रम न कहें तो और क्या कहें? राम-राज्य का ठीक माने समझे होते तो आज किसी इंग्लैंड के किसी प्रधानमंत्री में यह साहस होता कि देश पर अत्याचार कर हमारे ही सिर उसका दोष मढ़ता? राम-राज्य का अर्थ जानते तो क्या आज हमारे देश में यह जो विषम अनैक्य दीख पड़ता है, एक मनुष्य, एकदल की-सी बात नज़र आती है—यह हो पाता? राम-राज्य के महत्त्व को सोचा-समझा होता तो यह जो एक वर्ग सारे धन को अपनी मुठ्ठी में केंद्रित कर मानवता के एक विशाल अंग को दाने-दाने के लिए तरसा रहा है—यह हो पाता? ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा, धनी-गरीब, हिंदू-मुसलमान—ये सारे भेद रावण-राज्य के चिह्न हैं।

[4]

प्रजातंत्र-प्रजातंत्र!—विश्व के कोने-कोने से आज प्रजातंत्र की ध्वनियां सुनायी पड़ रही हैं। पर प्रजातंत्र है कहां—प्रजा की बात को सुननेवाला भी तो कोई नहीं है। भारतवर्ष की 40 करोड़ प्रजा आज चीख रही है, पर क्या किसी के भी कान में भनक पड़ती है? अमेरिका की प्रजा, वहां के श्रमजीवी नित्य हड़ताल करते हैं—तोपों के जोर से उनसे काम लिया जाता है। इंग्लैंड की जनता रावणों के अंत के लिये चीख रही है—और चैंबरलेन साहब वायुयान में बैठे संधि का प्रस्ताव लिये जा रहे हैं। यही तो है न अपना बीसवीं सदी का प्रजातंत्र?

आज वह बात पुरानी हो गयी। पर रामराज्य का राजतंत्र आज के प्रजातंत्र से लाख बढ़कर था। अरे! तब राजा और प्रजा एक थे, एक कुटुंब के सदस्य

थे। वे दिन थे सत्य की विजय के। अहिंसा और न्याय की स्थापना के। आज चारों ओर से असत्य की बदलियां घेर कर हमें उदास बनाये डाल रही हैं।

[5]

यह देखो—पुष्पक-विमान! हमारे सर पर मंडराकर गंभीर नाद कर आकाश में लहरा रहा है। अरे! क्या यह वैसा ही पुष्पक-विमान है जिस पर चढ़कर हमारे वे राम, सत्य और न्याय के वीर, हमारी शांति-श्री-स्वरूपा सीता को शौर्य-पराक्रम-रूप लक्ष्मण की सहायता से हिंसा और बलात्कार के दैत्य रावण के चंगुल से छुड़ा कर लाये थे। तब हमारे हृदयों में कैसा उल्लास था। हमारे मुख पर हर्ष की वह कैसी मुक्त छटा थी—हमें अपने जीवन का लाभ मिला था। प्रसन्नता में भरकर हमने घर-घर दीपावलियां सजायी थीं।

पागल! तू देखता नहीं? यह वैसा पुष्पक-विमान नहीं है। यह आज का लौह-विमान है—लाखों प्रतिरूपों में से एक। इसमें बैठकर कौन आ रहा है—देखा? इसमें आ रहे हैं श्रीमान चैंबरलेन महोदय, शांति के देवदूत (?)

जो रावण से संधि कर उसके पदाघात को भक्त-वत्सल भगवान की भांति हृदय पर सहर्ष धारण कर प्रसन्न-वदन चले आ रहे हैं। ये सीता को खुशी-खुशी छोड़ आये हैं—यह तलाक-युग है न।

फिर अंधेरा!—फिर शोर—! देख, ये ढेरों विमान आकाश में गिद्धों की तरह मनुष्य के मांस की टोह में अपनी Searchlight से खोज कर रहे हैं। ये अभी हम पर फूल बरसायेंगे—फूल : जिन्हें हम सह नहीं सकेंगे। और फिर हमें इनके आगमनोपलक्ष में दीवाली के स्थान पर अंधेरा गुप्प करना पड़ेगा। ज्ञान के प्रकाश को बरबस बुझाकर अज्ञान का अंधकार फैलाना पड़ेगा।

[6]

लोकापवाद! दुर्मुख के वे घातक वचन। उनकी तेज धार से आज भी काल की छाती से रक्त की बूंदें टपक रही हैं। आज भी सीता के चिर-रुक्ष केश, और राम के आप्लावित नयन-कोटर उस एक तुच्छ, नगण्य व्यक्ति के हृदय को हिंसा-भावना के प्रायश्चित में ग्लानि और विक्षोभ प्रकट कर रहे हैं। वह युग था जब असत्य-भाषण अपवाद था, उसका प्रायश्चित करना पड़ता था।

पर, आज! आज रेडियो का युग है। घर-घर बैठे ये असंख्य संजय, बेचारे दीन जनों को युद्ध की भीषणता का वर्णन सुनाते हैं। पर संजय की-सी तापस सत्यता इनमें नहीं है। ये निर्जीव हैं—इनमें वाणी हिंसा-राक्षसी की सांसों से आती है। ये मिथ्या का व्यवस्थित प्रचार करती हैं। सत्य को भी मिथ्या के अवगुंठन में ढंककर निकालती हैं। आज के युग में सत्य भाषण अपवाद है।

उसका प्रायश्चित है—गुलामी, दासता। जो व्यक्ति, जो राष्ट्र, सत्य पालन करते *हैं—उनके लिए मुक्ति का आज कोई मार्ग नहीं है।*

[7]

आज विजयदशमी है। अनेक प्रकार के विचार सिंधु की उत्ताल तरंगों की भांति हृदय में आते हैं—और चले जाते हैं। हम सोचते हैं—आज भी तो हमारा लोक सत्य और असत्य के एक विश्वव्यापी रण-तांडव में व्यस्त है। एक चीख-सी उठती है—कहां है हमारे वे राम?—सत्य के वे अथक अरुक योद्धा?

आज विजयदशमी है। पर घटनाओं के व्यस्त-चक्र में यह किसे याद है? कौन है जो आज के दिन के महत्त्व का ध्यान कर तनिक पलकें मूंद कर अपना हृदय टटोले? कौन है जो अपहृता विश्व-शांति के उद्धार के लिए जन-जन का संगठन कर अदम्योत्साह और अविरल गति से विपत्तियों के समुद्र को लांघ जाये। कौन है जो व्यक्ति-धर्म की स्वतंत्रता के लिए, स्वाभिमान की रक्षा के लिए, नारी के सम्मान के लिए और हिंसा के नाश के लिए बल्कल धारण करे, अपने भोग-विलास और स्वार्थ का त्याग कर अकेला ही जूझने चल पड़े?—न जाने कौन हमें धीरे-धीरे कहता है, 'है', वे अब भी हैं।

आज विजयदशमी है—विजयदशमी! आदर्शों की निधि, प्रेरणा की मंजूषा, मुक्ति की दिग्दर्शिका। पर उसके संकेत को किसने चीन्हा है? किसने अपने राष्ट्र का विधान राम-राज्य के सत्य-अहिंसा-सिद्धांत पर निर्मित किया है? किसने अपने भाई को भरत की तरह प्यार किया है, किसने अपने पिता को दशरथ-सा मान दिया है?—पूछो तो विश्व कहता है—वे सब कहानी हैं—कोरी गप्प।

जी में विषाद घर कर लेता है। इतना अविश्वास है इस विश्व में? इसकी जड़ों को सींचनेवाली वह सत्य की पयस्विनी क्या आज एकबारगी ही सूख गयी है, उसके अंतर में मिट-मिट जलता वह संकेत-दीप क्या आज स्नेहहीन हो चला है, उसकी नस-नस में प्रवाहित वह उष्ण-रुधिर क्या आज ओस बन चला है?

—फिर दूसरे क्षण ही विचार आता है—फिर भी अभी विजयदशमी की याद तो है। इतनी ही बहुत है।

[रचनाकाल 1941, 'समाज सेवक',
28 सितंबर, 1941 में प्रकाशित।]

सिगरेट पीनेवाले का अपराध-बोध

अगर आप इस वार्ता के शीर्षक से आकर्षित होकर मुझे सुन रहे हैं, तो यह सोचना गलत न होगा कि आप भी सिगरेट पीनेवाले भाई-बंधुओं में से एक हैं। क्योंकि सिगरेट न पीनेवाले को एक सिगरेट पीनेवाले के अपराध-बोध में भला क्या रुचि हो सकती है? सिगरेट पीनेवाले के दुःख, परेशानियां, उसका स्वभाव और उसके कार्य उसके सिगरेट पीने पर इस विशेष ढंग से निर्भर करते हैं कि न पीनेवाले के दिल में उसके लिए कोई सहानुभूति के तार छिड़ ही नहीं सकते। जैसा कि मैं अपने मित्रों को अक्सर कहता रहा हूं, दुनिया पश्चिम-पूर्व या समाजवाद-पूंजीवाद में भले ही बंटी न हो, लेकिन सिगरेट पीने और न पीनेवालों में तो अवश्य बंटी हुई है। यही न मिटनेवाला फासला एक को दूसरे पर निर्दयी जुल्म ढाने पर मजबूर कर देता है।

सिगरेट पीनेवाला मेज़बान बढ़िया से बढ़िया दावत के बाद सिगरेट पीनेवाले अतिथि को सिगरेट पिलाना ज्यादातर भूल जाता है—यह समझे बिना कि यह भूल कितनी निर्दयी हो सकती है। ऐसे ही सिगरेट पीनेवाला भरे हुए रेल के डिब्बों या दम-घोंटू कमरों में दूसरों की परेशानियां बहुत आसानी से भूलकर सिगरेट पीने का आग्रह कर सकता है। यह दोनों, दरअसल, दो अलग-अलग दुनिया के रहनेवाले हैं। और एक की जरूरतें दूसरा भांप भी नहीं सकता। इन दो दुनियाओं के बीच सेतु बांधना एक ऐसा कार्य है जिसके लिए दूसरे मसीहा का इंतजार करना होगा। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहां महान व्यक्ति अपनी भरपूर शक्तियां इस्तेमाल करके दुनिया के नेता बन सकते हैं।

कॉलेज से निकलते ही मैंने सिगरेट पीनेवालों की दुनिया में कदम रखा। जिस दिन मैंने अपनी पहली सिगरेट सुलगाई, मैं इस कदम का अभिप्राय समझ नहीं पाया। मैंने सोचा कि यह सिर्फ मजा है और इससे कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। सो मैंने इसके बारे में कभी सोचा ही नहीं, और जब सोचा तब बहुत देर हो चुकी थी। वापसी का द्वार बंद हो चुका था। यही मेरा सबसे बड़ा रोना है—सिगरेट पीनेवाले की हैसियत से—मैं सिगरेट छोड़ नहीं सकता। और चूंकि मैं दबाव में कुछ भी करने से नफरत करता हूं—हर स्वतंत्र व्यक्ति की तरह—जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब सिगरेट की गुलामी के लिए मैं अपना

आत्म-सम्मान भी खो बैठता हूं। आप हुक्का पी सकते हैं, पर उससे दुःख किसी भी तरह कम नहीं होता। जिस दिन से मैंने जाना कि वापसी नामुमकिन है, उस दिन से मैं दुखी हूं। मैंने कई कोशिशें कीं, लेकिन सब नाकाम। मेरी हालत वैसी है जैसे कि मार्क ट्वेन ने अपने मशहूर हालांकि घिसे हुए चुटकले में कहा—"मैंने सिगरेट पीना छोड़ दिया है," एक दोस्त ने दूसरे से गर्व से कहा, "इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है," दूसरे का हाजिर जवाब था, "मैं तो रोज छोड़ता हूं।"

यह किस्सा मुझ पर बहुत अच्छी तरह लागू होता है क्योंकि हर सुबह मैं सिगरेट पीना छोड़ता हूं। लेकिन नाश्ते के तुरंत बाद मेरा हाथ खुद-ब-खुद सिगरेट के पैकेट की तरफ बढ़ जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि जितना ज्यादा मैं छोड़ना चाहता हूं, उतनी ज्यादा में सिगरेट पीता जाता हूं। नतीजा यह है कि मेरी तनख्वाह इसके लिए अब काफी नहीं है। इसे अब विदेशी मुद्रा की सहायता की जरूरत है। और अगर आप भी सिगरेट पीनेवाले हैं तो मैं आपके लिए कोई नयी बात नहीं कह रहा कि मेरी बीवी के हृदय में मेरे लिए अब कोई सहानुभूति नहीं बची। इन दो दुनियाओं के बीच की खाई मेरी ही दहलीज को निगल चुकी है।

मेरा अपराध-बोध पूरा नहीं होगा, अगर मैं धार्मिक और वित्तीय चोट के अलावा सिगरेट पीने से अपने अपमान का जिक्र न करूं। मुझे अपने प्रोग्रामों को रिहर्सल किये बिना ही देना पड़ता है। क्योंकि स्टूडियो में 'धूमपान निषेध' है। सिनेमा हॉल में भी सिगरेट और सिनेमा का लुत्फ एक साथ लेने की मनाही है। सो सबसे रोमांचक क्षण बाहर जाकर सिगरेट पीने में समाप्त हो जाते हैं। जरा सोचिए मुझे कितना दुख हुआ जब मैंने एक मेहमान को सिगरेट पेश की। उन्होंने मना करते हुए कहा, "बस धन्यवाद। मैं धुआं उसी दिन छोड़ूंगा जिस दिन मरूंगा।"

[रचनाकाल संभवतः 1954, अंग्रेजी से अनुवादित, अनुवादिका : मीनाक्षी भारत, आकाशवाणी से प्रसारित, अप्रकाशित।]

साहित्य में मछली : एक शोध

उस दिन तालाब के किनारे एक सज्जन को मछली मारते देखा तो मैं देखता का देखता रह गया। पूरे घंटे-भर तक वे दम-साधे निश्चल बैठे रहे, और मुझे भ्रम होने लगा कि वे इस शौक के बहाने प्रकृति निरीक्षण के अपने सदुद्देश्य को छिपाने का ही प्रयत्न कर रहे हैं।

मेरा यह साहस तो नहीं हुआ कि नयी चाल के अनुसार उनका इंटरव्यू लेता, पर उस प्रश्नोत्तर के बिना भी मेरा यह अनुमान है कि मछली मारना पूरे दिन का काम है। शौक के लिए मछली मारने में तो यह सुविधा है कि आपको जब छुट्टी हो और अवकाश मिले तब आप तन्मय होकर यह कार्य कर सकते हैं। पर इससे अधिक उपयोगी कार्य के लिए मछली मारना कष्ट-साध्य और समय-साध्य तो है ही, साहित्य-रचना के समान वह साधना का भी विषय है। यह दूसरी बात है कि इतने परिश्रम के बाद भी आपके हाथ कोई मछली न लगे। लेकिन क्या साहित्य में ऐसा बिल्कुल नहीं होता?

और कुछ होता हो या न होता हो, साहित्य में मछली नहीं मारी जाती। कम-से-कम हिंदी साहित्य के बारे में मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं क्योंकि भारतेंदु से लेकर आज तक का साहित्य हमें सुलभ है। और उससे पहले के तथाकथित हिंदी, पर वास्तव में ब्रज-अवधी साहित्य में भी मछली मारने का उल्लेख मिलना दुर्लभ ही लगता है। कारण, उस साहित्य का मुख्य विषय या तो राधाकृष्ण की लीला है या फिर रामायण की कथा।

यह ठीक है कि कृष्ण का भी अधिकांश समय बंसी के साथ ही बीतता था, पर यह जानने के लिए आपको भाषा-विशेषज्ञ होने की जरूरत नहीं कि वह बंसी नितांत भिन्न प्रकार की थी। और यद्यपि उसमे भी आकर्षण था, पर वह आकर्षण स्वर का था, सूत्र का नहीं। रही रामकथा, तो उसमें मछली मारने के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं। जिस काल की वह कथा है उस काल में उत्तर-प्रदेश निवासी विशुद्ध निरामिष-भोजी थे, और मध्यभारत के निवासी कंद-मूल-फल पर निर्वाह करनेवाले मुनिजन और वानर थे। हां, लंकानिवासी राक्षस जरूर हमारी कल्पना को प्रोत्साहित करते हैं, पर उनका मुख्य आहार

स्वयं मुनिजन ही होने के कारण उन्हें साधनापूर्वक मछली मारने की न तो आवश्यकता ही हुई होगी न प्रेरणा।

सचमुच, क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि हमारे साहित्यकारों ने मछली की ऐसी घोर उपेक्षा की है, जबकि यह मानना कठिन है कि एक भी ऐसा दिन जाता होगा जब बड़ी संख्या में मछलियां न मारी जाती हों। शाकाहारी होने के नाते हमारे साहित्यकारों ने फल-फूल और वनस्पति के वर्णन में तो अपूर्व लगन और अद्भुत कौशल का परिचय दिया है, पर मछलियों को चुपचाप अपने भाग्य पर छोड़ दिया, उनकी दैनिक हत्या पर एक भी आंसू नहीं बहाया!

साहित्य से मछली के इस बहिष्कार का एक ही कारण समझ में आता है : हमारे मध्ययुगीन साहित्यकारों की परलोक-प्रवृत्ति। प्रभु के ध्यान में मग्न रहने के कारण, जीवन की असारता का चित्रण करने के कारण, और तन-मन की सारी शक्तियों को आत्म-प्रतीति पर केंद्रित कर देने के कारण ही कदाचित् उनका वैष्णव-मन इस ओर न जा सका। लेकिन संस्कृत-कवियों को इतनी आसानी से छुट्टी नहीं दी जा सकती। मेरे एक मित्र के कथनानुसार संस्कृत का अधिकांश साहित्य लौकिक साहित्य है, उसमें धरती के जीवन की महत्ता का ही विशेष वर्णन है। फिर भी संस्कृत साहित्य में मछली मारने का वर्णन शायद ही मिले।

मछली-संबंधी प्राचीनतम घटना जो आसानी से याद आती है, वह है मत्स्यावतार की। मत्स्यावतार की बात चलाते समय मछली मारने की सोचना बड़े ही दुस्साहस का काम है। इसलिए इसे यों ही छोड़कर हम पांडु-पुत्र अर्जुन के मत्स्य-वेध पर क्यों न विचार करें? यहां हमें बड़ी आशा बंधती है, क्योंकि यहां मछली का ही नहीं, मछली मारने तक का उल्लेख मिलता है। पर जिन परिस्थितियों में यह मछली मारी गयी उन पर ध्यान जाते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन ने शायद यही पहली मछली मारी होगी। कोई भी मछली मारने का शौकीन इन परिस्थितियों को सहज नहीं मान सकता। पहले तो यही बात बड़ी लज्जाजनक थी कि आजकल के भवन-निर्माण-उद्घाटन के शिलान्यास के समान, या पराधीन भारत में लाट साहब द्वारा शिकार के शेर के समान यह मछली पहले ही मारी जा चुकी थी, अर्जुन केवल खानापूर्ति कर रहे थे। फिर मरी-मरायी मछली को ऊंचे खंभे पर बांधकर यह काम बड़ा आसान कर दिया गया था, और यदि आंख को ही लक्ष्य न करना होता तो यह मछली कोई कवि भी मार सकता था। कहां तो साधारण मछली का शिकार जहां आप तट पर बैठकर मछली की ही उदारता और कृपा के भरोसे इंतजारी का मजा लेते रहते हैं, और जहां कभी-कभी मछली चुग्गा लेकर भी पकड़ाई नहीं आती, और कहां यह नाटक जिसमें मछली को मार-बांध कर उसके भाग जाने की संभावना को पूर्णतः मिटाकर भी उसके और जल के (या शायद तेल के) बीच पूरे एक खंभे का व्यवधान खड़ा कर दिया गया हो। इसलिए यही कहना उचित होगा कि महाभारत के इस प्रसंग में मछली नगण्य ही है, और अर्जुन का ध्यान मछली पर नहीं, द्रौपदी पर ही था।

मछली को आसमान में पहुंचाने का जो यह मनोरंजक कार्य महाभारत में किया गया, उसी से प्रेरणा पाकर कदाचित् प्राचीन काल के ज्योतिषियों ने मछली को सचमुच ही आसमान में पहुंचा दिया। निश्चयपूर्वक तो यह नहीं कहा जा सकता कि मछली मारने की कठिन साधना से बचने की प्रवृत्ति के कारण ही उसे यह पद दिया गया, पर मछली मारे बिना ही ज्योतिषियों ने हम सबके हाथों में जो मछलियां रख दी हैं, उससे इसी संदेह की पुष्टि होती है। और फिर जिस प्रकार संघ-बद्ध रूप से उन्होंने यथार्थ मछली को बिसराकर इन मछलियों पर अपना ध्यान केंद्रित किया उसका कोई दूसरा अर्थ हो भी क्या सकता है?

लेकिन इस कार्य में भी कवि ही ज्योतिषियों से बाजी मार ले गये। कामदेव के झंडे से लेकर आंखों और कानों तक में उन्होंने मछली के दर्शन किये, भले ही केवल परोक्ष में। जीती-जागती सच्ची मछली को, या उसे मारने-पकड़ने वाले मछुए को उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश नहीं करने दिया। महाकवि कालिदास भी शायद मछुए को भूल ही जाते यदि शकुंतला ने अबोध बालिका की भांति उनके लिए यह असंभव न बना दिया होता।

हो सकता है कि यहां आप कबीर के उन पदों की चर्चा करना उचित समझें जिनमें मछली को प्रमुख स्थान मिला है, पर यह बताना बाहुल्य ही है कि कबीर मछली का नाम लेकर जिसकी याद करते रहे, वह कुछ और ही था—हमारी मछली नहीं। हां, एक पल के लिए, केवल एक ही पल के लिए, महाकवि तुलसीदास हमारी चिर-परिचित मछली की ओर इंगित करते अवश्य पाये जाते हैं। और हमारी इस गवेषणा में यह पल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके द्वारा मछली के साथ-साथ साहित्य-संबंधी एक गंभीर निष्कर्ष भी हमारे हाथ लगता है। 'कवितावली' में केवट के मुख से आत्म-परिचय के रूप में उन्होंने कहलाया है :

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे
केवट की जात कछु बेद ना पढ़ाइहों!

इस उद्धरण में 'मछली से भरी पत्तल' को अपनी दीनता और साधन-हीनता का प्रतीक बनाकर केवट हमें बता देता है कि उसका—मछली मारनेवाले का जीवन वेद-पाठी कवियों से कितना भिन्न, कितना दूर और कितना असहाय था! मछली मारना, और सो भी उपयोगिता के लिए, यह उस वर्ग का, उस साधारण जन का काम था जिसे तुलसी के अतिरिक्त और किसी के साहित्य मे स्थान न मिल सका। तुलसी को जन-कवि सिद्ध करने के लिए तो यह तर्क उपयोगी है ही, इसी के माध्यम से यह भी समझा जा सकता है कि 'झख मारना' वाक्यांश का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ होगा। मछली मारने में जितना धैर्य, जितना परिश्रम और जितना दैवयोग सम्मिलित है, उसका अध्ययन करने पर यह उचित ही लगता है कि जन-साधारण के लिए ही झख मारने का

काम छोड़ दिया जाये और कविगण इस व्यर्थ परिश्रम से दूर रहकर वेद-पाठ या भगवद् भजन में ही लीन रहें।

जन-जीवन से संपृक्त रहने के कारण लोक-गीतों में और लोक-साहित्य में हमें मछली मारने के संदर्भ प्रचुरता से मिलते हैं। अतः शिष्ट साहित्य में इसका अभाव यही सिद्ध करता है कि उसमें साधारण जन के जीवन की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं की जा सकी। यह काम तभी हो सकता था जब कवि साहित्य में झख मारने की बजाय एक बार यथार्थ में मछली मार कर देखते, या तब, जब कोई मछली मारनेवाला कविता करने लग जाता। पर कवि को तो यह मुहावरा ही विव्रत करता रहा, और मछली मारनेवाले को कविता लिखने की कोई सुविधा हमारे समाज ने नहीं दी। उसको केवल एक ही सुविधा दी गयी कि हर समय, हर प्रकार से वह केवल प्रभु का ध्यान करता रहे। इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम प्रतीत होता है कि दूर से बगुले को देखकर हमारे कवि यही समझते रहे कि वह प्रभु के ध्यान में मग्न है, जबकि सचाई यह है कि वह प्रभु के ध्यान से कोसों दूर केवल मछली मारने की ही घात में रहते हैं।

[रचनाकाल 1956, 'ज्ञानोदय' 1956
में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

प्रणय का दर्शन

एक राजा था। उसके सात रानियां थीं।—

बचपन में सुनी अनेक कहानियों का आरंभ इसी प्रकार होता था। हममें से शायद ही कोई ऐसा हो जिसने ये कहानियां न सुनी हों और शायद ही कोई ऐसा हो जो इतना सुनने के बाद ही सुनानेवाले को रोककर एक राजा की सात रानियों की संगति के संबंध में कोई प्रश्न करे।

कहानी-लोक में बहुपत्नी की यह प्रथा हमारे यहां सहज स्वीकृत होती आयी है। लेकिन बड़े होने पर मन में यह सवाल बार-बार उठता है कि कहानी-लोक में हम ऐसा क्यों होने देते हैं, जबकि प्रत्यक्ष समाज में यह बात अस्वाभाविक ही नहीं, असंभव भी है।

इन कहानियों को छोड़ भी दें तो हमारे आदर्श-पुरुषों में भगवान् श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं और गाथाओं से हमारा साहित्य भरा पड़ा है उनमें प्रेम का जो वर्णन मिलता है, वह भी इस दोष से मुक्त नहीं है। क्लास-रूम में विद्यार्थियों को भी हर स्थान पर यही पढ़ाया जाता है कि एक कृष्ण को ब्रज की प्रायः सारी गोपियां प्यार करती थीं। यहां तक कि वे अपने घर के काम-धंधे छोड़कर वंशी की तान पर यमुना किनारे 'पिकनिक' करने पहुंच जाती थीं। विद्यार्थी भी कोई प्रतिवाद नहीं करता क्योंकि कृष्ण को देवता मान कर अलौकिक बना दिया गया है, और इस समाज के नियम उन पर लागू नहीं होते। फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो कार्य हमारी मर्यादा के अनुकूल नहीं है उसे हमारे साहित्य में स्थान क्यों मिला? और सच पूछिए तो बात को टाल भले ही दिया जाये, उसको न्याय-संगत नहीं ठहराया जा सकेगा। क्योंकि चाहे नानी की कहानी हो या भाषा का साहित्य हो, और वह छोटी उम्र में सुनाया जाये या पाठ्य-पुस्तकों में रख दिया जाये, उससे हमारे सौदर्य-बोध का निर्माण होता है हमारे व्यक्तित्व पर प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न गहरा प्रभाव पड़ता है।

अतिशयोक्ति चाहे इसमें हो, पर यह कहना गलत नहीं होगा कि हमारे मध्यवर्ग में आजकल प्रणय-भावना से संबंधित जो कुंठाएं दिखायी देती हैं उनका मूल हमारे इन्हीं संस्कारों में है। प्रणय, अर्थात् स्त्री और पुरुष का वासनापूर्ण

प्रेम, मानव जीवन के उन प्रारंभिक आविष्कारों में से है जो समाज की प्रगति के लिए अत्यंत आवश्यक रहे हैं। समाज की प्रगति में सभी बातें आ जाती हैं, यहां तक कि कला और संस्कृति भी। और इस बात को समझाने के लिए जोर देने की जरूरत नहीं है कि स्त्री-पुरुष का प्रेम हमारी संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है। पर फिर भी हम आज अपने समाज में और अपने साहित्य में इस प्रेम की सहज और स्वस्थ अभिव्यक्ति बहुत कम पाते हैं। आज भी जब कभी किसी के प्रणय की चर्चा कही-सुनी जाती है तो कुछ उसी तर्ज और अंदाज में जैसे बीमारी के फैलने की या किसी ज्वालामुखी के फूटने की।

प्रणय संबंधी ये कुंठाएं कई प्रकार की हैं। उनको समझने के लिए कुछ चरित्रों से आपका परिचय करा देना उचित होगा। ये हैं श्री किशोर—अंग्रेजी पढ़े-लिखे, मध्य-वर्ग के अच्छे खाते-पीते सज्जन। थोड़ा-बहुत साहित्य से भी शौक है। आधुनिक फैशन की सज्जा। नगर में शायद ही कोई ऐसा समारोह हो जहां आप उन्हें उपस्थित न पायें। यानी हर तरह से लायक। सुनते हैं विवाहित हैं और इन्हीं के मुख से यह भी सुना है कि इनकी पत्नी सुशीला हैं, सुशिक्षिता हैं, सुंदर हैं और उनका गार्हस्थ्य जीवन ऐसा है मानो स्वर्ग का छोटा-मोटा टुकड़ा हो। लेकिन सबको एक बात पर बड़ा आश्चर्य है कि उनकी पत्नी को आज तक किसी ने नहीं देखा। यहां तक कि उन महिलाओं से भी उनका परिचय कराने की आवश्यकता नहीं समझी गयी, जिनके प्रति किशोरजी मैत्री भाव रखते हैं। मित्रों का समादर करना वे घर पर नहीं, कॉफी हाउस में पसंद करते हैं। आपके घर आना और आपकी पत्नी से दो चुहल- भरी बातें कर चाय पीना इन्हें भी अच्छा लगता है पर इनके घर का अता-पता निकाल लेना आसान नहीं है। मैंने एक बार किशोरजी से कुछ डिपलोमैटिक ढंग से पूछा था कि श्रीमती किशोर क्या बहुत ज्यादा कुरूप हैं जो आप उन्हें बाहर नहीं निकालते। इस पर जो उत्तर उन्होंने दिया वह नोट करने लायक है। बोले, "मनुष्य को जीवन में दो नारियों की आवश्यकता होती है : एक पत्नी और एक प्रेयसी। मैं इन दोनों संबंधों को एक-दूसरे से भिन्न मानता हूं और भिन्न ही रखता हूं।"

एक और मित्र हैं। नाम कोई भी रख लीजिए, जैसे मनमोहन। मनमोहनजी अपने आकर्षक व्यक्तित्व, संपन्न परिस्थिति और मीठे व्यवहार के कारण समाज की आंखों के तारे हैं और नारी के प्रति उनके मन में सहज आकर्षण है। फलस्वरूप पिछले बीस वर्षों में वे दो-तीन महिलाओं से प्रेम कर चुके हैं। उस प्रेम को झूठा कहने का साहस किसे हो? प्रेमिकाएं उनके सामने अधीर-आकुल प्रणय-निवेदन करती रही हैं। पर जब विवाह की बात आती है तो वे बहुत ही कठोर शब्दों में इंकार कर देते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि विवाह के बाद नारी में कोई आकर्षण नहीं रह जाता।

एक तीसरे मित्र को लीजिए। सर्वगुणसंपन्न होते हुए भी भगवान् ने उन्हें रूप नहीं दिया। ऐसे हैं कि उन्हें देखकर आकर्षण की बात तो दूर, विकर्षण उत्पन्न होता है। पर फिर भी जब कभी उनके विवाह की बात चलती है तो

वे पात्री में इतने गुण खोजने लगते हैं कि कोई भी प्रस्ताव उन्हें स्वीकार नहीं होता।

ये कुछ ऐसे अनुभव हैं जो हम लोगों के जीवन में प्रतिदिन होते रहते हैं। इच्छानुसार इनकी लिस्ट बढ़ायी जा सकती है। पर ये कुछ उदाहरण मैंने इसलिए दिये कि हम इन पर थोड़ा विचार कर यह देखें कि सारी शिक्षा और सारी आधुनिकता के बावजूद हमारे समाज में प्रणय संबंधी ऐसी कुंठाएं क्यों हैं? यदि आप मुझसे पूछें तो मैं इसका एक ही उत्तर दूंगा और वह है हमारे समाज में पुरुष का नारी के प्रति भ्रामक रुख। पुरुष नारी को या तो अलभ्य अलौकिक देवीस्वरूपा मान बैठता है या फिर नगण्या, हीना, वशवर्तिनी, आज्ञाकारिणी इत्यादि। दोनों ही रूपों में वह नारी के साथ अन्याय करता है और कुंठाओं का शिकार हो जाता है। हमारे जो सामंती संस्कार हैं वे इस अन्याय को प्रश्रय ही देते हैं, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से प्रकट हो जाता है। ये संस्कार ही हमें नारी को रीतिकालीन दृष्टि से देखने को प्रेरित करते हैं जहां केवल उसका शृंगार ही देखा जाता है और उसका अस्तित्व केवल पुरुष की कामना में ही माना जाता है। हमारा सारा साहित्य जो एक प्रकार से पुरुष का ही साहित्य है, इस गलती को स्थायी बनाता है। छायावाद ने रीतिकाल की स्थूलता के प्रति चाहे जितना बड़ा विद्रोह किया हो, नारी के प्रति उसने भी अपनी दृष्टि अलौकिक ही रखी : और प्रगतिवाद ने तो एक प्रकार से प्रणय की शक्ति का ही निषेध किया। उसका काव्य तो सैनिक काव्य है, यह मानते हुए कि सेना में नारी का स्थान नहीं है। यहां आप चाहें तो मेरी बात का खंडन करने के लिए कविवर सुमित्रानंदन पंत की कुछ कविताओं की याद दिला सकते हैं। एक तो उस कविता की जिसमें उन्होंने पुरुष को इसलिए धिक्कारा है कि वह नारी के प्रति अपने प्रणय का स्वस्थ प्रकाश नहीं कर पाया। और दूसरी उस कविता की जिसमें उन्होंने नारी को संस्कारों के बंधन से मुक्त करने का आह्वान किया है। पर ये कविताएं ऐसी हैं जिन्हें हम अपवादस्वरूप कह सकते हैं। क्योंकि उन्होंने बाकी कवियों के भावों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया, और नयी कविता में भी नारी अभी दूर की पहेली-सी ही लगती है।

लेकिन साहित्य तो अभिव्यक्ति मात्र है। यदि समाज में कुंठायें हैं तो साहित्य में प्रकट होंगी ही। और उनको दूर करने का उपाय यह नहीं है कि उन्हें साहित्य में से पदच्युत कर दिया जाये। हमारे प्रगतिशील आंदोलन ने कुछ दिन यही भ्रमपूर्ण पथ अपनाया था कि समाज को सुधारने का तरीका यही है कि साहित्य को सुधार दो। पर वह असंभव उपाय है। इसलिए कुंठाओं को दूर करने के लिए उन्हें समाज से दूर करना होगा। अर्थात् हमें ऐसे व्यक्तियों के प्रति उंगली उठानी पड़ेगी जो खुद बीसवीं सदी के बनकर भी अनपी अर्द्धांगिनी को चौदहवीं सदी की नारी बनाये रखना चाहते हैं। हमें उन युवकों के प्रति आक्रोश प्रकट करना होगा जो नारी के सौंदर्य और प्रेम का बखान करते हुए भी अपने विवाह में दहेज की शर्त को बुरा नहीं मानते। और हमें उन

माता-पिताओं के प्रति भी विरोध प्रकट करना होगा जो अपनी संतान के विवाह का अधिकार अपनी मुट्ठी में रखते हैं। हमें अपनी शिक्षा की पाठ्य-पुस्तकों में से उन तथाकथित सुंदर अंशों को निकाल देना होगा जो नारी को पुरुष के हाथ का खिलोना सिद्ध करते हैं। और अपने सामाजिक व्यवहार में से वे सारी बातें दूर कर देनी होंगी जो नारी को कोमल अर्थात् अशक्त मान कर विशेषाधिकार की प्रेरणा देते हैं। कुंठा से लड़ने का एक ही हथियार होता है जिसे हम कर्म की तत्परता कहते हैं। पुरुष के मन की प्रणय-कुंठाएं इस बात का प्रमाण नहीं हैं कि पुरुष के मन में खोट है। बल्कि वे इस बात का प्रमाण हैं कि समाज में नारी अब भी अपना सही स्थान नहीं पा सकी है। जहां-जहां और जितनी दूर तक नारी ने यह स्थान ग्रहण किया है उतने ही अंशों में पुरुष के मन की यह कुंठा भी दूर हो सकी है। समाज का वातावरण जब तक स्वस्थ न हो तब तक व्यक्तियों का मन स्वस्थ नहीं हो सकता।

मेरी बात से ऐसा न लगे कि जो कुछ करना है, पुरुष को ही करना है। प्रणय-संबंधों की स्वस्थता में नारी की भी भूमिका है जो उसे संपन्न करनी है। अभी तक हमारे देश में नारी-शिक्षा या नारी-मुक्ति का अर्थ केवल यह रहा है कि वह पर्दे को तिलांजलि देकर नये फैशन के वस्त्राभूषण पहनकर पुरुषों के समाज में आये-जाये और नयी किताबों या नयी फिल्मों के बारे में बातचीत कर सके। पर यह बहुत हो भ्रमपूर्ण धारणा है। मारवाड़ी ढंग की पोशाक हटाकर फ्रॉक और सैंडिल पहना देने से गुड़िया जीवित नहीं बन जाती, वह गुड़िया ही रहती है। पुरुष का सच्चा प्रेम यदि उसे पाना है तो नारी को उस प्रेम के योग्य बनना है। अर्थात् उसे ऐसा बनना है कि जिससे पुरुष को अपने जीवन में बल मिले, परामर्श मिले, प्रेरणा मिले। यही नहीं, प्रेम समानता का चरमोत्कर्ष है और एक प्रकार से प्रेम पाना प्रेम करना ही है। आज की नारी को अपने सामंती वातावरण से इतना ऊपर उठकर जाना होगा कि वह प्रेम करने के योग्य हो सके और जिसे प्रेम करे उसे पाने योग्य हो सके। तभी स्वस्थ प्रणय-दर्शन की आधार-भूमि तैयार हो सकेगी।

[रचनाकाल 1957, 'आलोक भट्ट' उपनाम से 'ज्ञानोदय' 1957 में प्रकाशित।]

बारात की ड्रैस

क्या कभी आपने ऐसी बारात की कल्पना की है, जिसका वर ही गायब हो?

मैं इस कल्पना की रोमांचकता से कई घंटे अभिभूत रह चुका हूं; गनीमत यही है कि वह निरी कल्पना ही रही।

बात आज से लगभग बीस वर्ष पहले—फरवरी, 1943 की है। मैंने समाज-सुधार के जोश में अपने विवाह के सिलसिले में कन्या-पक्ष से बहुत-सी शर्तें मंजूर करा ली थीं। उन्हीं में एक शर्त यह भी थी कि मैं जामा (विवाह के अवसर पर पहना जानेवाला परंपरागत अंगरखा) नहीं पहनूंगा और न मौर बांधूंगा, वरन् दैनंदिन जीवन की पोशाक में ही आऊंगा।

...मुझे क्या मालूम था कि यह छोटी-सी शर्त मुझे ऐसे जौहर दिखायेगी!

मैं उन दिनों कलकत्ते में काम करता था। बारात मेरे मूल निवास-स्थान मथुरा से आगरे जानी थी। विवाह के लगभग एक सप्ताह पहले मैं छुट्टी लेकर घर आ गया था। दो दिन बाकी प्रबंध में निकल गये। तब पिताजी बोले, "और तुम्हारे पहनने के कपड़े?"

कलकत्ते में उन दिनों युद्ध-काल के कारण जीवन बड़ा अस्त-व्यस्त और विकल था, इसलिए मैंने सोचा था कि कपड़े मथुरा में ही बनवा लूंगा। विचार था कि मारवाड़ी ढंग का बंद गले का कोट, नावदार टोपी और धोती पहनकर शादी में जाऊंगा।

पिताजी को मेरी ये शर्तें बड़ी ऊटपटांग लगी थीं। इसलिए हो या और जो भी कारण हो, वे बोले, "मथुरा मे बंद गले का कोट सीनेवाला दर्जी कहां मिलेगा?"

मैं चट-से कह उठा, "मैं आगरे से सिलवा लाऊंगा।"

दूसरे दिन सवेरे आगरे जाकर कपड़ा खरीदा और कोट सिलने दे दिया। पहले तो कोई दर्जी एक हफ्ते के पहले सी देने के लिए तैयार ही न हुआ, पर काफी भटकने के बाद और अपनी जरूरत खुलासा समझा देने के बाद एक दर्जी ऐसा मिला, जिसने शादी के एक दिन पहले कोट देने का वायदा किया, बोला, "सुबह आकर ट्रायल दे जाइयेगा, शाम तक पक्का हो जायेगा।"

कोई और चारा न देखकर यही व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ी।

शादी के एक दिन पहले मैं फिर मथुरा से आगरा आया (दूरी : 35 मील, ट्रेन से एक घंटे का सफर, बस से दो घंटे का), ट्रायल दिया, सारे दिन मक्खियां मारीं और लगभग तीन बजे तैयार कोट लेकर मन-ही-मन फूला न समाता तांगे में बैठकर स्टेशन की ओर चल पड़ा।

मथुरा लौटने के लिए मेरी गाड़ी लगभग सात बजे जाती थी। मेरा तांगा जब एक सिनेमाघर से सामने से गुजरा तो लोभ न रोक सका। दिन-भर की थकान के बाद प्लेटफार्म पर मक्खियां मारने की जगह सिनेमा देख लेना ज्यादा बढ़िया लगा (शौक केवल दो—सिनेमा और सिगरेट : 'तार-सप्तक')। तांगा रोका, टिकट ली और पिक्चर-हॉल में दाखिल हो गया।

लगभग छः बजे पिक्चर का भूत उतारकर हॉल से बाहर निकला, तो सन्न रह गया। कोट कहां है? मुझे काटो तो खून नहीं। सिनेमा की उतावली में मैं कोट उसी तांगे में रखा छोड़ चुका था, जो तीन घंटे पहले न जाने किधर चला गया था।

लगभग पंद्रह-बीस मिनिट तक तो मैं सकते की हालत में निश्चल खड़ा रहा। फिर यह सोचकर कि कोई-न-कोई उपाय तो करना ही होगा, मैं कुछ करने की सोचने लगा। कपड़े तो मेरे पास और भी थे, पर कन्यापक्ष की यह शर्त मैंने मान ली थी कि कपड़े जैसे भी हों, होंगे नये।

सिनेमाघर से बाहर निकलकर जो भी तांगा मुझे दिखा, उसी को रोककर मैंने अपनी कहानी सुनायी। एक बोला, "बाबूजी, जब आप तांगेवाले को नहीं पहचानते, उसका नंबर भी आपने नोट नहीं किया, तो उसे कैसे ढूंढा जाये! फिर भी कोशिश करता हूं। आइए, बैठ जाइए।"

लगभग एक घंटे के अंदर तांगेवाले ने मुझे पूरे शहर में घुमा दिया। फिर वह बोला, "ऐसा कीजिए, तांगेवालों के चौधरी के पास चलिए, वह कुछ न कुछ पता लगा देगा।"

काफी दूर पर एक स्लम एरिया में चौधरी रहता था, पर मरता क्या न करता!

चौधरी ने काफी हमदर्दी दिखायी और कहा, "कल तक मुझे कोट की खबर जरूर मिल जायेगी, आप कल आकर पूछ जायें।"

मेरा दम खिसकने लगा। मैंने उसे समझाया, "कल तो वही कोट पहनकर मुझे बारात लेकर फिर यहां आना है। कोट आज ही मिलना चाहिए।" आगरे से मथुरा के लिए एक ट्रेन रात के दस बजे जाती थी।

उसने मुझे नौ बजे फिर आने को कहा और जब मैं वापस चौधरी के पास पहुंचा तो मेरा कोट उसके पास रखा हुआ था।

मेरी खुशी का ठिकाना न था। चैन की सांस लेकर मैं स्टेशन की ओर चल पड़ा। देर में पहुंचने के कारण पिताजी डांटेंगे तो जरूर, पर वैसे सब ठीक हो गया है, इसलिए चिंता की क्या बात है!

पर स्टेशन पर आकर जो खबर सुनी उससे मेरे देवता कूच कर गये। लड़ाई के दिन थे। उस दिन सारी लाइन पर बुकिंग बंद थी।

मैंने हार कर सोचा, प्लेटफार्म टिकिट ले लेता हूं, ज्यादा से ज्यादा चार्ज देना पड़ेगा, दे दूंगा।

पर उस दिन प्लेटफार्म टिकिट की बिक्री भी बंद थी, और प्लेटफार्म पर काफी संख्या में रेलवे पुलिस तैनात थी कि कोई बिना टिकिट न चढ़ पाये।

ट्रेन आकर जब मेरी आंखों के सामने से घड़घड़ाती चली गयी तो जैसे मेरी छाती पर सांप लौटने लगा। अब क्या होगा?

काफी देर उधेड़बुन करने के बाद मैं स्टेशन मास्टर के पास गया और उनसे अपनी सारी गाथा कह सुनायी।

वे बोले, "रात को एक बजे एक मालगाड़ी मथुरा जायेगी। मैं उसमें एक सवारी-डिब्बा लगवा दूंगा। आप उसमें जा सकते हैं।"

अंधा क्या चाहे, दो आंखें। सो, शादी के दिन मालगाड़ी के अंधेरे डिब्बे में बैठकर मैं सवेरे पांच बजे जैसे-तैसे घर पहुंचा कि अपनी बारात में शामिल हो सकूं।

[रचनाकाल 1963,
'लीक-अलीक' में संकलित।]

किस्सा नीलम की अंगूठी का

सन् 1956 में जब मध्यप्रदेश का पुनर्गठन हुआ और भोपाल उसकी राजधानी बनी, तब वहां आकाशवाणी केंद्र खोलने का निश्चय किया गया। मैं उन दिनों आकाशवाणी के प्रयाग केंद्र पर प्रोग्राम असिस्टेंट के रूप में काम कर रहा था। 31 अक्टूबर को मुझे लगभग एक साथ दो तार मिले : एक तार प्रयाग से भोपाल ट्रांसफर का और दूसरा तार पिताजी के स्वर्गवास का।

ये दो दुख मुझे हिलाने के लिए काफी थे, पर जब पिताजी के अंतिम संस्कार के बाद भोपाल पहुंचा तो उसमें एक दुख और जुड़ गया। आकाशवाणी केंद्र के लिए तो मध्यप्रदेश सरकार ने एक इमारत दे दी थी, पर मेरे जैसे स्तर के कर्मचारी के आवास की कोई व्यवस्था न थी। राजधानी आने का निश्चय इतनी भाग-दौड़ में हुआ था कि इस पक्ष की ओर ध्यान न दिया जा सका था। फलतः उस समय की बस्ती में मुझे कहीं सिर छिपाने की भी जगह न मिल सकी। होटल में खाना खाता (और वह खाना कि भगवान बचाये) और 'तार-सप्तक' के अन्यतम कवि-मित्र और मेरे अफसर श्री गिरिजाकुमार माथुर की कृपा से एक कोने में पड़ा रहता। घर मिलने के जल्दी ही कोई आसार नजर न आते थे, इसलिए लगता था कि परिवार से यह बिछोह न जाने कितना लंबा हो। छुट्टी मिलते ही प्रयाग भागता और मुझे देखते ही मेरी बड़ी बेटी अन्विता (तब 8 वर्ष की थी) पूछती, "पापा, घर मिला?"

उसका यह प्रश्न मेरे मन में निरंतर गूंजता रहता।

जब इसी हालत में लगभग छः महीने निकल गये तो मुझे लगा, हो न हो मेरे ग्रहों मे कोई खराबी है, इसीलिए ऐसे अभूतपूर्व कष्ट सहने पड़ रहे हैं। इसी झोंक में एक ज्योतिषी से सलाह ली। उन्होंने बड़ी सहानुभूति प्रकट की और काफी गणित करने के उपरांत सलाह दी, "नीलम पहनिए।"

मैंने इसके पहले तक नीलम का सिर्फ नाम ही सुना था। इसलिए ज्योतिषी जी ने ही नीलम जुटाया और वैवाहिक अंगूठी में उसे फिट करा, उंगली में पहन, मैं कुछ आश्वस्त भाव से उस बार भोपाल को रवाना हुआ।

पर भोपाल पहुंचने तक में ही यह स्पष्ट हो गया कि नीलम का यदि कुछ प्रभाव हुआ है तो वह अहितकर ही हुआ है। स्टेशन पर पहुंचा तो ट्रेन छूटी जा रही थी, भागकर पकड़ी। फलस्वरूप लगेज बुक न करा सका। इटारसी

पर लगेज चैक हो गया और 9 रुपये की चपत लग गयी। भोपाल के स्टेशन पर उतरते समय अपने ही ट्रंक की नोक से मेरा चश्मा टूट गया।

पर मुझ पर ज्योतिषी की सहानुभूति का रंग गहरा चढ़ गया था। मैंने तीनों घटनाओं की व्याख्या पत्नी (श्रीमती बिंदु अग्रवाल) को पत्र लिखते समय इस प्रकार की : नीलम की कृपा से लेट होने पर भी ट्रेन मिस नहीं हुई, लगेज के नियमों का उल्लंघन करने के पाप से बचा और गनीमत हुई कि आंख बच गयी, चश्मे से ही बीती।

लेकिन कुछ मामलों मे नारी-बुद्धि अचूक होती है। बिंदुजी का पत्र आया कि फौरन अंगूठी उतार दो।

उधर मेरा मन इतनी जल्दी समझने को तैयार न था। क्यों उतार दूं यह नीलम, आखिर यह मेरा कर ही क्या लेगा? और फिर यह अंगूठी तो मांगलिक है, इसे नहीं उतारूंगा।

और कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मैं दफ्तर के कामों में एकाएक बहुत व्यस्त हो गया और लगभग एक महीने तक बिंदुजी को कोई पत्र नहीं लिख सका। हर तीसरे दिन उनका पत्र आता और सारी बातों के बाद आखिरी बंद होताः अंगूठी उतार दी कि नहीं? यहां तक कि मेरे मौन को भी उन्होंने अंगूठी का ही प्रताप समझा।

एक दिन अचानक बिंदुजी का ट्रंक काल आया, "अभी इसी समय, फोन रखने से पहले वह निगोड़ी अंगूठी उतार दो।"

मैंने तुरंत तो नहीं, पर उस दिन रात को अंगूठी उतारकर ट्रंक मे रख दी।

कुछ महीनों बाद जब भोपाल में टी. टी. नगर बना और मुझे एक फ्लैट मिल गया तो मैं परिवार को भोपाल लाया।

बिंदुजी ने आते ही दरयाफ्त किया, "वह अंगूठी कहां है?"

मैंने ट्रंक से निकालकर वह अंगूठी उन्हें दिखायी। बोलीं, "यह अंगूठी इस घर में नहीं रहेगी, आज ही इसे बेच डालो।"

मैंने समझाने की कोशिश की, "इस तरह अंगूठी बेचने से काफी नुकसान होगा और फिर यह मांगलिक अंगूठी तो मैं न बेचूंगा।'

वे बोलीं, "अच्छी बात है, तो इसका नीलम निकलवा कर बेच दो।"

मैंने कहा, "फिजूल रुपये बिगाड़ने से क्या फायदा! जब मैं इसे पहनता ही नहीं तो यह क्या नुकसान कर सकता है?"

पर बिंदुजी नहीं मानीं। हारकर मैंने अंगूठी घर से लाकर दफ्तर की अपनी मेज में रख दी। उनसे कह दिया कि मैं मौका लगते ही बेचने की कोशिश करूंगा।

मैं दफ्तर की अपनी मेज में कभी ताला नहीं लगाता। मैंने मन-ही-मन तर्क किया, यदि यह अंगूठी सचमुच उपद्रवी है तो कोई चुरा ले तो भी हर्ज नहीं।

एक दिन दफ्तर का चौकीदार मेरे सामने आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो

गया। मैंने पूछा, "क्या बात है?"

वह बोला, "बाबूजी, कल हमने सफाई करते वक्त देखा, आपकी दराज में एक अंगूठी रखी है। मुझे बड़ी फिक्र हुई कि कहीं चोरी चली जाये तो मैं मुफ्त में मारा जाऊं। आप इसे घर ले जायें बाबूजी, मैं गरीब आदमी हूं।"

मैंने कहा, "अच्छा!" पर अंगूठी वहीं रहने दी।

दूसरे दिन माथुर साहब के यहां पेशी हुई। बोले, "वह चौकीदार बहुत परेशान है। तुम अंगूठी घर क्यों नहीं ले जाते?"

मैंने उन्हें सारा किस्सा सुना दिया और बोला, "अगर आपत्ति न हो, तो फिलहाल इसे आप ही रख लें।"

उन्होंने अंगूठी ले ली।

उस दिन शाम को मैं जब माथुर साहब के घर गया तो वे बोले, "भई, बन्नो राजी नहीं होती, तुम यह अंगूठी ले जाओ।"

मैं अंगूठी लेकर घर आ गया और बिंदुजी को गतिविधि बतायी।

उस समय उनके पास हमारे मित्र और पड़ोसी शर्माजी (प्रो. बैजनाथ शर्मा) बैठे हुए थे। उन्होंने अंगूठी की कहानी सुनी तो बड़े जोर से हंसे, ऐसे निकम्मे अंधविश्वास को बुरा-भला कहा और बीड़ा उठाने के ढंग पर बोले, "लाइए, अंगूठी मुझे दीजिए, मैं रखूंगा।"

हमने फौरन अंगूठी उनके हवाले कर दी।

सवेरे लगभग 5 बजे दरवाजे पर बड़ी जोर की खटखटाहट सुनायी दी। उठकर किवाड़ खोले तो देखा, शर्माजी खड़े हैं। नींद से उठकर आये लगते थे।

बोले, "मैं इस अंगूठी से बाज आया, आप ही रखें।"

मैंने मुस्कराते हुए पूछा, "बात क्या हुई?"

बोले, "रात-भर अजीब-अजीब सपने दीखते रहे। चैन से सो भी न सका। लगता था, जैसे कोई गला दबाकर दम घोंट रहा हो।"

मैं क्या करता, अंगूठी रख ली।

पर बिंदुजी अंगूठी को किसी हालत में घर में रखने को तैयार न थीं। इसलिए दफ्तर जाते समय मैंने फिर वह जेब में डाली और उससे मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगा।

उस दिन दोपहर के समय मेरे पत्रकार-मित्र राजा (श्री ध्यानसिंह तोमर) तशरीफ लाये। मैंने उनसे अपनी व्यथा कही तो वे पिघलकर अंगूठी अपने साथ लेते गये।

कुछ दिनों बाद उन्होंने नीलम-हीन खाली अंगूठी लौटायी और साथ में बीस रुपये। बोले, "इससे ज्यादा दामों में कोई लेने को तैयार न था।"

इसीलिए यह संस्मरण लिख रहा हूं, ताकि उस सौदे से जो नुकसान हुआ है वह कुछ तो पटे।

[रचनाकाल 1963, 'धर्मयुग' मई 1963 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

नागरजी की वार्ता

बात तब की है, जब मैं आकाशवाणी लखनऊ के वार्ता-विभाग में काम करता था। उन्हीं दिनों एक त्रैमासिक वार्ता-सूची में मैंने एक वार्ता-प्रस्ताव स्वीकृत कराया था—'फिल्मी जीवन के मेरे अनुभव'। नागरजी (आदरणीय श्री अमृतलालजी नागर) हाल ही में फिल्मी-जीवन से किनारा करके लखनऊ लौटे थे और मैं चाहता था कि यह वार्ता वे प्रसारित करें। जब उन्होंने मेरा यह प्रस्ताव मान लिया तो मुझे बहुत ही खुशी हुई, क्योंकि फिल्मी जीवन के अंतरंग परिचय के साथ-साथ नागरजी की विनोदप्रिय शैली के मेल की संभावना उस योजना की सफलता के लिए रामवाण थी। जब अनुबंध पर हस्ताक्षर हो गये तो वार्ता के विज्ञापन की भी व्यवस्था कर दी गयी।

अधिकांश लेखक जानते हैं कि अपने प्रसारणों में आकाशवाणी कुछ मूलभूत नियमों का पालन करती है। वैसे इन नियमों की आत्मा भी वही है, जो हर शिष्ट लेखन-प्रकाशन की होती है और जिनका पालन लेखक स्वतः ही करते हैं, पर प्रसारण के माध्यम की आत्मीयता के कारण इन नियमों का स्वरूप कुछ अधिक स्थूल होता है और आकाशवाणी का तंत्र शासकीय होने के कारण उनका पालन भी कुछ कड़ाई से किया जाता है। इसीलिए साधारणतः आकाशवाणी के लेखकों से रचना का आलेख काफी पहले मंगा लिया जाता है, ताकि जल्दी के कारण अथवा अनजाने में यदि लेखक ने इन नियमों के निर्वाह में कुछ चूक कर दी हो, तो समय रहते लेखक से बातचीत करके आलेख में समुचित परिवर्तन कराया जा सके। लेखकों से समय पर आलेख ले लेने की पूरी जिम्मेदारी कार्यक्रम सहायकों की होती थी, इसी से उनकी योग्यता और लोकप्रियता की जांच होती थी।

शायद ही कोई ऐसा लेखक हो, जिसने आकाशवाणी को अपना आलेख निर्धारित तिथि के पहले ही भेजा हो; निर्धारित तिथि को भेजनेवाले भी उंगलियों पर गिने जा सकते थे। अधिकांश लेखक प्रसारण के एक-दो दिन पहले ही कृपा करते थे, पर इन मूलभूत नियमों से परिचित होने के कारण असमंजस अथवा संकट के कांड विरले ही होते थे। मैं जानता था कि विषय बड़ा रोचक और आत्मीय होने के कारण नागरजी की इस वार्ता में यह संभावना काफी

थी कि वे उसमें फिल्मों के नाम, फिल्म कंपनियों के नाम और फिल्म-उद्योग से संबंधित नामों की चर्चा करेंगे। ऐसी दशा में आलेख को सावधानी से देख लेना जरूरी था, इसलिए मैंने पंद्रह दिन पहले से ही नागरजी को खटखटाना शुरू कर दिया।

एक हफ्ते तक तो नागरजी हंसकर कहते रहे, "अभी से क्यों परेशान हो रहे हो, अभी तो बहुत दिन पड़े हैं।"

जब सिर्फ एक हफ्ता रह गया, तो मैंने कुछ जोर से तकाजा किया। नागरजी बोले, "बंधु, अभी हाथ में एक और काम ले बैठा हूं। एक-दो दिन में हुआ जाता है। बस, फिर तुम्हारे आलेख में जुट जाऊंगा।"

मैंने दो दिन और सब्र किया। तीसरे दिन फोन करने पर नागरजी बोले, "बस, आज शाम तक इससे छुट्टी पा जाऊं, कल तुम्हारी स्क्रिप्ट शुरू हो जायेगी।"

पर नागरजी का वह काम न जाने कैसा था कि सिमटने में ही न आता था, यहां तक कि प्रसारण का दिन सिर पर आ गया।

जब सिर्फ एक ही दिन बाकी रह गया तो एक मजेदार बात हुई। मेरे फोन करने के पहले ही नागरजी ने फोन करा दिया कि तुम्हारे काम में लगा हूं, डिस्टर्ब न करना, शाम तक वार्ता तैयार हो जायेगी।

मुझे कुछ तसल्ली हुई। दूसरे दिन दफ्तर में पहुंचते ही मैंने नागरजी से हाल-चाल पूछा। बोले, "बस, हुआ जाता है। एक पन्ना और लिखना है।" दोपहर को फोन किया तो सिर्फ एक पैराग्राफ लिखना रह गया था। वार्ता साढ़े सात बजे शाम को प्रसारित होनी थी।

चार बजे मेरा धैर्य छूट गया। फोन करके कुछ कहने ही वाला था कि नागरजी का फोन आया, "बंधु, वार्ता पूरी हो गयी।"

मैंने खुशी व्यक्त की और बताया कि मैं वार्ता का आलेख लेने पहुंच रहा हूं।

वे बोले, "नाहक यहां तक आओगे। मैं बस कुर्ता पहनकर रानी साहिबा (रानी स्वरूप रानी बख्शी) के यहां पहुंच रहा हूं। आज साहित्य समाज की बैठक है पांच बजे। तुम भी वहीं आ जाओ। वहीं आलेख देख लेना और फिर वहीं से दोनों जने साथ ही रेडियो स्टेशन पहुंच जायेंगे।"

मुझे प्रस्ताव में कोई बुराई नहीं दीखी, इसलिए मैंने मंजूर कर लिया।

शाम को साढ़े पांच बजे के लगभग जब मैं श्रीमती बख्शी के 'यहां पहुंचा तो क्या देखता हूं कि श्रद्धेय आनंद नारायण मुल्ला, भगवतीचरण वर्मा, अली अब्बास हुसैनी आदि साहित्यकार जमा हैं और नागरजी व्यास पीठ पर डटे अपनी एक रचना सुना रहे हैं।

नागरजी ने मुझे देखते ही अपने कुरते की जेब की तरफ इशारा किया: अच्छा-खासा पुलिंदा भरा था। मैंने संतोष की सांस ली और दत्तचित्त होकर उनकी रचना सुनने लगा।

जब घड़ी में छह बजने लगे और नागरजी का पाठन समाप्त न हुआ तो

मेरी धड़कन तेज होने लगी।

सवा छह बजे जब नागरजी ने रचना सुनाना समाप्त किया तो मैं उनकी और ऐसे लपका, जैसे वे भागे जा रहे हों। मैंने उनके पास जाकर धीमे से कहा, "आलेख दे दीजिए, मैं एक नजर देख लूं।"

"बंधु, अभी चलते हैं, घबराओ मत," कहकर अपनी रचना के संबंध में विद्वानों की टीका-टिप्पणी सुनने लगे। मेरे चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं।

साढ़े छः बजे जब मैंने दूर से ही हाथ जोड़ते हुए नागरजी से प्रार्थना की तो शायद मेरे चेहरे को देखकर वे भी डोल गये। "चलो बंधु," कहकर वे बैठक से उठ आये।

संयोग देखिए कि हजरतगंज तक कोई रिक्शा ही न मिला, इसलिए काफी दूर पैदल चलना पड़ा। जैसे-तैसे एक रिक्शा पकड़कर जब रेडियो स्टेशन पहुंचकर मैंने नागरजी को स्टूडियो में ले जाकर बिठाया, तब ठीक सात बजे थे।

पंद्रह दिन पहले से प्रत्येक पल जिस आलेख की मैं वाट देख रहा था, वह अब मेरे हाथ लगा। नागरजी को स्टूडियो में जमाकर मैं ड्यूटी रूम में आकर आलेख पढ़ने लगा। सात मिनट में मैंने पूरा पढ़ डाला...और आलेख पढ़कर मानो मेरे सामने की धरती ही घूम उठी। प्रायः प्रत्येक पैराग्राफ में फिल्म क्षेत्र से संबंधित व्यक्तिगत और व्यावसायिक नामों और प्रसंगों की झड़ी लगी हुई थी। मैं चकरा गया कि नागरजी जैसे अनुभवी वार्ताकार ने इस बार आकाशवाणी के नियमों को एकदम कैसे भुला डाला!

समझ में न आया, क्या करूं! समय तेजी से भाग रहा था और कुछ करना जरूरी था।

ऐसे में एक और संयोग भी आ जुटा था। स्टेशन डायरेक्टर और असिस्टेंट स्टेशन डायरेक्टर दोनों ही उन दिनों छुट्टी पर थे। उनकी अनुपस्थिति में जो सज्जन अध्यक्ष थे, उन्हें वार्ताकारों का कोई अनुभव न था। पर और कोई चारा न देख मैंने उन्हीं को फोन खटकाया।

सौभाग्य से वे घर पर ही मिल गये। मैंने संक्षेप में अपनी कठिनाई बतायी तो वे बोले, "ऐसे क्या राय दे सकता हूं, चपरासी के हाथ आलेख मेरे पास भेज दो।"

मैंने कहा, "सात बजकर दस मिनट हो चुके हैं। आलेख आपके पास भेजूंगा तो वार्ता के समय तक लौटकर नहीं आ सकेगा।"

बोले, "तो एक काम करो, मुझे पूरा आलेख फोन पर पढ़कर सुना दो।"

मैंने एक बार धीमे से प्रतिवाद अवश्य किया, पर जब देखा कि वे जिद कर रहे हैं तो और समय बरबाद न कर जल्दी-जल्दी आलेख पढ़कर सुनाने लगा।

जब आलेख सुनाना समाप्त किया, तब वार्ता में सिर्फ पांच मिनट बाकी थे।

अध्यक्ष महोदय बोले, "सारे नामोल्लेख निकलवा लेना जरूरी है, नहीं तो यह प्रसारण नहीं हो सकता।"

मेरा सर्वांग कांप गया। सफेद फक्क चेहरे से जब मैं स्टूडियो में लौटा तो केवल दो मिनट और थे। मैंने कहा, "बात यह है नागरजी..."

मुझे और कुछ कहने का मौका दिये बिना ही नागरजी बोले, "बंधु, कटेगा एक शब्द नहीं।"

मैंने बड़ी आजिजी से कहा, "पहले मेरी बात तो सुन लीजिए।"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता" उन्होंने कहा और कोने में खड़ी छड़ी उठाकर बोले, "लो, मैं चला।" और वे स्टूडियो के दरवाजे की ओर बढ़ दिये।

मैंने आव देखा न ताव; लपक कर स्टूडियो का दरवाजा बंद कर दिया और उसके हैंडिल पर अपनी सारी देह टिका कर बोला, "आप बैठें नागरजी, और जो आलेख आपने लिखा है, वह ज्यों का त्यों पढ़ें। ज्यादा से ज्यादा कल मेरी नौकरी चली जायेगी! पर मैं यह कलंक अपने सिर पर नहीं लूंगा कि आप जैसा प्रतिष्ठित साहित्यकार स्टूडियो से बिना ब्राडकास्ट किये लौट गया।"

मेरे शब्दों में जैसे कोई जादू हो। नागरजी के तेवर पलक मारते ही खुल गये। वे लौटकर सीट पर आ बैठे और जेब से अपनी कलम निकालकर मुझे देते हुए बोले, "जो बदलना हो, तुम बदलते चलो, मैं पढ़ता चलूंगा।" और उस दिन सचमुच नागरजी ने मेरे सारे सुधारों के साथ वह वार्ता प्रसारित की।

...और उस दिन पहली बार मैंने यह देखा और जाना कि सच्चा कलाकार कितना उदार हो सकता है और कितना सहयोग कर सकता है।

[रचनाकाल 1963, 'धर्मयुग' जून 1963 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

आकाशवाणी में सांप

तर्क-संगत सावधानियां जितनी भी हो सकती थीं, सब हमने बरती थीं। हमारा ख्याल था कि हमने कहीं कोई छिद्र नहीं छोड़ा है। फिर भी हमारे देखते-देखते वह अजीब घटना घट गयी जिसे या तो चमत्कार कहा जा सकता है, या फिर सिद्धि। लेकिन मन आज तक स्वीकार नहीं करना चाहता कि उसमें कोई हाथ की सफाई न थी।

बात सन् 1955 की है, जब मैं आकाशवाणी, प्रयाग पर प्रोग्राम असिस्टेंट के रूप में काम करता था। गर्मियों की एक दोपहर मैं स्टूडियों के बरामदे में खड़ा था, किसी आर्टिस्ट की प्रतीक्षा में, कि सड़क पर बीन बजाता जाता एक संपेरा दीख पड़ा।

(कथा-सूत्र को आगे बढ़ाने के पहले, जिन पाठकों ने आकाशवाणी, प्रयाग के दर्शन नहीं किये हैं उनकी जानकारी के लिए उसका कुछ भूगोल बता देना जरूरी है। आकाशवाणी प्रयाग, इलाहाबाद के सिविल लाइंस क्षेत्र में, थॉर्नहिल रोड पर स्थित है, आस-पास बने दो बंगलों में। एक बंगले में कार्यालय है और दूसरे में स्टूडियो। दोनों के बीच कोई विभाजक दीवार नहीं है और कर्मचारी मजे से इधर-उधर आते-जाते रहते हैं। इस प्रकार दोनों बंगले एक बहुत बड़े अहाते में हैं जिसके अगल-बगल और पिछवाड़े वनस्पति की भरमार है।)

पता नहीं क्यों, शायद मुझे वहां खड़ा पाकर, वह संपेरा तपाक से भीतर आ गया। उसे देखकर आस-पास आते-जाते काम करनेवाले कुछ मित्र भी जमा हो गये। इनमें विजय बोस और गोपाल कौल भी थे।

संपेरे ने हमें उद्देश्य करते हुए कहा : "इस बंगले में बहुत-से सांप हैं, बड़े ही जहरीले। आप कहें तो पकड़ लूं।"

हममें से किसी ने कोई विशेष रुचि न दिखाई। सांप हैं तो होने दो। हमने तो कभी देखे नहीं, न कभी कोई वारदात ही हुई, फिर नाहक क्यों झंझट मोल लिया जाए।

कि तभी कोई पूछ बैठा : "पर तुम्हें कैसे मालूम, यहां सांप हैं?"

नाथजी हंसे। फिर बोले : "मेरे पास सिद्धि है। मैं चट-से मालूम कर लेता हूं।"

एक बोला : "इसमें कौन बड़ी बात है! सांप तो सभी जगह होते हैं।

उन्हें छेड़ने से क्या फायदा!"

पर कुतूहल-वश किसी ने पूछ ही तो लिया : "पर तुम पकड़ोगे कैसे?"

"बीन बजाकर।" नाथजी बोले, "मैं यहीं, आपके सामने खड़ा-खड़ा बीन बजाऊंगा, और सांप अपने-आप दौड़े चले आएंगे, और मैं पकड़ लूंगा।"

मुझे बचपन में पढ़ी अंग्रेजी कहानी 'द पाईड पाइपर' की याद हो आयी। बंसरीवाला बंसरी बजाता आगे-आगे और नगर के सारे चूहे (और बाद में बालक) मंत्र-मुग्ध से पीछे-पीछे। हम सबके चेहरे पर अविश्वास झलक रहा था, पर साथ ही सबके मन में कूतुहल जाग्रत हो गया था।

"यह कैसे हो सकता है? तुम झूठ बोल रहे हो।" कोई कह बैठा।

"झूठ-सच का तो आपको थोड़ी ही देर में पता चल जाएगा।" संपेरा बोला, "यह तो उजागर बात है। और फिर, आज कोई पहली बार तो है नहीं। यह देखिए!' कहकर उसने कागजों की एक गड्डी हमारी तरफ बढ़ा दी। मैंने देखा, वे नगर के कई प्रतिष्ठित सज्जनों के लिखे प्रमाण-पत्र थे कि अमुक संपेरे ने बीन बजाकर हमारे यहां सांप पकड़े हैं।

हम लोग अचरज में भी थे, और चौकन्ने भी। एक मित्र ने, शायद विजय बोस ने, शंका प्रकट की, "अरे, अपनी पिटारी के सांप छोड़ देगा और फिर उन्हीं को पकड़कर हमें उल्लू बना देगा।"

संपेरे ने इसकी कोई जुबानी काट करने की बजाए अपनी पिटारी खोलकर दिखा दी।

पिटारी खाली थी।

अब तक भीड़ कुछ बढ़ गयी थी। उसी में से एक सुझाव आया : "क्या पता, इसने पिटारी के सांप पहले ही यहां छोड़ दिये हों!"

संपेरे के चेहरे पर कुछ झुंझलाहट दिखी, "भाइयो, ऐसा न कहिए। मैं तो अभी-अभी अंदर आया हूं। इन्होंने मुझे भीतर आते देखा है।"

उसका इशारा मेरी ओर था। बात सच थी। और फिर संपेरे ने जोड़ा, "सांप कोई ऐसा पालतू जानवर तो है नहीं कि जहां छोड़ दूंगा, वहीं बैठा रहेगा। वह तो न जाने किधर रेंग जायेगा।"

तभी विजय बोस ने धीमे-से कुछ गोपाल कौल से कहा, जो मैं साफ सुन न सका। पर उसके उत्तर में संपेरे ने एक-एक कपड़ा झाड़कर अपनी नंगा-झोली दी। हम सबको यकीन हो गया कि उसने अपने कपड़ों में कोई सांप नहीं छुपा रखा है।

निपट अचरज-मिश्रित अविश्वास के भाव से हमने तय किया कि संपेरे के दावे को कसौटी पर कसा जाये। हमने कहा : "अच्छी बात है, तुम सांप पकड़ कर दिखाओ।"

"जो हुकुम" नाथजी बोले : "पांच रुपये लूंगा।"

"अरे, लेन-देन पीछे होगा," मैंने कहा, "पहले तुम अपनी बात तो साबित करो।"

"बहुत अच्छा!"

और अपने गाल फुलाकर संपेरे ने बीन में फूंक भरी। मैं सोचता हूं, करीब

पांच मिनट तक वह बीन बजाता रहा, ठीक जैसे और संपेरे बजाते हैं, और हम लोग आंखें फाड़े चारों ओर नजर दौड़ाते रहे कि शायद कहीं से कोई सांप आता दीख जाये। सब सांसें रोके स्तब्ध थे।

हठात्, संपेरे ने बीन की लय रोककर उसमें से छोटे-बड़े स्वर निकालने शुरू किये, जैसे बालचर सीटी बजाते हैं, और फिर एक ओर खड़े पेड़ की ओर उंगली से इशारा करते हुए बोला : "वह रहा सांप!"

"कहां, कहां?" सारी भीड़ एक साथ बोल पड़ी। हममें से किसी को कोई सांप नहीं दीख रहा था।

"अरे, यह लीजिए!" कहता हुआ संपेरा पेड़ तक गया और जैसे फूल तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाते हैं ऐसे हाथ बढ़ाकर एक सांप उतार लाया। वह किसी डाली से लिपटा हुआ था।

"तुमने तो कहा था, सांप दौड़ता हुआ आयेगा?" किसी ने पूछा।

'दौड़ता हुआ तो आया ही है, और नहीं तो क्या सांप इस पेड़ पर ही बैठा था?" संपेरे ने कहा।

"यह नहीं मानी। यह तो तुमने अंदर आते हुए किसी चालाकी से यहां रख दिया होगा।" एक और सज्जन बोले।

"आप चालाकी कहते हैं इसे? तो यह लीजिए।" कहकर उसने फिर बीन में फूंक भरी और स्वर साधा। पहले की ही तरह थोड़ी लय छेड़ने के बाद उसने छोटे-बड़े स्वर निकाले, और बोला : "आइए, यह रहा सांप।"

आगे-आगे वह और मंत्र-मुग्ध से पीछे-पीछे हम सब बंगले के पिछवाड़े की ओर चले। बगल के 'लेडीज बाथरूम' के दरवाजे पर रुककर वह बोला: जाइए, अंदर सांप है। ले आइए।"

पर किसकी हिम्मत थी भला, जो अंदर जाता!

फिर वह संपेरा ही अंदर गया और एक सांप लटकाए बाहर आया। यह बिल्कुल दूसरी तरह का था।

पेड़ तो बंगले के सामने की ओर था, हो सकता है, वहां संपेरे ने किसी चालाकी से सांप रख दिया हो, पर लेडीज बाथरूम तक वह किसी हालत में नहीं गया था, यह बिल्कुल तय है। हम लोग सब दंग थे। पर विश्वास न होता था। कोई तर्क नहीं था, फिर भी हम यही कह रहे थे, हो-न-हो इसमें कोई चालाकी है।

"चालाकी!" संपेरे को कुछ तैश आया। "यह देखिए।" उसने नये पकड़े से सांप की गरदन दबाकर उसका मुंह खुलवाया और बोला : "यह देखिए, इसके दांत अभी तक मौजूद हैं। हम लोग तो दांत तोड़ देते हैं।" और फिर एक कपड़ा उसके मुंह में देकर उसकी गरदन छोड़ दी, फिर कपड़ा खींचकर प्रमाणित किया कि दांत अभी हैं।

सब कुछ हमारी आंखों के सामने ही हुआ था, चालाकी का कोई प्रमाण हमारे पास नहीं था, पर हम मानते भी कैसे। हम यही कहते रहे : "जो हो, ये सांप हैं तुम्हारे ही।"

और तब संपेरे ने ताव खाकर एक चुनौती पेश की। "अगर आपने कभी

इस बंगले में कोई सांप देखा हो, तो मुझे उसका अता-पता बताइए, मैं उसी को पकड़कर दिखा दूंगा।"

यह सुनते ही एक चपरासी बोला : "पीछे, गैरेज के पास एक सांप रहता है, बहुत बूढ़ा। बरसात में निकलता है। उसके डर के मारे हम उधर नहीं जाते।"

"चलिए, फिर उसी को पकड़कर दिखाता हूं।"

धुर पिछवाड़े बने गैरेज के पास जाकर हम सब रुक गये। संपेरा दो डग आगे बढ़ा और बीन बजाने लगा। गैरेज बंद था और उसमें ताला लटक रहा था।

वादन-पक्रिया समाप्त करके संपेरा बोला : "ताला खोलिए, सांप इसके अंदर है।"

कई जने एक साथ चाभी लेने दौड़े, कार्यालयवाले बंगले में। थोड़ी देर में ताली भी आयी, और खबर सुनकर और भी कुछ लोग आये। उनमें आकाशवाणी प्रयाग के तत्कालीन संचालक श्री गोपालदास और विश्वविख्यात कवि श्री सुमित्रानंदन पंत भी थे।

ताला खोला गया। भीड़ सांसें रोके खड़ी थी। ज्योंही टीन का फाटक खुला, त्यों ही संपेरा झपटता हुआ अंदर गया और पल-भर बाद ही एक लंबा-मोटा सांप लिये बाहर निकला।

हम लोग दंग रह गये।

वह चपरासी बोला : "हां, यही सांप है। हमने इसे बहुत बार देखा है।"

अब विश्वास करने के अलावा कोई चारा न था। हालांकि, मामूली तौर पर बजायी गयी उस बीन का और सांप का क्या संबंध हो सकता था, यह न तब समझ में आया न आज। पर विश्वास हो गया था, इसका एक प्रमाण मेरे पास है।

संपेरे ने पांच रुपये फीस ठहराई थी। अब देने की बारी आयी तो हम लोग चंदा उगाहने लगे। दो-तीन रुपये इकट्ठे हो चुके थे कि बहल साहब (आनंद स्वरूप बहल, नाटक-कार्यक्रम के सहायक) बोल पड़े, "मैं तो कई दिन से एक संपेरे की तलाश में था। मुझे एक नाटक के लिए बीन के ध्वनि-प्रभाव की जरूरत है। इसे रेकार्ड कर लते हैं।" रेकार्डिंग की फीस दस रुपया देना तय हुआ।

लगभग एक घंटे के बाद जब बीन का रेकार्ड तैयार हो गया और गोपालदास जी अपने कमरे के लाउड-स्पीकर पर उसे फिर से सुन रहे थे तो हममें से कोई बोल उठा : "स्पीकर बंद कर दीजिए। कहीं यहां भी सांप न निकल आये।"

तो क्या सांप बीन सुनते हैं? क्या सचमुच सांपों को इस तरह पकड़ा जा सकता है? क्या वह संपेरा सिद्ध था या कुशल बाजीगर? आज भी यह रहस्य बना हुआ है!

[रचनाकाल 1963 'धर्मयुग' सितंबर 1963 में प्रकाशित, 'ज्ञानधारा' भाग एक और 'लीक-अलीक' में संकलित।]

जब समय की सुई
रास-मंडल पर टिक गयी

पूर्व रंग

सन् 1935 में हाई स्कूल पास कर जब कॉलेज की शिक्षा के लिए मैं मथुरा से बाहर आया, तब क्या जानता था कि मैं सदा के लिए घर छोड़ रहा हूं। पर हुआ यही। और आज अट्ठाईस वर्ष से मैं प्रवास में 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' करते-करते प्रवास को ही घर मानने की चेतना पा चुका हूं। बीच-बीच में दो-चार घंटे (और माता-पिता के स्वर्गवास पर दो-चार दिन भी) मैं मथुरा में बिताता आया हूं, पर उनसे मेरे मन का यही भाव और गहरा होता रहा कि मैं अपने घर में ही विदेशी हूं। क्योंकि वहां के निवासी अपने अनगिनती परिचितों-मित्रों से मिलते मुझे एक झेंप लगती रही है। घर छोड़ा था तो मन में सपने थे बड़े-बड़े, और तन में स्फूर्ति थी चिर-चंचल। और इसीलिए डरता था कि कहीं कोई पूछ न बैठे, 'कहौ लाला, अब कहा हाल-चाल है?' शायद अंतर में कहीं यह भाव था कि कुछ बन जाऊं—कुछ दर्शनीय, कुछ सफल—तो फिर उन बुजुर्गों को प्रणाम कर आऊं जिनसे छिटककर मैं बीहड़ पथों में भटकने चल दिया था।

पर सन् 1959 के आस-पास जब से दिल्ली रहने लगा, घर की याद कुछ विचित्र ढंग से सताने लगी। बचपन में बिताये वे नगण्य उपलब्धिहीन दिन और इस बाल-परिवेश के अपदार्थ बौने अभिनय-स्थल मेरे मन में किसी अज्ञात मोह से मंडित होकर जीवंत की भांति मुझे टेरने लगे। और अचानक मुझे चेत हुआ कि मैं जिसे समाप्त समझ बैठा था, जन्म-भूमि से मेरा वह संबंध-सूत्र अब भी उतना ही प्रबल और सजीव है, मैं उसे भले ही बिसरा बैठा होऊं, उसने मुझे अब भी कसकर थाम रखा है। और यह भी लगा कि जिसे मैं उपलब्धि कहता हूं वह भी इसीलिए हाथ नहीं लगी कि मेरा सारा कर्म, सारा सचेत जीवन उस सूत्र के निषेध पर टिका रहा।

यह भाव उठने पर मन की ललक विकलता बन गयी।

यही कारण था कि एक दिन बातों ही बातों में श्री बलवंत गार्गी (पंजाबी के प्रख्यात लेखक जो रंगमंच के अध्ययन के सिलसिले में विश्व-भर का भ्रमण

कर चुके हैं, और जिन्हें पंजाबी पुस्तक 'रंगमंच' पर पिछले साल साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिल चुका है) रास-लीला देखने की इच्छा प्रकट करने लगे तो मैंने उनका प्रस्ताव लपक लिया और बिना कुछ ज्यादा सोच-विचार के ऐन जन्माष्टमी के दिन सवेरे फ्रंटियर मेल पर चढ़कर हम मथुरा जा धमके।

गाड़ी से उतरकर पहला सवाल उठा : जाएं कहां? मैंने रिटायरिंग रूम का प्रस्ताव किया, ताकि सोचने का समय मिल जाये। मेरा अपना घर है मथुरा में, पर वहां अचानक जा धमकना अच्छा नहीं लग रहा था।

थोड़ी देर बाद हलके होकर मैंने अपने मित्र श्री शर्मनलाल अग्रवाल एडवोकेट को फोन किया। वे घर पर नहीं थे, जन्म-भूमि (भगवान श्री कृष्ण की मान्य जन्मस्थली, जहां अब कई मंदिर बन गये हैं) गये थे, जन्मोत्सव में। हमने सोचा, स्टेशन की बजाय उन्हीं के घर में बैठकर इंतजार किया जाये। चल पड़े।

एक घंटे बाद उनके दर्शन हुए तो मिनटों में ही वे गार्गी से घुल-मिल गये। गार्गी की जिज्ञासा का अंत न था। वे एक नयी-निकोर मोटी-लंबी नोटबुक ले गये थे, धड़ाधड़ नोट्स लेने लगे—कभी उर्दू में, कभी अंग्रेजी में, कभी पंजाबी में। देवनागरी भी चल रही थी। शर्मनलाल ने रासलीला का अध्ययन ही नहीं किया है, उस पर एक अच्छी-खासी पुस्तक भी लिखी है। वे लगातार बोले जा रहे थे।

वे बोल रहे थे, गार्गी सुन-लिख रहे थे, मैं भीग रहा था। मन पर चढ़ी अट्ठाईस वर्षों की गर्द की परतें एक-एक करके बही जा रही थीं और अंतर में फिर से वह कच्ची रसमयी भूमि निखरी आ रही थी, जिस पर पड़े कूड़े-करकट के कारण मैंने कभी कोई बीज नहीं बोया था।

वृंदावन की भीगती शाम

तीसरे पहर भोजन से छुट्टी पाकर हम लोग वृंदावन चल पड़े रासलीला देखने। वृंदावन में हमेशा जगह-जगह रास होता रहता है, कहीं-कहीं नित्य-रास भी। तिस पर तो आज जन्माष्टमी थी। रास्ते भर बादल हमारी छाया करते रहे। सड़क के दोनों ओर घने जंगल छाये थे और शर्मनलाल बड़ी तन्मयता से गार्गी को वृंदावन का पूरा इतिहास बताते जा रहे थे। तांगे में नोट्स लेना संभव न था, नहीं तो वे उससे भी न चूकते।

वृंदावन पहुंचते ही हम एक रास-मंडली में पहुंच गये। लीला शुरू हो चुकी थी। स्वरूप (पात्र) गा रहे थे। गार्गी ने नोटबुक खोली तो महाराज (आचार्य) ने कान में आकर कहा : 'बोल लिखना मना है।' मैंने चट-से कहा : 'सिर्फ वर्णन लिख रहे हैं।' गार्गी ने लिखना छोड़ स्वरूपों के रेखा-चित्र बनाने शुरू किए।

बचपन की बहुत-सी बातें भूल गया हूं, पर एक याद है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मथुरा में जन्माष्टमी के दिन पानी न बरसा हो।

हम वहां से उठकर दूसरे मंदिर में जाने ही लगे थे कि पानी आ गया। धीरे-धीरे उसका जोर बढ़ता ही गया। मैंने कहा : "यह मत सोचिए, बंद हो जायेगा। रात-भर बरसेगा।" इसलिए, तय हुआ कि लौटा जाये।

पानी में तांगा क्या काम देता। हम लोग भक्तों की भारी भीड़ में किसी

तरह रोडवेज की बस का टिकट प्राप्त कर रात दस बजे के लगभग मथुरा पहुंचे और रिक्शे में भीगते-भीगते घर।

बाहर वर्षा की झड़ी और भीतर नोट-बुक पर झुके गार्गी। उन्होंने फिर प्रश्नों की झड़ी लगा दी। और तभी न जाने कैसे अनायास ही ब्रज-लीला-केंद्र की रूपरेखा तैयार हो गयी।

ब्रज-लीला-केंद्र

ब्रज की कला और संस्कृति के अध्ययन-अनुशीलन के लिए एकाधिक संस्थाएं मौजूद हैं, पर वे संस्थाओं के सामान्य इतिहास का अनुगमन कर प्रचार-विग्रह में फंसकर अपने मूल उद्देश्य से विरत हो चुकी हैं। हमने तय किया, एक ऐसी संस्था का गठन हो जो चुनाव और सदस्यता के झंझटों से मुक्त हो, जो ब्रज की रास-लीला का अध्ययन करे, उनको लिपि-बद्ध और टेप-बद्ध करे, और—और कुछ न करे। इतना सीमित काम इसीलिए तय किया गया कि संभव हो जाये। दूसरे दिन सवेरे जब हम दिल्ली लौटे तो शर्मनलाल केंद्र के गठन का भार ले चुके थे।

उद्घाटन या छाया-चित्रण?

बारह अक्टूबर को ब्रज-लीला-केंद्र का उद्घाटन निश्चित हुआ। बलवंत गार्गी ने उद्घाटन करना स्वीकार किया। मैं योजना के अनुसार उनसे साथ ही था। सवेरे ही मैं सपरिवार और गार्गी मथुरा जा पहुंचे। शर्मनलाल ने बताया, कोई खास धूम-धाम नहीं रखी है, बस नगर के कुछ बीस-पच्चीस प्रमुख विद्वान होंगे, और संस्था चल पड़ेगी।

पर गार्गी की रुचि संस्था में नहीं, रासलीला में थी। प्रबंध था कि उद्घाटन के बाद रात को रासलीला होगी, और फिर एक लीला दूसरे दिन रात को। पिछली यात्रा में गार्गी तस्वीरें न ले सके थे। वे इस बार पूरी तरह से लैस थे।

समारोह के कुछ ही पहले तब हमारे आनंद-विस्मय का ठिकाना न रहा जब आगरे से डा. सत्येंद्र आ गये। उनके साथ उदयशंकर शास्त्री भी थे। शर्मनलाल ने कहा तो था कि उन्हें भी सूचना दी है, पर मुझे उनके आने की संभावना कम ही लगती थी। अचानक पूज्य गुरुदेव के दर्शन कर मैं भर उठा।

मथुरा तीन लोक से न्यारी

तभी आये डा. बरसानेलाल चतुर्वेदी। उन्होंने बताया कि मथुरा में हमारी उपस्थिति का लाभ उठाकर उन्होंने नाट्य-दिवस मनाने का भी निश्चय किया है। और तब 'मथुरा तीन लोक से न्यारी' कहावत को चरितार्थ करते हुए एक ही स्थान-काल-जन में एक साथ दो समारोह संपन्न हुए।

जब समय की सुई टिक गयी

भाषणों में न गार्गी की कोई रुचि थी न मेरी। उन्होंने बड़ा संक्षिप्त-सा उद्घाटन-भाषण दिया, और उतना ही संक्षिप्त भाषण मेरा था। डा. सत्येंद्र ने ब्रज-लीला-केंद्र की स्थापना पर हर्ष प्रकट करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये। उदयशंकर शास्त्री ने बड़े मार्के की बात कही कि रासलीला के परंपरागत रूप में जिन आधुनिकताओं का समावेश हो चुका है, उन पर नाक-भौं चढ़ाने की बजाय उनका भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

और तब परदा उठा। आज की रासलीला भ्रमर-गीत की कथा पर थी। लगभग आठ बजे शुरू होकर लीला रात के डेढ़ बजे तक चली। बाद में बताया गया कि पूरी लीला और भी बड़ी है, पर साधारणतः वे संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। हमारी रास-मंडली मथुरा की सर्वोत्कृष्ट मंडलियों में मानी जाती है, और इसमें आश्चर्य भी क्या, क्योंकि पूरे पांच घंटे हम लोग दम साधे मंत्र-मुग्ध बैठे रहे। गार्गी चित्र लेना भी भूल गये, जिसकी कमी उन्होंने लीला के बाद पूरी की। मैं देखता था और दंग होकर सोचता था कि यह कितना सशक्त लोक-माध्यम है जो संस्कृत और ब्रज के श्रेष्ठतम काव्य को (जिसे पढ़ते विद्यार्थी भी कठिन मानते हैं) इतना सुगम और सरस रूप दे देता है। कृष्ण की विकलता और उद्धव की पराजय इतनी मार्मिक बन गयी थी कि हमें समय की गति का भी भान न रहा।

जगमगाती शाम के चित्र

दूसरे दिन सवेरे ही गार्गी तय कर चुके थे कि आज वे रासलीला का आनंद छोड़कर चित्र लेने का अपना काम पूरा करेंगे। दोपहर को दिल्ली से श्रीमती पोटाबैंको (रूसी महिला, जो भारतीय रंगमंच का अध्ययन कर रही हैं) साथ में फिल्म-कैमरा लिये आ गयी थीं। 'माखन-चोर लीला' जो लगभग तीन घंटे चली, कैमरे के प्रकाश में जगमगाती रही। लगभग एक सौ चित्र लिये गये, और बहुत-से रंगीन। गार्गी का जैसे मन ही न भरता था। वे मंच के इधर-उधर कोणों पर कोण खोजते फिर रहे थे।

अगले दिन जब हम लौटे तो मेरा मन एक अजीब तृप्ति से भरा था—एक पुनर्परिचय की तृप्ति। जल्दी के कारण मैं बहुत घूम-फिर न सका था, पर मेरे मन-प्राण में यमुना की लहरें हिलोर ले रही थीं।

[रचनाकाल 1963, 'धर्मयुग' दिसंबर 1963, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

राजधानी में राष्ट्र कवि

जब कार मौलाना आजाद रोड पर मुड़ी तो रात हो चुकी थी। शाम को झड़ी बरसकर चुक गयी थी, पर अभी हल्की-हल्की बूंदें पड़ रही थीं। हमने कार के कांच चढ़ा रखे थे। दोनों ओर की लाइटें गीली, पक्की सड़क पर झलक मार रही थीं।

अचानक कार दो पदचारियों की बगल से गुजरी। एक को मैंने पहचान लिया—श्री प्रभुदयाल मीतल। झटके से कांच उतारते हुए मैंने मुड़कर कहा, "आइए, आइए!"

कार रुक गयी, जैसे मैंने कोई परिचित संकेत दिया हो। गाड़ी का दरवाजा खोलकर भीतर आते हुए मीतलजी बोले, "तुम खूब मिले।" पर फिर चालक पर नजर पड़ते ही वे फूट पड़े, "अरे, डॉ. नगेंद्र! वाह-वाह, आपके यों अचानक दर्शन हो सकेंगे, यह नहीं सोचा था।"

मीतलजी और उनके सहयात्री श्री मोहनसिंह सेंगर पीछे की सीटों पर बैठ गये। नगेंद्रजी ने विज्ञान-भवन के सामने पहुंचकर कार मीनाबाग फ्लैट्स के अहाते में मोड़ दी। अगले ही क्षण हम राष्ट्र-कवि की बैठक में थे।

जादुई जल-पान

गुप्तजी अकेले नहीं थे, हलके भैया (श्री श्रीनिवास गुप्त) ड्यूटी पर मौजूद थे। दद्दा के साथ रहने की ड्यूटी बड़े भागों से मिलती है। रोज मिले तो भी उसे रोज ही सौभाग्य समझिए। क्योंकि उसकी कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती, न कोई अनुबंध। इसीलिए उसका लोभ रहता है।

दद्दा ने मीतलजी से मथुरा के समाचार लिये-दिये। ऐसे मौसम में दर्शन देने का कष्ट करने के लिए अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। नगेंद्रजी को निश्चल बैठना दूभर होता है। वे इधर-उधर मंडरा रहे थे। बीच-बीच में कुछ वाक्य जोड़ देते।

हम लोग दद्दा के साथ नीचे गद्दी पर ही बैठे थे। दद्दा के कमरे में कुर्सियां भी रहती हैं, और दूर कोने में डाइनिंग टेबिल भी। पर उनकी बैठक में कुर्सियों

पर बैठना न जाने क्यों बड़ा कृत्रिम लग उठता है।

तभी न जाने कहां से हमारे सामने प्लास्टिक का एक दस्तरख्वान बिछ गया और अगले ही क्षण उस पर चाय की ट्रे और चार तश्तरियों में जलपान आ गया। मैं दंग था। दद्दा ने न कुछ पूछा था, न कुछ कहा-सुना था, न कोई इशारा ही किया था। फिर यह क्या जादू था? सच्ची व्यवस्था वही है जो अनायास हो। जलपान की यह अनायासता बहुत-कुछ वैसी ही थी जैसे दद्दा की कविता में तुक होती है—सोचा नहीं कि चट-से हाजिर!

तश्तरी में एक लड्डू, एक मठरी और हरी चटनी। यह दद्दा के यहां की बंधी प्रसादी है। उसके रूप-रंग में ही नहीं उसके स्वाद में भी विशुद्ध भारतीयता है। जब बरफी भी चाकलेट की बनने लगी है, तब यह परंपरागत आहार मजे का नयापन दे उठता है। हम लोग सोच ही रहे थे ननु-नच करने की, कि हलके भैया पूछ उठे, "चीनी एक चम्मच या दो।" चम्मच उन्होंने इस तरह थाम रखी थी जैसे यज्ञ में आहुति डालते हैं।

छोटी-सी मुलाकात थी, हम लोग जल्दी ही उठ आये। मीतलजी को मथुरा की ट्रेन पकड़नी थी और नगेंद्रजी तो इसी बीच दो बार फोन भी खटका चुके थे। बड़ी सामान्य-सी घटना, ऐसी कि उसका जिक्र भी क्या! मेरे लिए उसमें कोई खास या नयी बात न थी। पर उस साधारण-सी घटना में भी कुछ असाधारणता है, इसका पता बाद में चला।

कुछ दिन बाद मथुरा से एक मित्र आये तो उन्होंने बातों ही बातों में बताया कि मीतलजी उस दर्शन को भूले नहीं हैं। बीच-बीच में याद करते रहते हैं। बिना किसी विशेष अवसर आयोजन के, बिना किसी निमंत्रण-आमंत्रण के, अचानक कहीं चार-छह साहित्यकार इकट्ठे हों, ऐसे कि कोई खास बात ही न हो, यह उन्हें बड़ी विस्मयजनक बात लगी। और जब मैंने इस बारे में सोचा तो मुझे लगा कि मीतलजी की बात ही सही है। आज वे पुरानी गोष्ठियां और संगतें सचमुच सपना बन गयी हैं। जब लिखना शुरू किया था तो प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकें देखी थीं। बड़ी नियमित, बड़ी चर्चा-भरी। पर उनमें सोद्देश्यता का ऐसा घेरा होता था कि कुछ देर बाद ही छूटने की तबीयत करती थी। फिर लखनऊ में भैयाजी (पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी) की बैठक भी देखी थी—पूरा सामंती ठाट-बाट, पान समेत, और अत्याधुनिक काल में प्रयाग की परिमल-गोष्ठियां भी, जहां हंसी के फव्वारे छूटते रहते थे, और साहित्य पर चर्चा के बजाय हर चर्चा को साहित्य बनाकर छोड़ा जाता था, पर एक तो अब ये सब मिलन-संगत कहानियां बन चुकी हैं, दूसरे दद्दा का दरबार इन सबसे निराला है।

दद्दा का दरबार

दद्दा के यहां की बैठकों को हम सब दद्दा का दरबार ही कहते हैं। कब-किसने

उसका नामकरण किया यह तो शोध का ही विषय हो सकता है।* पर चेष्टा करने पर भी उसे इससे बेहतर नाम नहीं दिया जा सकता। राज्यसभा का अधिवेशन प्रारंभ होते ही यह दरबार चालू होता है और दद्दा के चिरगांव लौटने तक रोज नियम से लगता है। बचपन में मैं प्रतिवर्ष वृंदावन में रथ का मेला देखा करता था। मंदिर से ठाकुरजी की सवारी चलकर उपवन तक जाती थी, और फिर लौट जाती थी। लगभग एक मील की उस यात्रा में तीन-चार घंटे लग जाते थे। मंदिर में दर्शन करने तो विरले भक्त ही जाते थे पर मेले में भीड़ ऐसी कि कोई पांच वर्ष का बालक लोगों के कंधों पर चलता-चलता पूरा मैदान पार कर सकता था, जमीन पर पैर रखे बिना। यही हाल दद्दा का है। चिरगांव के मंदिर में उनके दर्शन करने तो विरला भाग्यवान ही जा पाता है, पर दिल्ली में उनका दरबार मेला ही समझिए। हममें से शायद ही कोई गिनकर कह सके कि वह कितनी बार दद्दा के यहां हो आया है। और जो नहीं हो आया है, उसके लिए क्या कहूं! उसकी तुक तो दद्दा ही लगा पायेंगे।

तो दद्दा का दरबार खुला दरबार है। विजिटिंग कार्ड या इत्तिला देने की कोई झंझट नहीं। दरवाजे से भीतर प्रवेश कीजिए और दद्दा को प्रणाम कर गद्दी पर बैठ जाइए। पर प्रणाम करने में जरा फुर्ती से काम लीजिए, कहीं ऐसा न हो कि आपके पहले दद्दा ही आपको प्रणाम कर बैठें, और बैठने को कुर्सी की ओर संकेत करें। मेरा ख्याल है (पूछने का साहस नहीं हुआ) कि कुर्सियां सूटेड-बूटेड लोगों के लिए हैं। पर मैं पैंटधारी होते हुए भी कभी उन पर बैठने की चाह न कर सका। दिल्ली में ही एक और पूज्य साहित्यकार हैं जिन्होंने लिख रखा है 'यह भारतीय घर है, यहां जूते उतारकर आइए।' पर दद्दा को यह लिखने की भी जरूरत न पड़ी। उनके दरवाजे पर पहुंचते ही अपने आप पैरों से जूते निकल जाते हैं। और दद्दा के साथ गद्दी पर बैठना इतना आकर्षक लगता है कि कभी-कभी लोगों को अजीब-अजीब आसनों की कसरत करनी पड़ जाती है। फिर भी कुर्सी पर कौन बैठे!

अगर आप दद्दा के पास यह सोचकर गये हैं कि वे कविता सुनायेंगे या साहित्य-चर्चा छेड़ेंगे या किसी गंभीर विषय पर प्रवचन देंगे, तो आप बड़े भ्रम में हैं। साहित्य की चर्चा तो वहां इतनी निरर्थक लगने लगती है कि होती ही नहीं। आप कोई पुस्तक भेंट करने गये हों तो भी शायद उसे बैग में धरे-धरे ही वापस ले आयें। नहीं, दद्दा साहित्य की दीवार खड़ी नहीं करते। जो लोग करते हैं, वे सस्ते यश के कामी होते हैं, और दद्दा की मान्यता है कि साहित्यिक यश लिया-दिया नहीं जाता, वह तो मिलता है। (लिया-दिया वह नहीं, मात्र वह ग्रहण किया जाता है : दिनकर) दद्दा तो सीधे आपसे, आपके सुख-दुख से मिलना चाहते हैं। यों, दद्दा के दरबार में जैसे हर किसी को आने की छूट है, वैसे ही हर विषय को—बात अप्रासंगिक हो तो और भी बेहतर। आप मुक्त

---

* 'धर्मयुग' में यह आलेख प्रकाशित होने पर श्री रायकृष्णदास ने मुझे बताया कि यह नाम उन्हीं की सूझ थी।

मन से कहते जाइए, दद्दा मुक्तकर्ण होकर सुनेंगे और उनका मुक्त-हृदय उनकी आंखों में झलक आयेगा। दद्दा ज्यादातर सुनते ही हैं, कहते नहीं। पर सुन रहे हैं इसका प्रमाण बड़े जोर से देते हैं। आपकी मामूली से मामूली और फालतू से फालतू बात में भी कोई हंसी की संधि निकाल लेंगे और फिर वह कहकहा कि आपकी सारी दूरी गायब हो जायेगी। पर एक सलाह देता हूं। दद्दा से कोई ऐसी बात न कहिए, जो न कहने की हो। दद्दा भेद रखने में विश्वास नहीं रखते। आपने बात कही और चार दिन बाद अचानक रास्ते चलते कोई बंधु आपको उसे अविकल रूप से सुना देंगे। इसीलिए दद्दा का दरबार चाहे खुला हो, पर उसमें खुल वे ही पाते हैं जिनका हृदय उन्हीं की भांति निष्कलुष हो। उनके दरबार में जो चुप रहे, उसे मैं आत्म-निरीक्षण की सलाह दूंगा।

यह खुलापन ही सच्ची सहानुभूति है। नयी दिल्ली की कृत्रिम जिंदगी में आपने जो कुछ गांठें समेट ली हों, उन्हें यहां उघार डालिए, संवेदना तो कहते-कहते ही मिल जायेगी, कुछ व्यावहारिक सहायता की जरूरत हुई तो वह भी आपको बिन मांगे पहुंच जायेगी। मेरे मित्र श्री क्षेमचंद्र सुमन ने ऐसी कई घटनाएं मुझे सुनायी हैं जब दद्दा की सूक्ष्मदर्शी उदारता ने अप्रस्तुत प्राप्तार्थी को चकित कर दिया है। उनका उल्लेख इस रेखांकन को न जाने कहां ले जायेगा! पर हममें से शायद ही कोई हो जो उससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित न हो। जो उनके पास आया है वह उनका है, मानो उनके परिवार का सदस्य हो। उसका दुख-सुख उनका है, वे उसमें भाग बंटाने को आपसे भी ज्यादा तत्पर मिलेंगे। यह तत्परता ओढ़ी हुई नहीं है, उनके स्वभाव का अंग है; वह ऊंचे-नीचे साहित्यकार तो क्या, साहित्यकार-असाहित्यकार में भी भेद नहीं करती। इसलिए अपने मन का बोझ उनके पास उतार दीजिए, दद्दा सब सहते हैं, और सो भी ऐसे कि आनंद पाते हों।

अनौपचारिक कंट्रोल-रूम

इसीलिए दद्दा का दरबार एक अनौपचारिक कंट्रोल-रूम है। शहर-भर के समाचार वहां आते और वितरित होते रहते हैं। दूर-दूर फैली यह राजनगरी जिसके अंग-प्रत्यंगों के बीच में डी. टी. यू. की मुर्दार धुएंदार बसों के अलावा निजी कार ही एकमात्र गति है, अपनी हलचल यहां सहज ही प्रतिबिंबित पाती है। आप शक्तिनगर में रहते हैं, आकाशवाणी के काम से नगर में कोई प्रसिद्ध साहित्यकार आये हैं, आप उनसे मिलना चाहते हैं, कहां मिलें? दद्दा के दरबार में पहुंचिए, बहुत संभव है कि वे आपसे भी पहले वहां पहुंच चुके हों। कम-से-कम उनका अता-पता तो वहां मिल ही जायेगा। क्योंकि वहां सदा ऐसी संगत मिलेगी, जैसी पोस्ट-ऑफिस में डाकियों की होती है। सारी सूचना तुरंत हाजिर। और अगर दुर्भाग्य से आप वहां तक जाने में भी मजबूर हों तो फोन खड़का दीजिए। राज्यसभा की सदस्यता से दद्दा को जितनी भी सुविधायें मिली हैं उनमें से इसी का उपयोग वे सहज स्वीकार करते हैं। उनका फ्लैट तो

ऐसा ही साफ और सूना रहता है जैसे किसी मंदिर का प्रकोष्ठ।

दद्दा का नयी दिल्ली प्रवास सचमुच एक तीर्थ है। एक-दो नहीं, न जाने कितनी धारायें वहां आकर मिलती हैं और उसे शीतल और पवित्र संगम का रूप दे देती हैं। दद्दा स्वयं उसमें सरस्वती की भांति बहुधा प्रच्छन्न मौन ही रहते हैं। पर उनके बिना उस संगम का कोई अस्तित्व संभव नहीं। वे राष्ट्रकवि हैं, राष्ट्र को उन्होंने वाणी दी है। यह उपाधि भी उनको अनायास और न जाने कब-किससे मिली है पर इसे भी जैसे वह औरों पर ही लुटा देते हैं, अपने पास नहीं रखते। उनके पास तो बस एक भागवत हृदय है, परम आस्थावान, निष्ठा-मूर्ति, जो अनुभव और संयम से इतना मंज चुका है कि नदी की धारा की तरह अक्षुण्ण, उन्मुक्त और संगीतमय बन चुका है। उनसे आशीर्वाद मांगना नहीं पड़ता, उनके दर्शन करते ही वह अपने आप मिल जाता है।

सच्ची भारतीयता

दद्दा के मुख पर ही नहीं, उनके आस-पास भी भारतीयता का एक प्रभा-मंडल दिखायी पड़ता है, ऐसा जिसे अंग्रेजी में 'हैलो' कहते हैं। अक्सर हम भारतीयता का अर्थ प्राचीनता, अनाधुनिकता और कट्टर रूढ़िवादिता समझते हैं। पर दद्दा के आसपास जो भारतीयता है, वह सच्ची भारतीयता है। वह भारतीयता जो सेतु है। समझौता और सामंजस्य उसे न कहूंगा—इन शब्दों में सप्रयासता की गंध है, जो गुप्तजी के व्यक्तित्व से कोसों दूर है। वे तो मिलन-पथ हैं, भिन्नों को अभिन्न रूप देते हुए और उसी मिलन-रूप में अनुक्षण-स्थित। वे पूर्व और पश्चिम के, प्राचीन और नवीन के, ग्राम और नगर के, साहित्य और जीवन के—और न जाने कितने पृथक-पृथक तत्वों के मिलन-सेतु हैं। विचारधाराएं, साहित्य धाराएं, मन की कुंठाएं और प्रीति-वैर सब वहां पहुंचकर अपनी निष्पत्ति पा जाते हैं। वे कवि हैं पर आदर्श गृहस्थ भी हैं, वे उदार हैं पर व्यवसाय में नहीं चूकते, कल्पना उनका परिचित लोक है, पर मशीन को समझते-सराहते हैं। उन्होंने आज तक न जाने कितने बोझ उठाये हैं पर उनकी निर्मल हंसी में फूलों का भी बोझ नहीं है—वह तो एक छींट है सच्ची भारतीयता की, सो भी उस नयी दिल्ली में जहां की ठोस ऊंची दीवारें और लंबी-काली सूनी सड़कें रस का नाम भी नहीं जानतीं।

[रचनाकाल 1963, 'धर्मयुग' 1963 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

राव साहब और रामायण-पाठ

बात सन् 1954 के आस-पास की है जब हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि और लेखक श्री बालकृष्ण राव आल इंडिया रेडियो के महासंचालक पद से निवृत होकर प्रयाग में आकर बस गये थे। संयोग से उन्होंने रहने के लिए टैगोर टाउन में इंडियन प्रेस द्वारा बनाये गये बंगलो में से एक बंगला किराये पर लिया था। उन्हीं बंगलों के पिछवाड़े एक छोटी-सी कुटिया में मैं भी रहता था। राव साहब के बंगले और मेरी कुटिया के बीच केवल एक ही बंगला और था। उन्हें अपने इतने निकट पाकर उनकी संगति का लाभ उठाने से मैं कैसे चूक सकता था। अतएव प्रायः नित्य ही उनके घर पर मैं बैठक जमाने लगा।

तभी एक दिन शाम को जब मैं राव साहब के यहां चाय पी रहा था, बातों-बातों में राव साहब ने कहा : " 'इंडिया' (राव साहब मुझे इसी अनूदित नाम से पुकारते हैं) तुम्हारे पड़ोस में कोई रामायण-पाठी रहता है जो रोज रात को दस बजे के बाद बड़े ही बेसुरे ढंग से रामायण पढ़ता रहता है। क्या तुमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया?"

मैं कुछ सहमा, फिर बोला, "नहीं, मैंने तो कभी नहीं सुना!"

राव साहब : "यह तो आश्चर्य की बात है। वह तो बड़े ही बेसुरे ढंग से गाता है और बड़े ही जोर से गाता है। अगर तुम घर में रहते हो तो यह हो ही नहीं सकता कि वह तुम्हारे कानों में न पड़े और तुम्हें रामचरितमानस के प्रति इस अन्याय से क्रोध न आये।"

पर मैं सिवाय अज्ञान दिखाने के और कुछ न कह सका।

इस घटना के लगभग दस दिन बाद जब मैं फिर राव साहब के पास बैठा चाय पी रहा था तो मैंने उनसे पूछा : "क्या अब भी आपको वह बेसुरा रामायण-पाठ सुनायी पड़ता है?"

इतना पूछना था कि उमाजी (श्रीमती उमा राव) तपाक के बोलीं : "अरे, उसको इधर कई दिनों से नहीं सुना। मेरा तो ख्याल है कि जिस दिन तुमसे चर्चा हुई थी उसके बाद सुनायी ही नहीं पड़ा।"

यह सुनते ही बिंदुजी बड़े जोर से हंसीं।

राव साहब ने पूछा : "इसमें हंसने की क्या बात है?"

मैंने बीच में ही प्रश्न लपक लिया और कहा : "असल में वे इस संयोग पर हंस रही हैं कि जब से आपने मुझसे इस बात की चर्चा की तभी से उस भले आदमी ने रामायण-पाठ बंद कर दिया।"

अगर इस संस्मरण पर राव साहब की नजर पड़ेगी तो उन्हें पहली बार यह पता चलेगा कि वह रामायण-पाठी और कोई नहीं मैं ही था।

[रचनाकाल 1964, 'धर्मयुग' सितंबर 1964 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

लेखक? नहीं, नहीं

नयी दिल्ली
नववर्ष दिवस, 1964

प्रिय राजेंद्र,

कल तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर इतना कष्ट हुआ कि क्या बताऊं। रात-भर नींद नहीं आयी। करवटें बदलते-बदलते ही सवेरा हो गया। यही सोचता रहा कि स्वर्गीय भाई साहब (यानी तुम्हारे पिताजी) को कैसे मुंह दिखाऊंगा। भैया, यह तुमने क्या ठान ली है? इतना धन और परिश्रम खर्च करने के बाद तो तुम इतनी शिक्षा पा सके हो, और अब तुम कहते हो कि तुम कवि बनोगे? लेखक बनोगे? मैं पूछता हूं कि तुम्हें कवि या लेखक ही बनना था तो तुमने अपने पिताजी की जोड़ी हुई यह सम्पत्ति अपनी शिक्षा में क्यों खर्च की? कवि या लेखक बनने के लिए पढ़ने की क्या जरूरत थी? मैंने तो सुना है कि शेक्सपियर, गालिब, टैगोर किसी यूनिवर्सिटी में नहीं पढ़े थे। तुमने लिखा है कि तुम बचपन में ही तय कर चुके थे कि कवि बनोगे। अगर तुमने यह बात पहले ही बता दी होती तो मैं कम-से-कम भाई साहब की संपत्ति तो बचा ही लेता, चाहे तुम्हें न रोक पाता। पर अब तो उसका समय हाथ से निकल चुका है।

नहीं, मैं तुम्हें लेखक नहीं बनने दूंगा। मैं तुमसे आग्रह करता हूं कि तुम यह विचार अपने मन से सदा के लिये निकाल दो। लेखक कोई बनता नहीं, उसे तो भगवान ही बनाता है। मैं तो बचपन से यही सुनता आया हूं। कालिदास, तुलसीदास कोई अपने आप नहीं बने थे, उन्हें भगवान ने बनाया था। हां, आजकल के कवि अपने आप बने हैं, और बनते फिरते हैं। उनकी दुर्दशा भला किससे छिपी है! बेचारे कवि-सम्मेलनों के संयोजकों और साप्ताहिक पत्रों के संपादकों की खुशामद करते रहते हैं। फिर भी मुझे तो कोई खुशहाल नजर नहीं आता। गांठ की जमा-पूंजी खर्च कर यह बेकारी का धंधा अपनाने का विचार तुम्हारा कैसे हो सकता है—मेरी तो बिलकुल भी समझ में नहीं आता।

क्या तुम नहीं जानते कि आजकल के लेखकों की सारी जिंदगी भुकमरी और कटेहाली में ही गुजरती है। बहुतों की हालत तो इतनी खराब रहती है कि न घर-गृहस्थी जमा पाते हैं न शादी ही कर पाते हैं। और शादी के बिना तो जिंदगी पूरी बरबादी ही है।

शायद तुम यह सोचते होंगे कि तुम लेखक बनोगे तो ढेरों किताबें लिखोगे, खूब नाम कमाओगे। इस फेर में मत रहना। आजकल किताबें कौन पढ़ता है? है किसी को इतनी फुरसत? गृहस्थी के कोल्हू में पिसते-पिसते ही प्राण निकल जातें हैं—किताबें पढ़ने का समय कहां से आये? हां, कभी-कभार मन हुआ तो लोग सिनेमा जरूर देखते हैं। पर मैंने यह भी सुना है कि सिनेमा में गीत को छोड़कर और किसी काम के लिए लेखक की जरूरत नहीं पड़ती। और फिलहाल सिनेमा के लिए गीत-लेखकों की संख्या इतनी अधिक है कि अगले बीस साल तक तो मुझे तुम्हारे लिए कोई गुंजाइश नजर नहीं आती।

रही नाम की बात। तो एक तो, जितना नाम नेताओं, ऐक्टरों और खिलाड़ियों को मिलता है आजकल उतना नाम मैंने किसी भी लेखक को मिलते नहीं देखा। दो-तीन साल की बात है। अचानक पता चला कि हिंदी का कोई बहुत बड़ा लेखक मर गया है। अजीब-सा नाम था—हां, याद आया : निराला। खैर, वे जरूर बड़े रहे होंगे, हालांकि मैंने पहले तो उनका नाम कभी सुना न था। उनके लिए शोक-सभा हुई। तो मैंने देखा कि शोक-सभा की अध्यक्षता कोई लेखक नहीं एक नेता ही कर रहे हैं। बोलो, अब कौन बड़ा हुआ—लेखक कि नेता? सभा में पता चला कि उनकी मृत्यु बड़े दुख में हुई, ठीक से उनका इलाज भी न हो सका। मैंने पास बैठे एक सज्जन से कान में कहा : बड़े लेखक थे फिर उन्हें क्या कमी रही होगी, खूब पैसा मिलता रहा होगा किताबों से। बोले : बड़े लेखक तो थे, पर उनकी किताबें कोई नहीं पढ़ता था। मैंने पूछा : क्यों? बोले : वे कोर्स में नहीं थीं, कोर्स में तो पुराने लेखकों की ही किताबें लगायी जाती हैं। मैंने तभी समझ लिया कि लेखक बनना बड़ी भारी मूर्खता है। पर आश्चर्य है कि ये सब बातें जानते हुए भी तुम लेखक बनने की ठाने हुए हो।

इसलिए राजेंद्र, मेरे कहने से तुम यह मनहूस ख्याल अपने मन से फौरन निकाल दो। मैं तो कहता हूं, तुम नेता बनो, नेता। उसमें हर तरह से आराम है। नाम-सम्मान की कोई कमी नहीं, पूरा ठाठ-बाट, और काम सिर्फ भाषण देना। सो भी सिर्फ यह बताना कि दूसरे लोग क्या करें। और इसमें भला क्या मुश्किल है। दूसरे क्या करें यह तो मैं भी बता सकता हूं, हालांकि मैं मैट्रिक फेल हूं।

हो सकता है, तुम कहो कि तुम्हें भाषण देना नहीं आता, भाषण भी एक कला है वगैरह, वगैरह। खैर, वह जैसी कला है सो तो मैं खूब जानता हूं, पर हां, तुम बचपन से ही दब्बू रहे हो और शायद जनता की भीड़ के सामने तुम्हारी घिग्घी बंध जाये। वैसे भी नेता बनने में टाइम लगता है। शुरू में बहुत-सा रुपया भी खर्चना पड़ता है, और आखिर में फेल होने का भी चांस

नेता को गोली मारो, तुम तो अफसर बन जाओ। शान
रहता है। इसलिए, नेता को गोली मारो, तुम तो अफसर बन जाओ। शान
से एम. ए. पास करो और फिर कोई ऊंची-सी पोस्ट मार दो। बस, फिर पौ
बारह है। पक्का काम, पक्का धंधा—कोई भाग-दौड़ नहीं, कोई झंझट नहीं। जिधर
निकल जाओगे, लोग सलाम झुकाएंगे, तलवे सहलायेंगे, जी-हुजूरी करेंगे। गर्मियों
में पहाड़ों की सैर करोगे, बच्चे कार में बैठकर स्कूल जायेंगे और तुम्हारी पत्नी
सारे सांस्कृतिक समारोहों की लीडर बन सकेगी। जरा सोचकर तो देखो, अफसर
से बड़ा और कोई क्या हो सकता है। मौके पर तो नेता तक को उसके आगे
झुकना पड़ता है। और यह मत समझना कि सिर्फ बंधी तनख्वाह पर ही गुजारा
करना पड़ेगा। अरे नहीं, अफसरी में ऊपरी आमदनी के हजारों जरिए हैं—
थोड़ी-सी चतुराई चाहिए। पर उसकी फिक्र न करना—वह तो देखते-देखते अपने
आप आ जाती है।

हां, एक बात जरूर है, अफसर को कभी-कभी डांट-फटकार भी सहनी पड़ती है। मेरा अपना तजुर्बा है कि बड़े से बड़े अफसर बिचारे इसीलिए सिटपिटाये-से रहते हैं। तो फिर एक काम करो—तुम प्राध्यापक बन जाओ। उसमें किसी की डांट-फटकार का डर नहीं। प्राध्यापक तो अपने काम का बादशाह होता है। तुम्हें याद नहीं, बादशाह शाहजहां ने भी सब काम छोड़कर यही काम पसंद किया था। जो कुछ तुमने पढ़ा-लिखा है उसके बल पर विद्यार्थियों पर खूब रौब जमा सकते हो—किसी की मजाल नहीं कि तुम्हारी बात काट दे। और कोई काटने भी लगे तो फौरन घुड़क दो। उसमें अनुशासन की कमी बताओ, उसे समाज का शत्रु सिद्ध करो, लोगों को पथभ्रष्ट करने वाला घोषित कर दो। सब तुम्हारे पांडित्य का लोहा मान जायेंगे। यही नहीं, प्राध्यापकी में नेता का-सा सम्मान है, अफसर की-सी शान है, और लेखक का-सा अभिमान है। अरे, लेखकों को तो वह खुद बनाता है। जिस विद्यार्थी पर तुम हाथ रख दोगे वही लेखक हो जायेगा। जिस दिन तुम प्राध्यापक बनोगे—समझ लो उसी दिन तुम आलोचक हो गये। तुम चाहो तो लेखकों से पानी भरवा लेना। एक नया वाद चला देना। न जाने कहां-कहां तक तुम्हारी पहुंच होगी, ऐसी शायद ही कोई कमेटी हो जिसके तुम मेम्बर न बनो। रुपये की तो तुम पर वर्षा होने लगेगी—पर्चे बनाने के रुपये, कापियां जांचने के रुपये, भाषण देने के रुपये, क्लास के नोट्स निबंध की शक्ल में छपाने के रुपये। यही नहीं, तुम अपने मित्रों-संबंधियों को भी मालामाल कर दोगे। तुम चाहोगे तभी किसी को पुरस्कार मिलेगा, किताब चाहे जितनी अच्छी हो। तुम चाहोगे तभी कोई किताब कोर्स में लगेगी। अनुवाद का काम भी तुमसे पूछकर दिया जायेगा। लेखक तो रात-दिन तुम्हारे सामने हाथ बांधे खड़े रहेंगे। चाहो तो अभिनंदन ग्रंथ लिखवाना, चाहे जीवनी।

पत्र बहुत लंबा हो गया है। मैं तो अभी और लिखना चाह रहा था, पर तुम्हारा उत्तर पाने पर लिखूंगा। हो सकता है तुम्हें मेरी बात जंच जाये। तब फिर क्यों व्यर्थ ही मेहनत करूं। हां, इतना जरूर कहूंगा कि मैं कविता या लेखन के खिलाफ नहीं हूं। वह तुम करते रहो। लिखने की 'हौबी' बहुत-सी

हौबियों-से अच्छी है। पर भैया, भगवान के लिए पहले एक अच्छे से धंधे में जम लो, फिर कविता लिखते रहना। उसके लिए तो सारी उम्र पड़ी है। पर अभी से इसी में जुट गये तो तुम्हारा भविष्य ही चौपट हो जायेगा। इसका ख्याल रखना। मैंने दुनिया देखी है—यहां फिसड्डी का कोई साथ नहीं देता। साहित्य तभी तक अच्छा है जब तक उसकी सेवा करो—अगर तुमने उसे धंधा बनाया तो कहीं के न रहोगे, यह याद रखना।

अपना निश्चय फौरन लिखना।

—तुम्हारा शुभचिंतक चाचा

[रचनाकाल 1964, 'सरिता' 1964 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

खबरदार, निमंत्रण-पत्र भेज दूंगा!

आई-122, जंगपुरा एक्स्टेंशन
नयी दिल्ली-14
29-6-63

प्रिय बरसे,

इस बार जब कनाट प्लेस में तुमसे भेंट हुई तो बड़ा आनंद रहा। बस, एक ही बात कसकी कि तुम रेडियो ब्राडकास्ट के लिए जाने की जल्दी में थे, और मैं अपने अंतिम वाक्य का मर्म न समझा सका। यों, तुम सिर्फ हास्यरस के डाक्टर ही नहीं हो, सचमुच में हास्य-रस के सफल लेखक भी हो, और इसलिए मेरे उस अंतिम वाक्य का रहस्य जाने बिना भी हंस पड़े थे, जैसा कि एक मित्र को उस मित्र के विनोद पर करना ही चाहिए। क्योंकि बात लंबी थी और व्याख्या के लिए तुम्हारे पास समय न था, इसलिए उस समय मैं भी तुम्हारे प्रति-हास्य से कृतज्ञ होकर ही रह गया। पर हो सकता है, बाद में तुमने यह सोचा हो कि मैं हास्य-वचन कहने में कमजोर हूं, और तुम्हे विवश होकर ऐसी बातों पर भी शिष्टाचार निभाने के नाते—हंसना पड़ता है जिनमें हंसी का कोई पुट नहीं होता—इसलिए यह गलत धारणा दूर करने के लिए एक पत्र आवश्यक हो गया है। इसीलिए लिख रहा हूं।

बात कुछ दिनों पहले की है। एक दिन बड़े सवेरे एक ट्रंक काल ने मुझे जगाया। झुंझलाते हुए उठकर ज्यों ही मैंने 'हैलो' किया, त्यों ही मालूम पड़ा कि मथुरा से कोई बालसखा बोल रहे हैं। (उनका नाम जान-बूझकर छुपा रहा हूं, नहीं तो तुम जाकर उनसे लड़ दोगे)। बचपन में हम दोनों साथ-साथ अंताक्षरी प्रतियोगिता में भाग लेते थे। पर अब वे व्यापार की प्रतियोगिता में काफी आगे निकल चुके हैं, और मैं काव्य की प्रतियोगिता में ऐसा पिछड़ा हूं कि आज तक किसी प्रकाशक ने मेरा काव्य-संग्रह नहीं छापा, सब खुद ही छपाने पड़े हैं (संतोष केवल यह है कि जो कविता-संग्रह प्रकाशकों द्वारा छपे हैं उनमें

से बहुतेरे—ऐसा सुना है—वास्तव में कवियों के ही छापे हुए हैं—और थोड़े-बहुत घूस में भी छपें हैं। तुम पूछोगे, घूस में कैसे? पर मित्र इसकी व्याख्या करूंगा तो यह पत्र भूमिका-बहुल हो जायेगा, अतः इस वाक्य की व्याख्या फिर कभी करूंगा) तो उन बाल-बंधु ने बताया कि उनकी सुपुत्री का विवाह होनेवाला है और मुझे उसमें सपरिवार सम्मिलित होकर उन पर अनुकंपा करनी है। मथुरा की यात्रा मेरे लिए एक पंथ दो काज ही नहीं, एक पंथ छः काज होती है, अतः मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन उसी अभागे क्षण पर फिर उनका फोन आया। बोले : "निमंत्रण मिला?" मैंने कहा : "हां, कल ही तो तुमने निमंत्रण दिया था, क्या भूल गये?" वे बोले : "अरे, सो तो ठीक है, वह तो तुम आ ही रहे हो। मैं तो निमंत्रण-पत्रिका की पूछ रहा हूं। खैर, आती होगी।" कहकर उन्होंने फोन बंद कर दिया।

तीसरे दिन फिर घंटी टनटनायी। मैं प्रत्यूष की नींद का मजा ले रहा था। सोचा, टाल जाओ। पर जब श्रीमतीजी ने आकर बताया कि मथुरा से फोन है और वे मुझी से बात करना चाहते हैं, तब उठना ही पड़ा।

छूटते ही बालसखा बोले : "पत्रिका मिली?" मैंने कुछ खीझते ही कहा · "अरे यार, गोली मारो पत्रिका को। कहीं डाक में इधर-उधर हो गयी होगी। हम लोग तो आ ही रहे हैं। फिर चिंता किस बात की?"

पर मित्र को संतोष नहीं हुआ। कहने लगे : "यह तुमने एक ही कही। वह पत्रिका डाक में खोनेवाली नहीं है। पहुंचेगी जरूर। देखकर बताना, कैसी लगी।" मैंने झल्लाहट में हा-हूं करके बात खत्म कर दी।

दोपहर को दफ्तर में पोस्टमैन आया, एक इंटीमेशन (सूचना-पत्र) लेकर। कहने लगा : "आपकी एक पार्सल आई हुई है, किसी को भेजकर मंगवा लीजिए।" मैं पहले तो सोचता रहा कि न मालूम क्या चीज है, किसने भेजी है; फिर ख्याल आया कि पिछली बार कलकत्ते में काका के घर कुछ किताबें भूल आया था, शायद वे ही होंगी। उन्होंने लिखा भी था कि पार्सल से भेज रहे हैं। मैंने इंटीमेशन पर दस्तखत करके अपने चपरासी को भेजा कि पार्सल ले आये।

करीब एक घंटे बाद चपरासी का फोन आया, "साहब, एक चपरासी और भेज दीजिए, मुझ अकेले से नहीं उठेगी।"

मैं ताज्जुब में पड़ा : ऐसा भी क्या पार्सल। पर फोन पर जिरह करना ठीक न था, कहा : "यहां, और कोई चपरासी नहीं है, तुम कोई टैक्सी कर लो, और उसे घर छोड़ आओ।"

जवाब में चपरासी की बेसाख्ता हंसी सुनकर मुझे बड़ा ताव आया, पर मैं कुछ बोलूं उसके पहले ही उसने यह कहते हुए फोन बंद कर दिया कि "अच्छी बात है, मैं कोई इंतजाम कर लूंगा।"

शाम को घर पहुंचा तो देखा कि घर के बाहर लान में इतनी भीड़ जमा है मानो मुहल्ले-भर के स्त्री-पुरुष और बच्चे वहां इकट्ठे हो गये हों। मैं घबराया कि माजरा क्या है। लपक कर भीड़ को चीरता जब मैं अंदर दाखिल

हुआ तो उस अद्भुत दृश्य को देखकर सन्न रह. गया।

लान में बंगले की दीवार के सहारे एक महाकाय साइन-बोर्ड रक्खा था, जैसा बड़े-बड़े रास्तों पर बड़ी-बड़ी कंपनियां लगाती हैं। साइन-बोर्ड के एक सिरे पर मोटे-मोटे अक्षरों मे लिखा था : शुभ-विवाह। और दूसरी ओर एक भारतीय कन्या एक भारतीय वर को वरमाला पहनाती दिखायी गयी थी।

बालसखा की भेजी हुई निमंत्रण-पत्रिका थी वह।

मैं अभी इस धक्के से उबर भी न पाया था कि श्रीमतीजी ने कहा : "चपरासी को ट्रक करनी पड़ी इसके लिए 25 रुपये ले गया है।"

अपनी उस समय की दशा का अब तुमसे क्या वर्णन करूं! मन में आया कि तुरंत मथुरा ट्रंककाल करके बच्चू को ऐसी सुनाऊं कि जिंदगी-भर याद करे। पर फिर रह गया, सोचा, पच्चीस तो खर्च हो ही गये हैं, और क्यों बिगाड़े जायें।

एक हफ्ते तक हमारे घर मेला लगा रहा। दूर-दूर तक लोगों में खबर फैल गयी कि हमारे यहां एक ऐसी निमंत्रण-पत्रिका आयी है जो न किसी ने देखी, न सुनी। टेलीफोन पर उसका वर्णन करते-करते मेरा मुंह दुख गया। आकाशवाणी में रनिंग कमेंट्री (धारावाहिक वर्णन) की कुछ प्रैक्टिस की थी, वह बड़े काम आयी, वरना मैं शायद बेहोश ही हो जाता।

वैसे शादी में शामिल होने का मेरा कोई खास इरादा नहीं था, पर ऐसी निमंत्रण-पत्रिका पाकर कैसे रुकता। और कुछ नहीं तो, उन्हें जरा अपनी हालत तो बतानी ही थी।

पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि मेरी सारी मुसीबत की कहानी को बड़े रस के साथ सुनने के बाद मेरे बालसखा ने तृप्ति की मुस्कान झलकायी। बोले : "तब मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया।"

मैंने चौंककर पूछा : "क्या मतलब?"

"मतलब यह" वह बाल-बंधु बोले : "तुम तो जानते ही हो, लड़की की शादी हम लोगों में कितनी स्मरणीय घटना होती है। एक-एक शादी की चर्चा पीढ़ियों तक होती है। आज बरसों से मैं धन इकट्ठा कर रहा था, इस दिन के लिए। सोचा था, मुन्नी की शादी इतनी धूम-धाम के करूंगा कि लोग दंग रह जायें। पर बुरा हो इस जमाने का। आधुनिकता की झोंके में सारे पुराने रीति-रिवाज मिटा दिये। और तो और, दहेज भी गैर-कानूनी हो गया। तब सोचा कि कम-से-कम दावत तो लाजवाब कर दूं। सो भैया, इधर चीनी पर कंट्रोल है, उधर बिजली की सप्लाई पर। धूम-धाम हो तो कैसे? तिस पर, जब से चीनी संकट आया है, देश में रिश्वतखोरी एकदम बंद हो गयी है। काफी भाग-दौड़ की, पर कोई नतीजा न निकला। हारकर सोचा, निमंत्रण-पत्रिका पर तो कोई रोक है नहीं। उसी को ऐसा बनाया जाये कि सब देखते रह जायें। और मेरा ख्याल है, मेरी यह स्कीम सफल रही। लोगों का कहना है कि इस निमंत्रण-पत्रिका को वे जनम-भर नहीं भूल सकते।"

मैं क्या कह सकता था!

तो भाई, अब तुम समझ गये होंगे कि जब मैंने तुमसे उस दिन कनाट प्लेस में कहा था कि अगली बार आओ तो मेरे यहां ठहरना, नहीं तो निमंत्रण-पत्र भेंज दूंगा—तो इस वाक्य में हंसी की बात क्या थी!

इन पंक्तियों को पढ़कर तुम जो हंसी हंस रहे हो वह मैंने उस दिन के मजाक के खाते में जोड़ दी है, क्योंकि तुम जानते हो कि किसी भी मजाक का खाता खाली रह जाये तो हमें कितना खलता है!

सस्नेही
भारतभूषण अग्रवाल

सेवा में
डा. बरसानेलाल चतुर्वेदी,
रामजी द्वार, मथुरा।

[रचनाकाल 1964, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' अप्रैल 1965 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

व्यास माने मथुरा

कहावत है : काला अक्षर भैंस बराबर। पर जहां तक व्यासजी का संबंध है, उन्हें भैंस काले अक्षर के बराबर नहीं, सोने के अक्षर के बराबर सिद्ध हुई है। आज व्यासजी का नाम सबसे अधिक हास्य-रचना के क्षेत्र में ही लिया जाता है, और व्यासजी को अपनी हास्य-रचना की प्रेरणा एक भैंस ने ही दी थी। पर इसमें मैं भैंस को कोई विशेष श्रेय नहीं दे सकता। यह व्यासजी की ही प्रतिभा थी जो उन्होंने भैंस से भी कविता प्राप्त कर ली—औरों को तो उससे सिर्फ दूध ही मिला।

इस कविता की पहली पंक्ति है : वह बाबूजी की डबल भैंस (कविता मुक्त छंद में थी, और यह शोध का महत्त्वपूर्ण विषय है कि मुक्त छंद से प्रारंभ करने पर भी व्यासजी बाद में पुरानी चाल की कविता क्यों लिखने लग गये, जरा और जोर मारते तो किसी-न-किसी सप्तक में समा ही सकते थे)। यह भैंस बाबूजी की थी—यानी स्वर्गीय श्रद्धेय बाबू गुलाबराय की। महेंद्रजी ने तो व्यासजी को 'साहित्य-संदेश' की संपादकी दी थी (जो उन्होंने कुछ ही समय बाद त्याग दी) पर बाबूजी की भैंस ने उन्हें कविता दी थी (जो उन्होंने आज तक नहीं छोड़ी), पर इसको भी मैं व्यासजी की प्रतिभा ही मानता हूं, भैंस का प्रताप नहीं।

ये दोनों घटनायें आगरा की हैं जिससे व्यासजी का लगाव बाद में हुआ, वय प्राप्त करने पर। व्यासजी की जन्मभूमि तो पवित्र मथुरा धाम है जहां भगवान कृष्ण से लेकर डा. बरसानेलाल चतुर्वेदी तक न जाने कितने अनोखे व्यक्तियों ने जन्म पाया है। फिर व्यासजी ही अनोखे होने से कैसे बच पाते? उनके अनोखेपन पर उन्हीं को आश्चर्य हो सकता है जो मथुरा के प्रभाव-प्रताप से अपरिचित हों। मैं उनमें नहीं हूं। मैंने स्वयं मथुरा में ही जन्म पाया है। यह और बात है कि होश संभालने के बाद मैं घटना-चक्र में उलझकर मथुरा से ज्यों-ज्यों दूर होता गया, त्यों-त्यों व्यासजी मथुरा के निकट होते गये, यहां तक कि उन्होंने मथुरा में कई मकान बनवा लिये और ब्रज-साहित्य-मंडल के प्रधानमंत्री बन बैठे। मैंने तो उनसे कई बार कहा है कि एक ही नगर में

दो प्रधानमंत्री नहीं रहने चाहिए। पर वे राजधानी छोड़ने को तैयार ही नही होते। उनके मत में मथुरा की यात्रा करने का जो माहात्म्य है वह मथुरा निवास का नहीं है। इस बात में कुछ तत्व भी विदित होता है क्योंकि उद्धव भी मथुरा से ऊब गये थे।

इस प्रसंग मे एक और बात याद आ गयी। अक्सर मित्र पूछा करते हैं कि आगरा के उन साथ बिताये दिनों के बाद मैं अचानक कलकत्ता क्यों चला गया, व्यासजी की तरह सीधे दिल्ली क्यों न आ धमका? इस प्रश्न पर मैं अब तक चुप ही रहता आया हूं। पर लगता है, अब व्यासजी की पंचमी-पूर्ति पर यह रहस्य खोला जा सकता है। आगरा के प्रवास-काल में ही कभी व्यासजी ने रुष्ट होकर मुझे यह आगाह कर दिया था कि मैं उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप (या पदक्षेप) न करूं। उन्होंने कहा था : एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते। इसी आदेश के कारण, जब व्यासजी ने अपने लिए दिल्ली का जू चुना, तो मैं कलकत्ते के सुंदरवन की ओर चल पड़ा। यही नहीं, क्योंकि व्यासजी को कवि-सम्मेलनों मे कीर्ति-पताका लहरानी थी, इसलिए मैंने कवि-सम्मेलनों से ही किनारा कर लिया—बल्कि ऐसी कविता से ही किनारा कर लिया जो कवि-सम्मेलनों में चलती है। और क्योंकि वे हास्य की रचनाएं करते थे इसलिए मैं व्यंग्य की रचनाएं करने लगा। यह नीति बड़ी सफल रही और उससे हम दोनों का ही लाभ हुआ। आज तक कोई ऐसा प्रसंग नहीं आया, जब हम दोनों में टकराहट हुई हो। हां, आज से चार-पांच साल पहले एक बार सीहोर (म.प्र.) में यह आशंका प्रबल हो उठी थी जब एक कवि-सम्मेलन के आयोजकों ने मुझसे सलाह किये बिना ही हम दोनों को एक ही मंच पर ला बिठाया। पर मुझे तुरंत युक्ति सूझ गयी और मैंने चट से भाई गिरिजाकुमार माथुर को आगे कर दिया। व्यासजी को समझने में कुछ समय लगा, और तब तक वे माथुर साहब की ओर इशारा कर-करके 'मेरे प्यारे सुकुमार गधे' वाला अपना मास्टर पीस सुना चुके थे।

इस विवरण से पाठक सहज ही समझ लेंगे कि अत्यंत अभिन्न और अंतरंग मित्र होते हुए भी आगरा-जीवन के बाद मैं व्यासजी से दूर ही दूर रहा हूं। भगवान की इच्छा से जब मुझे दिल्ली आना पड़ा तब मन में एक हिचक और भय अवश्य था कि व्यासजी बुरा मान जायेंगे। पर यहां आकर पता लगा कि व्यासजी तो पुरानी दिल्ली में रहते हैं और मैं नयी दिल्ली में—और उनमें उतना ही असंपर्क है जितना पुरानी और नयी कविता में। सो, मन में एक प्रकार की निश्चिंतता हुई। बाद में जब व्यासजी ने मुझे लाल किले के कवि-सम्मेलन में बुलाया, मेरी पत्नी को 'हिंदुस्तान' में एक कालम लिखने को दिया और मेरी कविताएं भी छापीं तो मुझे बड़ा अचरज हुआ। पर धीरे-धीरे समझ में आ गया कि अब हम दोनों ही बूढ़े हो गये हैं, दोनों ही नख-दंत-हीन दुर्बल हैं, और समान रूप से किसी सर्कस के कटघरे में बंद हैं।

तो दिल्ली की बात तो यों है। रही आगरा की। तो उन दिनों एक ऐसी विचित्र घटना घटी कि वही याद रह गयी है, और सब भूल गयी हैं। मैंने 'साहित्य संदेश' के लिए कोई लेख लिखा था जो व्यासजी ने लौटा दिया। स्थानाभाव के कारण लौटाते तो कोई बात नहीं थी, उन्होंने बड़े भाई के ढंग पर लेख लौटा दिया था। मुझे ताव आ गया और मैंने कुछ अकथ्य कह डाला। व्यासजी ने मुझे ठोकने की धमकी दी, मुझे मूर्ख कहा, और वह शेरोंवाला वाक्य कहा जो मैं अभी आपको बता चुका हूं। मैंने तो खैर, फिर कुछ नहीं कहा पर भाई शर्मनलालजी ने इस घटना को एक मुक्त छंद में बांधा था जो कुछ इस प्रकार था :

मूर्ख कहने का अर्थ होता अपमान नहीं
ठोकने की धमकी में हिंसा का भान नहीं
कोषकार देख लें
शास्त्रकार देख लें
मूर्ख बड़ा भारत है
धन्य हैं व्यासजी
उचित हैं व्यासजी
न्याय्य हैं व्यासजी!

तो अब मथुरा ही रह जाती है। इसीलिए मेरे मन में व्यासजी का अर्थ ही मथुरा है। जब मथुरा की याद सताती है तो उनसे मिल लेता हूं और जमना-जल-सी उनकी वाणी का आनंद उठाता हूं। क्योंकि मथुरा के जीवन में व्यासजी ने जो प्रतिभा दिखायी, वह दिल्ली के परिचितों से भी अज्ञात है। व्यासजी को सारी रामायण कंठस्थ है क्योंकि रामलीला में वे सीता के स्वरूप से आरंभ कर क्रमशः लक्ष्मण, राम और हनुमान तक का स्वरूप भर चुके हैं और समस्त मथुरा नगरी को अपने चरणों पर झुका चुके हैं। ब्रज-साहित्य-मंडल और दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन के संगठन में उन्होंने जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है, उसकी झलक वे सातवें दर्जे में ही बाल-नवयुवक-क्लब की स्थापना करके दिखा चुके थे जिसकी ओर से हमने डंडेशाही निकालकर यह गीत गाया था—सन् सत्ताईस में शुरू हुई यह बी. एन. क्लब हमारी!—जिसमें नवयुवक एकमात्र व्यासजी ही थे और बाल मैं था—और जिसके पुस्तकालय में मेरी सारी पुस्तकें उन्होंने दान में ले ली थीं। व्यासजी मुझसे बड़े हैं, शुरू में वे मेरे सहपाठी नहीं थे, मुझसे आगे थे—सिर्फ दर्जा सात में ही वे मेरे साथ आये—और फिर मुझे आगे धकेलकर स्वयं उस लाइन से ही उतर गए। यही कारण है कि जब व्यासजी ने प्रथम श्रेणी में साहित्य रत्न पास किया तो मैं उनकी प्रतिभा का लोहा मान गया क्योंकि मैंने उन्हें पढ़ते कभी नहीं देखा। अपने ग्रंथ प्रकाशित करके भी उन्होंने ऐसी ही विलक्षण प्रतिभा का परिचय

दिया है क्योंकि मैंने उन्हें लिखते कभी नहीं पाया। संपादन की कला में तो उन्होंने ऐसे-ऐसे नव-पथों का निर्माण किया है कि क्या कहूं—साक्षात् नारद को वे राजनीति में उतार लाए हैं। ब्रज भाषा में जितने कवित्त-सवैये उन्हें याद हैं, उतने अभी प्रकाशित भी नहीं हुए। ऐसे प्रतिभा-संपन्न, अग्रज और मित्र मथुरावासी को आज यों सम्मानित होते देखकर मैं फूला नहीं समा रहा हूं। पर मेरे पास तो भेंट में देने के लिए यही एक कागज का फूल है :

कोई अब सुनता नहीं है राम की कथा
बढ़ती चली ही गयी व्यास की मनोव्यथा
पहले रहे मैस में
फिर गए प्रेस में
वहाँ हुई हड़ताल, उनका पता न था!

[भाई श्री गोपालप्रसाद व्यास के पचास वर्ष पूरे कर लेने के अवसर पर लिखित संस्मरण, 1965, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

मैंने स्पेशल बस चलायी

अपनी चीजों को करीने से रखने के स्वभाव के कारण मैं घर पर भी अपने काम के कागज-पत्र दफ्तरी ढंग पर अलग-अलग फाइलों में रखता हूं। आज किसी काम से आल इंडिया रेडियो की फाइल निकाली तो उसमें अचानक इस सूची पर नजर पड़ गयी : 1-रामप्रकाश ॥), 2-दामोदर दास 3), 1-हकीम जी ॥), 4-हनुमान प्रसाद 6), 1-काशी ॥), 1-भोलू ॥), 1-महबूब ॥), 1-चूरामणि ॥), 5-रामचन्द्र 7), 2-कन्हैयालाल 3), 1-कन्हैयालाल ॥), 1-नूरमुहम्मद ॥) 1-छीतरमल ॥), 2-टोड़ीसिंह 3), 2-रामप्रसाद (सासनी) 3), 1-छीतरमल (सासनी) ॥)।

मेरी बड़ी बच्ची पास ही खड़ी थी। इस सूची पर मुझे मुस्कराते देखकर बोली, "पापा, यह क्या है?" मैं उसे बताने ही लगा था कि ख्याल आया, यह अविस्मरणीय घटना अपने सभी मित्रों को क्यों न बता दूं?

हिंदी साहित्य-क्षेत्र से परिचय रखनेवाले सभी जानते हैं कि सन् 1947 में स्वतंत्रता-प्राप्ति से कुछ पहले 14, हैस्टिंग्स रोड, प्रयाग पर एक अभिनव साहित्य-प्रयोग हुआ था। श्री सच्चिदानंद वात्स्यायन के नेतृत्व में प्रतीक-सहकारी-प्रकाशन-योजना चालू की गयी थी। इसी सिलसिले में बनारस से श्री श्रीपतराय, बंबई से श्री नेमिचंद्र जैन और हाथरस से मैं आकर हैस्टिंग्स रोड, प्रयाग में रहने लगे थे। कुछ दिनों तो काम बड़ी धूमधाम से हुआ और चारों ओर इस योजना को बड़ी आशा से देखा जाने लगा, पर धीरे-धीरे यह पता लगने लगा कि योजना सफल नहीं हो सकी है। उसके अनेक कारण थे जिनकी चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी। बहरहाल, नवंबर, 1947 तक सहकारी-योजना बिखर गयी और मैंने दूसरा कोई उपाय न देखकर एक आवेदन-पत्र आल इंडिया रेडियो, लखनऊ के नाम भेज दिया और उसके पकने की बाट देखने के लिए वापस हाथरस चला आया, जहां मैं प्रसिद्ध 'बिजली काटन मिल्स' के सेक्रेटरी के पद पर काम कर रहा था।

जब मैं प्रतीक-योजना में सम्मिलित होने के लिए इस पद से मुक्त होकर गया था, तो यह मानकर गया था कि अब हाथरस लौटना नहीं होगा। सच तो यह है कि योजना में शामिल होने का आकर्षण यह भी था कि हाथरस

में मुझे अपने अनुरूप साहित्यिक वातावरण नहीं मिल पाता था। मिल के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री रामबाबू लाल कोरे मिल-मालिक न थे, मेरे घनिष्ठ मित्रों में भी थे और अत्यंत शिक्षित एवं सुसंस्कृत होने के कारण मेरी इस बात से सहानुभूति भी रखते थे। यही कारण है कि जब मैं फिर बुद्धू की तरह घर लौटकर आया, तो उन्होंने मेरे इस प्रत्यावर्तन को लज्जा का विषय नहीं बनने दिया, वरन् ऐसा भाव प्रदर्शित किया मानो वे यह जानते रहे हों कि आखिर में यही होना है।

फरवरी, 1948 तक रेडियो में दी गयी अर्जी रंग लाने लगी। मुझे एक औपचारिक नियुक्ति-पत्र मिल गया। मैंने जब वह पत्र श्री लाल को दिखाया तो उन्होंने हंस कर उड़ा दिया। बात यह थी कि उसमें जो वेतन लिखा हुआ था, वह उस वेतन का आधा था, जो मैं मिल में पा रहा था। उनका यह निश्चित विश्वास था कि इतने कम वेतन में मेरा काम नहीं चलेगा, खास तौर से इसलिए कि उन दिनों मेरे खर्च में बिंदुजी की कॉलेज-शिक्षा का खर्च भी शामिल था। पर मैं हाथरस छोड़ने पर तुला हुआ था और मैंने रेडियो को लिख दिया कि मुझे उनकी शर्तों पर काम करना मंजूर है। तय यह हुआ कि मैं अप्रैल के महीने से काम करूंगा, नये सरकारी वित्त वर्ष से।

पर मार्च महीने के आस-पास जब मैंने श्री लाल को बताया कि मैं हाथरस छोड़ कर जानेवाला हूं तो उन्हें मेरा प्रस्ताव विशेष पसंद न हुआ। शायद उन्होंने यह भी कहा कि जैसे 'प्रतीक' से लौटकर आना पड़ा, वैसे ही मुझे रेडियो से भी लौटकर आना पड़ेगा। जो हो, उन्होंने कोई ऐसा तात्कालिक काम भी बता दिया जिसके कारण मैं अप्रैल के अंत के पहले हाथरस नहीं छोड़ सकता था। हारकर मैंने रेडियोवालों को लिखा कि मैं पहली मई से काम पर आऊंगा।

लेकिन पहली मई को भी जाना न हो सका। श्री लाल एक के बाद एक जरूरी काम बताते रहे और मैं रेडियो से पंद्रह-पंद्रह दिन का अतिरिक्त समय मांगता रहा। यह क्रम तीन बार चला। यहां तक कि रेडियोवालों को यह संदेह होने लगा कि शायद मैं आना नहीं चाहता। उन दिनों लखनऊ रेडियो पर प्रसिद्ध कवि श्री गिरिजाकुमार माथुर भी काम कर रहे थे। उन्होंने भी एक व्यक्तिगत पत्र लिखकर मुझसे जल्दी ही निर्णय कर लेने को कहा और उसके दो-एक दिन बाद ही मुझे आल इंडिया रेडियो से एक औपचारिक पत्र भी मिला जिसके मुख्य अंश का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है : '12 जून, 1948 के उनके पत्र के संदर्भ में श्री भारतभूषण अग्रवाल को एतद्द्वारा यह सूचित किया जाता है कि इस कार्यालय में अपनी नियुक्ति लेने की उनकी तिथि 30 जून, 1948 तक बढ़ा दी गयी है। तथापि उन्हें उक्त तिथि तक निश्चित रूप से अपने पद पर आ जाना चाहिए।'

अतः अब और टालना संभव न था। जैसे-तैसे श्री लाल इस बात पर राजी हुए कि मैं 29 तारीख की रात को हाथरस से चलकर 30 की सुबह लखनऊ पहुंच जाऊं और आल इंडिया रेडियो में काम ले लूं। पर हाथरस छोड़ने के कुछ घंटों पहले तक मैं मिल का काम देखता रहा और इसलिए 20 तारीख

की सुबह ही इस बात का मुझे ध्यान आया कि मुझको अपने साथ अपने चरित्र के दो ऐसे प्रमाण-पत्र भी ले जाने हैं, जो राजपत्रित अधिकारियों ने दिये हों।

क्योंकि सरकारी नौकरी करने का मेरा यह पहला ही अवसर था, इसलिए राजपत्रित अधिकारियों से मेरी कोई विशेष जान-पहचान न थी। मेरी जानकारी का क्षेत्र साहित्य, समाजसेवा और व्यापार ही था। उन दिनों राजकीय अधिकारी भी आज की तरह सार्वजनिक रूप से घुलमिल नहीं पाते थे। तिस पर हाथरस में तो शायद ही कोई ऐसा राजपत्रित अधिकारी हो, जिनसे मैं व्यक्तिगत रूप से परिचित होऊं। मेरे परिचय के सब अधिकारी जिला-केंद्र अलीगढ़ में थे। इसलिए मैं 29 की सुबह बस द्वारा अलीगढ़ के लिए चल दिया, यह सोच कर कि शाम तक वापस आ जाऊंगा। लखनऊ के लिए मेरी गाड़ी रात को जाती थी।

अलीगढ़ मैं लगभग बारह बजे पहुंचा और प्रमाणपत्र लेने में तीन बज गये। प्रमाणपत्र लेकर मैं खुशी-खुशी बस के अड्डे की ओर बढ़ रहा था कि रास्ते में एक सिनेमा हाल दिखायी पड़ा। फौरन मन में लोभ समा गया। मैंने आव देखा न ताव, टिकट खरीदकर मैटिनी देखने के लिए अंदर जा घुसा।

सिनेमा से छूटा तो छह बज चुके थे। दौड़ा-दौड़ा बस के अड्डे पर आया, पर वहां चारों ओर सन्नाटा ही दिखायी दिया। पता चला कि हाथरस के लिए आखिरी बस साढ़े पांच बजे जा चुकी है। यह सूचना मुझे पहले होती तो सिनेमा ही क्यों देखता! पर अब कोई उपाय न था। सोचा, शायद कोई ट्रेन मिल जाये, पर ट्रेन एक ही थी जो रात को लगभग 8 बजे जाती थी और मजा यह कि यह वही ट्रेन थी जो मुझे हाथरस पहुंचकर अपना सामान बांधकर, हाथरस किला से हाथरस जंकशन जाकर लखनऊ के लिए पकड़नी थी।

मुझे काटो तो खून नहीं। मुझे लगने लगा कि अब मैं निश्चित तिथि पर लखनऊ नहीं पहुंच पाऊंगा और हाथरस से उद्धार पाने का रास्ता फिर बंद हो जायेगा। काफी देर दुख मनाने के बाद मैंने बस-स्टेशन के मैनेजर से बातचीत करने का फैसला किया।

मैनेजर साहब गुसलखाने में थे। काफी प्रतीक्षा के बाद वे बाहर निकले तो मैंने उन्हें अपना दुखड़ा सुनाया। उनकी हमदर्दी तो स्पष्ट थी, पर वे लाचार थे। बोले एक ही तरीका है, अगर कम-से-कम 25 यात्री ऐसे हों जो हाथरस जाना चाहते हों तो मैं स्पेशल बस चला सकता हूं।

मरता क्या न करता। मैं बस स्टेशन पर बंद टिकट-खिड़की पर खड़ा हो गया और इंतजार करने लगा कि शायद हाथरस जाने के इच्छुक कुछ यात्री मेरी ही तरह लेट हो गये हों। जब एक-दो यात्री आये और निराश होकर लौट जाने लगे तो मैंने उन्हें घेर लिया और बताया कि स्पेशल बस चलनेवाली है।

धीरे-धीरे यात्रियों की संख्या बढ़ने लगी। मैं बस के कर्मचारी की तरह ही उनके नाम नोट करके किराया वसूल करने लगा और कोई कागज पास न होने के कारण मैंने यात्रियों का यह विवरण उसी चिट्ठी की पीठ पर लिख

डाला, जो रेडियो-स्टेशन से आयी थी और जिसका हिंदी अनुवाद ऊपर दिया गया है। इस संस्मरण के शुरू में वह सूची दी गयी है जिससे साफ हो जाता है कि उन दिनों अलीगढ़ से हाथरस तक का बस-भाड़ा डेढ़ रुपया था।

सौभाग्य से यात्री मिलते देर न हुई। ज्यों ही पच्चीस यात्री पूरे हो गये, मैं फूला न समाया। दौड़कर मैनेजर से कहा कि स्पेशल का इंतजाम कर दें, मैं पच्चीस यात्रियों का किराया देने को तैयार हूं। मैनेजर साहब की हमदर्दी तो मेरे साथ थी ही, उन्होंने फौरन एक ड्राइवर को बुलाने के लिए आदमी भेजा। ड्राइवर दूर रहता था और डर था कि शायद घर पर न मिले, पर ग्रह अच्छे थे इसलिए थोड़ी ही देर में ड्राइवर आ गया और बस चल पड़ी। कहना न होगा कि मैं कार्यक्रम के अनुसार ही 30 तारीख की सुबह आल इंडिया रेडियो लखनऊ के दफ्तर में जा पहुंचा।

[रचनाकाल 1965,
'लीक-अलीक' में संकलित।]

शास्त्रीजी कीं पहली झांकी

"आप तो ऐसे कह रहे हैं मानो उन्हें पहले से जानते हों," मित्र बोले, "आखिर आपकी इस धारणा का कोई आधार भी होगा ही।"

तब की बात है जब श्री लालबहादुर शास्त्री ने भारत के प्रधानमंत्री का पद संभाला ही था। एक दिन दौरान मैं अपने एक मित्र से बोला कि शास्त्रीजी अत्यंत सफल प्रधानमंत्री सिद्ध होंगे। उन दिनों स्व. जवाहरलाल नेहरू के भव्य और महान व्यक्तित्व ने सारे देशवासियों के मन में इतना अविचल स्थान बना रखा था कि ऐसी कोई भी बात मानो मन को स्वीकार नहीं होती थी। इसीलिए मित्र की वह शंका सहज ही थी। मैं अपनी बात पर तो अड़ा रहा, पर प्रमाण कोई प्रस्तुत नहीं कर पाया क्योंकि शास्त्रीजी को व्यक्तिगत रूप से तो मैंने कभी जाना ही नहीं और सार्वजनिक जीवन में उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि से जितना मैं परिचित था, उतने ही मित्र भी थे। अतएव मैं उन्हें आश्वस्त नहीं कर पाया।

बात तो वहीं खत्म हो गयी, पर मित्र का अंतिम प्रश्न मेरे मन में बराबर गूंजता रहा। हां, आखिर कोई-न-कोई कारण तो होगा ही, जिसके बल पर मेरा मन यह भविष्यवाणी करता है। शास्त्रीजी की लगन, सादगी और उदारता, मेल-भावना—ये सब तो ठीक हैं। पर क्या इसके तल में और भी कुछ ऐसा है जिस पर मेरी धारणा टिकी हो।

दिन निकलते गये, पर मन में यह कुरेद मची ही रही और तब अचानक एक दिन मानो कोई द्वार खुला, अंतर्मन के विस्मृत कोने से एक छोटी-सी घटना याद आयी।

सन् '47 के दिन थे। देश को आजाद हुए अभी कुछ ही महीने बीते थे, विभाजन की विभीषिका और शरणार्थियों की समस्या के कारण सारे देश में अशांति, विक्षोभ और विफलता का-सा वातावरण था। मैं 'प्रतीक' की सहकारी-योजना के एक सदस्य के रूप में प्रयाग में था। उन्हीं दिनों प्रयाग की एक सार्वजनिक सभा में भाषण करने के लिए उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री स्व. पं. गोविंदवल्लभ पंत पधारे। सभा का आयोजन नगर कांग्रेस कमेटी की ओर से हुआ था जिसके प्रमुख थे पं. विश्वंभरनाथ पांडे।

रात के लगभग आठ बजे सभा शुरू हुई। शुरू तो हो गयी, पर शुरू हो नहीं पायी। मैदान में अनगिनती लोग जमा थे। पर उनमें कुछ ऐसे भी थे जिनमें सांप्रदायिक रोष उस समय उभार पर था। ज्यों ही पं. गोविंदवल्लभ पंत भाषण करने के लिए उठे, त्यों ही इन विक्षुब्ध लोगों ने विरोधी नारे लगाने शुरू किये। दो-एक मिनट पंतजी शांत रहे। फिर उन्होंने विरोधियों को शांत करने के लिए कुछ तसल्ली देनेवाले वाक्य कहे, पर नारे अबाध गति से लगते रहे। प्रयाग की जनता का अपने मुख्यमंत्री के प्रति यह व्यवहार पांडेजी को नगर के लिए अशोभनीय लगा। वे खड़े हो गये, माइक अपने हाथ मे ले लिया और उन्होंने बड़े ही ओजस्वी स्वरों मे प्रयागवासियों को उनकी सांस्कृतिक परंपरा की याद दिलायी, उनके कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाया और कहा कि इस सभा में हो सकता है कि दो-चार लोग ऐसे हों, जो पंतजी की बात न सुनना चाहते हों, वे इस समय नारे लगा कर शोर कर रहे हैं और कार्यवाही में बाधा दे रहे हैं। पर सभा में उपस्थित अधिकांश जन तो ऐसे ही हैं जो पंतजी की बात सुनना चाहते हैं। मैं उनसे अपील करता हूं कि वे मेरे साथ नारे लगाएं और तब उन्होंने नारा दिया "पंतजी की बात सुनी जायेगी।" आज मुझे कुछ ऐसा ही स्मरण है कि लगभग पंद्रह मिनट तक पांडेजी यह नारा लगाते रहे और सारी सभा उनके साथ दोहराती रही कि पंतजी की बात सुभी जायेगी। फल यह हुआ कि विरोधी नारेबाज परास्त होकर शांत हो गये और पंतजी का भाषण निर्विघ्न समाप्त हुआ।

सभा समाप्त हो जाने पर जब पंतजी की गाड़ी जोस्टनगंज के पास रेलवे पुल के नीचे से गुजर रही थी, तब विरोधी नारेबाजों ने उनका रास्ता रोक लिया और कार को चारों ओर से घेर लिया। तमाशबीन के रूप में मैं भी पास ही उपस्थित था। प्रदर्शनकारी पंतजी को आगे बढ़ने नहीं देना चाहते थे। कई लोगों ने उन्हें समझाने की कोशिश की, पर वे अपनी ही बात पर अड़े रहे। जहां मोटर खड़ी थी वहां प्रकाश अधिक नहीं था और इसलिए मैं ठीक से तो नहीं देख सका कि क्या हुआ, पर इतना जरूर दिखायी दिया कि कार की अगली सीट से एक छोटा-सा व्यक्ति प्रकट हुआ और कार के हुड पर पैर रखकर कार की छत पर खड़ा हो गया। उसने बहुत ही सधे हुए शांत स्वरों में दो-चार वाक्य कहे जिनका प्रदर्शनकारियों पर जादू का-सा असर हुआ। भीड़ तुरंत छंट गयी और कार को रास्ता दे दिया गया। बाद में किसी ने बताया कि वह छोटा-सा व्यक्ति और कोई नहीं, मुख्यमंत्री के संसदीय सचिव श्री लालबहादुर शास्त्री थे।

यह घटना याद आते ही मेरी समझ में आ गया कि मैंने अपने मित्र से शास्त्रीजी के संबंध में जो बात कही थी, उसका आधार क्या था।

[रचनाकाल 1965,
'लीक-अलीक' में संकलित।]

एक संलापहीन स्थिति

दिल्ली दूर है, यह कहावत करीब-करीब उतनी ही पुरानी है, जितनी पुरानी कि खुद दिल्ली। हम यह भी कह सकते हैं कि आज यह कहावत ज्यादा है सत्य कम, क्योंकि इसमें सामंतयुगीन राजा और प्रजा की जो दूरी व्यंजित है, वह आज के जनतांत्रिक युग में विलुप्त हो गयी है और न भी हो गयी हो तो वैज्ञानिक साधनों के कारण सहज ही वश में हो जाती है। आज के युग में तो बल्कि यही कहना ज्यादा सही होगा कि दिल्ली निरंतर पास आती जा रही है क्योंकि राजधानी बड़े प्रबल वेग से नाना रूपों में देश के कोने-कोने से लोगों को कच्चे धागे में बांधकर ले आती है।

पर इस कहावत का एक नया व्यंग्यार्थ धीरे-धीरे मुझे उपलब्ध होने लग गया है। दिल्ली दूर है और आज भी है, औरों से उतनी नहीं जितनी स्वयं अपने से। राजधानी में आकर बसनेवाला व्यक्ति यहां की जीवन-पद्धति और व्यवस्था से दमित होकर चकित रह जाता है। आखिर दिल्ली है कहां! निर्जन विस्तारों से जुड़ी हुई छोटी-छोटी बस्तियां मिलकर दिल्ली बनती है जिनके बीच में संपर्क के दो ही साधन हैं, या तो रईसों की कारें या फिर डी. टी. यू. की मुर्दार बसें। लगता है मानो इस विभाजन में अंग्रेजी-हिंदी की-सी ही दूरी है और ये साधन पारस्परिक संपर्क के लिए नितांत असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

यों तो यह दूरी जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना रंग दिखाती है, पर साहित्य में तो यह कुछ इतनी विचित्र लगती है कि साहित्य शब्द हीं निरर्थक हो जाता है। दिल्ली में साहित्यकारों की कोई कमी नहीं है। हिंदी के साहित्यकारों की तो यहां काफी बड़ी संख्या है, तिस पर नित नये साहित्यकारों की आमद भी होती रहती है। इतने साहित्यकार जिस नगर में हों, वहां साहित्य-गत संलाप विरल और विविक्त हो तो मन कुंठित होने को मजबूर हो जाता है। ऐसी बात नहीं है कि मिलकर बैठने के अवसर नहीं आते या चेष्टा नहीं की जाती। पर महीने में पांचवें रविवार की भांति आनेवाले ये अवसर कोई स्थायी स्वरूप नहीं दे पाते और इसी उपमा को चरितार्थ करते हैं कि :

टाइपराइटर की 'की' की तरह
सबके पैर एक जगह पड़ते हैं
और फिर
तुरन्त बिखर जाते हैं।

वैसे यह बात दूर की कौड़ी हो, ऐसा नहीं। दो-चार दिन के अनुभव से ही पकड़ में आ जाती है। पर कष्ट तब होता है, जब इसके निराकरण का कोई उपाय उपलब्ध नहीं होता। राजधानी की यह विशेषता है कि भारत के सबसे बड़े नगरों में होने पर भी यह एक उद्योगहीन नगरी है। फलतः यहां के प्रवासी-निवासियों की जड़ें गहरी नहीं हैं। भीड़ है, पर लोगों में आपसी संबंध का कोई जीवंत सूत्र नहीं है। यों भी तेजी से फैलती जानेवाली यंत्र-प्रणाली हर-एक व्यक्ति को छोटे-छोटे दायरों में बंद करने लग जाती है। तिस पर यहां की दूरी धीरे-धीरे मन में भी दूरियां गढ़ने लगती है। सहज भाव से मिलन छोटे-छोटे दायरो में ही होता है और ये दायरे धीरे-धीरे निकायों का रूप लेने लगते हैं, मनमाने सिद्धांतों के बल पर मनमानी व्याख्या करने लग जाते हैं। समग्र दृष्टि के प्रयत्न कष्टसाध्य होने के कारण पहले तो विवशता की दीवार से टकराते रहते हैं और बाद में जब एक संकीर्ण दायरा अपनी जड़ें जमा लेता है, तो फिर वे अनधिकृत प्रवेश जैसे लगने लगते हैं।

इस तरह दैनिक स्तर पर दिल्ली टुकड़ों में बंटी रहती है और टुकड़ों में ही सोचती है। मेले-ठेलों की तरह कभी-कभी ऐसे उत्सव भी होते हैं जब दूर-दूर से भी साहित्यकार आकर एक जगह मिलते-बैठते हैं, पर इन उत्सवों का क्षणिक और सतही रूप इतना विकट होता है कि उसमें संलाप की किसी स्थिति की कल्पना करना भी असंभव लगता है। ये उत्सव अधिकांश में तीन प्रयोजनों से होते हैं : अभिनंदन-समारोह, शोक-सभा या ग्रंथ-विमोचन। और ये तीनों ही अवसर ऐसी औपचारिकता से भरे रहते हैं, कि तत्व की चर्चा दूर ही रहती है और तब सचमुच बड़ी गहरी निराशा होती है जब कुछ संस्थाएं ऐसे समारोहों में धन, श्रम और समय खर्च करके साहित्य-संबंधी अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मान लेती हैं, क्योंकि इन समारोहों का रूप अनिवार्यतः भाषण-पर्व का-सा होता है। कुछ विशिष्ट लोग ऊंचे मंच पर बैठ जाते हैं और बाकी साहित्यार्थी नीचे श्रोता बनकर दूरी का धर्म निभाते रहते हैं। अक्सर तो इन समारोहों का विचार बहुत देर से सूझता है और इसलिए ठीक से कोई तैयारी भी नहीं हो पाती। मेरी जानकारी में ऐसे मौके भी आये हैं जब समारोह के संयोजकों को भी यह पता नहीं था कि वे समारोह के संयोजक हैं और संयोजकों में शामिल होने की बात का पता उन्हें निमंत्रण-पत्र के माध्यम से ही मालूम पड़ा। फल यह होता है कि ये समारोह भगवान-भरोसे होते हैं और मनमाना रूप ले बैठते हैं। उदाहरण के लिए, अभिनंदन-समारोह में वक्ता यह कहते भी पाये गये हैं कि जिनका अभिनंदन किया जा रहा है, मैंने उनकी रचनाएं नहीं पढ़ीं या यह कि अभिनंदन-समारोह का खर्च उन लेखक महोदय को देना

चाहिए जिनका अभिनंदन किया जा रहा है। इसी प्रकार एक पुस्तक के ग्रंथ-विमोचन-समारोह में वक्ता यह भी कहते मिले हैं कि "मैंने यह ग्रंथ पढ़ा तो नहीं है परंतु"...आदि। इन समारोहों की निपट औपचारिकता अब कुछ इतनी प्रकट हो गयी है कि शायद वह खटकनी भी बंद हो गयी है और दिल्ली-निवासी सभी लेखक मानो उनके इस रूप को सहज स्वाभाविक मान चुके हैं। यह गंभीर चिंता का विषय है, क्योंकि जब रोग का अभिज्ञान भी मिट जाये, तब उसका उपचार सबसे कठिन हो जाता है। इसी प्रवृति का यह फल है कि महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण प्रसंगों और उत्तम से उत्तम ग्रंथों से संबंधित होने पर भी ये समारोह साहित्यिक स्तर पर कोई संगति प्राप्त नहीं कर पाते और उनकी संख्या अथवा उनमें भाग लेनेवाले साहित्यकारों-कलाकारों की सदिच्छा विफल हो जाती है। अब तो सब संबंधित व्यक्ति इन समारोहों के असली उद्देश्य की उपेक्षा करके उन्हें केवल दर्शन-लाभ और मेल-मुलाकात का अवसर मानकर तदनुरूप व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार दिल्ली में कोई व्यापक साहित्यिक वातावरण नहीं मिलता। सतत् प्रवाहित चेतना-धारा की जगह छोटे-छोटे तालाबों और पोखरों ने ले ली है, जो कुछ मनोरंजन-गृहों, कुछ साहित्यिक प्रतिष्ठानों और कुछ उपनिवेशों के रूप में अपने-अपने सीमित क्षेत्र में ही हल्की-हल्की लहरें उठाते रहते हैं और सो भी तब जब कोई बाहरी आंधी या तूफान उनमें हलचल उत्पन्न करता है। यह संलापहीन स्थिति कितनी दुःखद है, इसका अनुभव दिल्ली में बसकर ही किया जा सकता है। वैसे इसकी कुछ बानगी उन साहित्य-प्रेमियों को भी मिल जाती है जो नाना सूत्रों से बंधे राजधानी में खिंचे चले आते हैं और दो-चार दिन में यहां के निवासी साहित्यकारों से मिलने और विचार-विनिमय करने की असंभव चेष्टा करते हैं।

[रचनाकाल 1965, 'लहर' में प्रकाशित,
'लीक-अलीक' में संकलित।]

मेरी नींद, मेरे खर्राटे

बचपन से ही मुझे बड़ी गहरी नींद आती है। सगे-संबंधियों और अंतरंग मित्रों में मैं इस बात के लिए प्रसिद्ध हूं कि एक बार सो जाने पर जब तक मेरी नींद खुद ही न खुले, मुझे जगाना टेढ़ी खीर है। वैसे सुबह लगभग छः बजे मैं खुद ही जग जाता हूं। सोने का समय तो मेरा विशेष निश्चित नहीं है, कभी दस बजे भी सो जाता हूं कभी देर भी हो जाती है। पर चाहे जब सोऊं सवेरे आंख एक ही समय पर खुलती है, और बीच में जागना बहुत कठिन होता है। इस संबंध में कई ऐसी घटनाएं घटी हैं जो मुझे तो याद हैं ही, संबंधित जन भी न भूल पाये होंगे। यहां ऐसे ही कुछ प्रसंग पाठकों के मनोरंजनार्थ अंकित करता हूं।

बंद दरवाजे पर दस्तकें

तब शायद मैं दर्जा चार या पांच में पढ़ता था। एक दिन छुट्टी के दिन दोपहर को खाना खा-पीकर मैं घर के अंतरतम कमरे को भीतर से बंद कर सो गया था। कुछ देर तो किसी ने इस बात पर ध्यान न दिया, पर जब शाम हो गयी और बड़े भाई को कमरे में रखी किसी चीज की जरूरत पड़ी, तो उन्होंने कमरा खुलवाना चाहा। पहले धीमे-धीमे और फिर जोर-जोर से उन्होंने बंद दरवाजा खटखटाया, पर मेरी नींद नहीं टूटी। तब भाई ने परिवार के बाकी सदस्यों को भी इकट्ठा किया और सबने मिलकर उसे जोर-जोर से खटखटाया और जितना दम था, उतने दम से दरवाजे पर दस्तकें दीं। लेकिन मेरी नींद खुलने का नाम ही न लेती थी। मजा यह कि कमरे में केवल एक ही खिड़की थी जो बगल की गली में खुलती थी और गली ढालू होने के कारण खिड़की के स्थान पर इतनी नीची थी कि गली से खिड़की तक पहुंचना आसान नहीं था। जब किसी को और कोई उपाय न सूझा, तो दुकान से पिताजी को बुला भेजा गया। उन्होंने गली में सीढ़ी लगाकर खिड़की पर चढ़कर मुझे ढेरों ही आवाजें दीं। पर मैं तो सो रहा था। हारकर लोहे की एक लंबी छड़ लायी गयी और खिड़की में डालकर उस छड़ से मेरे हाथ और पैर कौंचे गये, तब कहीं जाकर मेरी आंखें खुलीं और मैंने भड़भड़ाकर दरवाजा खोला।

परिवार की हंसी से मुझे जो झेंप लगी कहीं उसी का तो यह परिणाम नहीं है कि अब मैं दोपहर में कभी नहीं सोता।

फर्स्ट इयर फूल की चारपाई

सन् 1935 में हाईस्कूल पास करके मैं चंदौसी के श्यामसुंदर मैमोरियल कॉलेज में भर्ती हुआ और वहां के हेली होस्टल मे रहने लगा। फर्स्ट इयर के विद्यार्थियों को छेड़ने-बनाने की प्रथा उन दिनों बड़े जोरों पर थी। मैं क्योंकि कक्षा के अग्रणी विद्यार्थियों में माना जाता था और मेरे अध्यापक और वार्डन भी मुझे बहुत स्नेह करते थे, इसलिए दिन में तो मैं इस छेड़छाड़ से बचता रहा। पर एक दिन रात को मेरे साथ ऐसा विलक्षण मजाक किया गया कि आज तक याद है। गर्मी के दिन थे। मैं अपने कमरे के सामने मैदान में चारपाई बिछाकर रोज की भांति ही सो गया। दूसरे दिन सवेरे जब आंख खुली तो मैं देखता का देखता ही रह गया। न कमरे का कहीं पता था, न मैदान का। घबराकर चारों ओर नजर डाली तो पाया कि मैं हॉस्टल के शौचालय के सामने सो रहा हूं और मेरे बिस्तर पर पैरों के ढेरों निशान हैं। बाद को पता चला कि रात में चार विद्यार्थियों ने मेरी चारपाई उठाकर शोर मचाते हुए उसका जुलूस निकाला था और पूरे हॉस्टल का चक्कर काटकर मुझे शौचालय के रास्ते में छोड़ गये थे। वह रास्ता इतना संकरा था कि जब दूसरे विद्यार्थियों को शौच जाने की जरूरत पड़ी तो खाट पर चढ़ने के अलावा और कोई उपाय न था। जिन्होंने मेरे साथ यह मजाक किया था, उनका अनुमान था कि शोरगुल से मेरी नींद टूट जायेगी और वे मेरे कष्ट का मजा ले सकेंगे। पर न तो उस शोरगुल से ही मेरी आंख खुली और न मेरी चारपाई के रास्ता बन जाने से ही । महीनों हॉस्टल में मेरी इस कुंभकर्णी नींद की चर्चा होती रही।

आधी रात की अग्नि-शैया

मार्च '43 की बात है। उन दिनों मैं कलकत्ते में लेक-व्यू रोड के मकान में रहता था। एक दिन रात के लगभग दो बजे मेरे साथ एक ऐसी घटना घटी जिसे याद करके अब भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मुझे लगा कि मेरा हाथ जलते हुए अंगारों पर जा पड़ा। हड़बड़ाकर मेरी आंखें खुल गयीं। ज्यों ही करवट ली त्यों ही मैं उछलकर बिस्तर से दूर जा पड़ा, मानो बिजली का करेंट लगा हो। क्योंकि जिधर करवट ली थी, उधर का बिस्तर पूरी अग्नि-शैया बना हुआ था। दो-एक मिनट बाद जब कुछ दम में दम आया तो मैंने परिस्थिति का अध्ययन किया। देखा कि गद्दे के जितने हिस्से पर मैं सोया हुआ था, उतने को छोड़कर बाकी सारा गद्दा भीतर ही भीतर सुलग रहा है। कुछ देर तो इस विचित्र स्थिति से मैं सकते में आ गया। फिर हिसाब लगाकर समझ में आया कि रात को मैं सिगरेट पीते-पीते ही सोया था और शायद सिगरेट खत्म होने के पहले ही मुझे नींद आ गयी। जलती सिगरेट गद्दे पर गिर पड़ी और

उससे रुई में आग लग गयी। धीरे-धीरे वह आग भीतर ही भीतर सारे गद्दे में फैल गयी, पर उसका जो हिस्सा मेरे बोझ से दबा हुआ था, वह बचा रहा। नींद में ही मेरा हाथ अपने आप जब गद्दे के दूसरे हिस्से पर पड़ा तो अग्नि का स्पर्श पाकर मेरी आंख खुल गयी। इतनी बात समझ में आ जाने के बाद मेरी घबराहट दूर हो गयी। मैं बड़ी वीरतापूर्वक जलते-सुलगते गद्दे को लपेटकर बाहर डाल आया और दरी बिछाकर सो गया। दूसरे जनों को मैंने यह घटना सुबह उठने पर ही सुनायी।

फायर इंजन की घंटियां

सन् 1943 में जब मैं कलकत्ते की इंडिया केमिकल इंडस्ट्रीज के सेक्रेटरी-पद पर था, तो चितरंजन एवेन्यू पर गिरीश पार्क के पास के एक घर में रहता था। घर का एकतल्ला पूरा का पूरा मैंने किराए पर ले रखा था। उसमें सामने की ओर तीन कमरे थे जिनका बरामदा सड़क पर खुलता था। नीचे के तल्ले में कुछ दुकानें थीं और जिस कमरे में मैं सोता था, उसके ठीक नीचे बीड़ी बनानेवाले की दुकान थी। बीच का कमरा हमने ड्राइंगरूम बना रखा था और क्योंकि उसमें दो-चार कुर्सियों और तखत के अलावा और कोई सामान न था, इसलिए रात में उसे बंद नहीं करता था। एक दिन सवेरे जब मैं सोकर उठा और ड्राइंगरूम में आया तो देखकर दंग रह गया कि सारे कमरे में और बाहर के बरामदे में पैरों के अनगिनती निशान हैं मानो रात को चोरों का कोई दल वहां आया हो। पर कमरे की कोई चीज गायब न थी। सच तो यह है कि वहां गायब होने लायक कोई चीज थी ही नहीं। असमंजस में पड़कर मैंने दूसरे तल्ले में रहनेवाले मारवाड़ी सज्जन को बुलाया और उन्हें आश्चर्य और भय से वे पैरों के निशान दिखाये। पर वे सज्जन मेरे भय में भाग लेने की बजाय मजे से मुस्कराते रहे और बोले, "मान गये आपकी नींद को!"

धीरे-धीरे पूरा विवरण ज्ञात हुआ। रात को लगभग दो बजे बीड़ी की दुकान में आग लग गयी थी, जिसे बुझाने के लिए दो फायर-इंजन लगभग आध घंटे तक वहां शोर मचाते रहे। सारी हवेली में रहनेवाले लोग डरकर मेरे ड्राइंगरूम मे जमा हो गये थे और वहीं से आग की लपटें और उनका बुझाना देखते रहे थे। पर मैं तो ऐसा सोया था कि मुझे इसकी कोई भनक भी न थी।

मेरे खर्राटे और माथुर साहब

सन् '57 में मेरा ट्रांसफर आकाशवाणी भोपाल में हुआ। यह केंद्र नया ही खुला था। भोपाल को मध्य प्रदेश की राजधानी बने कुछ ही दिन हुए थे और वहां घर मिलना प्रायः असंभव था। जिस दिन मैं अपना सामान लेकर आकाशवाणी पहुंचा, तो केंद्र के अध्यक्ष और मेरे अभिन्न मित्र श्री गिरिजाकुमार माथुर ने बड़ी खुशी से मुझे यह इजाजत दे दी कि मैं एक-दो दिन उन्हीं के साथ रह लूं। वे भी उन दिनों अकेले थे। रात को खाना-पीना खत्म करके हम लोग

गप्पों में लग गये। बरसों के अंतराल के बाद यह भेंट हुई थी, इसलिए कहने-सुनने को ढेरों बातें थीं। कब बारह बज गये इसका पत्ता भी न चला। घड़ी देखी तो मैं चौक उठा और बोला, "माथुर साहब, अब आप सो जाइए।" पर माथुर साहब उस दिन मूड में थे और बातें ही करते रहे। जब मैंने कई बार उनसे सो जाने का आग्रह किया तो वे बोले, "तुम्हें नींद लगी है तो तुम सो जाओ।" पर मैं चाहता था कि पहले वह सो जायें तब मैं सोऊं। उन्होंने मेरे इस आग्रह को गलती से अपने अफसर के प्रति विनम्रता समझा और क्योंकि वे मुझे मित्र मानते थे, इसलिए प्रायः विवश होकर मुझी को पहले सोने पर बाध्य किया।

सवेरे लगभग चार बजे अचानक मेरी आंखें खुलीं। मैंने देखा कि माथुर साहब मेरी खाट के पास खड़े बड़ी जोर-जोर से हिलाकर मुझे जगा रहे हैं। जब मैं आंखें मलते हुए उठा तो माथुर साहब बोले, "भारतजी, आप तो काफी सो लिये, अब आप कृपा करके अगर दूसरे कमरे में चले जाये तो घंटे-दो-घंटे मैं भी सो लूं।" बात यह थी कि मैं सोते में इतने जोर-जोर से खर्राटे लेता हूं कि इस कमरे में तो क्या, आसपास के कमरे में सोनेवाले भी जग जायें। यह बात मुझे मालूम थी, इसीलिए मैं बराबर आग्रह कर रहा था कि माथुर साहब पहले सो जाये। पर उन्होंने मेरी बात नहीं मानी और उसका फल भोगा। मेरे खर्राटों के कारण वह एक क्षण को भी न सो पाये। कहना न होगा कि दूसरे ही दिन उन्होंने मेरे सोने की अन्यत्र व्यवस्था कर दी।

[रचनाकाल 1965, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' मार्च 1966 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

एक (अ) पाठ्य कविता की कथा

प्रिय संपादकजी,

आपके पत्र की निर्भीकता और सत्यनिष्ठा का मैं शुरू से ही प्रशंसक रहा हूं। इसीलिए आशा कर रहा हूं कि आप मेरे निवेदन पर उचित विचार और कार्रवाई करने की कृपा करेंगे। आज सवेरे मेरे बेटे ने (जो हायर सेकेंडरी स्कूल का विद्यार्थी है) मुझसे अपनी हिंदी पाठ्य पुस्तक की एक पंक्ति का अर्थ पूछा। मैंने जब पुस्तक उलटी-पलटी तो मैं दंग रह गया। उसमें रच्चन जी ('विघुशाला' के विख्यात कवि) के नाम से एक ऐसी कविता छपी है जो न तो कोई काव्य गुण से विभूषित है और न विद्यार्थियों के उपयुक्त ही है। ऐसी कविता स्कूली पाठ्य पुस्तक में कैसे स्थान पा गयी, यह मेरे लिए अत्यंत विस्मय और क्षोभ का विषय है। आप स्वयं पारखी हैं और कहीं-कहीं कवि भी माने जाते हैं; मुझे पूरा भरोसा है कि आप इससे सहमत होंगे कि यह कविता किसी भी प्रकार पाठन के योग्य नहीं है। यह ठीक है कि रच्चनजी प्रेम के कवि हैं ('विघुशाला' से पहले 'विघुबाला' भी वह लिख चुके हैं) और उन्होंने अनेक ऐसी प्रेम-कविताएं लिखी हैं जो भावना एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। पर यह कविता उनसे नितांत भिन्न है। इसकी स्थूल और कसरती भावना भारतीय आदर्शों से तनिक भी मेल नहीं खाती। मुझे तो यह भी लगता है कि शायद यह कविता उनकी रचना ही न हो। खैर, कवि को तो सभी कुछ लिखने का अधिकार होता है, अतः इस विषय में अधिक नहीं कहूंगा। पर इस कविता को पाठ्य पुस्तक में किस आधार पर स्थान दिया गया है, यह विचारणीय है। जहां तक मैं जानता हूं, पाठ्य पुस्तकों के निर्वाचन के लिए विश्वसनीय विशेषज्ञों और विद्वानों की समिति नियुक्त की जाती है। क्या ये विद्वान इसी प्रकार अपना दायित्व निबाहते हैं? यदि विद्वानों का यही हाल रहा तो हमारी शिक्षा की स्थिति कितनी शोचनीय हो जायेगी, यह भी विचारणीय है। मैं इस पत्र के साथ उक्त कविता की एक प्रतिलिपि भेज रहा हूं। पुस्तक की प्रति भी भेज देता पर उससे मेरे बेटे की पढ़ाई का हर्जा हो जायेगा। आप चाहें तो पुस्तक किसी भी बुकसेलर से ले सकते हैं। मेरा अनुरोध है कि

आप इस संबंध में पूरी-पूरी जांच करें और इस भयानक स्थिति की ओर अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करें। कृपा होगी। इति

संपातीलाल कोड़ा

नगर-संवाददाता के नाम संपादकीय टीप

साथ का श्री संपातीलाल कोड़ा का पत्र देखें। मैंने पुस्तक देख ली है। उनका कथन सही है। (देखिए, पृ. 108) शिक्षा-बोर्ड के अधिकारियों से मिलकर मामले की जांच करायें और अगले अंक के लिए पूरी रिपोर्ट दें।

(हस्ताक्षर) अपठनीय
प्रधान संपादक

नगर-संवाददाता की रिपोर्ट

आज अपराह्न शिक्षा-निदेशक से मिला। वे दक्षिणी हैं, हिंदी नहीं जानतें। उन्होंने कहा कि रच्चनजी प्रसिद्ध कवि, उनकी सभी रचनाएं पठनीय। फिर पाठ्यक्रम में लेने में क्या आपत्ति? पर मैंने कविता का आशय समझाया, मौलिकता के संबंध में संदेह भी व्यक्त किया तो वे मामले की पड़ताल को तैयार हुए। आश्वासन दिया कि शीघ्र आपको पूरे तथ्यों की जानकारी देंगे।

23-2-66 *(हस्ताक्षर) अपठनीय*
नगर-संवाददाता

प्रिय डाक्टर साहब,

आज साप्ताहिक समाचार के नगर-संवाददाता मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने बताया कि इस वर्ष हमारे पाठ्यक्रम में 'पद्य-पाद-पद्य-पीठिका' नामक जो पुस्तक स्वीकार की गयी है उसमें डा. रच्चन की एक ऐसी कविता दी गयी है जो विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त नहीं है। मैं तो हिंदी पढ़ता नहीं, पर यदि इस कविता का वही अर्थ है जो संवाददाता ने मुझे बताया तो यह बड़ी चिंता का विषय है। आप निर्वाचन-समिति के संयोजक हैं; आपने यह कविता अवश्य देखी होगी। कृपया बतायें कि शिकायत में कोई सार है कि नहीं। मैं व्यग्रता से आपके उत्तर की प्रतीक्षा करूंगा।

भवदीय
(हस्ताक्षर) अपठनीय
शिक्षा-निदेशक

सेवा में
डा. नक्षत्रसिंह

प्रिय भाई बनबहादुर,

अभी-अभी शिक्षा-निदेशक के पास से एक पत्र मिला है जो साथ नत्थी है। तुमने तो मुझे कहीं का न रक्खा। तुमने मुझे पक्का आश्वासन दिया था कि पुस्तक वास्तव में तुम्हीं ने संपादित की है, सिर्फ बोर्ड का सदस्य होने के कारण उस पर किसी दूसरे का नाम दिया है। इसी पर मैंने 'पद्य-पाद-पद्य-पीठिका' पाठ्यक्रम में स्वीकृत करायी थी। पर उसमें ऐसी ऊल-जलूल कविता कहां से आ गयी? मैंने रच्चनजी की इधर की रचनाएं तो नहीं पढ़ीं, पर यह उनकी हो भी तो भी तुमने इस पुस्तक में क्यों शामिल की? अब मैं शिक्षा-निदेशक को क्या मुंह दिखाऊंगा? अब जल्दी से कोई उपाय सोचो वरना तुम्हारी सदस्यता और मेरा संयोजकत्व दोनों खतरे में हैं।

(हस्ताक्षर)
नक्षत्रसिंह

श्री बनबहादुर बंग

प्रिय लालताप्रसादजी,

आप भी अच्छे प्रकाशक हैं! मैंने आपको ठोंक-ठोक कर समझा दिया था कि आप 'पद्य-पाद-पद्य-पीठिका' के संकलन का काम किसी ऐसे आदमी को सौंपियेगा जिसे हिंदी साहित्य का अच्छा ज्ञान हो और जो छात्रोपयोगी कविताओं का सही चुनाव कर सके। इसी भरोसे मैंने आपकी पुस्तक बिना पढ़े ही मंजूर करवा दी थी। अब उसमें ऐसी गलती निकली है कि मेरा मुंह काला हो गया है। जिस उल्लू से आपने यह संग्रह तैयार करवाया है उसे फौरन मेरे पास भेजें। उसे यह भी कह दें कि वह अपने साथ वह पुस्तक भी ले आये जिसमें से उसने यह कविता चुनी। न मालूम उसका दिमाग कहां चरने चला गया था कि रच्चनजी की हजारों कविताएं छोड़कर यह गोबर चुन लिया! क्या इसी काम के लिए आपने उसे मेरे हिसाब से पांच सौ रुपये काटकर दिये थे? उसे आज शाम तक जरूर मेरे पास भेंज दें।

(हस्ताक्षर)
बनबहादुर बंग

आदरणीय बंग साहब,

आपने राष्ट्र स्वयंसेवी बुक हाउस के लालताप्रसादजी को जो पत्र लिखा है वह मैंने देखा। आपके आदेशानुसार मैं अवश्य आपकी सेवा में उपस्थित होता, पर आज ही रात तक मुझे चैन के लिए दूसरे प्रादेशिक पाठ्यक्रम के लिए एक संग्रह तैयार करके देना है, अतः विवश हूं। पर आपने अपने पत्र में मेरे

लिए जो वाक्य लिखे हैं वे आप जैसे सम्माननीय और जिम्मेदार व्यक्ति के लिए शोभा नहीं देते। आपको पता होना चाहिए कि उल्लू काव्य-संग्रह तैयार नहीं कर सकता, उसे पास चाहे करवा लें। जिस कविता पर आपने इतनी बातें कह दी हैं वह 'पिचकारी' के 'पैरोडी-अंक' में पी है। मैंने आपका पत्र पढकर उससे फिर मिलान कर लिया है। कविता बिल्कुल सही छपी है। फिर भी उसकी एक टू काफी साथ भेज रहा हूं।

(हस्ताक्षर)
अशर्फीलाल

पुनश्चः हां, आपको यह बताना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि मुझे लालताजी से दो सो रुपये मिले थे, पांच सौ नहीं।

(सारा पत्र-व्यवहार परिस्थिति को इतने स्पष्ट रूप में सामने ले आता है कि कविता को यहां उद्धृत करना आवश्यक है।—सं.)

[रचनाकाल 1966, 4 मार्च, 1966 के 'दिनमान' में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

ऊंट पर सवार साढ़े छह यार

[1]

सवेरे सौदागर-पुत्र की आंखें खुलीं। सामने देखा अपार रेगिस्तान है। पहले दिन उसके पिता ने उसे डांटा था : "इतने बड़े हो गये, पढ़-लिख चुके, अब कुछ काम-धाम से लगो। क्या दिन भर लफंगों के साथ गंजपा खेलते हो और फोहश गीत गाते फिरते हो। हम तुम्हारी उम्र के थे तो…" वगैरह-वगैरह। सौदागर-पुत्र को पिता की बात ऐसी लगी कि वह चटपट मां के पास पहुंचा और उसके पैर छूकर बोला : "मां अब तुम मुझे न रोकना। मैं दिसावर जा रहा हूं, लौटूंगा तो ऊंट पर अशर्फियां लदवा कर लाऊंगा, नहीं तो नहीं।" मां खूब रोई-धोई; चलते समय सौदागर का भी चेहरा उदास हो गया था, पर बेटा धुन का पक्का था, उसी समय चल पड़ा और दिन-भर चलते रहने के बाद जहां अंधेरा हुआ वहीं एक पेड़ के नीचे भूखा-प्यासा आराम करने लेट गया। एक झपकी से ही रात कट गयी और जब आंखें खुलीं तब वह नजारा कि होश गुम। जिधर देखो उधर ही रेत, कहीं हरियाली नहीं, आंख को कहीं कोई टेक नहीं। न जाने कितना बड़ा है यह रेगिस्तान? न जाने इसके उस पार क्या है, कुछ है भी या नहीं? इसका पार कैसे मिलेगा, मिलेगा भी या नहीं? इन सवालों ने एक साथ उसके मन में उठकर उसे बेचैन कर डाला, वह कह उठा : "आगे गहन अंधेरा है मन रुक-रुक जाता है एकाकी।" बीच-बीच में सोचता कि मां-बाप से ऐसी दो-टूक बात न कर आया होता तो मजे से घर लौटकर कुछ और तरकीब निकाली जा सकती थी। पर अब तो दांव लग चुका था।

वह असमंजस में आंखें फाड़े रेगिस्तान पर टकटकी लगाये बैठा ही था कि अचानक उसकी पीठ पर किसी ने दिलासा का हाथ रखा। मुड़कर देखा तो गुरु-पुत्र!

"अरे! तुम! यहां !!" सौदागर-पुत्र ने आश्चर्य और आनंद से धड़ककर कहा।

"हां, मैं! यहां!" गुरु-पुत्र बोला, "[illegible] जी करता है, तुम्हारे इतने लगाऊं कि तबीयत दुरुस्त हो जाये।"

"क्यों, क्यों ?" सौदागर-पुत्र ने पूछा।

"अच्छा जी, अब भी क्यों?…भला यह भी कोई बात हुई कि न किसी से कुछ कहा-सुना, न किसी को कुछ बताया और चुपचाप निकल पड़े। भले-आदमी, घरवालों से झगड़ा हुआ था तो हुआ सही, मित्र-मंडली को कहीं ऐसे चकमा दिया जाता है। वह तो खैर हो गयी कि मैं खबर सुनते ही तुम्हें खोजने निकल पड़ा, नहीं तो तुम न जाने कहां समा जाते।"

गुरु-पुत्र अनाथ और सौदागर-पुत्र के बल पर ही कूदा करता था। उसके *गुम हो जाने से अनाथ को अपनी चिंता हो गयी थी*। पर सौदागर-पुत्र उसके *इस पक्ष को न देख सका और अनाथ के शब्दों में अपने लिए सच्चा प्यार उमड़ता पाकर गद्गद हो गया। बोला :* "समा कहां जाता। देखते नहीं हो, सामने यह रेगिस्तान। समझ में नहीं आता अब क्या किया जाये?"

अनाथ बोला : "क्या घर लौटने का मन हो रहा है?"

सौदागर-पुत्र ने पहले तो अपने सिर को बड़े जोर का झटका दिया मानो कहना चाहता हो··हरगिज नहीं। पर फिर न जाने क्या सोचकर बोला : "तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी क्या राय होगी।" अनाथ गुरु-पुत्र ने अनुगत के अंदाज में कहा: "मैं तो तुम्हारे साथ हूं। लौटना चाहो तो लौट चलूंगा, और आगे जाना चाहोगे तो आगे चलूंगा।"

सौदागर-पुत्र को उसके इस कथन से कुछ हिम्मत बंधी। उसे थोड़ा दुख भी हुआ कि वह उसे पहले ही साथ क्यों न ले आया, शहर में ही क्यों छोड़ आया। तभी उसे ध्यान आया कि अगर ऊंट पर अशर्फियां लादकर लौटना हुआ तो थोड़ी-बहुत इसे भी देनी पड़ेगी। पर वह तो बाद की बात है, बाद में देखी जायेगी। अभी तो यह रेगिस्तान पार करना है, और उसके लिए ऐसा एक साथी बड़े काम का है। उसने अनाथ को गले से लगाकर कहा : "अगर यह बात है, तो फिर मुझे क्या डर है। मिलकर जैसे भी बनेगा, यह रेगिस्तान पार कर लेंगे।"

गुरु-पुत्र को मानो मनचाही मुराद मिल गयी। सौदागर-पुत्र का साथ रहेगा तो फिर भला उसे क्या कष्ट हो सकता है। और उसके बिना तो शहर भी उसके लिए रेगिस्तान है।

रेगिस्तान पार कर लेने की जल्दी में वे आगा-पीछा सोचे बिना ही चल पड़े।

[2]

घड़ी-भर ही चले होंगे कि रेगिस्तान आ गया। वे रेत में पहला डग भरने

ही वाले थे कि उन्हें ज्ञान हुआ—रेगिस्तान में रास्ता नहीं होता। अपने पिता से सौदागर-पुत्र ने बचपन में ही जो अजीबोगरीब किस्से सुने थे उनसे वह तरह-तरह की कठिनाइयों का ज्ञान पा चुका था। ऊबड़-खाबड़ रास्ता, कच्चा-कंकरीला रास्ता, कांटों-भरा जंगली रास्ता, बटमार-डाकू-शेर-जंगली जानवर, अनेक प्रकार के कष्टों की कथा वह सुन चुका था और उनसे जूझने का मन-ही-मन संकल्प भी कर चुका था, पर ऐसी विपत्ति की उसने पहले कभी कल्पना भी न की थी। चारों तरफ रेत ही रेत बिछी है, और कहीं किसी रास्ते का कोई निशान नहीं। जिधर जी चाहे चल पड़ो, जहां चाहो अपना रास्ता बना लो। पर यह कोई नहीं कह सकता कि वह कहीं निकलेगा भी या नहीं। यह भी नहीं मालूम कि कभी कोई इस रास्ते गया भी है या नहीं। हो सकता है लाखों लोग गये हों, हो सकता है कोई न गया हो। रेत में निशान तो बनते नहीं। पैर रखा तो रेत नीचे बैठ गयी, पैर उठाया तो हवा के एक झपट्टे में रेत ज्यों की त्यों मौजूद। उसने अपने मित्र अनाथ गुरु-पुत्र से पूछा : "किधर चलें?"

गुरु-पुत्र बोला : "तुमने मेरे मुंह की बात छीन ली। मैं भी यही कहने वाला था—कौन-सा पथ है?"

सौदागर-पुत्र बोला : "मेरा ख्याल है बिल्कुल सीधे चलें तो ठीक रहेगा। सीधा रास्ता छोटा होता है।"

"पर यह कैसे मालूम पड़े कि सीध किधर है? सिवाय अपनी नाक के यहां तो और कोई सीध ही नजर नहीं आती।"

इतना सुनना था कि पहले तो सौदागर-पुत्र और गुरु-पुत्र एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे, भला यह आवाज कहां से आयी, फिर मुड़कर जो देखा तो सामने भाट-पुत्र। "अरे भट्टजी आप!" दोनों एक साथ चीत्कार कर उठे।

शहर में सौदागर-पुत्र और भाट-पुत्र अक्सर मिलते-जुलते रहते थे। पर उम्र में कुछ बड़ा होने के कारण भाट-पुत्र उसका मित्र नहीं कहला सकता था। वह उसकी मित्र-मंडली को दूर से देखकर हंसता रहता था। पर यहां अचानक उसे अपने इतने पास पाकर सौदागर-पुत्र खिल उठा, बोला : "भट्टजी, आप यहां क्या करने आये हैं?"

भाट-पुत्र कहने लगा : "क्या बताएं, इन बड़े लोगों के चोंचले भी विकट होते हैं। राजकुमारी ने हठ ठानी है कि नखलिस्तान का पानी पिऊंगी। सो बापू बोले, बेटा, यह कमंडलू लो और जरा किसी नखलिस्तान से भर लाओ।"

गुरु-पुत्र को मजाक सूझा : "वाह भट्टजी वाह। आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे नखलिस्तान पड़ोस के कुएं का नाम हो कि गये और भर लाये। अरे महाराज, देखते नहीं, चारों तरफ रेत ही रेत है, न जाने नखलिस्तान कहां है। है भी या नहीं?"

सौदागर-पुत्र ने कहा : "ऐसी बात थी भट्टजी, तो दो-चार चोबदार और एक ऊंट साथ ले आते, सुभीता रहता।"

"तुम सुभीते की कहते हो।" भट्टजी ने अपनी व्यथा सुनायी। बापू बोले, "' 'इस राजकुमारी का तो दिमाग खराब है, एक जिद पूरी ही जायेगी तो कोई दूसरी ठान लेगी। इसलिए जितनी देर लगे उतना अच्छा। जब तक तुम न लौटोगे तब तक मैं उसे इसी में अटकाए रहूंगा।' इसीलिए मैं अकेला और पैदल ही चल पड़ा हूं।"

तब सौदागर-पुत्र और गुरु-पुत्र ने अपनी कथा भी कह सुनायी। तय हुआ कि तीनों साथ रहेंगे। और यह तय करके वे फिर रास्ते के सवाल पर आ गये। भाट-पुत्र बोला : "मुझे बाप की एक उक्ति याद आ गयी : 'किसने जाना वह रास्ता है, कापालिक हंसता है।' सौ भैया, रस्ते की फिकर छोड़ो। और जिधर पैर उठे उधर ही चल पड़ो। मान लो कोई रस्ता मिल भी जाये, पर उस पर पैर न उठा तो क्या कर लोगे?"

भाट-पुत्र की इस परम ज्ञान की उक्ति ने दोनों को निरुत्तर कर दिया, और तीनों ने एक साथ रेगिस्तान में पैर डाला।

[3]

"अरे, अरे! तुम लोग कितने अनाड़ी हो। जूते तो उतार लिए होते। भला रेगिस्तान में कोई जूते पहनकर चलता है।"

उसी दिन के तीसरे पहर की बात है। सौदागर-पुत्र, गुरु-पुत्र और भाट-पुत्र रेत में धंसते-निकलते किसी तरह थोड़ी-सी दूरी तय कर पाये थे। हर कदम पर उनके जूते रेत में धंस जाते। उनमें गर्म रेत भर जाती और उनके तलुए उतने ही जलने लगते जितने नंगे पांव होने पर जलते। उन्होंने कई बार जूते उतारकर रेत झाड़ी और फिर जूते पहनकर आगे बढ़ते रहे। पर यह किसी को न सूझा कि जूते बेकार हैं, उन्हें त्याग देने में ही सुभीता है। वे कभी एक-दूसरे की उछल-कूद पर हंसते, कभी अपनी भूख-प्यास और थकावट पर झींकते, कभी इसका कभी उसका हाथ पकड़ते, कभी थककर बैठ जाते और कभी पीछे मुड़कर देखने लग जाते। अपनी दुर्दशा में वे इतने उलझे हुए थे कि वे उस अजनबी को लक्ष्य ही न कर पाये जो रेत में पसरा बैठा उन्हें अपनी ओर आता देख रहा था। इसीलिए जब उस अजनबी ने उनके हाल पर फब्ती कसते हुए ये वाक्य कहे तो वे तीनों अचकचा गये। उनकी नजरें एक साथ उस अजनबी पर पड़ीं और उसे अविचलित भाव से वहां बैठा देखकर वे बड़े प्रभावित हुए।

पहले गुरु-पुत्र ही आगे बढ़ा। अजनबी के पास जाकर विगलित स्वर में बोला : "आप कौन हैं महाराज? आप तो बड़े पहुंचे हुए मालूम पड़ते हैं।"

अजनबी हंसा, "हो न बुद्धू। मैं तुम्हें पहुंचा हुआ लग रहा हूं? भले आदमी, अभी पहुंचने की क्या चलायी, अभी तो शुरुआत है।"

"मेरा मतलब यह नहीं था।" गुरु-पुत्र बोला, "मुझे आप बड़े ज्ञानी मालूम पड़ते हैं। आपने दूर से ही ताड़ लिया कि हम लोग अनाड़ी हैं।"

"ज्ञान नहीं, अनुभव।" अजनबी बोला, "कुछ दूर तक मैं भी जूते पहने चला था। पर जल्दी ही समझ में आ गया कि जूतों से उल्टे और अड़चन हो रही है। क्या तुम्हें रास्ते में मेरे जूते पड़े नहीं मिले? उनके तले फटे हुए थे।"

अब सौदागर-पुत्र का बोल फूटा "नहीं महाराज, हमें तो कोई जूते नहीं मिले। शायद आप किसी और रास्ते से आये हों और हम किसी और रास्ते से।"

"हो सकता है।" अजनबी ने स्वीकार किया, "पर आप लोग हैं कौन?"

"यह ठीक नहीं है महाराज।" भाट-पुत्र बोला, "पहले आप अपना परिचय दीजिए।"

"मेरा परिचय ही क्या।" अजनबी बोला, "यों समझ लीजिए कि मैं एक अन्वेषक हूं। इस रेगिस्तान का अन्वेषण कर रहा हूं।"

"वाह, तब तो आप हमारे समानधर्मा हैं।" सौदागर-पुत्र ने कहा, "हम भी इस रेगिस्तान का अन्वेषण कर रहे हैं।"

"सो कैसे?" अजनबी ने प्रश्न किया।

इसके उत्तर में भाट-पुत्र ने तीनों की कथा कह सुनायी। सुनकर अजनबी ने पहले तो एक लंबी 'हूं' भरी फिर बड़े जोर से सिर हिलाया।

गुरु-पुत्र न पूछा : "क्या बात है महाराज, आप चुप क्यों रह गये?"

"इसलिए कि आप लोगों का कथन सही नहीं है।" अजनबी ने विचार-मग्न होते हुए कहा : "वास्तव में आप मेरे समानधर्मी नहीं हैं। आपके लिए रेगिस्तान केवल एक प्रसंग है, मेरे लिए वह लक्ष्य भी है...और उद्देश्य भी।"

तीनों श्रोता नासमझ की तरह अजनबी का मुंह ताकने लगे।

उन्हें प्रश्नदृष्टि से अपनी ओर देखते पाकर अजनबी ने अपने कथन का खुलासा किया : "बात दरअसल यह है कि आपके उद्देश्य और लक्ष्य से इस रेगिस्तान का कोई सरोकार नहीं है। यह सौदागर-पुत्र इसे पार करके धन कमाना चाहता है। गुरु-पुत्र सौदागर-पुत्र के अनुकरण में ही मग्न है, रहा भाट-पुत्र सो उसका कोई इरादा नहीं है कि वह रेगिस्तान को पार करे। वह तो नखलिस्तान का आकांक्षी है।"

इस कथन पर सौदागर-पुत्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने विस्मय से पूछा : "तो क्या आप रेगिस्तान के पार नहीं जाना चाहते?"

"नहीं।" अजनबी ने जवाब दिया : "रेगिस्तान के पार क्या है, इससे मुझे कोई मतलब नहीं। यह रेगिस्तान क्या है, मैं तो सिर्फ इसी का अन्वेषी हूं।"

"कुछ विस्तार से समझाइए, महाराज!" गुरु-पुत्र ने उकसाया।

"बात यह है।" अजनबी कहने लगा : "इस रेगिस्तान के पास ही मेरा

गांव है। लड़कपन से ही इसके बारे में तरह-तरह की बातें सुनता आया हूं। जब मैं छोटा था तब यह रेगिस्तान मेरे गांव से बहुत दूर था। पर ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया त्यों-त्यों यह रेगिस्तान भी फैलता गया।"

"वाह, यह कैसे हो सकता है?" भाट पुत्र ने टोका, "कहीं रेगिस्तान भी फैलता है? मैंने तो आज तक ऐसी बात नहीं सुनी।"

"तुमने अभी सुना ही क्या है?" अजनबी बोला, "और सुनते भी किससे, तुम्हारे बापू के जमाने में तो ऐसी घटना हुई ही नहीं। पर मैं जानता हूं कि जिस तरह नदी में बाढ़ आती है, उसी तरह रेगिस्तान में भी बाढ़ आती है। मेरे देखते-देखते यह रेगिस्तान मीलों लंबे खेतों को निगलता मेरे गांव तक आ लगा है।"

"तो फिर?" सौदागर-पुत्र ने पूछा।

"तो मैं इस रेगिस्तान को समझना चाहता हूं, इसकी प्रकृति का अध्ययन करके यह जानना चाहता हूं कि यह क्यों बढ़ता है? कैसे बढ़ता है? किस तरफ बढ़ता है। और इसका सही-सही पता लगाकर फिर इसकी रोकथाम करना चाहता हूं, इसे गायब कर देना चाहता हूं।"

"आपका मतलब है।" गुरु-पुत्र बोला : "कि जहां रेगिस्तान है वहां फिर से हरियाली हो सकती है?"

"हां, ठीक यही मतलब है। मैंने कहा न, जहां तुम खड़े हो वहां पहले हरियाली ही थी, मेरे देखते-देखते ही यहां रेगिस्तान ने अपना रूप प्रकट किया है। एक बार इसका रहस्य हाथ आ जाये तो फिर इसे मिटाते देर न लगेगी।"

"पर यह रहस्य हाथ आयेगा कैसे?" सौदागर-पुत्र ने प्रश्न किया।

"इसके निकट रहकर, इसके एक-एक चप्पे का अध्ययन करके। अन्वेषण से ही इसका रहस्य खुलेगा। उसके लिए संक्रमण जरूरी है। मैं चारों ओर घूम-घूमकर इस रेगिस्तान को खूंद डालना चाहता हूं। इसीलिए मैं स्थानांतरगामी प्रवृत्ति का कायल हूं।"

"अगर ऐसी बात है तो आप हमारे साथ क्यों न चलें, साथ रहेंगे तो मजा ही आयेगा। और क्या पता एक-दूसरे के काम भी आ सकें।" गुरु-पुत्र ने प्रस्ताव किया।

"अच्छी बात है, यही सही।" अजनबी ने तटस्थ भाव से स्वीकार किया।

चारों मित्र जब आगे बढ़े तब सूरज सामने के क्षितिज पर तमतमा रहा था जिसके कारण उन्हें आंखों पर हथेलियों की छाया करनी पड़ती थी।

[4]

"वह देखो, वह...भला आदमी न जाने क्या कर रहा है!" सौदागर-पुत्र के इस कथन पर सबने जो आंखें उठाईं तो देखा कि थोड़ी दूर पर एक नवयुवक

रेत में आंखें गड़ाए इधर-उधर घूम रहा है, मानो कोई खोई हुई चीज खोज रहा हो।

हालांकि रेतीली जमीन पर तेज चलना संभव न था फिर भी कुतूहल के कारण उन्होंने भरसक लंबे डग भरे और लपककर उस नवयुवक के पास जा पहुंचे।

उस नवयुवक का अंदाज ही अनोखा था। घुंघराले बाल अस्त-व्यस्त थे, चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं, पर दाहिने हाथ की अनामिका में हीरे की अंगूठी थी और तन पर रेशमी कुर्ता था। गुरु-पुत्र कुछ कहना ही चाहता था कि भाट-पुत्र ने उसे इशारे से टोक दिया और खुद उसको संबोधित करके बोला : "कहो भाई, आप यहां कैसे विचरण कर रहे हैं?"

नवयुवक की नजरें अभी तक नीचे रेत में ही गड़ी थीं। इस वाक्य पर उसने सिर उठाया और बड़े तटस्थ एवं कोमल भाव से इन चारों मित्रों को निहारता रहा। फिर धीमे स्वर में बोला : "आपको कोई आपत्ति है?"

इतना सुनना था कि चारों मित्र खिलखिलाकर हंस पड़े। सौदागर-पुत्र ने हंसते-हंसते ही कहा : "यह रेगिस्तान क्या कुछ कम आपत्ति है, जो हम अपनी आपत्ति और जोड़ें। हम तो आपसे संवेदना व्यक्त कर रहे थे क्योंकि आप अपनी वेशभूषा से विलासी प्रकृति के व्यक्ति प्रतीत होते हैं, रेगिस्तान में आपकी उपस्थिति स्वाभाविक नहीं लगती।"

नवयुवक ने एक क्षण मानो उसकी बात का मर्म मन में उतारा और फिर कहा : "जी!"

"क्या हम आपकी कुछ मदद कर सकते हैं?" गुरु-पुत्र ने सहमते-सहमते प्रश्न किया।

"शायद नहीं," नवयुवक ने उत्तर दिया, "यह मेरा निजी मामला है।"

"आपका कुछ खो गया है?" इस बार भाट-पुत्र ने सवाल किया।

"जी हां," नवयुवक ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"क्या?" सौदागर-पुत्र ने कहा।

"यह!" कहते हुए नवयुवक ने उनकी ओर अपना हाथ बढ़ा दिया। उसकी हथेली पर चूड़ी का एक टुकड़ा चमक रहा था। चूड़ी के उस टुकड़े को देखना था कि अजनबी अन्वेषक ने ऐसा जोरदार ठहाका लगाया कि सब उसकी ओर देखते रह गये। जब अजनबी कुछ प्रकृतिस्थ हुआ तब बोला . "मान गये आपको। मैं सोचता था कि मैं ही सबसे अधिक विचित्र हूं। अब देखता हूं कि दुनिया में एक से एक विचित्र प्राणी मौजूद हैं।"

नवयुवक के माथे पर एक तेवर पड़ गया। फिर भी वह संयत स्वर में ही बोला : "इसमें क्या विचित्रता है?"

"जी नहीं, कुछ नहीं। माफ करें मुझसे भूल हो गयी," अजनबी ने व्यंग्य किया : "आप रेगिस्तान में चूड़ी का टुकड़ा खोज रहे हैं, यह तो अत्यंत स्वाभाविक बात है। शायद रेगिस्तान होता ही इसीलिए है कि उसमें..."

नवयुवक ने अजनबी की बात काटते हुए कहा : "पहले पूरी स्थिति समझिए तब अपना मन्तव्य प्रचारित कीजिए—बिना सुने-समझे किसी के संबंध में अपनी राय जाहिर करना आपको शोभा नहीं देता।"

"तो भैयाजी, आप पूरी स्थिति समझा दीजिए न।" गुरु-पुत्र ने कहा, "हमने तो पहले ही पूछा था, पर आप खुद ही रहस्य बढ़ाए जा रहे हैं।"

"देखिए बात यह है," नवयुवक ने कहना शुरू किया, "आज सवेरे जब मैं किसी काम में जी बहलाने यों ही मैले कपड़े देख रहा था, तब एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में से एक रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा गिरा। आप मानें या न मानें, उस चूड़ी के टुकड़े में ऐसा इंद्रजाल था कि मैं दंग रह गया। दूर-कोर में उस टुकड़े पर मुझे अपनी प्रिया की अनगिनत लज्जित तस्वीरें दिखायी देने लगीं। मैंने वह टुकड़ा हथेली पर रखा और ध्यान-मग्न हो गया। तभी न जाने कहां से एक चील उड़ती हुई आयी और मेरे हाथ पर झपट्टा मारकर उस टुकड़े को उड़ा ले गयी। मैं भौचक्का-सा देखता रह गया और वह चील इधर रेगिस्तान की तरफ निकल आयी। भला ऐसे अनमोल टुकड़े को मैं हाथ से कैसे जाने देता। मैं तुरंत घर से निकल पड़ा और उसे खोजते-खोजते यहां आ गया। पर कहीं पता नहीं चलता। अब आप ही बताएं, इसमें कौन-सी विचित्र बात है!"

"सब विचित्र है भैया, सब विचित्र है," अजनबी बोला, "मंत्र-विद्या माया, गंडा, डोरा—इंद्रजाल के नाना रूप सुने थे, पर चूड़ी के टुकड़े का इंद्रजाल से सबंध यह पहली ही बार पता चला। और फिर वह चील भी कम विचित्र न रही होगी जो उसे झपट्टा मार कर ले गयी।"

"अजी यह तो कुछ भी नहीं," गुरु-पुत्र ने कहा, "सबसे विचित्र बात तो यह है कि चूड़ी का दुकड़ा इनकी मुट्ठी में मौजूद है, फिर भी उसकी तलाश किये जा रहे हैं।"

"आपने अभी पूरी बात कहां सुनी," नवयुवक ने झुंझलाते हुए कहा, "यह टुकड़ा वह थोड़े ही है। यह तो दूसरी चूड़ी का टुकड़ा है जिसे मैं पहचान के लिए साथ लाया हूं।"

"वाह, यह भी एक ही रही," गुरु-पुत्र ने कहा, "जिसमें इंद्रजाल का असर है उसकी पहचान के लिए इसकी क्या जरूरत ? यह तो आपने सबसे विचित्र बात कही।"

"पर यह भी तो हो सकता है" नवयुवक बोला, "कि अब तक उसका इंद्रजाल खत्म हो चुका हो।"

"अगर ऐसा है" भाट-पुत्र ने कहा, "तो फिर उसके खोजने का प्रयोजन ही क्या?"

"और अगर खत्म न हुआ हो तो?" नवयुवक ने प्रश्न किया।

"आप तो बड़ी चक्करदार बात करते हैं" सौदागर-पुत्र ने कहा, "किसी जगह टिकते ही नहीं—कभी कुछ, कभी कुछ।"

नवयुवक कुछ कहने ही वाला था कि भाट-पुत्र बोला, "अब मेरी समझ में आ गया। दोनों ही संभावनाएं हैं, इसलिए पहचान भी जरूरी है और खोज भी—क्यों है न यही बात?"

नवयुवक के मुख पर पहली बार मुस्कराहट दिखायी दी, "बिल्कुल ठीक, मैं हर स्थिति के लिए तैयार रहना चाहता हूं, जिससे चूकना न पड़े।"

"सो तो ठीक है।" अजनबी बोला, "पर अगर वह टुकड़ा मिले ही नहीं तो? आप जानते हैं, इतना बड़ा रेगिस्तान...।"

"यह कैसे हो सकता है," नवयुवक ने बात काटी, "जब वह चील उसे इधर ही लेकर आयी है तो वह यहीं कहीं होगा। हां, खोजने में कमी न होनी चाहिए।"

"ठीक है, ठीक है," सौदागर-पुत्र ने तपाक से स्वीकार किया, "आपकी खोज हमारी खोज से छोटी नहीं है। आइए, हम भी आपके साथ हैं।"

[5]

सौदागर-पुत्र, गुरु-पुत्र, भाट-पुत्र, अजनबी अन्वेषक और विलासी नवयुवक—पांचों के पांचों आगे बढ़े। वे यद्यपि मित्र हो गये थे, पर सबके मन अपनी-अपनी धुन में रमे थे, इसलिए आपस में बहुत कम बात करते थे। सौदागर-पुत्र दो-चार डग भरकर ही पीछे मुड़कर देखने लगता कि कितना रास्ता तय हो चुका है, गुरु-पुत्र सौदागर-पुत्र के चेहरे पर टकटकी लगाये उसके भावों को पढ़ने की कोशिश करता, भाट-पुत्र कुछ मंत्रोच्चार करता, अपने होंठ चलाता रहता, अजनबी बीच-बीच में चाहे जहां बैठकर हाथों से रेत हटाने की कोशिश करने लगता, और नवयुवक रह-रहकर आसमान की ओर ताकने लगता कि कहीं कोई उड़ती चील दिखायी पड़ जाये। उनकी मंडली बड़ी विचित्र थी। वे एक साथ भी चल रहे थे, और अलग-अलग भी। सो, उनकी गति बड़ी धीमी थी।

लगभग एक घंटे बाद पांचों ने बड़े विस्मय से देखा कि कोई आदमी बाईं ओर से झपटता चला आ रहा है और बराबर 'हाथी-घोड़ा पालकी, जय कन्हैयालाल की!' रटता जा रहा है। पलक मारते ही वह इनके पास आ गया तो पांचों ने उसका रास्ता छेक लिया। वह आदमी विलासी नवयुवक से टकराने ही वाला था कि भाट-पुत्र ने उसे जेठ में भरकर कहा : "जरा संभलकर! ऐसी भी क्या बात है?"

वह आदमी थम तो गया, पर अभी भी उसका दम फूल रहा था। थोड़ी देर में जब उसकी सांस में सांस आयी तो वह बोला, "आपने मुझे क्यों टोका? आप हैं कौन?"

सौदागर-पुत्र ने आगे बढ़कर कहा, "हम पांच हैं, और आप एक। आपको हमारी बात सुननी पड़ेगी।"

अचानक उस आदमी का भाव बिल्कुल बदल गया। बोला, "माफ करें, मुझसे भूल हो गयी। मैंने आपको गिना न था। आप पांच हैं तो ठीक है। पंचों की बात सिर-माथे। कहिए, क्या चाहते हैं?"

"रेगिस्तान के बारे में कुछ बताइए।" भाट-पुत्र ने कहा।

"रेगिस्तान!" वह आदमी अचरज से कह उठा, "कैसा रेगिस्तान! कहां है रेगिस्तान?"

"हम लोग जहां खड़े हैं वह रेगिस्तान नहीं है तो क्या है?" सौदागर-पुत्र ने पलटकर प्रश्न किया।

"और कुछ भी हो, रेगिस्तान नहीं है।" वह आदमी बोला।

"क्यों?" गुरु-पुत्र ने पूछा।

"इसलिए कि भूगोल की जो किताब अभी-अभी सात समुद्र पार से आयी है उसमें लिखा है कि हमारे यहां कोई रेगिस्तान नहीं है। इसलिए मैं इसे रेगिस्तान नहीं मान सकता। यह ठीक है कि यहां रेत ही रेत है, और चारों ओर सुनसान भी है, पर रेगिस्तान की और भी तो विशेषताएं होती हैं।"

"कैसी विशेषताएं?" नवयुवक बोला।

"बहस करना चाहते हो!" वह आदमी थोड़ा तेज हुआ, "तुमने रेगिस्तान की परिभाषा पढ़ी है?"

"नहीं।" नवयुवक ने सहज भाव से उत्तर दिया।

"तो पढ़ो। मैं रात्रि-कक्षा चलाता हूं, उसमें आना, मैं तुम्हें अच्छी तरह पढ़ा दूंगा।"

"यह सब तो बाद की बात है।" गुरु-पुत्र ने कहा, "अभी तो आप यह बताइए कि आप जा कहां रहे हैं?"

"मैं!" वह आदमी बोला, "मैं गीदड़ों के कराल-रोदन से बचना चाहता हूं।"

"गीदड़ों का रोदन! हमने तो नहीं सुना।" अन्वेषक बोला, "कहां है रोदन?"

"मेरे कान में।" उस आदमी ने जवाब दिया।

पांचों जने बुद्धुओं की तरह उसे घूरने लगे।

"मैं सच कहता हूं।" वह आदमी कुछ हतप्रभ होता हुआ बोला, "मैं जिस गांव में रहता हूं वहां रोज शाम को गीदड़ों का रोदन सुनायी पड़ता है। इसलिए शाम के पहले ही मैं गांव से भागकर यहां आ जाता हूं।"

"तो फिर ऐसे गांव में रहने से फायदा?" भाट-पुत्र ने कहा, "इससे तो अच्छा है, तुम हमारे साथ चलो।" अगर हमने इस रेगिस्तान को पार कर लिया तो हम एक नया गांव बसाएंगे, वहां गीदड़ नहीं होंगे।"

"बात तो ठीक है।" वह आदमी बोला, "पर मैं ठहरा गांव का अध्यापक। मेरी रात्रि-पाठशाला कैसे चलेगी?"

"अगर गांववालों को उचित जरूरत होगी तो वे कोई प्रबंध कर ही लेंगे। और अगर प्रबंध नहीं होगा तो समझो उन्हें जरूरत ही नहीं है, तुम बेकार सिर खपा रहे हो।" अन्वेषक ने कहा।

अध्यापक को यह तर्क सही लगा और वह भी साथ हो गया।

[6]

जब सूरज डूब गया और रात घिर आयी, तब नवयुवक बोला : "बस, अब यहीं रुक जायें, आराम कर लिया जाये।"

वैसे सभी लोग थक चुके थे और अंधेरे में चलते रहने की किसी की भी इच्छा न थी, पर कहने का साहस नहीं हो रहा था। नवयुवक की बात पर सब एक साथ बोल पड़े : "बिल्कुल ठीक।"

अंधेरी रात थी, पर आसमान तारों से भरा था। छहों के छहों थककर चूर रेत पर पसरे हुए थे, पर भूख-प्यास के मारे नींद किसी को नहीं आ रही थी। काफी देर तक इधर-उधर करवटें बदलते रहने के बाद गुरु-पुत्र ने सौदागर-पुत्र से कहा : "तुम्हारा क्या ख्याल है? कल हम पार पहुंच जायेंगे।"

"क्या मालूम?" सौदागर-पुत्र बोला।

गुरु-पुत्र ने कहा, "न पहुंच पाये तब तो बड़ी मुश्किल होगी। मेरा तो भूख के मारे बुरा हाल हो रहा है।"

"बुरा हाल किसका नहीं है?" अन्वेषक ने कहा, "पर हिम्मत छोड़ने से कैसे काम चलेगा!"

"वह देखो, आसमान में चांद निकला है।" अध्यापक बोल पड़ा, "क्या मालूम, चांद में भी रेगिस्तान है या नहीं?"

अन्वेषक ने बात बदली, "चांद का मुंह टेढ़ा क्यों है?"

भाट-पुत्र न जाने किस तरंग में था। बोला : "घी का लड्डू, टेढ़ा भी भला।"

नवयुवक ने कहा : "मुझे तो यह सारी खोज टेढ़ी खीर लगती है। कहीं ऐसा न हो कि हमारी किस्मत ही टेढ़ी हो जाये।"

गरज यह कि शब्दों से शब्दों की निरर्थक डोर जोड़ते-जोड़ते, अपनी-अपनी तकलीफ को छिपाने की बेकार चेष्टा करते-करते वे जैसे-तैसे हारकर निद्रा देवी की गोद में मग्न हो गये।

सवेरे सबसे पहले गुरु-पुत्र की आंख खुली। सूरज की लाल किरणें उसकी पलकों पर थिरक रही थीं। उसने जम्हाई लेकर उठने की कोशिश की तो उसे पता चला कि उसकी देह ही नहीं है। उसे हाथ-पैर-पीठ-पेट सारे अंग अलग-अलग जान पड़ते थे, उन्हें एक साथ समेटना जैसे वह भूल ही गया था।

तभी सौदागर-पुत्र जागा। गुरु-पुत्र ने उसे उठते देखकर कहा, "मैं तो आगे नहीं चल पाऊंगा, क्या करूं?"

"चलना तो है ही," सौदागर-पुत्र बोला, "यहां पड़े-पड़े भी तो निस्तार नहीं, और लौटना भी संभव नहीं लगता।"

भाट-पुत्र पड़ा-पड़ा उनकी बातें सुन रहा था, बोला, "मैंने बापू से तभी कहा था, एक ऊंट साथ कर दो, पर वे माने ही नहीं।"

नवयुवक का गला प्यास के मारे सूख गया था। बड़ी मुश्किल से बोला, "उन्होंने कमंडलु तो दिया था, इसी को भर लाये होते। कुछ तो प्यास बुझती।"

भाट-पुत्र कुछ कहने ही वाला था कि सौदागर-पुत्र खुशी से उछल पड़ा, "अरे ऊंट! वह देखो ऊंट!"

सब हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए। सामने सचमुच एक ऊंट मजे से जुगाली करता चला जा रहा था।

सौदागर-पुत्र बोला : "चलो, झपटकर इसे पकड़ लें। इस पर चढ़कर चलेंगे तो रास्ता जल्दी कट जायेगा।"

ये बातें हो ही रही थीं कि ऊंट खुद-ब-खुद उनके पास आकर खड़ा हो गया, और अपनी दुम हिलाने लगा।

छहों दोस्त इस विचित्र संयोग से मगन-मन ऊंट पर चढ़ गये। नवयुवक ने पहले कुछ आनाकानी की क्योंकि ऊंट की पीठ पर से चूड़ी का टुकड़ा शायद नजर न आये, पर पीछे छूट जाने के डर से आखिर वह भी सवार हो गया।

कुछ देर के लिए छहों यार अपनी भूख-प्यास और थकान भी भूल गये। ऊंट की पीठ पर बैठकर उन्हें दूर पर रेगिस्तान का सिरा भी नजर आने लगा। अध्यापक को रात गीदड़ों का रोना सुनायी नहीं दिया था, इसलिए वह भी खुश था। अकेला अन्वेषक ही कुछ गुमसुम था, मानो भीतर-ही-भीतर वह अपने-आपसे जूझ रहा हो।

[7]

दोपहर तक छह यारों की यह मंडली ऊंट की पीठ पर सवार काफी दूर निकल गयी। दो दिन से किसी ने भी कुछ खाया-पिया न था, इसलिए मन-ही-मन सब बिलबिला रहे थे, पर ऊंट पर सवार होने के कारण उन्हें लगता था कि जल्दी ही नखलिस्तान पहुंच जायेंगे। इसी आशा के सहारे वे अपने कष्ट भूलने की कोशिश कर रहे थे।

तभी अन्वेषक बोला, "यह ठीक नहीं, ऊंट पर से उतरना चाहिए।"

"क्यों-क्यों?" गुरु-पुत्र बोल उठा, "उसे ऊंट की सवारी बड़ी सुखद लग रही थी।"

"मैंने पहले ही कहा था, मुझमें और आपमें मूलगत भेद है। आप तो रेगिस्तान के पार जाना चाहते हैं, इसलिए आपके लिए यह सवारी काम की है। पर मैं तो यहीं रहकर रेगिस्तान की पड़ताल करना चाहता हूं। ऊंट की पीठ से इसकी पड़ताल नहीं हो सकती। मुझे तो आप उतार ही दीजिए।"

नवयुवक ने अन्वेषक का समर्थन किया, "इतनी ऊंचाई से चूड़ी का टुकड़ा भी नहीं खोजा जा सकता।"

यार लोग पशोपेश में पड़ गये। साथ छोड़ने का किसी का मन न था, पर यह समस्या भी विकट थी।

अभी वे सोच-विचार में ही लगे थे कि अन्वेषक ऊंट की पीठ से खिसककर धम्म से धूल में आ गिरा।

सब ऊंट की पीठ से नीचे कूदकर अन्वेषक को संभालने लगे। उसकी आंखें मुंद गयी थीं और होंठ खुले थे। भूख-प्यास के मारे वह बेदम हो गया था।

सौदागर-पुत्र ने कहा, "जैसे भी हो, कुछ पानी का इंतजाम करना चाहिए।"

सबने मौन सहमति प्रकट की। पर रेगिस्तान में पानी का क्या उपाय था।

गुरु-पुत्र ने कहा, "सिर्फ एक ही रास्ता है। ऊंट के पेट में पानी हो सकता है।"

पांचों यार नासमझ की तरह उसकी ओर देखने लगे।

"अगर अन्वेषक को बचाना है तो हमें इस ऊंट के पेट से पानी निकालना पड़ेगा। हम लोग तो प्यासे मरें और यह मजे से पार चला जायेगा। यह कहां का न्याय है!"

"ठीक है, ठीक है।" सबने एक स्वर में कहा।

पांचों तेजी से ऊंट की तरफ बढ़े।

ऊंट चुपचाप खड़ा इनकी ओर ताक रहा था। अचानक उन्हें आक्रामक मुद्रा में अपनी ओर आते देखकर वह डर गया। अपनी जान पर आफत आती जानकर वह घबराकर भाग खड़ा हुआ। पांचों यारों ने उसका पीछा करने की कोशिश की, पर रेगिस्तान में ऊंट से वे होड़ न ले सके।

[8]

भागते-भागते ऊंट एक नखलिस्तान में जा पहुंचा। उसने मुड़कर देखा तो उसके सवारों का दूर-दूर तक कोई पता न था। वह सुरक्षित अनुभव कर एक खजूर की छाया में ढील गया और जुगाली करने लगा।

तभी उसके कानों में न जाने कहां से आवाज आयी : "ऐ!"

ऊंट के कान खड़े हो गये। उसने सकपकाकर इधर-उधर देखा, कहीं कोई न था। वह दंग होने ही वाला था कि फिर उसके कानों में आवाज आयी: "ऐ! इधर-उधर क्या देख रहे हो? मैं तो यहां हूं!"

"कहां?" किसी विचित्र शक्ति से ऊंट मानवीय भाषा में बोलने लग गया।

"तुम्हारी पीठ पर। मत समझो कि तुम अपने सवारों से पीछा छुड़ा चुके हो। वे छह पीछे रह गये तो क्या हुआ? मैं अब भी तुम पर सवार हूं, और

तुम कहीं भी क्यों न जाओ, मैं हरदम तुम पर सवार रहूंगा। मुझसे तुम कभी नहीं बच पाओगे।"

"पर तुम हो कौन?"

"मैं उनका सूक्ष्म-रूप साथी हूं। यों समझ लो कि वे छह नहीं, साढ़े छह यार थे। वे भले ही उतर गये हों, मैं तुम्हारी पीठ पर हरदम चढ़ा रहूंगा, और तुम्हारे कानों में चीख मारता रहूंगा।"

"तुम्हारा नाम?"

"मुझे इतिहास कहते हैं।"

[रचनाकाल 1968, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' मार्च 1969 में प्रकाशित, 'श्रेष्ठ व्यंग्य कथाएं', 'लीक-अलीक' में संकलित।]

प्रसंग

हास्य-व्यंग्य

साइकिल से गिरे हुए मनुष्य की चेष्टाओं पर शिक्षा और व्यंग्यपूर्ण वर्णन

'न-किन-टिन-टिन' देखिए सामने से एक साहब अपनी दो टांग की बाइस-अकिल पर चढ़े हुए अपनी अजब अनोखी आभा दिखाते चले जा रहे हैं। शायद आपने आगरे जानेवाली रेल से रेस बद ली है, अथवा किसी को आप अपनी निराली शान प्रदर्शित कर रहे हैं। तभी तो आपकी साइकिल 'तूफ़ान मेल' को भी मात कर रही है। निश्चय ही आप किसी को अपनी शान दिखा रहे हैं, नहीं तो वह देखिए—एक हाथ से चलाने में ही क्या लाभ? अरे! हां, ज़रा आपकी पोशाक पर भी तो दृष्टि डालिए। सिर खाली पट्टीदार कढ़े हुए केश, मुंह में पान, गले में सिल्क का कामदार कुर्ता, एक हाथ में बेंत और एक में रिस्टवाच। पैरों में मखमली काली कन्नी की धोती और पंजों में कामदार जूते, जूते क्यों सलीपर—अहा! देखिए तो आप कैसे हवा से बातें करते आ रहे हैं। मगर—अरे! बुरा हो इस कम्बख्त पत्थर का, जो सड़क पर पड़ा अपनी शान दिखा रहा है, उधर साहब की आंखें आकाश की ओर गयीं इधर साइकिल ने पत्थर से आलिंगन कर एक लंबी कुदान और एक ऊंची फुदान ली और सड़क के एक ओर गिरकर ठंडी-ठंडी कीचड़ में शीतलता का अनुभव करने लगी।

कहिए साहब, आपकी आंखें किसे देख रही थीं। ज़रा उस कंबख्त पत्थर से हट जाने को ही कह देते या फिर उससे निकलकर ही सौंदर्य का निरीक्षण करते। और आपको इतनी तेज़ चाल से चलाने में ही क्या आनंद आ रहा था। ज़रा और तेज़ चलाते यह तो कुछ न था, इसे तो एक स्कूली लड़का भी कर लेता। और यदि आप अपनी चाल ही दिखाना चाहते थे तो हमसे कह दिया होता हम वैसे ही आपकी विशेषता स्वीकार कर लेते। अब देखिए आपके इस 'बारे वारिधर' रूप कोमल-श्यामल गात को कष्ट उठाना पड़ा। जाड़े में शीतल कीचड़ में लेटना पड़ा। और इधर आपकी शान घट गयी, कामदार धोती फट गयी, हाथ कट गया, हैंडिल पहिए से सट गया।

अरे! अब आप उठने की चेष्टा क्यों कर रहे हैं। पड़े रहिए। किसी सरोवर में स्नान करने से, कुछ कम आनंद इस कीचड़ में नहीं है। धोती की चिंता न करिए। चाहे वाशिंग कंपनी में डबल रेट से चौबीस घंटे में धुलवा लेना।

परंतु अरे! यह आपके हाथ में खून की धार कैसे निकल रही है। ठीक, शायद रिस्टवाच का कांच फूटकर आपके हाथ को बेध गया है। परंतु हुआ बुरा ही, आपकी कमनीय कोमल कलाई रिस्टवाच के बिना असुंदर प्रतीत होती है। फेंकिए इस बेंत को। चार पैसिल्ली के इस सरकंडे पर इतना मोह क्यों? अरे! कहना मानिए—परंतु यह आप अपना मुंह क्यों पोंछ रहे हैं। रहने दीजिए, इन दो-चार काली कालिमा के कलंक-टीकों को अपने इस धवल मुख पर लगे रहने दीजिए। चन्द्रमा भी तो कलंकित है···और फिर आपका मुख क्या चंद्रमा से कुछ कम है। खैर, अपनी इस हरक्यूलस साइकिल को उठाइए। बेचारी को जाड़ा लग रहा है। समझे!

अब आगे से कृपया सतर्क रहिए। यदि अपनी शान ही दिखानी हो तो किसी निर्जन पथ पर जाया करिए। यदि कोई ऐसा ही अवसर आ जाये तो इधर-उधर मत ताका कीजिए। एक हाथ से चलाने में ही क्या आनंद है। वह तो खैर हुई—कीचड़ में ही गिरे—यदि किसी पत्थर पर गिरते तो बच्चा को आटे-दाल का भाव मालूम होता। सिलीपर पहनने में ही क्या शान है। ज़रा बूट ही पहिने होते।

खैर, अब आगे से यह बात गांठ बांधिए कि अव्वल तो सड़क पर साइकिल चलाना नहीं और यदि चलाना तो सतर्क होकर। यदि फिर भी आप न समझें तो तुम्हें तो क्या कहेंगे—अपना मत्था ठोक कर यही कहेंगे कि हम क्या करें, देश के नसीब ही ऐसे हैं।

[रचनाकाल दिसंबर 1934, 'विभुबंधु' उपनाम से
कक्षा 10 की छमाही परीक्षा में लिखा लेख,
'ज्योति' 1935 में प्रकाशित।]

फिर बहार आयी

तीन महीने की ताबड़तोड़ लू-लपट और सूर्य की किरणों के इंजेक्शनों के बाद पसीनेदार परेशानी के मारे नाक में दम हो जाने पर कहीं भाग्य-देवता पिघले। जब ठंडी सड़क का पसेरियों कोलतार चिप-चिप करके जूतों से चिपक गया और फैक्टरी की मनों बरफ आगरे में गले के नीचे उतर गयी—जब शरीर का सारा तेल हजारों छेदों से रिस-रिस कर बहने लगा—तब कहीं काल-भगवान को संतोष आया। और जहां रवि-रूपी गाड़ीवान के कोड़ों के मारे आकाश-मार्ग पर बादल का बच्चा तक नहीं फटकने पाता था—वहीं मेघों के झुंड हाथियों की तरह झूमते नजर आने लगे—ऐसे अकड़ते हुए मानो संसार-भर की वाटर-सप्लाई का ठेका ले लिया हो। बेचारा मनुष्य करे भी तो क्या करे? उसने फिर छन्नी-बीवी की शरण ली और छन्नी-बीवी को जरा शह मिली और सिर पर चढ़ बैठीं। इधर देखते-देखते धड़ाधड़ आसमान जमीन पर टपकने लगा—टीन की छतें पड़ापड़ बोलने लगीं, और एक बार फिर मुर्दादिली में जान आयी—उजड़े हुए गुलशन में फिर बहार आयी।

और, पहली वर्षा होते न होते ही काली-कलूटी रेलें राजामंडी स्टेशन पर कॉलेज के अनगिनती स्टूडेंटों को इस तरह उगलने लग गयी मानो काली घटा में ओले बरस रहे हों। स्टेशन का नज़ारा काबिले-दीद बन गया। हिंदुस्तानी भीड़ की चिल्ल-पों के बीच ये पश्चिमी सभ्यता के हिमायती ठीक ऐसे लगते थे जैसे अरहर की पतली दाल में लाल मिर्च के बीज। ठसाठस भरे हुए थर्ड-क्लास के कंपार्टमेंट की खिड़की से अपनी शुतुर्मुर्ग की-सी गर्दन निकाले मन ही मन रेलवे औथोरिटीस और स्मोकर्स को गुस्से के घूंट पी-पी कर कोसते हुए, 'कुली-कुली' की कर्कश कर्णभेदी ध्वनि से प्लेटफार्म की अलासित शांति को धक्के मार-मार कर बाहर निकालते हुए जब ये नव-जवानी से भरे हुए उच्छृंखल कालेजिएट्स अपने कृश-गात को संभाले, जो अनंत में मिल जाने का प्रयास कर रहा था, नीचे उतरते तो इनके 'धूल-भरे घुंघरारे-कारे' बालों को देखते ही बनता था। और जब ये भीड़ की धक्कम-धुक्का से आंती होकर अपने भारतीय होने पर खेद प्रकट करते हुए, बाहर निकलकर टांगेवाले की धांधली पर अपनी पेटेंट गालियों की ट्रेन सर्र-सर्र छोड़ते हुए हॉस्टलों को रवाना होते तो इनका

मस्तक आप ही आप किसी गर्व से अकड़कर सोंठ हो जाता—और दुर्भाग्यवश यदि कोई गंवार सड़क के सामने उनके रास्ते में कांटे की तरह दिखायी दे जाता तो ये बिलकुल काली मिर्च के कादे ही हो जाते। कॉलेज के स्टूडेंटों के साथ-साथ मानो भानुमती का पिटारा या लंदन के घर का दफ्तर ही आगरे में आ गया हो। इन देव-दुर्लभ हाव-भावों के लिए तरसती जनता को स्टूडेंट्स साक्षात् वरदान से प्रतीत हुए।

और कॉलेज के स्टूडेंट्स क्या आये—मानो आगरे में फिर लहर आ गयी। तीन महीने की दीर्घ मुहर्रम के बाद फिर वही हो-हुल्लड़, फिर वही किलकारियां और फिर वही चुहलबाजियां। साइकिलों की टन-टन, मोटरों की भौ-भौं और चप्पलों की चट-चटाहट से ठंडी सड़क फिर गूंजने लगी। और एक बार फिर कॉलेज के स्टूडेंट, गुट्ट के गुट्ट, हंसते-खेलते, बगलें बजाते, लाल-हरी साड़ियों पर झांकते 'अछूत-कन्या' और 'डाकू का लड़का' के नोटिसों को फ्लैक्स के चरर-मरर जूतों-तले कुचलते हुए, शाम के समय ड्रमंड रोड पर इधर से उधर लैफ्ट-राइट करते हुए नजर आने लगे।

और एक बार फिर बरसात से मेरे कॉलेज रूपी तालाबों में मेढ़कों की टर्र-टर्र और झींगुरों की झनकार सुनायी पड़ने लगी। एक बार फिर डेविस हाउस गुलजार हो गया। बेचारे ओल्ड होस्टल के भी भाग जागे—वहां भी कबूतरों के झुंड पर फड़फड़ाते दिखायी देने लगे। रामसरूप महाराज और सुमेरा कहार फिर चौके की चौखट पकड़े खड़े हुए दाल पकने का खदबड़-संगीत सुनने लगे।

और एक बार फिर 'जसवंत-टाकीज' पर उसी तरह धावे पर धावे होने लगे—जैसे आंदोलन के दिनों में कांग्रेस-वालियंटिरों ने नमक पर हमला किया था। 'मिट्टी के पुतले' और 'अनऐम्पलॉयेड' खेलों से संतोष कर लेनेवाली सिनेमा-प्रेमी जनता को फिर न्यू थियेटर्स और बौम्बे टाकीज की फिल्मों के देखने का सौभाग्य प्राप्त हो गया।

और फिर आगरा कॉलेज का एकाक्षी मिठाईवाला ही क्यों बैठा रहता? वह भी अपनी मिठाइयों को करीने से लगाये अपने नामी तिकोनों का खोमचा सजाये, सुबह-शाम चिकन का कुरता और धुली हुई धोती पहने, पंखा झलता हुआ अपने नियत स्थान पर बैठा नजर आने लगा। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसी हलचल और दौड़-धूप में बेचारे प्रोफेसर सेठी को भी 'हिंदुस्तान' में टेंडर का नोटिस निकलवाना पड़ा।

कोई चाहे तो इस मार्के की बात पर 'ओथेलो' की पेंसिल पर पेंसिल घिस डाले और 'ईगिल' की कापियों का दिवाला निकाल दे पर अपने राम तो सब कुछ ढाई शब्दों में ही कह देते हैं—फिर बहार आयी।

['अललटप्पू' उपनाम से, 'आगरा पंच' 6 अगस्त, 1937 में प्रकाशित।]

मच्छर भगवान

शाम होते ही अपने राम को ऐसा जाड़ा चढ़ने लगता है कि क्या किसी मलेरिया के मरीज को चढ़ेगा। उधर घड़ी ने टिनटिनाकर छः हथौड़े लगाये और इधर दिल गड्ढे में बैठने लगा। रोज दोपहर को सोचता हूं रात को सूरज क्यों नहीं निकला करता? ईश्वर भी क्या धांधलीबाज़ आदमी है कि दिन को सूरज बनाया, जब उजाले की कोई ज्यादा जरूरत नहीं और रात को केवल चंद्रमा ही बनाया जब प्रकाश की अधिक आवश्यकता होती है। खैर, चंदा ही सही, पर यहां तो कोढ़ में खाज है। कंबख्त, एक-सा रहता ही नहीं। कभी पूरा खीर-भरा कटोरा-सा हो जाता है तो कभी बिहारी की नायिका की कमर की तरह बिना माइक्रोस्कोप के दीखता ही नहीं। बस, अंधेरी रात, सोना पड़ता ही है और सोना क्या है—आफ़त की जड़ है। जाड़े में लिहाफ पर लिहाफ ओढ़े जाओ, जरा कहीं इंच-भर का भी छेद-सा बन गया तो बर्फ के पानी की पिचकारी लगने लगती है। गर्मी में पंखा हिलाते-हिलाते उंगलियों का खून उतर-उतरकर कुहनी पर जमा हो जाता है—फिर भी यह मन करता है कि सारे कपड़े ही नहीं—दो चार पर्त खाल की भी उतार फेंके—आखिर 11 पर्त खाल का शरीर बनाया ही क्यों गया?

खैर साहब, जाड़े-गर्मी तो जैसे-तैसे कट ही गये। पर बरसात आते ही यहां एक नयी बला आ खड़ी हुई। रात को पढ़ने बैठा—तो लैंप के पास इतने मच्छर मंडराते नजर आयेंगे मानो मेरा ही लैंप कोई खूबसूरत बला है—खैर, तुम इश्क में मर रहे हो—हमें क्या गरज है कि रोकें। पर भले आदमी, मेरी किताब या मेरा शरीर तो कोई इश्कगाह नहीं है, न इसमें लैंप ही लग रहे हैं फिर क्यों अगल-बगल, ऊपर-नीचे, इधर-उधर चारों तरफ से तुम्हारी वानर-सेना मेरी शरीर-लंका पर टूट पड़ती है और खून चूस-चूस कर कचूमर निकाल डालती है। देखा न वह काटा—मानो शरीर में चेचक का टीका लगाने का नस्तर चुभो दिया हो, जब तक उंगली को दांतों से पुचकार रहा था कि लैंप पर निगाह जा पड़ी—मच्छरों का मेला लग रहा था। मां-बेटी, बाप-बेटा,

चाचा, मामा, पति, पत्नी, चेंटा-पेंटी, मच्छरों के फलान-ढिकान सब नुमायश में शामिल थे। बहुत देर तक उन्हें देखता रहता—जब लाला घासीराम की घड़ी ने डंके की चोट नौ बजा दिये तब पढ़ने की आशा छोड़ अपने राम सोने की संभाल करने लग गये।

['टाय-टाय व फिस्स' उपनाम से 'आगरा पंच',
12 अगस्त, 1937 में प्रकाशित।]

मच्छरों से मुठभेड़

पढ़ना भी और फिर कोर्स की किताबों को सचमुच एक आफत है। कुछ ऐसी ही कतर-व्योंत और उधेड़-बुन में लग रहा था जब भगवान ने मच्छरावतार लेकर अपनी कलाबाज़ियां दिखाकर' अपने इस भक्त को उबार लिया। किताब बंद की, मच्छर भगवान की सवारी लैंप को बुझाया और सोने को ऊपर गया।

जिसे पढ़ने से पुस्तैनी दुश्मनी होती है—उसे सोने से परंपरागत मित्रता होती ही है। एक-एक सीढ़ी चढ़ता जाता था और उन क्षणों का मीठा मज़ा ले रहा था जब नींद गले चिपट कर सुलायेगी और हवा पंखा झलेगी। कमरे में पहुंचकर झटपट बिस्तर बिछाये और सो गया।

ज़रा झपकी ही लगी कि बराबरवाले घर में से बुधिया कहारिन खों-खों करके खांस पड़ी। करवट बदलकर फिर नींद को मनाने लगा तो तिखने से किशनलाल ने खाना खाकर मोरी में पानी डाल दिया। कंबख्त पानी की भी तो गुस्ताखी देखो। ज़मीन पर उतरते-उतरते इतनी आवाज की कि यदि कोई घोड़ा बेचकर भी सोया होता तो जग जाता—फिर मेरी क्या हस्ती? अपनी बरसों की चुनी हुई गालियों का सप्तक बड़बड़ा कर, अपने राम उदार पुरुषों की भांति जल की गुस्ताखी माफ़ करके फिर एक बार सोने की भरसक कोशिश करने लगे।

पर इस बार तो अपने दोस्त ने ही दग़ा दी। मच्छर भगवान ने मुझे बुक्की-पिंग से बचाकर मेरे ऊपर अहसान किया था, लेकिन अब वही बिगड़ गये। हमला पैरों से शुरू हुआ। उस 'तिनके-सम तुच्छ' जीव को मैंने कष्ट देना अनुचित समझकर उसे उड़ा देने में भी श्रेय समझा। मगर, ज्यों-ज्यों दबे—वह सर पर ही चढ़ने लगे और फिर क्या अपने दोस्तों को, अड़ोस-पड़ोस को सबको बुला लाये और कान-नाक एक साथ काटकर युद्ध की घोषणा कर दी। मैं घबरा गया। बड़ा जानवर हो तो पकड़ कर बांधे, सौ तरह से तंग कर ले—यह तो इतने छोटे कि कोई वश ही न चले। दो-चार बार मैंने बात टाल दी—पर फिर अपनी देह को चलनी तो बनाना ही न था—वैसे ही हजारों छेद हुए पड़े हैं। कोई तो उपाय करना ही पड़ेगा। गर्मी होने के बावजूद मैंने एक हलकी-सी चादर ओढ़ ली।

कुछ देर तो मेरे इस कमनीय कवच से मच्छर के भी हौसले पस्त हो गये परंतु न जाने उस कण बराबर शरीर में इतना दिमाग कहां से आया—एक छेद में होकर अंदर घुस ही तो आये। इधर अपने राम ने उन्हें उड़ाने के लिए हाथ निकाले, उधर हाथ पर मच्छर चिपक गये। मैं अब न सह सका। पैर बचाओ सिर की आफत, सिर-पैर दोनों को बचाओ तो हाथों की आफत। आखिर शरीर में बीसों अंग होते हैं—और हाथ मेरे दो ही। फिर तो क्रोध आ ही गया। उस दिन श्रीमतीजी ने नमक कम डाला था—जनाब! वह पराक्रम दिखाया कि बस आज तक झुक-झुककर चलती हैं—फिर उनकी क्या हस्ती। हमारे पुरखाओं में ही तो थे परशुराम—21 बार क्षत्रियों की खबर ली थी—फिर क्या हम मच्छरों से भी हार जायें। बस, कमर कसकर, ताल ठोंककर तैयार हो गया। पंखा हाथ में ले मच्छरों पर पिल पड़ा। प्रतिज्ञा कर ली न सोयेंगे, न सोने देंगे। सुबह तक मेरा पंखा चलता ही रहा। दूसरे दिन श्रीमतीजी ने झाड़ू लगाते समय गिनकर बताया—मैंने पंद्रह हजार, नौ से छासठ सही सत्रह बटे अठारह दुश्मनों को मौत के घाट उतारा। वाह रे हम!

['कारकार चवालिससों' उपनाम से 'आगरा पंच'
13 अगस्त, 1937 में प्रकाशित।]

साग की समस्या

लिखने को अपने राम के हाथ सुरसुराया करते हैं और कोई भी ऐसा दिन नहीं जाता जिस दिन दस-बारह सफेद-बुर्राक़ कागजों को हम काले स्याह न कर देते हों। पर ईजानिब के अचकचाने का नंबर आज तब आया जब हाथ में कलम लेकर भगवती को सुमिर कर अपने राम कुर्सी पर अकड़ते हुए बैठे तो कोई विषय ही न सूझा। दो-चार मिनट तो हमने संतोष की समाधि लगायी— शायद दिमाग महाशय पिघल जायें या दिल महाराज ही पसीज उठें—पर जब चारों ओर नज़र डालने पर भी बधिया बैठती नजर आयी तो कलम पटक कर महाराज को भोजन लाने का ऑर्डर दिया। दो ही मिनट में थाली आ पहुंची और चर-चराती जीभ को दातों में दबाते हुए कनखियों से मैंने पहले बलि के बकरों की तरह सामान का निरीक्षण किया। वही पुराना साथी—आलू कटोरे में बैठा हुआ था और चिर-परिचित गेहूं की चार-पांच पूरियां एक ओर विराजमान थीं। आप यह सुनकर चाहे ताज्जुब करें—लेकिन अपने राम ने टॉकी हाउस के पानवाले से मुंह-जबानी यह मालूम किया है कि एक ही खेल रोज देखते-देखते सिनेमावाले भी ऊब जाते हैं—तो फिर अगर रोजाना एक ही साग-दाल-रोटी खाते-खाते अपने राम का यह बिगड़ैल दिमाग कुलबुलाने लग जाये तो क्या बुराई। महाराज से कुछ कहना तो बर्रों के छत्ते में कंकड़ फेंकना था (अपना महाराज पुरबिया है) लेखनी को कलमदान की टिकटी पर लिटाकर सोचने लगा—कम साग-दाल होने में किसका दोष है। विचार-मथनी से दिमाग के दूध को मथ-मथ कर हमको यही नतीजे का मक्खन मिला कि इसमें न तो अपने राम का कोई कसूर है, न हमारे गरीब महाराज का कोई दोष है, न काने कुंजड़े की ही कोई गलती है, और न किसी अन्य की ही कोई भूल है—लेकिन इस सबका इल्ज़ाम बेसिर-धड़ के आदमी यानी भगवान पर ही लगाया जा सकता है। ऊबना कोई गुनाह नहीं, महज कुदरती बात है, ईश्वर स्वयं दिनरात 'दीनबंधु दीनानाथ' सुनते-सुनते ऊब गये हैं—तो फिर इन्होंने इतनी तरकारियां क्यों नहीं बनायीं कि आदमी का मन उकता न जाये। अब इस मौसम में दो सागों के अलावा कुछ मिलता ही नहीं तो हमारे महाराज अपनी उंगलियां बनाकर तो खिला ही नहीं देंगे। आलू तो बारहों महीना मिलता

ही है, इसके अलावा सिर्फ अरबी और है—सो, एक तो उसका नाम ही अजायबी-घुइयां और खाने में बस ऐसी लगती है जैसी हेमियोपैथी की दवाइयां। रह गयी बेचारी तोंदल तोरई और भुनगी भिंडी। तोरई की शक्ल से ही हमें नफरत है और भिंडी तो बस चिप-चिप करती हुई गले के नीचे उतरते-उतरते छः बार पानी पिलाकर छोड़ती है। टिंडों को देखते ही अपने राम का पारा चढ़ जाता है। हां, कद्दू मियां कभी-कभी अपनी छटा दिखाते हैं—परंतु उसका-। पर ओ! यह खाना ठंडा हो रहा है। अब ज़रा खा तो लूं।

['कलम तोड़ लिक्खाड़' उपनाम से, 'आगरा पंच', 29 अगस्त, 1937 में प्रकाशित।]

एक अपनी बात

न जाने यह क्या संयोग की बात है कि मैं जब कभी भी अपनी प्यारी लेखनी को उठाकर लिखने बैठता हूं तो जरूर ही कोई-न-कोई कुत्ता भूंक पड़ता है। सुबह-शाम, रात के बारह बजे और सुबह के नौ बजे—सब समय आज़मा चुका हूं लेकिन कुत्ते के भूंकने में कोई गड़बड़ी नहीं देखी। इसीलिए आज पैन में नयी इंक की डिबिया में से, ट्यूब को अच्छी तरह गर्म पानी से धोकर उसमें से पूरा संदेह मिटाकर, स्याही भरकर लिखने बैठा हूं—यह सोचकर कि शायद पैन की पुरानी स्याही से ही जिसकी डिबिया हमेशा गली की ओर ही रक्खी रहती है कुत्ते का कोई संबंध हो लेकिन वह कंबख्त माने तब न, वह देखिए वह अब भी भूंक रहा है। अब कहिए मैं लिखूं कैसे। बस, मन में यही आ रहा है कि बाहर जाकर इस कुत्ते का मुंह पकड़कर तांगेवालों की शब्दावली ग्रहण करते हुए इस ज़ोर से दबा दूं कि बस ताजगंज की ही सैर करने लग जाये। और उस पर तुर्रा यह कि चुप होना तो दूर रहा यह तो भूंके ही चला जा रहा है और मुझे कुछ ऐसा जान पड़ा है कि आज 'पंचराज' को मैं कोई भी सलामी न दे सकूंगा और फिर इस सबका क्या नतीज़ा होगा, यह तो सोच-सोच कर ही मैं पानी-पानी हो रहा हूं। मेरे 'नकार' सूचक सिर हिलाते ही संपादकजी उबले बैंगन की तरह भुनभुनायेंगे तो मुझे डर है कि मैं कहीं कुर्सी से लुढ़ककर कलामुंडी न खाने लग जाऊं। खूब सोच रहा हूं—बार-बार कलम को कागज का आलिंगन करने को मंजूर कर रहा हूं पर···यह कंबख्त कुत्ता माने तब न। खुदा की दुआ से आगरे की यह मिहरबान म्यूनिसिपैलिटी की कुछ ऐसी कुदरत है कि बाग-मुज्जफरखां के सूअर और गोकुलपुरे के कुत्ते इसकी विशेष कृपा के पात्र बन गये हैं। आप हंसें न—इसका सुबूत भी मेरे पास मौजूद है। सुबह जब चुंगी का जमादार आता है तो जिस ढंग से वे लोग कान फटफटाते और पूंछ हिलाते उसका स्वागत करते दौड़े पड़ते हैं—वह सीन काबिलेदीद है। यह समझने की तो मैं जुर्रत ही नहीं कर सकता कि चुंगी का और कुत्तों का कोई संबंध है, लेकिन फिर भी न जाने कोई मुझे यह सोचने पर बाध्य कर रहा है कि चुंगी क्योंकर कुत्तों पर मेहरबान है। तो सोच लूं—पर, अरे! यह तो एक अच्छा-खासा लेख बन गया।

['एक गोकुलपुरिया' उपनाम से 'आगरा पंच' में 1, सितंबर, 1937 में प्रकाशित।]

टेलीफोन की टनटन (1)

हैलो, संपादकजी,

जय झाईं बाबा की।

आपने जब आग्रह किया है तो मैं आपको एक चटपटी चटनी का मसाला सुनाता ही हूं। सुनिए—

आपने शायद कभी इस बात पर गौर न किया हो, लेकिन इसे 'कृष्णा-टाकीज' के सामने बैठनेवाला दक्खिनी खोमचेवाला भी खूब अच्छी तरह जानता है कि आगरा की म्यूनिसिपैलिटी को जिसे शाप देना होता है (क्योंकि क्रोध में वह किसी कर्कशा से कम नहीं है) तो उसके घर के बगल में एक पंचायती नल लगवा देती है। बस, इससे बढ़कर शाप दुर्वासा तो सोच ही नहीं सकते। सुबह-शाम दोनों समय बिना नागा यहां भले आदमी नलदेव की पूजा करने आते हैं और फिर पूजा करते समय जिन मंत्र, सूक्त, श्लोक और पदावलियों का ये उच्चारण करते हैं उन्हें अगर आपने नहीं सुना है तो मैं समझूंगा अभी आपने कानों को सुफल नहीं किया। यहां की बातों से हृदय में वह आनंद होता है कि खुशी के मारे दूसरे ही दिन डाक्टर साहब पर जाना पड़ता है और मुझे तो किताब बंद करके ये सुननी ही पड़ती है। मेरा तो ख्याल है कि तुलसीदास ने रामायण और उर्दू के लेखक ने आलिफ लैला जरूर ऐसी बातें सुनकर लिखी हैं।

अभी सुबह की बात है नलदेव के पहरे पर दो प्राणी तैनात थे जिनमें एक स्त्रीलिंग थी। इसे मैं खूब अच्छी तरह पहचानता हूं क्योंकि वह मेरे यहां 60 फीसदी पानी मिला दूध 'बाबूजी' के संबोधन के साथ पूरा निखालिस बता कर दे जाती है। दूसरे सज्जन को मैंने कहीं देखा पर याद नहीं। शायद कैलाश के मेले में एक पैसे के गुड़ के सेब खरीदते देखा था। दोनों आदमी कुछ देर मन-ही-मन निवेदन करने के बाद एक विषय लेकर बात करने लगे। बात का विषय था एक चितकबरी बिल्ली।

पहले तो दोनों ने उसका परिचय दिया। किस तरह से वह उनके घरों में बेधड़क चली आती थी, किस तरह से वह लल्लू के हाथ से दूध गिरा गयी, कैसे वह एक दिन चूहे के धोखे से मुन्नी की गुड़िया उठा ले गयी थी, पं. बुदबुदप्रसाद को उसने एक दिन रात में उसकी चादर खींचकर कैसा डराया,

मलाई दिखाकर जगर ने उसे बांध लिया तो रात-भर उसने जागरन किया इत्यादि। इसके बाद इस बात की खोज की गयी कि अब वह कहां गयी। दूधवाली कहती थी कि वह अबकी जाड़ों में वकील साहब की गाड़ी के घोड़े की लात खाकर मर गयी लेकिन सज्जन कहते थे कि वह अभी तक बिंदाजी के मंदिर की सीढ़ी के नीचे दुबकी हुई बैठी रहती है और पूजा-पाठ के बाद देवी को कष्ट न देकर स्वयं ही भोजन करने का कष्ट स्वीकार कर लेती है। नलदेव के भक्तों के बीच में संलाप न रोक दिया होता तो कान अभी कुछ और पवित्र होते और कंबख्त किताबों से कुछ देर और दूर रह सकता। पर वह चले ही गये।

भवदीय

टनटनानंद

['टनटनानंद' उपनाम से 'आगरा पंच' 3 सितंबर, 1937 में प्रकाशित।]

टेलीफोन की टन-टन (2)

हैलो संपादकजी,

जय बम्भोले।

आपने भी अच्छा काम साद दिया—अरे साहब, कह तो दिया होता कि दो-तीन दिन का इंतजाम करके जाना—यहां से अपने राम ठनठनपाल मदन गोपाल से सिर से पैर तक खाली हाथ लटकाते पहुंचे—कूचा मौलाना में—पर वहां कोई बाबा बालटीदास का पता बताने को राजी न हुआ। मैंने लाख कहा अरे भाई पंच के संपादकजी ने मुझे भेजा है—बाबाजी से स्वर्ग का हाल-चाल पूछना है, परंतु वह तो ऐसे अड़े जैसे ठंडी सड़क पर सिनेमा के इश्तहार। एक दफा तो मन में आया भाड़ में जाये पंच और ऊपर से बाबा बालटीदास पर फिर बरसों की मुरौवत का ध्यान कर उन्हें ढूंढने लग गया। जब आदमियों से पता न लगा तो मैंने बिहारीराम की तरह पशु-पक्षियों से पूछना शुरू किया। एक नाली के मुंह पर जोर से मैंने पूछा ही था कि उधर एक गिरे हुए घर के छेद में से सात-आठ साल के बच्चे क. मुंड निकला और कहा कि बाबाजी गुरुजी के पास गये हैं। मैंने पूछा कब लौटेंगे—तो जवाब दिया वे मनमौजीराम हैं न जाने कब आयें—पर हां, उम्मीद ऐसी ही है कि डेढ़ दिन सादे छः घंटे सवा 13 मिनट पौने छब्बीस सेकंड तक लौट ही आयेंगे। मैंने कहा—अच्छा, तुम्हारा नाम क्या है? उसने छासठ इंच के नाखों से सिर खुजलाते हुए जवाब दिया—मुझे आप लोग लुटियादास कहते हैं। बस, संपादकजी! मुझे इस कदर जोर से हंसी आयी कि ऊपर जीर्ण दरवाजे की चौखट पर से एक छोटी-सी ईंट गिरकर नीचे बैठे हुए पिल्ले के लगी जो चोट के कारण चिल्लाया और एक छेद से घर में घुस गया। बालटीदास के घर लुटियादास का होना कोई आश्चर्य नहीं है। फिर भी हंसी का सामना तो था ही।

गरज़ यह है कि आपकी आज्ञा के द्वारा मुझे यहां रुकना ही पड़ा और डेढ़ रात तथा पौने तीन दिन मैंने किस कदर बिना पानी पिये (क्योंकि वहां नाली के सिवाय जल की एक बूंद भी न थी) ही आपको कोस-कोस कर काटे हैं सो मेरा रोम ही जानता है। उस साक्षात श्मशान से घर में बिना खाये-पिये औंधे मुंह पड़े-पड़े मुझे छठी ही नहीं, तीज भी याद आ गयी। शाम होते

ही ऊपर की छत से रेत खिसकने लगी जैसे किसी फूल की पत्तियां झड़ रही हों। और पिल्ले की को-कांय और लुटियादास की और करीदेवी की अस्पताल की तरह लगी बातों का जवाब देते-देते मेरी धोती ही नहीं बनियान भी ढीली हो गयी। बस, यही मन में आ रहा था कि या तो बाबाजी को पकड़ के चबा जाऊं या इस मकान में ऐसी लात लगाऊं कि राहगीरों के चरण चूमने लग जाये। जैसे-तैसे उस फूटे घर की ईंटें गिनते-गिनते जब बाबाजी पधारे तो कुछ होश-हवास दुरुस्त हुए। उनसे जल्दी-जल्दी चिट्ठी के बजाय तार की तरह संक्षेप में बातें करते-करते टोपी पर जूते (सिर पर पैर नहीं) रखकर ऐसा भागा कि बस टेलीफोन के चोंगे पर ही दम लिया। विस्तृत वर्णन तो कल सुनाऊंगा, अभी महाराज के लड़के की पेंसिल खो जाने के कारण उसकी गैरहाजिरी में बाजार जाकर भोजन करना है। बस, इतना ही बताये देता हूं कि बाबा बालटीदास अपने मदोदय गुरु टंकीदास से यह मालूम करके आये हैं कि पानी बरसेगा जरूर।

भवदीय
टनटनानंद

['टनटनानंद' उपनाम से 'आगरा पंच' 5 सितंबर, 1937 में प्रकाशित।]

सिर मुंड़ाते ही ओले पड़े

सुनते हैं कि गीदड़ की जब शामत आती है तो वह शहर की तरफ भागने लग जाता है, और चींटी के सिर पर भावई बोलने लगती है तो उसके पर निकल आते हैं। अपने राम की जब शामत आयी और पर लग गये तो वह जंगल की तरफ भागने लगे। टहलने का हमें कतई शौक नहीं—यथा नाम तथा गुण के कायल नहीं हैं—यह तो ऐसी ही बात है जैसे काले कलूटे कहार का नाम रूपचंद—अंधे का नाम नैनसुख—लेकिन कल शाम को जब बला आयी तो सूझा कि अपना नाम सार्थक करना चाहिए।

देहली दरवाजे तक तो कोई गड़बड़ी नहीं हुई—बड़ी मौज़ से अपने राम अग्रसर होने लगे। मदियाकटरा की नाक पर पहुंचते ही आकाश में बादल नज़र आने लगे—परंतु उनसे हमें नुकसान के बदले फायदा ही दीखा। सूर्य ने रिटायर होकर हमें इस्तीफे को मज़बूर होने से रोक दिया और सुहावनी संध्या का आनंद लेते—मन को टांगों से चार हाथ आगे ढकेलते हुए आगे बढ़ने लगे। आगे बढ़ाने पर कुछ बादल बढ़ गये। हमारे मुंह से अचानक निकल पड़ा—"कंबख्तो! बरसते तो हो नहीं, वैसे ही धांधली दिखा रहे हो" बस, फिर क्या था जनाब, पांच मिनट में ही सीन-ट्रांसफर हो गया और सिर पर वह पड़ापड़ पड़ने लगीं कि यह भी भूल गये कि हम सड़क पर हैं या आसमान पर।

लेकिन इतना तो ज़रूर है कि भगवान के कानों के मुकाबिले इंद्र के कान जरूर बड़े हैं—शायद उसके राज्य में हाथियों की संख्या ज्यादा हो। नहीं तो क्या बात है कि सवा दो साल से प्रार्थना करने पर भी अपने राम मिडिल पास न हो सके—पर एक 'कंबख्त' कहने पर ही इंद्र भगवान दल-समेत मुझ गरीब पर बरस पड़े। अपनी हालत के बारे में तो यही कहना अच्छा समझते हैं कि सिर पर इतना पानी पड़ा कि हिसाब करने पर ज्ञात हुआ कि चार दिन स्नान करने की जरूरत नहीं है, धोबी को मुहर्रम पर इनाम देना फिजूल है और शरीर को अच्छा है अगर साढ़े पांच दिन घर के कोठे में बंद रखा जाये। हां, लोग जो यह कहा करते हैं, कि परेशानी से धोती ढीली हो जाती है, सो झूठ है—असली धोती तो पानी से ही ढीली हो जाती है।

['घुमक्कड़ राम' उपनाम से 'आगरा पंच', 16 सितंबर, 1937 में प्रकाशित।]

टेलीफोन की टन-टन (3)

हे संपादकजी महाराज,

शीर्षासन समेत नमस्कार।

रोज रात को सुबह से ही पढ़ना आरंभ करने का भीष्म-व्रत करके प्यारी खाट पर पैर रखता हूं। लेकिन कुछ मधुर सपनों, कुछ कंबख्त आलस्य, और कुछ आपकी महान कृपा के कारण, वह रोज द्रोह-प्रण में परिणत हो जाता है। ज्यों ही कि 6 बजकर 27 मिनट पर नीचे आकर, कुछ इधर-उधर करके, आलस्य भगवान को प्रणाम कर निवृत होकर कुर्सी पर आकर डटता हूं कि आपका हौकर पधार जाता है और फिर दिमाग़ वह कलाबाजियां दिखाता है कि पुस्तकों की छीछालेदर होने में कोई कसर नहीं रहती है।

अभी कल की बात है। पंच को खोलकर देख रहा था कि ऊपर के पृष्ठ पर निगाह पड़ी। शुरू से लेकर आखिर तक सारे पन्ने में मार-पीट, चोरी-डकैती, लूट-मार, अदालत-मुकद्दमे की बातें भरी थीं। मैं तो पढ़ता जाता था और मेरा दिल बरसाती मेंढक की तरह उछल-उछल कर हथेली पर आये जा रहा था। न जाने उस मनहूस पृष्ठ को कंपोज करते समय कंपोजीटर की क्या हालत हुई होगी। पंचराज शायद आजकल हनुमान होना चाहते हैं। सुबह इसको देखना दिन-भर के खाने से हाथ धोना है। मुझे इसका पक्का अनुभव है। उस दिन सिनेमा के चक्कर में दो लड़कों के भाग जाने का समाचार जब मैंने अपने महाराज को सुनाया तो बस वह चारों खाने चित हो गया। चूल्हे में मेह बरसा कर सिर पकड़कर बैठ गया, बोला—साहब, रंज में तो हमसे खाना न बनेगा। अब बताइए भला लड़का भागा किसी का, खबर छपी पंच में और भूखे रहे हम। वाह रे! तकदीर! ऐसी ही रोज कोई-न-कोई दुर्घटना होती रहती है। यह तो मैं पहले ही अर्ज कर चुका हूं कि मेरे घर के मुंह पर चुंगी का नल है। वहां की भीड़ आबनर आते ही मुझ पर ठीक ऐसे ही टूटती है जैसे शाम की पांच बजे वाली डाक में थर्ड क्लास के खुले डिब्बे पर मुसाफिर।

बस क्या, कौन, कहां, कब, कैसे के प्रश्नों के मारे दम नाक में आ जाता है। पुस्तकें धरे-धरे धूल चाट रही हैं और मैं यही सोचता हूं कि आगरा पंच की कापी भेजने के लिए या पानीयो फर—

भवदीय

टनटनानद

['टनटनानंद' उपनाम से 'आगरा पंच', 24 सितंबर, 1937 में प्रकाशित।]

देश के नसीब (1)

और ऐसे नहीं कि ये लोग खुद ही बिगड़ रहे हों अपने पैरों में ही कुल्हाड़ी मार कर चुप हो रहते हों—देश की चाल में, और लोगों के कामों में भी अड़ंगा डालना इनका मुख्य काम है। एक हिंदी के शायर ने कहा है—'ले डूबता है एक पापी नाव को मंझधार में।' तिस पर ये तो लाखों, ढेर के ढेर कालेजिएट हैं। इनके मारे मुल्क का नाक में दम आ गया है। आप तो आप दूसरों के आगे भी इन्होंने वह अड़ंगे और परेशानियों के तूफान खड़े कर रखे हैं कि बस खुदा की पनाह! अरे भाई! जब किसी के समझाये तुम मानते नहीं तो अपने दायरे में रहकर हंगामा करो—चाहे कहर ही बरसा डालो लेकिन औरों को तो अपनी चाल चलने दो। लेकिन इन्हें सबर हो तभी न। ये तो चाहते हैं कि सारी दुनिया इन जैसी ही हो जाये। करें-धरें खाक नहीं—हो-हुल्लड़ करने के लिए सबसे आगे। अखबार पढ़नेवाले जानते हैं कि फिलहाल इन लोगों ने कितनी जगह हुरदंग मचा रखा है। अपनी अकड़ की ऐसी नुमायश हमने तो कहीं नहीं देखी। सिनेमा हाल में गये—बाप-दादों की कमाई पर लात मारकर, वहां ऊधम किया, और अगर मैनेजर ने समझाना चाहा तो बस ऊपर से नीचे तक लाल हो गये—मानो इनकी इज्जत दुनिया में सबसे ज्यादा कीमती है। ओफ्फोह! जो दो साल बाद बेकार बनकर दर-दर की भीख मांगनेवाले हैं उनकी इज्जत भला मैनेजर की यह गुस्ताखी कि वह हमें नसीहत दे। उड़ा दो हॉल का सिनेमा घर। और कुर्सियों और खिड़कियों में कुश्तियां लड़ा दीं। मिनटों में हजारों पर पानी फेर कर फिर पहुंचे प्राइम मिनस्टर के घर दुहाई देने—मानो इनकी बात पर सरकारी सील लगी हुई है। पर बचा को यह नहीं मालूम कि कांग्रेस इंसाफ के अलावा और कुछ जानती ही नहीं! बाबूजी को वह फटकारें लगीं कि पाजामों के नाड़े खुल-खुल कर गिर गये।

यह तो एक बात है, ऐसी ही अनेकों बातें हैं। आदतें तो इन लोगों की इतनी खराब हो चुकी हैं कि उनका बयान किया ही नहीं जा सकता। ऊपर-नीचे अगल-बगल चारों तरफ से आप लोग दुर्गुणों के अवतार बन बैठे हैं। लाहौर में इन लोगों ने सहशिक्षा का जो खाका उड़ाया था वह किसी भाई से छिपा नहीं है। इनकी बद-चालों से जनता परेशान हो गयी है। न तो खुद

ही सुराह चलेंगे और न किसी को चलने देंगे। जहां पढ़ते हैं उन पर भी रहम नहीं करते। इंतजाम करनेवालों को वह मुंह की खानी पड़ती है कि भुलाई ही नहीं जा सकती। जहां एक भी कॉलेज का जवान पहुंच गया बस कयामत ही आ गयी समझो। आपके शहर में भी कई मिसालें मिल सकती हैं। और उस पर तुर्रा यह कि समझाने-बुझाने से अकल आना तो दूर उसका असर कुछ और ही होता है। अब ऐसी हालत में भी सर पकड़ कर मत्था ठोक कर मुल्क की बदनसीबी पर अफ़सोस न करें तो और करें क्या?

['मियां कुकड़ूंकूं' उपनाम से 'आगरा पंच',
4 अक्टूबर, 1937 में प्रकाशित।]

पंच-प्रपंच (1)

वाह मियां जिन्ना! खूब चहके। लीग बीबी की ज़रा निगाहें लुत्फ क्या मिलीं तुम तो आसमान पर चढ़कर बातें करने लगे। इसी को तो कहते हैं जादू जो सर पर बोले। पर यार! पंजाब और बंगाल को भालों की उपमा कुछ जंची नहीं। लीग जैसी नाजुक कमसिन के हाथों में ये भाले हैं या चूड़ियां। कोई हर्ज नहीं—यह बीसवीं सदी है।

भागवत में एक किस्सा है कि नारदजी के कहने पर एक दिन रुक्मिणी और सत्यभामा दोनों रूठ कर बैठ गयी। जब बेचारे श्रीकृष्ण आये तो रुक्मिणी बोलीं कि वहीं जाओ अपनी पटरानी के पास। टका-सा जवाब लेकर पहुंचे सत्यभामा के महल में। पर जनाब! वहां भी वह डांट पड़ी कि अपना-सा मुंह लेकर भागते ही बना।

ठीक यही हालत अब कांग्रेस का है। लीग बीबी और सभारानी दोनों आप-आप को रूठ कर बैठ गयी हैं और एक-दूसरे को कोस रही हैं। यह कलियुगी लीला देखकर कांग्रेस की जान आफत में है। अपने राम भी ताईद करते हैं। पर यह काम बिना नारद बाबा के तो हुआ नहीं।

कल अपने राम राजामंडी के चौराहे पर चक्कर काट रहे थे तो एक मजेदार बात देखने में आयी। एक चीथड़े को लपेटे श्री दक्षिणाप्रसाद महाराज और एक फटी धोती पहने श्रीमती रिश्वत देवी दोनों एक कोने में बैठे आपबीती सुना रहे थे। 'खूब मज़ा आयेगा जब मिल बैठेंगे दीवाने दो'।

रिश्वत देवी कह रही थीं कि भाई तुम्हें कोई प्यार न करे तो कोई ताज्जुब नहीं क्योंकि तुम किसी के कौड़ी काम के नहीं। पर मजा तो यह है कि मुझे भी कोई नहीं पूछता—मेरे कारण न जाने कितने फायदे लोगों के हुए हैं। यह और कुछ नहीं उस गांधी बाबा की कारिस्तानी है।

और दक्षिणाप्रसाद कह रहे थे कि अरे! तुम तो बेईमानी की जड़ हो। तुम्हें दुतकारना तो ठीक भी है। पर मेरे बिना तो लोक-परलोक दोनों ही बिगड़ जायेंगे। यह कुछ नहीं बस कलियुग की महिमा है।

['आगरा पंच', 20 अक्टूबर, 1937 में प्रकाशित।]

दिवाली की चिट्ठी

मेरी भव-बाधा हरैं,
लक्ष्मी और गनेस।
जाकी कृपा-कटाक्ष तैं,
दूर होय सब क्लेस।

श्री श्री 171 संपादकजी महाराज,
जय लक्ष्मीजी के पति विष्णु की।

सिद्ध श्री आगरा शुभस्थाने श्री पत्री भाई पंचराजजी जोग लिखी टेलीफोन नगर सेती टनटनानंद की राम-राम बंचना, अपरंच समाचार यह है कि आज रात के सात बजकर सत्ताईस मिनट पर हमने डबल के दो लक्ष्मी-गणेश खरीद कर बाल-गोपाल सहित कुशल-पूर्वक सेती पूजन समाप्त किया है और अपने मोटे सोटे में पीतल का नया पोला लगाकर कलाया बांधा है सोई मालूम करना जी।

संपादकजी, इस बार की दिवाली तो कुछ फीकी रही। न वह राग, न वह रंग। रात को दीये भी जले तो मरे-से जैसे तेल में पानी डालकर जलाये गये हों, यद्यपि भीमा हलवाई अपनी कामदार टोपी में और (बैजनाथ) जगन्नाथ बजाज अपने पुराने चमक-दमक में थे लेकिन फिर भी वह बात नहीं रही। 'देहली क्लोथ मिल्स' और 'खद्दर भंडार' की सूरत से तो मालूम पड़ता था कि वे जुए में हार बैठे हैं। बाहर की बात जाने दीजिए, अपने राम भी इस बात की ताईद करेंगे कि अबकी दिवाली कुछ नहीं रही। पूजन करने के बाद दीये-बाती लेकर जोड़ने बैठे ही थे कि बिल्ली आकर तेल की हंड़िया उंड़ेल गयी। इसलिए दीये भी नहीं जल पाये। बाज़ार जाकर तेल लाना तो स्वराज्य पाने के समान कठिन था, संतोष रखकर सोना ही पड़ा।

कहते हैं कि दिवाली की रात को लक्ष्मी-गणेश सैर को निकलते हैं और जहां रोशनी होती है वहीं विराजते हैं। पर अपने राम को तो यह बात ग़लत ही दीखती है क्योंकि दिया जलाते-जलाते हमें सत्तावन साल हो गये लेकिन अभी तक लक्ष्मीजी क्या लक्ष्मीजी की धेवती ने भी पधारने की कृपा नहीं की।

इस बार अलबत्ता कुछ अच्छे आसार नजर आते हैं। क्योंकि रात जब सोने लगे तो हमने देखा कि हमारी छत पर लक्ष्मीजी के वाहन महाराज उल्लू देव बैठे हुए थे। और प्रातःकाल हमने पने घर में ही नहीं पेट में भी गणेशजी की सवारी चूहों को दंड पेलते पाया। अब आप ही बताइए कैसे लक्षण हैं।

खैर, इन बातों को जाने दीजिए। अपने राम का भली तरह भरोसा है कि आपने भी चंचला कमला का आदरपूर्वक आवाहन किया होगा और पुस्तकों की आलमारियों और प्रेस की ट्रेडिलों में कलाये बांध रोली-चावल चढ़ाये होंगे। समाचार लिखते रहना और 'आगरा पंच' की दर बढ़ी या नहीं सो लिखना जी।

चिट्ठी लिखी टेलीफोन नगर, मिली दीपावली की अमावस्या संवत् याद नहीं रहा।

भवदीय
टनटनानंद

['टनटनानंद' के उपनाम से आगरा पंच',
5 नवंबर, 1937 में प्रकाशित।]

टेलीफोन की टन-टन (4)

अजी संपादकजी,

जय अवधेश!

आपने तो सुन ही रखा होगा आजकल आगरे में एक गजब पधारे हुए हैं। लोग तो गजब कहते हैं पर अपने राम तो उसे डाकू ही कहेंगे। जनता का रुपया हड़पने जो नोटिस देकर आये उसे डाकू तो कहते ही हैं। अब कहिए 'जागरण' नामक फिल्म जिसने आजकल शहर में तहलका और हलचल मचा रखी है—वह क्या है? प्रकट होने के तीन हफ्ते पहले तो डैनजर-बेल की तरह सड़कों पर और दीवारों पर पोस्टर नजर आने लगे और उसके पधारते ही तो गजब ही हो गया। खासतौर से अपने राम की तो नाक में दम आ गयी है। सड़क पर जाते ही नौकर लोग हाथों में दो-चार नोटिस जरूर पकड़ा देते हैं। खैर, यहीं तक हो तो गनीमत। यहां तो सुबह ही सुबह रोज यही सुनना पड़ता है। आप तो जानते ही हैं। मैं कुछ अखबार पढ़ने का शौकीन तो हूं ही—अखबार सुबह ही सुबह जब घर पहुंचता है तो मालिन के फूलों में तक्षक की तरह इस कंबख्त 'जागरण' का नोटिस भी फर्श पर झड़ पड़ता है और कभी पीले, कभी सफेद, इस गिरगिट-से नोटिस को देखकर मुझे एक खास तरह की झुंझलाहट आने लगती है।

मैंने फरमाया न कि जागरण डाकू है, वह जादूगर भी है। सारे आदमियों को अपनी तरफ खींचने लग गया है। जहां जाइए इसी का जिक्र है—जहां बातें करिए उसकी ही चर्चा। आखिर यह अच्छा रोग लगा है। अपने राम भी नहीं बच पाये, जाना ही पड़ा। चवन्नी देकर, और तीन घंटे आंखों की दृष्टि को एक 6 फिट के परदे पर जमाए अपने राम ने 'जागरण' देखा। पसंद भी आया और नहीं भी, अच्छा भी लगा और बुरा भी। चाहे आप इसे पढ़ कर हंसें या हमें कोसें पर अपने राम की तो यही राय है।

भवदीय

टनटनानंद

['टनटनानंद' उपनाम से 'आगरा पंच', 6 नवंबर, 1937 में प्रकाशित।]

टेलीफोन की टन-टन (5)

हैलो संपादकजी,

आदाब अर्ज़!

तीन दिन की भुखास और थकास के कारण मन-भर खाना खाकर साढ़े 28 घंटे सोया हूं इसलिए कुछ देर हो गयी। क्षमा करें। हां, बाबा बालटीदास ने जो किस्सा सुनाया था उसे आज आपको सुना रहा हूं।

अपने पीतल के पोलेदार डंडे पर घुड़सवार की तरह बैठकर बाबा बालटीदास ने यों अपनी कहानी बखानना शुरू किया—"आज ठीक तीन दिन हुए मैं अपने चेलों के अनुरोध करने पर अपने गुरुजी के पास स्वर्ग के हाल-चाल पूछने गया था। मैं जब गुरुजी के आश्रम में पहुंचा तो अंधकार अपने पैरों की फटी पनही उतार कर सूर्य को तड़ातड़ लगा रहा था। धबड़ाकर मैं इधर-उधर देखने लगा तो क्या दिखायी दिया कि गुरुजी सर के बल आकाश की ओर टांग करके अचल खड़े थे—मैंने सोचा या तो ये पृथ्वी को रसातल में ढक्का दे रहे हैं या नाराज होकर आकाश को बट्टा दिखा रहे हैं। खैर, गुरुजी ने तो यही कहा कि वे शीर्षासन कर रहे थे। मेरे पहुंचते ही औंधे से सीधे होकर खड़े हो गये और हांफने लग गये। उस समय उनकी सांस कभी पहाड़ और कभी समुद्र बना रही थी, देखने के लायक थी। मैंने मतलब की बात शुरू करते हुए कहा—महाराज स्वर्ग में कुछ सुधार हुआ या वहां भी फेडरेशन की जरूरत है। इस गरीब आगरे पर भी तरस आयेगा या इस साल सारा पानी देवता ही पचा जायेंगे। मेरे ऐसा कहने पर बाबाजी बोले कि बेटा तुम्हारी तो बाल्टी ही खाली है, यहां अपनी टंकी में एक बूंद भी नहीं है। मुझे तुझसे ज्यादा अपने घड़े की पड़ी है। असली बात यह है कि इस साल स्वर्ग में दिवाली की बजाय सावन में ही पुताई हुई है जिससे सारा पानी स्वर्ग की धुलाई में ही खर्च हो गया है। फिर भी इंद्र आगरे में पानी बरसायेंगे। स्वर्ग के गजट में स्पेशल वाटर सप्लाई का टेंडर निकला है। मेरा खयाल है कि यदि समुद्र थोड़ा परोपकार करने को तैयार हो जाये तो वर्षा हो जायेगी। अगर यह भी

न होगा तो सुना है गणेशजी अगस्त्य के पास जाकर प्रार्थना करेंगे कि उनके पेट में जो एक समुद्र बाकी रह गया है उसे देवताओं को उधार दे दें—बाद में ब्याज समेत लौटा दिया जायेगा। जो हो पानी तो बरसेगा ही—हां, थोड़ा जरूर होगा। पर इतना जरूर है कि इस साल मेह बरसने पर कोई भी साहब छाता न लगावें, नहीं तो देवता लोग समझेंगे कि अब पानी की जरूरत नहीं है।

भवदीय
टनटनानंद

['टनटनानंद' उपनाम से 'आगरा पंच', 1937 में प्रकाशित।]

पंच-प्रपंच (2)

न बाबा! कान पर हाथ रखता हूं। कहें तो नाक-कान पकड़े एक टांग से पूरे आगरे की परिक्रमा कर आऊं—पर इस बला से दूर रखो। वाभभाह क्या गजब का नाम है—सुनते ही धमनियों में खून खौलने लग जाता है, खोपड़ी के अंदर दिमाग़ जमकर मलाई की बरफ बन जाता है और अकिल भागकर ठंडी सड़क पर चहलकदमी करने लग जाती है। भई भूखों मार लो—रोज सुबह-शाम नियमित संध्या करने की प्रतिज्ञा कर लो, टांग आसमान की तरफ और मुंह पाताल की ओर करके त्रिशंकु की तरह खूंटी पर लटका दो—पर चुनाव का नाम न लो। गर्दन तोड़-झुनझुनियों का काटा मर तो सकता है पर चुनाव का काटा तो गला घिर्रा करता है—न मरता है न जीता है। कल-परसों ही की तो बात है—आगरा कॉलेज के कैप्टीन का चुनाव होने को था। दो दल हो गये थे। इन कॉलेजवालों का दिमाग़ भी यार! आगरा फोर्ट से टक्कर लेता है। सुना गया कि एक दलवालों को सूझा—प्रतिद्वंद्वी को कॉलेज ही न आने दिया जाये। बस साहब! चार-पांच विद्यार्थी सभ्यता की मूर्ति बने, विनम्रता की पुतली बने, पहुंचे और कार-ड्राइव का प्रस्ताव किया—पास हुआ। सब जने चले मोटर में बैठकर। और मोटर के चलते ही इन लोगों को हंसी आ गयी। कैंडीडेट साहब को होश आया—पर अब हाथ की बात नहीं थी। खैर साहब, एक घंटे की कहकर उन साहब को 14 मील दूर एक गांव में डाल दिया गया—पदा-पदा कर—रेंगा-रेंगा कर हुलिया तंग कर दी और उधर—न रहा बांस, न बजी बांसुरी। शाम को कहीं उन हज़रत को शहर की हवा खाने का अवसर मिला—जब चुनाव देवता रूठकर विरोधी-दल में इब्राहीम की तरह जा मिले थे।

एक और सुनिए। कल रात के कोई दस बजे होंगे—मैं बुक-कीपिंग की एक्सरसाइज से निराश प्रेमी की भांति हताश होकर बिस्तर पर लेटा था कि गली में कुहराम सुनकर नीचे उतरा। लालटेन बालता जाता था और सोचता था—ज़रूर कोई हंगामा हुआ है—नहीं तो यह सारा 'अरेवियनसी' यहां आकर न फटता। या तो किसी चोर के भाग्य उलट गये हैं—और अब उसे हज्जाम की जरूरत नहीं पड़ेगी—या किसी घर में किसी कोयले ने कयामत वरपाई

है। लेकिन बाहर आया तो देखा—पढ़े-लिखे जैंटिलमैनों का एक महाभारती दल चुंगी के आफिसर साहब के घर पर धरना दे रहा था? मैंने सोचा—चुंगी में तो कोई पोस्ट खाली है नहीं—फिर क्या बात? ओफ्फोह! जरूर इन चलते पुर्जों को चुनाव ने अपनी चपेट में ले लिया है। कैसी अत्युक्ति-अलंकार की नानी मारी जा रही थी। विनय-शीलता कैसी बलैयां ले रही थी—भाई कमाल। शीरी सुन लेती तो फरहाद को भूल जाती। मेरा खयाल है—सर सीताराम ने इन लोगों से विद्या सीखी होती तो आज अपर-हाउस में न होते। खैर साहब, जब तक वोटर ने जटलैंडी भाषा में आश्वासन न दिया—उनके खिसकने के सामान न हुए।

['कनवैसिंग' उपनाम से 'आगरा पंच'
1937 में प्रकाशित।]

स्वर्ग में संग्राम

जब जेठ की प्रचंड धूप सहते-सहते अपने राम की सफाचट्ट खोपड़ी पके आम की तरह पिलपिला गयी और सावन आने पर भी पानी के कोई आसार आसमान में न दिखायी दिये तो हमसे न रहा गया और एक दिन पद्मासन जमा एक नकुआ पकड़कर शुभ मुहूर्त शोधकर गुरुजी के पास पहुंच ही तो गये। लट्ठवत प्रणाम करके कहा—"प्रभो! दास का अपराध क्षमा हो—पर अब इस मक्कार सूर्य की शैतानी नहीं सही जाती। पीने को पानी तक नहीं मिलता—नहीं तो ऐसा कोसता जो बादलों के जाल से छुटकारा ही न मिलता। आपके पास तो स्वर्ग से कोई खबर आयी ही होगी—क्या इस साल पानी न बरसेगा?"

गुरुजी अपनी त्रिभुजाकार दाढ़ी पर बड़े अंदाज से हाथ फेरते बोले—"बच्चा! कल ही तो भृगुनाथ ने चिट्ठी भेजी है। असली बात तो यह है कि इन्द्र और शिव में झगड़ा हो गया था। इससे यह तमाम बवंडर खड़ा हुआ है।" अपने राम देवताओं की लड़ाई की बात सुनते ही आंखें साफ करके और एक बार खांसकर सुनने को तैयार हो गये। गुरुजी अपने भोलुआ-से मुंह से कहने लगे—"अभी तीन-चार महीने की तो बात ही है। एक दिन शाम को विष्णु भगवान ने सारे देवताओं को टी-पार्टी दी थी। यद्यपि दृश्य कोई नया नहीं था—परंतु गणेशजी को देखकर इंद्र से रहा ही न गया और विष्णु के ड्राइंग-रूम की दीवारों को हिला देनेवाली हंसी हंसते हुए शची से बोले—'हाथी बाबा'। शिष्टाचार के नाते गणेश वहां तो कुछ न बोले परंतु घर आते ही पिता के आगे इंद्र की शिकायत का दफ्तर खोल दिया। शिवजी मुंह से तो कुछ न बोले पर सीधे उठकर नंदन-वन में ही रुके। और आव देखा न ताव लगे बेचारे इंद्र को फटकार लगाने। सुर-राज घबरा उठे, यह कहां से पाताल फोड़कर निकल पड़े। और जब शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र पर हाथ फेरते हुए कहा—लाला जी! यह मेरा ही प्रताप है जो दानवों से युद्ध में जीत सके हो—कल कार्तिकेय से कह दूंगा तो फिर समुद्र की शरण लेते हुए नज़र आओगे—तो बेचारे इंद्र की धोती ढीली हो गयी और गिड़गिड़ा कर बोला—महादेवजी! मैं आपकी शरण हूं। और अपने भोलेबाबापन को निभाते हुए वे उसे क्षमा कर आये।

पर महाराज इंद्र चुप बैठनेवालों में नहीं थे। उन्होंने ऐसी मुंह की कभी

न खाई थी—तुरंत चाल सोच ली और मन-ही-मन अपनी चतुराई पर कुप्पा होने लगे।

कुछ ही दिनों बाद जब नये साल का वृष्टि-बजट प्रकाशित हुआ तो शिवजी के सेक्रेटरी ने सूचना दी कि आगरा-कमिश्नरी लिस्ट में से ही गायब है। अपने आगरे के कैलाश मेले पर अपने भक्तों की दुर्दशा देखना उन्हें कभी पसंद न था इसलिए क्रोध के मारे उबले-बैंगन हो गये। 'शठं प्रतिशाठ्य' के पाठानुसार उन्होंने कहा—बिना रौब के काम नहीं चलेगा—कुछ करना चाहिए। और तुरंत बिहटा (पटना) में रेलें लड़ा दीं। महादेव के इस कार्य ने जैसे इंद्र को युद्ध के लिए निमंत्रण दिया—उन्हें ऐसा क्रोध आया कि अपने मेघों को बुलाकर शिवजी की एकमात्र नगरी काशी को डुबा देने का हुक्म दिया।

जब यह समाचार उड़ता-उड़ता विष्णु भगवान पर पहुंचा तो बड़े अचकचाकर बोले—सृष्टि ही न रहेगी तो हम क्या इंद्र का मुंह टापेंगे। फौरन आर्डर डिस्पैच हुए और इंद्र तथा शिव तलब किये गये। ब्रह्मा-वरुण और बृहस्पति की एक सब-कमेटी मामले की जांच को नियुक्त हुई। महीनों परेशान होने और चोटी से पैरों तक का पसीना एक कर देने के पीछे कमेटी ने रिपोर्ट प्रकाशित की और राय दी कि इंद्र को कैलाश के मेले तक कम-से-कम इतना पानी जरूर बरसाना पड़ेगा, जिससे हवा की गरमी ठंडी हो जाये। और इंद्र से यह मांग भी हुई कि वह शंकर भगवान से मुआफी मांगें।

बेचारे इंद्र ने जब अपने चारों ओर अंधेरा देखा तो चुपचाप शर्त मंजूर कर ली। वह तो खैर हुई—नहीं तो कहीं अगर वह गणेशजी का अंगूठा दिखाना देख लेते तो नयी समस्या उत्पन्न हो जाती। खैर, जैसे-तैसे मामला तय हो गया और अब पानी ज़रूर बरसेगा—तुम निश्चिंत रहो।

['बाबा बालटीदास' उपनाम से 'आगरा पंच' 1937 में प्रकाशित।]

देश के नसीब (2)

आप चाहे इसे झूठ मानें पर मैं आपसे सच ही कहता हूं कि जब भी कभी मैं किसी कॉलेज के स्टूडेंट के दर्शन का दुर्भाग्य प्राप्त करता हूं तो मेरे कलेजे पर सांप लोटने लग जाता है। किसी दिन जब मजेदार खाना खाकर मैं जरा ड्रमंड रोड पर तफरीह की गरज से निकल जाता हूं तो इन कॉलेज और होस्टल की बिल्डिंग्स को देखकर मुझे ऐसा लगता है मानो यह सब मेरी छाती पर खड़ी हुई हैं। उफ्! देश के ऐसे बदनसीब! इन बिल्डिंग्स के अंदर हमारे मुल्क के वे तरोताज़ा दिमाग़, दिल और देहवाले नव जवान विद्या पाते हैं जिन पर देश की तरक्की मुनस्सर है और यही लोग, मेरा मतलब इन रंगीले कालिजयेट लोगों से है, अपने फर्ज और नुकसान-नफा को धता बता कर बेकार की बातों में अपनी सारी ताकत नष्ट कर देते हैं और असली मतलब को इस कदर लापरवाही से भुला देते हैं जैसे कोई बेईमान कर्जदार माल लेकर चुकता करना भूल जाता है।

इन लोगों की आदतें और खयालातों को सभी भाई जानते हैं। होस्टलों के दरबों में लापरवाह कबूतरों की तरह पड़े-पड़े जिंदगी को गैरत में डालकर ये अभी से उस रास्ते पर चले जा रहे हैं जिस पर जहन्नुम बना हुआ है। अपने बुजुर्गों के सामने वग्यबत करके ये लोग पढ़ने आते हैं। फिर पसीने की कमाई को मिट्टी के मोल खर्च करते हैं। नसीहत और ज्ञान की बातों से उसी तरह भागते हैं जिस तरह सूरज से उल्लू के झुंड, और फिर भी चारों ओर कुटुर-कुटुर करते फिरते हैं मानो इनमें से एक-एक कल, एक-एक देश का राजा होगा और सारी दुनिया झक मारेगी। अपने आगे किसी को नहीं समझते। सादगी के ऐसी दुलत्तियां लगाते हैं कि वह इनके होस्टलों की दीवारों पर भी नहीं फटकने पाती, मां-बाप की खैर-खबर से कोई सरोकार नहीं और अंग्रेजी सभ्यता की दुहाई देते हुए अपने देश के लिए कांटों का जंगल खड़ा कर रहे हैं। जिस इरादे से इन्हें यहां लाया जाता है उस पर भी ख्याल नहीं करते। इधर-उधर हो-हुल्लड़ और बेकार की बातों में अपना कीमती वक्त खराब करके आलस्य के देवता बने रहते हैं। इनको देखते ही दिल में हजारों सवाल पैदा हो जाते—क्या यही हमारे देश को आजाद करेंगे। क्या यही हमारी उम्मीदें

हैं—क्या यही होनेवाले भारतवासी हैं। उफ्! उस समय मन में किस तरह रंजोगम घर कर लेता है—उसका कोई ठिकाना नहीं। कभी-कभी तो जी में आता है कि इन लोगों को कुछ करके दिखा दिया जाये कि देखो तुम्हारी क्या हालत है—अरे! मुल्क के सितारो! तुम्हारी चमक कहां चली जा रही है।

['मियां कुकड़ूकूं' उपनाम से
'आगरा मंच' 1938 में प्रकाशित।]

हम भी कवि हैं

सच कहता हूं संपादकजी! इस दुनिया में कभी भी, रामजी की चुटिया से लेकर सीताजी की सलीपर तक, न कभी गुण की कदर हुई है और न होगी। यदि ऐसा ही होता, तो क्यों आज हम, जिनके बाप-दादे जवानी से लेकर काम-तमाम होने तक सदा कविता करते रहे, यों मारे-मारे फिरते। वैसे लोग भौंका करते हैं कि हिंदी में कवि नहीं हैं—फलान नहीं, ढिकान नहीं—पर यह किसी से नहीं होता कि जरा फुलट्टी बाजार के डाकखाने से साढ़े सैंतीस कदम पर रहनेवाले 'हम' के पास आकर देख लें कि वाकई कविता के नगाड़े उलट गये हैं—या हमारे कानों में ही रुई भर गयी है। कविता अपने-राम के लिए इतनी ही सहल है जितना केले के छिलके पर फिसलना या घुटी चांद में टोला लगाना या मेंढक के लिए टर्राना। और यह कोई नयी बात नहीं है—हमारे पड़बाबा के बेटे के बाप भी ऐसी ही कविता करते थे। यदि आपको यकीन न आये तो आप रावतपाडे के नुक्कड़ पर बैठनेवाले भुत्तूमल घूरेलाल पंसारी से पूछताछ कर सकते हैं क्योंकि उसने बरसों हमारे पड़बाबा की लिखी 'बंदर की दुम' महाकाव्य के खजला—जैसे कुरकुरे कागजों पर मिर्च-मसाला लगा कर पब्लिक को बांटा है। हमारे बाबा—जिनका शायरी नाम 'चौंघट' था—को अपने ग्राम के लोग अब तक, जब भी कभी कोई छींक आती है, याद किया करते हैं—क्योंकि उन्होंने 'नाक की छींक' एक किताब लिखी थी जिस पर सियारपुर के जमादार ने उन्हें 'चौपट्ट चंद' की उपाधि से विभूषित किया था। ऐसे उच्चकुल में पैदा होने पर भी और ऐसे ऊंचे कवि होने पर भी यदि हमारी कोई चिलम नहीं भरता तो दुख होता ही है।

आगरे जैसे देश में आये दिन जलसे होते रहते है—जहां मेरे दादा के चेले के भतीजे के नौकर के शिष्य, चुकंदर-सी अक्ल के लोग इनाम मार ले जाते हैं और यहां हम धरे बिराजते हैं। कोई टके सेर भी नहीं पूछता। कल के छोकड़ों के लोग हाथ जोड़ते फिरते हैं पर अपने राम को जिसने कल्लू के खेत में उगे हुए सारे सरकंडों को कविता लिख-लिख कर ही घिसा है, कोई मजाक में भी बुलाने नहीं आता। मेरी समझ में नहीं आता यह क्या मत मारी गयी है। अगर अब भी कविता इन लोगों से दामन छुड़ाकर कुएं में खाट लटका

कर न जा सोये तो और क्या हो? अब हमने भी सोच लिया है कि आज ही से रोज कविता में अपनी तारीफ लिख-लिखकर पत्रों में छपवाया करेंगे—देखें कैसे नाम नहीं होता। आज जो कवित्त लिखा है वह इस प्रकार है :

चक्कर तीन लगाय कै नाचै
एकहि वार जाहि मैं नौंचूँ।
सार करे नहिं, जोर करे नहिं,
भुरता बनाय, दबाय कै दौंचूँ॥
भौंक पड़े सब श्वान भकाभक,
चौंक पड़े गदहा सब हौंचूँ।
हौंक पड़ें सुन चूहे बिले में,
पढ़ें जब अपनी कविता घौंचूँ॥

['कवि कपीश 'घौंचू', उपनाम से 'आगरा पंच' 1938 में प्रकाशित।]

विदेशियों की होली

अभी कल ही सूचना मिली है कि पृथ्वी ने भगवान के दरबार में जाकर फरियाद की है कि शीघ्र ही उसे एक मोमजामा की साड़ी बनवा दी जाये। भगवान ने पहले तो दो मिनट सोचा—ज़रा शिवजी से नजरें मिलाईं, फिर यकायक निश्चय करके विश्वकर्मा को पृथ्वी की मांग पूरी करने का हुक्म दे दिया। कुछ लोगों का ख्याल है कि यह असंभव है क्योंकि आजकल भगवान की बैंक की हालत डांवाडोल है। जो हो, उम्मीद यही है कि कुबेर जैसे नीतिज्ञ किसी-न-किसी सूरत द्वारा रुपया इकट्ठा कर ही लेंगे।

आप सोचते होंगे कि पृथ्वी को ऐसे बुढ़ापे में नये पहनाव की क्या जरूरत आ पड़ी। बात असल में यह है कि कुछ मनचलों ने इस वर्ष बड़े स्केल पर होली का हुल्लड़ मनाने की ठान ली है। पृथ्वी बेचारी ऐसी आशंका से ही सिहर उठती है। सन् 1914 में भी ऐसी ही होली का प्रोग्राम बना था। वर्षों तक बेचारी पृथ्वी को अपनी मरम्मत की ही याद रही आयी। आज उसका ध्यान करते ही उसकी नसों में दुःख होने लगता है। फिर इस नये सरगर्म आयोजन से वह चौंक न जाये तो और वह क्या करे? तभी बेचारी भागी-भागी फिरती है कि जो थोड़ा बहुत बचाव हो जाये—वही बहुत है। यों तो होली का मौका ही ऐसा है कि इसमें लिहाज़ की ज्यादा गुंजाइश नहीं होती है। बच्चे से लगाकर बूढ़े तक सब तर-बतर हो जाते हैं।

गोकुल की जैसी होली की बात तो सभी सुनते और जानते हैं। वही छोटी-छोटी पिचकारी और वही पलाश के फूलों का रंग। उसमें बड़े लोगों को कोई खास आनंद नहीं आता। ऐसी भी क्या होली जो लोग दूसरे ही दिन उसे भूल जायें। जब तक राधा रूठकर, खिसियाकर मोहन की मुरली तोड़कर न फेंक दे—और नंदगांव की गली से होकर गुजरना न छोड़ दे—तब तक कोई कैसे कह सकता है कि हां होली का रंग गहरा रहा। तो फिर कृष्ण को मनाने का मौका हाथ आता है।

पांच पैसे की लोहे की पिचकारी और धेले के लाल रंग से तो सभी होली खेलते हैं—पर इन मनचलों ने जो आयोजन किया है ऐसी होली लोग कब-कब खेल पाते हैं—अजी खेलने की अलग रही—देखने में भी ऐसी होली कब

आती है। बिरले ही इसका मज़ा लूट पाते हैं। आप-हमको अपना भाग्य सराहना चाहिए कि आंखों देखे यह सुख भी मिलने को है। बस, होली आने दीजिए— आप भी दांतों तले उंगली दबा जायेंगे। पदमाकर और ब्रज के अन्य कवियों ने वर्णन किया है—पर ऐसा रंग-राग तो कल्पना से भी परे है। न जाने कितने दिनों से ये लोग इस उत्सव के लिए सामान मुहैया कर रहे हैं। तालाब के तालाब और जंगी-जंगी कोठियां और टंकियां रंग से भर डाली हैं। बिलकुल नये फैशन की असंख्य पिचकारियों के ऑर्डर गये हैं। कार्यालयों में दिन-रात उनका निर्माण हो रहा है। अभी से इसका आभास मिलते ही सब ओर ऐसी हलचल मच गयी है कि नींद भी नहीं आती। इन होली के अजीब खिलाड़ियों ने पिछली सभी होलियों का रिकार्ड तोड़ देने की ठान ली है। हवाई जहाजों द्वारा उत्सव के लिए स्थानों की खोज हो रही है। ऐसी-ऐसी पिचकारियां और अबीर गुलाल की झोलियों का निर्माण किया जा रहा है जो मिनिट-भर में मीलों तक रंग भर दें। होली के इस रंगीले उत्सव में भाग लेने के लिए अभी से ये पश्चिमी गोकुल के ग्वाले सतृष्ण और उत्सुक नेत्रों से बाट देख रहे हैं। अपने-अपने अरमान निकाल डालने के लिए ये लोग इतने व्यग्र हो उठे हैं कि अभी से इन्होंने धूल उड़ाना और छापे लगाना शुरू कर दिया है। बिचारी भीता गोपियां इन सब जंगी तैयारियों को देखकर ही बेहाल हुई जा रही हैं। फिर यदि पृथ्वी ने यह अजीज मांग पेश की तो क्या बुरा हुआ?

इस बार मंडप सजाने और फूल-माला, चंदन इत्यादि के प्रबंध का भार अनुभव-प्राप्त वयोवृद्ध चेंबरलेन को सौंपा गया है। विश्व-होली के इन मनचले हुरिहारों को विश्वास के साथ आपकी संरक्षता में उत्सव में कोई विघ्न की आशंका नहीं है। गोप और गोपिकाओं—दोनों के आप अभिभावक तुल्य हैं— जब प्रबंधकर्ता ही आपको बनाया गया है—तब गोपियां इसमें भाग न लें ऐसी आशंका की भी गुंजायश नहीं है। इसलिए यह तय है कि अबकी होलिकोत्सव काबिलेदीद और स्मरणीय रहेगा।

इटली और जर्मनी दोनों में कृष्ण का पार्ट लेने के लिए होड़ हो रही है। पर यह तय है कि दोनों में से कोई भी इस स्पृहनीय भार को संभाले—दोनों ही इसे सफलता से कर लें। और उधर पता लगता है कि गोपियों ने फ्रांस को ही राधा बनाने का निश्चय किया है। बिचारी राधा अभी से अपने अंगों को साड़ी में सिकोड़े फिरती है। होली में कैसी दुर्गति बनती है—यह उससे छिपा नहीं है। हालांकि चेंबरलेन ने उसे विश्वास दिलाया है कि ऐसा कुछ न होने दिया जायेगा जिससे राधा वापस बरसाने जाकर दूध दुहने में असमर्थ हो जाये। रही रंग से साड़ी मैली हो जाने की बात—सो अभी जमुना में इतना पानी तो है ही।

पर जर्मनी को चैन नहीं है। वह निचावला बैठ ही नहीं सकता। उस दिन गली चलते उसने आस्ट्रिया की वह मरम्मत कर डाली कि बिचारी चीख भी नहीं पायी। और अभी दो ही दिन की तो बात है कि उसने चेकोस्लोवाकिया की गोरस मटकी छीन ली। ब्रज-बालायें इस उत्पाती के ये औट-पाये देखकर

अभी से घबड़ा उठी हैं कि होली पर तो न जाने ये क्या न कर बैठें।

सबसे बड़ी मज़ेदार बात तो यह है कि इस बार बुड्ढे नंद बाबा यानी अमेरिकों को होली का हुलास चढ़ आया है। आपने भी इस उत्सव में अनेक रुपये खर्च कर डालने का इंतजाम किया। उम्मीद की जाती है कि आप गोपियों के पक्ष में रहेंगे। यदि ऐसा ही रहा, तो हो सकता है कि कृष्ण को अपनी बंशी छोड़-छाड़ कर भाग कर नदी में मुंह छुपाना पड़ जाये। नहीं तो कहीं इन मुंहलगी गोपियों ने पकड़कर नोच डाला और कह दिया कि :

नैन नचाय, कही मुस्काय
लला फिर आइहौ खेलन होरी।

तो बेचारे कृष्ण को शर्म के मारे मुंह दिखाने की भी चाह न रहेगी। राधा को इस बात का थोड़ा-सा तो ख्याल रखना ही चाहिए।

होली के इस बेजोड़ जलसे में दो बातें और भी मज़ेदार हैं। स्पेन ने तो घर में ही होली प्रारंभ कर दी। महीनों पहले से ही वहां देवर-भाभी में पैंतरेबाज़ी हो रही है। पर लगता है कि नारी-जाति हारने को ही बनी है।

और दूसरी यह कि बेचारी चीनी बाला को अकेली पाकर जापान ने छेड़खानी शुरू कर दी है। उसकी पीली चोली रंग में सराबोर हो गयी है। और उसके आंगन में कीचड़ खादड़ मच उठा है। जब अभी से यह हाल है तो इस अजीब होली के अवसर पर न जाने क्या-क्या कौतुकों की सृष्टि न हो।

संसार के दर्शको! अपने-अपने भाग्य सराहो कि ऐसे अच्छे मौके पर आंखें दुखने नहीं आयी हैं।

['एक हुरिपास' उपनाम से 'आगरा पंच',
4 मार्च, 1939 में प्रकाशित।]

तुक-बेतुक (1)

जनाब जिन्ना की बुराई करते हुए श्री फजलुलहक ने लिखा है कि कम-से-कम बंगाली मुस्लिम सब उनके साथ हैं। इस प्रकार से प्रांतीयता फैलाकर एकता को नष्ट करने के अपराध में जिन्ना साहब को मि. आमेरी से कहकर उन्हें मंत्री पद से हटवा देना चाहिए।

बंगाल के डिप्टी स्पीकर ने मंगलवार को यह कहकर एसेंबली की मीटिंग भंग कर दी कि महत्त्वपूर्ण कार्यवाही स्पीकर की उपस्थिति में ही हो तो अच्छा हो।

—भाई कुछ लोग काम के होते हैं, कुछ कोरे नाम के।

चर्चिल साहब ने जोश में आकर अपने 'एटलांटिक चार्टर' में कह तो दिया कि हम सारे पराधीन देशों की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं, पर भारतवर्ष में अभी वही बेढंगी रफ्तार जारी है।

—हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के और।

अभी-अभी अखबारों में ब्रिटेन के सबसे बुड्ढे आदमी की मृत्यु और उसका परिचय छपा है।

—और ब्रिटेन के ये इतने जवान जो रोज मर रहे हैं—उनकी कोई पूछ ही नहीं?

कुछ लोगों ने सरकार से अपील की है कि पूजा के दिनों में कलकत्ते में अंधकुप्प की पाबंदी हटा ली जाये, क्योंकि इससे त्यौहार मनाने में अड़चन पड़ती है।

—सरकार को इन लोगों की बात कभी नहीं माननी चाहिए। इनकी अकल में यह बात नहीं सूझती कि दुश्मन थोड़े ही पूजा मना रहा है।

सुना जाता है कि श्री फजलुलहक को शायद मुस्लिम-लीग से निकाल दिया जायेगा।

—सवाल यह है कि यदि यही हाल रहा तो थोड़े दिन बाद मुस्लिम-लीग में बचेगा कौन?

खबर है कि बंगाल एसेंबली में गवर्नर साहब की आज्ञा पढ़कर सुनायी जा रही थी। उस समय सुहरावर्दी साहब जो कई दिन से ग़ैरहाजिर थे, ठाठ से आकर अपनी सीट पर बैठकर मुस्कराने लगे।

—लोगों को जयद्रथ-वध की बात तो याद होगी ही।

['समाज सेवक', 21 सितंबर 1941 में प्रकाशित।]

तुक-बेतुक (2)

खबर है कि स्टेशन-स्टेशन पर हक साहब को काले झंडे दिखाये गये।

—काले रंग से हक साहब डरते थोड़े ही हैं। हां, सफेद झंडे दिखाये होते, तो एक बात भी थी।

कलकत्ते में सूर्यग्रहण के पर्व पर दो-एक दुर्घटनाओं से तीन-चार व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी।

—एक पंथ दो काज। चलो, लगे हाथ वैतरणी का भी स्नान हो जायेगा।

अखबार में समाचार प्रकाशित हुआ है कि रूस की मदद के लिए जो त्रिराष्ट्रीय कांफ्रेंस बनी थी, उसकी मीटिंग मास्को में शीघ्र ही होनेवाली है।

—अभी तो रूसी बिना मदद के ही लड़े जा रहे हैं। अभी ऐसी क्या जल्दी पड़ी है—धीरे-धीरे होने दीजिए, कहा भी है—'देर आयद दुरस्त आयद।'

लंदन में मित्र राष्ट्रों की एक कांफ्रेंस हो रही है जिसमें इस बात का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जा रहा है कि हिटलर की पराजय और युद्ध खतम होने पर यूरोप के देशों के खाने के लिए कितने सामान की जरूरत होगी।

—सुना गया है कि इसमें मरे हुओं के श्राद्ध के लिए जिन खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होगी उनको गिनती में नहीं लिया जा रहा है—क्योंकि उनकी तादाद इतनी अधिक होगी कि सरकारों का सारा हिसाब गड़बड़ में पड़ जायेगा।

बंगाल की एक संस्था में प्रोफेसर विनय सरकार ने एक लेख पढ़ा जिसमें इस बात की गवेषणा की गयी थी कि लोग साधू क्यों हो जाते हैं? खोज से पता लगा कि साधूगिरी हिंदुस्तान में एक पेशा है। और बहुधा साधू होने के कारण गरीबी, कलंक रक्षा या बेकारी होती है।

—अच्छा हो, यदि एक लेख इस विषय पर भी लिखा जाये कि लोग मुस्लिम लीग के मेंबर क्यों होते हैं?

इस विषय में अनेक शिकायतें सुनने में आयी हैं—कि आसाम में जनगणना में भूलें रह गयी हैं।

—अरे, भाई तो इसमें ऐसी परेशानी की बात क्या है? तुम्हारे आदमी तो सब तुम्हारे पास हैं—गिनती कम हुई तो कम ही सही।

['समाज सेवक' 28 सितंबर, 1941 में प्रकाशित।]

भारतीय चिड़ियाघर

कुछ लोग हैं जिन्हें हिंदुस्तान की हालत पर तरस आता है, कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें गुस्सा भी आता है पर भाई अगर हम से सच-सच पूछो तो हमें हंसी आती है। हिंदुस्तान आजकल एक सरकर का अखाड़ा-सा बना नजर आता है। जिसे देखिए वही अपने खेल-तमाशे में मस्त है। कोई गा रहा है, कोई खा रहा है। कोई सो रहा है, कोई रो रहा है। कोई हंस रहा है, कोई फंस रहा है। गरज यह कि सब अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। किसी को जैसे कोई चिंता ही नहीं है। ऐसी हालत देखकर हमें तो ऐसा लगने लगता है कि इस देश को स्वतंत्रता की कोई जरूरत नहीं। मजा आता है इसीलिए उसका राग अलापा जाता है, इसको पाने से किसी का ताल्लुक नहीं।

आइए, जरा इस अजायबघर की सैर करें। अच्छा, राजधानी से ही शुरू कीजिए। यह हैं देखिए हमारे मि. लिनलिथगो साहब बहादुर। देखने में हैल्थ आफिसर लगते हैं तो क्या आप पक्के पहलवान हैं। आपने हिंदुस्तान के अच्छे-अच्छे नेता को पछाड़ दिया है। तभी तो खुश होकर सरकार ने आपकी मियाद बढ़ा दी। सारे देश में तहलका मच गया—जैसे लिनलिथगो साहब कोई म्यादी बुखार हो। अरे! भाई, हमारे लिए तो कोई भी वायसराय हों, सब एक से। सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।

हमारे लाटसाहब को शतरंज खेलने का बड़ा शौक है। छुटपन में आप दर्जे में भी आंख मीच कर कल्पना से ही मात दिया करते थे। और आजकल का तो फिर कहना ही क्या, यह देश तो खासतौर से शतरंज के लिए प्रसिद्ध है। यहां शतरंज खेलने का निमंत्रण हर हालत में स्वीकार्य माना जाता है।

डिफेंस काउंसिल का तो बहाना है। वायसराय साहब ने अबके सजीव मोहरों से शतरंज खेलने का इंतजाम किया है। बड़े-बड़े नवाब, राजा, सर और प्रधानमंत्री आपकी शतरंज के मोहरे बने हैं। इसमें न तो कोई बात आश्चर्य की है न घबराने की। हमारे राजा-महाराजा पुराने जमाने से जीवित शतरंज खेलते आ रहे हैं। जहांगीर ने तो इसका एक खास रूप नियत कर रखा था जिसे 'पुकार' को देखनेवाले सभी लोग जानते हैं।

हां, यह बात हमें बिलकुल नहीं जंची कि पंजाब और बंगाल के प्रधानमंत्री शतरंज में शामिल नहीं हो रहे हैं। इतने दिनों तक जिनके इशारे पर नाचते रहे आज उन्हीं को अंगूठा दिखाना—यह भी कोई नमकहलाली है? इसी को कहते हैं कि जिन्हें भूंकना सिखाओ, वही काटने दौड़ते हैं।

[रचनाकाल 1941 'एक चिड़ीमार' उपनाम से 'समाज सेवक' 1 नवंबर, 1941 में प्रकाशित।]

भारतीय चिड़ियाघर (2)

हिंदुस्तान के अखाड़े में तीन आदमियों का नाम सबसे ऊपर है : हमारे वायसराय महोदय, जनाब जिन्ना साहब और महात्मा गांधी। और भगवान की कृपा से तीनों ही काफी हट्टे-कट्टे हैं। तंदुरुस्ती में आप अपने सानी नहीं रखते। इन तीनों में जनाब जिन्ना साहब सबसे ज्यादा अजीब हस्ती हैं। क्योंकि एक तरफ तो आप वायसराय की तरह लार्ड बनने की ख्वाहिश रखते हैं और दूसरी तरफ आप महात्मा गांधी की तरह प्रिय और जन-नेता भी बनने की कामना करते हैं। बाहर मुस्लिम-लीग कांग्रेस की नकल करती है और अंदर जिन्ना साहब मुस्लिम-लीगियों पर लाटसाहबी झाड़ते हैं। एक तरफ तो आप अपने दल के लोगों को लेकर असेंबली से 'वाक-आउट' करते हैं कि अंग्रेज सरकार हिंदुस्तान के मामले में आपकी अहम राय से कोई लाभ नहीं उठाती है—दूसरी तरफ आप मुस्लिम प्रांतों में अपनी मिनिस्ट्रियों को बहाल रखकर सरकार की तावेदारी करने की आज्ञा को भी बहाल रखते हैं। ठीक भी तो है—लड़ाई के जमाने में ज्यादा तंग करना ठीक नहीं है।

एक बार का किस्सा है कि सरकस में तमाशा दिखाया जा रहा था। कप्तान ने एक शेर को सिखाया था, और उसके करतबों से जनता का मन बहलाना चाह रहा था। इसीलिए यह दिखाने के लिए कि मैं चाहे जितना मारूं शेर कुछ नहीं बोलता, कप्तान ने एक जोर का हंटर शेर के जड़ दिया। फिर क्या था, लेने के देने पड़ गये। शेर गरज कर उल्टा झपट पड़ा और सारे दर्शकों के आगे कप्तान के नाम में धब्बा लग गया।

कुछ यही मजा आज की लीग की चालों में आ रहा है। हक साहब इतने दिनों से जिन्ना साहब के इशारे उठा रहे थे, इसलिए जिन्ना साहब को मुगालता हो गया। दिल्ली में उन्होंने साफ-साफ कहा कि शेरे बंगाल को घुटने टेकने होंगे। पर हक में बंगाल का खून है। सुंदर-वन तो अपने शेरों के लिए प्रसिद्ध है। जिन्ना साहब को मालूम होना चाहिए कि ऐसे मामलों में जो खतरा होता है, उसका भी ख्याल रखना चाहिए। नहीं तो तमाशे की भी रौनक मारी जाती है—और बुकिंग ऑफिस की रिपोर्ट भी कुछ अच्छी नहीं होती।

लेकिन जिन्होंने पिछले हफ्ते असेंबली हाउस में मैटिनी शो देखा था उन्हें मालूम पड़ा होगा कि कांग्रेस से मुस्लिम-लीग ने गुर्राना और आंख दिखाना सीखने में बड़ी सफलता प्राप्त की है। सुनते हैं कि जिस समय जनाब जिन्ना साहब अपनी तकरीर बनाने उठे थे, उस समय दरवाजे पर खड़े चपरासी की पगड़ी गिर पड़ी थी।

[रचनाकाल 1941, 'एक चिड़ीमार', उपनाम से 'समाज सेवक', 9 नवंबर, 1941 में प्रकाशित।]

तुक-बेतुक (3)

श्री सत्यमूर्ति ने अपने एक भाषण में यह स्पष्ट किया कि यद्यपि विश्व-शांति के लिए अहिंसा की स्थापना की अनिवार्य आवश्यकता है फिर भी वर्तमान परिस्थिति में हिंसा की शरण लेनी ही पड़ेगी।

—सत्यमूर्ति जी जरा देर से जागे। कुछ दिन पहले अगर यह कह दिया होता तो आज शायद डिफेंस काउंसिल में होते।

काउंसिल आफ स्टेट की मीटिंग में होम मेंबर ने कहा कि यह बात सिद्ध हो चुकी है कि श्री सुभाषचंद्र बोस ने हिटलर से दोस्ती कर ली है। हां, यह नहीं कहा जा सकता कि वे रोम में हैं या बर्लिन में।

—हमारा ख्याल है कि होम मेंबर ने उस समय अपनी जेब न टटोल कर भूल कर दी। क्या ताज्जुब है कि सुभाष बाबू उनकी जेब में ही बैठे होते।

खबर है कि वाइसराय की नयी काउंसिल के बढ़े हुए मेंबरों के लिए देहली में डेढ़-डेढ़ लाख रुपये के घर बनेंगे।

—हमारी राय है कि इन घरों की छतों पर मोटे-मोटे अक्षरों में इनके बनने का साल लिख दिया जाये, और जेनेवा-लीग से एक कानून पास करा लिया जाये कि सन् 1940 के बाद बने घरों पर बम न बरसाये जायें।

बर्मा के एक उत्सव में हिटलर का एक पुतला बनाकर उसे फांसी दे दी गयी।

—एक कसर रह गयी। कागज का एक जर्मनी बनाकर उसमें आग और लगाई जानी चाहिए थी।

['समाज सेवक' में 'तीरमारखां' उपनाम से 16 नवंबर, 1941 में प्रकाशित।]

तुक-बेतुक (4)

सुना है कि श्री अणे ने उड़ीसा-मंत्रिमंडल को बातचीत का तार भेजा है।

—क्यों न हो, एक से दो तो हुए। रहीमदासजी भी कह गये हैं—'ज्यों बड़री अंखियन निरख, आंखिन को सुख होत।'

कहा जाता है कि संसार उलझनों से भरा है—खास तौर से आज के जमाने में। पर इस बार श्री भगवतीचरण वर्मा को उलझने को कोई चीज़ ही नहीं मिली। विश्वास न हो तो इस सप्ताह का 'विचार' उठाकर देख लीजिए।

कुछ लोगों को इस बात से दुख हुआ है कि सुभाष बाबू के जर्मनी चले जाने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य की आबादी में से एक आदमी कम हो गया।

—लेकिन इसमें दुख की क्या बात है? जर्मनी का एक आदमी हर हैस तो हमारे यहां पहले ही आ चुका है। हिसाब बराबर हुआ।

इंग्लैंड के एक कवि ने भारतीय विमान-चालकों की वीरता की प्रशंसा में एक कविता लिखी है।

—इसे कहते हैं कद्रदानी।—एक हम हैं जो अपने रक्षकों की प्रशंसा करना तो दूर, उल्टे उनसे कहते हैं कि हमें आपकी जरूरत नहीं है।

लखनऊ के श्री अहमद हुसैन ने जनाब जिन्ना के खिलाफ एक लेख लिखा है।

—जिन्ना साहब को चाहिए कि इन्हें मय बोरिया-बिस्तर के अपने पाकिस्तान से निकाल बाहर करें।

नेहरूजी पिछले बृहस्पतिवार को छोड़ दिये गये।

—तब तो आमेरी साहब को बड़ा दुख हो रहा होगा क्योंकि नेहरूजी जेल में रहकर अंग्रेजी साहित्य की जो सेवा करते हैं वह अब बंद हो जायेगी।

['तीरमारखां' उपनाम से 'समाज सेवक' 8 दिसंबर, 1941 में प्रकाशित।]

दुनिया की होली

हम हिंदुस्तानियों का ख्याल है कि होली खास हमारा ही त्यौहार है। उसे हम कुछ ऐसे आनंद से मनाते हैं गोया वह अपनी बपौती हो। पर अगर हम आंखें खोलकर देखें (और आंख खोलकर हम जरा कम देखते हैं) तो हमें पता चलेगा कि यह बस हमारा ख्याल ही ख्याल है। और अगर आप इसका सबूत चाहते हैं तो सुनिए वे बम के धड़ाके, और तोप-गोलों की गूंज। सारी दुनिया आज होली खेल रही है।

हमने शहरी लोगों के मुंह से अक्सर गांव की होलियों की बुराई सुनी है। और इसमें कोई ताज्जुब भी नहीं। हमारे इन शहरों की नींव शायद ठीक उन्हीं दिनों पड़ी है जिन दिनों इंग्लैंड में शैली और कीट्स जैसे स्वप्नशील कवि टर्रा रहे थे। सो शहर की आबोहवा में कुछ ख्वाब-ख्याली रहती ही है। और उधर गांव वाले पक्के यथार्थवादी होते हैं। अतएव यह एकदम स्वाभाविक है कि शहरी लोगों को गांव की होली की यथार्थवादिता पसंद न आये। जरा-सा दो घंटे बाद उड़ जानेवाला गुलाबी रंग, और माथे पर चंदन-गुलाल मल कर ही जो होली का भरपाया कर देते हैं, उन्हें अगर यह शिकायत हो तो कोई बेजा नहीं। पर जब तक धूल-कीचड़ से शुरू होकर बात लठ्ठम-लठ्ठा तक न पहुंच जाये, तब तक होली क्या—यह हमारे देहाती भाइयों की राय है। और अपने राम की भी यही राय है। सच्ची होली वह जिसकी याद अगली होली तक बनी रहे।

और आज दुनिया के बड़े-बड़े नेताओं ने जो होली इस पृथ्वी के आंगन में मचा रखी है वह ठीक वैसी ही होली है। हम आपको इस बात का यकीन दिलाते हैं कि जिस तरह आप अभी पिछली होली की याद नहीं भूले हैं, ठीक उसी तरह जब तक अगली होली न आ जायेगी, तब तक इस होली को भी दुनिया भुला न सकेगी। इसके नाम-निशां कहीं न कहीं दिखायी अवश्य पड़ते रहेंगे। हमारे कुछ भाई ऐसे हैं जो दुनिया की इस होली को, और होली के इन मतवाले हुरिहारों को बुरा-भला कहते हैं। पर हमें कहने दीजिए कि उनका दिल ठंडा हो गया है, और जीवन के राग-रंग से वे मुंह मोड़ बैठे हैं। ऐसे भी तो लोग देखे गये हैं, जो होली के दिन रंग और गुलाल खेलने को बुरा

कहते हैं। पर उनके मुंह बिगाड़ लेने से क्या हम अपना मजा मिट्टी करेंगे? यह नामुमकिन है।

तो, जो होली सारी दुनिया में खेली जानेवाली हो, और जो हमारे यहां के गावों की तरह पूरी यथार्थवादी हो, उसकी तैयारी भी तो जोर-शोर से होनी चाहिए। आज की इस होली के लिए मनचलों ने महीनों पहले से तैयारियां शुरू कर दी थीं। न जाने कितने दिनों से वे गुप-चुप पिचकारियां, रंगों के टैंक, और इसी तरह की चीजें बना रहे थे। बेचारी गोपियां उनका आभास पाकर ही डर के मारे सिकुड़ती-कुकड़ती नंद बाबा से कह रही थीं कि बाबा! ब्रज की रक्षा तुम्हारे ही हाथ है। पर होली में बड़े-बूढ़ों की रोक-टोक भी नहीं चला करती। उल्टे देखा गया है कि इस दिन तो वे भी सींग कटाकर बछड़ों में शामिल हो जाते हैं। इसीलिए तो नंद बाबा एक ओर तो राधा और उसकी सहेलियों से कहते रहे कि डरो मत, मैं हूं तब तक कोई बेजा हरकत न होने पायेगी, और दूसरी ओर वे कृष्ण और उसके मस्ताने साथियों को बढ़ावा देते रहे कि बढ़े चलो, मेरे शेरो, अबके वह रंग दिखाओ कि जरा लुत्फ आये।

यों तो होली खेलने का खास दिन तो एक ही रखा गया है, पर बच्चों और मनचलों के लिए तो सारा फागुन का महीना ही होली खेलने को है। होली से दस-बीस दिन पहले से ही ब्रज में बच्चों की शैतानियां शुरू हो जाती हैं। कहीं किसी के छापा लगा दिया, कहीं किसी की टोपी उतार ली। और फिर कृष्ण की टोली तो रास्ते चलती गोपियों से छेड़खानी करने के लिए प्रसिद्ध है। इसीलिए हालांकि होली थी सन् 1941 में, पर इन यार लोगों ने सन् 1931 से ही अपनी करतूतों के उदाहरण पेश करने शुरू कर दिये थे। उस दिन जापानी कृष्ण को क्या सूझी कि बेचारी चीनी बाला को जा रोका। और उधर जर्मनी ने आव देखा न ताव एक आलू का छापा बनाकर राइनलैंड पर लगा दिया। फिर क्या था, यार लोगों को इशारा मिल गया। धीरे-धीरे उन्होंने अपने हौसले पूरे करने शुरू कर दिये। और जब देखा कि नंद बाबा उनकी इन शरारतों पर छुप-छुपे मुस्करा रहे हैं, तो उन्हें और भी सहारा मिल गया।

कृष्ण के बारे में चाहे कह कुछ लिया जाये पर वे फिर भी गंभीर हैं। यों होली में सबसे ज्यादा मजा वे ही लूटते हैं, और राधा हमेशा उन्हीं के हिस्से में आती है, पर वे मौका देखकर निशाना चलाते हैं। जब उनके और साथी चुहल करते होते हैं, तब वे अपनी घात लगाये रहते हैं। जर्मनी की निगाह शुरू से फ्रांस पर थी, पर वह चुप बैठा फ्रांसवालों की हरकतें देख रहा था। पर उसके और साथी बड़े बे-सब्र निकले। इटली को और कुछ नहीं मिला तो काली-कलूटी अबीसीनिया को ही पकड़ लिया। और उधर स्पेन में तो देवर-भाभी में ही छन गयी। उन्होंने अपने आंगन में रंग और कीचड़ से वह दधिकांदों मनाया कि होली आते-आते तक तो उनके जोश भी बुझ गये। अब भाभी चुपचाप घर के एक कोने मे दुबकी पड़ी हैं और देवर अपने अंगों को सहला रहे हैं।

ग्वालों की टोली के इन कारनामों से गोपियों का माथा ठनकने लगा।

उन्होंने सोचा कि जब अभी यह हाल है, तो होली आने पर तो हमारी पूरी ही दुर्गति बन जायेगी। वे बड़े सोच में पड़ीं कि क्या किया जाये! इसी बीच में जर्मनी कृष्ण ने पनघट से आती हुई बेचारी आस्ट्रिया को पकड़ लिया, और राधा की खास सहेली चेकोस्लोवोकिया की मटकी छीन ली। तब तो गोपियों से न रहा गया। वे नंद बाबा के पास रोती हुई पहुंचीं, और कहा कि या तो इन्हें समझाओ या फिर हम से कहो, तो हम भी तैयारी शुरू कर दें, नहीं तो होली के दिन आफत ही आती मालूम पड़ती है। नंद बाबा ने भी सोचा कि ये लोग ज्यादती करने लग गये हैं। उतनी हंसी तो ठीक जो दूसरा भी बर्दाश्त कर ले, पर यह क्या कि बेचारी गोपियों की चूड़ियां टूट जायें, और वे दूसरे दिन दूध दुहने के काबिल भी न रह जायें। उन्होंने कृष्ण और उनके दोस्तों को इकट्ठा किया और समझा-बुझा कर मामला शांत करा लिया।

पहले तो यार लोग बड़े बिगड़े। अभी दिल के अरमान तो निकलने भी नहीं पाये, बीच में ही इन्होंने अड़ंगा लगा दिया। आखिर नंद बाबा ने क्या अपनी जवानी में रंग खेला ही न होगा? फिर अब हमारी दो दिन की मजेदारी भी इन्हें क्यों बुरी लगती है? उन्होंने साफ कह दिया कि बाबा, वैसे तुम बाबा हो, सब कुछ भुगते हुए हो, और हम तुम्हारा आदर करने को भी तैयार हैं। पर हमारे बीच में तुम टांग अड़ाओगे तो फिर तो तुम हमारी चुटकियों के हो। नंद बाबा जरा डरे तो जरूर, पर उन्होंने बात को संहालते हुए कहा कि रंग खेलने को मैं कब मना करता हूं, बस जरा आपे से बाहर मत हो। यारों ने भी सोचा, होगा सो देखा जायेगा, हां कह देने में ही क्या बुराई है? नंद बाबा ने भी सोचा कि चलो छुट्टी हुई।

इस समझौते से और सब गोपियों की तो दिल जमई हो गयी, पर बेचारी पोलैंड का डर कम नहीं हुआ। उसने नंद बाबा से गिड़गिड़ाकर कहा कि बाबा, मेरा घर तो कृष्ण के घर के बिलकुल बगल में है, रात-दिन उसकी तैयारियों की आवाज मेरे कानों में आती रहती हैं। कभी रंग पीसता है, कभी पिचकारी ठोकता है, कभी कांटा साफ करता है। मुझे तो उसकी नीयत पर शुबहा होता है। मेरा तो मन करता है कि तुम्हारा गांव छोड़कर पूरब को चल दूं।

सौंदर्य-प्रिय नंद बाबा ने यह सुना तो उनके कान खड़े हो गये। फ्रांस और पोलैंड ये ही तो दो काम की गोपियां हैं। वे एकदम हड़बड़ा कर बोले—चल पगली, कहीं ऐसा सोचते हैं।

तो फिर मैं क्या करूंगी?—पोलैंड ने पूछा। जब तक मैं जिंदा हूं तब तक तुझे कोई फिक्र नहीं—नंद बाबा ने अपनी बूढ़ी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा।

पर नंद बाबा की बात गलत निकली। उन्होंने सोचा था कि जरा लाल आंखें दिखाने से और डांट देने से ही ये मनचले चुप हो जायेंगे। उन्हें इसकी खबर न थी कि जमाना बदल गया है और अब बड़े-बूढ़े सिर्फ अजायबघर के लायक ही रह गये हैं, उनके आदर की बात खत्म हुई। सो, हुआ वही जो होना था। होली के पहले दिन मुंह-अंधेरे ही कृष्ण पोलैंड के घर में घुस

गया, और वह बिचारी अभी उठ भी न पायी थी कि उसके मुंह पर गुलाल रगड़ कर और रंग से उसके अंग सराबोर करके उसने उसे खाट ही से बांध दिया। तब वह हारकर पुकारने लगी—नंद बाबा को।

पुकार सुनकर नंद बाबा आंखें मलते बाहर आये। जब उनके दूत ने पूरा हाल सुनाया तो एकदम धोती से बाहर हो गये। कड़क कर बोले—बुलाओ तो उस नालायक कन्हैया को।

थोड़ी देर बाद दूत ने आकर कहा—वह नहीं आता। और पिचकारी से बेचारी पोलैंड का सारा घर रंगे डाल रहा है।

नंद बाबा भागे-भागे गये और कन्हैया से गुर्राकर बोले—क्यों बे बदमाश, तूने क्या कहा था?

कन्हैया—बाबा, तुम बीच में न पड़ो, अपने घर बैठो। आज होली है, आज के दिन कोई बेजा नहीं है।

नंद बाबा—अच्छा तो तू अपनी पिचकारी रख दे।

कन्हैया—भला यह भी कभी हुआ है? आज रंग न खेले तो साल-भर जिए ही क्यों?

नंद बाबा—तो फिर मैं गोपियों की तरफ से खेलूंगा।

कन्हैया—तुम्हारी मर्जी। पर मैं फिर कहता हूं कि क्यों बुढ़ापे में अपनी हड्डियों की मरम्मत कराते हो।

पर नंद बाबा तो ताल ठोकर उतर आये। और उधर कन्हैया की टोली भी इशारा पाकर लगी गोपियों को परेशान करने। अभी तो होली हो रही है।

गोपियों की गुहार सुनकर रूस कन्हैया से अपनी दोस्ती तोड़कर आ मिला। उधर अमेरिकन अपने चचेरे भाई नंद बाबा की मदद को आ गये। और चीनी बाला ने जो मौका पाया तो फिर जापान पर पिचकारी छोड़ दी। अब क्या है, चारों ओर घमासान ही है।

दुनिया के दर्शको, अपने भाग्य सराहो कि इस अद्वितीय होली के मौके पर हमारी आंखें दुखने नहीं आयी हैं।

['पिचकारीमल गुलालका' उपनाम से 'समाज सेवक', होलिकांक, 2 मार्च 1942 में प्रकाशित।]

होलिका शब्द-कोष

अगस्त घोषणा—आमेरी की बेटी जो पैदा होते ही मर गयी।

अणे—यह नदी हिंदुस्तान के आंध्र-प्रदेश से निकलकर नयी दिल्ली की पोखर में गिरती है।

आजाद—मौलाना अबुल कलाम। यह एक तरह का कवच है जिसे कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से बचने के लिए पहन रखा है।

इन्कम-टैक्स—एक तरह की महामारी जो हर साल आती है।

ईस्ट-इंडिया कंपनी—अठारहवीं शताब्दी में विदेशियों का अनाथाश्रम।

उड़ीसा मंत्रिमंडल—नौसिखिये एक्टरों की एक कंपनी जिसने हाल ही में अपना ग्रांड रिहर्सल शुरू किया है।

ऊसर—लार्ड लिथनलिथगो के दिमाग का दूसरा नाम।

ए. आर. पी.—सिनेमा की एक गजल, जो आज जिसे देखिए उसी की जुबान पर है।

एयर रेड—एक संक्रामक रोग, जिसके आते ही आदमी बौखलाकर जमीन के अंदर घुस जाने की कोशिश करने लगता है।

ऐटलांटिक चार्टर—चर्चिल साहब की चिट्ठी जो बैरंग होने के कारण हिंदुस्तान ने वापस कर दी।

ओवरड्राफ्ट—रईस लोगों की एक गुप्त-जेब।

औरत—यह दृश्य भी है, चल भी है, श्रम-उत्पादन भी है, और किसी और के उपभोग के लिए पैदा की जाती है, इसलिए अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह एक पदार्थ है।

अंग्रेज—हिंदुस्तान और अफ्रीका में पाए जानेवाली फेरीवालों की एक जाति जिसने सभ्यता बेचने का ठेका ले रखा है।

कृपलानी—सदा सुहागिन का पर्याय।

खादी—स्वराज्य का पासपोर्ट।

गांधी—कांग्रेस फिल्म कंपनी के डायरेक्टर।

घास—ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों का भोजन।

चरखा—कांग्रेसियों का खिलौना।

चांग-काई-शेक—एक पुच्छल तारा जो अभी हिंदुस्तान में चमका था।

छायावाद—हिंदी के कवियों का काजी-हौस।

जिन्ना—जनाब मुहम्मद अली। हिंदुस्तानी कोलंबस, जिसने पाकिस्तान नामक एक काल्पनिक महाप्रदेश का पता लगाया है।

झा—पं. अमरनाथ। क्योंकि आप अंग्रेजी के डॉक्टर हैं इसलिए आपको हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया है।

टैंक—आजकल इसमें पानी के बजाय आग भरी रहती है।

ठंड—रूस देश का एक पुल जिसे जर्मन सेना पार न कर सकी।

डैवनशायर—ड्यूक आफ। इंग्लैंड के एक पुच्छ-विषाण-हीन पशु का नाम।

ढील—जो गांधीजी ने राजगोपालाचार्य को दे रखी है।

तोजो—सफेद बालों की पेटेंट जापानी दवाई।

देहली—हिंदुस्तान के दिल का गड्ढा।

धोखा—अंतर्राष्ट्रीय सप्त-महाव्रत में से एक।

नेहरू—पं. जवाहरलाल। युक्त प्रांत का यह ज्वालामुखी सबसे पहले सन् 1931 में फूटा था। फिर सन् 1935-36 में इसने अपने जोर से सारे हिंदुस्तान को कंपा दिया था। अब यह ठंडा होता जा रहा है।

पट्टाभि—सीतारामैया। आपकी बारात लड़कीवाले ने दरवाजे से ही लौटा दी।

फजलुल हक—बंगाली मंजा, जिसने मुस्लिम-लीग की पतंग काट दी।

बम—आर्य हिटलर का वेद-मंत्र।

भाषण—आजकल इसका मतलब लिखे हुए प्रबंध से होता है।

मुसोलिनी—चौबेजी छब्बे होने चले थे, पर दुबे ही रह गये।

योरोप—अखाड़ा।

राजेंद्रप्रसाद—भूकंप ने बहुतों को मिटाया, पर इनको बनाया।

लंदन—हिंदुस्तान नामक घोड़े की लगाम।

वायुयान—यमदूत।

शांति—गूलर का फूल।

सुभाष बोस—अहिंसा के शिकार।

हर हैस—'बन गये तो लालाजी, बिगड़ गये तो बुद्धू'।

[संग्रहकर्ता—'श्री अरररररधड़ाम' उपनाम से 'समाज सेवक' होलिकांक, 2 मार्च, 1942 में प्रकाशित।]

तुक-बेतुक (5)

बंगाल के अधिकारियों का दिमाग कभी-कभी डायमंड हार्बर पर चरने चला जाता है। मालूम होता है कि बैठे-ठाले इनका मन नहीं लगता, इसलिए कुछ-न-कुछ ऊटपटांग कहते ही रहते हैं। उस दिन और कुछ नहीं तो सरकार ने बंगाल के कुछ हिस्सों को गैर-कुटुंबी घोषित कर दिया। बस, एक कलम की घसीट ने न जाने कितनों के मन में हौला पैदा कर दिया और कितनों का खाना-पीना मुश्किल कर दिया।

कलकत्ते के खुशनसीब रहनेवालों को इन निवासियों से सख्त हमदर्दी है, क्योंकि भगवान की दुआ से यह शहर बिना सरकारी घोषणा के ही गैर-कुटुंबी हलका बन गया है। अव्वल तो आजकल भीड़ दिखायी ही जरा कम देती है, और फिर उसके वे रंगीले तर्ज तो सपने हो गये। बुरा हो इन कंबख्त जापानियों का।

इस सरकारी घोषणा का मतलब समझने में अपने राम बिलकुल फेल हो गये हैं, तिस पर आजकल कहा कुछ जाता है और बात कुछ होती है। इन जिलों में रहनेवाले सरकारी कर्मचारियों को अपने परिवार को बाहर रखने के लिए सरकार बहादुर कुछ मासिक एलाउंस देना चाहती थी। सुनते हैं उसी के लिए यह ऐसी लंबी-चौड़ी घोषणा निकली है। मालूम होता है कि सरकार को भी नाम कमाने की बीमारी लग गयी है। कलयुगी दानवीरों में यही तो एक ऐब है।

लेकिन अपने राम का इससे एक फायदा ही हुआ। स्कूल में पढ़ते थे तब से लेकर आज तक हमारा अपने दोस्तों से इस बात पर झगड़ा चलता आ रहा है कि कलम की ताकत कितनी है। उनकी तुच्छ बुद्धि में कलम में कोई दम नहीं। और बदकिस्मती से हमारी कलम उनको करारा जवाब देने में असमर्थ रही। लेकिन आज उन्हें अपने मुंह की खानी पड़ेगी, क्योंकि इन जिलों में अब सभी पुल्लिंग अपने बाल-बच्चों को बाहर पैक करने की तैयारी कर रहे होंगे।

अपने राम शुरू से ही पलायन के पक्ष में नहीं हैं। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि हम खुद अभी कलकत्ते में ही डटे हुए हैं। बमों से मरना कोई अच्छी बात तो नहीं है, पर कम-से-कम यहां गंगाजी तो है। फिर आखिर हमारे जैसे टके के चारवाले आदमी कहां जायें? भूखों मरने से तो यही अच्छा है कि शहीदों में नाम लिखा लें। और जब गंगा बहती घर पर ही आ रही है, तो उसमें हाथ न धोने को अपने राम पाप समझते हैं।

बंगाल के अधिकारियों की एक बात और अपने को नहीं पची। जब-तब कभी कोई और कभी कोई, यह कह बैठता है कि कलकत्ता से फालतू आदमियों को चला जाना चाहिए। बात ऊपर से बड़ी भली लगती है और अपने राम इस बात को पूरी तौर पर मानते हैं कि जापानियों की नाक में दम करने के लिए हम सेनाओं को जितना सुभीता दे सकें, उतना दें। पर इसमें दो-तीन बातें ऐसी हैं जो बड़ी खटकती हैं।

मामूली तौर पर अगर हम किसी आदमी को फालतू कह दें, तो फिर दो-चार दिन तो अस्पताल की शरण मे रहना पड़े। अपने-आपको फालतू मानने में जिंदगी से एक निराशा होती है। ऐसा लगता है जैसे हमारी आत्मा को कुचल दिया गया हो। अंग्रेजी के कवि मिल्टन ने एक कविता में ऐसा भाव प्रकट किया है कि जो लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं वे भी भगवान का ही काम करते हैं। फिर फालतू कौन है और कौन नहीं, इसका निश्चय तो अब भगवान ही कर सकते हैं, क्योंकि मिल्टन तो पुनर्जन्म में विश्वास रखते नहीं थे।

हमारी सरकार ने फालतू शब्द की थोड़ी बहुत व्याख्या करने की कोशिश की है, हालांकि उस पर कोई स्पष्टोक्ति करने की उसने जुरअत नहीं की है। उसके हिसाब से जो आदमी (या औरत) लडाई के काम में किसी भी प्रकार की मदद न करता हो वह फालतू है। अगर किसी आदमी के बारे में यह तय करना हो कि वह यहां रहे, या यहां से अपनी तशरीफ का टोकरा बाहर ले जाये, तो उसके लिए यही कसौटी है।

अपने राम को यह कसौटी काफी पसंद आयी और यह सोचकर बहुत खुशी हुई कि सरकार ने कम-से-कम यह बात तो सोलहों आने ठीक कही। आखिर लड़ाई के वक्त भी जो लड़ाई में मदद न करे, तो वह फालतू नहीं तो और क्या? लेकिन, जरा सोचने पर ही हमारी जमीन खिसकने लग गयी। ध्यान से देखने पर अपने राम को तो सभी लड़ाई के लिए कुछ-न-कुछ करते नजर आये।

यकीन न हो, तो एक उदाहरण ले लीजिए। सिनेमा-जैसी फालतू चीज की आप कल्पना भी नहीं कर सकते। उससे न तो यह लोक बनता है और न

परलोक। महात्मा गांधी ने तो इसीलिए आज तक सिनेमा नहीं देखा। ऐसी हालत में अपने राम ने सोचा कि सिनेमावालों को बोरिया-बिस्तर बांधकर सबसे पहले अपना टिकट कटाना है, उतने से अगर डिफेंस सेविंग सर्टीफिकेट खरीदे जायें तो एक पूरी सेना खड़ी की जा सकती है। यही सोच कर अपने राम कल रात को सिनेमा गये कि उसके मालिक से इस बात पर बहस करेंगे कि अपनी दुकान बंद करके चले जाने में उसको क्या उज्र है।

पर मालिक तक पहुंचने की तो नौबत ही नहीं आयी, उसके पहले ही हमें यकीन हो गया कि सिनेमा बिलकुल फालतू नहीं है। टिकट लेने को गये ही थे कि सिपाहियों की टोली की टोली कतार बांधे नजर आयी। तब हमारी समझ में आया कि सिनेमावालों को हम जो बुद्धू समझ बैठे थे, वह ठीक नहीं था। लड़ाई में जानेवाले वीरों का मनोरंजन करनेवाली चीज फालतू कैसे कही जा सकती है?

यह तो रही फालतू आदमियों की बात—जहां तक कलकत्ते का संबंध है। लेकिन उसके अलावा जब ये फालतू आदमी यहां से कहीं और स्थान को प्रस्थान करते हैं, तो वहां भी ये बेचारे फालतू बने रहते हैं और वहां के निवासियों की मुख-मुद्रा स्वागतपूर्ण तनिक भी नहीं दिखायी देती। कलकत्ता में बर्मा शरणार्थियों को जो स्वागत मिला, उससे तो अपने राम ने यही तय किया है कि भागने से तो शरणार्थी बनकर जाने में ही ज्यादा लाभ रहेगा। हां, स्त्रियों की बात दूसरी है।

आपसे जै रामजी की करने के पहले बनारस के निवासियों के साथ सहानुभूति प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं। वहां से जो समाचार आये हैं, उनसे पता चला है कि अब उसे 'बनारस' की बजाय 'बिगड़ा रस' कहना ज्यादा ठीक होगा। वह तो खैर हुई कि पैट्रोल मिलता ही नहीं, अन्यथा सुना जाता है कि वहां की सड़कों पर मोटर चलाने के लिए रास्ता मिलना भी कठिन है। वह जो हो, पर दशाश्वमेध की भीड़ के मजे की कल्पना से ही हमें वहां के आंखवालों से ईर्ष्या होने लगती है। या हुसैन हम न हुए।

['गोबर गणेश' उपनाम से 'समाज सेवक',
18 मई, 1942 में प्रकाशित।]

कुछ चुटकुले

—भाई साहब आप चश्मा पहनकर क्यों सोते हैं?
—अगर चश्मा न पहनूं तो सपने कैसे देखूंगा।

—डाक्टर साहब! रात में मुझे बड़े खराब सपने दीखते हैं?
—तो उसमें क्या है, तुम दिन में सो लिया करो।

--कल रात सपने में तुमने मुझे पांच रुपये दिये हैं।
—सच, चलो, तब तो हिसाब बराबर हो गया।

—मैं बड़ा होकर अमेरिका जाऊंगा।
—तुम तो जब जाओगे तब जाओगे, हम तो हो भी आये।
—कब? कैसे?
—कल रात सपने में गया था।

—तुम सपने में भी पास नहीं हो सकते।
—यह न कहिए मास्टर साहब, सपने में तो मैं आपको भी फेल कर चुका हूं।

—कल रात में सपने में छत पर से गिर पड़ा।
—तो चोट तो नहीं लगी!

[रचनाकाल · संभवतः 1942]

मीरा के चमत्कार

प्रिय भाई लक्ष्मीचंद्रजी,

मान गया भई आपको! आखिर आपने मुझसे लिखवा ही लिया। आज से पहले मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था (मालूम नहीं, स्वप्न में सोचने की प्रथा है या नहीं) कि मैं आपके विशेषांक के लिए कुछ भेज सकूंगा। बात यह है कि आप गजब के संपादक हैं (इसे प्रशंसा चाहे मान लें, पर कृपया खुशामद न समझें) क्योंकि आप हर साल धूमधाम से अपने पत्र का (वैसे तो वह पत्रिका है, पर 'ज्ञानोदय' नाम के कारण पत्र कह रहा हूं) विशेषांक निकाल लेते हैं जब कि हिंदी में ऐसी अनगिनती (यानी जिनकी गिनती करने का कष्ट अभी किसी ने नहीं उठाया) पत्र-पत्रिकाएं हैं जो अपना साधारण अंक निकालने में ही ढेर हो जाती हैं। और आप हर साल मुझे विशेषांक में लिखने की दावत देते हैं (इसे किसी अन्य प्रकार की दावत न देने की शिकायत न मानें) और मैं भी हर साल यह सोचकर कि आप तो विशेषांक हर साल निकालते रहेंगे, मैं कब तक आपका साथ निभाऊंगा, चुप लगा जाता रहा हूं। मुझे याद है, पहली बार आपने 'इतिहास विशेषांक' के लिए मुझसे रचना मांगी थी। पहले तो मैं ताज्जुब में पड़ा क्योंकि मैंने न तो इतिहास बनाया है, न लिखा है, न पढ़ा है, और न उसमें कोई शोध-कार्य ही किया है, फिर उसे आपका स्नेह-स्मरण मानकर कृतज्ञ बना बैठा रहा। पर जब 'इतिहास विशेषांक' देखा तो भेद समझ में आया। उसमें ऐसे अनेक लेखकों की रचनाएं थीं जिनसे इतिहास के किसी भी संबंध की खबर मुझे न थी। तब मुझे थोड़ा पछतावा भी हुआ कि यों तो मैं भी विश्रांत घाट के इतिहास पर एक रोचक काल्पनिक निबंध भेज सकता था। तभी मैंने तय कर लिया कि आपके अगले विशेषांक का निमंत्रण खाली नहीं जाने दूंगा। पर मेरा दुर्भाग्य देखिए कि आपने अगला विशेषांक निकाला : 'परिवार विशेषांक'। मैं फिर मन मार कर रह गया। क्योंकि यद्यपि मैं बचपन में अपने माता-पिता के परिवार का अंग रहा हूं, और अब आपकी दया से खुद मेरा भी परिवार है, पर उसमें खोजने पर भी मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली जो लेख का विषय बने। और तो और, मेरे परिवार में ऐसी कोई गहन समस्या भी नहीं है जिसकी चर्चा करने का मन करे। हां, उसकी

प्रशंसा अवश्य कर सकता हूं, पर वह आपके पाठकों को (जो लाख हों, आखिर तो मनुष्य हैं) खटक सकती है। इसलिए चुप लगा गया। साल-भर तक चुप लगाये रहने पर पता चला कि अब आप 'नवोदित लेखिकांक' निकाल रहे हैं। तब कहीं चैन की सांस ले सका। क्योंकि मुझे पूरा भरोसा था कि आपका स्नेह चाहे जितना जोर मारे, इस विशेषांक का संबंध मुझसे नहीं जोड़ा जा सकता। पर इस बार भी मुझे आपको मानना पड़ गया। आपने मुझे तो जरूर बख्श दिया, पर मेरी पत्नी के नाम तगादे पर तगादे आने लगे। शुरू में तो मेरी सलाह मान कर वे टालती रहीं, पर जब आपकी ओर से एक-से-एक नयनाभिराम और आकर्षक परिपत्र आये तो उनका मन डोल गया, और उन्होंने 'नवोदित' विशेषण के अनुरूप अपना एक चित्र ढूंढ़-ढांढ़ कर अपना परिचय भी लिख डाला। आपको कोई भ्रम न हो, इसलिए यहीं यह बता देना उचित होगा कि उस परिचय में मेरी काफी प्रशंसा की गयी थी। पर उनकी प्रशंसा को सार्वजनिक बनाने का मेरा कोई इरादा नहीं। इसलिए आपको भेजने के पहले जब उन्होंने वह सामग्री मुझे दिखायी तो मैंने अनुभव-प्राप्त नीति से काम लेकर काफी समझाया-बुझाया। मैंने उन्हें बताया कि तुम अच्छा लिखती हो, और निरंतर लिखती रहो, यही मेरा कामना है। इसलिए जितना चाहे लिखो, पर भगवान के लिए लेखिका मत बन बैठना, नहीं तो लिखना-पढ़ना तुम्हारा सब ठप्प हो जायेगा। इस वाक्य पर वे चौंकी तो मैंने खुलासा करते हुए कहा कि लेखिका बनते ही तुम्हें ढेरों ऐसे काम लग जायेंगे जिनसे लिखने का कोई संबंध नहीं। मसलन, तुम्हें गोष्ठियों में आना-जाना पड़ेगा, लेखकों-संपादकों का घर में तांता लग जायेगा और उनके लिए चाय बनाते-बनाते तुम्हारे हाथ दूख जायेंगे, सभा-सोसायटियों की अध्यक्षता करनी पड़ जायेगी, उद्घाटन-भाषण देने पड़ेंगे, और ताज्जुब नहीं जो तुम बहुत-सी कमेटियों की मेंबर भी बना दी जाओ। फिर लिखने का टाइम कहां से लाओगी? (मैं अपनी आंखों देख चुका हूं कि कमेटियों के मेंबर बनते ही बड़े-से-बड़े लेखक का भी लिखना खतम हो जाता है, और उनके लिए बस यही चारा बचता है कि ठेके पर लिखवायें)। जैसे-तैसे पत्नी को मेरी सलाह जंची और वह सामग्री ज्यों-की-त्यों पड़ी रह गयी। (इधर 'ज्ञानोदय' के पिछले अंक में भाई राजेंद्र यादव का लेख निकला तो मैंने उसे श्रीमतीजी को पढ़ाया और बताया कि तुम कितने बड़े खतरे से बच गयी हो। कहीं आप दूसरे उपन्यास-प्रयोग के लिए हम लोगों की पर्ची निकाल देते तो फिर न जाने क्या होता!) इस तरह आपके तीनों वार खाली गये और मैं मजे से आपके विशेषांक का पाठक-मात्र बनकर निश्चिंत जीवन बिताता रहा।

यही कारण है कि जब उस दिन 'व्यंग्य-विनोद विशेषांक' के लिए आपका पत्र आया तो मेरे कान पर जूं भी नहीं रेंगी। (यह केवल मुहावरा-प्रयोग है, वैसे मैं रोज नहाता हूं, इसलिए जूं रेंगने का प्रश्न ही नहीं उठता) मैं निश्चिंत था कि यों चाहे जितने व्यंग्य-विनोद मैंने लिखे हों, इस अवसर पर मेरे हाथ कुछ नहीं लगने का, और इसलिए आपके विशेषांक का मैं तटस्थ पाठक-दृष्टि से रसास्वादन कर सकूंगा। पर कल एक ऐसी घटना घट गयी कि पत्र लिखना

ही पड़ा। और यद्यपि इस पत्र में कोई रचनात्मक गुण नहीं है, पर आपकी उदार दृष्टि कब चूकनेवाली है, आप इसे अपने विशेषांक में जगह देंगे ही। तभी तो मैं कहता हूं कि आपको मान गया।

असल में उसे घटना कहना अर्थ-व्याप्ति की ही चेष्टा समझी जायेगी। वास्तव में वह एक संयोग-मात्र है। 'व्यंग्य-विनोद विशेषांक' वाला आपका पत्र पाकर मैं उसे जेब में डालकर काफी हाउस चल दिया। इरादा था कि कुछ ऐसे लेखक, जो ख्वामख्वाह मुझे अपना प्रतियोगी समझते हैं, अगर दिख गये तो उनके सामने आपका पत्र निकालकर पढ़ने का अभिनय करके उन्हें चिढ़ाने का आनंद प्राप्त करूंगा। पर खैर, कॉफी हाउस में एक भी प्रतियोगी नहीं था (अक्सर प्रतियोगी उन्हीं को कहते हैं जो ठहर नहीं पाते) भास्करजी जरूर थे। (आप चौंकेंगे कि यह भास्करजी कौन हैं, क्योंकि सजग संपादक के नाते आपने अपने कार्यालय में समस्त हिंदी लेखकों की जो संपूर्ण सूची बना रखी है उसमें भी यह नाम न होगा। इसलिए आपका श्रम बचाने के लिए यहीं बता दूं कि भास्करजी लेखक नहीं हैं, बेकार हैं, हां, लेखक बनते जरूर हैं। जब कॉफी हाउस में एक भी लेखक नहीं होता तब वे नव-लेखन की गंभीर समस्याओं पर चर्चा करते रहते हैं) आपके पत्र-पाठन का वार भास्करजी पर करना व्यर्थ था इसलिए मैंने 'हॉट मिक्स्ड' की जगह 'कोल्ड कॉफी' का ऑर्डर देकर ही संतोष किया। कॉफी आने पर मैं उसे धीरे-धीरे 'सिप' करता रहा और कनखियों से देखता रहा कि भास्करजी का इरादा मेरे पास आकर बैठने का है, या चुपचाप बाहर खिसक जाने का।

पर जब काफी देर हो जाने पर भी भास्करजी ने उठकर न तो मरे पास आने की चेष्टा की न अपनी सीट खाली करने की, वरन् लगातार दरवाजे की ओर टकटकी लगाये रहे, तो मैं समझ गया कि वे किसी की बाट देख रहे हैं। मैं मन-ही-मन किसी अनहोनी घटना के लिए तैयार हो गया।

कुछ देर बाद मैंने देखा कि एक विदेशिनी तरुणी ने भीतर पदार्पण किया जिसे देखते ही भास्करजी खिल उठे (यानी खिले भी और उठे भी)। तरुणी को अपने सामने ससम्मान बैठा कर वे मंद मुस्कराने लगे। (उस तरुणी का रूप-वर्णन करने की चेष्टा न करूंगा क्योंकि भारतीय काव्य-शास्त्र में उसके लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उदाहरण के लिए, अगर नीली आंखें कहूं तो रसाभास ही होगा, और काली कहने से झूठा बन जाऊंगा।) धीरे-धीरे भास्करजी बातों में मगन हो गये, और मैंने अपना ध्यान दीवार पर टंगे 'काफी बोर्ड' के विज्ञापनों पर केंद्रित कर दिया।

आप स्वयं मेरे आश्चर्य का अंदाजा लगा सकते हैं जब अचानक भास्करजी उस विदेशिनी को लिए मेरी टेबिल पर आ उपस्थित हुए और तपाक से बोले: आप हैं मिस स्टैला। नार्वे से आयी हैं। हिंदी जानती हैं। (उनके हिंदी ज्ञान की सूचना से मुझे खुशी हुई कि दैनिक-साप्ताहिक के संपादकों के हाथ एक नया विषय आ गया। अब हिंदी को विश्व-भाषा बनाने का आंदोलन छेड़ा जा सकता है)।

मैंने अवसरोचित अभ्यर्थनापूर्वक उन्हें स्थान दिया और इधर-उधर की बातें करके जान लिया कि मिस स्टैला अध्ययन के लिए भारत आयी हैं; अपने यहां की किसी संस्था की रिसर्च स्कॉलरशिप के सहारे। (न जाने भारतीय संस्थाएं इस शुभ प्रवृत्ति का कब अनुकरण करेंगी)। इसलिए मैंने अपनी बातचीत धीरे-धीरे उनके अध्ययन की ओर मोड़ दी।

मैंने पूछा : "आपके अध्ययन का विषय क्या है?"

"मैं मध्ययुगीन यूरोपीय और भारतीय संतों के जीवन में चमत्कार-तत्व पर शोध-कार्य कर रही हूं।"

मैं दंग रह गया। जहां तक शोध के विषयों का सवाल है, मेरी धारणा थी कि हमारे विश्वविद्यालय जैसी-जैसी दूर की कोड़ी लाते हैं, उनका जवाब पाना मुश्किल है, पर मैंने देखा कि पश्चिम यहां भी बाजी मार ले गया। घबराकर पूछा : "यह विषय आपको किस विभाग से मिला है?"

"सोशियोलॉजी से। असल में संतों के चमत्कारों का तर्क और विवेक-पक्ष यही है कि वे सामाजिक अंधविश्वास के सहारे खड़े हैं। इसलिए उनकी जांच-पड़ताल करने से मध्ययुगीन सामाजिक विश्वासों की ऊहापोह की जा सकती है। आपका क्या मत है?"

मेरा मत था ही कहां! काफी देर मैं चुप बैठा रहा। फिर कुछ कहना जरूरी समझकर मैंने कहा : "सच पूछिए, तो इस दृष्टि से इस समस्या पर मैंने कभी विचार नहीं किया। हमारे यहां प्रायः सभी संतों के जीवन से चमत्कारों का संबंध जोड़ा गया है। मैं तो उन्हें जनता की श्रद्धा के प्रमाण-रूप में ही देखता हूं। किंवदंतियों के अलावा उनके कोई और प्रमाण हैं भी नहीं। और फिर, उन पर मिहनत करने से हाथ भी क्या लग सकता है?"

स्टैला कुछ चौंकी, फिर संयत भाव से बोली : "यहां मेरा मतभेद है। किंवदंतियों के पीछे कहीं-न-कहीं सत्य अवश्य होता है। यह और बात है कि वे काफी अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण हों। पर उन्हें निराधार मानने के लिए पुष्ट प्रमाण आवश्यक है।"

"बिलकुल ठीक।" मैंने कहा : "इसी प्रकार उन्हें सत्य मानने के लिए भी प्रमाण आवश्यक हैं। एक उदाहरण देकर मैं बात साफ करता हूं। जिन दिनों गांधीजी जेल में थे उन दिनों एक किंवदंती काफी दूर-दूर तक फैली थी कि वे कुछ घंटों के लिए जेल से अदृश्य हो गये। अब आप ही बताएं, इसके पीछे जनता की श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या सत्य हो सकता है? और फिर यह तो ऐसी कोई पुरानी बात भी नहीं है। फिर भी हमारे यहां किसी ने इस पर शोध करना जरूरी नहीं समझा। क्योंकि असल में उसके पीछे कोई सत्य है ही नहीं जिसे खोजा जाये। वह निरी भावना की बात है जिसे कपोल-कल्पना से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।"

"जी नहीं, यह मैं नहीं मानती। इसकी खोज होनी चाहिए। और खोज होगी तो आप स्वयं आश्चर्य में पड़ जायेंगे।"

"आश्चर्य में तो मैं इसी बात से पड़ गया हूं कि आप इसे खोज का विषय

मानती हैं। असल में आप भारतीय जीवन और जन-मन से परिचित नहीं हैं। हमारे यहां व्यक्ति को और उसकी जीवन-घटनाओं को कभी कोई महत्त्व नहीं दिया गया, यहां तक कि किंवदंतियों के खंडन तक का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। मीरा के ही जीवन को ले लीजिए।"

भास्कर, जो अब तक नितांत निश्चल निर्वचन बैठा हुआ था, यकायक तड़प कर बोला : "ले लीजिए।"

"मीरा के जीवन में हम क्या पाते हैं?" मैंने बातचीत का सिलसिला जारी रखते हुए कहा, "कहा जाता है कि उनके पिटारी में सांप रखकर भेजा गया पर जब उन्होंने पिटारी खोली तो उसमें से सिर्फ एक फूलों का हार निकला। इसी तरह, उन्हें जहर का प्याला भेजा गया जो वे अमृत की तरह गटागट पी गयीं और उनका बाल भी बांका न हुआ। आप ही सोचिए, भला कभी यह संभव है? क्या सर्प या विष किसी भी तर्कपूर्ण प्रणाली से फूल और अमृत बन सकते हैं? अब आप क्या तो इनकी खोज करेंगी और क्या उससे हाथ आना है?"

"जहां तक इन दोनों घटनाओं का प्रश्न है" स्टैला ने बहुत शांत भाव से उत्तर दिया, "इनकी खोज हो चुकी है और बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य मेरे हाथ लगे हैं।"

मैं जैसे आसमान से गिरा। पलटकर कहा : "क्या तथ्य हाथ लगे हैं?"

उन्होंने संक्षेप में कहा : "भास्करजी से पूछिए।"

अनायास मेरी दृष्टि भास्करजी के चेहरे पर पड़ी। उसके मुख पर सफलता की चमक थी। मुझे वह अचानक बड़ा गंभीर और अध्यवसायी अध्येता लगा। मैं तो बेकार समझकर टालता आया था। उसने चुपके-ही-चुपके ऐसा बड़ा काम कर डाला? मैंने विनम्र भाव से कहा : "कुछ हमें भी बताओ भाई!"

अपने महत्त्व की पूरी चेतना के साथ भास्करजी ने प्रवचन किया : "बड़ी लंबी बात है, यों बताना संभव नहीं। पर थोड़े में यह समझ लो कि मुझे अपनी पैतृक संपति की छानबीन करते समय कुछ महत्त्वपूर्ण कागजात हाथ लगे। उनसे पता चला कि मेरे एक पुरखे मेड़ते के राजदरबार में काम करते थे और मेड़ते के मंत्री विजयवर्गीय के अंतरंग सहायक थे। राणा को मीरा के भजन-कीर्तन से जो विरोध था उसका प्रमुख कारण था दरबारियों का असंतोष। वे पुराण-पंथी थे और मीरा की जीवन-पद्धति को मर्यादा के विरुद्ध मानते थे। राणा की युद्ध में कई बार हार हुई। इसका कारण भी दरबारियों ने जनता में भक्ति के प्रचार को बताया जिसकी आदि स्रोत मीरा थीं। अतः अपने दरबारियों के दबाव से ही राणा ने मीरा के पास ये चीजें भिजवायी थीं। भरे दरबार में उन्होंने इनके आदेश दिये थे। पर साथ ही विजयवर्गीय को एकांत में बुलाकर यह भी समझा दिया था कि वास्तव में क्या करना है। इस प्रकार, एक ही साथ उन्होंने दो काम किये। दरबारियों को संतुष्ट भी कर दिया, और मीरा की ख्याति भी बढ़ा दी।"

मेरी आवाज लुप्त हो गयी। ऐसा लगता था मानो कोई जासूसी उपन्यास

सुन रहा हूं। पर प्रतिवाद करने तक को शब्द न थे। मुझे चुप देखकर वे दोनों नम्रतापूर्वक उठे और बाहर चले गये।

थोड़ी देर बाद भास्करजी अकेले लौटे। मैं तब भी सकते की हालत में बैठा था। वे मेरे पास आकर बोले : "क्या सोच रहे हो?"

"सोच रहा हूं कि इतनी बड़ी खोज तुमने अभी तक प्रकाशित क्यों न कराई, दबा क्यों रक्खी ?"

"किसी से न कहने का वायदा करो तो बताऊं।"

और उपाय भी क्या था, मैंने वायदा कर दिया।

"दिस इज एक्स्क्लूसिवली फॉर एक्स्पोर्ट। भई, कुछ मेरी बेकारी का भी तो ख्याल करो।"

अब आप ही बताइए, इसके बाद यह कैसे संभव था कि मैं आपको यह पत्र न लिखता। पर अगर स्थानाभाव के कारण इसे अपने विशेषांक में जगह न दे सकें, तो मैं यह मानकर परम संतोष प्राप्त करूंगा कि मैंने भास्करजी के साथ विश्वासघात नहीं किया।

सस्नेह आपका
भारतभूषण अग्रवाल

सेवा में
श्री लक्ष्मीचंद्र जैन
संपादक : ज्ञानोदय
कलकत्ता

[रचनाकाल 1963, 'ज्ञानोदय', 'व्यंग्य-विनोद विशेषांक', 1963 में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

होली लिया दीक्षांत समारोह

[सभा-भवन में विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा. किंशुक, अधिकारी-वर्ग, विविध संकायों के आचार्य, विशिष्ट अतिथि और अभ्यागत अपने-अपने स्थानों पर आसीन हैं। स्वागत-गान समाप्त हो चुका है।—*लेखक*]

उप-कुलपति : नवरंग विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के रूप में मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर इस दीक्षांत-समारोह के उद्घाटन की घोषणा करता हूं।

पंजीयक (रजिस्ट्रार) : श्रीमन्, यह तो पहले ही सूचित किया जा चुका है कि अपने समस्त क्रिया-कलाप के हिंदीकरण के अंतर्गत इस वर्ष से हमारे विश्वविद्यालय की उपाधियों का नवीन नामकरण किया गया है। अब बैचलर आव आर्ट्स को 'रंगकुमार' और मास्टर आव आर्ट्स को 'रंगस्वामी' कहा जायेगा। इन उपाधियों के प्रार्थी स्नातक उपस्थित हैं। परंतु उन्हें प्रस्तुत करने के पूर्व मैं आपके समक्ष उन विशिष्ट व्यक्तियों को उपस्थित करना चाहता हूं जिन्हें नवरंग विश्वविद्यालय की शैक्षिक परिषद् ने इस वर्ष विशिष्ट मानार्थ उपाधियों के लिए वरण किया है। (हर्ष-ध्वनि)

उप-कुलपति : एवमस्तु।

पंजीयक : श्रीमन् मैं आपके समक्ष भारत की सर्वप्रथम स्त्री और राष्ट्र की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को उपस्थित करता हूं—आपने अल्प काल में ही अपनी कर्मठता से महाबली कामराज को परास्त करके अपने दल का संपूर्ण नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया है। अपने पूर्वजों की परंपरा को अग्रसर करते हुए आपने विश्व-मैत्री का विस्तार किया है और उपहार एवं प्रीति-संबंधों द्वारा भारत की कीर्ति को नया आयाम दिया है। हाल ही में आपने इतालवी युवती को अपनी पुत्रवधू बना कर पश्चिम के इस महा बलवान राष्ट्र को अपना मित्र बना लिया है और कच्छ के भू-खंड को अपनी मैत्री के प्रमाण-रूप में पेश कर पड़ोसी पाकिस्तान को संतुष्ट कर दिया है। इस प्रकार देश-विदेश में अपने मौखिक योगदान से आपने राष्ट्र के प्रति दया और सहानुभूति अर्जित कर दिखायी

है। आप ही के कर्मों का यह सुफल है कि विदेश का बच्चा-बच्चा भारतवासियों की करुण कहानी सुनकर आंसू भर लाता है और अपना जेब-खर्च काटकर आपके कोष में जमा करने की इच्छा प्रकट करता है। होलिका के पौराणिक आदर्श का अनुकरण करके आपने भी एक अग्नि-कवच धारण कर लिया है, जिसके कारण भीषण से भीषण विपत्तियों की आंच भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ पाती। यह कवच 'मिंक कोट' के नाम से विख्यात है, श्रीमान् से अनुरोध है कि आप श्रीमती गांधी को, उनके कृतित्व के लिए, 'कामराज-मर्दिनी' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर श्रीमती इंदिरा गांधी को 'कामराज-मर्दिनी' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं। और आशा करता हूं कि वे आजीवन इस उपाधि के योग्य बनी रहेंगी।

पंजीयक : श्रीमन् मैं आपके समक्ष भारत के उप-प्रधानमंत्री और वरिष्ठ अनुभवी श्री मोरारजी भाई देसाई को उपस्थित करता हूं। कामराज के मान-मर्दन में आपने भरसक योगदान किया है। यह सर्वविदित है कि आप 'कामराज-योजना' के शिकार हो गये थे और कुछ दिनों के लिए रचनात्मक कार्यक्रम नामक जंगल में अज्ञातवास करने पर विवश कर दिये गये थे। पर वहां अपनी तपस्या से अपने शिवजी को प्रसन्न करके ऐसी अमोघ शक्ति प्राप्त की कि स्वयं कामराज ही आपको इंद्रासन का एक भाग देने के लिए उद्धत हो गये। इस प्रकार आपने भारतीय जन के सम्मुख अहिंसा की शक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। भारतीय आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए आपने जन-मन में 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धांत का प्रचार किया है। स्वर्ण में कलि का निवास होने के कारण आपने जनता को स्वर्ण से दूर कर दिया है और अपने बजट-प्रस्तावों द्वारा ऐसा उत्तम प्रबंध किया है कि संपन्न वर्ग को छोड़कर अन्य सामान्य जनों पर अनुचित व्यसनों तथा आमोद-प्रमोद के लिए एक भी पैसा न बचे। आपका यह निश्चित मत है कि महानता कष्टों का सामना करके ही प्राप्त की जा सकती है। अतः आप राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए कष्टों की समुचित व्यवस्था करने में दत्तचित रहते हैं। हां, संपन्न वर्ग बहुधा आपसे संतुष्ट हो जाता है, क्योंकि आप उन्हें अधिक कष्ट भी नहीं पहुंचा पाते। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप श्री मोरारजी भाई देसाई को, उनके कृतित्व के लिए, 'स्वर्ण-युग-विनाशक' की उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर श्री मोरारजी भाई देसाई को 'स्वर्ण-युग-विनाशक' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं। उनकी उपाधि के प्रमाण-पत्र पर ये पंक्तियां भी अंकित कर दी जायें :

'सोने से दूर रखना अब कान, कर, कलाई
सोने को त्यागने में है देश की भलाई
अब तो न स्वप्न में दे सोना कभी दिखाई
जब तक हैं वित्तमंत्री मोरारजी देसाई'

पंजीयक : *श्रीमन् मैं आपके समक्ष भारत के शिक्षामंत्री डा. त्रिगुण सेन को* उपस्थित करता हूं। जब से आपने अपना पद ग्रहण किया है तब से देश में शिक्षा का महत्त्व तिगुना हो गया है। अब हमारे विद्यार्थी केवल विद्यालयों में ही शिक्षा ग्रहण नहीं करते, अपितु आपने उनकी शिक्षा का प्रबंध सड़कों पर भी कर दिया है और घरों में भी। यही कारण है कि आप बीच-बीच में शिक्षालय बंद कराते रहते हैं और विद्यार्थियों को सार्वजनिक संपत्ति की सफाई का अभ्यास कराते रहते हैं। आपने विख्यात त्रिभाषा-सूत्र की ऐसी त्रिगुणात्मक व्याख्या की है कि देश के विभिन्न भागों ने उसमें भिन्न अर्थ खोज निकाले हैं, जिससे विद्यार्थी-जगत् में अभूतपूर्व चेतना का उदय हुआ है। आपकी परम इच्छा है कि हमारे नवयुवक स्वयं अपने भविष्य का निर्माण करें, इसीलिए आपने उनके भविष्य पर से सारे नियंत्रण हटा लिए हैं। शिक्षा-जगत् को सर्वतंत्र स्वतंत्र करके आपने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति कर दी है। आपने इसकी भी समुचित व्यवस्था की है कि बेकारों में भी शिक्षा का पूरा प्रचार हो। शीघ्र ही उनके प्रयत्नों से हमारे देश में शिक्षितों और बेकारों में कोई अंतर न बचेगा। यही नहीं, आपने शिक्षकों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया है। हाल ही में दिल्ली के शिक्षकों को आपने अपनी व्यावहारिक शिक्षा से विस्मय-विमुग्ध कर दिया है। आपका निश्चित मत है कि देश की एकता के लिए अनेक भाषाएं, अनिवार्य हैं, क्योंकि हमारी भाषाएं अभी इतनी समर्थ नहीं हैं कि कोई भी एक उस एकता का संपूर्ण भार वहन कर सके। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप डा. त्रिगुण सेन को उनके कृतित्व के लिए 'त्र्यंबक बकेश्वर' की उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर डा. त्रिगुण सेन को 'त्र्यंबक बकेश्वर' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा करता हूं कि वह आजीवन इस उपाधि के योग्य बने रहेंगे। साथ ही मैं आदेश करता हूं कि उनकी प्रशस्ति में ये पंक्तियां भी अंकित कर दी जायें :

'अंग्रेजी कहें बेन
बंगला में करें सेन
हिन्दी से लगाये नैन
डा. त्रिगुण सेन'

पंजीयक : श्रीमन्, मैं आपके समक्ष अनेक युद्धों के अप्रतिहत वीर डा. प्रफुल्ल चंद घोष को उपस्थित करता हूं। आपने अपने दीर्घव्यापी आचरण से भारतीय परंपरा के गौरव को नयी दीप्ति से मंडित किया है। देश की स्वतंत्रता के उपरांत आप शीघ्र ही पांडवों की परंपरा का अनुसरण कर अज्ञातवास में चले गये थे। जब आपकी स्वर्ण-भूमि बंगाल में जन-शक्ति का उदय हुआ तो आप जनता के तन-मन-धन की सुरक्षा के विचार से तुरंत प्रकट हुए और विभीषण की परंपरा का अनुकरण कर अंत में स्वयं सिंहासन पर आसीन हुए। अपने राज्य-काल में आपने सहस्रों नर-नारियों को कुपथ पर जाने से रोकने के लिए राज्य के कारागारों में स्थान दिया और शांति की रक्षा के लिए स्वयं निरंतर अशांति

मांगते रहे। आपने भांति-भांति के कष्टों का खुलकर सामना किया, परंतु (धर्मवीर) पथ से विचलित नहीं हुए। इस समय बंगाल में जो शांति छायी हुई है वह अधिकांशतः आप ही की मदी हुई है। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप डा. पी. सी. घोष को उनके कृतित्व के लिए 'धर्मघोष' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर डा. पी. सी. घोष को 'धर्मघोष' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा करता हूं कि वह आजीवन इस उपाधि के योग्य बने रहेंगे। साथ ही मैं यह आदेश देता हूं कि उनकी उपाधि के प्रमाण-पत्र में ये पंक्तियां भी अंकित कर दी जायें:

'यतोधर्मघोषः तत ज्योतिवासुस्ततो वासुभट्ट'

पंजीयक : श्रीमन्, मैं आपके सम्मुख मद्रास के मुख्यमंत्री श्री अन्नादोरे को उपस्थित करता हूं। आपकी तप-साधना के प्रताप से इंद्रासन निरंतर डगमगाता रहता है और देवता आपकी मांगों को पूरा करने के लिए उत्सुकतापूर्वक बाट देखते रहते हैं। आपने अपने तपोबल से केवल कैलाश पर्वत को ही नहीं अपितु समस्त उत्तराखंड को अपने कंधे पर उठा लिया है और अब उसे गाहे-बगाहे हिंडोले की तरह झुलाते रहते हैं। आप भाषा-विवाद को नितांत निरर्थक मानते हैं, क्योंकि आपके मत से वास्तविक सफलता शब्दों में नहीं, कर्मों में निहित होती है। इसीलिए आपको ज्ञान-मार्ग पसंद नहीं है और आप छात्रों को उस पर जाने से रोकने के हर संभव उपाय करते रहते हैं। आपका यह निश्चित विश्वास है कि भारतवर्ष का नक्शा भूल से उल्टा टांग दिया जाता है, क्योंकि आपके मत से मद्रास उत्तर में है और दिल्ली दक्षिण में। इसीलिए कई बार आपके अनुगामियों ने उसे जलाया भी है। आपको केंद्रीय मंत्रिमंडल द्वारा किये गये विश्व-बंधुत्व के प्रयास अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। अतएव इधर आप स्वतंत्र रूप से इस दिशा में अग्रसर हुए हैं। आपने हाल ही में विश्व-भर की एकता के लिए यह सुझाव भी रखा है कि संसार के सारे देश तमिल को अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर लें। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप श्री अन्नादोरे को उनके कृतित्व के लिए 'दक्षिण वाम देव' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर श्री अन्नादोरे को 'दक्षिण वाम देव' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा कता हूं कि वह आजीवन इस उपाधि के योग्य बने रहेंगे। साथ ही उनके नाम के शुद्ध व्युत्पत्यर्थ को लक्ष्य करके मैं आदेश देता हूं कि उनकी उपाधि के प्रमाण-पत्र में ये पंक्तियां भी जोड़ी जायें :

'जय भैया साहब सदा वाम'

पंजीयक : श्रीमन्, मैं आपके समक्ष शेरे-कश्मीर शेख अब्दुल्ला को उपस्थित करता हूं। आपने मलूकदास की वाणी में सुधार करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि अजगर और पंछी ही नहीं शेर कभी कुछ काम नहीं करते। इसीलिए

आप राम-भरोसे रहकर जंगल में भी हरियाली है और जल में भी। बहुत दिनों से आपकी इच्छा हज करने जाने की रही है, पर दिल्ली के लिए जिस तरह नौ सौ चूहे खाकर हज करने का विधान है वैसा शेरों के लिए कोई विधान अभी हमारी विधानसभा ने निश्चित नहीं किया। आप निरंतर उसी की बाट देखते रहे हैं और भारतवासियों की उन्नति की माला जपते रहे हैं। आपकी सेवाओं से पत्रकार और संयुक्त राष्ट्र दोनों अत्यंत आनंदित रहते हैं, क्योंकि जब भी उनके पास सामग्री का अभाव होता है, तभी आप उनका संकट दूर कर देते हैं। इधर हिंदी की रंगीन फिल्मों की सफलता से आकर्षित होकर आप एक फिल्म कंपनी खोलने का विचार कर रहे हैं। श्रीमन् से अनुरोध है कि अब आप शेरे-कश्मीर शेख अब्दुल्ला को उनके कृतित्व के लिए 'शेख चिल्ली' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर शेख अब्दुल्ला को 'शेख चिल्ली' दोयम की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा करता हूं कि वह आजीवन इस उपाधि के योग्य बने रहेंगे। साथ ही मैं आदेश देता हूं कि उनके स्वागत में सर्वदा इन पंक्तियों का सामूहिक गायन किया जाये :

'गर चिल्ली : वर रूए जमीनस्त
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त।'

पंजीयक : श्रीमन्, मैं आपके समक्ष हृषिकेशवासी महेश योगी को उपस्थित करता हूं। आपने अंतर्राष्ट्रीय जगत् में बड़ी ख्याति प्राप्त की है जो पहले महात्मा बुद्ध को मिली थी और आधुनिक युग में विवेकानंद और योगिराज अरविंद को। आपने आज के यंत्र-युग की आवश्यकताओं का ध्यान कर प्राचीन योगविद्या की एक उप-आशुलिपि का आविष्कार किया है, जिससे वर्षों की साधना प्रहरों में संपन्न हो जाती है और समय का अपव्यय नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप आपको विदेशों में अनगिनत शिष्य उपलब्ध हुए हैं और होते जा रहे हैं। भारतीय योग-साधना को व्यर्थ की रूढ़ियों से मुक्त कर आपने उसका ऐसा सहज और आकर्षक रूप उद्घाटित किया है कि वह सर्वजन-सुलभ हो गया है। आपके प्रयत्नों के फलस्वरूप हमारे देश में विदेशी मुद्रा का ही नहीं अपितु विदेशी जनों का भी आयात हुआ हैं, ताकि हम उन्हें भी परिवार-नियोजन की शिक्षा दे सकें। आपने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया है कि अन्य क्षेत्रों की भांति अध्यात्म के क्षेत्र में भी अंग्रेजी भाषा ही उपयुक्त है। आपने भारत सरकार से यह आग्रह भी किया है कि अन्य उद्योगों की भांति योग-विद्या का भी एक निगम स्थापित होना चाहिए, जिससे कि उसका स्तर बना रहे। आप ही के कारण हृषिकेश को 'ऋषिकेश' अथवा 'केशतीर्थ' कहा जाने लगा है। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप श्री महेश योगी को उनके कृतित्व के लिए 'लोमश बीटलाचार्य' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर श्री महेश योगी को 'लोमश बीटलाचार्य' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा करता

हूं कि वह आजीवन इसके योग्य बने रहेंगे। साथ ही मैं आदेश करता हूं कि उनकी उपाधि के प्रमाण-पत्र पर ये पंक्तियां अंकित कर दी जायें :

बीटल ने कहा : 'प्रिये तुम न समझोगी
योग-भावना में तुम्हें तकलीफ होगी'
लम्बी गर्दन हिला
चहकी तब बीटिला
'कष्ट की क्या बात जहां हों महेश योगी?'

पंजीयक : श्रीमन्, मैं आपके समक्ष अनिंद्य सुंदरी कुमारी रीटा फरिया को उपस्थित करता हूं। आपने विश्व-सौंदर्य-प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर भारतीय नारी को अभूतपूर्व यश और गौरव का भागी बनाया है। आपके दर्शन कर विश्व को यह विश्वास हो गया है कि भारतवर्ष योग में ही नहीं, भोग में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और उनकी स्कर्ट भारतीय फ़रिया को नहीं हरा सकती। 'सुंदर चाम नहीं, काम होता है' की कहावत के अनुसार अब आप विश्व-भर में सुंदर कर्म का प्रमाण उपस्थित करती विचरण कर रही हैं और वीएतनाम के संशय-ग्रस्त सैनिकों में आपने गीतासम्मत उपदेश के सहारे नवीन कर्त्तव्य-भावना का संचार किया है। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप कुमारी रीटा फ़रिया को उनके कृतित्व के लिए 'कलियुगी तिलोत्तमा' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर कुमारी रीटा फ़रिया को 'कलियुगी तिलोत्तमा' की उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा करता हूं कि वह आजीवन इस उपाधि के योग्य बनी रहेंगी। साथ ही मैं आदेश करता हूं कि आपकी उपाधि के प्रमाण-पत्र में ये पंक्तियां अंकित कर दी जायें:

'देखी हमने रीटा की यह गति विपरीता
रीटा के जाने पर सारा भारत रीता?'

पंजीयक : श्रीमन्, मैं आपके समक्ष हिंदी के मूर्धन्य समीक्षक डा. नगेंद्र को उपस्थित करता हूं। आपने लुप्तप्राय रस-सिद्धांत का पुनराविष्कार करके भारतीय साहित्य-क्षेत्र को सूख जाने से बचाया है और उसमें शाश्वत सौंदर्य के रंग-पुष्प प्रस्फुटित किये हैं। काव्य-शास्त्र में जो कुछ भी ज्ञेय है उसे आप जान चुके हैं, इसीलिए आप अज्ञेय को कुछ भी नहीं मानते। आपने साहित्य शिक्षा में फैली हुई अराजकता को मिटाकर उसकी निश्चित सरणियां निर्धारित की हैं और साहित्य-विज्ञान को गणित आदि प्राकृतिक विज्ञानों के समकक्ष ला रखा है। यही नहीं, आपने शोध-प्रबंधों के निर्माण और मानक उत्पादन के उद्देश्य से एक अभिनव संयंत्र की स्थापना की है, जिसने रेडीमेड शोध-प्रबंधों का अभूतपूर्व विकास किया है। आपने नारी-जागरण के क्षेत्र में भी बहुमूल्य योगदान दिया है और अब विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में नारी पुरुषों से भी आगे निकल चुकी है। आपका रसाग्रह इतना प्रबल है कि आप देशों में फारस, नगरों में

बनारस, पक्षियों में सारस और मिष्टान्न में रसगुल्ला पसंद करते हैं और विश्वविद्यालयों को भी मदरसा का रूप दे देते हैं। इस पर आपके एकाधिकार के कारण नयी कविता रस-हीन हो गयी है। केवल बीट-काव्य में ही थोड़ा-बहुत रस शेष रह गया है, जिसका कारण आपके मत में उनका चरस-सेवन है। श्रीमन् से अनुरोध है कि आप डा. नगेंद्र को उनके कृतित्व के लिए 'नवकाव्य-गज-केसरी रसाल शिरोमणि' की उपाधि से विभूषित करें।

उप-कुलपति : मैं अपने न्यस्त अधिकारों के बल पर डा. नगेंद्र को 'नवकाव्य-गज-केसरी रसाल शिरोमणि' की मानार्थ उपाधि से विभूषित करता हूं और आशा करता हूं कि वह आजीवन इसके योग्य बने रहेंगे। साथ ही मैं आदेश करता हूं कि आपकी उपाधि के प्रमाण-पत्र पर ये पंक्तियां अंकित कर दी जायें :

'जितने भी कवि हैं स्वदेश में
कहते हैं भर कर उन्मेष में,
नहीं हम प्रान्त के या केन्द्र के
हम तो हैं डाक्टर नगेन्द्र के।'

पंजीयक : श्रीमन् से अनुरोध है कि विशेष उपाधि-वितरणोत्सव का कार्य समाप्त घोषित करके सभा विसर्जित की जाये।

उप-कुलपति : मैं उत्सव समाप्त घोषित करता हूं।

[रचनाकाल 1963, 'ब्रज' उपनाम से 'दिनमान' के होली विशेषांक, मार्च 1963 में प्रकाशित।]

किसी का शीर्षक किसी के सिर

उत्तर प्रदेश में संविद-सत्ता की समाप्ति के कुछ पहले एक साहित्यानुरागी उप-मंत्री ने अपने निर्वाचन क्षेत्र में एक आधुनिक हिंदी पुस्तकालय की स्थापना का निश्चय किया। अतः उन्होंने अपने पी. ए. को आदेश दिया कि चुनी हुई पुस्तकों की एक सूची तैयार करे और उसे दिल्ली के किसी पुस्तक-विक्रेता को भेज कर कुछ उत्तम पुस्तकें मंगाए। उक्त विक्रेता की कृपा से यह सूची हमारे हाथ लग गयी है जिसे पाठकों के मनोरंजनार्थ यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे सहज ही जाना जा सकता है कि पी. ए. महोदय सचमुच ही पिये हुए थे :

लेखक का नाम	पुस्तक का नाम
बनारसीदास चतुर्वेदी	चंद हसीनों के खतूत
सेठ गोविंददास	हिंदी के आदिमुद्रित ग्रंथ
हजारीप्रसाद द्विवेदी	कला और बूढ़ा चांद
रामधारीसिंह दिनकर	खाली कुर्सी की आत्मा
जैनेंद्र कुमार	(सदाचार का ताबीज, (बिक्री कैसे बढ़ाएं
सुमित्रानंदन पंत	छायावाद का पतन
महादेवी वर्मा	नारी तेरे रूप अनेक
भगवतीचरण वर्मा	अतीत के चलचित्र
यशपाल	ठंडा लोहा
अमृतलाल नागर	भांग की पकौड़ी
इलाचंद्र जोशी	हिंदी साहित्य को कूर्मांचल की देन
अज्ञेय	(नोबल पुरस्कार विजेता (साहित्यकार राजा (निरबंसिया

लेखक का नाम		पुस्तक का नाम
नरेंद्र शर्मा	:	गीतफरोश
हरिवंशराय बच्चन	:	राजभवन की सिगरेटदानी
चंद्रगुप्त विद्यालंकार	:	सरकार तुम्हारी आंखों में
उपेंद्रनाथ अश्क	:	(कब तक पुकारूं
		झूठा सच)
बालकृष्ण राव	:	माध्यम : मैं
विष्णु प्रभाकर	:	खादी के फूल
डा. नगेंद्र	:	
डा. विजयेंद्र स्नातक	:	चार खेमे, चौसठ खूंटे
डा. सावित्री सिन्हा	:	
डा. ओम प्रकाश	:	
डा. निर्मला जैन	:	मैं हार गई
डा. शकुंतला शर्मा	:	आईने के सामने
डा. इंद्रजाल मदान	:	हिंदी के विकास में
		अपभ्रंश का योग
डा. नामवर सिंह	:	बिना दीवारों का घर
डा. प्रभाकर माचवे	:	उधार के पंख
गिरिजाकुमार माथुर	:	इंद्रधनु रौंदे हुए ये
डा. रामविलास शर्मा	:	सेठ बांकेमल
नेमिचंद्र जैन	:	बीच का दरवाजा
शमशेर बहादुर सिंह	:	एक कोई दूसरा
धर्मवीर भारती	:	एक पति के नोट्स
श्री नरेश मेहता	:	यातना का सूर्य-पुरुष
रघुवीर सहाय	:	टेढ़े-मेढ़े रास्ते
		(सीधी-सच्ची बातें)
लक्ष्मीनारायण लाल	:	शहर अब भी संभावना है
मन्मथनाथ गुप्त	:	माया-दर्पण
गोपालप्रसाद व्यास	:	सरल परिवार नियोजन
मोहन राकेश	:	(कितनी नावों में कितनी बार
		(संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवाद
राजेंद्र यादव	:	एकाकी दोनों
मन्नू भंडारी	:	
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	:	आधा गांव
कमलेश्वर	:	बड़े खिलाड़ी
		पैंतरे

लेखक का नाम		पुस्तक का नाम
कृष्णा सोबती	:	अकेले कंठ की पुकार
अमृता प्रीतम	:	एक सड़क सत्तावन गलियां
विद्यानिवास मिश्र	:	फिर बैतलवा डाल पर
भैरवप्रसाद गुप्त	:	उखड़े हुए लोग
अमृत राय	:	
मार्कण्डेय	:	दुखवा मैं कासे कहूं
नागार्जुन	:	भटका मेघ
फणीश्वरनाथ रेणु	:	संन्यासी
कैलाश वाजपेयी	:	एक छाया और मैं
केदारनाथ सिंह	:	खोया हुआ आदमी
अमरकांत		कटे हुए दायरे
शेखर जोशी	:	विवाह के बाद शिशु पालन
जगदीश गुप्त	:	लोकायतन
शिवप्रसाद सिंह	:	माटी बन गयी सोना
शैलेश मटियानी	:	ठेले पर हिमालय
इंदु जैन		एक बूंद सहसा उछली
श्रीकांत वर्मा	:	अभिमन्यु की आत्महत्या
मनहर चौहान	:	पेपरवेट
गिरिराज किशोर	:	कस्बे का आदमी
मुद्राराक्षस	:	अधूरे साक्षात्कार
राजेंद्र अवस्थी	:	कमलेश्वर के बाल नाटक
उषा प्रियंवदा	:	धरती अब भी घूम रही है
शिवानी	:	ठुमरी
रमेश गौड़	:	गुनाहों का देवता
हरिशंकर परसाई	:	रुकोगे.. नहीं राधिका
केशवचंद्र वर्मा		शहर में घूमता आईना
प्रयाग शुक्ल	:	चाकलेट
रामावतार त्यागी	:	मांस का दरिया
नीरज	:	क्या गोरी क्या सांवरी
रामानंद दोषी	:	बेला फूले आधी रात
बालस्वरूप राही	:	डाक्टर नगेंद्र के श्रेष्ठ निबंध
दूधनाथ सिंह	:	जानवर और जानवर
गंगाप्रसाद विमल	:	कॉलेज स्ट्रीट के नये मसीहा
अजित कुमार	:	नारी का मन
महेंद्र भल्ला	:	एक थी अनीता

लेखक का नाम		*पुस्तक का नाम*
दुष्यंत कुमार	:	काला पानी
भवानीप्रसाद मिश्र	:	कारवां गुजर गया
रमानाथ अवस्थी	:	सरगम
कुंवरनारायण	:	धुंधले कांच की दीवार
निर्मल वर्मा	:	एक दुनिया समानांतर
मनोहर श्याम जोशी	:	परती परिकथा
श्रीलाल शुक्ल	:	बड़े सरकार
अशोक वाजपेयी	:	हरी घास पर क्षण भर
रमेश बक्षी	:	एक लड़की : एक शाप
वीरेंद्र कुमार जैन	:	तार सप्तक
वीरेंद्र मिश्र	:	गाता जाये बंजारा
सुदर्शन चोपड़ा	:	ये कोठेवालियां
भीष्म साहनी	:	चरित्र-निर्माण
ममता कालिया	:	हिरना सांवरी
रवींद्र कालिया	:	हिंदी कहानी और फैशन

['साप्ताहिक हिंदुस्तान',
17 मार्च, 1968 में प्रकाशित।]

गोष्ठी असमाचार

[छपते-छपते प्राप्त होने के कारण इस टिप्पणी में कुछ प्रूफ की भूलें रह गयी हैं। पाठकों से निवेदन है कि वे कृपया सुधार कर न पढ़ें। —*संपादक*]

पिछले सप्ताह नयी दिल्ली में एक अत्यंत विकारोत्तेजक अरिसंवाद का चायोजन किया गया। विषय था 'आधुनिक साहित्य में ठनाव की स्थिति।' परिसंवाद की अध्यक्षता के लिए विभ्रम विश्वविद्यालय के कुलपति डा. शिवढंगलसिंह 'सुमन' को आमंत्रित किया गया था। दिल्ली और दिल्ली से बाहर के अनेक लेखकों ने परिसंवाद में फाग लिया। हिंदी-हवन का कक्ष खोताओं से ठसाठस भरा हुआ था।

विषय-प्रवर्तन 'आलोचना' के संपादक डा. नामवर सिंह ने किया। अपने संक्षिप्त किंतु मारगर्भित भाषण में उन्होंने कहा कि आज का कलाकार तनाव में रहता-सहता है। वह तनाव में ही भरता है और तनाव में ही पीता है। अतएव उसकी रचना में तलाब की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। यही नहीं, आधुनिकता की पहचान ही यह है कि वह तलाब में जनमती है। यदि कोई लेखक इस तलाब से दूर रहे तो वह आधुनिक संवेदना से दूर हो जाता है। इस प्रसंग में टीलाधर जगूड़ी और भूमिल की कुछ ताजी कविताओं का उल्लेख करते हुए आपने सताया कि छायावाद की तुलना में आज की कविता अपने परिवेश के प्रति अधिक लगान महसूल करती है।

श्री लघुवीर सहाय ने कवि-शर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि कवि अपनी एक पूर्ति बहाता है और एक दूसरी भुनाता है। इस निरंतर जोड़-तोड़ में ही उसका शर्म सार्थक बनता है। मेरी कविताएं अगर आपने नहीं गढ़ी हैं तो मैं उनके बारे में क्या कह सकता हूं। इतना तो स्पष्ट है कि उनमें मेरी कच्ची अनुभूति ही धनाव के कूप में प्रकट हुई है।

'कार सप्तक' के कवि गिरिजाकुमार बातुर ने प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आकाश डाला। आपने कहा कि मेरे कविता-सग्रह 'धूप के बाल' से ही हिंदी-काव्य में बनाव आया था। इसका श्रेय यदि आज अज्ञेय को दिया जाता है तो उससे तो अच्छा है कि वह मुक्तिबोध को दिया जाये। आधुनिक जीवन के निकट बने रहने के लिए ही मैं आकाशवाणी में नाम करता हूं क्योंकि वहां हर नये आंदोलन की बहर सबसे पहले भुंजती है।

उनके अन्यतम सहरोगी श्री नेतिचन्द्र जैन ने आत्म-साक्षात्कार करते हुए कहा कि मैं पिछले दस वर्षों से फाटक पर काम कर रहा हूं। हिंदी में अभी

इस तरह का काम बहुत कम हुआ है। हमें चाहिए कि हम ऐसे फाटकों की रचना करें जो मंच पर भी ठेले जा सकें और जिनमें हमारी आज की जिंदगी की अनेक आरामी तस्वीर हिलती हो। पर अभी बहुत कम लेखकों का श्वान इस ओर गया है। इनमें भी सिर्फ मोदन धाकेश के 'शहरों के राजवंस' में ही हमें आधुनिक तलाब के दर्शन मिलते हैं। वैसे कुछ युवा लेखक भी इस ओर शार्म कर रहे हैं। इनमें बासीनाथ सिंह का जाम पिया जा सकता है।

श्री श्रीकान्ट गर्मा ने कहा कि मैं इस तरह के वाद-विवाद को व्यर्थ तानता हूं। लेखक जब रचता है तो वह अपने आपको भ्रष्ट करता है। बनाव के बिना बचना संभव नहीं। पर उसका कोई निश्चित निगम नहीं होता। लेखक को जहां भी तलाब मिले वहीं रहना चाहिए। सच्ची रचना के लिए नहाने से काम नहीं चल सकता।

श्री गर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने विषय के संबंध में अधिक कुछ कहने में असमर्थता बरसाई। आपने कहा कि ऐसा कोई बनाव नहीं जो मेरे काव्य-संग्रह 'एक सुनी कांव' में न हो। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रारंभ भाई ने ही किया था, पर वे इस समय अमरीका में हैं। अतएव, वे मेरे विषय में इस समय कुछ न कह सकेंगे। जब वे लौटेंगे तो आप दंग रह जायेंगे कि उनकी रचना में देशी-विदेशी तलाब किस तरह अनिष्ट हो गये हैं।

श्री श्याम परमार ने बताया कि बनाव का सही प्रारंभ अकविता से होता है। मेरी पुस्तक 'अकविता और गला-संदर्भ' प्रकाशित हो चुकी है। दलदेव वंशी उसकी समीक्षा भी लिख चुके हैं। अतः मुझे नया कुछ नहीं कहना है। सौचित्र मोचन ने तलाब को नये कूपों में दिखाया है।

डा. भ्रमाकर माचवे ने बताया कि तलाब सिर्फ हिंदी में ही हो, ऐसी बात नहीं। अभी मैं केरल गया था, वहां भी मुझे बहुत-से तलाब मिले। जब वर्धा में मैंने बापू के दर्शन किये थे तभी मैंने विशाल भारत में तलाब की दो कविताएं प्रकाशित की थीं। हिंदी मातृभाषा नहीं है। इसीलिए मुझे कोई पुरस्कार नहीं मिला। इधर मैं अंग्रेजी में ज्यादा लिखता हूं। वैसे तनाव-मनाव तो चलता ही रहता है, पर 'जैनेंद्र के विचार' की भूमिका में मैंने उसकी ओर जो संकेत किया था वह लाद रखने की बात है। जैनेंद्रजी ने आज तक कोई रायल्टी नहीं दी। रायल्टी और लायल्टी में गड़गड़ हो तो तलाब पैदा होता है।

सर्वश्री मुन्नाराक्षस, महीनसिंह, दंगाप्रसाद विमल, अजित शुमार, लस्सी नारायणलाल, प्रयास शुक्ल, हमेश गौड़, असल राजपूत और राजेंद्र व्यवस्थी ने भी अपने विचार रक्त किये।

अंत में परिसंवाद का समापन करते हुए अध्यक्ष पद से, डा. सुमन ने कहा कि मैंने अभी अपना शोध-ग्रंथ नहीं छपवाया है। नहीं तो आप देखते कि मैंने उसमें तनाव का विस्तृत विवेचन किया है। उसमें वेदों से लेकर आज तक की कविता का सर्वेश्वर किया गया है। यह बात और है कि छेदों के तलाब से आज का बनाव भिन्न है, पर भारतीय संस्कृति की एक अपनी निजी परंपरा रही है। साहित्य मूलतः एक होता है। उसे टुकड़ों में नहीं डांटना चाहिए। आधुनिकता के तलाब में भी परंपरा का ही रस है। भयहिंद।

[रचनाकाल 1969, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के होली विशेषांक, (1969) में प्रकाशित, 'लीक-अलीक' में संकलित।]

परिशिष्ट

तुक्तक का इतिहास

['प्रसंग : आत्म-निवेदन' में इस लेख को प्रकाशित होना चाहिए था, पर किसी कारणवश वहां प्रकाशित नहीं हो सका। अब यहां 'परिशिष्ट' में प्रकाशित कर रहे हैं।]

अपनी कविता 'विश्वस्त साथी' में मैंने लिखा है :

किन्तु वह मेरा अभिन्न है
जीवन का एकमात्र विश्वस्त साथी है
दुःख जिसका नाम है!

कविता लंबी है और उसमें मैंने कहा है कि दुःख बचपन से ही मेरा साथी रहा है।

और जिस प्रकार दुःख मेरा साथी रहा है, उसी प्रकार हास भी। मैंने बचपन से लेकर अब तक अपने दुःख की घड़ियां हंसते-खेलते ही बितायी हैं। कभी-कभी हंसी-मजाक के कारण मित्रों के बीच कुछ अप्रिय प्रसंग भी घट चुके हैं—पर हंसना मैंने कभी नहीं छोड़ा।

लेकिन अपने बहु-केंद्रित जीवन के कुछ वर्ष मुझे ऐसी परिस्थिति में भी बिताने पड़े, जब यह हंसी-मजाक भी मुझसे छिन गया, जब आस-पास एक भी ऐसा मित्र अथवा समवयस्क न था जिससे छेड़छाड़ हो सकती। हाथरस की एक टैक्सटाइल मिल के सेक्रेटरी के रूप में बिताये वे तीन वर्ष बहुत अखरे। और तब, 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' के नियमानुसार 'तुक्तक' का जन्म हुआ। होली के अवसर पर एकांत से ऊबकर मैंने अपने कुछ मित्रों पर हास्य-विनोद के छींटे लिख मारे, और इस प्रकार इस रचना का श्रीगणेश हुआ।

वैसे हास्य-साहित्य की ओर मेरा रुझान बचपन से ही था। मेरा पहला नाटक एक प्रहसन ही था जिसने आस-पास के परिचितों में काफी नाम पाया, और सहपाठियों द्वारा अनेक बार खेला भी गया। मेरी सर्वप्रथम प्रकाशित रचनाओं में ही वे पैरोडियां भी थीं जो सन्, '40 में 'वीणा' के होलीकांक में छपी थीं और जिनकी प्रशंसा 'चिड़ियाघर' के विख्यात हास्यकार पं. हरिशंकर शर्मा तक

ने की थी। जी. पी. श्रीवास्तव से लेकर बेढब बनारसी तक और परशुराम से सुकुमार राय तक—अनेक हास्य-रचनाएं मैं अपने प्रारंभिक जीवन में ही चाट चुका था। बीच-बीच में उनके अनुकरण पर लिखता भी रहा हूं। पर '37-38 में जब दैनिक 'आगरा पंच' में मैं नियमित रूप से विनोद का कालम लिखता था यह अध्ययन बड़े काम आया।

उसके कुछ ही दिनों बाद अंग्रेजी एम. ए. में पढ़ते हुए लीअर और उसके लिमरिक का परिचय मिला तो जैसे मन को एक नयी दिशा मिली। हास्य-विनोद की रचनाएं तो पहले भी पढ़ी थीं, पर अर्थहीन अथवा निरर्थक हास्य का आनंद यह पहली बार ही मिला। अनजाने में ही शायद मैं उसके अनुकरण पर कुछ लिखने का निश्चय-सा कर चुका था।

और कुछ वर्षों बाद जब कलकत्ता छोड़कर मैं हाथरस को रवाना हुआ तो जो पुस्तक रेलवे स्टॉल से मैंने खरीदी, वह थी रवींद्रनाथ की 'खाप-छाड़ा' जिसमें भी व्यंग्य-चित्रों समेत ऐसी ही विनोदपूर्ण तुकबंदियां हैं, यद्यपि उनके छंद अनेक हैं और विस्तार भी विविध हैं।

मन की ऐसी विवशता में अध्ययन की पृष्ठभूमि पर मेरे प्रथम तुक्तकों का प्रादुर्भाव हुआ। मैं उन्हें लिमरिक ही कहता था, 'तुक्तक' शब्द तो बाद को हाथ लगा। एक तो मेरी नजर में लीअर के लिमरिक ही बसे थे, दूसरे उनका बाहरी स्वरूप भी वही था—पहली, दूसरी और पांचवीं पंक्तियां बड़ी, तीसरी और चौथी छोटी—दोनों पंक्तिवर्ग अपनी-अपनी तुक योजना से संबद्ध। पर इन प्रथम प्रयासों में लीअर की अर्थहीनता मैं न पा सका था—शायद आज भी नहीं पा सका हूं।

तो जब हाथरस छोड़कर 'प्रतीक' की सहकारी योजना में शामिल होने मैं प्रयाग आया, तभी किसी विनोद-सिक्त पल में मैंने ये लिमरिक वात्स्यायनजी को दिखाये। मैं तो सोचता था कि इनसे उनका मनोरंजन होगा, पर उनकी प्रतिक्रिया मेरे लिए नितांत अप्रत्याशित निकली। वह बोले, "अगर आप ऐसे सौ लिमरिक लिख डालें, तो मैं प्रत्येक के साथ एक-एक स्केच जोड़कर पुस्तक छापने को तैयार हूं।"

उनका प्रस्ताव सुनकर जहां एक ओर मुझे कुछ गौरव का अनुभव हुआ, वहीं दूसरी ओर कुछ डर भी लगा। कहीं ऐसा तो नहीं है कि अंधे के हाथ बटेर लग गयी है! कहीं भूल से मैं कोई महान् काम तो नहीं कर बैठा! मित्र जानते हैं कि मैं महत्ता से कितना घबराता हूं! और साधारणता को कितना बड़ा आदर्श मानता हूं!

यही कारण है कि वात्स्यायनजी के प्रस्ताव के बावजूद मैं उस समय और लिमरिक न लिख सका। उनके कई बार कहने पर कोशिश भी की तो बस कुल तीन और लिखे—एक स्वयं उन्हीं पर और एक-एक भाई श्रीपत राय—अमृतराय पर। उन पर लिखा लिमरिक तो आप इस संग्रह में पढ़ सकते हैं, बाकी दो अभी छिपाकर रख छोड़े हैं। इरादा था कि कभी सही मूड में पाकर

उनसे प्रकाशन की अनुमति ले लूंगा, पर मेरे दुर्भाग्य से वह क्षण आज तक नहीं आया। और क्योंकि इनकी संख्या कभी आठ-दस से आगे नहीं बढ़ी, इसलिए इनके प्रकाशन का भी कभी सवाल न उठा। हां, कभी-कभार अंतरंग गोष्ठी के रंग जमाने के लिए, या फिर किसी तुक्तक शिकार को चिढ़ाने के लिए, इनका 'प्राइवेट सरक्युलेशन' जरूर करता रहा।

इन आठ-दस लिमरिकों में एक था कवि-केसरी भाई शिवमंगल सिंह 'सुमन' पर। लिमरिक इस प्रकार का था :

काँटों के बिना ही जब मिले थे हमें सुमन
मैंने कहा, "आपका कहाँ है वह गन्ध-धन?"
भौंह चढ़ा, बाहु बढ़ा बोले, "मतिमन्द तू
स्वार्थी है, खोजता है यदि मात्र गन्ध तू
कण्टक नहीं है, यही है क्या कम आकर्षण?"

आप देखेंगे कि शब्दों का घटाघोप तो कुछ-कुछ सुमनजी जैसा ही है, पर उसमें कोई विशेष कथ्य नहीं है। इसीलिए आकाशवाणी लखनऊ पर काम करते समय जब एक बार सुमनजी भाई गिरिजाकुमार माथुर से मिलने पधारे तो हंसी और छेड़-छाड़ के दौरान मैंने यह लिमरिक भी उनकी सेवा में पेश कर दिया।

उनकी प्रतिक्रिया वात्स्यायनजी से बढ़कर निकली। यदि माथुर साहब न होते तो उनका क्रोध शायद सक्रिय रूप भी ले बैठता, फिर भी वह उस दौरान मुझसे जरा भी नहीं बोले, और लगभग दो-तीन वर्ष तक रुष्ट रहे। यही कारण है कि यह लिमरिक मैंने न तो प्रकाशित कराया है, न आगे कराने का विचार है। वैसे सुमनजी ने अपने नाम-गुण के अनुसार मुझे फिर से अपना लिया है, पर इस संग्रह में उस लिमरिक को सम्मिलित कर मैं फिर से उनके रोष का कारण बनना नहीं चाहता।

आकाशवाणी लखनऊ में जुड़ते लिमरिकों की संख्या में केवल एक की वृद्धि हुई। सन् '51 में माथुर साहब अमेरिका गये और फिर घर की याद से परेशान होकर शीघ्र ही लौट आये। तब वात्स्यायनजी का प्रस्ताव याद कर मैंने उन पर एक लिमरिक लिखा :

गिरिजाकुमार गये बलि के प्रदेश में
वामन तो थे ही, दो ही डग में निमेष में
नाप लिये तीनों लोक
कोई भी सका न रोक
तीसरा कहाँ धरें, पड़े हैं पसोपेश में!

माथुर साहब तो लखनऊ में थे नहीं, आस-पास के मित्रों को ही सुनाकर संतोष करना पड़ा। उन्हीं में से किसी ने न जाने कैसा नमक-मिर्च लगाकर यह लिमरिक उन तक पहुंचा दिया कि वह भी रुष्ट हो गये। इसीलिए यह लिमरिक भी

प्रस्तुत संग्रह में नहीं है। माथुर साहब के लिए एक और ही लिमरिक लिखकर इसमें शामिल कर दिया है जो शायद उन्हें पसंद आये, क्योंकि उनमें उनके गीतकार-व्यक्तित्व के प्रति आस्था व्यक्त की गयी है।

इन दो रोष-प्रसंगों से मैं ऐसा दमित हुआ कि मैंने व्यक्तिवादी लिमरिकों की रचना से ही किनाराकशी कर ली। आज तक बस एक ही अपवाद हुआ है—साहित्य अकादमी में आने पर अपने सहयोगी और मित्र श्री र. श. केलकर के लिए एक लिमरिक और लिखा था। पर जब उसे सुनकर वह तनिक भी रुष्ट न हुए तो मुझे लगा कि उसमें कोई दम नहीं है। इसलिए वह लिमरिक भी इस संग्रह में नहीं लिया गया।

इस निर्णय के फलस्वरूप तुक्तक के विकास में कुछ दिनों तक निपट गतिरोध रहा। पर जब आकाशवाणी प्रयाग में पहुंचा तो कुछ तो भाई केशवचंद्र वर्मा के सान्निध्य से और कुछ 'परिमल' के सदस्यों के हास-परिहास की छूत से मैं पुनः इस ओर प्रवृत्त हुआ। और इस बार सामान्य विषयों पर तुक्तक रचना तय किया। फलस्वरूप यह ग्रंथ तैयार हुआ। शुरू के कुछ तुक्तक सुनकर केशव भाई ने मुझे कुछ बहुमूल्य सुझाव देने की कृपा की थी।

इस संग्रह में प्रस्तुत तुक्तकों में से अधिकांश दिसंबर 1953 के अंतिम सप्ताह में लिखे गये थे। एक-एक दिन में बीस-बीस तुक्तक भी मैंने लिखे पर जब संख्या अस्सी पर पहुंच चुकी थी तब अचानक मेरा स्रोत सूख गया। उसके बाद चेष्टा करने पर भी मैं अधिक न लिख सका। आज भी यही दशा है। चीनी संकट पर कुछ तुक्तक लिखने का आग्रह जब 'धर्मयुग' ने किया तब भी मैं तीन-चार तुक्तक ही लिख सका।

संक्षेप में तुक्तकों की रचना का यही इतिहास है। अब इनके प्रकाशन का इतिहास सुनिए। जनवरी '59 में जब तुक्तक लगभग सौ हो गये थे तो वात्स्यायनजी दिल्ली से प्रयाग पधारे। मैंने समय मांगकर पांडुलिपि उनके सामने रखी। सोचा था, उन्हें तुक्तकों को चित्रित और प्रकाशित करने की बात याद होगी। (यों, रवींद्रनाथ की देखा-देखी मैंने प्रत्येक तुक्तक का चित्र स्वयं भी बनाया था, पर वह किसी बालक को ही आनंद दे सकता था।) वात्स्यायनजी अपने अभिमत पर तो अब भी आरूढ़ थे, बिंदुजी से बोले, "पहली बार इन्होंने कुछ ढंग का काम किया है," पर (भाई नरेश मेहता के शब्दों में) वह 'विदेशपथे' थे इसलिए प्रकाशन में कोई सहयोग-सहायता देने की स्थिति में न थे। मैंने पांडुलिपि उठाकर जेब में रखी (बहुत कम पांडुलिपियां ऐसी होती हैं जो जेब में रखी जा सकती हैं) और घर लौट आया।

लगभग दो महीने बाद जब मैं छुट्टी लेकर बंबई गया तो तुक्तक की पांडुलिपि साथ ले ली। उन दिनों मैं इन्हें निरर्थक तुकबंदियां कहता था। बंबई में समय निकाल कर मैं तत्कालीन 'धर्मयुग' संपादक आदरणीय सत्यकाम विद्यालंकार से मिला। उन्हें ये 'टप्पे' बड़े पसंद आये। बोले, "हम 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से छापेंगे।" मैंने उन्हें पचहत्तर टप्पे दिये, अपने चित्रों सहित, और यह

आग्रह किया कि वह मेरे नाम से नहीं, 'अर्द्धचंद' नाम से छापें। इस नामकरण का कारण वही डर था जो मुझे वात्स्यायनजी ने दिलाया था।

उसी वर्ष कभी उनमें से ग्यारह टप्पे एक साथ 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुए, 'अर्द्धचंद्र' के नाम से। चित्र 'धर्मयुग' के कलाकार के थे, मेरे चित्रों के भावों पर आधारित। इसके बाद अगले छह महीनों में लगभग बारह और छपे, और फिर बस। विद्यालंकारजी ने यह तो स्वीकार किया कि वे बड़े लोकप्रिय हुए। हैं, पर आगे छापना बंद कर दिया, पता नहीं क्यों!

पर, इतने से प्रकाशन ने ही रंग बांध दिया। सन् '55 में एक दिन मैं आदरणीय बच्चनजी के यहां बैठा हुआ था कि उन्होंने उनकी चर्चा की, और 'अर्द्धचंद्र' की इतनी प्रशंसा की कि मैं आत्मोद्घाटन का लोभ संवरण न कर सका। वह मेरा यह परिचय पाकर बड़े प्रसन्न हुए और पूरा संग्रह देखना चाहा। संग्रह पढ़कर मुझे लौटाते समय उन्होंने स्वयं भी एक तुक्तक लिखकर मुझे आशीर्वाद-स्वरूप दिया। वह तुक्तक इस प्रकार था :

एक दिन राम से यों बोली सीता माता,
"देर बड़ी आटे के पिसवाने में लगाता
हनूमान बूढ़ा अब।"
बोले राजा राम तब,
"लगा क्यों न लेती घर में ही एक जाँता!"

मुझ जैसे अदने तुक्कड़ का अनुकरण एक सिद्ध कवि करे!—मैं अभिभूत हो गया। बच्चनजी ने यह मत भी प्रकट किया कि ऐसी रचनाओं से काव्य ही प्रशस्त नहीं होता, भाषा भी विकसित होती है। उस दिन मेरा उत्साह और भी बढ़ गया।

प्रयाग के लोगों को अब तक यह पता चल चुका था कि 'अर्द्धचंद्र' माने भारतभूषण अग्रवाल। फिर भी मैं हरेक से यह आग्रह प्रकट करता कि इस रहस्य को प्रकट न होने दें और सार्वजनिक रहस्य मानकर चलें। उन्हीं दिनों 'नयी कविता' के संपादक डॉ. जगदीश गुप्त को किंचित् कविता की खोज में इन लिमरिकों की याद आयी, और पूरी पोथी बांचकर दो तुक्तक अपने मतलब के पा ही गये। विदेशी नाम पर चलनेवाली इस निपट देशी विधा का नामकरण भी उन्हीं के आचार्य करों से हुआ—'तुक्तक' ('मुक्तक' के वजन पर)।

धीरे-धीरे मेरी निश्चेष्टता के बावजूद तुक्तक ख्याति पाते गये, यहां तक कि भाई लक्ष्मीचंद्र जैन उन्हें पुस्तकाकार छापने को भी तैयार हो गये। पर मैं उन्हें अ-चित्र छपाना न चाहता था, और चित्र-मित्र मिलता न था इसलिए मामला खटाई में ही पड़ा रहा।

और तब कई घटनाएं एक साथ घटीं। मैं साहित्य अकादमी में आया, माचवेजी विदेश से लौटे, और भारतीजी ने 'धर्मयुग' के लिए फिर तुक्तकों की मांग की। फलतः 'तारसप्तक' और अकादमी के साथी तुक्तकों के भी सहयोगी

बने और इनका सचित्र संस्करण तैयार हुआ। लक्ष्मीचंद्रजी ने पूरी तत्परता से इसे ग्रहण किया, और आज ये आपकी सेवा में सौंपे जा रहे हैं।

यद्यपि ये तुक्तक मेरी अपनी ही रचनाएं हैं और 'निज कवित्त केहि लागी न नीका?' यद्यपि 'धर्मयुग' की कृपा से इनकी काफ़ी धूम मच चुकी है और अग्रजों एवं अनुजों ने इनकी प्रशंसा और अनुकरण कर मुझे अ-भावित गौरव दिया है, फिर भी इनके प्रकाशन पर मुझे कुछ निराशा ही हो रही है। कुछ वैसी ही निराशा जो कोलंबस को भारत की जगह अमरीका पाकर हुई होगी। मैं भी तो कविता की खोज में निकला था!

[कागज के फूल की भूमिका, 1963]

संपादित पुस्तकें तथा अन्य कार्य

संपादित पुस्तकें :

डॉ. नगेंद्र के श्रेष्ठ निबंध : राजपाल एंड संस प्रकाशन, दिल्ली, 1962
भारत गीत : (देश भक्ति की कविताओं का संग्रह) साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1962
समसामयिक हिंदी साहित्य : साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1967
संक्षिप्त रामचरितमानस : राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1973
कविता, कहानी गद्य और एकांकी संकलनों का संपादन।

कोश :

मानविकी पारिभाषिक कोश : (साहित्य खंड के चार लेखकों में एक लेखक) राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1965

अन्य कार्य :

हमारे पथ-प्रदर्शक (जीवनियां), त्रिमूर्ति प्रकाशन, दिल्ली 1965
बंगला भाषा परिचय पाठ : साप्ताहिक 'दिनमान' में 20 जून, 1971 से 22 अगस्त, 1971 तक 13 किस्तों में प्रकाशित।
'डाइसैक्शन' : अनुवादक श्री विष्णु खरे (भारतजी की कुछ कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद) ए राइटर वर्कशाप पब्लिकेशन, कलकत्ता, 1983

[सृजनात्मक लेखन की सूची भारतभूषण अग्रवाल के परिचय के साथ रचनावली के चारों खंडों के प्रारंभ में दी गयी है और अनुवाद कार्य की सूची खंड दो में भाषानुवादों के अंत में दी गयी है। यहां सृजनात्मक लेखन और अनुवाद कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों के संबंध में :]

भारतभूषण अग्रवाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर कुछ उल्लेखनीय प्रकाशित रचनाओं की संदर्भ सहित सूची

और खायी बढ़ती गयी—एक पत्रिका में नेमिचंद्र जैन, 1957

ओ अप्रस्तुत मन—भारतभूषण अग्रवाल की काव्य-कृति, नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी, 'अजंता', जनवरी '59

ओ अप्रस्तुत मन—स. ही. वात्स्यायन, 'द टाइम्स ऑफ़ इंडिया', रविवार, 24 मार्च, '59

कायर वाणी (ओ अप्रस्तुत मन)—अजित कुमार, 'कृति' '59

लौटती लहरों की बांसुरी—रणवीर रांग्रा, 'ज्ञानोदय,' मार्च, '65

लौटती लहरों की बांसुरी—रमेश वर्मा, 'कल्पना' 14 मार्च, '65

अनुपस्थित लोग—उपस्थित युगबोध : विश्वनाथ मिश्र, 1965

कागज के फूल—विवेकीराय, 'ज्ञानपीठ पत्रिका', अगस्त, '66

अनुपस्थित लोग—उदयभान मिश्र, 'उत्कर्ष, 'जनवरी 68

बौद्धिक सक्रियता का अवमूल्यन—राजकुमार कुंभज, 'वीणा', सितंबर, '70

प्रसंगवश—प्रयोगवादी और नयी कविता के निर्माता कवि का एक संग्रहणीय दस्तावेज : नंदकिशोर नवल, 'प्रकाशन समाचार', नवंबर, '70

ओ अप्रस्तुत मन—श्रीकांत वर्मा, 'दिनमान', 29 जून, '75

ज़िंदगी से लबरेज एक इन्सान—कन्हैयालाल नंदन, 'हिंदुस्तान', रविवार, 29 जून, '75

मैं देखती रह गयी—बिंदु अग्रवाल, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 29 जून, '75

ईमानदारी की सीमाएं—विष्णु खरे 'दिनमान', 6 जुलाई, '75

उपस्थित और अनुपस्थित के बीच रिश्ता—अजित कुमार, 'जनयुग', नयी दिल्ली, 13 जुलाई, '75

भारतभूषण अग्रवाल—प्रेमशंकर, 'पूर्वग्रह', अगस्त, '75

एक गुत्थी सुलझती हुई—अजित कुमार, 'पूर्वग्रह', अगस्त, '75

प्रसिद्ध कवि भारतभूषण अग्रवाल—विष्णु नागर, 'बाल भारती', सितंबर, '75

एक कविता—भारतभूषण अग्रवाल के प्रति—शमशेर बहादुर सिंह, 'पूर्वग्रह', जनवरी-अप्रैल, '76

'कागज के फूल' में निरूपित सामाजिक यथार्थ—धारीवाल धनसुखराज, 'जनयुग' जोधपुर, 30 मई, '76
अंतर्विरोधों का काव्य-नाटक—गिरीश रस्तोगी, 'समीक्षा', जुलाई-अगस्त, '77
अग्निलीक—नरनारायण राय, 'समीक्षा', जुलाई-अगस्त, '77
अग्निलीक—सिद्धनाथ कुमार, 'समीक्षा', जुलाई-अगस्त, '77
महत्त्वाकांक्षा की राजनीति और खोखला रामराज्य—अग्निलीक—प्रेमशंकर, 'आलोचना', जनवरी-मार्च, '78
उतना वह सूरज है—प्रेमशंकर, 'समीक्षा', मई-जून, '78
उतना वह सूरज है—नंदकिशोर नवल, 'समीक्षा', मई-जून, '78
उतना वह सूरज है—रामदरश मिश्र, 'समीक्षा', मई-जून, '78
भारतजी का काव्य-व्यक्तित्व—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, 'दिनमान', 25 जून-जुलाई, '78
मेरी कविता का प्राण व्यंग्य नहीं आत्म-व्यंग्य है—रणवीर रांग्रा, 'साहित्यिक साक्षात्कार' (पुस्तक) प्र. सं. '78
उतना वह सूरज है—भगवत रावत, 'पूर्वग्रह', नवम्बर, '78, फरवरी, '79
आत्मालोचन की कविता—नरेंद्र वसिष्ठ, 'पूर्वग्रह' नवंबर, '78, फरवरी, '79
ओ अप्रस्तुत मन का कवि—गजानन माधव मुक्तिबोध, 'पूर्वग्रह', नवंबर, '78, फरवरी, '79
बहुत बाकी है—प्रेमशंकर, 'समीक्षा', जुलाई-सितंबर, '79
बहुत बाकी है—रामदरश मिश्र, 'समीक्षा', जुलाई-सितंबर, '79
साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता—जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'लोकराज', 1 अप्रैल, '79
कवि की दृष्टि—हरदयाल, 'समीक्षा', अक्टूबर-दिसंबर, '79
दीप मेरा धर्म है—संतोषकुमार तिवारी, 'नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर' (पुस्तक), जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, '80
आधे-आधे जिस्म—मूलचंद गौतम, 'समीक्षा', जुलाई-सितंबर, '80
उतना वह सूरज है—मथुरेश नंदन कुलश्रेष्ठ, 'प्रकर', जनवरी, '81
सेतुबंधन—मथुरेश नंदन कुलश्रेष्ठ, 'प्रकर', फरवरी '81
उतना वह सूरज है—मूलचंद गौतम, 'दस्तावेज', 13-14 अक्टूबर, '81
कविता की तैयारी में—मूलचंद गौतम, 'प्रारूप' का प्रवेशांक, '81
लीक-अलीक—मूलचंद गौतम, 'समीक्षा', जुलाई-सितंबर '82
पलायन (नाटक-संग्रह)—नरनारायण राय, 'समीक्षा', अक्टूबर-नवंबर, '83
भारतभूषण अग्रवाल—डॉ. सत्येंद्र, 'विकासशील भारत', आगरा, '83
बहुआयामी रेडियो नाटक—नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी, 'साप्ताहिक भास्कर', 3 जून, '84
युग-युग या पांच मिनट (नाटक-संग्रह)—नरनारायण राय, 'समीक्षा', अक्टूबर-दिसंबर, '84

ज़िंदगी का बांस और कविता की कटी पतंग—एक उठा हुआ हाथ—विष्णु खरे, 'आलोचना की पहली पुस्तक' (निबंध-संग्रह) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, '84

डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : व्यक्तित्व और कृतित्व (पुस्तक) : अदीब मलेकला, ऋणभचरण जैन एंड संतति, दिल्ली, '86

भारतभूषण अग्रवाल : कुछ यादें कुछ चर्चाएं (पुस्तक) : संपादक—बिन्दु अग्रवाल नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, '89

भारतभूषण अग्रवाल और छह वक्तव्य—प्रस्तुति बिंदु अग्रवाल, 'पूर्वग्रह', अंक 100-101, सितंबर-दिसंबर, '90

पर्सपिक्टिव : भारतभूषण अग्रवाल—इंडियन लिटरेचर, मई-जून, '91

भारतभूषण अग्रवाल : संतोषकुमार तिवारी, नए कवि : एक अध्ययन (पुस्तक-भाग दो) भारतीय ग्रंथ निकेतन, नयी दिल्ली, '91

अंतरंग और प्रिय भारतजी—अजित कुमार, 'निकट मन में, (पुस्तक) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, '1992।

❑❑